अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें

भारत की विदेश नीति नए आयाम

प्रमुख देशों की विदेश नीतियाँ

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय संबधो के अध्ययन का महत्व आज स्वयं सिद्ध है। जिस प्रकार समाज मे रहने वाला व्यक्ति अपने वृहत्तर परिवेश से उदासीन नही रह सकता, उसी तरह कोई भी सम्प्रभु-स्वतन्त्र राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय रंगमच पर उपस्थित क्रियाशील अन्य पात्रो की उपेक्षा या अवहेलना नही कर सकता। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षो में इस विषय का महत्व तेजी से बढा है और इसका शोध व अध्ययन काफी लोकप्रिय हुआ है। राजनीति विज्ञान और इतिहास के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमो मे अलग प्रश्न-पत्र के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सबध का विषय अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो चुका है।

यह कम क्लेशदायक नही कि अन्तर्राष्ट्रीय सबध विषय पर छात्रोपयोगी पठन की आवश्यकता एव रुचि के अनुरूप हिन्दी मे पाठ्य सामग्री का नितान्त अभाव है। प्रस्तुत पुस्तक इस कमी को दूर करने का एक प्रयास है। हमारी मान्यता रही है कि पाठ्य पुस्तक तब तक उपयोगी नही हो सकती, जब तक वह रोचक न हो। इसके अतिरिक्त तथ्यो का अम्बार भर जमा करना सार्थक नही हो सकता। पुस्तक का आकार बढाने के लिए अनावश्यक दुहराव व विस्तार, गैर-जरूरी पाडित्य-प्रदर्शन के लिए उद्धरणो की भरमार, फुटनोट आदि भी छात्र को भ्रमित ही कर सकते है। हमने निरन्तर यह प्रयत्न किया है कि विषय-वस्तु को सरस व पठनीय ढग से विश्लेपण के रूप में प्रस्तुत किया जाये। पुस्तक के विभिन्न अध्यायो का क्रम ऐसा रखा गया है कि उनके अन्तर-संबध सहज ही स्पष्ट हो सके और कोई मुख्य मुद्दा छूटने न पाये, परन्तु किसी चीज का पिष्ठपेपण भी न हो। हम इस बात के लिए विशेप रूप मे सतर्क रहे है कि विश्लेपण वस्तुनिष्ठ होने के साथ-साथ उसका नजरिया भारत-केन्द्रित हो।

पुस्तक की विषय सामग्री हिन्दी भाषी क्षेत्र के विश्वविद्यालयो के छात्रो के पाठ्यक्रम की जरूरत अच्छी तरह पूरा करने वाली है। विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओ में बैठने वाले उम्मीदवारो के लिए भी प्रस्तुत पुस्तक काफी उपयोगी है। पुस्तक का जिस प्रकार स्वागत किया गया है उससे हमारा उत्साह बढा है। इस नवीन सस्करण में सारी सामग्री को दोहराकर अद्यतन कर दिया गया है। इस रूप मे पुस्तक पाठकों को और अधिक ग्राह्य होगी। पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए प्रेपित सुझावों का हम सहर्ष स्वागत करेंगे।

—लेखक

विषय-सूची

मानचित्र तालिका

पहला अध्याय

द्वितीय विश्व युद्ध : पृष्ठभूमि, कारण व प्रभाव

इस शताब्दी के इतिहास में ही नहीं, बल्कि मानव जाति के इतिहास में भी द्वितीय विश्व युद्ध का विस्फोट एक निर्णायक घटना है। अनेक इतिहासकारों का मानना है कि वास्तव में यह त्रासदी इस अहसास के लिए जरूरी है कि समस्त भूमण्डल के देशों की नियति एक-दूसरे के साथ अनिवार्यतः जुड़ी हुई है। मानव जाति की सांस्कृतिक विरासत के सभी मनुष्य समान रूप से उत्तराधिकारी हैं और इसे बनाये रखने की जिम्मेदारी उन सभी की है। इस युद्ध के बाद न केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप बदल गया, बल्कि विश्व भर में रहन-सहन और सोचने-समझने के तौर-तरीकों में आमूल चूल परिवर्तन हुए।

द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि
(Background of the Second World War)

आज का अन्तर्राष्ट्रीय विश्व द्वितीय विश्व युद्ध की अग्नि परीक्षा से गुजरा है। मौजूदा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक व्यवस्था इस युद्ध के परिणामों से ही निर्धारित हुई है। फिर भी, इस बात को ध्यान में रखना उपयोगी है कि प्रथम विश्व युद्ध और उसके बाद के 'तनावपूर्ण शान्ति के संकट का अन्तराल' (1919–1939) आज भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव को प्रभावित करता रहा है। अतः समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन-विश्लेषण करने के पहले प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। जैसा कि यूरोपीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् डेविड थॉमसन का मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के यथार्थ को समझने के लिए 'सिर्फ द्वितीय विश्व युद्ध के तात्कालिक कारणों को जानना यथेष्ट नहीं बल्कि प्रथम विश्व युद्धजनित परिस्थितियों एवं उसके बाद के काल पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।'[1] इनमें से घटनाक्रम को प्रभावित करने वालों में कुछ व्यक्ति और कुछ परिस्थितियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परन्तु ऐसा नहीं सोचा जा सकता कि जो कुछ घटा, वह नियति द्वारा तय था। हाँ, इतना जरूर सच है कि भविष्य के संघर्ष और संकट के बीज 1919 में बोये जा चुके थे।

विभिन्न शान्ति समझौते
(Various Peace Settlements)

सबसे पहली बात 1919 से 1922 तक सम्पन्न शान्ति समझौतों से सम्बन्धित है। यह प्रक्रिया पेरिस शान्ति सम्मेलन (1919) से आरम्भ हो चुकी थी और वहीं इसकी मूल प्रवृत्ति सामने आने लगी थी। अतः इन सन्धियों पर अलग-अलग

[1] David Thompson, *Europe Since Napoleon* (London, 1976), 651

टिप्पणी करने की अपेक्षा यह बेहतर है कि हम इनके प्रभावो का मूल्यांकन एक साथ करें। प्रथम विश्व युद्ध के बाद सम्पन्न प्रमुख शान्ति समझौते व सन्धियाँ इस प्रकार हैं—वर्साय सन्धि (1919), आस्ट्रेलिया के साथ सेंट जर्मेन की सन्धि (1919), बल्गारिया के साथ निऊली की सन्धि (1919), हंगरी के साथ त्रिआनो की सन्धि (1920), तुर्की के साथ सेवर्स की सन्धि (1920) आदि। वर्साय सन्धि का एक आधारभूत सिद्धान्त यह था कि विजेता मित्र राष्ट्र (अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस) पराजित जर्मनी की कीमत पर अपने को पुरस्कृत करें और पराजित राष्ट्र को अपराधी के रूप मे दण्डित किया जाये। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद जारशाही रूस, सोवियत सघ मे बदल चुका था और उसकी स्थिति अनूठी थी। वह विश्व युद्ध मे न तो विजेता था और न ही पराजित। उसको लड़ाई की हानि तो उठानी पड़ी थी, किन्तु उसे हर्जाना-मुआवजा कुछ नहीं मिल सकता था। इतना ही नहीं, समस्त पूँजीवादी और उपनिवेशवादी व्यवस्था समाजवादी सोवियत सघ को एकाएक अपना शत्रु समझने लगी थी। एक छोटे से निर्णायक दौर मे रूसी गृह मे विदेशी शक्तियो ने सफेद सेना के माध्यम से हस्तक्षेप का प्रयत्न भी किया था।

इस घटनाक्रम के कारण जिस पारम्परिक शक्ति-सन्तुलन ने लगभग दो सौ वर्षों तक (फ्रांसीसी क्रान्ति के व्यवधान को छोड़कर) यूरोपीय अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को अनुशासित किया, वह बेकार कर दिया गया। जर्मन एकीकरण के बाद पाँच बड़ी शक्तियो मे एक आस्ट्रिया कम हो चुकी थी। इसका स्थान भले ही अमरीका ने एक हद तक ले लिया, तथापि कैसरशाही जर्मनी के ध्वस्त हो जाने और सोवियत सघ की घेराबन्दी के बाद सहमति के आधार पर, राष्ट्रीय हितो की सामूहिक व्यापक व्याख्या करने की कोई गुंजाइश नहीं बची रही। इसका सबसे बुरा प्रभाव यह पड़ा कि जहाँ विजेता राष्ट्रो द्वारा शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर तो करवाये जा सके पर वहीं आपसी मतभेद की स्थिति मे किसी बहुमत के आधार पर इन्हे लागू करने की कोई गुंजाइश नहीं बची।

इन सन्धियो का एक दूसरा दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह था कि विजेताओ ने पराजित राष्ट्रो पर कमरतोड मुआवजे का ऐसा बोझ डाला, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को बुरी तरह चरमरा दिया। इस बात का विश्लेषण अपेक्षाकृत विस्तार से किया जाना जरूरी है। विजेता राष्ट्रो ने जर्मनी के कोयला-उत्पादक इलाके रूर और साइलेशिया वाला क्षेत्र अपने आधिपत्य मे ले लिया। तर्क यह था कि ऐसा करने से भविष्य मे जर्मनी की युद्ध क्षमता कम हो जायेगी। परन्तु इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि जर्मनी के लिए युद्ध क्षतिपूर्ति का दण्ड-योगदान देना असम्भव हो गया। यह बात राष्ट्रीय आत्म सम्मान के साथ जुड़ गयी। जब तक पराजित राष्ट्र अपना पुनर्निर्माण नहीं कर सके, तब तक किसी भी व्यवस्था मे असन्तोष-आक्रोश बड़ी मात्रा मे बचा रहना है। इसका उपचार निदान किये बिना स्थायी समाधान, शान्ति या स्थिरता ढूँढी नहीं जा सकती। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जॉन मेनर्ड कीन्स ने इस विषय का विस्तृत अध्ययन किया और अपनी एक पुस्तक का शीर्षक ही 'दि इकोनॉमिक कोंसिक्वेंसेज आफ पीस' रखा।[1]

जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासकार ई० एच० कार ने लिखा है—'जर्मनी को जो

[1] John Maynard Keynes *The Economic Consequences of Peace* (London, 1920)

हर्जाना विजेताओं को देना था, वह अत्यन्त अयथार्थवादी ढंग से तय किया गया था। युद्ध क्षतिपूर्ति आयोग ने यह रकम साढ़े छह अरब पौंड आंकी थी। बाद में एक अरब पौंड का पहला भुगतान तय किया गया। अन्ततः जर्मनी ने पचास करोड़ पौंड की एक किश्त ही दी।'[1] कार आगे कहते हैं कि—'कब्जावरों (विजेताओं) ने जर्मनी के पूरे आर्थिक जीवन को जड़ कर दिया। जहाँ एक ओर फ्रांसीसी पक्ष रूर से कोयले और लोहे का आयात कर अपना खर्च तक निकालने में असमर्थ था वहीं जर्मनी का दिवाला निकल गया। इस बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि युद्धजनित आर्थिक ध्वंस और राज्य-तन्त्र के अव्यवस्थित होने (disorganization of state machinery) पर जर्मन सरकार स्थिति पर नियन्त्रण नहीं पा सकती थी। मुद्रास्फीति जर्मनी के लिए वर्साय सन्धि से भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिवर्तन सिद्ध हुई।'[2]

विजेताओं ने इन शान्ति सन्धियों के बहाने जर्मनी और इटली को उनके उपनिवेशों से भी वंचित कर दिया और स्वयं न्यासधारी (Trustee) के रूप में अपनी स्थिति मजबूत की। इन सब निर्णयों का मिला-जुला प्रभाव यह हुआ कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी और इटली में बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, तंगी, मन्दी तेजी से फैले। ये बातें कुछ ही वर्षों में जनतन्त्र के लिए जानलेवा सिद्ध हुईं और इन्होंने इटली में फासीवाद और जर्मनी में नाजीवाद को खतरनाक ढंग से बढ़ावा दिया।

इन शान्ति सन्धियों की एक और बड़ी असफलता रही। प्रथम विश्व युद्ध के विस्फोट ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि राष्ट्रीय सुरक्षा की तलाश में सम्पन्न गुप्त समझौतों और सन्धियों ने ही बारूद का वह बड़ा अम्बार जुटाया था जिसके विस्फोट में आर्च ड्यूक फर्डिनेंड की हत्या ने चिंगारी का काम किया। वर्साय सम्मेलन में सभी प्रतिनिधियों के सामने बड़ी समस्या सामूहिक सुरक्षा की थी। विडम्बना यह है कि लोगों ने आसानी से इसे राष्ट्र संघ (League of Nations) पर थोप दिया।

जहाँ एक ओर फ्रांस, जर्मनी से आशंकित-आतंकित था और प्रतिरक्षा की प्राथमिकताओं को देखते हुए इसे (राष्ट्र संघ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का सामूहिक सुरक्षा का प्रबन्ध करना ही था, वहीं इस यथार्थ को अनदेखा नहीं किया जा सकता था कि ऐसा प्रबन्ध तभी कारगर हो सकता है, जब वह मूलतः अन्यायपूर्ण या विषम न हो। इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि जिस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सामूहिक सुरक्षा की यह जिम्मेदारी सौंपी जा रही है, वह इसके निर्वाह में समर्थ एवं सक्षम हो। राष्ट्र संघ कोई यथार्थवादी रचनात्मक पहल नहीं थी, बल्कि एक आदर्शवादी प्रयोग था। इस विश्व संगठन की सीमाएँ इसके जन्म के साथ ही स्पष्ट हो चुकी थीं। इसके प्रमुख प्रस्तावक अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन अपने देश को राष्ट्र संघ की सदस्यता के लिए तैयार नहीं कर सके। अमरीकी सदस्यता और समर्थन के अभाव में राष्ट्र संघ भी नपुंसक हो रह सकता था। जब भी कोई छोटा-बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय संकट उभरा, तो राष्ट्र संघ उसका सामना करने में असफल रहा। अबीसीनिया हो या मंचूरिया या फिर जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति-मुआवजा भुगतान करने से इंकार, राष्ट्र संघ हमेशा अकर्मण्य ही सिद्ध हुआ। फ्रेडरिक एल० शूमाँ का कहना है—'राष्ट्र संघ के लिए यह जरूरी था कि सदस्य राष्ट्रों में उसके सिद्धान्तों के प्रति

[1] E. H. Carr, *International Relations Between the Two World Wars* (London, 1961), 54-55

[2] देखें, ई० एच० कार की पूर्वोक्त पुस्तक में, पृ० 57-58।

निष्ठा, बुद्धिमत्ता और साहस होता किन्तु उनमे इनका सर्वथा अभाव था। इसलिए जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क मे निर्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि-स्थल बन गया।'[2]

इसके अतिरिक्त एक अप्रत्याशित-अनपेक्षित दिशा से भी अन्तर्राष्ट्रीय सकट पैदा हुआ। सुदूर पूर्व मे जापानी सैन्यवाद के उफान ने 1923 मे वाशिगटन नौतैनिक सम्मेलन की घडी से ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर नये दबाव डालने आरम्भ कर दिये। विस्तारवादी सैनिक शक्ति द्वारा बल प्रयोग के निषेध के राष्ट्र सघ के प्रयत्न सदाशयी भले ही रहे हो, किन्तु वे नितान्त अव्यावहारिक और 'सैद्धान्तिक' थे। युद्ध के उन्मूलन के लिए केलोग-ब्रिया पैक्ट (1927) और लोकार्नो सन्धियाँ इसी श्रेणी मे रखे जा सकते हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद सम्पन्न शान्ति सन्धियो-समझौतो और राष्ट्र सघ की असफलता ने अगले 20–30 वर्षों मे यूरोपीय रगमच पर ही नही, बल्कि अन्यत्र भी वैर-वैमनस्य और अवसरवादी मित्रता की दिशा-दशा तय की।

कुछ विद्वानो का मानना है कि पहले और दूसरे विश्व युद्ध के बीच के अंतराल को शान्ति युग नहीं बल्कि अधिक से अधिक युद्ध विराम माना जाना चाहिए। दोनो युद्धो मे इतनी समानता थी कि आरम्भ से ही इनका नामकरण दूसरा विश्व युद्ध कर दिया गया। दोनो बार विस्फोट पूर्वी यूरोप मे हुआ, दोनो ही बार जर्मनी का मुकाबला फ्रास, ब्रिटेन आदि के सन्धि-सगठन से हुआ और सैनिक सघर्ष के विस्फोट के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि व्यवस्था की असफलता जिम्मेदार रही। दोनो ही विश्व युद्धो के बारे मे यह बात भी महत्वपूर्ण है कि दुनिया पर युद्धरत राष्ट्रो की सुनियोजित रणनीति से कही अधिक दूरगामी प्रभाव आकस्मिक घटनाक्रम के पडे। दोनों विश्व युद्धो के बाद युद्धोत्तर पुनर्निर्माण और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को स्थायी बनाने के प्रयत्न चरम महत्वपूर्ण बन गये। तथापि, जैसाकि डेविड थॉमसन का मानना है कि 'सुस्पष्ट समानताओं को देखते हुए भी इन दो विश्व युद्धों के बीच महत्वपूर्ण अन्तरो को हमे नजरअन्दाज नही करना चाहिये। दूसरा महायुद्ध पहले युद्ध की तुलना मे कही अधिक वास्तविक युद्ध था। अफ्रीका और एशिया मे निर्णायक रणक्षेत्र थे। विडबना यह थी विजेता होने के बाद फ्रास का ह्रास रोका नही जा सका और द्वितीय विश्व युद्धोत्तर वर्षों मे विभाजित-पराजित जर्मनी के राष्ट्रीय हित विजेता अमरीका व फ्रास के साथ जुड गये। मित्र राष्ट्रो मे एक होने के बावजूद युद्ध समाप्त होते ही सोवियत सघ का कायाकल्प शत्रु के रूप मे हो गया। चीन मे शान्ति, जापान की पराजय और आणविक अस्त्रो के प्रयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को क्रान्तिकारी ढग से बदल डाला।

[2] The government of Democratic Great Powers upon which the future of the League depended fell into the hands of those who were utterly lacking in the loyalty, wisdom and courage through which alone the League could survive by fulfilling the dreams of its founders The League s white palace in Ariana Park, by shores of Geneva s Lake Leman, therefore became, in the end, a sepulchre Frederick L. Schuman, *International Politics* (New York, 1969), 313

द्वितीय विश्व युद्ध का विस्फोट : प्रमुख घटनाएँ
(Outbreak of Second World War : Major Events)

द्वितीय विश्व युद्ध का आरम्भ एक सितम्बर, 1939 को हुआ, जब हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया। यह युद्ध लगभग छह वर्ष तक चला। जापान के हिरोशिमा व नागासाकी नगरों पर अणु बम गिराये जाने (छह व नौ अगस्त, 1945) के बाद उसकी पराजय और आत्मसमर्पण (14 अगस्त, 1945) के साथ इसका अन्त आम तौर पर माना जाता है। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो अलग-अलग राष्ट्र अपने हितो को देखते हुए संघर्ष में शामिल हुए और विभिन्न शत्रुओं की पराजय के साथ अलग-अलग रणक्षेत्रों में इसकी समाप्ति एक मोटे काल खंड के भीतर अलग-अलग क्षणो मे हुई। कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ इस प्रकार है—7 दिसम्बर, 1941 को पर्ल हार्बर पर जापानी हमले के बाद अमरीका युद्ध मे शामिल हुआ, जबकि जून, 1941 मे सोवियत संघ पर जर्मन हमले के बाद सोवियत संघ रणक्षेत्र में कूद चुका था। जून 1940 मे फ्रांस ने जर्मनी के सामने समर्पण किया और पासा पलटने के बाद जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों के सामने 8 मई, 1945 को समर्पण किया। इस तरह दिसम्बर, 1941 से मई, 1945 तक युद्ध पूरे उफान पर था। मित्र राष्ट्रों (Allied Nations) मे अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत संघ और राष्ट्रवादी चीन थे। ब्रिटेन और फ्रांस के उपनिवेश अपने महाप्रभुओं की जरूरत के अनुसार युद्धरत रहे। जर्मनी द्वारा पराजित यूरोपीय राष्ट्र पोलैंड, चैकोस्लोवाकिया, हालैंड, आदि राष्ट्र मित्र राष्ट्रों का संरक्षण ग्रहण करने के बाद एक तरह से इनके सन्धि-मित्र और सहयोगी बन गये। धुरी राष्ट्रों (Axis Powers) में नाजी जर्मनी, फासीवादी इटली, जापान मुख्य थे। इनके अनुचर के रूप में तुर्की आदि या उनके द्वारा अधिग्रहित प्रदेश थे। मसलन जर्मनी ने फ्रांस मे विचि नामक कठपुतली सरकार स्थापित की थी। इसी तरह जापान ने दक्षिण पूर्व एशिया मे इन्डोनेशिया, हिन्द चीन आदि में अपने अनुकूल प्रशासन संगठित किये और अपनी इच्छानुसार उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी तत्वों को समर्थन-प्रोत्साहन देकर विश्व युद्ध मे अपने पक्ष मे भाग लेने के लिए विवश किया। आजाद हिन्द फौज, सुकार्णो, हट्टा आदि की जोड़ी इसी का उदाहरण है।

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण
(Causes of Second World War)

द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के अनेक कारण थे। प्रथम विश्व युद्ध की तरह इन्हे बहुत आसानी से तात्कालिक और बुनियादी कारणों (ऐतिहासिक, सामाजिक एवं आर्थिक) में नही बाँटा जा सकता। कई विद्वानो ने यह सुझाने का प्रयत्न किया है कि यूरोप मे अल्पसंख्यकों का असंतोष और जर्मनी का पोलैंड पर आक्रमण युद्ध की लपटें भड़काने वाला सिद्ध हुआ। परन्तु इनका सम्बन्ध युद्ध के विस्फोट के लिए सिराजीवो मे आर्च ड्यूक फ्रांज फर्डिनेंड की हत्या से भी कम महत्व का है। वस्तुतः पोलैंड का अतिक्रमण और चैकोस्लोवाकिया में जर्मन सेनाओं को भेजा जाना ऐसी घटनाएँ थी, जिनका वास्ता पहले विश्व युद्ध के बाद सम्पन्न सन्धियों-समझौतों से है। नाजीवाद और फासीवाद का उदय किसी खास जातीय या नस्लीय

मानसिकता से नहीं हुआ, बल्कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद तनाव पर नियन्त्रण न पा सकने से सम्भव हुआ। इन सभी प्रसंगों पर अपेक्षाकृत विस्तृत टिप्पणी की आवश्यकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के प्रमुख कारण निम्नांकित है—

1 **तुष्टीकरण की नीति (Policy of Appeasement)**—अधिकांश जनता आज इस गलतफहमी की शिकार है कि द्वितीय विश्व युद्ध के लिए सिर्फ हिटलर और मुसोलिनी जैसे सरफिरे तानाशाह जिम्मेदार हैं। एक हद तक इस धारणा का पोषण विजय के बाद विजेता के गुणगान करने वाले इतिहास लेखन ने किया है। यह प्रश्न पूछा जाना चाहिये कि क्यों समय रहते हिटलर और मुसोलिनी जैसे 'राक्षसों' का उन्मूलन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया? ब्रिटेन और कुछ हद तक उसके सहयोगी मित्र राष्ट्र फ्रांस और बाद में रूस भी तुष्टीकरण की नीति के पक्षधर रहे। इसका सबसे अच्छा उदाहरण म्यूनिख समझौता है। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मन्त्री नेविल चेंबरलेन बेहद दब्बू किस्म के आदमी थे। जब वह 1936 में हिटलर से मिलने म्यूनिख पहुँचे तो उन्होंने अपनी वापसी पर बड़े गर्व के साथ यह घोषणा की कि 'मैं सम्मान के साथ शान्ति की व्यवस्था कर आया हूँ।' कुछ ही समय बाद इस दम्भपूर्ण घोषणा का खोखलापन जगजाहिर हो गया तथा न सम्मान बचा और न ही शान्ति। म्यूनिख में चेंबरलेन के राजनयिक आचरण को आज तक अवसरवादी व समझौतापरस्ती का सबसे घटिया स्वरूप समझा जाता है। उन्हें दब्बू समझा गया और ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री बनाये रखने वाले राष्ट्र की छवि अनिवार्यतः कमजोर ही हो सकती थी। म्यूनिख समझौते के बारे में फ्रेडरिक एल० शूमा ने लिखा है—'म्यूनिख समझौता तुष्टीकरण की नीति की चरम सीमा तथा पश्चिमी लोकतन्त्रों का मृत्यु-पत्र था। यह हिटलर की आतंकवादी नीति की अब तक की सबसे बड़ी विजय थी।'[1]

जब आरम्भ में जर्मनी ने युद्ध का मुआवजा देना बन्द किया तो ब्रिटेन की तरह फ्रांस ने भी कोई जवाबी कदम नहीं उठाया। इससे जर्मनी ने यही समझा कि धौंस-धमकी से फ्रांस को चुप रखा जा सकता है। सोवियत संघ का आचरण भी भिन्न नहीं था। तानाशाह स्टालिन उस समय अपने विरोधियों के सफाये में व्यस्त थे। न केवल नाजी जर्मनी, बल्कि तमाम पश्चिमी पूँजीवादी देशों को वह अपना शत्रु समझते थे। कम से कम फासीवादी इटली और नाजीवादी जर्मनी शब्दाडम्बर के स्तर पर समाजवाद को प्रतिष्ठित कर रहे थे। उनके साथ 'सहकार' में स्टालिन को कोई हिचक नहीं थी। स्टालिन का कुटिल प्रयत्न यह था कि पश्चिमी खेमे कि एकता खंडित ही रहे। फ्रांस और जर्मनी का पारम्परिक बैर सोवियत संघ के लिए फायदेमंद था। जर्मनी के बहाने वह स्वयं पोलैंड में मनमानी कर सकता था। स्टालिन रिबेन्ट्रोप समझौता इस विश्लेषण को पुष्ट करता है। वास्तव में तुष्टीकरण की नीति सिर्फ कमजोरी या आतंक के कारण नहीं बल्कि अवसरवादी लोलुपता के कारण अपनायी गयी। आज भले ही सिर्फ चेंबरलेन की बदनामी याद आती है, लेकिन अन्य लोगों की हिस्सेदारी भी इसमें थी।

2. **नाजीवाद व फासीवाद का उदय (Rise of Nazism and Fascism)**—

[1] 'The Peace of Munich was the greatest triumph to date of Hitler's strategy of terror It was the culmination of appeasement and warrant of death for Western Powers'—Schuman, *op cit*, 695

नाजीवाद व फासीवाद के आविर्भाव के लिए सिर्फ तुष्टीकरण की नीति ही जिम्मेदार नहीं थी, और न सिर्फ इतना कहने से काम चल सकता है कि जर्मनी का मूल सम्स्कार ही लड़ाकू व विस्तारवादी है, जिसके साथ अन्य देशो का टकराव अवश्यंभावी है। जर्मनी की ऐसी हिंसक छवि के लिए नाजियों का नृशंस, अमानुषिक आचरण एक सीमा तक ही उत्तरदायी है। नीत्शे और बिस्मार्क से लेकर विलियम कैसर के जरिये एडोल्फ हिटलर तक पहुँचना सहज अवश्य है, परन्तु सही नहीं। वास्तव मे फासीवाद और नाजीवाद दोनों ही उग्र राष्ट्रवाद और भीड़तन्त्र के सन्निपात से जन्मे थे। इस तरह की प्रवृत्तियाँ यूरोप में अनेक देशो मे सर उठा रही थीं। इस शताब्दी के आरम्भ मे 'बोअर वार' के दौरान उग्र राष्ट्रवाद के लिए अंग्रेजी मे एक शब्द तक गढा गया—'जिंगोइज्म।' ओस्वल्ड स्पेंगलर तथा ओरतेगा इगासे जैसे विद्वानो को भीडतन्त्र का खौफ द्वितीय विश्व युद्ध के वर्षों पहले सताने लगा था। इस प्रकार नाजीवाद व फासीवाद द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट का कारण बना।

3. वर्साय सन्धि के प्रति असन्तोष (Resentment with the Treaty of Versailles)—वर्साय सन्धि मूलत अन्यायपूर्ण थी और उसने जर्मनी जैसे पराजित राष्ट्रो पर कमरतोड़ आर्थिक मुआवजो का बोझ लादा था। परिणामस्वरूप 'वाइमार' गणतन्त्र (Weimar Republic) की असफलता पूर्व निश्चित हो गयी। हिटलर जैसे कुटिल राजनीतिज्ञ के लिए राष्ट्रीय सम्मान की दुहाई दे सकना न केवल सम्भव बल्कि विश्वसनीय बन सका। जब हिटलर अपने देशवासियो को कुर्बानी के लिए ललकारता तो वे न केवल आत्म-सम्मान एव राष्ट्रीय गौरव के लिए, बल्कि रोजमर्रा की जिन्दगी चैन से बसर करने के लिए कमर कस रहे होते। राष्ट्र संघ ने जर्मनी पर तो तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये परन्तु इसकी कोई व्यवस्था नही की कि जन-आकांक्षाओ की पूर्ति के लिए आर्थिक संसाधन उसे कैसे प्राप्त होगे। शहरों मे घोर अभाव और दरिद्रता ने लम्पट असामाजिक तत्वों की हिंसक टोलियो को बढ़ावा दिया और इन्हे संगठित कर अपने विरोधियो के सफाये का अवसर हिटलर को दिया। अत: द्वितीय विश्व युद्ध के लिए वर्साय सन्धि भी जिम्मेदार रही है।

4. राष्ट्र संघ की असफलता (Failure of the League of Nations)—राष्ट्र सघ को असफलता ने जर्मनी मे ही नहीं, बल्कि फ्रांस में भी घटनाक्रम को प्रभावित किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद शान्ति की पुनर्स्थापना इस आश्वासन के साथ हुई की राष्ट्र संघ सामूहिक सुरक्षा का प्रबन्ध करेगा, युद्ध का उन्मूलन करेगा और नि शस्त्रीकरण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा। इनमें से कोई भी आशा पूरी नही हुई। निराश एवं खिन्न फ्रास ने स्वय अपनी सुरक्षा के लिए शस्त्रीकरण का रास्ता चुना, जिसने हिटलर द्वारा सत्ता ग्रहण करने के बाद शस्त्रीकरण की होड़ और तेज की। यहाँ राष्ट्र संघ की असफलता के कारणो का विस्तृत विश्लेषण करने की कोई आवश्यकता नही, तथापि एक महत्वपूर्ण पक्ष की ओर ध्यान दिलाया जाना जरूरी है। राष्ट्र सघ की स्थापना अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की प्रेरणा और सद्प्रयत्नों से हुई थी। बाद मे स्वयं अमरीका इस संगठन का सदस्य नही बना। प्रथम विश्व युद्ध का परिणाम अमरीका की सैनिक भागीदारी से निर्णायक ढंग से प्रभावित हुआ था। अमरीकी शक्ति तथा साधनो के अभाव मे राष्ट्र संघ एक आदर्शवादी सपना भर रह गया। इथियोपिया मे इतालवी हस्तक्षेप,

मचूरिया और चीन पर जापानी आक्रमण आदि संकटो के समाधान में राष्ट्र सघ बुरी तरह असफल रहा। इसने नाजीवादी जर्मनी और फासीवादी इटली को यह सोचने का मौका दिया कि उन्हे अनुशासित करने वाली कोई सस्था नही और सैनिक बल ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एकमात्र यथार्थ है। इस तरह राष्ट्र सघ असफल होन पर द्वितीय विश्व युद्ध भड़का।

4 अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सकट (International Economic Crisis)—प्रथम विश्व युद्ध के बाद के वर्षो मे यूरोप भर मे सामाजिक उच्छृखलता तथा राजनीतिक अस्थिरता बढने के लिए आर्थिक सकट जिम्मेदार रहा। तेजी या मदी आर्थिक जीवन के साथ जुडी रहती है परन्तु इसके इतने नाटकीय परिणाम विश्व इतिहास मे इससे पहले कभी नही देखे गये। आर्थिक सकट का आरम्भ अमरीका से हुआ और शीघ्र ही पूरा विश्व इसकी चपेट मे आ गया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जब शान्ति स्थापित हुई तो अनेक औद्योगिक इकाइयो का उत्पादन 'सरप्लस' हो गया। दूसरी तरफ पराजित राष्ट्र युद्ध के ध्वस के कारण माल खरीदने की स्थिति मे नही थे। ऐसी स्थिति मे महँगाई, मुद्रा स्फीति, कालाबाजारी, तस्करी, बैंको को ऋणो की अदायगी मे कष्ट स्वाभाविक थे। अनेक उद्योगपतियो ने अपना मुनाफा बढाने के लिए शस्त्रीकरण, सैन्यीकरण और विस्तारवादी विदेश नीति को रामबाण औषधि के रूप म ग्रहण किया। जर्मनी तथा जापान के औद्योगिक सगठन तानाशाही व साम्राज्यवादी शक्तियों के पोषक बने।

एक बात और। इस समय तक औपनिवेशिक शक्तियाँ अपने उपनिवेशो से सम्पत्ति का दोहन कर अपनी समृद्धि को अक्षत रखती रही थी। प्रथम विश्व-युद्ध ने इसमे व्यवधान डाल दिया था। इसके अतिरिक्त इन उपनिवेशो मे स्वदेशी पूँजीवाद के विकास का सयोग, उपनिवेशवाद विरोधी स्वाधीनता सग्राम के साथ हो चुका था। नेहरू और गाधी जैसे नेता फासीवाद के विरोधी तो थे परन्तु औपनिवेशिक शक्तियो के सैन्यीकरण का कट्टर विरोध भी करते थे। इसी कारण औपनिवेशिक ससाधनो का पूर्ववत् मनमाना उपयोग न कर पाने से भी इन शक्तियो की आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई थी।

6. जापान मे सैन्यवाद का विकास (Development of Militarism in Japan)—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रो को जितना सकट नाजी जर्मनी और फासीवादी इटली से था, उतना ही पूर्वी प्रशान्त मोर्चे पर जापान से। यह गलत भी नही था। द्वितीय विश्व युद्ध को विश्व युद्ध मे परिवर्तित पर्ल हार्बर नामक अमरीकी नौसैनिक अड्डे पर जापानी हमले ने ही किया। तब तक अमरीका तटस्थ था और सोवियत सघ के युद्ध क्षेत्र मे उतर आने के बाद भी यह सग्राम यूरोपीय ही था। जापानी सैनिक अभियानो ने ही दक्षिण-पूर्व एशिया मे फासीसी व डच साम्राज्य का सफाया किया और भारत मे अग्रेजी आधिपत्य को विपदा मे डाला। द्वितीय विश्व युद्ध के कारणो मे जापानी सैन्यवाद को नाजीवाद और फासीवाद स कम महत्वपूर्ण नही समझा जा सकता।

जापानी सैन्यवाद एक तरह की तानाशाही था। परन्तु उसका जन्म नाजीवाद और फासीवाद से बिल्कुल भिन्न कारणो मे हुआ था। इसके मूल मे राष्ट्रीय अपमान, युद्ध में हार और आर्थिक परेशानियाँ नही, बल्कि सैनिक व सामन्ती सस्कार वाली परम्परा का आक्रमण तथा पूँजीवाद का प्रत्यारोपण था।

19वी शताब्दी में जापान का आधुनिकीकरण तेजी से हुआ। जापान की आर्थिक व औद्योगिक सफलता ने साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को जन्म दिया। 1905 में रूस को हराने के बाद से जापान में नस्ली अहंकार निरन्तर बढ़ता गया। वाशिंगटन नौसैनिक सम्मेलन जैसे अवसरों पर पश्चिमी राष्ट्रों ने जापान की इन भ्रान्तिपूर्ण महत्वाकांक्षाओं को तुष्ट किया। इसके बाद जापान का यह सोचना तर्कसंगत था कि समानधर्मी नाजी व फासी ताकतों के साथ गठजोड़ कर वह अपने मसूबे पूरा कर सकता है। इस प्रकार, जापानी सैन्यवाद ने द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया।

7. साम्यवाद का संकट (Crisis of Communism)—जापानी सैन्यवाद की तरह सोवियत संघ मे साम्यवाद की स्थापना ने भी अप्रत्याशित ढग से द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के लिए जमीन तैयार की। 1917 के बाद तमाम पूंजीवादी राष्ट्र रूस से क्रान्ति के निर्यात के प्रति आशंकित थे। उनके द्वारा समर्थित सफेद सेनाओं ने सोवियत संघ में सैनिक हस्तक्षेप का प्रयत्न भी किया। उसके बाद रूस 'शत्रु' के रूप में पारिभाषित किया जाता रहा और उसकी घेराबन्दी के प्रयत्न किये जाते रहे। इंग्लैण्ड तथा फ्रास में अनेक लोगो का सोचना था कि यदि नाजी जर्मनी अपनी विस्तारवादी महत्वाकांक्षाओं का लक्ष्य रूस को बनाता है तो इसमें उनका लाभ ही है। जर्मनी में हिटलर ने जिस हिंसक तरीके से अपने साम्यवादी विरोधियो का सफाया किया, उससे भी यह आशा प्रकट हुई। हिटलर की उग्रपंथिता को सहन करना और उसके तुष्टीकरण के प्रयत्न इसी सन्दर्भ मे समझ में आते हैं।

दूसरी ओर स्वयं रूस का राजनयिक आचरण सिद्धान्तहीन और ढुलमुलपंथी रहा। सोवियत संघ ने अवसरवादी ढंग से नाजी जर्मनी के साथ गुप्त समझौता किया और जब तक स्वयं उस पर हमला नही किया गया, तब तक उसने नाजियों और फासीवादियों को शत्रु नही समझा। रूस पर हमले के बाद ही राष्ट्रवादी युद्ध में कूद पड़ने के लिए विश्व भर के क्रान्तिकारियों का आह्वान किया गया। निश्चय ही, इस आचरण ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अस्थिरता को बढ़ाया और विश्व युद्ध को सम्भव बनाया।[1]

युद्धकालीन राजनयिक सम्मेलन, शान्ति सन्धियाँ, उनका महत्व एवं संयुक्त राष्ट्र संघ

द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनय की प्रक्रिया अस्त-व्यस्त हो गयी। परन्तु इससे यह समझना गलत होगा कि राजनयिक परामर्श पूर्णत: समाप्त हो गया। युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों के बीच महत्वपूर्ण परामर्श निरन्तर चलता रहा और अनेक ऐतिहासिक राजनयिक सम्मेलनों का आयोजन किया जा सका। इनमें कुछ सम्मेलन ऐतिहासिक महत्व के सिद्ध हुए और युद्ध सचालन के अतिरिक्त युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के स्वरूप पर भी इनका प्रभाव देखा जा सकता है। इनमें से प्रमुख सम्मेलन निम्नलिखित हैं :

1. लन्दन सम्मेलन घोषणा (London Declaration, 1941)—जून, 1941 मे जब विश्व युद्ध अपने पहले चरण में था, लन्दन में तब ब्रिटेन, कनाडा,

[1] द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के तात्कालिक और बुनियादी कारणों का सबसे सारगर्भित वर्णन ई० एच० कार ने किया है।

न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका आदि राष्ट्रमण्डलीय देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के साथ-साथ एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का सुझाव दिया। भले ही यह अपने आप में कोई बडी उपलब्धि नही थी, फिर भी इसने अटलांटिक चार्टर की अगुवाई की।

2. अटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter, 1941)—यह सम्मेलन अटलांटिक महासागर मे एक युद्धपोत पर सम्पन्न हुआ। इसी कारण इसका ऐसा विचित्र नामकरण है। इसमे भाग लिया—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विंसटन चर्चिल और अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने। इस बैठक की प्रस्तावना मित्र राष्ट्रों द्वारा महायुद्ध में अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिए की गयी थी। इस परामर्श के बाद जो घोषणा की गयी, वही अटलांटिक चार्टर के नाम से विख्यात है। इसके प्रमुख प्रावधान इस प्रकार थे—नाजी जर्मनी द्वारा अब तक पराजित देशों, पोलैण्ड, फ्रास और नाजी आक्रमण के शिकार नार्वे, सोवियत सघ जैसे देशों की प्रतिरोध क्षमता बढाना, युद्ध के बाद हिटलर द्वारा स्थापित व्यवस्था को विस्थापित कर उसके स्थान पर अधिक मानवीय व्यवस्था की स्थापना तथा सभ्य समाज मे सर्वत्र अनुमोदित कुछ सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए प्रयत्न करना। इनमें से अन्तिम प्रावधान ने सयुक्त राष्ट्र सघ की आधारशिला रखी। इस अटलांटिक चार्टर मे कुछ महत्त्वपूर्ण बातें अन्तर्निहित थी। अमरीका और ब्रिटेन दोनो ने यह बात स्पष्ट की कि युद्ध मे उनकी अपनी कोई क्षेत्रीय महत्त्वाकाक्षा नही है और न ही वे किसी देश पर उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई व्यवस्था लादना चाहते हैं। अमानवीय अत्याचार व शोषण के विरोध के साथ-साथ रचनात्मक सहकार और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की जरूरत पर भी बल दिया गया। यह घोषणा 14 अगस्त, 1941 को की गयी।

3 'सयुक्त राष्ट्र' की घोषणा (Declaration of United Nations, 1942)—एक जनवरी, 1942 को वाशिंगटन मे यह घोषणा की गयी। अब तक पर्ल हार्बर के हमले के बाद अमरीका भी युद्ध मे सम्मिलित हो चुका था। फौजो की समुचित तैनाती और मोर्चों पर सैनिकों का मनोबल बढाने के लिए 'मित्र राष्ट्र' 'सयुक्त राष्ट्र' मे परिवर्तित हो गये। इस घोषणा मे अटलांटिक चार्टर की भावना और स्थापनाओं को स्वीकार किया गया और यह सकल्प किया गया कि इनमे से कोई भी शत्रु से अलग सन्धि नहीं करेगा। युद्ध सचालन के इस सयुक्त प्रयास ने आगे चलकर इन सहयोगी देशों को एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन मे बदलने का सहज अवसर दिया। इस सामरिक राजनय के बाद ब्रिटन-वुड्स तथा डबरटन ओक्स सम्मेलन बुलाये गये, जिनका प्रमुख विषय अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बारे मे सहमति बनाना था। आर्थिक विचार विनिमय के साथ-साथ डबरटन ओक्स सम्मेलन मे सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता, सुरक्षा परिषद के स्वरूप और इसकी सदस्यता के विषय मे भी महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचा जा सका। ब्रिटन-वुड्स समझौते के तहत अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की जा सकी।

4 तेहरान सम्मेलन (Tehran Conference, 1943)—इस सम्मेलन (28 नवम्बर से एक दिसम्बर, 1943 तक) की विशेषता यह थी कि पहली बार तीनों बड़े नेताओ—चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन ने किसी युद्धकालीन सम्मेलन मे एक साथ भाग लिया। सम्मेलन के समापन पर यह घोषणा की गयी कि तीनों यहाँ

से मित्र बनकर लौट रहे थे। इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य सोवियत नेता स्टालिन को इस बारे में आश्वस्त करना था कि अमरीका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्र दूसरे मोर्चे पर कोई कोताही नही कर रहे थे और सोवियत रणनीति के साथ अपने पूर्वी और पश्चिमी दोनों मोर्चों के क्रिया-कलापो का समुचित समायोजन चाहते थे। पश्चिमी राष्ट्र यह सोचकर सन्तुष्ट हुए कि स्टालिन से वे ईरान की स्वतन्त्रता, अखण्डता और सम्प्रभुता के बारे मे आश्वासन पाने में सफल रहे। इसके पहले किसी सरकार के अध्यक्ष ने सोवियत क्रान्तिकारी नेता से इस प्रकार सीधे बातचीत नही की थी। इस अनुभव ने उन्हे अपने इस वैरी मित्र को पहचानने का अच्छा अवसर दिया। तेहरान समझौते में कुछ बातें गुप्त रखी गयी, जिनका प्रकाशन मार्च, 1947 में जाकर हुआ। इन सभी बातो का सम्बन्ध युद्धकालीन समर नीति से था।

5. याल्टा सम्मेलन (Yalta Conference, 1945)—जब युद्ध अपने अन्तिम चरण मे था तो फरवरी, 1945 मे एक बार फिर तीन बड़े नेताओं की बैठक याल्टा (क्रीमिया, अब रूस मे) मे हुई। इनमें अटलांटिक चार्टर और तेहरान समझौते में कही गयी कई बातो का विस्तार किया गया—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना पर बल। परन्तु इसमे जो सबसे महत्वपूर्ण फैसले लिये गये वे जर्मनी से सम्बन्धित थे। यह तय किया गया कि जर्मनी चार क्षेत्रो मे बांट दिया जायेगा, युद्ध अपराधियो पर मुकदमा चलेगा, जर्मनी का निशस्त्रीकरण किया जायेगा और जर्मन अर्थव्यवस्था पर मित्र राष्ट्रों का नियन्त्रण रखा जायेगा। यूरोप के सन्दर्भ मे पोलैण्ड की पूर्वी सीमा का निरूपण किया गया और युगोस्लाविया में मार्शल टीटो की सरकार को समर्थन देना तय किया गया। सोवियत संघ ने सुदूर पूर्व के सम्बन्ध मे जापान पर आक्रमण का आश्वासन दिया और बदले में मंगोलिया पर अपने आधिपत्य की स्वीकृति प्राप्त की। निश्चय ही याल्टा सम्मेलन अब तक आयोजित ऐसे सभी सम्मेलनों मे सबसे महत्वपूर्ण था। एक तो इसमे युद्धोपरान्त राज्यो की सीमाओं का पुन निर्धारण करने का प्रयत्न किया गया। इससे बाद में मनोमालिन्य और ईर्ष्या पनपना स्वाभाविक था। कुल मिलाकर, याल्टा सम्मेलन का स्वर विजेताओं द्वारा युद्ध मे प्राप्त पुरस्कार के बँटवारे का था। जाहिर था कि विभिन्न राष्ट्र अपनी निजी युद्धक्षति को ध्यान मे रखकर अपने परिश्रम की कीमत आँक रहे थे। ऐसी स्थिति में मित्र राष्ट्रों की मैत्री ज्यादा समय तक अक्षुण्ण नही रह सकती थी।

साथ ही, इस वातावरण में अटलांटिक चार्टर की आदर्शवादिता, यथार्थवाद का पुट पाकर नितान्त व्यावसायिक बन गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रस्तावना, विश्व सरकार का बीज न रहकर विजेता मित्र राष्ट्रों की पंचायत में बदलने लगी। उक्रेन और बाइलो रूसिया की सदस्यता, सुरक्षा परिषद मे स्थायी सदस्यो का प्रावधान, वीटो प्रणाली आदि ने शीत युद्ध को बढ़ावा दिया। ऐसे अनेक विषय थे, जिन्हे विशेष कारणों से याल्टा मे अछूता छोड़ दिया गया और उन्होंने आगे चलकर बड़ी अड़चनें पैदा की। इनमे सुरक्षा परिषद मे मतदान प्रणाली, स्थायी न्यायालय तथा प्रारम्भिक सदस्यता विषयक मुद्दे प्रमुख थे।

6. सान फ्रांसिस्को सम्मेलन (San Fransisco Conference, 1945)—इसका आयोजन द्वितीय महायुद्ध की अवसान वेला (25 अप्रैल से 26 जून, 1945) में हुआ। सम्मेलन को आरम्भ मे ही चार आयोगो मे बाँटा गया और कुल 12

समितियाँ बनायी गयी। एक तरह से यह सम्मेलन सं० रा० संघ का जनक था। समन्वय, संचालन एवं प्रक्रिया विषयक जो निर्णय यहाँ लिये गये, वे निर्णायक रहे। इस सम्मेलन के बारे में एक रोचक तथ्य यह है कि इसमें भारत के दो प्रतिनिधि-मण्डलों ने भाग लिया। एक का नेतृत्व तत्कालीन विदेश सचिव गिरजा शंकर वाजपयी कर रहे थे तो दूसरे का श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित। भारत के योगदान ने यह बात उजागर की कि नया अन्तर्राष्ट्रीय संगठन उपनिवेशवाद का विरोधी है और इसकी अस्ताचलगामी नियति को समझता है। इस सम्मेलन में ऐसी अनेक अवधारणाएँ परिष्कृत-स्वीकृत हुई, जो संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र का अभिन्न अंग हैं, जैसे वीटो प्रणाली, क्षेत्रीय व्यवस्थाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका, व्यक्तिगत तथा सामूहिक सुरक्षा का अधिकार एवं आर्थिक व सामाजिक परिषद का महत्त्व। इस सम्मेलन में लिये गये निर्णय के अनुसार प्रस्तावना को चार्टर से जोड़ा गया तथा राष्ट्रीय सम्प्रभुता को प्रतिष्ठा दी गयी। निश्चय ही सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन की उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं, परन्तु यह बात भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि यहीं संयुक्त राष्ट्र संघ के मौलिक एवं निर्वाचित सदस्यों के बीच भेदभाव किया गया। आत्मरक्षा के व्यक्तिगत एवं सामूहिक अधिकार ने संस्था के क्षेत्राधिकार को बुरी तरह सीमित किया और विवादों के निपटारे के लिए बल प्रयोग के निषेध वाले प्रावधानों को लगभग निरर्थक बना दिया। इसी तरह क्षेत्रीय संगठन-व्यवस्थाओं के महत्त्व को स्वीकृत कर 'आदर्श विश्व' की परिकल्पना को दुर्बल किया गया।

7. पोट्सडेम सम्मेलन (Potsdam Conference, 1945)—पोट्सडेम सम्मेलन का आयोजन जर्मनी के बिना शर्त समर्पण के बाद जुलाई-अगस्त, 1945 में हुआ। इस वक्त तक अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का निधन हो चुका था। इस सम्मेलन में अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमेन के अतिरिक्त, एटली, स्टालिन तथा चियांग काई शेक ने भाग लिया। इस सम्मेलन की प्रमुख उपलब्धि युद्ध के बाद शान्ति समझौतों के लिए जमीन तैयार करना था। युद्ध के बाद जर्मनी से आर्थिक क्षतिपूर्ति, जर्मनी के विभाजन, जर्मनी तथा पौलैण्ड में जनतान्त्रिक शासन की पुन स्थापना तथा आस्ट्रिया के तटस्थीकरण के बारे में प्रमुख निर्णय इस सम्मेलन में लिये गये। सम्मेलन में यह बात भी स्पष्ट हुई कि 'विजेता मित्र राष्ट्रों' के बीच आपसी मतभेद इस समय तक काफी उग्र हो गये हैं। इसी कारण पराजित राष्ट्रों के साथ अलग-अलग शान्ति सन्धियाँ करनी पड़ीं। लन्दन, मास्को, पेरिस तथा न्यूयार्क में अनेक बैठकों के बाद इटली, बुलारिया, फिनलैण्ड तथा रूमानिया से अलग-अलग सन्धियाँ की गयी। इसके बाद भी जापान और आस्ट्रिया के साथ शान्ति समझौतों की समस्या बची रही।

द्वितीय विश्वयुद्ध : प्रभाव
(Effects of the Second World War)

द्वितीय विश्व युद्ध मानव जाति के इतिहास में पिछले लगभग दो हजार वर्षों में सबसे अधिक निर्णायक महत्व की घटना थी, जिसने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सूत्रपात किया। समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आज तक इस युद्ध के परिणामों और प्रभावों से अनुशासित होती रही है। डेविड थॉमसन ने ठीक ही कहा है—द्वितीय विश्व

युद्ध का सबसे मजेदार परिणाम यह रहा कि युद्ध और शान्ति का अन्तर समाप्त हो गया। युद्ध के बाद शान्ति नही लौटी। उसकी जगह ले ली शीत युद्ध ने। अन्य परिणाम कही न कहीं इसी बुनियादी परिवर्तन से जुड़े थे। विश्व राजनीति पर द्वितीय विश्व युद्ध के निम्नांकित प्रमुख प्रभाव पड़े।

1. यूरोपीय प्रभुत्व का अन्त (End of European Domination)—द्वितीय विश्वयुद्ध का सबसे पहला परिणाम यह रहा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यूरोप की बड़ी शक्तियों का वर्चस्व समाप्त हो गया। नेपोलियन युग के अन्त से प्रथम विश्व युद्ध के विस्फोट तक यूरोप की पाँच बड़ी शक्तियों के बीच शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे बड़ा यथार्थ था। कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज और वास्कोडिगामा के भारत पहुँचने के साथ उपनिवेशवाद के जिस युग का आरम्भ हुआ, उसका अन्त 1945 मे हुआ। इन पारम्परिक बड़ी शक्तियों का स्थान रूस और अमरीका दो महाशक्तियों ने ले लिया, जिनके हित और सामर्थ्य विश्वव्यापी थे। इनकी आपसी प्रतिस्पर्धा में न केवल सैनिक शक्ति, बल्कि सैद्धान्तिक-वैचारिक आयाम भी महत्वपूर्ण था। यह भी उल्लेखनीय है कि अमरीका और सोवियत संघ दोनों में कोई भी शोषक औपनिवेशिक शक्ति नही रहा था। इसी कारण अफ्रो-एशियाई देशों में एक या दूसरी महाशक्ति द्वारा प्रस्तुत विकास का विकल्प सहज ग्राह्य था। स्वयं यूरोप की बड़ी औपनिवेशिक शक्तियाँ महायुद्ध के ध्वंस के बाद राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अमरीका या रूस पर निर्भर थीं। यह सुझाना तर्कसंगत होगा कि महाशक्तियों को छोड़कर बाकी सभी यूरोपीय हस्तियाँ 1945 के बाद दूसरे दर्जे की शक्तियाँ बनकर रह गयी। यह स्थिति कमोवेश आज तक बरकरार है।

2. परमाणु युग का आविर्भाव (Advent of Nuclear Age)—द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पहले ही जापानी नगरो, हिरोशिमा तथा नागासाकी पर परमाणु अस्त्रो का प्रयोग किया जा चुका था। इसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को क्रान्तिकारी ढंग से परिवर्तित किया। सर्वनाशक परमाणु अस्त्रो के आविष्कार ने रेडियो-धर्मिता-जनित प्रदूषण के कारण स्वयं विजेता के अस्तित्व को संकट में डाल दिया और मनुष्य जाति के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। इस घटनाक्रम ने शक्ति-सन्तुलन की अवधारणा को निरर्थक सिद्ध कर दिया और इस परिकल्पना का विस्थापन आतंक के सन्तुलन से किया। रणनीति, राजनय, परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग की सम्भावना, निशस्त्रीकरण आदि मुद्दों को इस घटनाक्रम ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्रीय विषय बना दिया।

3. अफ्रो-एशियाई देशों में जागरण (Resurgence in Afro-Asian Countries)—यूरोपीय प्रभुत्व के ह्रास तथा शक्ति सन्तुलन के क्षय ने उपनिवेशवाद की समाप्ति की गति को तेज किया। अनेक अफ्रो-एशियाई देशों के उदय को द्वितीय महायुद्ध ने प्रोत्साहित किया। भारत, इण्डोनेशिया, मिस्र आदि इसी श्रेणी मे आते है। चीन मे साम्यवादी सरकार का गठन भी इस पर आधारित था।

अफ्रो-एशियाई देशो के पुनर्जागरण ने दो महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के कारण प्रकट द्विध्रुवीय विश्व मे सैनिक संगठनों के गठन तथा गुट निरपेक्षता के महत्व को उजागर किया। जहाँ एक ओर छोटे असमर्थ राष्ट्रों को सामूहिक सुरक्षा के नाम पर और आर्थिक सुरक्षा का लालच देकर महाशक्तियाँ अपनी ओर व अपने

सेमा मे आकृष्ट कर सकी, वही अपेक्षाकृत वडे सम्पन्न राष्ट्र अपनी राजनीतिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के सयोजक बने।

गुट-निरपेक्षता की अवधारणा के साथ दो और महत्त्वपूर्ण परिकल्पनाएँ जुडी थी। इनमे से एक आर्थिक आत्म-निर्भरता की थी तो दूसरी सास्कृतिक स्वाभिमान के साथ साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की। आतक के सन्तुलन ने हिंसक मुठभेड के स्थान पर षड्यन्त्रकारी घुसपैठ और कलुषित प्रचार वाले शीत युद्ध का उद्घाटन किया। इस परिस्थिति ने प्रमुख अफ्रो-एशियाई देशो के लिए दो महाशक्तियो के बीच मध्यस्थता की भूमिका उजागर की तथा स० रा० सघ मे उनकी रचनात्मक पहल के लिए जमीन तैयार की।

4. क्षेत्रीयता तथा जातीय सस्कार की पुष्टि (Assertion of Regionalism and Racial Affinities)—द्वितीय विश्व युद्ध ने जहाँ एक ओर समस्त भू-मण्डल की एकता व अन्तर-निर्भरता को रेखाकित किया, वही उसने विभिन्न मोर्चों मे बँटवारे के साथ क्षेत्रीय विशेषता और जातीय सस्कार को भी पुष्ट किया। युद्धोत्तर काल मे शीत युद्ध के पहले उग्र चरण मे ये उदीयमान प्रवृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण साबित हुई। यह सिर्फ सयोग नही कि यूरोपीय आर्थिक पुनर्निर्माण की मार्शल परियोजना और दक्षिण पूर्व एशिया मे 'इकाफे' (ECAFE) का प्रारूप द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सहजता से स्वीकार किये गये।

5 तक्नीकी व वैज्ञानिक प्रगति (Technological and Scientific Progress)—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सामरिक प्राथमिकताओ ने वैज्ञानिक व तक्नीकी शोध को तीव्रतर बनाया। राडार, जेट विमान, रेडियो तथा टेलीविजन प्रसारण जैसे क्षेत्रो पर जितने बडे पैमाने पर पूँजी निवेश किया गया, वह शान्तिकाल मे सम्भव नही था। यह बात परमाणु विज्ञान मे भी लागू होती है। मित्र और धुरी राष्ट्रो को इस बात का अच्छी तरह अहसास था कि जो सेमा वैज्ञानिक व तक्नीकि आविष्कारो की इस दौड मे पिछडेगा, वही अन्तत पराजित होगा। इतना ही नही युद्ध के मोर्चे की व्यापक जरूरतो के लिए बडे पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन की वैज्ञानिक प्रणालियाँ ईजाद की गयी। 'एसेम्बली लाइन' का परिष्कार 'टी माडल' की कार के निर्माण के लिए हेनरी फोर्ड ने पहले ही सुझा दिया था। परन्तु ओपरेशन्स रिसर्च और लीनियर प्रोग्रैमिंग के साथ इसके सयोग से इसका असर कही चमत्कारिक ढग से बढ गया। इसी तरह युद्धकालीन प्रचार, तगी व राशनिंग वाली अर्थव्यवस्था ने युद्धोत्तर काल मे वैज्ञानिक व तक्नीकी विकास को बाकी समस्त आर्थिक क्रियाकलापो के साथ केन्द्रीकृत और नियोजित करना सहज बनाया। प्रचार एव बडे पैमाने पर सैनिक भर्ती न विज्ञापन और समाजशास्त्रीय अध्ययन पर आधारित नीति निर्धारण को पुष्ट किया। इसी तरह युद्ध के दबाव ने रबड, खनिज आदि कच्चे माल को थोडे या अधिक समय के लिए अनुपलब्ध बनाकर इनके कृत्रिम विकल्पो के आविष्कार का मार्ग प्रशस्त किया। प्लास्टिक, रयन, हल्की मिश्र धातु (Alloys), चमत्कारिक औषधियाँ आदि बहुत बडी सीमा तक द्वितीय विश्व युद्ध की ही देन हैं। सामरिक जरूरतो के अनुसार जर्मन वैज्ञानिको न वी-2 प्रक्षेपास्त्र का आविष्कार किया। य ही उन राकेटो के पूर्वज थे, जो आज हमे अन्तरिक्ष मे विजय दिला रहे हैं। यदि एनरिको फर्मी आइस्टीन और ओपनहाइमर जैसे वैज्ञानिक नाजी अत्याचारो से त्रस्त होकर अमरीका मे शरण नही लेते तो शायद परमाणु बम के

साथ-साथ परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग की बात आज तक सोची भी नहीं जा सकती थी। यदि फ्रॉयड जैसे लोग अमरीका न पहुँचते तो उनके अपेक्षाकृत अमूर्त दार्शनिक रुझान वाले वैज्ञानिक चिन्तन का इतना प्रसार न हो पाता। यह सच है द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी और जापान का ध्वंस हुआ, परन्तु इससे इन देशों के वैज्ञानिक उत्तराधिकार का अन्त नहीं हुआ। विजेता राष्ट्रों को इसका लाभ हुआ। कई विद्वानों का मानना है कि जर्मनी और जापान के आविष्कारों के आधार पर ही सोवियत संघ और अमरीका ने शेष राष्ट्रों से बाजी मारी है। इस अतिशयोक्तिपूर्ण सरलीकरण से पूरी तरह सहमत हुए बिना यह कहा जा सकता है कि बिना वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति के इन राष्ट्रों का युद्धोत्तर पुनर्निर्माण सम्भव न होता।

6. सांस्कृतिक प्रभाव (Cultural Impact)—द्वितीय विश्व युद्ध का विश्लेषण करते समय अधिकांश विद्वान अपनी दृष्टि को राजनीतिक घटनाक्रम तक ही केन्द्रित रखते हैं। हमारी समझ से यह गलत है, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध ने जिस सांस्कृतिक ज्वार को उभारा उसके दूरगामी सामाजिक व राजनीतिक परिणाम अवश्यंभावी थे। वस्तुतः ऐसा हर बड़े निर्णायक युद्ध के साथ होता है। जिस तरह भारतीय इतिहास के मिथकीय महासमर महाभारत ने एक अन्धे युग का सूत्रपात किया था, उसी तरह द्वितीय विश्व महायुद्ध के बाद के वर्ष निराशा-हताशा एवं विश्वव्यापी कुंठा का युग था। सोरेन किर्केगार्द जैसे अपेक्षाकृत गौण, व दुरूह दार्शनिक का अस्तित्ववादी चिन्तन यूरोप तथा अमरीका में लोकप्रिय बना। ब्रह्माण्ड में मनुष्य के अस्तित्व की नगण्यता और अर्थहीनता की अनुभूति ने धार्मिक व नैतिक मूल्यों का तेजी से ह्रास किया और सामाजिक उच्छृंखलता को पनपाया। उसने जहाँ एक ओर पश्चिमी पूंजीवादी समाज में टेडी बोएज, बीट निकों और आगे चलकर हिप्पियों को प्रतिष्ठा दिलायी, तो दूसरी ओर साहित्य और कला के क्षेत्र में अमूर्तनों (abstractions), स्वतः सुझाव तथा निरंकुश उद्गारों की अभिव्यक्ति वाली कलाकृतियों के सृजन को प्रोत्साहन दिया। पॉप आर्ट, रॉक म्यूजिक आदि इसी के उदाहरण हैं।

दूसरी ओर इन प्रवृत्तियों के प्रतिक्रियास्वरूप समाजवादी देशों में सबल देने के लिए सर्वोच्च नेता की व्यक्ति पूजा आम बात हुई। सोवियत संघ में स्टालिन, चीन में माओ और यूगोस्लाविया में टीटो का करिश्माती व्यक्तित्व इसी बुनियाद पर वर्षों तक टिका रहा। समाजवादी खेमे के बाहर भी प्रतिबद्ध या उदासीन, परन्तु गुस्से और आक्रोश में भरे युवा लेखकों, कवियों एवं कलाकारों ने हिंसा, ध्वंस और सरकार की शक्ति में प्रसार के विरुद्ध आवाज उठायी। पिकासो की प्रसिद्ध कलाकृति, गोयरनिका और लोरका की कविताएँ स्पानी गृह युद्ध से प्रेरित थी। कामू का उपन्यास 'प्लेग', हेरल्ड पिंटर और जॉन ओसबोर्न के नाटक भी इसी परम्परा में आते हैं। युद्ध की विभीषिका, महानगरीय संत्रास, अलगाव आदि अनुभूतियाँ, जो आधुनिक साहित्यिक व कला जगत का अभिन्न अंग बन चुकी हैं द्वितीय विश्व युद्ध की ही देन है।

इतना ही नहीं, द्वितीय विश्व युद्ध के घटनाक्रम ने यूरोपीय औपनिवेशिक वर्चस्व को समाप्त कर अफ्रो-एशियाई देशों के पुनर्जागरण को सम्भव बनाया और उपनिवेशवाद की स्थापना के पहले के जातीय व सांस्कृतिक उत्तराधिकार का पुनरोद्धार सहज बनाया। इस सांस्कृतिक उथल-पुथल ने शीत युद्ध के दौर में महत्व-

पूर्ण आयाम ग्रहण किया, क्योंकि बिना शस्त्रों से लडी जाने जाने वाली यह लडाई लोगो का दिल और दिमाग जीतने के लिए थी। आज तक गुट निरपेक्ष राष्ट्रो के जमघट मे सांस्कृतिक साम्राज्यवाद बनाम सांस्कृतिक स्वाधीनता की बहस महत्वपूर्ण बनी हुई है। फ्रास फेनोन जैसे क्रान्तिकारियो ने नव उपनिवेशवाद के विरुद्ध जन संघर्ष म सांस्कृतिक मोर्चे को सबसे महत्वपूर्ण समझा है। नाजियो के आविर्भाव और जापान मे सैन्यीकरण के प्रसार ने इस सकट को उजागर किया कि कैसे लोक संस्कार—एक खास तरह की मानसिकता, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को निर्णायक ढग से प्रभावित कर सकती है।

7 संयुक्त राष्ट्र संघ का उदय (Rise of the U N O)—द्वितीय विश्व युद्ध ने विभिन्न देशो को उनकी अन्तर-निभरता का अहसास कराया। इसके परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्रो के प्रयत्नो से संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की घोषणा की गयी, जो एक तरह से विश्व सरकार का बीजारोपण था। भले ही आगे चलकर स० रा० संघ से जुडी अनेक आदर्शवादी आशाएँ धूमिल हुईं, परन्तु इस बात से इन्कार नही किया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सकट निवारण, उपनिवेशवाद उन्मूलन और आर्थिक व सामाजिक सहयोग बढाने मे इस संस्था ने तब से आज तक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। निशस्त्रीकरण हो, या सांस्कृतिक आदान प्रदान, युद्ध विराम हो या तख्तापलट, महामारी नियन्त्रण हो या नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश या फिर किसी नवोदित राष्ट्र या सरकार को मान्यता देने का प्रश्न, आज स० रा० संघ का राजनय सभी छोटी-बडी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से अनिवार्यत जुडा रहता है। इस स्थिति के लिए भी द्वितीय विश्व युद्धकालीन घटनाक्रम निर्णायक रहा है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध ने न केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप बदला, बल्कि विश्व के तमाम देशो की सामाजिक व आर्थिक सरचनाओ का भी क्रान्तिकारी ढग से आमूल चूल बदल डाला। यह स्वाभाविक था कि इन परिवर्तनो के सांस्कृतिक परिणाम सामने आते और ये सांस्कृतिक आयाम आज तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करते रहे हैं। मूल रूप मे वैज्ञानिक व तकनीकी आविष्कार ज्यादा आसानी से दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु वास्तव मे सूक्ष्म-अमूर्त रूपान्तरण इनसे कम महत्वपूर्ण नही समझे जा सकते। परमाणु अस्त्रो का उत्पादन व प्रयोग और द्विध्रुवीय विश्व का आविर्भाव द्वितीय विश्व युद्ध के उतने ही महत्वपूर्ण नतीजे हैं, जितना संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन, उपनिवेशवाद का अन्त, जन-मुक्ति संग्रामो का प्रसार या इन वैज्ञानिक व राजनीतिक परिवर्तनो का साहित्य, दर्शन व कला पर प्रभाव। निष्कर्षत कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध ने एक ऐसी दुनिया को जन्म दिया, जो 1939 से पहले के जगत से बिल्कुल भिन्न है।

दूसरा अध्याय

अफ्रो-एशियाई एवं लातीनी अमरीकी देशों का उदय

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अफ्रीका और एशिया का महत्व साबित करने के लिए किसी भी तरह की अतिशयोक्ति या अतिरंजना का सहारा लेने की आवश्यकता नही। ससार की लगभग दो-तिहाई जनसंख्या अफ्रो-एशियाई देशो मे रहती है और दुनिया की चार प्राचीनतम सभ्यताओ मे तीन का जन्म एशिया मे हुआ है। सामरिक महत्व की दृष्टि से अफ्रीका तथा एशिया का अपना अलग महत्व है। ऐतिहासिक काल मे भारत को सोने की चिड़िया के नाम से जाना जाता था और चीन तथा जापान की ओर भी पश्चिमी शक्तियाँ लोलुप दृष्टि से देखती रहती थी। चीन, भारत, इडोनेशिया और अफ्रीकी महाद्वीप के उत्तरी छोर के मिस्र मे हजारो वर्ष पुराने साम्राज्यो की परम्परा आज भी जीवित है।

उपनिवेशवाद (Colonialism) का घातक प्रभाव लगभग सभी अफ्रो-एशियाई देशों मे देखने को मिलता है। साम्राज्यवादियो ने सर्वत्र 'फूट डालो और राज करो' की नीति का अनुसरण किया तथा निर्मम ढग से अफ्रो-एशियाई जनता का आर्थिक शोषण एवं सामाजिक उत्पीड़न किया। उपनिवेशवादियो ने सामन्ती विषमता को और भी गहरा किया। उन्होने साम्प्रदायिक व कबायली पक्षपात की नीति अपनाकर अफ्रो-एशियाई समाज का विभाजन किया।

विघटनकारी घटनाक्रम के कारण सदियो तक अफ्रीका और एशिया के देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समुचित भूमिका नही निभा सके। उपनिवेशवाद के उन्मूलन के बाद एक बार फिर उनका महत्व उजागर हुआ है। शीत युद्ध के पहले चरण मे द्विध्रुवीय विश्व मे हर महाशक्ति के लिए अपने शिविरानुचर बढाने की उपयोगिता थी और गुट निरपेक्षता के प्रसार ने इन देशो की सामूहिक शक्ति के कारण इनकी एकता को कई गुना बढा दिया था। आज भी इनके बीच सैद्धान्तिक और अन्य मतभेदो के बावजूद इनको अनदेखा करना सम्भव नही।

उपनिवेशवाद की समाप्ति और अफ्रो-एशियाई देशो के उदय के समुचित विश्लेषण के लिए ऐतिहासिक पुनरीक्षण आवश्यक है। एशिया मे यह प्रक्रिया सबसे पहले जापान और उसके बाद चीन मे शुरू हुई। यो एक तरह से चीन और जापान पश्चिमी शक्तियो द्वारा कभी पूर्णत: गुलाम तो नही बनाये गये, परन्तु शोषण-उत्पीड़न का पूरा अपमानजनक बोझ उन्हे सहन करना पडा। सामुराई व सामन्ती परम्परा के वारिस जापानियो को यह बात कतई सहनीय नही थी कि किसी और का आधिपत्य प्रच्छन्न रूप मे भी उन्हे स्वीकार करना पडे। अमरीकी नौसैनिक अधिकारी कोमोडोर पेरी द्वारा जापान का प्रवेश द्वार खोल दिये जाने के बाद से इन जापानी नेताओ का यही प्रयत्न रहा कि अतिक्रमणकारी विदेशी आततायी के तौर तरीके अपनाकर ही सही, उनका मुकाबला किया जाये और अपने देश को आगे बढाया

जाय। पश्चिमीकरण के साथ-साथ सामाजिक सुधार एवं प्रगतिशील आधुनिकीकरण की जो प्रक्रिया जापान ने आरम्भ की वह 'मेजी पुनर्स्थापना' के नाम से विख्यात है।

इस रणनीति की सफलता 1905 में प्रमाणित हुई जब जापान ने रूस को पराजित किया। यह किसी भी एशियाई देश द्वारा किसी यूरोपीय देश को पराजित करने की पहली घटना थी। इसने निश्चय ही पराधीन एशियाई जनता के मनोबल को अप्रत्याशित ढंग से बढ़ाया। जापानी प्रगति सिर्फ सैनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही। द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट तक अपने सस्ते औद्योगिक उत्पादन के लिए भी जापान विश्वविख्यात हो चुका था। वाशिंग्टन निशस्त्रीकरण सम्मेलन (1922) में जापान को यूरोपीय शक्तियों के समकक्ष मान लिया गया और उसके बाद के वर्षों में जापान के सैन्यीकरण की निरन्तर वृद्धि हुई। यहाँ यह जोड़ने की जरूरत है कि जहाँ इस सैन्यीकरण ने जापानियों में नस्लवादी अहंकार और निजी साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया वहीं यूरोपीय ताकतों के मुकाबले एशियाई आत्म-सम्मान की पुनर्स्थापना में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान दक्षिण पूर्व एशिया से फ्रांसीसी, बर्तानवी तथा डच औपनिवेशिकों को मार भगाने का काम जापानियों ने सम्पन्न किया और अनेक जगह राष्ट्रवादियों का कार्य सहज बनाया। जापानियों के तत्वावधान में आयोजित सह-समृद्धि का क्षेत्र (Co-prosperity sphere) तथा आज़ाद हिन्द फौज का गठन इसी के उदाहरण हैं। हिरोशिमा तथा नागासाकी में परमाणु बम गिराये जाने के बाद जापान को आत्म-समर्पण करना पड़ा और एक पराजित राष्ट्र के रूप में अपमान का घूँट पीना पड़ा। परन्तु इसके बाद लगभग एक दशक में ही जिस चमत्कारी ढंग से जापान ने अपना आर्थिक पुनर्निर्माण कर दिखाया, उसने अनूठे ढंग से एशियाई मौलिकता, क्षमता और समता को उजागर किया है।

जापान की तरह चीन भी गुलामी की बेड़ियों से तो मुक्त रहा परन्तु इस स्वतन्त्रता का कोई लाभ उसे नहीं मिला। जून, 1839 में अफीम युद्ध (Opium War) के बाद से चीनी सम्राटों ने पश्चिमी ताकतों के सामने अपनी असमर्थता दर्शाकर अपने देशवासियों को घुटने टेकने के लिए विवश किया था। यूरोपीय ताकतों ने चीन का विभाजन तरबूज की फाँकों की तरह आपस में कर लिया और मिल बाँटकर चीनी सम्पदा का उपभोग करने लगे। बॉक्सर विद्रोह तक शंघाई जैसे महानगरों में चीनी स्वदेश में पशुवत नारकीय जीवन व्यतीत करने को विवश थे। पश्चिमी शिक्षा प्राप्त सन यात सेन जैसे चीनी नेताओं ने इसके विरुद्ध अपने देशवासियों को संगठित किया और 1911 में एक सफल क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। साम्यवादी क्रान्ति की सफलता (1949) के बाद भले ही, चीनी राजनीति के सन्दर्भ में इस घटना का महत्व कम माना जाता रहा हो मगर इसमें दो राय नहीं कि एशियाई राष्ट्रवाद का पुष्ट करने में कुमिन्तांग पार्टी वाले चीनी राष्ट्रवादियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। सन यात सेन और च्यांग काई शेक के घनिष्ठ सम्बन्ध पं० नेहरू और टैगोर जैसे प्रभावशाली राष्ट्रवादियों से रहे और एशियाई मानस के बारे में भावना तथा भविष्य की साझेदारी की बात करना सम्भव हुआ। 1949 के बाद के वर्षों में भले ही साम्राज्य युग के साम्यवादी चीन के बारे में और उसके द्वारा क्रान्ति के निर्यात के विषय में अनेक अमेरिकी-एशियाई दल आशंकित रहे परन्तु यह स्थिति सिद्धान्त के आधार पर चीन की उपलब्धियों का अनदेखा किया जाना असम्भव

है। जिस तरह माओ ने यूरोपीय चिन्तकों तथा मार्क्स और लेनिन की स्थापनाओं को अफ्रो-एशियाई परिवेश के लिए परिष्कृत व रूपान्तरित किया, उसका उल्लेख भी आवश्यक है। माओत्से तुंग की छापामार रणनीति पर आधारित जनमुक्ति संग्राम की परिकल्पना ने अनेक अफ्रीकियों और एशियावासियों को यह निष्कर्ष निकालने का मौका दिया कि सैनिक शक्ति का अभाव दुर्बलता नहीं। वियतनामी जनमुक्ति संग्राम इसका अच्छा उदाहरण है। चीनी नेताओं की स्थापनाओं से सहमत हुए बिना यह कहा जा सकता है कि अफ्रो-एशियाई नवजागरण में प्रेरणा-स्रोत के रूप में चीनी जापानियों से कम महत्वपूर्ण नहीं रहे। इसी तरह की भूमिका भारत की भी रही है।

भारत की भूमिका

पश्चिमी उपनिवेशवाद के प्रतिक्रियास्वरूप भारत का राष्ट्रीय नवजागरण 19वीं सदी के मध्य तक काफी गतिशील हो चुका था। भारत, चीन और जापान से कई बातों में भिन्न था। भारत की सांस्कृतिक परम्परा सहिष्णु और समन्वयवादी रही है, हर विदेशी को शत्रु समझने वाली नहीं और न ही हर परदेशी वस्तु का दुराग्रहपूर्ण तिरस्कार करने वाली। राजा राम मोहन राय सरीखे लोगों ने किसी दबाव में नहीं, बल्कि स्वेच्छा से पश्चिमी शिक्षा ग्रहण की और अपने समाज में व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन के लिए जुट गये। 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के बाद औपनिवेशिक शासन के शोषण-स्वरूप के प्रति भारतीय अधिक सतर्क हुए और प्रजा का हित रक्षण करने वाले प्रशासन की क्रमशः बढ़ती मांग ने धीरे-धीरे राजनीतिक सभाओं, परिषदों और दलों के गठन को जन्म दिया। एशियाई जागरण का सिंहावलोकन करते वक्त भारत ही एक ऐसी अनूठी मिसाल है, जहाँ यह प्रक्रिया बलात् क्रान्तिकारी ढंग से सम्पन्न या ऊपर से थोपी नहीं गयी। दूबी जड़ों (grass-roots) से उभरने वाले तत्वों ने इसे रूप दिया।

भारत का सांस्कृतिक नव जागरण सिर्फ पश्चिमीकरण पर आधारित नहीं था, बल्कि वह देश के गौरवपूर्ण अतीत को फिर से पहचानने के प्रयत्न के साथ जुड़ा था। जापान ने प्रगति के लिए अपने को पूरी तरह पश्चिमी ढाँचे में ढालना जरूरी समझा तो चीन में सदियों पुरानी जड़ता, पुरानी व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंके बिना नहीं समाप्त की जा सकी। भारत में राष्ट्रवाद की लहर ने राजनीति के साथ-साथ आर्थिक एवं सामाजिक क्रिया-कलाप को अछूता नहीं छोड़ा। सभी परिवर्तनों की प्रकृति विकासवादी-सुधारवादी रही। इस बात को जोर देकर स्पष्ट करना इसलिए जरूरी है कि द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर अफ्रीका और एशिया के अनेक देशों ने चीन, जापान तथा भारत को अपने अभ्युदय और उत्थान के लिए भिन्न-भिन्न विकल्पों के रूप में देखा।

भारत के राष्ट्रीय जागरण के दो और उल्लेखनीय पक्ष हैं—उपनिवेशवाद के खिलाफ अहिंसक लड़ाई तथा संसदीय प्रणाली वाले परामर्श द्वारा सत्ता का हस्तान्तरण। ये दोनों बातें समाज और राजनीति के क्षेत्र में विकासवादी दृष्टिकोण के बिना सम्भव नहीं हो सकती थीं। यदि जापान में सम्राट के प्रतीक ने आधुनिकीकरण को वैधानिकता का जामा पहनाकर व्यापक जन-सहमति दिलायी और चीन में बारी-बारी से सन यात सेन और माओत्से तुंग ने विराट जन समूह को गतिशील

बनाया तो भारत मे राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक महत्व क अनेक नेताओ ने यह काम सहयोगी ढग स पूरा किया। शीर्षस्थ स्तर पर गाधी जी और नेहरू जी की जोडी इस बात का बहुत अच्छा प्रमाण है। एशियाई नव-जागरण मे जापान, चीन और भारत तीनो ही जगह परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्व या अन्तर्विरोध नही, बल्कि समन्वय देखने को मिलता है। इस उपलब्धि न अफ्रीका और एशिया के अन्य देशो के लिए भी इस स्थिति को आदश लक्ष्य बनाया है। यह काम हमेशा सहज नही रहा। इस बात से आज तक कठिनाई होती है कि अनेक नये अफ्रो एशियाई राष्ट्र इन देशो जैसी अनवरत समृद्ध परम्परा क उत्तराधिकारी नहीं हैं।

अफ्रो-एशियाई देशो के उदय के कारण
(Rise of Afro-Asian Countries)

चीन जापान और भारत तीनो के अनुभव से यह बात साफ झलकती है कि इन रूढिग्रस्त समाजो के नव जागरण के कुछ बुनियादी कारण थे। इन तीनो जगह कुछेक वस्तुनिष्ठ कारको के प्रभाव समान रहे हैं। अन्य अफ्रो-एशियाई देशो के अभ्युदय म भी ये प्रभाव साफ देख जा सकते है। अफ्रो-एशियाई देशो के उदय के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं

1 पश्चिमी शिक्षा का प्रसार (Spread of Western Education)—इस बार म दो राय नही कि उपनिवेशवाद की समाप्ति और अफ्रो-एशियाई देशो के उदय मे सबसे प्रमुख योगदान पश्चिमी शिक्षा के प्रसार का रहा है। भले ही कही यह शिक्षा किसी श्रेष्ठि वग (Elite) ने विशेषाधिकार या सुविधा क रूप म प्राप्त की और कही औपनिवेशिक प्रशासको ने इसे अपनी स्वार्थ सिद्धि क लिए थोपा। परिणाम देर सवर एक जैसा दखने को मिला। पश्चिमी यूरोपीय इतिहास एव राजनीति से परिचित होने क बाद इन लोगो का प्रबुद्ध होना स्वाभाविक था। यूरोपीय पुनर्जागरण, औद्योगिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक प्रगति, फ्रासीसी क्रांति के बाद शोषण के अन्त आदि क व्यापक रूप से प्रेरणादायक प्रभाव पडे। चीन, जापान और भारत के अलावा इण्डोनेशिया हिन्द चीन तथा अफ्रीका म सभी जगह वे ही राजनेता सफल हुए चाहे उन्होंने हिंसा का माग अपनाया हो या अहिंसा का, जो अपने उत्पीडको से उनकी भाषा मुहावरो म बात करन म समर्थ थे।

2 आधुनिक टैक्नोलोजी एव नई सचार यातायात व्यवस्था (Modern Technology & New Communication and Transportation System)—पश्चिमी शिक्षा की ही तरह उपनिवेशवादी अपनी हित साधक योजनाओ की पूर्ति क लिए आधुनिकतम टैक्नोलोजी अपनान का विवश थ। डाक, तार, रल गाडियाँ आदि शासित जनता को अप्रत्याशित रूप म जोडन वाल सिद्ध हुए। एक ओर इन्होंने जनता का गतिशील बनाया तो दूसरी ओर वग व वणगत भेदभाव का निर्जीव बना दिया। तार क बिना प्रम और प्रेस क बिना आन्दोलन की बात सोचना कठिन है। बिना रलगाडियो क राष्ट्रवादियो क आन्दोलन, महासभाएँ आदि आयोजित नही किय जा सकत थ। बिना बडी-बडी फैक्ट्रियो और कल कारखानो क नगरीकरण एक सपना ही बना रहता। इस सबक बिना अफ्रीका एक अन्धकारपूर्ण महाद्वीप ही बना रहता और एशिया एक अनबूझ पहेली। वैज्ञानिक-तकनीकी साधनो व उपकरणो क अभाव म अफ्रो एशियाई देश एक-दूसर म अपरिचित ही बन रहत।

3. प्रथम विश्व युद्ध का प्रभाव (Impact of First World War)—पहला विश्व युद्ध यूरोप की प्रमुख औपनिवेशिक शक्तियों के संकीर्ण स्वार्थों के टकराव से उपजा था। परन्तु इसमें मरने-खपने वाले सैनिकों की बहुत बड़ी संख्या अफ्रीका और एशिया से जुटायी गयी थी। ये 'सैनिक' बुनियादी तौर पर अशिक्षित किसान और मजदूर थे और उन्हें पहली बार गाँव-देहात की जमीन से अलग दुनिया देखने का मौका मिला। अपनी हालत (दुर्दशा) की तुलना दूसरों की खुशहाली से कर वे कार्य-कारण सम्बन्ध सोचने के लिए विवश हुए। स्वदेश में औपनिवेशिक महाप्रभु और देशी जनता के बीच बिचौलियों (जमींदारों) आदि के कारण औपनिवेशिक शासन का भयावह उत्पीड़क चेहरा छिपाये रखना सम्भव था।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान साम्राज्यवादी ताकत और उपनिवेश के बीच सम्पर्क हमेशा नहीं बनाये रखे जा सके और कच्चे माल, उत्पादन केन्द्र तथा मण्डी के बीच जो ताना-बाना बुना गया था, वह कमजोर पड़ गया। भारत जैसे देशों में स्थानीय आर्थिक उद्यमियों ने स्वदेशी उत्पादन आरम्भ किया और प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तक यह बिरादरी महत्वपूर्ण न्यस्त स्वार्थ बन चुकी थी। इसका राष्ट्रवादी होना समझ में आने वाली बात है।

युद्ध की सामरिक जरूरतों ने औपनिवेशिक शक्तियों को इस बात के लिए विवश किया कि वे उपलब्ध समाधनों और प्रशासनिक प्रतिभा को उपनिवेशों से हटाकर मातृभूमि या पितृभूमि के लिए लगायें। युद्ध के बाद बहुत लम्बे समय तक आर्थिक पुनर्निर्माण तथा शान्ति और सुव्यवस्था की पुनर्स्थापना फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी आदि को व्यस्त रखे रही।

जैसा कि प्रथम विश्व युद्ध के अनेक इतिहासकारों ने लिखा है—यह युद्ध मुख्यतः यूरोप में लड़ा गया और इसके दौरान औपनिवेशिक प्रतिद्वन्द्विता उपेक्षित ही रही। परिणामस्वरूप उपनिवेशों में वह चीन, हिन्द चीन हो या भारत, राष्ट्रवादी आन्दोलन व उपनिवेशवाद का विरोध, सभी अपेक्षाकृत महत्वहीन हो गये। कई जगह राष्ट्रवादी आन्दोलन का नेतृत्व इस अन्तराल में बदल गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में गांधी जी का आविर्भाव इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

4. सोवियत क्रान्ति का प्रभाव (Impact of Soviet Communist Revolution)—भले ही कुछ विद्वानों का मानना है कि रूसी बोल्शेविक क्रान्ति को प्रथम विश्व युद्ध ने निर्णायक ढंग से प्रभावित किया, लेकिन यह बात निर्विवाद है कि उपनिवेशवाद की समाप्ति और अफ्रो-एशियाई देशों के अभ्युदय में सोवियत क्रान्ति ने अलग से महत्वपूर्ण योगदान दिया।

रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन, त्रोतस्की आदि सर्वहारा वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीय एकता में आस्था रखते थे और साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की सबसे ऊँची सीढ़ी मानते थे। उन्होंने पूँजीवाद के उन्मूलन के लिए वर्ग संघर्ष का रास्ता सुझाया था। इसी कारण सैद्धान्तिक रूप से उपनिवेशवाद से उनका जन्मजात बैर था। सत्ता ग्रहण करने के साथ ही कोमिनतर्न की स्थापना की गयी, जिसका एक प्रमुख उद्देश्य अफ्रीका तथा एशिया में क्रान्ति का निर्यात था। इसी के तत्वावधान में वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय जैसे लोगों ने साम्राज्यवाद-विरोधी लीग का गठन किया। 1927 में ब्रुसेल्स में शोषित-उत्पीड़ित जनता-राष्ट्रों का सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। इस मशहूर सम्मेलन में नेहरू जी ने भाग लिया और

तानमलाका तथा हट्टा आदि अन्य एशियाई राष्ट्रवादियों के साथ घनिष्ठ व उपयोगी सम्पर्क स्थापित किये।

कोमिनतर्न के सचिवालय के साथ मानवेन्द्र नाथ राय तथा वोरोदिन जैसे प्रतिभाशाली लोग सम्बद्ध थे, जिन्होंने मैक्सिको, चीन और हिन्द चीन में राष्ट्रवादी और उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलन को निर्णायक ढंग से प्रभावित किया।

5 सामाजिक व धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन (Social and Religious Reformist Movements)—अफ्रीका तथा एशिया में राष्ट्रीय नवजागरण के साथ सामाजिक व धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन अभिन्न रूप में जुड़े रहे। धार्मिक चैतन्य का आह्वान इसलिए जरूरी था कि औपनिवेशिक शासक इसे घातक षड्यन्त्र न समझें और पारम्परिक मूल्यों व अवधारणाओं की दुहाई देकर जनता के बड़े से बड़े हिस्से को गतिशील बनाया जा सके। इसके अतिरिक्त सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन, शिक्षा के प्रसार आदि के आधार पर राष्ट्रवादी एकता को अनायास विभिन्न दौरों में जैसे बोक्सर बगावत, शिक्षा के क्षेत्र में सुधार सम्बन्धी मई आन्दोलन तथा कुमिंगतांग पार्टी के गठन से ये भिन्न चरण तय किये गये। इसी तरह जापान में सामुराई व सामन्ती संस्कार की पुनर्प्रतिष्ठा तथा वाम्पोआ सैनिक अकादमी की स्थापना उल्लेखनीय है। भारत में राजा राममोहन राय ने जिस काम का बीड़ा उठाया था, उसे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, रानाडे और रवीन्द्र ठाकुर जैसे लोगों ने आगे बढ़ाया। इण्डोनेशिया भी इसका अपवाद नहीं रहा। चोक्रोमिनातो के तमाम सिमुआ विद्यालय एक तरह से गुरुकुल और विश्व भारती के बीच की चीज थे। इन्होंने जनजागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ-जहाँ चीन और भारत जैसे सामाजिक परिवेश में माओ या गाँधी जैसे प्रतिभाशाली भूमि-पुत्रों की प्रेरणा से देसी संस्कार बचा रहा, वहाँ व्यापक जन-आन्दोलन सफल हुए और उपनिवेशवाद-विरोधी स्वर-संस्कार स्वाधीनता प्राप्ति के कई दशक बाद भी शेष रह सका है। स्त्रियों की दशा में सुधार, हरिजन और अन्य दलित वर्गों का उत्थान इसके अच्छे उदाहरण हैं।

6 शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिक्रिया (Reaction Against Exploitation and Repression)—पश्चिमी शिक्षा के प्रसार, राजनीतिक चेतना के आविर्भाव तथा आधुनिक टैक्नोलोजी के प्रसार के समानान्तर चल रहे सुधारवादी आन्दोलनों ने इस बात के लिए जमीन तैयार कर ली कि उपनिवेशों में शासित-उत्पीड़ित जनता शोषण व अत्याचार के विरुद्ध मुखर हो सके। चीन में माओ के नेतृत्व में शंघाई के औद्योगिक श्रमिकों तथा मैदान के किसानों को पहली बार यह अहसास होने लगा कि वे ही राजनीति के केन्द्रीय विषय हैं। भारत में गाँधी जी ने किसी भी राजनीतिक अभियान की सफलता की सिर्फ एक कसौटी मानी थी—'दरिद्र नारायण' की खुशहाली और सुखी। बाद के वर्षों में इण्डोनेशिया में सुकार्णो ने इसी तरह औसत इण्डोनेशियाई किसान का रेखाचित्र निरूपित करते हुए 'मरहेन' का उल्लेख किया था। इन सभी परिकल्पनाओं से दो बातें साफ पता चलती हैं। उपनिवेशों में सामाजिक व आर्थिक दुर्दशा के लिए साम्राज्यवाद को ही उत्तरदायी ठहराया गया (वैसे भारत में यह प्रक्रिया दादाभाई नौरोजी जैसे विश्लेषकों ने बहुत पहले आरम्भ कर दी थी)—भारत की सम्पदा के दोहन के सिद्धान्त (अर्थात् Drain Theory) के प्रतिपादन द्वारा। इसके साथ जुड़ी बात यह थी कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद

देशी सरकार विषमता का अन्त करने के लिए कटिबद्ध रहेगी और नव-उपनिवेशवाद का भी विरोध करेगी। इन दोनों बातों ने अफ्रीकी व एशियाई जगत के राष्ट्रवादी क्षेत्रे को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के निकट ला दिया। 1919 के बाद सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का गढ़ माना जाने लगा और कोमिनतर्न के माध्यम से प्रतीकात्मक ढंग से ही सही, अफ्रीकी और एशियाई स्वतन्त्रता सेनानियों को प्रशिक्षित करने और सोवियत सहायता देने का काम शुरू किया गया। इस सैद्धान्तिक प्रेरणा के आधार पर कई जगह उपनिवेशवाद विरोधी संयुक्त मोर्चों का गठन किया गया और श्रमिकों, किसानों आदि को एक दूसरे की समस्याएँ-सामर्थ्य समझने का अवसर मिला। यही कारण है कि अक्सर वामपंथी रुझान वाले आजादी की लड़ाई के नारे व मुहावरे अफ्रीका और एशिया में क्रमशः और उग्रतर होते रहे।

परन्तु यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि शोषण-उत्पीडन के खिलाफ यह प्रतिक्रिया सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम पर निर्भर रही। चम्पारण में नील खेतीहरों के पाशविक शोषण के प्रत्यक्षदर्शी बनने के बाद ही गांधी जी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े। माओ के मन में औपनिवेशिक शक्तियों से लोहा लेने की प्रेरणा तभी बलवती हुई जब उसने दुर्भिक्ष में लाखों चीनियों को मरते देखा और सर पर मल पदार्थ ढोने के लिए विवश पशुवत जीने वाले अपने बन्धुओं की स्थिति में सुधार का संकल्प किया। वास्तविकता यह है कि औपनिवेशिक शासन और साम्राज्यवादी व्यवस्था के परिणाम शोषक और उत्पीडक ही हो सकते थे तथा संवैधानिक सुधार व प्रशासकीय परिष्काररूपी सौन्दर्य प्रसाधन कुरूपता और रोग की वेदना को छुपा नहीं सकते थे। जब तक राजनीतिक चेतना का प्रसार नहीं हुआ था और जन साधारण की शक्ति को सम्पुंजित नहीं किया जा सकता था, तब तक अत्याचारों के प्रतिरोध की बात सोची नहीं जा सकती थी और जनाक्रोश का छिटपुट विस्फोट किसी निश्चित आन्दोलन की शक्ल नहीं ले सकता था। यह बात चीन, भारत, इण्डोनेशिया, हिन्द-चीन, मिस्र तथा अफ्रीका के अनेक देशों में समान रूप से देखी जा सकती है। राजनीतिक चेतना के एक निश्चित बिन्दु तक पहुँच जाने के बाद अत्याचारों के प्रतिरोध के लिए लोग अपने प्राणों की आहुति तक देने के लिए प्रस्तुत होने लगे। समझने में सुविधा की दृष्टि से यहाँ इन सारे कारणों को अलग-अलग गिनाया गया है। यथार्थ में ये सब एक-दूसरे से जुड़े हुए और एक-दूसरे को परस्पर पुष्ट करने वाले रहे हैं। अनेक बार पहले और बाद का अन्तर करना कठिन बन जाता है। मिसाल के तौर पर यातायात, संचार और प्रकाशन के तकनीकी साधनों के विकास ने आधुनिक पश्चिमी शिक्षा प्रणाली का प्रसार तथा शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ नई तकनीक की माँग बढ़ी। इस प्रकार इस नई तकनीक को अपनाना सम्भव हुआ। यही बात सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोलनों और शोषण उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध पर भी लागू होती है।

7. पारम्परिक उपनिवेशवादी ताकतों का क्षय (Decline of Traditional Colonial Powers)—काल-क्रम में इन विविध कारणों के सन्निपात ने लगभग सभी औपनिवेशिक ताकतों को प्रतिपक्ष के साथ परामर्श के लिए विवश किया। भारतीय परिवेश में जन साधारण की दृष्टि में एक नंगे फकीर महात्मा गांधी का ब्रिटेन के शहंशाह के साथ बैठकर बतियाना ही उसकी शक्ति-करिश्मे का प्रमाण था।

इसके बाद प्रादेशिक या जिला प्रशासन मे औपनिवेशिक हुक्कामो के लिए अपने आतककारी प्रभामण्डल को बचाये रखना कठिन हो गया। हिन्द चीन और इण्डोनेशिया मे जहाँ औपनिवेशिक दमन अधिक क्रूर और बर्बर था, वहाँ सैनिक व पुलिस उपकरणो द्वारा नियन्त्रण बनाये रखना बेहद खर्चीला होता गया और औपनिवेशिक सम्पदा का दोहन लाभप्रद पूँजी निवेश मे नही बदला जा सका। परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी शक्तियाँ धीरे-धीरे खोखली और प्रभावहीन होती गयी।

किन्तु पारम्परिक औपनिवेशिक शक्तियो के क्षय का सबसे बडा कारण द्वितीय विश्व युद्ध म उनका थक जाना रहा। हॉलैंड, फ्रास तथा इटली को कभी न कभी पराजय का मुंह देखना पडा। ब्रिटेन जैसी ताकत विजयी होने के बाद भी इस स्थिति मे नहीं रही कि अपने प्रभुत्व को बचाये रख सके। पूर्वी एशिया मे द्वितीय विश्व युद्ध क दौरान जापान क उदय ने यूरोपीय साम्राज्यवाद का सफाया कर दिया। भारत मे 1942 की उथल-पुथल, आजाद हिन्द फौज के गठन और नौसैनिक क्रान्ति ने उपनिवेशवाद के उन्मूलन मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के कारण ही यह घटनाक्रम सामरिक महत्व का बन सका। चीन म जापान के हस्तक्षेप का सामना करने के लिए साम्यवादियो और कुमिताग के बीच साझेदारी हो सकी और अमरीकी पूंजीवादियो तक ने उन्हे सहायता दी। हिन्द चीन मे जनरल जियाफ के नेतृत्व मे वियत-मिन्ह की छापामारी और इण्डोनेशिया मे जनरल नसुनियोन के नतृत्व मे इसी रणनीति का अपनाया जाना विश्व युद्ध के कारण सम्भव हुआ। मलाया मे साम्यवादियो का उदय तथा बर्मा म जातीय बगावत, पश्चिम एशिया मे शस्त्रो के प्रसार से पैदा हुई राजनैतिक अस्थिरता के लिए भी द्वितीय विश्वयुद्ध उत्तरदायी रहा।

भल ही द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति की वेला पर अफ्रीका तथा दक्षिण पूर्व मे कई उपनिवेश बचे थे, परन्तु यह स्पष्ट हो गया कि इनकी स्वतन्त्रता अब अधिक दिनो तक रोकी नही जा सकती। फ्रास और हॉलैण्ड इस हालत मे नही थे कि घर से दूर अपनी सैनिक शक्ति का निक्षेप कर सकें। ब्रिटेन भी अफ्रीका मे बने रहने के लिए पहले जितना समर्थ नही था। 1945 के बाद भारत, चीन, इण्डोनेशिया और मिस्र जैसे अनेक बडे अफ्रो एशियाई देशो के राष्ट्र राज्य के रूप मे उदय ने उनके पडौसियो को उपनिवेशवाद के विरुद्ध सघर्ष करने के लिए निरन्तर प्रेरित किया।

अफ्रो-एशियाई नवजागरण के विभिन्न चरण
(Resurgence of Afro-Asian Countries)

अफ्रो एशियाई राष्ट्रो मे राष्ट्रवाद के उत्थान तथा इसी के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मच पर इनकी सक्रियता का अध्ययन आसानी से विभिन्न चरणो मे विभाजित किया जा सकता है। यह कालखण्ड विभाजन न सिर्फ आधारभूत कारणो बल्कि प्रवृत्तियो और परिणामो के सन्दर्भ मे भी तर्कसगत है। इसके प्रमुख चरण इस प्रकार हैं

प्रथम चरण 1905 से 1945 तक
स्वतन्त्रताभिलाषी अनौपचारिक राजनय

बीसवी सदी के आविर्भाव तक यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो चुकी थी कि

अफ्रीका और एशिया को अनिश्चित काल तक गुलाम नहीं बनाये रखा जा सकता। आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न की स्थिति लगभग असह्य बन चुकी थी। पश्चिमी शिक्षा तथा आधुनिक टैक्नोलोजी के प्रभाव से राजनीतिक चेतना तेजी से बढ़ी। सामाजिक व आर्थिक सुधारवादी आन्दोलनों ने राजनीतिक संगठन के लिए अभीष्ट अनुभव जुटा दिया था। प्रथम विश्व युद्ध और सोवियत संघ में बोल्शेविक क्रान्ति ने अपने-अपने ढंग से इस जागरण में हिस्सा बँटाया। आज लगभग 85 वर्ष बाद रूस पर जापान की विजय की याद धुंधली पड़ गई है। इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि यह घटना विश्व इतिहास में कितनी महत्वपूर्ण रही है। न केवल भारत में, बल्कि हिन्द चीन और इण्डोनेशिया में भी सवैधानिक सुधारवादी गुनगुनाहट आरम्भ हो चुकी थी।

इस दौर में राष्ट्रवादी आन्दोलनों का नेतृत्व पश्चिमी शिक्षा-सम्पन्न श्रेष्ठि वर्ग के हाथ में ही रहा, परन्तु उनके तौर तरीकों के प्रति असन्तोष भी मुखर होने लगा। प्रथम विश्व युद्ध में वफादारी के पुरस्कार स्वरूप भारत में सुधारों की घोषणा कर साम्राज्यवादियों ने अपनी उदारता का परिचय देना चाहा। इसके साथ ही अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन की आदर्शवादिता तथा राष्ट्र संघ की स्थापना ने उप-निवेशवाद के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जनमत तैयार करवाया। राष्ट्र संघ व्यवस्था में मेंडेट (Mandate) प्रणाली अन्तर्निहित थी, जिसके अनुसार कालक्रम में उपनिवेशवाद का शान्तिपूर्ण उन्मूलन करने का प्रयत्न किया गया। यह ध्यान दिलाने की जरूरत है कि सोवियत क्रान्ति और राष्ट्र संघ की स्थापना के पहले भी अनेक अफ्रो-एशियाई नेता अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए सक्रिय रहे। न केवल भारत से लाला हरदयाल, राजा महेन्द्र प्रताप, रास बिहारी बोस और मानवेन्द्र नाथ राय जैसे लोग मैक्सिको, कनाडा, जापान आदि तक पहुँचे बल्कि इसी दौर में हो ची मिन्ह, चाऊ एन लाई, मौहम्मद हट्टा और सुलतान शाहरिर सरीखे स्वतन्त्रता सेनानी फ्रांस और हॉलैण्ड में तमाम कठिनाइयों का सामना करते हुए अपनी आजादी की लड़ाई चालू रखने की कोशिश करते रहे। विदेश में ये अफ्रो-एशियाई नेता आपस में मिलते-जुलते रहे। बाकू व ब्रुसैल्स के सम्मेलनों में या स्पेनिश गृह युद्ध, चीनी घटनाक्रम, सोवियत प्रयोग को लेकर इनका मतैक्य बार-बार झलकता रहा। इस भाईचारे के आधार पर आगे चलकर अफ्रो-एशियाई एकता का शिलान्यास हुआ। यहाँ यह याद रखना चाहिये कि 1905 से 1939 तक के वर्षों में एशियाई राष्ट्रवादी ही मुखर रहे। अफ्रीका का प्रतिनिधित्व नाममात्र का और नगण्य रहा। यह पूरा दौर ऐतिहासिक पुनरीक्षण, सैद्धान्तिक तर्क-परामर्श तथा अपने मार्ग की चुनौतियों व अड़चनों का, औरों के अनुभवों के साथ तुलनात्मक अध्ययन कर समुचित रणनीति के विकास का था। इस सिलसिले में नेहरू जी की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण रही। उनकी आत्मकथा का प्रकाशन अफ्रो-एशियाई देशों के तमाम पढ़े लिखे लोगों में हलचल मचाने वाला सिद्ध हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के साथ इस स्वतन्त्रताभिलाषी अनौपचारिक राजनय में यकायक व्यवधान पड़ गया और 1939 से 1945 तक के वर्ष एक तरह से बंजर रहे। भारत में नेहरू जी और उनके सहयोगी जेल में डाल दिये गये एवं चीन तथा हिन्द चीन में जापानी आक्रमण ने गृह युद्ध को प्राथमिकता दी। फिर भी जापानियों ने लगभग इन सभी जगहों में ब्रिटिश, फ्रांसीसी और डच औपनिवेशिक

व्यवस्था को ध्वस्त कर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए एशियाई राष्ट्रवादियों को अपना सहयोगी बनाया और युद्ध के बाद गुरुतर जिम्मेदारियाँ ग्रहण करने के लिए प्रशिक्षित किया।

दूसरा चरण 1945 से 1955 तक आशावादी स्वर

इस चरण की दो विशेषताएँ हैं। भारत की स्वतन्त्रता (1947) तथा चीन में साम्यवादी दल के सत्ता ग्रहण (1949) करने से एशिया का बहुत बड़ा हिस्सा गुलामी के जुए से मुक्त हो गया। इण्डोनेशिया और मिस्र भी स्वाधीन हुए। इस दशक में इन सभी देशों के आपसी सम्बन्ध मधुर रहे। उन्होंने मिलकर अफ्रीका तथा एशिया में उपनिवेशवाद को बचाव की मुद्रा ग्रहण करने के लिए विवश किया। 1945 के बाद हिन्द चीन में जन मुक्ति संग्राम छिड़ गया तथा मलाया में चीनी विप्लव के कारण आपातकाल की घोषणा करनी पड़ी। पूर्वी अफ्रीका में वह प्रदेश जो आज युगाण्डा, तंजानिया तथा कन्या की भूमि है, 'माऊ माऊ विद्रोह' की चपेट में आया। हिन्द चीन से लेकर अफ्रीका के पूर्वी क्षेत्र तक मुक्ति सैनिकों ने शस्त्र उठा लिये। 1919 से 1939 तक के दो दशक यदि संवैधानिक सुधारों, सिविल नाफरमानी और अहिंसक सत्याग्रह वाले थे तो युद्ध के बाद का दशक हिंसक सत्ता-संघर्ष का था। इस दौर में अफ्रो-एशियाई एकता के साथ-साथ क्षेत्रीय बिरादरी का स्वर भी उठाया जाने लगा।

इसके अलावा दो और मील के पत्थर आज भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इनमें एक भारत और चीन के बीच पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर (1954) है तो दूसरा बाडुंग सम्मेलन (1955)। आपस में सम्बद्ध इन दोनों घटनाओं का आधार शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की अवधारणा थी। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, निरस्त्रीकरण और गुट निरपेक्षता इन दस वर्षों में अफ्रो-एशियाई राजनय के संबल रहे। नवोदित राष्ट्र राजनीतिक *स्वतन्त्रता ही नहीं, आर्थिक आत्म निर्भरता भी* चाहते थे *जिसके बिना राजनीतिक* स्वाधीनता अक्षत नहीं रह सकती थी। वे यह बात भली भाँति समझते थे कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति नहीं बनी रही तो उन्हें अपना आर्थिक विकास करने का अवसर नहीं मिल सकता। इस पूरे दौर में नेहरू जी ने निर्णायक भूमिका निभायी और सुकार्णो तथा नासिर की सहायता से राष्ट्र संघ तथा राष्ट्रमण्डल के मंचों का सफल राजनीतिक प्रयोग किया।

इस प्रकार, इन वर्षों का मूल स्वर आशावादी रहा और अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों में आपसी तनाव सतह तक नहीं आये। सोवियत संघ में स्टालिन की मृत्यु के बाद रूस ने अफ्रो-एशियाई आन्दोलन के साथ अपनी सहानुभूति बिना शर्त प्रकट की और कोरिया युद्ध में मध्यस्थता के बाद गुट निरपेक्षता भली भाँति प्रतिष्ठित हो सकी।

तीसरा चरण 1956 से 1960 तक दुर्भाग्यपूर्ण टकराव

तीसरे चरण की विशेषता यह है कि अनेक एसे अफ्रो एशियाई देश, जो *आजादी के लिए तैयार नहीं समझे जाते थे, महत्वपूर्ण आन्तरिक परिवर्तनों और* अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण आजाद हुए। 1954 में जेनेवा सम्मेलन के बाद हिन्द चीन के राज्यों का भविष्य एक तरह से तय किया गया था। 1956 में ब्रिटेन और फ्रांस के स्वेज सम्बन्धी दुस्साहसिक अभियान के बाद पश्चिम एशिया में नई व्यवस्था

के बारे में सोचना आवश्यक हो गया। पूर्वी अफ्रीका के अनेक देश इस बीच स्वतन्त्र हुए। परिणामस्वरूप उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष का एक प्रमुख मुद्दा रंगभेद तथा नस्लवाद का विरोध बन गया। इन सब बातों ने अफ्रो-एशियाई देशों को काफी प्रभावित किया। एक तो जिन राष्ट्रों ने अपने बाहुबल से स्वतन्त्रता अर्जित की थी, उन्होंने सुधार की अपेक्षा क्रान्ति पर बल दिया और अपने तेवर निरन्तर जुझारू रखे। नेहरू जी जैसे नेताओं का नई पीढ़ी के लोगों के साथ संवाद बनाये रखना कठिन होता गया। साथ ही अफ्रो-एशियाई देशों के आपसी तनाव और हितों के टकराव धीरे-धीरे सामने आने लगे। भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर विवाद, भारत और चीन के बीच सीमा विवाद, सामन्ती-राजसी अरब राज्यों तथा समाजवादी सैनिक अरब सरकारों के बीच टकराव, हिन्द चीन में जेनेवा व्यवस्था की असफलता आदि अनेक घटनाएँ इस बीच घटीं, जिन्होंने अब तक चली आ रही आशावादिता को धूमिल कर दिया। अब तक यह भी स्पष्ट हो चुका था कि आर्थिक आत्मनिर्भरता का सपना कितना ही सार्थक एवं आकर्षक क्यों न हो, लेकिन कष्टसाध्य है। अफ्रीकी व एशियाई देशों की विदेशी सहायता पर निर्भरता बढ़ती ही चली जा रही थी। इसके रहते दूसरों को उपदेश देते रहना हास्यास्पद बन गया था। 1960 में कांगो संकट के साथ यह बात प्रकट हो गयी कि संयुक्त राष्ट्र संघ बड़ी शक्तियों के सत्ता-संघर्ष के कारण कितना कमजोर हो चुका है। कुल मिलाकर नव-उपनिवेशवाद की चुनौती तथा शीत युद्धजनित स्थानीय संकटों के कारण अफ्रो-एशियाई एकता खण्डित होने लगी। सोवियत-चीन विग्रह के बाद चीन का माओवादी नेतृत्व अपने को एक स्वतन्त्र शक्ति-केन्द्र के रूप में स्थापित करने के लिए उद्यत हुआ। चीन ने अफ्रीका तथा एशिया के तथाकथित प्रगतिशील देशों को अपने 'खेमे' में लाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इन सब परिवर्तनों का प्रभाव बेलग्रेड में आयोजित पहले गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (1961) में देखने को मिला, जहाँ 'नव उपनिवेशवाद बनाम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति' को लेकर एक कड़ी बहस और दुर्भाग्यपूर्ण मुठभेड़ नेहरू जी और सुकार्णो के बीच हुई। जिन सुकार्णो ने अफ्रो-एशियाई एकता व भाई-चारे को ठुकराते हुए नये उदीयमान राष्ट्रों को संगठित करने वाला आह्वान किया और उग्र-पंथियों के इस जमघट से नेहरू जी के पुराने प्रशंसक एन्क्रूमा जैसे लोग भी चले गये।

दिसम्बर, 1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने उपनिवेशवाद के उन्मूलन सम्बन्धी अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव भारी बहुमत से पारित किया। वास्तव में यह यथा-स्थिति की औपचारिक स्वीकृति थी। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि उपनिवेशवाद की चुनौती समाप्त हो गयी और अफ्रो-एशियाई देशों का अभ्युदय सर्व स्वीकृत हुआ। हाँ, इतना अवश्य है कि इस आन्दोलन की दिशा और स्वर दोनों महत्वपूर्ण ढंग से बदल गये।

चौथा चरण 1961 से 1975 तक : हताशा के बाद नये उत्साह का संचार

1961 में ऐसी दो घटनाएँ हुईं, जिन्होंने अफ्रो-एशियाई एकता को नुकसान पहुँचाया और यह प्रकट किया कि अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों का अभ्युदय एक छलावा सा था। भारत-चीन सीमा संघर्ष ने दो प्रमुख एशियाई राष्ट्रों को प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, शत्रु के रूप में पेश किया। भले ही अधिकांश गुट निरपेक्ष राष्ट्र इस मुठभेड़ में तटस्थ रहे,

किन्तु व्यक्तिगत पक्षधरता के आधार पर वे अलग-अलग घडो मे बँट गये। साथ ही, क्यूबाई मिसाइल सकट (1962) ने यह तथ्य रेखाकित किया कि मानव जाति का भविष्य गुट निरपेक्ष राष्ट्रो के अभ्युदय के साथ नही, बल्कि महाशक्तियो के बीच आतक के सन्तुलन के साथ अनिवार्य रूप से जुडा है। 1962 के बाद अमरीका-रूस सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख केन्द्र बन गये। उनके बीच 'होट लाइन' के माध्यम से सीधा राजनयिक सवाद आरम्भ होने बाद सदाशयी मध्यस्थो की आवश्यकता नही रही और न ही उनके विकास की समस्याओ के बारे मे सोचने की फुर्सत किसी को रही।

1950 के दशक के मध्य से अफ्रो-एशियाई राष्ट्र सयुक्त राष्ट्र सघ मे सक्रिय रहे। उन्होंने इस सगठन मे अपनी क्षमता का परिचय दिया। 1960 मे कागो सकट के विस्फोट के बाद सयुक्त राष्ट्र सघ स्वय महाशक्तियो के बीच सघर्ष का अखाडा बन गया और कागो सैनिक अभियान के खर्च ने इस पर कमरतोड बाझ डाल दिया। इस घटनाक्रम ने अफ्रो-एशियाई देशों के प्रभाव को कम किया।

यहाँ दो महत्वपूर्ण बातो को अनदेखा नही किया जा सकता। अनेक छोटे-छोटे अफ्रो-एशियाई देशो मे जनतन्त्र का क्रमश ह्रास हुआ और सैनिक तानाशाही एव पारिवारिक अधिनायकवाद ने अपनी जडें जमाना आरम्भ किया। घाना मे एन्क्रूमा का कबायली भ्रष्टाचार, इण्डोनेशिया मे सुकार्णो की तुनुकमिजाजी व खर्चनशीनी और नेपाल मे जनतान्त्रिक प्रयोग की विफलता सब इसी के लक्षण थे। कही निर्देशित जनतन्त्र (Guided Democracy) तो कही बुनियादी जनतन्त्र (Basic Democracy) को सुझाया गया कही सेना ने 'मुफ्ती' पहन ली तो कही निरकुश शासन ने कृपापूर्वक जनता को 'राष्ट्रीय पचायत' का उपहार दिया। राजनीतिक अस्थिरता के इस सक्रमण काल मे बाहरी शक्तियो के लिए हस्तक्षेप सहज हुआ। साथ ही, नवोदित राष्ट्रो की स्वाधीनता मे कटौती हुई। इस प्रकार किसी भी तानाशाह की गद्दी को सकटग्रस्त करना और उस पर दबाव डालना अपेक्षाकृत आसान हुआ।

इसके साथ-साथ अफ्रो-एशियाई देशो मे विकास कार्यक्रम गड्डमड्ड हो गये और विदेशी सहायता पर इन देशो की निर्भरता बहुत तेजी से बढी। 1964–65 तक स्वय भारत बहुत बडी सीमा तक विदेशी खाद्यान्न के आयात पर निर्भर था। इण्डोनेशिया का दिवालियापन जग जाहिर हो चुका था। मिस्र मे नासिर की दरिद्रता और पूर्वी अफ्रीकी देशो की विपन्नता किसी से छिपी नही रही। इसके विपरीत अनेक देश ऐसे थे जो सौभाग्यवश सामरिक महत्व के प्राकृतिक ससाधनो के स्वामित्व के कारण यकायक समृद्ध हो गये और अपनी खुशहाली और सफलता के नशे मे अपने अभागे बिरादरो के साथ उठने-बैठने से कतराने लगे। सऊदी अरब, ईरान, मलेशिया व सिंगापुर इसी श्रेणी मे रखे जा सकते हैं। इनमे स अनेक जैसे फिलीपीन्स, दक्षिण कोरिया आदि बेहिचक पश्चिमी पूँजीवादी व्यवस्था को अपना चुके थे। राजनीतिक जनतन्त्र के अभाव मे इन देशो के राष्ट्रीय हित न्यस्त स्वार्थों के लिए ही परिभाषित किये जाते रहे और अक्सर अन्तर्राष्ट्रीय मचो पर अफ्रो-एशियाई देशो का आपसी टकराव देखने को मिला। विडम्बना तो यह है कि नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की तलाश ने भी इस अन्तर-विरोध को तूल दिया और अफ्रो-एशियाई देशो की जमात को विकासशील, अर्द्ध-विकसित, अल्प-विकसित और पिछडे-ओ मे बाँटा।

इसके अतिरिक्त अल्जीरिया में सशस्त्र-क्रान्ति की सफलता, क्यूबा में उग्र मार्क्सवादियों द्वारा सत्ता ग्रहण करने और वियतनाम युद्ध में निरन्तर तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में दो स्पष्ट, परस्पर-विरोधी अभिगम—सुधारवादी और क्रान्तिकारी—अफ्रो-एशियाई देशों के सामने प्रकट हुए। यह उल्लेखनीय है कि यह सिर्फ बेलग्रेड सम्मेलन में नेहरू-सुकार्णो मुठभेड़ की परिणति नहीं थी, बल्कि परवर्ती वर्षों में नवोदित राष्ट्रों में राजनीतिक विकास की जटिलता से उपजे तमाम तनावों का त्रासद सन्निपात था। इसको महाशक्तियों के बीच बढ़े तनाव ने विस्फोटक रूप दिया। इससे अफ्रो-एशियाई अस्मिता की पहचान धुँधली हुई। इसने एक बड़ी सीमा तक अफ्रो-एशियाई अभ्युदय को झुठला दिया। यह स्थिति कमोबेश 1961 से 1968–69 तक चली। अनेक महत्वपूर्ण अफ्रो-एशियाई देशों में इस बीच महत्वपूर्ण सत्ता परिवर्तन हुए। भारत और इण्डोनेशिया में नेहरू तथा सुकार्णो का स्थान ऐसे उत्तराधिकारियों ने लिया, जिनके लिए अफ्रो-एशियाई बिरादरी, उसका भाईचारा व उसकी एकता विदेश नीति निर्धारण में प्राथमिकता-प्राप्त विषय नहीं थे।

जिस समय अफ्रो-एशियाई सन्दर्भ में हताशा-निराशा का स्वर प्रमुख था, उस समय घटनाक्रम एक बार फिर तेजी से बदला। अफ्रो-एशियाई अभ्युदय में पुनर्जीवन का संचार हुआ। 1967 में अरब देशों और इजराईल के बीच तीसरा युद्ध हुआ। इसमें इजराईल ने मिस्र को बुरी तरह पराजित किया और बहुत बड़े अरब भू-भाग पर कब्जा कर लिया। इसमें न केवल मिस्र, बल्कि अनेक अफ्रो-एशियाई देशों को अपनी सैनिक दुर्बलता और आर्थिक अक्षमता का अहसास हुआ। इस युद्ध से बहुत बड़ी संख्या में फिलस्तीनी विस्थापित हुए और वे अन्य अरब राष्ट्रों में शरणार्थी बन गये। फिलस्तीनी हर जगह उत्पीड़ित-शोषित होते रहे। उन्होंने यह बात आत्मसात कर ली कि शस्त्रों का सहारा लिये बिना न तो वे अपने राष्ट्र को पा सकते हैं और न ही खोया हुआ आत्म-सम्मान। सैनिक और आर्थिक साधनों के अभाव में उनके सामने सिर्फ छापामारी का रास्ता उपलब्ध था। 1967 के बाद फिलस्तीन मुक्ति संगठन के 'अल फतह' नामक जुझारू गुट ने लोकप्रियता प्राप्त की और हवाहरण-अपहरण तथा 'शत्रुओं' की आतंकवादी हत्याओं की बाढ़ सी आ गयी। यासिर अराफात, जार्ज हबाश, लैला खालिद आदि के नाम विश्वविख्यात हो गये। म्यूनिख ओलम्पिक में यह बात सामने आयी कि अफ्रो-एशियाई जगत में राष्ट्रवाद और क्रान्ति की प्रेरणा अब भी सशक्त है और इसको दबाने के प्रयत्न विकसित देशों को भी अपनी लपटों में झुलसा सकते हैं।

फिलस्तीनियों की गतिविधियों ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोध की भावना के प्रसार को प्रोत्साहित किया। फिलस्तीन मुक्ति संगठन मूलतः धर्म निरपेक्ष और समाजवादी रुझान वाला है। जिन देशों ने फिलस्तीनियों का समर्थन किया, उनके प्रति तो यासिर अराफात और उनके अनुयायी आभार मानते ही रहे, अन्यत्र भी जन-मुक्ति संग्राम में उनकी सक्रिय हिस्सेदारी रही। फिलस्तीनी पक्ष का समर्थन करते-करते अफ्रो-एशियाई एकता दृढ़ हुई।

1969 तक चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति का ज्वार पूरे उफान पर आ चुका था। इस परिवर्तन ने जहाँ एक ओर माओवादी नेतृत्व का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय राजनय से हटाकर आन्तरिक समस्या के समाधान की ओर लौटाया, वहीं इस बात को भी रेखांकित किया कि एशिया में इतने बड़े पैमाने पर होने वाला कोई भी

घटनाक्रम पूरे विश्व के सन्दर्भ में भी ऐतिहासिक हो सकता है। इस दौर में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास के सन्दर्भ में तमाम पश्चिमी अवधारणाओं को नकारा गया और निरन्तर क्रान्ति की परम्परा के साथ-साथ नए माओवादी क्रान्तिकारी मानव की आदर्श कल्पना प्रस्तुत की गयी। इन्ही दिनों सोवियत-चीन विग्रह खुलकर सामने आया और अफ्रो-एशियाई देश सोवियत या चीनी पक्षधर के रूप में बँटने लगे। परन्तु इससे अफ्रो-एशियाई देशों की एकता खण्डित नहीं हुई। उनमें आपसी वाद-विवाद कितना कटु क्यों न हुआ हो, पश्चिमी साम्राज्यवादी तबके के विरुद्ध असन्तोष और आक्रोश पूर्ववत् बना रहा। बल्कि चीन की 'महान सांस्कृतिक क्रान्ति' ने एक खास तरह से सरकार से अलग जनता के स्तर पर अफ्रो-एशियाई एकता को पुष्ट किया। इसका एक उदाहरण भारत में नक्सलवादी उथल-पुथल है, जिसके दौरान इस तरह के नारे लगाये गये—'चेअरमेन माओ, हमारे चेअरमेन'। दूसरी मिसाल इण्डोनेशिया और फिलीपीस की है, जहाँ साम्यवादी दल और प्रतिबंधित साम्यवादी गुट चीन का समर्थन करते थे और अपना विश्व-दर्शन चीनी नेताओं की घोषणा के अनुसार ढालते थे। इन्हीं वर्षों में चीन ने सामरिक उपयोग की दृष्टि से बड़े पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहायता कार्यक्रम आरम्भ किया। तंजानिया में रेलमार्ग बिछाना, नेपाल में मोटर मार्ग बनाना, और श्रीलंका को दी गयी खाद्यान्न सहायता इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

उग्र क्रान्तिवादिता के स्तर को प्रोत्साहित करने वाली एक और प्रमुख घटना वियतनाम संघर्ष थी। यों यह जनमुक्ति संग्राम तीन दशक तक चला और इसमें क्रमशः कई उतार-चढ़ाव आये, फिर भी युद्ध में नृशंसता 1968 के बाद ही आयी। अमरीका द्वारा नागरिक ठिकानों पर बमबारी, वनस्पति नाशक रासायनिक अस्त्रों का प्रयोग तथा 1968 से 1973 के बीच हिन्द चीन में बड़े पैमाने पर अत्याचार देखने को मिले। माइ लाई काड जैसी अमानुषिकता इसमें पहले अकल्पनीय थी। अमरीकियों का शब्दाडम्बर यह बात छिपाने में असफल रहा कि अहंकारी गोरे लोग अश्वेत वियतनामियों को दूसरे दर्जे का प्राणी समझते हैं। इनके विरुद्ध तमाम एशिया और अफ्रीका में व्यापक जन-आक्रोश फैला, उन देशों में भी जिनकी कठपुतली सरकारें वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप का समर्थन कर रही थी।

जिस जीवट और जुझारू रणनीति से नन्हा सा वियतनाम एक महाशक्ति को दलदल में फँसाने में सफल हुआ, वह अन्य सभी उत्पीड़ित शोषित जनता के लिए प्रेरणा की चीज थी। 1969–70 तक हो ची मिन्ह तीसरी दुनिया के सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों में से एक थे। वियतनाम के मामले में सोवियत संघ और चीन तक आपसी बैर भुला बैठे। ब्रिटेन जैसे पूँजीवादी देश और स्वयं अमरीका में भी बर्टेंड रसेल, चोमस्की व मेरी मेकार्थी जैसे लोग अमरीकी नीतियों का खुलकर विरोध करने लगे। पश्चिमी देशों की सरकारों ने वियतनाम के बहाने ही सही, एशिया के बारे में महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय शोध की जरूरत समझी। वियतनाम युद्ध और चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति को वृहत्तर एशियाई सन्दर्भ में रखकर व्याख्यायित किया गया। यह ठीक भी था। प्रकारान्तर से ही सही, इसने भी अफ्रो-एशियाई एकता और भाईचारे का अहसास बढ़ाया।

इन्हीं वर्षों में अफ्रो-एशिया के सामर्थ्य, इसकी रचनात्मक सम्भावना, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इन दो महाद्वीपों के महत्व को झलकाने वाले कुछ और

परिवर्तन हुए। 1960 के दशक के अन्त तक जापान का आर्थिक पुनर्निर्माण लगभग पुनः सम्पन्न हो चुका था। इलेक्ट्रॉनिक उपकरणो, ओप्टिकल सामग्री, कारो, इस्पात आदि के उत्पादन मे जापान अमरीका का प्रतिद्वन्द्वी बन चुका था। यह स्वाभाविक था कि दक्षिण पूर्व एशिया में जापान का आर्थिक प्रभुत्व आसानी से फैल गया। यूरोप और अमरीका मे जापान का निर्यात तेजी से बढा और उनके साथ उसका विदेश व्यापार सन्तुलन बिगड गया। एक ओर पश्चिमी देशो के मन मे यह भय सताने लगा कि दोनो पीले मंगोल वशज राष्ट्र चीन और जापान मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गोरो का वर्चस्व खत्म कर देंगे तो दूसरी ओर उन्हे यह चिन्ता सताने लगी कि सोवियत सघ तथा जापान के बीच सहकारी समझौता (साइबेरिया के विकास सम्बन्धी) हो सकता है। हर्मन कान जैसे अनेक प्रतिष्ठित अमरीकी विद्वानों ने उस समय जापान की चर्चा एक उदीयमान राष्ट्र के रूप मे करना आरम्भ कर दिया था। जिस तरह चीन मे माओ के आविर्भाव ने एशिया की गरिमा बढायी, उसी तरह जापान की आर्थिक सफलता ने एशियाई जनता का मान बढाया।

ईरान के शाह की महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी योजनाओ ने एक विचित्र तरीके से अफ्रो-एशियाई अभ्युदय को विडम्बनापूर्ण तरीके से प्रमाणित किया। शाह तानाशाह थे, परन्तु अपनी अपार सम्पदा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा पश्चिम के विकसित राष्ट्रों से शस्त्रास्त्रो के आयात पर खर्च करते थे। अनेकानेक बड़े-बडे पश्चिमी शस्त्र विक्रेता ईरानी खरीद पर निर्भर रहने लगे। शाह ने पेन एम जैसी प्रख्यात वायु सेवाओ तथा न्यूयार्क मे अनेक महँगी जागीरों को भी खरीदा। उप-निवेशवाद के उन्मूलन के बाद ऐसा पहली बार हुआ, जब कोई समृद्ध अश्वेत गोरो का उपयोग परिचारको-सेवको के रूप में अपने बलबूते पर कर रहा था। मजेदार बात यह है कि ईरान जैसे 'प्रतिक्रियावादी' तत्व को माओ जैसे प्रगतिशील व्यक्ति का समर्थन भी प्राप्त था। चीन की सैनिक शक्ति और जापान की आर्थिक क्षमता दोनो का सयोग (कम से कम सम्भावना के रूप मे) कई विद्वानो को तत्कालीन ईरान में दिखायी देता था। इस सदर्भ मे यह आशा करना असगत नही था कि ईरानी पक्ष का अनुसरण कर अन्य समाज भी परम्परा का आधुनिकीकरण कर सकते हैं। ईरान के बाद तेल सकट के दौरान अन्य अरब राष्ट्रो ने भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे खम ठोकना शुरू किया। अब तक चीन, भारत, जापान, ईरान, मिस्र और इण्डोनेशिया जैसे प्राचीन देश ही राजनय में सक्रिय थे, किन्तु अब सही मायनो में नवोदित राष्ट्र मंच पर आये।

1950 के दशक के उत्तरार्द्ध तक यह बात सामने आ गयी कि अन्धकार महाद्वीप के रूप मे प्रख्यात अफ्रीका को अब रोशनी मे आने से अधिक समय तक रोका नही जा सकता। 1950 से 1953 तक पूर्वी अफ्रीका मे केन्या, युगाडा, टागानिका वाले प्रदेश में माऊ-माऊ विप्लव तेज होता रहा। जोमो केन्याटा, जूलियस न्यरेरे और मिलटन ओबेटे ऐसे नेता थे, जिन्हे मोटे तौर पर छोटे पैमाने पर गाधी और नेहरू के नमूने का समझा जाता है। इनकी शिक्षा-दीक्षा अग्रेजी माध्यम से हुई थी। घाना के क्वामे एन्क्रूमा भले ही अफ्रीका के पश्चिमी तट पर रहने वाले थे, किन्तु इसी परम्परा में आते हैं। ये पेशेवर लोग डाक्टर, वकील व अध्यापक थे और इनकी आस्था सशस्त्र क्रान्ति मे नही, शान्तिपूर्ण ससदीय परिवर्तनो मे थी। खासकर पूर्वी अफ्रीका मे प्रवासी भारतीयो के उद्यम से मध्यम वर्ग उदीयमान था

और आर्थिक क्रियाकलाप की जड़ें गहरी जमी थी। इन सभी राष्ट्रो ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहना स्वीकार किया। इन अश्वेत राष्ट्रो में औपनिवेशिकता के विरुद्ध सबसे अधिक आक्रोश नस्लवाद (Racialism) को लेकर था। इन्ही के राजनयिक दबाव से राष्ट्रमण्डल से दक्षिण अफ्रीका को निकाला गया और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का एक बडा मुद्दा रगभेद नीति का विरोध बना।

भले ही एन्क्रूमा, न्येरेरे आदि भारत का अनुसरण कर स्वावलम्बी आर्थिक विकास और गुट-निरपेक्ष नीति का अनुसरण करना चाहते थे, किन्तु उनकी क्षमता और सामर्थ्य भारत जैसी नही थी। लगभग ऐसे सभी देशो की कमाई किसी एक खास फसल या खनिज पर निर्भर थी, जिसके निर्यात, उत्खनन व शोधन का काम किसी बहुराष्ट्रीय निगम द्वारा किया जाता था। कालक्रम मे ये राष्ट्र अपनी स्वाधीनता का स्वर स्पष्ट नही रख सके। फिर भी यह अनदेखी करनी कठिन है कि अफ्रीका का उदय युद्धोत्तर वर्षों की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसके पहले अफ्रीकी महाद्वीप का प्रतिनिधित्व सिर्फ मिस्र करता था, जो मूलत एक अरब राष्ट्र था।

नीग्रो जाति का अन्तर्राष्ट्रीय मच पर प्रवेश दो तरह से महत्वपूर्ण था। एक तो इसके द्वारा यह घोषणा हुई कि अफ्रीकी जनता अपने यहाँ यूरोपीय देशो की बन्दरबाँट अब नही चलने देगी। दूसरी बात, इसका अमरीका की आन्तरिक राजनीति मे भारी प्रभाव पडा। यही वे वर्ष थे जब अमरीका मे नागरिक अधिकारो वाला आन्दोलन चला था, जिसका नेतृत्व मार्टिन लूथर किंग कर रहे थे। भले ही अमरीका मे गृह युद्ध के बाद दास प्रथा का उन्मूलन हो गया था, परन्तु व्यवहार मे अश्वेतो को अपमानजनक विषमता का सामना करना पड रहा था। अफ्रीकी देशो की स्वतन्त्रता-प्राप्ति ने अमरीका के नीग्रो-वशजो मे नये उत्साह का सचार किया और उन्हे असहमति व विरोध का स्वर मुखर करने को प्रेरित किया। अलाबामा जैसे राज्यो मे स्कूली बसो मे नस्ली भेदभाव समाप्ति का मुद्दा राष्ट्रपति चुनाव मे महत्वपूर्ण बन गया। आगे चलकर हिन्द चीन के युद्ध मे नीग्रो सैनिको के भेज जाने एव उनकी शहादत ने भी अमरीका मे जातीय तनाव बढाया।

अफ्रीका के दूसरे हिस्सो जैसे अल्जीरिया मे मार्क्सवादी जनमुक्ति आन्दोलन और सरकार के गठन के बाद पश्चिम का विरोध स्पष्ट हुआ था। अफ्रीका मे नवोदित राष्ट्र के महत्व को अनदेखा करना कठिन होता गया। अफ्रीका का उदय एकदम निष्कटक नही रहा। सभी अफ्रीकी समाज कबायली थे और एशियाई देशो की तुलना मे आदिम। कबायली प्रतिस्पर्धाओ ने पश्चिमी जनतान्त्रिक व्यवस्था को आरोपित करना कठिन बनाया। कई जगह राजनीतिक दलो की असफलता और नेताओं के भ्रष्टाचार ने सैनिक तानाशाही को बढावा दिया। इनके कारण सर्वनाशक गृह युद्ध भडक उठा। कागो इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। कागो ने इस बात को भी उजागर किया कि कैसे शीत-युद्धजनित दबावों के कारण बाहरी हस्तक्षेप नये देशो की स्वाधीनता को निरर्थक सिद्ध कर सकता है और सयुक्त राष्ट्र सघ को अक्षम बना सकता है। कागो प्रसग अधिक चर्चित रहा है परन्तु असल मे यह आगामी वर्षों मे नाइजीरिया मे घटने वाली त्रासदी का पूर्वाभ्यास भर था। लगभग इसी की पुनरावृत्ति अगोला और मोजाम्बिक मे भी हुई। यथास्थिति और परिवर्तन के

पक्षधरों का समर्थन पश्चिमी और साम्यवादी शक्तियों ने किया और अन्ततः सत्ता-परिवर्तन *संसदीय प्रणाली के शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं, बल्कि सशस्त्र क्रान्ति द्वारा ही* हुआ। इसी सिलसिले में रोडेशिया-ज़िम्बाब्वे का प्रकरण उल्लेखनीय है। इयान स्मिथ की हठीली गोरी सरकार ने ब्रिटेन की सलाह न मानकर एकपक्षीय स्वाधीनता की घोषणा की और बरसों तक एक हिंसक रस्साकशी को जारी रखा।

दक्षिण अफ्रीका और नामीबिया की स्थिति हमेशा अलग रही है—भू-राजनीतिक (geo-political) और ऐतिहासिक कारणों से दक्षिण अफ्रीका को 'क्लासिकी' नमूने का उपनिवेश नहीं समझा जा सकता। वहाँ रहने वाले गोरे अल्पसंख्यक हैं, किन्तु दुर्बल नहीं। यह भी सच है कि गोरे अफ्रीकी लोगों के पास लौटकर जाने के लिए कोई मातृभूमि नहीं। कहने का अभिप्राय यह कतई नहीं कि नामीबिया का शोषण-उत्पीडन वाजिब है। हमारा अभिप्राय सिर्फ यह स्पष्ट करना है कि अफ्रीका का धुर दक्षिणी छोर शेष महाद्वीप से बुनियादी तौर पर फर्क होने के कारण अफ्रीकी नवजागरण का प्रमुख तत्त्व था। पान-अफ्रीकी भावना का प्रसार—इसे मुखर करने वालों में एन्क्रूमा पहले नेता थे। पेट्रिस लुमुम्बा, न्यरेरे आदि ने इसे पुष्ट किया। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि युगांडा के दादा ईदी अमीन जैसे झक्की-मनकी नेताओं तक ने इसका लाभ उठाते हुए पश्चिमी दुनिया के साथ भिड़ने के लिए तीसरी दुनिया के विपन्न देशों का मनोबल बढ़ाया। संक्रमण काल में इथियोपिया जैसे देशों की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं रही। सम्राट हेले सलासी का वंश चाहे कितना ही अकुशल क्यों न रहा हो, लम्बी परम्परा के कारण उसकी अपनी एक गरिमा थी, जिसका लाभ पूरे महाद्वीप को मिलता रहा। इसी तरह व्यक्तिगत *भ्रष्टाचार के बावजूद एन्क्रूमा के रचनात्मक कृतित्व को नकारा नहीं जा सकता।* अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श में विकास की बुनियादी समस्याओं को सामरिक महत्व देना और नई *अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की तलाश में सक्रिय होना, अन्तर्राष्ट्रीय मंच* पर अफ्रीकी देशों के उदय के साथ ही गतिशील हुआ।

इसी सन्दर्भ में एक और बात महत्वपूर्ण है। अफ्रीका में उपनिवेशवाद के उन्मूलन की प्रक्रिया को अल्जीरियाई और क्यूबाई क्रान्ति की सफलता ने समर्थन और प्रोत्साहन दिया। इस तरह अफ्रीका के नवजागरण ने एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका को साथ लाकर तीसरी दुनिया के सपने को वास्तव में साकार किया। भारत जैसे देशों ने राष्ट्रमण्डल और संयुक्त राष्ट्र संघ में नस्लवाद और उपनिवेशवाद के विरोध में मुहिम जारी रखी तो अल्जीरिया ने हिंसक मुक्ति सैनिकों को शरण दी। क्यूबाई सैनिक अंगोला तथा मोजाम्बिक में छापामारों के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर लड़ते रहे, तो चीन ने स्वयं आर्थिक अभाव झेलते हुए भी तंजानिया जैसे देशों को बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता दी और उनकी क्रान्तिकारिता की धार को कुंद नहीं होने दिया।

अफ्रीका के सन्दर्भ में एक और टिप्पणी जरूरी है। अल्जीरिया, नाइजीरिया और लीबिया में तेल की खोज के बाद सभी अफ्रीकी देशों को दरिद्र याचकों के रूप में देखना असम्भव बन गया। तेल उत्पादक व निर्यातक राष्ट्रों के जमघट में एक बार फिर तीसरी दुनिया के सामूहिक हित और सामूहिक समस्याएँ रेखांकित हुईं। 1960 के दशक के अन्त तक अफ्रीका के अनेक नवोदित राष्ट्र भू-राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बन गये। अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के युद्ध संचालन के लिए जिस

तरह की सचार-सम्पर्क प्रणाली की जरूरत थी, उसमे सोमालिया और इथियोपिया के सैनिक अड्डे अप्रत्याशित ढग से 'परमावश्यक' प्रतीत होने लगे। अगोला मे स्वाधीन सरकार का गठन पुर्तगाल मे आन्तरिक राजनीतिक घटनाक्रम को निर्णायक ढग से प्रभावित करने वाला सिद्ध हुआ। इसे एक तरह से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अफ्रीका के उदय का चरमोत्कर्ष समझा जा सकता है। इसके बाद राजनीतिक उथल-पुथल का केन्द्र एशिया और अफ्रीका से हटकर मध्य अमरीका में स्थानान्तरित हो गया।

भले ही तब से अब तक अफ्रीकी देशो के राजनीतिक-आर्थिक विकास ने तीसरी दुनिया मे अनेक लोगों को निराश किया है, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जब एशिया के पुराने देश स्थिर-सुधारवादी दृष्टिगोचर होने लगे थे, तब अफ्रीकी उत्साह ने ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे तीसरी दुनिया का बोलबाला बनाये रखा था।

अफ्रीकी राष्ट्रों का भाईचारा और उनकी एकता एशियाई या अरब राष्ट्रों की अपेक्षा काफी ज्यादा मजबूत रही है। इसे कबाइली नाते की मजबूती कहें या और कुछ, अफ्रीकी राष्ट्रों के सगठन का मतैक्य, उसकी सहकारिता, 'आसियान' (ASEAN) और 'लाफ्टा' (LAFTA) से कही अधिक स्पष्ट दीखते हैं। इसी तरह सयुक्त राष्ट्र सघ, राष्ट्रमण्डल और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में अफ्रीकी प्रतिनिधियो की अपनी साफ अलग पहचान है।

अफ्रीकी व एशियाई राष्ट्रो के अभ्युदय मे 1973 अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ष रहा। अक्सर इसे तेल सकट के साथ जोडकर देखा जाता है और यह काफी हद तक सही भी है। परन्तु इसका वास्तविक महत्व 'योमकीपर युद्ध' के कारण है। अरब देशों और इजराईल के बीच इस चौथी सैनिक भिडन्त मे पहले तो इजराईल ने मिस्र की सेनाओं का लगभग सफाया कर डाला, परन्तु जवाबी हमले में एक बडी सीमा तक अपना खोया हुआ आत्म-सम्मान वापस पाने मे मिस्र सफल हुआ। इस युद्ध की एक बडी उपलब्धि यह रही कि अरब राष्ट्र पहले से कही अधिक एकता का अनुभव करने लगे। अब तक यही लगता था कि इजराईल से लडने-भिडने की जिम्मेदारी मिस्र के नेतृत्व मे सिर्फ सीमान्ती (frontline) राष्ट्रो की है। किन्तु अब तक सीरिया, जोर्डन और लीबिया ने भी रणक्षेत्र में कूद पडने की तत्परता दर्शाना आरम्भ कर दिया। फिलस्तीनी छापामारो की तेज गतिविधियों ने भी अरब देशो के तेवर आक्रमणकारी बनाये। इसी युद्ध के बाद 'तेल' का प्रयोग एक राजनयिक अस्त्र के रूप में करने की बात सोची जा सकी।

अन्तर्राष्ट्रीय तेल सकट का विस्तृत अध्ययन इस पुस्तक मे अन्यत्र किया गया है, परन्तु यहाँ इतना जोडना जरूरी है कि इस परिवर्तन ने पहली बार पूँजीवादी देशों को तीसरी दुनिया की ताकत का अहसास कराया। स्पष्ट था कि 'तेल शस्त्र' इजराईल से कहीं ज्यादा नुकसान अमरीका और पश्चिमी यूरोप के देशों और जापान को पहुँचाने वाला था। स्वय अमरीका तेल का बडा उत्पादक है परन्तु पश्चिम एशियाई देशों से आने वाले सस्ते तेल के अभाव में विलासितापूर्ण उपभोग की जीवन शैली यथावत नहीं रखी जा सकती थी। इसके अतिरिक्त अपने सन्धि मित्रों और शिविरानुचरों को उनकी जरूरत के अनुसार तेल पहुँचाना अमरीका अपनी जिम्मेदारी समझता रहा। इसके अभाव मे महाशक्ति के रूप मे अमरीका की छवि निश्चय ही

धूमिल होती। हालाकि तेल खपत में थोड़ी कटौती कर अमरीका पर-निर्भरता से मुक्त हो सकता था परन्तु यूरोप और जापान के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पहली बार यूरोप ओर अमरीका यह सोचने को विवश हुए कि अरब राष्ट्र जाहिल, मूर्ख और विलासी ही नही, बल्कि उनको नाराज करने या रखने की कीमत उन्हे चुकानी पड सकती है।

इसके अलावा अमरीकी तेल शोषक कम्पनियो की खरबों डालर की सम्पत्ति-पूंजी मध्य पूर्व मे लगी हुई है। पहली बार अमरीका को यह अहसास हुआ कि इस निवेश को निरापद नही समझा जा सकता। यह उल्लेखनीय है कि पहले पहल इन्ही की हिफाजत के लिए 'तुरन्त तैनाती दस्ते' (Rapid Deployment Force) का प्रस्ताव किया गया। इसके अतिरिक्त अमरीका को यह चिन्ता सताने लगी कि कहीं बदले परिप्रेक्ष्य मे पश्चिम एशिया का तेल सोवियत सघ के हाथ न लग जाये (यों सोवियत सघ भी अमरीका की तरह अपनी और अपने सन्धि मित्रो की जरूरतें पूरी करने मे सक्षम है)।

यह सोचना गलत होगा कि तेल सकट के सामरिक और राजनयिक आयाम सिर्फ महाशक्तियों के सन्दर्भ मे ही महत्वपूर्ण थे। तीसरी दुनिया के अनेक देशों में यह आशा जगी कि अब अपने विकास की जरूरतें पूरी करने के लिए वे सस्ते दामों मे तेल जुटा सकेंगे। तेल की बढ़ी कीमतों से जो पैट्रो-डालर अरब राष्ट्र कमायेंगे, उनका पुनः निवेश तीसरी दुनिया के देशो मे किया जायेगा, विशेषकर इस्लामी देशों मे धार्मिक भाईचारे के आधार पर यह आशा और भी बलवती रही। लीबिया, सऊदी अरब आदि ने पाकिस्तान, बगलादेश इत्यादि को इसी आधार पर अप्रत्याशित सहायता दी।

पैट्रो-डालर की रकम इतनी बड़ी थी कि उसको अपने यहाँ लाने व जमा कराने के लिए यूरोपीय बैंको और पूँजीपतियों में होड़ सी लग गयी। इन प्रभावशाली निजी उद्यमियों-उद्योगपतियो ने अपनी सरकारों पर पश्चिम एशियाई नीति में परिवर्तन पर दबाव डालना शुरू किया। इस अनुभव से अफ्रो-एशियाई जमात के अनेक राष्ट्रों को यह सोचने की प्रेरणा मिली कि अपने प्राकृतिक संसाधनों के न्यायोचित दाम पाने के लिए वे भी जुझारू ढंग से प्रयत्नशील हो सकते हैं। आगामी वर्षों मे ऐसे सद्प्रयत्नो की जो भी नियति रही हो, किन्तु इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि 1973 के बाद तेल-सकट ने पान-अरब (Pan-Arab) भाई-चारा पुष्ट करने के साथ-साथ नई अर्थव्यवस्था की खोज को उत्साहवर्धक ढंग से आगे बढ़ाया।

पाँचवाँ चरण 1975 से अब तक :
अफ्रो-एशियाई देशो की एकता का ह्रास

दुर्भाग्यवश अरब राष्ट्रों के आविर्भाव से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अफ्रो-एशियाई योगदान की जो आशा जगी, वह ज्यादा समय तक नही बनी रही। आज इस विश्लेषण से कुछ लाभ होने वाला नही कि इसके लिए अरबो का जातीय अहंकार और धार्मिक कट्टरता जिम्मेदार रहे या राजनयिक अनुभवहीनता या पश्चिमी देशों के कुटिल षड्यन्त्र। कटु यथार्थ यही है कि 1975 से आज तक अफ्रो-एशियाई एकता क्रमशः खण्डित होती रही है और इन राष्ट्रो की राजनयिक क्षमता का ह्रास हुआ

है। इसके लिए व्यक्तिगत और सांस्कृतिक नही, बल्कि ऐतिहासिक (सामाजिक व आर्थिक प्रवृत्तियो से अनुकूलित) कारण जिम्मेदार रहे हैं। ये कारण इस प्रकार हैं.

1 **हेलसिंकी समझौता** (Helsinki Agreement)—इस समझौते ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनय का केन्द्र-बिन्दु एक बार फिर यूरोप को बना दिया और एक तरह से तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया को औपचारिक मान्यता दी। साल्ट-एक (SALT-I) समझौते के बाद महाशक्तियों के बीच परमाणु सामरिक सवाद सबसे महत्वपूर्ण राजनयिक चुनौती समझा गया और यह स्वाभाविक था कि इसकी तुलना मे अफ्रीका व एशिया के स्थानीय सकटो का अवमूल्यन हुआ।

2. **अमरीका-चीन सम्बन्धों में सुधार** (Normalisation of Relations between the U S and China)—वैसे यह प्रक्रिया 1972 मे निक्सन की चीन यात्रा से शुरू हुई, किन्तु इसके परिणाम 1975 के आस-पास ही प्रकट हुए। माओ की मृत्यु के बाद तेंग सियाओ पिंग ने सत्ता-सूत्र सँभाले और पथ-परिवर्तन की घोषणा करने मे उन्होंने देर नही लगायी। उनकी चार महान आधुनिकीकरणो की घोषणा वस्तुत सुधारवादी-सशोधनवादी कार्यक्रम ही है। सबसे बडा और नाटकीय अन्तर यह पडा कि चीन एकाएक तीसरी दुनिया की बिरादरी से हटकर महाशक्तियो के साथ जा बैठा। चीन ससार की सबसे ज्यादा आबादी वाला देश भर नही, बल्कि सैद्धान्तिक शुद्धि और हठ के कारण ही अफ्रो एशियाई घटना-क्रम मे बेहद प्रभावशाली रहा है।

3 **जापान के विरुद्ध दगे** (Riots Against Japan)—इन्ही वर्षों मे जापान की आर्थिक सफलता का उत्पीडक बोझ अन्य एशियाई देश महसूस करते रहे। इण्डोनेशिया, थाइलैण्ड, मलयेशिया आदि मे जापानी व्यापारियो के शोषक आचरण के विरुद्ध आक्रोश का विस्फोट जातीय दगों मे हुआ और द्वितीय विश्व युद्ध-काल की कटु स्मृतियाँ कुरेदी गयी। जापानी उद्यमियो का भ्रष्टाचार, उनका नस्ली अहकार, पश्चिमी-अमरीकी सामरिक परिप्रेक्ष्य मे उनकी शत-प्रतिशत साझेदारी तथा एशियाई पडोसियो के विकास-कार्यक्रमो की उपेक्षा आदि वास्तव मे अखरने वाली बातें थी। जापान के विकसित राष्ट्रो के 'ट्राई कोंटिनेंटल' समूह मे सम्मिलित हो जाने ने भी अफ्रो-एशियाई खेम को दुर्बल किया।

4 **भारत मे राजनीतिक अस्थिरता** (Political instability in India)—1973 से 1975 के दौरान भारत में राजनीतिक उथल-पुथल चलती रही। श्रीमती इन्दिरा गाधी ने आपातकाल की घोषणा की। आपातकाल का अन्तराल समाप्त होने के बाद भी चित्र स्पष्ट नही हुआ। जनता सरकार का जीवन केवल दो वर्ष का रहा। चीन और जापान यदि अपनी विदेश-नीति और आर्थिक जरूरतो के दबाव मे अफ्रो-एशियाई बिरादरी से अलग हुए थे तो भारत आन्तरिक राजनीतिक घटना-क्रम के कारण एकान्तवासी हुआ। इण्डोनेशिया और मिस्र (अफ्रो-एशियाई समूह के अन्य दो प्रमुख राष्ट्र) ऐसे ही कारणो से अफ्रो-एशियाई बिरादरी का नेतृत्व सम्भालने मे असमर्थ थे। भारत के अतिरिक्त पडौसी पाकिस्तान के लिए भी ये वर्ष दुरुह रहे। वहा जनतान्त्रिक प्रयोग की असफलता के बाद सैनिक तानाशाही ने अपनी जडें फिर से जमा लीं। 1975 मे बगलादेश मे मुजीब की हत्या के बाद लगभग पूरा दक्षिण एशिया अप्रत्याशित ढग से सकटग्रस्त हो गया। इस तरह न केवल दो सबसे बडी आबादी वाले देश (भारत व चीन), बल्कि प्रमुख

आर्थिक शक्ति (जापान) भी अफ्रो-एशियाई घटनाक्रम को दिशा देने में असमर्थ थी।

5. ओपेक की असफलता (Failure of the OPEC)—तेल-उत्पादक अरब राष्ट्र विषमता वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बदलने की बातें तो करते रहे परन्तु स्वयं उन्होंने अपने यहाँ किसी भी रचनात्मक पहल की जरूरत महसूस नहीं की। विभिन्न शासक या सरकारें अपनी स्थिति निरापद रखने के लिए पश्चिमी हितों से समझौते करने को विवश हुए। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा विनिमय की जटिलता को समझने में असमर्थ होने के कारण ईरान के शाह जैसे चतुर लोग भी पश्चिमी बैंकरों के शिकंजे में फँस गये। पेट्रो डालर की पूँजी का लाभ पश्चिमी उद्योगपतियों को ही मिला। इस तरह तेल की बढ़ी कीमतों का जमा-खर्च बराबर ही रहा। पहले एशियाई, फिर अफ्रीकी राष्ट्रों के उदय ने अफ्रो-एशियाई एकता को बल दिया था। जब तक यह वेग धीमा पड़ा, अरब राष्ट्रों का आविर्भाव हुआ। इनकी राजनयिक सक्रियता शिथिल होने का संयोग अन्तर्राष्ट्रीय सकटों में वृद्धि के साथ हुआ।

6. अन्तर्राष्ट्रीय संकटों में वृद्धि (Increase in International Crises)—1975 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सकटों में निरन्तर वृद्धि हुई है। कम्पुचिया में वियतनामी हस्तक्षेप और अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप ऐसी घटनाएँ है, जिन्होंने अफ्रो-एशियाई देशों को बुरी तरह विभाजित किया। यही स्थिति ईरान-ईराक सघर्ष (1980) और कुवैत पर इराकी कब्जे के मसले (1990) तथा अमरीका एवं अन्य राष्ट्रों द्वारा 1991 में उसके सामने के हस्तक्षेप पर भी लागू होती है। जिस तरह एकता में शान्ति है, उसी तरह विभाजन दुर्बल बनाने वाला ही हो सकता है। इस प्रकार पिछले दशक के घटनाक्रम ने अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों के अभ्युदय को एक बड़ी सीमा तक बेअसर किया है।

उपरोक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि पिछले चार दशक में अफ्रो-एशियाई देशों की अनेक संयुक्त सफलताएँ रही है। परन्तु वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन इसी निष्कर्ष तक पहुँचाता है कि सभी सम्भावनाओं को सिद्ध नहीं किया जा सका। आज बदली परिस्थितियों में इनमे अनेक सम्भावनाएँ शेष भी नही रहीं। औपनिवेशिक काल मे जिस तरह का संघर्षशील अफ्रो-एशियाई भाईचारा सहज था, आज उसकी कल्पना करना कठिन है। स्वतन्त्र राष्ट्रों मे हितों का टकराव और मतभेद स्वाभाविक भी हैं। आज अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों का अभ्युदय एक सुखद स्मृति व आदर्श अवधारणा ही है। फिर भी, यदि यह हमें घातक फूट से बचाती है तो इसे उपयोगी समझा जाना चाहिए।

लातीनी अमरीकी देशों का अभ्युदय
(Rise of Latin American Countries)

जिस महाद्वीप को लातीनी अमरीकी महाद्वीप कहा जाता है, वह मोटे तौर पर विस्तृत दक्षिण अमरीकी भू-भाग ही है। इस विशेष नामकरण (लातीनी अमरीका) का अभिप्राय उन देशों को अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण बतलाना है, जो औपनिवेशिक काल में लातीनी यूरोपीय देशों (स्पेन और पुर्तगाल) के प्रभाव मे रहे। एक हद तक यह सही भी है। इस प्रदेश मे इन देशों का नाता उसी वक्त से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहा, जब यूरोप के देश अन्धकार के युग से उबर रहे थे और समुद्री, जहाजरानी तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से औपनिवेशिक विस्तार व साम्राज्यवादी

अभियान पूरे उत्साह के साथ मार्ग जा रहे थे। भू-मण्डल की गोलाई इस दौर में प्रमाणित हुई और पृथ्वी की परिक्रमा भी तभी सम्पन्न हुई। मेगलन, कोलम्बस, वास्कोडिगामा के नाम आज किसके लिए अपरिचित रह गये हैं? दुर्लभ मसालों और सोने की खोज में दुस्साहसिक अन्वेषकों और नौसैनिकों की कहानी बड़ी रोमांचक है। इतिहास का यह चरण 'कनक्वास्टीडोर' (औपनिवेशिक विजेता) प्रकरण के नाम से जाना जाता है। इसके विस्तार में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं, तथापि उन विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाया जाना जरूरी है, जिनका प्रभाव समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर स्पष्ट देखा जा सकता है।

लातीनी अमरीकी क्षेत्र में बीस देश हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—ब्राजील, अर्जेन्टीना, उरूग्वे, पेराग्वे, मैक्सिको (सेंट्रल अमरीका), ग्वातेमाला, होंडुरास, अल साल्वाडोर, निकारागुआ, कोस्टा रीका, पनामा, चिली, बोलीविया, पेरु, इक्वेडोर, कोलम्बिया, वेनेजुएला, डोमिनिकन रिपब्लिक, हैती और क्यूबा। दक्षिण अमरीका के इन देशों में भले ही चीन, भारत और मिस्र जैसी सहस्रों वर्ष पुरानी सांस्कृतिक परम्परा के चिन्ह नहीं मिलते, तथापि इनकी स्थिति अफ्रीका और एशिया के अनेक अन्य देशों से काफी भिन्न है। मैक्सिको, चिली, पेरू, अर्जेन्टीना, और ब्राजील में 'माया', 'इंका', 'अजटेक' आदि 'इण्डियन' जनजातियों ने सभ्यता के उत्कृष्ट शिखर छू लिये थे। इसका प्रमाण दैत्याकार पिरामिडों और माचू-पिच्चू जैसे विस्मृत भग्नावशेषों में मिलता है। इतिहासकारों का मानना है कि कृषि, पशु-पालन, खगोल विद्या, धातु विज्ञान, औषधि और भवन-निर्माण कला का बहुत अच्छा ज्ञान इन जनजातियों को था।

यूरोपीय शक्तियों के हाथों पराजित होने के बाद इन आदिवासियों की 'जीवनी शक्ति' (Vitality) का लगभग पूरी तरह ह्रास हो गया था और वे क्रमशः अपने अतीत के गौरव से पूरी तरह कट गये। औपनिवेशिक काल में यूरोपीय आप्रवासियों, अफ्रीकी दासों तथा अरब-एशियाई व्यापारियों के जातीय अन्तर-मिश्रण से आज लातीनी अमरीकी जनसंख्या का अधिकांश हिस्सा वर्ण संकर (मेस्तीजो) का है। इनमें से अधिकांश लातीनी देशों के अनुसरण में, रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इतनी आसानी से इस सम्प्रदाय का अमरीकी भूमि पर प्रत्यारोपण शायद इसीलिए हो सका कि आदिवासियों की मानसिकता, संगठित धर्मसत्ता के लिए तैयार थी और मूलतः अनुष्ठान प्रेमी थी। धर्म और राज्य का नाता इनके लिए अपरिचित नहीं था। इसी तरह औपनिवेशिक काल के पहले राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए हिंसा का प्रयोग और समाज का सामंती आधार पर वर्गभेद इन देशों के परिवेश के अभिन्न अंग रहे।

एक बहुत बड़ी सीमा तक लातीनी अमरीका की भौगोलिक स्थिति उसके ऐतिहासिक और राजनीतिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है। पूर्व में अटलांटिक महासागर और पश्चिम में प्रशान्त महासागर इसे यूरोप और एशिया से अलग करते हैं। हजारों मील दूर फैली यह जलराशि एक ऐसी बाधा प्रस्तुत करती है, जिसे आसानी से लांघा नहीं जा सकता। इसके रहते इस प्रदेश की विपुल प्राकृतिक सम्पदा का दोहन और इसके साथ लाभप्रद व्यापार औरों के लिए आसानी से सम्भव नहीं। इतना ही नहीं स्वयं अमाजोन के घने जंगल, एन्डीज पर्वत शृंखला, दलदल, वेगवती नदियाँ और भूतल की दुर्गमता इस महाद्वीप के देशों को

एक-दूसरे से अलग-थलग करते हैं। कुल मिलाकर लातीनी अमरीका चाहे-अनचाहे अपने उत्तरी पड़ौसी के साथ ही घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रख सकता है।

यो तो अनेक लातीनी अमरीकी देशों ने ऐतिहासिक 'क्रान्तियों' द्वारा औपनिवेशिक प्रभुत्व से मुक्ति 19वी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही प्राप्त कर ली थी। परन्तु उनकी स्वाधीनता उत्तरी अमरीका में किसी बड़ी शक्ति के संगठन और उदय तक ही निरापद रह सकती थी। 19वीं सदी के पहले चरण में मुनरो सिद्धान्त (Doctrine) का प्रतिपादन इस बात को प्रमाणित करता है। तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति मुनरो का मानना था कि यह सारा प्रदेश संयुक्त राज्य अमरीका की विशेष रुचि (प्रभाव) का क्षेत्र है और वह इसमें किसी यूरोपीय शक्ति का हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं कर सकता। संचार और यातायात के तत्कालीन साधनो को देखते हुए कोई भी यूरोपीय शक्ति इस चुनौती को नकारने की स्थिति मे नही थी। जब कभी अदूरदर्शी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ने ऐसा करने की चेष्टा की भी तो उसे असफलता का वरण करना पड़ा (जैसे मैक्सिको में राजकुमार मैक्समिलन को समर्थन देने की नेपोलियन तृतीय की चेष्टा)। कालक्रम मे आर्थिक हितो के संयोग तथा संयुक्त राज्य अमरीका की राजनीतिक व सैनिक छत्रछाया के आकर्षण व प्रभाव के कारण ये सभी दक्षिण अमरीकी देश शेष संसार से कट-छट गये और उनके सन्दर्भ मे स्वेच्छा से एकान्तवासी (Isolationist) बनते गये। यह स्थिति कमोबेश दूसरे विश्व युद्ध तक बनी रही। कहने को ब्राजील, मैक्सिको, बोलीविया, अर्जेन्टीना आदि मे क्रान्तियाँ होती रहीं, परन्तु इन्हें सैनिक बगावत कहना कहीं अधिक सटीक होगा। इसमें अधिकांश सरकारें कुलीनतन्त्र द्वारा समर्थित सैनिक तानाशाहियाँ थी, जिनके लिए एक विशेष शब्द जुंटा (Junta) गढ़ा गया है। संयुक्त राज्य अमरीका के सामरिक और व्यावसायिक हितो को पुष्ट करने का आश्वासन देकर ये शासक और न्यस्त स्वार्थ स्वदेश मे अपने को दशकों तक निरापद रख सके। इन वर्षों मे लातीनी अमरीकी देशो के शिक्षित प्रवर वर्ग का सांस्कृतिक रुझान अपने भूतपूर्व औपनिवेशिक महाप्रभुओं की ओर ही लगा रहा। इस स्थिति में अफ्रो-एशियाई घटनाक्रम से उनका अपरिचित और अलग रहना स्वाभाविक था। द्वितीय विश्व युद्ध एव उसके अवसान के बाद शीत युद्ध के आरम्भ ने इस स्थिति को नाटकीय ढग से बदला।

सबसे पहला महत्त्वपूर्ण परिवर्तन क्यूबा में हुआ। वहाँ बातीस्ता की सरकार भ्रष्टाचार के कारण कुख्यात थी। क्यूबा की राजधानी हवाना समृद्ध अमरीकियो की ऐशगाह था। यूनाइटेड फ्रूट कम्पनी के साथ क्यूबाई बागान मालिकों के समझौते थे। इन कुलीन भूपतियों के अतिरिक्त क्यूबाई जनसाधारण की दशा बहुत जर्जर थी। क्यूबा द्वीप अमरीकी राज्य फ्लोरिडा के इतना निकट था कि इसे अमरीका का ही उपनिवेश समझा जाता था।

उत्पीड़क शासकों के विरुद्ध मध्यम वर्ग मे बढ रहा असन्तोष निरन्तर फैलता गया। मध्यमवर्गीय जनता ने मार्क्सवाद के प्रभाव में तानाशाही से मुक्त होने का संकल्प किया। इनमें युवा फिदेल कास्त्रो और अर्नेस्टो चे गेवेरा प्रमुख थे। ये लोग जानते थे कि पारम्परिक सैन्य शक्ति मे वे कभी भी अपने विपक्षियो का मुकाबला नही कर सकते। अतएव उन्होंने छापामार (Guerrilla) रणनीति अपनायी। बहुत कम सहयोगियों को साथ लेकर फिदेल कास्त्रो ने इस रण का सचालन किया और 1959 में बातीस्ता को अपदस्थ किया। यह घटना नाटकीय ही नही, बल्कि

ऐतिहासिक भी थी।

भले ही इस समय अमरीका में 'युवा आदर्शवादी' राष्ट्रपति कैनेडी शासनारूढ़ थे, परन्तु उनका प्रशासन भी शीत युद्ध की कलेश वाली मानसिकता से मुक्त न था। उन्हें लगता था कि आज क्यूबा में तो कल शेष लातीनी अमरीकी देशों में 'लाल लहर' फैल जायेगी। फिदेल कास्त्रो की सरकार को कमजोर करने और गिराने का हर सम्भव प्रयत्न किया गया। विद्वानों का यहाँ तक मानना है कि यदि अमरीका ने क्यूबा की आर्थिक नाकेबन्दी नहीं की होती तो शायद फिदेल कास्त्रो को सोवियत संघ की शरण में जाने की विवशता नहीं होती। अमरीकी असमर्थता आगामी महीनों में और भी क्लेशदायक ढंग से उजागर हुई। सी० आई० ए० (C I A) की षड्यन्त्रकारी नादानी और अदूरदर्शी सलाह के कारण कैनेडी को 'बे ऑफ पिग्ज' में प्रवासी क्यूबाई भाड़े के सैनिकों के माध्यम से हस्तक्षेप के प्रयत्न में मुँह की खानी पड़ी और यह स्वीकार करना पड़ा कि क्यूबा अन्तर्राष्ट्रीय विधि में ही नहीं, वास्तव में सम्प्रभु स्वतन्त्र राष्ट्र है। इस घटना का बहुत प्रेरणादायक असर अन्य लातीनी अमरीकी देशों पर भी हुआ, जो अब तक अपने को संयुक्त राज्य अमरीका के अधीन और उसका अनुचर समझते थे। इस समय तक जब भी लातीनी अमरीकी क्रान्ति के नायकों की विरुदावली का गायन न होता था तो 'सीमोन दी बुलीवार' तक सदियों पीछे लौटना पड़ता था या बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के मिथक गढ़ने पड़ते थे। युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थ में उनकी विश्वसनीयता बहुत कम थी। क्यूबा और फिदेल कास्त्रो के उदाहरण से न केवल अन्य लातीनी अमरीकी देशों को अपनी परनिर्भरता-पराधीनता का बोध हुआ, बल्कि यह प्रोत्साहन भी मिला कि यथास्थिति को बदला जा सकता है। क्यूबा में क्रान्ति की सफलता के बाद औपनिवेशिक सरकार कमजोर पड़ा और समाजवादी देशों के साथ 'नवोदित' राष्ट्रों के सम्बन्ध अपेक्षाकृत घनिष्ठ हुए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समाजवादी रुझान वाले गुट-निरपेक्ष क्यूबा के अभ्युदय के पहले किसी ने भी लगभग 150 वर्षों से प्रतिपादित मुनरो सिद्धान्त (Munroe Doctrine) को चुनौती नहीं दी। इसका महत्व अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। ये सारी बातें सिर्फ सैद्धान्तिक नहीं थीं। फिदेल कास्त्रो के सहयोगी चे गेवेरा की क्रान्ति के निर्यात में पूरी आस्था थी और उन्होंने क्यूबा के बाद बोलीविया में इस प्रयोग को दोहराने का प्रयत्न किया। छह-सात वर्ष के लम्बे रण के बाद उन्हें अपनी बलि देनी पड़ी। परन्तु इस बात को नहीं नकारा जा सकता कि पूरे दक्षिण अमरीकी महाद्वीप को अपनी प्रखर क्रान्तिकारिता से चे गेवेरा ने गरमा दिया। 1960 का दशक अमरीका के लिए बहुविध चिन्ता पैदा करने वाला रहा।

जिन देशों में क्यूबाई-बोलीवियाई नमूने की छापामार रणनीति नहीं भी अपनायी गयी, वहाँ अमरीका और पश्चिमी पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति असन्तोष व असहमति का स्वर मुखर हुआ। पनामा में पनामा नहर के स्वामित्व एवं नियन्त्रण को लेकर राजनयिक सरगर्मियाँ बढ़ीं तो मैक्सिको में इस भावना ने सर उठाया कि बड़े समृद्ध पड़ोसी अमरीका से हर वक्त हर विषय पर सहमत होना आवश्यक नहीं। वेनेजुएला अब तक अपनी तेल सम्पदा के आधार पर अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होने लगा था और उसके मे नागरिक छापामारी सरदर्द बनने लगी। पूरे दक्षिण अमरीकी महाद्वीप में कास्त्रो और चे गेवेरा सम्मानित प्रतीक पुरुष बन गये।

लातीनी अमरीकी देशों में राजनीतिक चेतना के आविर्भाव और उसके प्रसार में रोमन कैथोलिक पादरियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें अधिकांश युवा पादरी वामपंथी रुझान वाले थे और उनके अनुसार ईसू मसीह का धर्म किसी भी प्रकार की विषमता का समर्थन नहीं कर सकता। उन्होंने अपने चर्च में असन्तुष्ट तत्त्वों को सहर्ष शरण दी। इसने अमरीका को और भी पेचीदगी में डाल दिया क्योंकि अब तक वह साम्यवाद के विरुद्ध ईश्वर को खड़ा कर अपने पक्ष में एक खास तरह का अन्धविश्वास फैलाता रहा था। चर्च के साथ-साथ लातीनी अमरीकी विद्वानों की नई पीढ़ी ने इन देशों के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण रचनात्मक योगदान दिया। पाउलो फ्रेरे जैसे विद्वानों ने 'Pedagogy of the Oppressed' (उत्पीड़ितों की दीक्षा) जैसी जन-चेतना को जगाने वाली पैनी राजनीतिक धार वाली पुस्तकें लिखीं। इवान इलिच जैसों ने संगठन व जन-संचालन के नए तरीके सुझाये। आंद्रे गुंदर फ्रांक और राउल प्रेबरिश जैसे विद्वानों ने 'निर्भरता सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। यह सारा शोध एवं प्रसार न केवल लातीनी अमरीकी यथार्थ को प्रभावशाली ढंग से विश्लेषित करने वाला था, बल्कि तीसरी दुनिया के अन्य विकासशील देशों के साथ उनकी आत्मीयता को भी उद्घाटित करने वाला था। इस दृष्टि से 1960 वाले दशक को ही वास्तव में लातीनी अमरीकी अभ्युदय का काल माना जाना चाहिये क्योंकि पहली बार अमरीकी महाद्वीप से इतर शेष विश्व के सन्दर्भ में उसकी अस्मिता प्रकट हुई।

चिली जैसे देशों में आई० टी० टी० और अनकोंडा कार्पोरेशन जैसे अमरीकी बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रति व्यापक जन-आक्रोश फैला। आगामी वर्षों में इसके महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम सामने आये। 1970 के दशक में जब संसदीय प्रणाली से इस देश में राष्ट्रपति अयांदे ने सरकार बनायी तो यह बात भलीभाँति प्रमाणित हुई कि लातीनी अमरीकी देशों में परिवर्तन की दशा अमरीका द्वारा पोषित श्रेष्ठि वर्ग (Elite) से हटकर जन-साधारण के हाथों में आने लगी है।

इन्हीं वर्षों में अनेक लातीनी अमरीकी साहित्यकार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुए। चिली में पाबलो नरूदा, अर्जेन्टीना में होर्जे लुई बोर्जे, कोलम्बिया में गाब्रियल मार्क्वेज तथा क्यूबा में ओक्टोवियो पाज इस सिलसिले में उल्लेखनीय नाम हैं। इन लोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि विचारों की दुनिया में अपनी पहचान बनाने के लिए लातीनी अमरीका को उत्तर अमरीकी मुहावरे की कोई जरूरत नहीं।

1950 के दशक में जब भी संयुक्त राज्य अमरीका लातीनी अमरीकी देशों को अनुशासित करना चाहता, या उनके प्रति अपनी नाराजगी दिखाना चाहता तो वह सत्ता के नग्न प्रयोग से नहीं हिचकता था। ग्वातेमाला तथा डोमिनिकन गणराज्य में बारम्बार पनडुब्बी सैनिकों की टुकड़ियों द्वारा हस्तक्षेप किया गया। 1960 के दशक में जब अमरीका वियतनाम में फंसा था, तब ऐसा आचरण कम हुआ और इसने लातीनी अमरीकी देशों को स्वाधीन बनने में निःसन्देह ही सहायता दी।

परन्तु इससे यह समझना गलत होगा कि अमरीका ने इस प्रवृत्ति का विरोध नहीं किया। ब्राजील और अर्जेन्टीना जैसे विशालकाय देशों में अमरीकी बहुराष्ट्रीय निगमों का वर्चस्व बना रहा और अमरीकी पक्षधर दक्षिणपंथी सैनिक सरकारें भी

निरापद बनी रही। इन राज्यों में अमरीका के प्रति असन्तोष दूसरे चरण में और अगले दशक में प्रस्फुटित हुआ।

जब अमरीका को यह महसूस होने लगा कि सारे अमरीकी राज्य आँख मूँदकर उसका अनुसरण करने को तत्पर नहीं हैं तो उसने बड़े पैमाने पर समर्थन खरीदना शुरू किया। साथ सैनिक हस्तक्षेप की अपेक्षा आर्थिक पुनर्निर्माण के नाम पर भेजे गये सलाहकारों ने घुसपैठ का काम शुरू किया। अमरीकी विकास एजेन्सी सांस्कृतिक केन्द्र, बैंक और प्राध्यापक सफल राजनय के माध्यम बने। अपनी उपभोक्ता जीवन यापन शैली को ललचाने वाले ढंग से प्रस्तुत कर अमरीका ने अपना हित साधन आरम्भ किया। लाठी दिखाने का स्थान कोको कोला साम्राज्यवाद और 'डालर राजनय' ने ले लिया। थियोडोर रूजवेल्ट की मुद्रा चौधरी-कोतवाल जैसी थी तो फ्रेंकलिन रूजवेल्ट ने अपने को अच्छे पड़ोसी के रूप में पेश किया। आइजनहॉवर ने मायनरी का मुखौटा सामने रखा तो राष्ट्रपति कैनेडी ने प्रगति के लिए मैत्री का स्वर उभारा। अमरीकी विदेश नीति के ये विविध चरण 'बिग स्टिक', 'डालर डिप्लोमेसी', 'गुड नेबर पालिसी', 'गुड पाटनर' और 'एलायन्स फार पाटनरशिप' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यों अमरीकी राज्यों का संगठन द्वितीय विश्वयुद्ध के तत्काल बाद बना लिया गया परन्तु उसकी सक्रियता 1960 के दशक के मध्य में ही देखने को मिली।

मुहावरे में भले ही निरन्तर परिवर्तन होता रहा हो किन्तु वस्तुस्थिति में कोई फेर-बदल नहीं हुआ। लातीनी अमरीकी देशों में राजनीतिक चेतना के विकास के साथ इस बात का अहसास क्रमशः बढ़ता ही गया है कि उत्तरी पड़ोसी (अमरीका) एक विशालकाय दैत्य है जिसके साथ समानता का व्यवहार कठिन है। उसके सामने बाकी देश बौने ही रह सकते हैं। अमरीकी विदेश विभाग में उदारवादी तत्व लातीनी अमरीकी देशों के प्रति नीति परिवर्तन सुझाते रहे परन्तु इसमें उन्हें खास सफलता नहीं मिली। जान कैनेथ गैलब्रेथ और एडवर्ड कैनेडी जैसे लोग अमरीकी नीतियों की कड़ी आलोचना करते रहे परन्तु इनकी अपेक्षा सीनेट और जन-संचार माध्यमों में हेनरी किसिंजर और जीन कर्क पैट्रिक जैसे कट्टरपंथी तत्व ही हावी रहे हैं। इनकी षड्यन्त्रकारी गतिविधियों ने बहुत बड़ी सीमा तक लातीनी अमरीका के आविर्भाव को निरस्त किया है।

चिली में राष्ट्रपति अयान्दे को ज्यादा दिन तक सत्तारूढ़ नहीं रहने दिया गया। जब यह स्पष्ट हो गया कि जनतान्त्रिक संसदीय प्रणाली से उन्हें अपदस्थ नहीं किया जा सकता तो अमरीकी खुफिया संगठन (सी आई ए) द्वारा प्रेरित प्रोत्साहित हड़तालों के बाद तख्तापलट द्वारा सरकार गिरायी गयी। तब से उत्पीड़क सैनिक तानाशाह पीनोशे वहाँ गद्दीनशीन है। मानव अधिकारों के हनन के लिए चिली आज दुनिया के सबसे बदनाम देशों में एक है। इसी तरह फाकलैण्ड युद्ध के बाद अर्जेन्टीना में सैनिक सरकार गिरने के पहले कमोबेश यही स्थिति थी। जब राष्ट्रपति कार्टर ने अपने कार्यकाल में पूर्व पश्चिम संवाद में मानवाधिकारों का मसला उठाया तो उनसे पूछा गया कि वे इस सन्दर्भ में लातीनी अमरीका के विषय में अपनी आँखें क्यों मूँदे रहते हैं?

फाकलैण्ड युद्ध के दौरान अमरीका और लातीनी अमरीकी देशों के बीच विशेष सम्बन्धों का भ्रम टूट गया। अमरीका के लिए सुदूर ब्रिटेन के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों

को अक्षत रखना कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण था। न केवल अर्जेन्टीना बल्कि अन्य देश भी यह सोचने को विवश हुए कि अपने मामरिक हितों की वेदी पर अमरीका उनमें से किसी भी देश के राष्ट्रीय हित कुर्बान कर सकता है। इस अनुभव के बाद अमरीकी राज्यों का संगठन और भी दुर्बल हुआ। 1980 के दशक में ब्राजील, अर्जेनटीना और मैक्सिको जैसे बड़े देशों को अमरीकी विशेषज्ञों और बैंकों की सलाह के अनुसार आर्थिक विकास का मार्ग चुनने की बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। आज यह सब देश अन्तर्राष्ट्रीय अर्थजगत में सबसे बड़े कर्जदार है और इनका भविष्य एक तरह से गिरवी रखा जा चुका है। इस स्थिति ने राजनीतिक स्वाधीनता के भाव को बढ़ावा दिया है। बढ़ते असन्तोष का मुकाबला करने के लिए अमरीका को अच्छे पड़ोसी का नाटक छोड़कर फिर बल प्रयोग के लिए निर्लज्ज ढंग से तैयार होना पड़ा है। छोटे से देश ग्रेनेडा में असहमति न सह सकने के कारण उसे बल प्रयोग करना पड़ा। इसमें भले ही अमरीका को तात्कालिक सामरिक सफलता मिली, किन्तु वर्षों की उसकी राजनयिक कमाई मिट्टी में मिल गयी।

लातीनी अमरीका के अभ्युदय का एक और आयाम पिछले कुछ वर्षों में मध्य अमरीकी देशों (Central American Countries) में उद्घाटित हुआ है। निकारागुआ और अल सल्वाडोर में छापामारी के बाद व्यापक जन-समर्थन प्राप्त मार्क्सवादी-वामपंथी रुझान वाली सरकारों का गठन हुआ है। इन दोनों जगहों में वियतनामी अनुभव के बाद बड़े पैमाने पर सैनिक हस्तक्षेप के लिए अमरीका तैयार नहीं, और न ही वह परिवर्तन स्वीकार कराने की स्थिति में है। अमरीका का रीगन प्रशासन तमाम प्रतिक्रियावादी तत्त्वों (जैसे कोंतरा समूह) को हर सम्भव सहायता और प्रोत्साहन देता रहा। इस काम के लिए उसने संवैधानिक प्रावधानों और सारी संसदीय परम्पराओं को ताक में रखा। सीनेट के वीटो के बावजूद रीगन ने अवैध ढंग से इन प्रतिरोधियों को अमरीकी सैनिक सहायता देने की अनुमति दी। इन तक हथियार और पैसा पहुँचाने के लिए उन्होंने जिन साधनों को अपनाया, उसमें सीमावर्ती राज्यों में मादक द्रव्यों की तस्करी और अपराधपूर्ण गतिविधियों को बड़े पैमाने पर बढ़ावा देना शामिल है। इस अदूरदर्शिता के खतरनाक परिणाम सामने आने लगे हैं।

(NATO North Atlantic Treaty Organisation) और वारसा पैक्ट, राज्य थे—संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ, तथा व्यक्ति थे—जोसेफ स्टालिन और जॉन फास्टर डलेस।'

मेनन की उपरोक्त धारणा की पुष्टि इवान लुआर्ड ने भी अपनी पुस्तक मे की है। इवान लुआर्ड ने अपने द्वारा सम्पादित पुस्तक 'The Cold War' की भूमिका मे कहा है—'शीत युद्ध वास्तव मे इसकी सुनिश्चित परिभाषा के अभाव मे विलक्षण है। शायद यह तीव्र राजनीतिक, आर्थिक तथा वैचारिक प्रतियोगिता के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है, जो राज्यो के बीच सैनिक संघर्ष के दायरे के नीचे आता है। यह शब्द सम्भवत अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय मे ऐसे किसी भी तीव्र संघर्ष के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है किन्तु साधारण प्रचलन की पूर्वधारणा के अनुसार दो पक्ष माने गये हैं—पश्चिमी शक्तियाँ तथा राजनीतिक दल एक तरफ और साम्यवादी शक्तियाँ तथा राजनीतिक दल दूसरी तरफ।'

शीत युद्ध की परिभाषा एव उद्भव के बारे मे फ्रेड हेलीडे ने अपनी पुस्तक 'The Making of the Second Cold War' मे एक महत्वपूर्ण विचारोत्तेजक टिप्पणी की है। लेखक का मानना है कि 'शीत युद्ध' शब्द का प्रयोग 1946 से 1953 के दौर मे तथा 1979 के बाद से अनिवार्यत दो अर्थों मे एक साथ किया जा रहा है—(अ) दो महाशक्तियो या दो खेमो के बीच परस्पर सम्बन्ध जमे हुए तुषार-ग्रस्त हैं तथा (ब) संघर्ष ने विस्फोटक—गर्म रूप नही लिया। असल मे दोनो स्थितियाँ एक साथ चलती हैं और शीत युद्ध का अन्तर 1940 के दशक के मित्र राष्ट्रो के संयुक्त मोर्चे तथा 1970 के दशक के तनाव-शैथिल्य के युग से किया जा सकता है।

फ्रेड हेलीडे के अनुसार 'पहले शीत युद्ध' की छह प्रमुख पहचानें (प्रवृत्तियाँ) दृष्टिगोचर होती है, जिनके आधार पर किसी और शीत युद्धकालीन स्थिति को कसौटी पर कसा जा सकता है। ये छह प्रवृत्तियाँ निम्नांकित है—

(1) सैनिक शस्त्रीकरण मे वृद्धि—विशेषकर महाशक्तियो के पास परमाणु अस्त्रो के भण्डार मे,

(2) एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार-अभियान मे तेजी (यह ध्यान मे रखने लायक है कि यह प्रचार (एक दूसरे की निन्दा-भर्त्सना आदि) सिर्फ नेतृत्व तक सीमित नही रहता बल्कि पूरी व्यवस्था के दोषो को अपना लक्ष्य बनाता है),

(3) महाशक्तियो के बीच सफल व सार्थक वार्ताओ-परामर्श का अभाव,

(4) पूँजीवाद एव साम्यवाद के बीच संघर्ष के कारण तीसरी दुनिया के अनेक देशो मे क्रान्तिकारी घटनाक्रमो का सूत्रपात,

(5) इन सबके परिणामस्वरूप दोनो खेमो मे एक-दूसरे के सन्धि मित्रो पर कड़ा अनुशासन, और

(6) पूर्व और पश्चिम के बीच चले आ रहे तनावो-विवादो का कहीं अधिक जोखिमग्रस्त हो जाना।

फ्रेड हलीडे आगे कहते है—शीत युद्ध की सबसे बडी पहचान पर्यवेक्षको को बदे हुए अन्तर्राष्ट्रीय सकट की प्रतीति है। दूसरे शब्दो मे, शीत युद्ध की सबसे बडी विशेषता एक खास तरह की मानसिक दशा है। नए शीत युद्ध के सन्दर्भ मे भी यह बात सटीक बैठती है। ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार 'शीत युद्ध की परिभाषा यही है कि बिना प्रकट हिंसा के धमकी, अवरोध और प्रचार के माध्यम से

वैर का निर्वाह।'[1]

उपरोक्त परिभाषाओं में से किसी एक को भी शीत युद्ध का अर्थ एवं प्रकृति को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने वाली नहीं माना जा सकता। इस कारण शीत युद्ध के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए उसकी प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख अत्यन्त समीचीन होगा।

शीत युद्ध की प्रमुख विशेषताएँ
(Salient Features of Cold War)

शीत युद्ध एक ऐसी स्थिति है जिसे मूलतः 'उष्ण शान्ति' कहा जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में न तो 'पूर्ण रूप से शान्ति' रहती है और न ही 'वास्तविक युद्ध' होता है, बल्कि शान्ति एवं युद्ध के बीच की अस्थिर स्थिति बनी रहती है। हालांकि वास्तविक युद्ध नहीं होता, किन्तु यह स्थिति युद्ध की प्रथम सीढ़ी है जिसमें युद्ध के वातावरण का निर्माण किया जाता है या होता रहता है। इस दौरान महाशक्तियाँ एक-दूसरे से सशंकित रहती हैं, जिससे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण ही नहीं, मानव-समाज को कुछ क्षणों में समाप्त कर देने वाले घातक परमाणु प्रक्षेपास्त्रों के निर्माण की होड़ भी करती हैं। वे समाचार-पत्रों, रेडियो, टेलीविजन आदि जन प्रचार के साधनों के ज़रिए एक-दूसरे की आलोचना-प्रत्यालोचना करती रहती हैं। यह ऐसी स्थिति है, जिसमें दोनों पक्ष परस्पर शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध कायम रखते हुए भी परस्पर शत्रुभाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध को छोड़कर अन्य समस्त उपायों का सहारा लेकर एक-दूसरे की स्थिति दुर्बल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह कूटनीतिक दाव पेंचों से लड़ा जाने वाला युद्ध है जो कभी भी 'वास्तविक युद्ध' (Real War) का विनाशकारी मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

शीत युद्ध का उद्भव
(Origin of Cold War)

शीत युद्ध का उद्भव कैसे हुआ, और यह कब शुरू हुआ? कुछ लोग इसका उद्भव द्वितीय विश्व युद्ध के तत्काल बाद मानते हैं तो कुछ अन्य विशेषज्ञ इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री विन्सटन चर्चिल के 5 मार्च, 1946 को दिये गये फुल्टन भाषण से, जिसमें उन्होंने कहा था कि 'हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की स्थापना रोकनी चाहिए। स्वतन्त्रता की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन स्थापित किया जाना चाहिए। साम्यवाद के प्रसार को सीमित रखने के लिए हर सम्भव नैतिक-अनैतिक उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिए।' असल में शीत युद्ध के उद्भव के बारे में किसी निश्चित दिन अथवा समय को बताना असम्भव है, क्योंकि यह युद्ध एक लम्बी प्रक्रिया थी, जिसके अन्तर्गत दो महाशक्तियों में आपसी हितों के टकराव से विभिन्न संकट भिन्न-भिन्न समय पर लगातार पैदा हुए, अर्थात् दोनों के बीच तनाव धीरे-धीरे बढ़ता गया और इसे ही शीत युद्ध कहा गया।

अमरीकी विद्वान हॉर्न तथा फ्रान्सीसी विद्वान आंद्रे फोन्तेन मानते हैं कि वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शीत युद्ध का आरम्भ 1945 से नहीं वरन् 1917

[1] Fred Halliday, *The Making of the Second Cold War* (London 1983).

में बोल्शेविक क्रान्ति के साथ हुआ जिससे राज्य शक्ति का नया स्वरूप और सामाजिक व आर्थिक विकास का वैकल्पिक कार्यक्रम सामने आया, जबकि शीत युद्ध के आविर्भाव के बारे में सोवियत विदेश नीति विषयक पुस्तकों—सन्दर्भ ग्रन्थों में एक भिन्न दृष्टिकोण देखने को मिलता है। प्रोग्रेस प्रकाशन, मास्को द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'The Road to Communism' में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बदले अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश का वैकल्पिक परिदृश्य प्रस्तुत किया गया है। 'आर्थिक, राजनीतिक एवं सैनिक साम्राज्यवाद का केन्द्र यूरोप से हटकर अमरीका चला गया। अमरीका का इजारेदार पूँजीवाद युद्ध में अर्जित मुनाफे के कारण पुष्ट हुआ। उसने शस्त्रों की होड़ को बढ़ावा दिया तथा पूँजी निवेश के अवसर, कच्चे माल और बाजार की तलाश में अमरीका ने एक नये तरह के औपनिवेशिक साम्राज्य का गठन किया और उसका उदय सबसे प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय शोषक के रूप में हुआ। इस पुस्तक में उन कारणों का विश्लेषण भी है, जिनसे सोवियत संघ और अमरीका का टकराव अनिवार्य हो गया। 'जर्मन फासीवाद और जापनी सैन्यवाद की दूसरे विश्व युद्ध में पराजय हुई। इसमें सोवियत संघ ने निर्णायक भूमिका निभायी और उन परिस्थितियों को जन्म दिया, जिनसे पूँजीवाद और यूरोप तथा एशिया के अनेक देशों में जमींदारों के आधिपत्य का उन्मूलन सम्भव बना।'

शीत युद्ध के कारण
(Causes of Cold War)

शीत युद्ध अनेक घटनाओं, कारणों, व भिन्न विचारधाराओं व राष्ट्र हितों का परिणाम था। वैसे इसका इतिहास 1920 और 1930 के दशक से कुरेदा जा सकता है, किन्तु उसका विश्व राजनीति में इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय समाज का दो खेमों में विभाजित होना आरम्भ हो गया। इस बात को कोई भी नहीं नकार सकता कि दो विश्व युद्धों के बीच के अन्तराल में यूरोप का ह्रास ही शीत युद्ध का प्रमुख कारण रहा। इस बारे में निरापद नहीं बैठे रहा जा सकता था कि यदि यूरोप की राजनीतिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ तो शीत युद्ध का विस्फोट और भी सनसनीखेज ढंग से हो सकता है। जैसाकि केथरीन महान के शासनकाल में फ्रेडरिक ग्रीन ने भविष्यवाणी की थी कि दो विस्तारवादी साम्राज्य सारी दुनिया को आपस में बाँट लेंगे। महाशक्तियों के उदय के बाद यह बात और भी सटीक साबित होती है। अतएव पूर्व तथा पश्चिमी खेमों के बीच इस टकराव अर्थात् शीत युद्ध के लिए अनेक कारण जिम्मेदार रहे। ये कारण निम्नांकित तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—

(अ) सामान्य कारण अर्थात् जो दोनों में पाये जाते हैं,

(ब) अमरीका के विरुद्ध सोवियत संघ की शिकायतें, और

(स) सोवियत संघ के विरुद्ध अमरीका की शिकायतें। इनके बारे में विस्तृत विश्लेषण वांछनीय है।

(अ) सामान्य कारण

1 **विचारधाराओं का टकराव**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका और

सोवियत संघ के बीच वैचारिक मतभेद से तनाव पैदा हुआ। जहाँ एक तरफ पूंजीवादी अमरीका ने सोवियत साम्यवाद को स्वतन्त्रता और विश्व शान्ति का शत्रु बताते हुए रूसी प्रभाव का विस्तार रोकने का प्रयास किया और हंगरी जैसे पूर्व-यूरोपीय देश में राष्ट्रीय विद्रोह के आधार पर रूस को 'साम्राज्यवादी शक्ति' की सज्ञा दी, वही दूसरी तरफ सोवियत संघ ने अमरीका तथा पश्चिम यूरोपीय राष्ट्रों को उपनिवेशवादी एव उसका समर्थक घोषित करते हुए साम्यवाद को एशिया, अफ्रीका एवं लातीनी अमरीका के विकासशील देशों की गरीब जनता की भलाई के लिए रामबाण औषधि के रूप में प्रस्तुत किया। असल में दोनों पक्ष ससार मे अपनी-अपनी विचारधारा का प्रचार एव प्रसार कार्य कर रहे थे। इन्हीं दो विरोधी विचारधाराओ के टकराव मे शीत युद्ध बढ़ा।

2. विजित प्रदेशों पर प्रभुत्व की इच्छा—जैसाकि अक्सर होता है, कुछ राष्ट्र अपने किन्हीं सामान्य हितों के कारण प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों से लडते हैं। जब वे जीत जाते हैं, तो विजित प्रदेशों पर 'प्रभुत्व' को लेकर उनमे मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भी यही हुआ। विजित जर्मनी तथा इटली पर आधिपत्य को लेकर अमरीका तथा सोवियत सघ के बीच खींचतान आरम्भ हो गयी। एक तरफ अमरीका तथा उसके पश्चिमी साथी राष्ट्रों ने जर्मनी तथा इटली में उन्ही तत्वों को समर्थन देना शुरू किया, जिनके खिलाफ उन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध लडा था। दूसरी तरफ सोवियत सघ इन देशो मे साम्यवादी आन्दोलन को प्रोत्साहन दे रहा था। विजित देशो में अमरीका और रूस के इसी भिन्न राष्ट्रीय हित ने शीत युद्ध को बढ़ाया।

3. राष्ट्र-हितों का अन्तर—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब विश्व राजनीति में अमरीका और सोवियत सघ महाशक्तियों के रूप मे उभरे तो महाशक्तियों के नाते इनके राष्ट्र-हित भी भिन्न-भिन्न थे। अमरीका चाहता था कि साम्यवादी विचारधारा लुप्त हो जाये और विश्व के अन्य देश पूँजीवादी व्यवस्था अपनायें। उसका हित इसमे भी निहित था कि अन्य देशों में उसकी बहुराष्ट्रीय निगमे ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमा कर लायें। इन राष्ट्र-हितो की प्राप्ति के लिए उसके द्वारा अन्य देशो को अमरीकी समर्थक बनाना आवश्यक था। दूसरी तरफ सोवियत सघ विश्व के अन्य भागों मे पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड फेंक कर साम्यवादी क्रान्ति का बिगुल बजवाना चाहता था। जिस प्रकार अमरीका अपने समर्थक देशो का अगुआ बनना चाहता था, उसी प्रकार सोवियत संघ साम्यवादी देशों का नेतृत्व कर सारे ससार को साम्यवादी क्रान्ति के लाल रंग से रंगने का महत्वकांक्षी था। अतः दोनों महाशक्तियो के अन्य देशों में राष्ट्रीय हितों के टकराव से शीत युद्ध का सूत्रपात हुआ।

4. महाशक्तियों द्वारा शक्ति-संघर्ष की राजनीति—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित मार्गेन्थो ने सही कहा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति-संघर्ष की राजनीति है।' अर्थात् अमरीका और सोवियत सघ महाशक्ति तभी कहला सकते हैं, जब वे 'ज्यादा से ज्यादा शक्ति' अर्जित करें। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में यहाँ 'शक्ति' का तात्पर्य उनकी भौगोलिक स्थिति, आर्थिक दशा, सैनिक स्थिति, विश्व राजनीति को प्रभावित करने की क्षमता, नेतृत्व आदि से है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका तथा सोवियत सघ ने इसी शक्ति सघर्ष की राजनीति का सहारा लिया और 'शक्ति सन्तुलन', 'प्रभाव क्षेत्र', 'अधीनस्थ देश' आदि सिद्धान्तो को अपनाया।

शक्ति संघर्ष की इस राजनीति में दोनों महाशक्तियों का टकराव अवश्यम्भावी था और इसने शीत युद्ध को जन्म दिया।

5. **एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार अभियान**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका तथा सोवियत संघ एक दूसरे के विरुद्ध झूठे एवं घृणित प्रचार में सक्रिय हो गये। सोवियत संघ ने अमरीका को पूंजीवादी, साम्राज्यवादी, एवं उपनिवेशवादी आदि राजनीतिक गालियाँ देना शुरू किया, तो अमरीका ने अन्य देशों में सोवियत संघ द्वारा प्रचारित साम्यवाद की लाल क्रान्ति का खतरा बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया। दोनों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध ऐसे झूठे एवं घृणित प्रचार से उनके बीच शीत युद्ध का तनाव और उग्र हुआ।

(ब) अमरीका के विरुद्ध सोवियत संघ की शिकायतें

1. **द्वितीय मोर्चे का प्रश्न**—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब अमरीका और सोवियत संघ धुरी राष्ट्रों से लड़ रहे थे, तभी उनके बीच दूसरा मोर्चा खोलने पर मतभेद पैदा हो गये। इसने आगे चलकर उनके बीच अविश्वास को और बढ़ा दिया। जब हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी की सेना सोवियत संघ की भूमि में आक्रमण कर घुस गयी और जन-धन को नष्ट करने लगी तो स्टालिन ने मित्र-राष्ट्रों अमरीका तथा ब्रिटेन से अनुरोध किया कि वे पश्चिम यूरोप में हिटलर के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोल दें। स्टालिन चाहते थे कि यदि पश्चिम में मोर्चा खुल गया तो रूसी भूमि पर जर्मन सेना के जमाव एवं प्रहार में कमी आ जायगी, क्योंकि जर्मनी का ध्यान दो तरफ बँट जायेगा। किन्तु अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट एवं ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल, स्टालिन के इस अनुरोध को बारबार टालते रहे। इसके अलावा जब 1944 के प्रारम्भ में दूसरा मोर्चा खोलने की योजना बनने लगी तो चर्चिल ने यह योजना सामने रखी कि ब्रिटेन और अमरीका की सेना फ्रांस की तरफ से नहीं वरन् बाल्कन प्रायद्वीप से यूरोप में उत्तर की ओर बढ़े, ताकि सोवियत संघ की सेना पूर्वी यूरोप में आगे न बढ़ सके। रूजवेल्ट, चर्चिल की इस योजना से सहमत थे। ऐसी विलम्ब-भरी चाल से सोवियत संघ को अमरीकी मैत्री के प्रति शंका उत्पन्न हो गयी। बेली ने इस बारे में लिखा है कि 'दूसरा मोर्चा खोलने में पश्चिमी राष्ट्रों की इस विलम्ब-भरी नीति के कारण क्रेमलिन (सोवियत संघ) में यह सन्देह जड़ पकड़ गया कि पश्चिमी राष्ट्र, जो युद्ध के बाद एक शक्तिशाली सोवियत संघ की सम्भावनाओं से भयभीत हैं युद्ध के अखाड़े में कूदने से पूर्व रूस को पूर्ण आहत और शक्तिहीन देखना चाहते हैं। सोवियत इतिहासकार जी० देबोरिन ने इसी विश्लेषण को कमोबेश अन्य शब्दों में प्रकट करते हुए कहा है कि 'अमरीका और ब्रिटेन ने खूब सोच-समझकर तथा जानबूझकर यह देरी की, ताकि जर्मनी किसी तरह रूस की साम्यवादी व्यवस्था का काम तमाम कर दे।'

2. **अमरीका द्वारा परमाणु बम का रहस्य गुप्त रखना**—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब अमरीका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर परमाणु बम गिराये तो सोवियत संघ को इस पर अत्यन्त आश्चर्य हुआ, क्योंकि अमरीका ने उससे परमाणु बम होने का रहस्य उससे छिपाये रखा, जबकि ब्रिटेन और कनाडा को उसने यह बता दिया था। इससे अमरीका और सोवियत संघ की मित्रता अविश्वास में बदल गयी और दोनों में शीत युद्ध का मार्ग प्रशस्त हुआ।

3. रूस को मिलने वाली सहायता पर रोक—रूस उसकी क्षतिपूर्ति माँगों के विरोध के कारण अमरीका से पहले से ही नाराज था। 'लैंड लीज' अधिनियम के तहत सोवियत संघ को दी जाने वाली अमरीकी आंशिक सहायता से वह सन्तुष्ट नहीं था। किन्तु जब अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह आंशिक सहायता बन्द कर दी तो सोवियत संघ एकाएक बौखला गया। स्वाभाविक था कि यह घटना अमरीका तथा सोवियत संघ में चल रहे शीत युद्ध की तीव्रता और बढ़ाती।

4. पोलैण्ड एवं बाल्टिक देशों में रूस-विरोधी अमरीकी कदम—रूस का मानना था कि जब उसने पोलैण्ड व बाल्टिक देशों की अपनी भूतपूर्व भूमि पर अधिकार किया तो अमरीका को चाहिए था कि वह इन परिवर्तित स्थितियों को मान्यता देता। इसके विपरीत अमरीका ने ब्रिटेन के साथ मिलकर पोलैण्ड की लन्दन स्थित रूस विरोधी 'निर्वासित सरकार' (Government in Exile) को मान्यता प्रदान कर दी। इसके अतिरिक्त, 1939 में जब सोवियत संघ ने लेनिनग्राद की सुरक्षा के लिए जब फिनलैंड से भूमि का छोटा-सा टुकड़ा प्राप्त करना चाहा तो अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस जैसे पश्चिमी देशों ने ऐसे कदम उठाये जो कभी भी युद्ध भड़का सकते थे। जितने दिनों तक द्वितीय महायुद्ध चलता रहा, अमरीका ने बाल्टिक के देशों—लाटविया, लिथुनिया, एस्थोनिया के वाशिंगटन-स्थित दूतों को मान्यता दिये रखी।

(स) सोवियत संघ के विरुद्ध अमरीकी शिकायतें

1. रूस द्वारा याल्टा समझौते का उल्लंघन—1945 के याल्टा सम्मेलन में अमरीका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच कुछ समझौते किये गये, किन्तु सोवियत संघ ने आगे चलकर उनका उल्लंघन किया।

(अ) पोलैण्ड में सोवियत संघ द्वारा संरक्षित लुबलिन शासन और पश्चिमी देशों द्वारा 'संरक्षित शासन' के स्थान पर स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन पर आधारित एवं प्रतिनिध्यात्मक सरकार द्वारा स्थापित किया जायेगा। नये पोलैण्ड से उनके पूर्व में रूसी भाषा-भाषी क्षेत्र कर्जन रेखा के आधार पर पृथक् कर दिये जायेंगे, परन्तु पश्चिम में मुआवजे के रूप में उसे कुछ जर्मन भूमि प्रदान की जायेगी।

जबकि सोवियत संघ ने पोलैण्ड की जनता पर अपने द्वारा संरक्षित लुबलिन शासन को लादने का प्रयत्न किया। उसने अनेक दलों के नेताओं को जेल में ठूँस दिया। जब अमरीका तथा ब्रिटेन के प्रेक्षकों ने पोलैंड में प्रवेश कर स्थिति का जायजा लेने की इच्छा प्रकट की तो उन्हें इसकी इजाजत नहीं दी गई।

(ब) सोवियत संघ ने हंगरी, बुल्गारिया, रूमानिया और चेकोस्लावाकिया में भी युद्ध विराम समझौतों और याल्टा एवं पोट्सडेम सम्मेलन की सन्धियों का उल्लंघन किया। उसने पूर्वी यूरोप के देशों में लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना करने में मित्र राष्ट्रों के साथ रहने से मना कर दिया। इस बारे में एच. एल. ट्राफोउजे (H. L. Trefousse) ने अपनी सम्पादित पुस्तक 'The Cold War : A Book of Documents' की भूमिका में कहा है कि जहाँ कहीं भी सोवियत या साम्यवादी सैनिक गये वहाँ सोवियत संघ की समर्थक सरकार स्थापित करवा दी तथा पश्चिमी प्रभाव को प्रायः शून्य कर दिया। रूमानिया, पोलैण्ड, युगोस्लाविया, अलबानिया तथा अन्तत: हंगरी तथा चेकोस्लाविया सभी सोवियत प्रभाव क्षेत्र में आ गये।

(ख) सोवियत संघ ने यह वचन दिया कि वह चीन की सरकार को मान्यता देगा, वाह्य मंगोलिया में यथास्थिति का पालन करेगा और एक चीनी-रूसी कम्पनी द्वारा मंचूरियाई रेलवे के संयुक्त संचालन की शर्तों के साथ जर्मनी के आत्म-समर्पण के तीन माह के भीतर जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होगा। लेकिन विश्व युद्ध के समाप्त होते ही रूस ने अपने वायदों से मुकरना शुरू कर दिया। जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने में उसने अनिच्छा ही प्रकट नहीं की, बल्कि 'मित्र राष्ट्रों को साइबेरियाई अड्डों की सुविधा उपलब्ध कराने में भी आनाकानी की। मंचूरिया में स्थित रूसी सेना ने 1946 के आरम्भ में राष्ट्रवादी सेनाओं को वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश सम्बन्धी सभी सुविधाएँ देकर वह सम्पूर्ण युद्ध सामग्री भी छोड़ दी, जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गयी थी। इस प्रकार सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते की व्यवस्थाओं के उल्लंघन से शीत युद्धरूपी आग की लपटें तेज हुईं।

(2) रूस द्वारा बाल्कन समझौते का उल्लंघन—रूसी लाल सेना जहाँ कहीं भी जाती वहाँ साम्यवादी तत्वों को प्रोत्साहन-समर्थन देती। इससे अमरीका, ब्रिटेन तथा उनके मित्र राष्ट्रों की चिन्ता स्वाभाविक थी। इस मतभेद को लेकर उनके बीच बाल्कन समझौता हुआ, जिसके तहत सोवियत संघ ने चर्चिल के पूर्वी यूरोप के विभाजन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन ने बुल्गारिया तथा रूमानिया में सोवियत प्रभुत्व को स्वीकार किया तो सोवियत संघ ने यूनान में ब्रिटेन का प्रभुत्व। हंगरी तथा युगोस्लाविया के बारे में तय हुआ कि हंगरी में दोनों का संयुक्त प्रभाव रहेगा। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होते ही रूस ने खुलकर यूनान में साम्यवादी छापामारों को भेजा और साम्यवादी शासन स्थापित कराने का असफल प्रयास किया। इस प्रकार सोवियत संघ द्वारा बाल्कन समझौते का उल्लंघन करने से पूँजीवादी और साम्यवादी खेमों के बीच अविश्वास की दूरी और बढ़ती गयी।

(3) रूस द्वारा ईरान से अपनी सेनाएँ हटाने से मना करना—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सोवियत सेना ने ईरान के उत्तरी भाग पर अमरीका तथा ब्रिटेन की सहमति से कब्जा कर लिया। युद्ध के पश्चात अमरीका व ब्रिटेन ने अपनी सेनाएँ तत्काल हटा ली किन्तु सोवियत संघ ने अपनी सेना वापस बुलाने से इंकार कर दिया। इससे पूर्व और पश्चिमी खेमों में अविश्वास और बढ़ा। हालाँकि कुछ समय पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व जनमत के दबाव में आकर रूस ने उत्तरी ईरान से अपनी सेना को हटा लिया।

(4) तुर्की पर रूसी दबाव—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तुर्की पर सोवियत संघ ने इस बात के लिए दबाव डाला कि वह उसे बास्फोरस तथा कुछ अन्य भू-भागों पर सैनिक अड्डे बनाने दे। पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ के इस बढ़ते हस्तक्षेप और प्रभाव को कैसे सहन कर सकते थे? उन्होंने रूस को चेतावनी दी कि तुर्की पर किसी भी प्रकार का दबाव या आक्रमण सहन नहीं किया जायेगा और मौका पड़ने पर मामले को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में उठाया जायगा। इस मामले ने भी शीत युद्ध की उग्रता को तेज किया।

(5) सोवियत संघ द्वारा जर्मनी पर बोझ लादना—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी के हमले में रूस को अपार हानि हुई। इस कारण याल्टा सम्मेलन में स्टालिन ने जर्मनी से क्षतिपूर्ति के रूप में 20 अरब डालर की माँग रखी। अमरीकी

राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस माँग को 'आगे वार्ता के रूप में' स्वीकार किया। इसका स्टालिन ने सीधा अर्थ यह लगाया कि उसकी माँग मान ली गई है। युद्धोपरान्त क्षतिपूर्ति सम्बन्धी प्रावधानों का अनुचित लाभ उठाते हुए रूस ने जर्मनी के उद्योग अस्त-व्यस्त कर कीमती मशीनों का अपने देश में स्थानान्तरण आरम्भ कर दिया। इससे जर्मनी की अर्थव्यवस्था चरमराने लगी। परिणाम-स्वरूप ब्रिटेन और अमरीका को मजबूरन जर्मनी को भारी धनराशि सहायतार्थ प्रदान करनी पड़ी। जर्मनी के प्रति सोवियत संघ के इस कड़े रुख के कारण पश्चिमी देशों का नाराज होना स्वाभाविक था। इस मामले ने भी शीत युद्ध की आग में घी का काम किया।

(6) रूस द्वारा वीटो का बारंबार प्रयोग—संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व संगठन में उस समय अमरीका और सोवियत संघ के बीच टकराव पैदा हो गया, जब पश्चिमी देशों ने अपनी संख्यात्मक शक्ति तथा अन्य तरीकों से इस संगठन पर अपना वर्चस्व जमाना आरम्भ कर दिया। रूस ने यह माना कि अमरीका अपने राष्ट्र हित पूरा करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रयोग कर रहा है। यह महसूस कर सोवियत संघ ने पश्चिमी देशों के प्रस्तावों के विरुद्ध सुरक्षा परिषद में खुलकर बार-बार 'वीटो' का प्रयोग कर कार्रवाई में अड़गे लगाना आरम्भ कर दिया। इससे पश्चिमी देश नाराज हो गये और उन्होंने रूस विरोधी कार्रवाई और तेज कर दी।

(7) बर्लिन की नाकेबन्दी—सोवियत संघ द्वारा बर्लिन की नाकेबन्दी से दोनों महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध के तनाव में और उग्रता आयी। जून, 1948 में लन्दन प्रोटोकाल का अतिक्रमण करके रूस ने बर्लिन एवं पश्चिमी जर्मनी के मध्य की सभी रेल, सड़क तथा जल यातायात बन्द कर दिये। इतना ही नहीं, उसने हजारों निरीह जर्मन युद्धबन्दियों और नागरिकों को उनके देश लौटाने से मना कर दिया। पीटर लायन ने बर्लिन की नाकेबन्दी से शीत युद्ध पर पड़े प्रभाव के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि रूस की बर्लिन नाकेबन्दी असफल सिद्ध हो गयी और मई, 1949 में इस नाकेबन्दी को समाप्त कर दिया गया परन्तु इस घटना का एक गम्भीर परिणाम यह निकला कि अब सोवियत संघ का विरोध करने के लिए अमरीका तरह-तरह के सैनिक संगठनों की स्थापना करने की दिशा में सक्रिय हो गया'। इस प्रकार, शीत युद्ध की उग्रता बढ़ती गयी।

(8) अमरीका में रूस द्वारा साम्यवादी गतिविधियाँ भड़काना—1945 के आरम्भ में ही 'सामरिक सेवा' (Strategic Service) के अधिकारियों ने पाया कि उनकी संस्था के अनेक गोपनीय दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण से चलने वाले 'अमरेशिया' नामक मासिक पत्र के फिलिप जाफे के हाथ पहुँच जाते हैं। इससे चिन्तित होकर अमरीकी सरकार ने कनाडियायी शाही आयोग (कैनेडियन रॉयल कमीशन) को इस मामले की छानबीन के लिए नियुक्त किया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि 'इस जासूसी के पीछे सोवियत हाथ है। कनाडा का साम्यवादी दल सोवियत संघ की एक भुजा है।' उसने यह भी सनसनीखेज रहस्योद्घाटन किया कि कम से कम विश्वास के पद पर कार्यरत 23 कनाडावासी (जिनमें एक विधायक और एक प्रमुख परमाणु वैज्ञानिक भी शामिल हैं) साम्यवादी गुट के एजेन्ट हैं तथा उन्होंने मास्को को परमाणु भेद व यूरेनियम के नमूने भेजे हैं। सोवियत संघ की ऐसी जासूसी

कारवाई से अमरीका सहित पश्चिमी देशों में उसके प्रति गहरे विक्षोभ की भावना उठ खड़ी हुई।

शीत युद्ध के दौरान अमरीका व रूस द्वारा अपनाए गए प्रमुख साधन

शीत युद्ध के दौरान अमरीका तथा रूस ने विश्व में अपना प्रभाव जमाने के अनेक प्रयास आरम्भ किये। एक दूसरे के विरुद्ध प्रभाव-क्षेत्र कायम करने में उनके द्वारा अपनाये गये प्रमुख साधन निम्नांकित हैं—

(i) **सांस्कृतिक घुसपैठ**—दोनों महाशक्तियों ने विश्व के अन्य देशों में एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त करने के लिए सांस्कृतिक घुसपैठ आरम्भ की। दोनों ने यह काम विभिन्न सांस्कृतिक संगठनों का निर्माण पुस्तकालयों एवं वाचनालयों की स्थापना एवं फिल्म दिखाने के जरिए सम्पन्न किया। पास्तरनाक को दिये जाने वाले नोबल पुरस्कार और एलेक्जेंडर साल्झनित्सिन के लेखन की पश्चिमी दुनिया में लोकप्रियता के लिए एक बड़ी सीमा तक शीत युद्ध की यही मानसिकता जिम्मेदार थी। इसके जवाब में सोवियत संघ मकार्यो, एडवर्ड हूवर डामिनिकन गणराज्य ग्वातमाला और क्यूबा आदि के उदाहरण गिनाता रहा।

(ii) **विचारधारा का प्रचार**—दोनों महाशक्तियों ने विश्व में जमकर अपनी विचारधारा का साहित्य तथा अन्य प्रकार के प्रकाशनों द्वारा प्रचार आरम्भ किया। अमरीकी सरकार के सूचना केन्द्रों ने अमरीकन रिपोर्टर अमरीकन रिव्यू और 'प्रोब्लम्स आफ कम्युनिज्म' जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन और इनका मुफ्त वितरण बड़े पैमाने पर किया। प्रत्युत्तर में सोवियत लैण्ड' मास्को 'न्यूज एण्ड व्यूज सोवियत विमेन' सोवियत मार्डन 'न्यू टाइम्स' आदि का प्रकाशन सोवियत संघ ने किया। दोनों पक्षों का उद्देश्य तीसरी दुनिया के भारत जैसे गुट निरपेक्ष देशों में अपनी व्यवस्था को श्रेष्ठ और दूसरे की व्यवस्था को निकृष्ट सिद्ध करने का था। इस प्रक्रिया में नेहरू जी का यह कथन सत्य प्रमाणित हुआ जिसमें उन्होंने शीत युद्ध को लोगों के दिल और दिमाग में होने वाला रण (Battle in the minds of men) कहा था। यह काम सिर्फ दूतावासों से सम्पन्न नहीं हुआ बल्कि अमरीकी या रूसी कृपा का लाभ उठाने वाले छात्रवृत्ति-अनुदान पाने वाले व्यक्तियों और संगठनों ने भी किया। शीत युद्ध के इस चरण में कुकरमुत्ते के ढंग के समान रचना तथा संस्थाओं का गठन हुआ। फोरम आफ फ्री इंटरप्राइज से लेकर अफ्रो एशियन सालिडेरिटी कमेटी या वर्ल्ड पीस कांग्रेस' जैसी संस्थाएं इसके उदाहरण हैं। दोनों महाशक्तियों ने छात्र संगठनों श्रमिक संगठनों में घुसपैठ कर अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने का उपक्रम किया।

(iii) **आर्थिक सहायता की आड़ में प्रभाव**—दोनों महाशक्तियों ने एशिया अफ्रीका लातानी अमरीका तथा करिबियाई महाद्वीपों के देशों को आर्थिक सहायता देकर उनकी आन्तरिक राजनीति एवं विदेश नीति को प्रभावित करना चाहा। भारत मिस्र और इण्डोनेशिया जैसे अनेक देश औपनिवेशिक गुलामी का जुआ उतारने के बाद आत्म निर्भर आर्थिक विकास का मार्ग चुन रहे थे परन्तु पूँजी और समुचित तकनीक के अभाव में उन्हें समय दोनों का मुंह ताकना पड़ रहा था। इनको मिलने वाली तमाम आर्थिक सहायता शीत युद्ध के तर्क में अनुशासित होती रही। 1950-51

मे भारत ने जब खाद्यान्न की याचना की तो उसे अमरीका के हाथो बुरी तरह तिरस्कृत होना पड़ा। इसी तरह मिस्र मे स्वेज संकट का उद्गम, आस्वान बांध के निर्माण को लेकर उत्पन्न मनोमालिन्य से जुड़ा था। बड़े उद्योगो के क्षेत्र मे इस्पात निर्माण आदि की पूरी प्रणालियो के आयात के विषय मे भारत और इण्डोनेशिया के अनुभव बार-बार यही झलकाते रहे। शीत युद्ध के युग मे विदेशी आर्थिक सहायता को एक अस्त्र के अतिरिक्त और किसी रूप मे नही देखा जा सकता। दुर्भाग्यवश आज तक परस्पर लाभप्रद, अन्तरनिर्भर नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की इन प्राथमिकताओ को इस विषय में शीत युद्धयुगीन पूर्वाग्रह पथभ्रष्ट करता रहा है।

(iv) **सैनिक संगठनो की स्थापना**—दोनो महाशक्तियो ने सैनिक समझौते कर विश्व के अन्य देशो को अपने गुट की ओर मिलाने का प्रयास किया। अमरीका-प्रवर्तित 'नाटो', 'सिएटो' और 'सेन्टो' तथा सोवियत संघ-प्रवर्तित 'वारसा' सैनिक समझौते इस सिलसिले मे उल्लेखनीय है। इन सैनिक संगठनो ने शीत युद्ध की लपेट मे उन देशो को भी ला दिया जो इस दंगल के बाहर रहना चाहते थे। मसलन 'सिएटो' और 'सेन्टो' की सदस्यता पाने के बाद पाकिस्तान ने भारत की दहलीज तक शीत युद्ध पहुँचा दिया। अमरीकी या रूसी समर नीति मे पाकिस्तान का जो भी महत्वपूर्ण स्थान रहा हो, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि भारत-पाक सम्बन्धो के क्षेत्रीय सन्तुलन को इसने खतरनाक ढग से गड़बड़ा दिया। इसी तरह दशको तक अनेक देशो को विभाजित रहना पड़ा, जिनमे कोरिया, वियतनाम, जर्मनी आदि उल्लेखनीय है। पूर्वी यूरोप मे अनेक 'उपग्रह राष्ट्रो' (Satellite States) की सीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी शीत युद्ध की विरासत समझा जाना चाहिए। 1950 के दशक मे पोलैण्ड और हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप शीत युद्ध की ही देन थे।

(v) **खुफिया संगठनो के षड्यन्त्र**—अमरीकी 'सी० आई० ए०' तथा सोवियत 'के० जी० बी०' नामक खुफिया सगठन गरीब देशो में विरोधी सरकार को गिराने तथा अपनी समर्थक सरकार को प्रतिष्ठित कराने के राजनीतिक तोड़-फोड़ कार्य मे सक्रिय हो गये। द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होते-होते अपदस्थ होने वालों में ईरान के प्रधानमन्त्री मुसद्दिक थे, जिन्होने अपने देश की तेल सम्पदा को विदेशी कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण कर अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया था। कोरिया में सिंह मान री और ताइवान मे च्यांग काई शेक को लौह पुरुष मानने-मनवाने का हठ शीत युद्ध की जरूरतों से ही प्रेरित था।

(vi) **सैनिक अड्डों की स्थापना**—दोनो महाशक्तियो ने अन्य देशों मे एक-दूसरे के विरुद्ध सैनिक अड्डे स्थापित करना आरम्भ किया। क्लार्क एयर बेस, सुबिक बे (फिलीपीस), दानाग और कामरान्ह मे अमरीका ने ऐसे अड्डे बनाये, जबकि सोवियत संघ ने इथियोपिया और सोमालिया में सोकोत्रा जैसी जगह पर सैनिक अड्डा स्थापित किया।

(vii) **शैक्षणिक क्षेत्र में घुस पैठ**—दोनो महाशक्तियों ने अन्य देशो के शैक्षणिक जगत को भी प्रभावित किया। अमरीका ने फुलब्राइट छात्रवृत्ति शुरू की तो सोवियत संघ ने पेट्रिस लुमुंबा विश्वविद्यालय मे शैक्षणिक आदान-प्रदान कार्यक्रमो के तहत अन्य देशो के छात्रो, अध्यापकों और विद्वानो को अध्ययन-अध्यापन के लिए अपने यहां बुलाया तथा अपने नागरिकों को वहाँ भेजा।

शीत युद्ध का विकास प्रमुख घटनाएँ
(Evolution of Cold War Major Events)

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त दुनिया मे ऐसी अनेक घटनाएँ घटी, जिन्हे अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध का सूचक माना जाता है। संक्षेप मे प्रमुख घटनाएँ निम्नांकित है–

पहला चरण (1946 से 1953)

1 **चर्चिल का फुल्टन भाषण**—अनेक विद्वान शीत युद्ध का उद्‌भव विंसटन चर्चिल के फुल्टन भाषण से मानते हैं, जिसका उल्लेख इस अध्याय मे पहले किया जा चुका है। इस भाषण के फलस्वरूप अमरीका मे रूस-विरोधी भावनाएँ भडकने लगी। 19 फरवरी, 1947 को अमरीकी सीनेट के सम्मुख राज्य सचिव डीन एचिसन ने कहा कि 'सोवियत संघ की विदेश नीति आक्रामक और विस्तारवादी है।' इस प्रकार पूर्व और पश्चिम मे एक-दूसरे के विरुद्ध शीत युद्ध का वातावरण उग्र होता गया।

2 **ट्रूमैन सिद्धान्त**—साम्यवाद विरोध के नाम पर अमरीका ने 12 मार्च, 1947 को विश्व के अन्य देशो के लिए ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। कहा गया कि संसार मे जहाँ कही भी शान्ति को भंग करने वाला परोक्ष या अपरोक्ष आक्रामक कार्य होगा, वहाँ अमरीका सुरक्षा संकट समझेगा तथा वह उसे रोकने के लिए भरसक प्रयास करेगा। अमरीका द्वारा ट्रूमैन सिद्धान्त की घोषणा से स्पष्ट है कि यह उसने सोवियत संघ के प्रति अपने मनमुटाव, घृणा, वैमनस्य और अविश्वास के कारण की।

3 **मार्शल योजना**—विश्व का साम्यवादी क्रान्ति के कथित खतरे से बचाने के लिए 8 जून, 1947 को अमरीका ने मार्शल योजना की घोषणा की। 26 अप्रैल, 1947 को इसकी जरूरत पर बल देते हुए अमरीकी विदेश सचिव ने कहा था कि यदि इस समय तत्काल यूरोप के आर्थिक पुनरुत्थान का प्रयत्न नही किया गया तो वह साम्यवादी हो जायेगा। इस प्रकार, मार्शल योजना समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की सबसे दिलचस्प एवं युग प्रवर्तक घटना थी। इससे अमरीका और रूस के बीच विरोध पहले की अपेक्षा और बढ़ा।

4 **कौमिकोन की स्थापना**—यूरोप के अनेक देशो ने अमरीकी मार्शल योजना मे ज्यादा दिलचस्पी नही ली। सोवियत गुट के भी यूरोपीय देशो ने तो मार्शल योजना का करारा जवाब देने के लिए 25 अक्तूबर, 1947 को 'कौमफोर्न' का गठन कर दिया। इसका उद्देश्य फ्रांस और इटली सहित यूरोप के साम्यवादी दलो को संगठित करना था। इससे अमरीका तथा उसके पश्चिम यूरोप के मित्र देश सोवियत संघ से नाराज हो गये।

5 **'नाटो' का गठन**—4 अप्रैल, 1949 को अमरीका के नेतृत्व मे कनाडा और पश्चिम यूरोप के दस देशो (बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस, आयरलैण्ड, इटली, लक्जमबर्ग, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, ब्रिटेन और नार्वे) ने 'नाटो' (NATO) नामक सैनिक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसमे कहा गया कि यूरोप तथा उत्तरी अमरीका मे किसी एक या अनेक देशो पर किया गया सशस्त्र आक्रमण समझौते के सभी सदस्यो

के खिलाफ हमला समझा जायेगा। यह सोवियत संघ को खुली चेतावनी थी कि यदि उसने 'नाटो' के किसी भी देश पर हमला किया तो अमरीका उसका मुँहतोड़ जवाब देगा। अमरीका द्वारा 'नाटो' का निर्माण, सोवियत संघ का सैनिक स्तर पर विरोध करना था।

6. चीन में साम्यवादी क्रान्ति—एक अक्तूबर, 1949 को बीजिंग में राष्ट्रवादी सरकार को हटाकर माओत्से तुंग के नेतृत्व मे साम्यवादी सरकार स्थापित हो गयी। राष्ट्रवादी सरकार के अध्यक्ष च्याग काई शेक ने भागकर ताइवान मे अपनी अलग सरकार बना ली। चीन मे साम्यवादी शासन के पाँव जमने से अमरीका नाराज हो गया तथा उसने ताइवान की च्यांग काई शेक सरकार को चीन की असली सरकार के रूप मे मान्यता प्रदान की। साम्यवादी चीन की सयुक्त राष्ट्र सघ में सदस्यता के मामले पर अमरीका ने बारम्बार 'वीटो' का प्रयोग कर उसका रास्ता रोके रखा। उसने ताइवान को सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य तथा उसी को सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बनवाया। अन्त मे 1971 मे ताइवान को निष्कासित कर साम्यवादी चीन को यह सदस्यता प्रदान की गई।

7. बर्लिन की घेराबन्दी और दो जर्मनी का उदय—एक मार्च, 1948 को रूस ने स्थानीय मुद्रा विषयक झगडे का बहाना बनाकर पश्चिमी बर्लिन के स्थल और जलमार्ग सभी की नाकेबन्दी कर दी, जिससे दोनो महाशक्तियो के बीच एक और सकट उत्पन्न हो गया तथा उनको अपनी ताकत की आजमाइश का एक और मौका हाथ लगा। हालांकि सोवियत सघ बर्लिन की नाकेबन्दी करने में असफल रहा और मई, 1948 मे ही उसे नाकेबन्दी समाप्त करनी पडी, फिर भी इसके दूरगामी परिणाम हुए। पहला, अमरीका ने रूस के खिलाफ अनेक सैनिक सगठनो का निर्माण कर अन्य देशों को अपने गुट की ओर आकर्षित करना शुरू कर दिया। दूसरा, जर्मनी दोनो महाशक्तियो के शीत युद्ध का क्रीडा-स्थल बन गया। अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस ने अपने अधीनस्थ जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रो का एकीकरण कर दिया, जिससे 21 सितम्बर 1949 को सघीय जर्मन गणराज्य (Federal Republic of Germany) का निर्माण हुआ। यह अमरीकी गुट का प्रभाव क्षेत्र बन गया। दूसरी ओर इसके प्रत्युत्तर मे 7 अक्तूबर, 1949 को रूस ने अपने अधीनस्थ जर्मन क्षेत्र में जर्मन प्रजातन्त्रात्मक राज्य (German Democratic Republic) की स्थापना करवा दी। इसे रूस ने अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लिया। इस प्रकार महाशक्तियो के बीच शीत युद्ध की ज्वाला धधकती रही।

8. अमरीका-जापान शान्ति सन्धि—1951 में अमरीका तथा उसके मित्र राष्ट्रों ने जापान के साथ शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर किये। सोवियत सघ द्वारा परोक्ष रूप से इसे अपने खिलाफ मानने के कारण उसने इस शान्ति सन्धि की कड़े शब्दों मे आलोचना की। इस प्रकार अमरीका-जापान सन्धि अमरीका-सोवियत सम्बन्धों में तनाव का कारण बनी।

9. कोरिया संकट—कोरिया भी महाशक्तियो की प्रतिस्पर्धा का शिकार हो गया, क्योंकि सोवियत संघ और अमरीका दोनों उसको अपनी छवि के अनुरूप बनाना चाहते थे। रूस ने उसे साम्यवादी बनाना चाहा, जो उनका पड़ोसी, मित्र एवं समर्थक हो, जबकि अमरीका ने एक लोकतान्त्रिक कोरिया चाहा जो पश्चिमी गुट का अंग हो। इस प्रतिस्पर्धा से कोरिया के दो टुकड़े हो गये। जहाँ उत्तरी कोरिया में रूस

समर्थक सरकार बनी तो दक्षिण कोरिया में अमरीकी समर्थक सरकार। जून, 1950 में चीनी एवं रूसी सैनिक मदद के बलबूते पर उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर फौजी हमला कर दिया। फिर क्या था, उधर से अमरीका ने दक्षिण कोरिया को सैनिक सहायता देकर मुठभेड़ को और उग्र बना दिया। इस प्रकार कोरिया संकट को लेकर जहाँ अमरीका और पश्चिम यूरोप के राष्ट्र एक हो गये, वहीं रूस और चीन एकजुट हो गये। असल में उत्तरी व दक्षिण कोरिया के बीच की मुठभेड़ रूस एवं अमरीका में ही थी। सशस्त्र युद्ध रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ में बहसें आरम्भ हुईं। दोनों महाशक्तियों ने खुलकर एक-दूसरे के विचारों का कड़ा प्रतिवाद किया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया। अन्ततः 8 जून, 1953 को युद्ध विराम हुआ।

शीत युद्ध का दूसरा चरण (1953 से 1958)

शीत युद्ध के दूसरे चरण में महाशक्तियों के राजनीतिक नेतृत्व में परिवर्तन हुआ। अमरीका में ट्रूमेन की जगह पर आइजनहावर राष्ट्रपति बने तो सोवियत संघ में स्टालिन की मृत्यु के बाद बुल्गानिन और उसके बाद ख्रुश्चेव ने शासन-सत्ता की बागडोर सम्भाली। शीत युद्ध के दूसरे चरण की प्रमुख घटनाएँ निम्नांकित हैं.

1 रूस द्वारा परमाणु परीक्षण—1953 में सोवियत संघ ने पहली बार परमाणु परीक्षण किया। इससे उसका परमाणु क्षेत्र में अमरीका के समकक्ष होने का मार्ग प्रशस्त हो गया। रूस ने सफल परमाणु परीक्षण सम्पन्न कर जहाँ परमाणु हथियारों का निर्माण आरम्भ किया, वहीं उसके प्रतिद्वन्द्वी अमरीका तथा पश्चिम के राष्ट्रों को सुरक्षा का खतरा महसूस हुआ। परिणामस्वरूप दोनों महाशक्तियों में नये घातक परमाणु शस्त्रास्त्रों का आविष्कार कर उनका ढेर लगाने की होड़ प्रारम्भ हो गयी। सोवियत संघ द्वारा स्पूतनिक नामक कृत्रिम उपग्रह का परीक्षण इसका अच्छा उदाहरण है।

विडम्बना तो यह रही है कि स्पूतनिक के सफल परीक्षण के वक्त आइजनहावर जैसे अनुभवी सेनानायक ने टिप्पणी की थी कि 'इसका कोई सैनिक महत्व नहीं है। यह सिर्फ वैज्ञानिक बाजीगरी है, जिसके पीछे किसी को अपनी नींद खराब नहीं करनी चाहिए। तानाशाही अक्सर इस तरह के चमत्कारी स्मारक बनाती है।' वस्तुतः इन वैज्ञानिक आविष्कारों का अत्यधिक सामरिक महत्व था, जिसका यथार्थवादी मूल्यांकन प्रसिद्ध विद्वान् एडवर्ड क्रैंक्शा ने किया है। उसके अनुसार 'सोवियत अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र न केवल एशिया और अफ्रीका के किसी भी ठिकाने तक पहुँच सकते हैं, बल्कि पहली बार ऐसा हुआ है कि अमरीका इनकी चपेट में आने से नहीं बच सका।[1] इसाक डोयशर के मत में इस उपलब्धि ने चीनियों के मुकाबले में सोवियत संघ और ख्रुश्चेव की स्थिति मजबूत की।[2]

2 हिन्द चीन की समस्या—हिन्द चीन क्षेत्र (वियतनाम, कम्पुचिया और लाओस) में दोनों महाशक्तियाँ अपनी-अपनी समर्थक सरकारें स्थापित करने के प्रयत्न में लग गयी। इस क्षेत्र में फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष में गृह युद्ध, सैनिक टकराव या अव्यवस्था आम बात हो गयी। फ्रांसीसी औपनिवेशिक

[1] Edward Crankshaw, *The New Cold War* (London, 1963)
[2] Issac Deutcher, *Russia China and the West* (London, 1970)

शासकों द्वारा हिन्द चीन छोड़ने के निर्णय के बाद अमरीका का बड़े पैमाने पर इस क्षेत्र में प्रवेश शीत युद्ध के कारण ही प्रेरित था। अपने को मुकाबले की विश्व शक्ति प्रमाणित करने के लिए सोवियत संघ को भी रणभूमि में उतरना पड़ा। 1954 में दिएन-बीएन फू के सैनिक गढ़ के पतन के बाद जेनेवा सम्मेलन बुलाया गया, जिसने हिन्द चीन में कम्पुचिया और लाओस को स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में स्थापित किया। वियतनाम का विभाजन अन्तर्राष्ट्रीय रूप से मान्यता प्राप्त हुआ। जेनेवा समझौतों में यह बात मानी गयी कि दो वर्ष बाद जनमत संग्रह होगा और वियतनाम के राजनीतिक भविष्य, एकीकरण आदि का निर्णय लिया जायेगा। तब तक विभाजक सीमा रेखा पर विसैन्यीकृत क्षेत्र की घोषणा की गयी और अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षकों की व्यवस्था की गयी। हिन्द चीन में अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण नियंत्रक आयोग में भारत, कनाडा और पोलैण्ड शामिल किये गये। परन्तु शीत युद्ध के इस चरण में इस समझौते का लागू किया जाना सम्भव नहीं हुआ। अमरीकियों का प्रयत्न यही रहा कि वे दक्षिण में राष्ट्रपति जियेम को अपने मोहरे-कठपुतले के रूप में इस्तेमाल करते रहे और दूसरी ओर 1956 में चुनाव स्थगित किये जाने के बाद उत्तरी वियतनाम के साम्यवादियों द्वारा प्रेरित घुसपैठिये छापामारों की गतिविधियों ने जोर पकड़ा। क्रमशः लाओस और कम्पुचिया भी छापामार रणनीति के अनुसार इस गृह युद्ध की चपेट में आ गये। यह शीत युद्ध का ही प्रभाव था कि दोनों प्रतिस्पर्धी पक्षों को एक या दूसरी महाशक्ति का समर्थन मिल गया।

3. 'सिएटो' एवं 'सेन्टो' का गठन—अमरीका ने तीसरी दुनिया के देशों में साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए 'सिएटो' (SEATO) एवं 'सेन्टो' (CENTO) सैनिक समझौते को क्रमशः 1954 एवं 1955 में प्रवर्तित किया। इन समझौतों द्वारा सदस्य देशों को सैनिक एवं अन्य प्रकार की सुरक्षा गारन्टी दी गयी। निश्चित रूप से यह रूस-विरोधी अमरीकी प्रयास था।

4. 'वारसा पैक्ट' का गठन—अमरीका द्वारा साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए प्रवर्तित 'सिएटो', 'सेन्टो' एवं 'नाटो' (NATO) के निर्माण के प्रत्युत्तर में सोवियत संघ भी कहाँ चूकने वाला था। उसने जवाबी कार्यवाही के रूप में 14 मई, 1955 को पूर्व-यूरोपीय देशों को वारसा पैक्ट में शामिल कर सैनिक तथा अन्य प्रकार की सुरक्षा की गारन्टी प्रदान की। निश्चित रूप से यह सोवियत प्रयास अमरीका-विरोधी था। वारसा पैक्ट मूलतः अमरीकी 'नाटो' का जवाब था। इसमें रूस और उसके आठ-पूर्व यूरोपीय साथी राष्ट्र सम्मिलित हुए। 1991 में वारसा पैक्ट समाप्त कर दिया गया।

5. आइजनहावर सिद्धान्त की घोषणा—जून, 1957 में अमरीका द्वारा 'आइजनहावर सिद्धान्त' की घोषणा की गयी। इस सिद्धान्त के अनुसार अमरीकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति को पश्चिम एशिया के किसी भी देश में साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए अपने विवेक के अनुसार सेना भेजने तथा सैनिक कार्रवाई करने का अधिकार दिया। आइजनहावर सिद्धान्त की घोषणा से पश्चिम एशिया के देशों में महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध की गर्मी और बढ़ गयी। परिणामस्वरूप सामरिक महत्व के पश्चिम एशियाई क्षेत्र और तेल कुओं पर प्रभुसत्ता जमाने के लिए अमरीका और रूस दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध कूटनीतिक चालें चलते रहे।

6. पश्चिम एशिया का संकट—आइजनहावर सिद्धान्त की घोषणा पर रूसी

प्रतिक्रिया यह हुई कि उसने इसको पश्चिम एशिया के लिए घातक बताया। दूसरी तरफ अमरीका तथा ब्रिटेन ने पश्चिम एशियाई देशो मे सोवियत घुसपैठ तथा राजनीतिक तोड फोड की आलोचना की। फलस्वरूप इस क्षेत्र मे अमरीका तथा रूस ने अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र जमाना आरम्भ किया। अमरीका ने इजराईल का पक्ष लिया तो सोवियत सघ ने फिलस्तीन का समर्थन कर अरब देशो को अपनी ओर खीचने का प्रयास किया। इसकी परिणति 1956 मे अरब-इजराईल युद्ध मे हुई।

7 स्वेज नहर का सकट—1956 मे स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के जवाब मे फ्रास और ब्रिटेन ने मिस्र पर सैनिक हमला कर दिया। अमरीका ने मिस्र पर हमले मे फ्रास और ब्रिटेन का साथ नही दिया। फिर भी यह हमला उसके मित्र राष्ट्रो द्वारा किया गया था। सोवियत सघ ने इस हमले की कडी आलोचना की। इसने एक बार फिर शीत युद्ध मे गरमाहट उत्पन्न की।

शीत युद्ध के अनेक स्थानीय सकट ह्रासोन्मुख, औपनिवेशिक शासको के अहकार और अयथार्थवादी दृष्टिकोण से उपजे थे। स्वेज सकट के दौरान ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ईडन ने कहा—'तानाशाहो की भूख समझौतो के साथ बढती जाती है। हम लोग लूटपाट को सहन नही कर सकते और न ही नासिर (मिस्र के राष्ट्रपति) की गतिविधियो को अपराधपूर्ण नपुसकता के भरोसे छोड़ सकते। सभी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियो को मिलकर यह तय कर लेना चाहिए कि हम नासिर को समर्पण के लिए तैयार कर लेंगे।' ईडन की समझ मे यह बात नही आ सकती थी कि इस तरह का अन्तर्राष्ट्रीय सकट निवारण एक स्वतन्त्र राष्ट्र के आन्तरिक मामलो मे आक्रमणकारी हस्तक्षेप था।

शीत युद्ध के इस द्वितीय चरण में कुछेक अन्य घटनाएँ घटी। मसलन, 1956 मे हगरी म सोवियत सैनिक हस्तक्षेप एव उसकी पश्चिम के देशो द्वारा भर्त्सना, रूस और अमरीका द्वारा हाइड्रोजन बम का निर्माण, फारस का तेल विवाद, लेबनान मे अमरीकी फौज का प्रयोग तथा इराक की क्रान्ति। इन छुटपुट घटनाओ मे महाशक्तियो के बीच शीत युद्ध की लपटो को और तेज किया।

शीत युद्ध का तीसरा चरण (1959–1962)

तीसरे चरण मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अमरीका और रूस की अनबन, 'पिघलाव' और 'गरमाहट' दोनो की ओर छलाँगें लगाती रही। ख्रुश्चेव द्वारा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की वकालत से अनेक राजनीतिक टिप्पणीकारो ने सोचा कि अब महाशक्तियो के बीच शीत युद्ध शिथिल हो जायेगा, किन्तु प्रारम्भिक सफलताओ के बाद दोनो म कभी पिघलाव, कभी गरमाहट रही। इस चरण की प्रमुख घटनाएँ निम्नांकित हैं—

1 1959 में ख्रुश्चेव की अमरीका यात्रा—स्टालिन की मृत्यु (1953) के बाद बुल्गानिन और उसके हटने के पश्चात ख्रुश्चेव के सत्ता मे आने (1956) के बाद 3 अगस्त, 1959 को मास्को और वाशिगटन से एक साथ घोषणा हुई कि कुछ ही दिनो मे सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव अमरीका की, और अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहावर सोवियत सघ की यात्रा पर जायेंगे। 15 सितम्बर, 1959 को ख्रुश्चेव अमरीका पहुँचे और वह एक महीने तक उस देश के विभिन्न स्थानो का भ्रमण करते

रहे। उनका सर्वत्र भव्य स्वागत किया गया। केम्प डेविड नामक स्थान पर उन्होंने आइजनहावर से विचार-विमर्श किया। यह तय किया गया कि 16 मई, 1960 से पेरिस मे नि.शस्त्रीकरण की समस्या सुलझाने के लिए शिखर सम्मेलन आयोजित किया जाये और वहीं से राष्ट्रपति आइजनहावर सोवियत सघ की यात्रा पर रवाना हो। इस प्रकार ख्रुश्चेव की अमरीका-यात्रा से दोनों देशों के बीच शीत युद्ध की शिथिलता के आसार दिखाई देने लगे। इसे 'केम्प डेविड की भावना' के नाम से पुकारा गया।

2. यू-2 विमान काण्ड एवं पेरिस शिखर सम्मेलन की असफलता—पेरिस सम्मेलन के दो सप्ताह पूर्व अर्थात् एक मई, 1960 को यू-2 विमान काण्ड के होने से 'केम्प डेविड की भावना' पर पानी फिर गया। अमरीका का एक जासूसी विमान सोवियत सीमा का उल्लघन करके दो हजार किलोमीटर अन्दर घुस गया। रूस को इसका पता चलने पर उसने विमान चालक को पहले नीचे उतरने को कहा। ऐसा न करने पर उसने रॉकेटों की सहायता से उसे नीचे गिराकर उसके चालक गैरी पावर्स को जिन्दा गिरफ्तार कर लिया। अमरीका ने इसके प्रति पहले अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। पर गैरी पावर्स द्वारा जासूसी के इरादे की स्वीकारोक्ति से अमरीका ने भी यह माना। सोवियत सघ ने अमरीका की इस कार्यवाही की कड़े शब्दों मे आलोचना की। इसका परिणाम पेरिस शिखर सम्मेलन की असफलता के रूप में सामने आया। यू-2 विमान काण्ड के कारण सोवियत सघ ने अमरीका से कहा कि वह अपने इस जासूसी कार्य की निन्दा करे, माफी मांगे, भविष्य में ऐसी उत्तेजक गतिविधियाँ नही करे तथा इस निन्दनीय घटना के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को सजा दे। ख्रुश्चेव ने आइजनहावर की सोवियत यात्रा का निमन्त्रण वापस लेते हुए कहा कि अब अमरीकी राष्ट्रपति यहाँ आने की कोई आवश्यकता नही।

जब पेरिस शिखर सम्मेलन आरम्भ हुआ तो ख्रुश्चेव ने यू-2 विमान काण्ड को उठाते हुए अपनी उक्त मांगे रखी। अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहावर इसके लिए तैयार नही थे। सम्मेलन मे ख्रुश्चेव ने फ्रांसीसी राष्ट्रपति देगोल और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मेकमिलन से तो हाथ मिलाया किन्तु आइजनहावर के हाथ बढाने पर ख्रुश्चेव ने अपना हाथ पीछे खीच लिया। आइजनहावर द्वारा भविष्य मे ऐसी कार्यवाही न करने के आश्वासन एवं देगाल और मेकमिलन द्वारा गतिरोध को दूर करने के प्रयास भी सफल नही हुए। यहाँ तक कि सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में ख्रुश्चेव ने भाग नही लिया। फलस्वरूप सम्मेलन की कार्यवाही बन्द करनी पड़ी। इस प्रकार पेरिस सम्मेलन असफल हो गया और शीत युद्ध की शिथिलता के आसार फीके नजर आने लगे।

3. क्यूबा संकट—पेरिस शिखर सम्मेलन की असफलता से सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे गहरी निराशा छा गयी। ख्रुश्चेव ने भी महसूस किया कि उन्हें इतना कड़ा रुख नही अपनाना चाहिए था। इसी को मद्देनजर रखते हुए उन्होंने सुलह की पहल की। ख्रुश्चेव ने 10 नवम्बर, 1960 को वक्तव्य जारी कर कहा कि 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे सब प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हैं किन्तु समय बीतने के साथ ऐसे सम्बन्धों की कटुता दूर हो जाती है। इसकी परवाह न कीजिए कि समुद्र कितना तूफानी है? तूफानो के बाद हमेशा शान्ति आती है। यही अन्तत: यू-2

विमान की घटना के बाद होगा। इसकी जासूसी उड़ान शत्रुतापूर्ण कार्य थी, किन्तु कुछ समय बाद यह तूफान भी शान्त हो जायेगा।' उधर अमरीका में राष्ट्रपति पद के चुनाव में जॉन एफ० कनेडी के विजयी होने से एक नई आशा का संचार हुआ। ख्रुश्चेव ने केनेडी को बधाई दी, जिसका उन्हें आशापूर्ण जवाब मिला। अमरीकी राष्ट्रपति केनेडी ने कहा—'हम किस तरह की शान्ति चाहते हैं? कब्रिस्तान की शान्ति या खामोश बैठे गुलामों की शान्ति नहीं, बल्कि एक ऐसी शान्ति, जिसमें जीवन जीने लायक लगे तथा जिसमें मनुष्य जाति और विभिन्न राष्ट्र आने वाली पीढ़ियों के लिए एक बेहतर संसार छोड़कर जा सकें। हम सिर्फ अपने समय के लिए नहीं बल्कि हमेशा के लिए शान्ति चाहते हैं। शान्ति की हमारी यह अभिलाषा सोवियत अभिलाषा के समानान्तर है।' किन्तु यह आशावादिता ज्यादा समय तक नहीं चल सकी। क्यूबा संकट ने रूस और अमरीका को एक बार फिर शत्रु के रूप में आमने-सामने खड़ा कर दिया।

केरिबियाई महाद्वीप में स्थित क्यूबा हर दृष्टि से दोनों महाशक्तियों के लिए महत्वपूर्ण है। एक ओर रूस के लिए वह लकड़घोड़ा (Trojan-horse) हो सकता है तो दूसरी ओर अमरीका के लिए वह गठिया रोग जैसा हो सकता है। सामरिक दृष्टि से दोनों महाशक्तियों के लिए इस महत्वपूर्ण राष्ट्र में 1958 में डाक्टर फिदेल कास्त्रो के नेतृत्व में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। उसके द्वारा सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध बढ़ाने से अमरीका का चिन्तित होना स्वाभाविक था, क्योंकि क्यूबा के जरिये रूस उसके पड़ौसी देशों में प्रभाव जमाने का प्रयत्न कर रहा था। कास्त्रो सरकार को विशाल सोवियत सैनिक एवं आर्थिक मदद मिल रही थी। 1962 में सोवियत संघ ने क्यूबा में नये सैनिक अड्डे स्थापित किये, जिनमें राकेट-प्रक्षेपास्त्र रखे गये। अमरीका ने अपनी सुरक्षा के खतरे को भाँपकर 22 अक्तूबर, 1962 को क्यूबा की नाकेबन्दी कर दी। उसने अपनी नौसेना को आदेश दिया कि क्यूबा की ओर जाने वाले वह ऐसे समस्त जहाजों को रोक दे, जिनमें आक्रामक शस्त्रास्त्र भरे हों। सोवियत संघ ने मामले की गम्भीरता महसूस करते हुए शीघ्र ही क्यूबा से सैनिक अड्डे हटाने की घोषणा कर दी। यदि रूस ऐसा निर्णय नहीं लेता और अमरीका उसका प्रतिकार करता तो शायद शीत युद्ध की परिणति तीसरे विश्व युद्ध के रूप में होती। क्यूबा संकट के बारे में दोनों महाशक्तियों द्वारा बुद्धिमत्तापूर्ण कदम उठाना शीत युद्ध के शिथिलीकरण में 'मील का पत्थर' माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में एडवर्ड क्रैंगशा का मानना एकदम सही है कि 'क्यूबा के बाद से ज्वार एक ही दिशा में बह रहा है। वाशिंगटन के साथ लगातार और गुप्त कथोपकथन के साथ उष्ण स्थलों का क्रमिक शीतलीकरण (damping down) हुआ है।'

शीत युद्ध का चौथा चरण (1963–1979)

चौथे चरण में जहाँ दोनों महाशक्तियों के बीच 'तनाव-शैथिल्य' आरम्भ हुआ, वहाँ 'छुटपुट प्रतिद्वन्द्विता' चलती रही। इस चरण में शीत युद्ध की शिथिलता की प्रमुख घटनाएँ निम्नांकित हैं—

1 परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि—क्यूबा संकट के बाद दोनों महाशक्तियों ने महसूस किया कि यदि उन्होंने आपसी टकराव को रोकने के लिए कोई ठोस प्रयास नहीं किया तो महायुद्ध कभी भी छिड़ सकता है। निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में

23 जुलाई, 1963 को मास्को में रूस, अमरीका और ब्रिटेन ने वायुमण्डल, बाह्य अन्तरिक्ष और समुद्र में परमाणु परीक्षण पर प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इसके बाद चीन, फ्रांस तथा कुछ अन्य राष्ट्रों को छोड़कर करीब सौ से अधिक देशों ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर किये।

2. 'हॉट लाईन' (Hot Line) समझौता—1963 में क्रेमलिन (मास्को) तथा व्हाइट हाउस (वाशिंगटन) के बीच 'हॉट लाइन' के जरिये सीधा सम्पर्क स्थापित करने का समझौता हुआ। इस सीधे सम्पर्क का उद्देश्य यह था कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय या द्विपक्षीय संकट के दौरान महाशक्तियों में भूल, आकस्मिक दुर्घटना या गलतफहमी के कारण उत्पन्न टकराव को टाला जाये। इसके द्वारा दोनों देशों के शासनाध्यक्ष सीधा सम्पर्क करके संकट का निवारण कर सकते हैं।

3 परमाणु अस्त्र-प्रसार रोक सन्धि— 1968 में सोवियत संघ, अमरीका और ब्रिटेन ने अन्य देशों के साथ 'परमाणु अस्त्र-प्रसार निरोध सन्धि' पर हस्ताक्षर किये। सन्धि के अनुसार वे अन्य देशों द्वारा परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में किसी भी प्रकार की सहायता नहीं करेंगे। इसका उद्देश्य परमाणु अस्त्रों की होड़ रोककर तनाव कम करना था।

4. मास्को-बोन समझौता—1970 में सोवियत संघ और पश्चिम जर्मनी के बीच यह समझौता हुआ। इस समझौते के द्वारा दोनों देशों ने यथास्थिति को स्वीकार कर एक-दूसरे के खिलाफ शक्ति प्रयोग नहीं करने का निर्णय लिया। इससे दोनों महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध का तनाव काफी कम हुआ।

5. बर्लिन समझौता—3 सितम्बर, 1971 को अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच करीब अठारह महीने की लम्बी बातचीत के बाद बर्लिन समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके अन्तर्गत पश्चिमी बर्लिन के निवासियों को पूर्वी बर्लिन तथा पूर्वी जर्मनी आने की अनुमति देने की व्यवस्था थी। इसके पहले इस पर रोक थी। बर्लिन समस्या का यह हल खोजकर तनाव कम किया गया।

6. दो जर्मन राज्यों का सिद्धान्त—8 नवम्बर, 1972 को पश्चिम जर्मनी की राजधानी बोन में दो जर्मन राज्यों का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। इसमें हुए समझौते में पूर्वी तथा पश्चिम जर्मनी के बीच सन्धि हुई। इन दोनों देशों को 1973 में संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान की गई। इस मसले पर सुरक्षा परिषद् में दोनों महाशक्तियों ने न तो कोई आपत्ति प्रकट की और न ही 'वीटो' का प्रयोग किया। इससे महाशक्तियों के बीच तनाव को कम करने का मार्ग प्रशस्त किया।

7. यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन—3 जुलाई, 1973 को फिनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी में यूरोपीय सुरक्षा और सहयोग सम्मेलन हुआ। जेनेवा में यह सम्मेलन 17 सितम्बर, 1973 से 21 जुलाई, 1975 तक जारी रहा और 1 अगस्त, 1975 को यह हेलसिंकी में समाप्त हुआ। इसमें 35 देशों ने भाग लिया। सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य यूरोपीय देशों में आपसी सम्बन्ध सुधारना तथा उन्हें सुदृढ़ करना एवं यूरोप में शान्ति, न्याय और सहयोग बढ़ाना था। सम्मेलन में निम्नांकित सिद्धान्तों की घोषणा की गयी :

1. संयुक्त राष्ट्र संघ में आस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा और न्याय की स्थापना में उसकी भूमिका तथा प्रभावकारिता को बढ़ावा देना;

2 राज्यो मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो का विकास करना;

3 समस्त राज्यो की सार्वभौमिक समानता का आदर करना,

4 शक्ति का प्रयोग या उसके प्रयोग की धमकी न देना;

5. सीमाओ का उल्लघन न करना,

6 राज्यो की क्षेत्रीय अखण्डता मे विश्वास,

7 राज्यो के आन्तरिक मामलो मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अकेले या सामूहिक रूप से हस्तक्षेप न करना,

8. विचार, अन्तरात्मा, धर्म या विश्वास सहित मानव अधिकारो और मूल स्वतन्त्रताओ के प्रति आदर रखना,

9 लोगो के समान अधिकारो और आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करना,

10 राज्यो मे आपसी सहयोग को बढावा देना,

11 अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत उत्तरदायित्व का स्वेच्छा से पालन करना इत्यादि।

8 हिन्द चीन का सघर्ष—शीत युद्ध के इस चौथे चरण मे हिन्द चीन मे सघर्ष मे भीषण रूप ले लिया और कम से कम कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होती था कि विश्व शान्ति को सबसे बडा सकट इसी क्षेत्र मे है। 1965 से अमरीकी 'सलाहकारो' ने युद्धरत विदेशी सैनिको का रूप ले लिया था और आधुनिकतम शस्त्रास्त्रो से सज्जित होने के बावजूद उन्हे मुक्ति सैनिको के हाथो लगातार मुंह की खानी पड रही थी। 1968 मे टॉमकिन की खाडी काड के बाद अमरीकी युद्ध सचालन निरन्तर बर्बर होता गया। प्रतिपक्ष ने भी जवाबी हमलो मे क्रूरता बढायी। 'टॉमकिन की खाडी मे उठे बवन्डर ने एक बार फिर यह प्रमाणित किया कि वास्तव मे अमरीका और सोवियत सघ के बीच नैतिक, राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र मे कितनी गैर-बराबरी है। यह गैर बराबरी लगभग पूरे शीत युद्ध के दौर में इन दो महाशक्तियो के सम्बन्धो मे बार-बार झलकती रही। जब रूसियो ने क्यूबा मे प्रक्षेपास्त्र रखे तो अमरीकियो ने उन्हे हटाने पर विवश किया। लातीनी अमरीका में सोवियत सघ का प्रवेश वर्जित रहा और वियतनाम, लाओस आदि मे अमरीकी हस्तक्षेप स्वीकार करने के अलावा उनके पास कोई चारा न था। इन वर्षों मे सोवियत सयम इसी आधार पर समझा जा सकता है। इन्हीं कारणो से सोवियत सघ के लिए निजी परमाणु भण्डार जुटाना परमावश्यक हुआ था। इसी कारण चीनियो को रूसियो पर समझौतापरस्ती, सशोधनवाद और अवसरवादिता का आरोप लगाने का अवसर मिला।

1968 से 1970 के दौरान सगीन मे आतककारी बमबारी, बौद्ध भिक्षुओ का आत्मदाह, येट आक्रमण के दौरान अमरीकी दूतावास पर छापामारो का कब्जा ऐसी घटनाएँ थी, जिन्होने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढाया। युद्ध की गति तेज होने के साथ शत्रु का मनोबल तोडने के लिए हनोई व हाईफोंग की घेराबन्दी की गयी और बडे पैमाने पर नागरिक ठिकानो पर बमबारी शुरू हुई। 1970 मे गुट-निरपेक्ष कम्बुडिया मे सिहानुक अपदस्थ हुए और लाओस लगभग पूरी तरह साम्यवादी प्रभाव क्षेत्र मे चला गया। इस सन्दर्भ मे एक महत्वपूर्ण बात याद रखने की है कि हिन्द

चीन में संघर्ष के बारे में सोवियत-चीन विवाद के बावजूद दोनों देशों में मतैक्य था और दोनों वियतनाम को सहायता देते रहे।

हिन्द चीन में शक्ति संघर्ष का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व और इससे पैदा हुए अन्तर्राष्ट्रीय संकट का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इन वर्षों में एकाधिक बार युद्ध समाप्ति के लिए परमाणु अस्त्रों के उपयोग की बात सुझायी गयी। इसके अलावा अमरीका के सन्धि मित्र 'सिएटो' के सदस्य फिलीपीन्स, थाइलैण्ड आदि अनायास ही इस संघर्ष में खिंच गये और उनके सम्बन्ध अपने पड़ौसी देश के साथ विषाक्त हुए। इस तरह हिन्द चीन में संघर्ष का असर महाशक्तियों के आपसी सम्बन्धों, क्षेत्रीय-सहकार, गुट-निरपेक्ष देशों के राजनय आदि पर देखा जा सकता है। अन्ततः तनाव-शैथिल्य और अमरीका-चीन सम्बन्धों में सामान्यीकरण के बाद ही वियतनाम में युद्ध विराम का मार्ग प्रशस्त हो सका। यह तथ्य इस बात को पूरी तरह प्रमाणित करता है कि वियतनाम समस्या मूलतः शीत युद्ध-जनित थी।

अक्सर हिन्द चीन की समस्या की तुलना समान पृष्ठभूमि के कारण पश्चिम एशिया से की जाती है। परन्तु इसे अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि हिन्द चीन में कम से कम एक महाशक्ति अमरीका प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी थी और इस समस्या का समाधान शीत युद्ध में कमी से नहीं, बल्कि अमरीका के थक जाने के कारण आन्तरिक राजनीति के दबावों के अनुसार हुआ। हिन्द चीन का संघर्ष विकट और दीर्घकालीन होने के बावजूद यह तनाव-शैथिल्य के कारण ही सम्भव हुआ कि दोनों महाशक्तियों में घातक मुठभेड़ नहीं हुई।

चौथे चरण में महाशक्तियों के बीच छुटपुट टकराव या प्रतिद्वन्द्विता वाली प्रमुख घटनाएँ निम्नांकित हैं -

1. भारत-पाक युद्ध—भारत और पाकिस्तान में 1965 और 1971 में युद्ध हुए। इन मुठभेड़ों के बारे में मजेदार बात यह थी कि दोनों ही पक्ष शस्त्रास्त्रों के आयात के लिए महाशक्तियों पर निर्भर थे और इनका विस्फोट बिना दोनों महाशक्तियों के बीच सहमति के सोचा नहीं जा सकता था। 1965 के बाद ताशकन्द समझौते के दौरान महाशक्तियों ने उपमहाद्वीप में शान्ति बनाये रखने के लिए मध्यस्थ की भूमिका अपनाने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखायी। 1971 तक यह बात काफी हद तक बदल चुकी थी। बंगला देश मुक्ति अभियान के दौरान भारत-सोवियत सहयोग व मैत्री सन्धि ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस सिलसिले में जानने योग्य बात यह है कि तब तक अमरीका ने चीन के साथ अपने सम्बन्धों का सामान्यीकरण आरम्भ कर दिया था और सोवियत संघ को अपनी राजनीतिक स्थिति निरापद नहीं लग रही थी। पाकिस्तान के फौजी तानाशाह को अमरीका व चीन का समर्थन प्राप्त था और इसलिए एक बार फिर शीत युद्धजनित दबावों के अनुसार महाशक्तियों ने भारत-पाकिस्तान टकराव में अपनी भूमिका निभायी।

2. पश्चिम एशिया संकट—तेल जैसी खनिज वस्तु के सामरिक महत्व के कारण पश्चिम एशिया का क्षेत्र महाशक्तियों की उपस्थिति का प्रमुख कारण रहा है। अमरीकी सरकार ने यहूदी दबाव के कारण इस्राईल का समर्थन किया। रूस ने इसके विरुद्ध अन्य पश्चिम एशियाई राष्ट्रों की फिलस्तीन की मांग के समर्थन में आरक्षित करना आरम्भ किया। उनके ही एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काने के कारण

इजराईल एव अरब देशो के बीच 1956 के बाद 1967 एव 1973 मे दो और युद्ध हुए। 1978 मे पश्चिम एशिया सकट सुलझाने के लिए तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर की पहल पर इजराईल और मिस्र के बीच कैम्प डेविड समझौता हुआ। इससे एक बार फिर महाशक्तियाँ आमने-सामने खडी हो गई। अरब देश भी इस समझौते के बारे मे विभाजित हो गये। शीत युद्ध के पहले चरण मे पश्चिम एशिया का सकट मूलत अरब राष्ट्रवाद के उदय, तैल सम्पदा पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुत्व, यहूदी-अरब टकराव तथा सोवियत सघ की घेराबन्दी से जुडा था। 1973 के बाद से इस स्थिति मे नाटकीय परिवर्तन हुआ और पश्चिमी एशिया का सकट फिलस्तीनी शरणार्थियो के भविष्य, लेबनान मे साम्प्रदायिक हिंसा और अराजकतावादी आतक-वाद से जुड गया। लीबिया के कर्नल कद्दाफी ही नही, ईरान के खुमैनी भी इस जटिल गुत्थी से अनिवार्यत जुड गये।

3 हिन्द महासागर—हिन्द महासागर भू-राजनीतिक दृष्टि से रूस और अमरीका दोनो के लिए महत्वपूर्ण रहा है। इस जल राशि मे उपस्थिति के जरिए महाशक्तियाँ इसके 44 तटीय देशो पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव रख सकती है। उन्होंने इस बात को ध्यान मे रखते हुए अपनी नौसैनिक उपस्थिति कायम करना आरम्भ किया। वर्तमान मे भी दोनो महाशक्तियो के नौसैनिक जहाज घूमते रहते है। हालाकि 1971 मे सयुक्त राष्ट्र सघ महासभा मे भारी बहुमत से पारित प्रस्ताव के अनुसार यह बडी शक्तियो की प्रतिस्पर्धा से मुक्त क्षेत्र बनना चाहिए। किन्तु बडी शक्तियो ने इस दिशा मे अभी तक कोई प्रभावशाली कदम नही उठाया। यह बात उल्लेखनीय है कि हिन्द महासागर क्षेत्र मे शक्ति सघर्ष सोवियत पहल के कारण शुरू नही हुआ। वस्तुत ग्रेट ब्रिटेन की वापसी के बाद शक्ति शून्य के स्वयमेव भर जाने वाले सिद्धान्त के अनुसार इस जल राशि पर अमरीकियो का एकाधिकार रहा है। यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि अमरीका की बराबरी करना सोवियत सघ के लिए सिर्फ प्रतिष्ठा का प्रश्न नही रहा बल्कि पनडुब्बी से लेकर प्रक्षिप्त परमाणु अस्त्रों की तकनीक तक मे परिष्कार के कारण बहुत बडी सामरिक प्राथमिकता थी।

4 अफ्रीका मे महाशक्तियों का टकराव—अनेक अफ्रीकी देश शीत युद्ध के चौथे काल के दौरान औपनिवेशिक दासता से स्वतन्त्र हुए। अगोला एव जायरे के उदाहरण ज्यादा पुराने नही है, जहाँ उनको स्वतन्त्रता मिलने के दौरान महाशक्तियो ने जी-तोड प्रयास किया कि उनकी सत्ता सम्भालने वाली सरकारें उनकी समर्थक हो। दक्षिण अफ्रीका और नामीबिया मे अल्पसंख्यक गोरो के विरुद्ध बहुसंख्यक कालो को सत्ता सौंपन के बारे मे रूस और अमरीका दोनो इस ताक मे रहे कि आगामी सरकार उनकी समर्थक हो। इसके लिए वे एक-दूसरे के विरुद्ध वहाँ दोनो प्रतिस्पर्धी गुटो की मदद करते रहे। अफ्रीका मे महाशक्तियो के टकराव की गुजाइश सिर्फ रगभेद की उत्पीडक नीति के कारण ही नही रही। कैम्प डेविड समझौते के बाद से सोवियत सघ को यह लगता रहा है कि अमरीका उसे इस पूरे क्षेत्र मे उसके न्यायोचित हिस्से से वचित रखना चाहता है। अत. अमरीकी राजनय को तनावग्रस्त रखने के लिए क्यूबा के माध्यम से सोवियत सघ का प्रयत्न अगोला, मोजाबिक आदि सीमान्ती देशो की जुझारू आत्रामकता बनाये रखना रहा।

शीत युद्ध के प्रभाव
(Effects of Cold War)

उपरोक्त घटनाक्रम के विश्लेषण से स्पष्ट है कि शीत युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर अनेक प्रभाव पड़े। संक्षेप में, उन्हें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. भय एवं सन्देह का वातावरण—महाशक्तियों के आपसी टकराव के कारण विश्व समुदाय के देशों में एक-दूसरे के प्रति निरन्तर भय एवं सन्देह का वातावरण बना रहा। इस प्रतिकूल वातावरण ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में सहयोग एवं विश्वास उत्पन्न करने में अनेक बाधाएँ खड़ी की।

2. शस्त्रों की होड़ एवं निशस्त्रीकरण की असफलता—शीत युद्ध के कारण अधिकांश देशों ने अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों के भण्डार भरने आरम्भ किये। फलस्वरूप शस्त्रास्त्रों के निर्माण का अपार खर्चा सहन करने के बाद लोक कल्याणकारी कार्यक्रमों के सम्पादन पर प्रतिकूल असर पड़ा। शस्त्रास्त्रों का भण्डार जमा करने की होड़ से निशस्त्रीकरण प्रयास विफल हो गये।

3. सैनिक एवं प्रादेशिक संगठनों का गठन—शीत युद्ध के प्रारम्भिक काल में गरीब मुल्कों ने महाशक्तियों द्वारा प्रवर्तित सैनिक एवं प्रादेशिक सगठनों जैसे नाटो, सेन्टो, सिएटो एवं वारसा पैक्ट में शामिल होकर सुरक्षा चाही।

4. विश्व का दो गुटों में विभाजन व गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का आरम्भ—शीत युद्ध के कारण अमरीका और रूस के नेतृत्व में अन्तर्राष्ट्रीय समाज अनेक मामलों पर दो गुटों में बँट गया। इन गुटों के नेता देश अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए दूसरों की आड़ में शासन चलाते रहे। आरम्भ में भारत, मिस्र और यूगोस्लाविया ने महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा में किसी एक की तरफदारी करने से साफ इन्कार कर गुट-निरपेक्ष नीति अपनायी। बाद में इसका तीसरी दुनिया के अनेक देशों ने अनुसरण किया।

5. संयुक्त राष्ट्र संघ का अवमूल्यन—विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के दृष्टिकोण से 1945 में स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा से उसके प्रभावशाली कार्य में अनेक अड़गे उत्पन्न हुए। यह संगठन उनकी राजनीतिक का अखाड़ा बन गया। इस विश्व संगठन में भी अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय गुटबाजी के चंगुल से अछूता न रहा। दोनों महाशक्तियों ने अपनी हठधर्मिता के कारण 'वीटो' का दुरुपयोग किया। अमरीका ने चीन और वियतनाम द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यता पाने के सवाल पर वीटो का इस्तेमाल कर उनके प्रवेश को अनेक वर्षों तक रोके रखा।

6. अनेक देशों में राजनीतिक अस्थिरता—विश्व के अन्य भागों में अपने-अपने राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थों के कारण महाशक्तियों ने परोक्ष एवं अपरोक्ष हस्तक्षेप द्वारा वहाँ की मौजूदा सरकारों को बदलने का असफल एवं सफल प्रयास किया। इससे अनेक देशों में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण बना रहा।

शीत युद्ध के प्रभाव के बारे में एक बार फिर इसाक डोयशर की टिप्पणियाँ विचारोत्तेजक और महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने लिखा है—'जैसा अक्सर ऐसे सैद्धान्तिक संघर्षों में होता है, कोई भी पक्ष यह नहीं देख सकता कि विवाद भविष्य में क्या

रूप लेगा ? विपक्षी की या स्वय उसकी स्थिति क्या होगी ? इसी कारण शीत युद्ध के परिणामस्वरूप सोवियत आर्थिक नीतियो मे लचीलापन, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के प्रति उसका आग्रह और सोवियत चीन-विग्रह देखने को मिले।'

शीत युद्ध सैद्धान्तिक सघर्ष बनाम शक्ति राजनीति
(Cold War Ideological Conflict vs Power Politics)

यहाँ पर यह सवाल उठना जरूरी है कि क्या शीत युद्ध विशुद्ध रूप से राष्ट्र हितो के सरक्षण के लिए शक्ति सन्तुलन एव शक्ति प्रसार की राजनीति से प्रेरित था या इसके पीछे कोई सैद्धान्तिक कारण थे ? शीत युद्ध मूल रूप से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व के दो खेमो मे विभाजित हो जाने की प्रक्रिया का परिणाम था। 1945 के पूर्व भी विश्व मोटे तौर पर समान रूप से शक्तिशाली दो ध्रुवो मे विभाजित रहा। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी द्वितीय विश्व युद्ध अधिनायकवादी एव फासिस्ट शक्तियो के विरुद्ध लोकतन्त्रीय शक्तियो द्वारा लडा गया था। अत सैद्धान्तिक रग तब भी था, किन्तु 1945 के बाद ग्रेट ब्रिटेन के शक्ति पराभव ने यूरोप मे शक्ति सन्तुलन को एकतरफा बना दिया और रूस की शक्ति इतनी अधिक हो गई कि उसे यूरोपीय देश सन्तुलित करने मे विफल रहे। अमरीका यद्यपि यूरोप से बहुत दूरी पर स्थित था किन्तु वह रूस को सन्तुलित कर सकता था। इस दृष्टि से यूरोप के वे सभी देश, जो रूसी साम्यवादी पद्धति के विरुद्ध थे, अमरीका का मुँह ताकने लगे। उधर रूस साम्यवाद के प्रसार के लिए यूरोप और एशिया मे पूँजीवादी खेमे को ललकारने लगा। द्वितीय विश्व युद्ध के तुरन्त बाद चीन, कोरिया एव पश्चिम एशिया के कुछ देशो मे साम्यवाद एव रूस के बढते हुए प्रभाव से विचलित होकर पूँजीवादी खेमे ने अमरीका के नेतृत्व मे साम्यवाद को 'अन्तर्राष्ट्रीय नासूर' की सज्ञा देते हुए उसका प्रसार रोकने की कटिबद्धता स्पष्ट कर दी।

विश्व के इस प्रकार दो खेमो मे विभाजन के पीछे सैद्धान्तिक कारण थे। अमरीका और उसके साथी पश्चिम यूरोपीय देश जनतान्त्रिक व्यवस्था के पोषक थे एव आर्थिक क्षेत्र मे निजी सम्पत्ति एव मुक्त व्यापार के दर्शन को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। साम्यवादी व्यवस्था मे इन बातो के लिए कोई स्थान न था। साम्यवाद शस्त्र एव क्रान्ति के बल पर वैचारिक प्रचार को उचित मानता था। जहाँ रूस इस सिद्धान्त के तहत साम्यवाद का प्रसार करना चाहता था, वही अमरीका एव मित्र राष्ट्र अपनी आर्थिक एव सैनिक शक्ति के बल पर साम्यवाद का प्रसार रोके रखना चाहते थे। यही शीत युद्ध के पीछे मुख्य मुद्दा था और इसी के साथ सैद्धान्तिक एव राष्ट्र हित जुडे हुए थे।

वैसे दोनो खेमो ने शीत युद्ध को सैद्धान्तिक सघर्ष बतलाया है। उदाहरणार्थ, इग्लैण्ड के तत्कालीन प्रधानमन्त्री विंस्टन चर्चिल ने अपने फुल्टन भाषण मे सोवियत व्यवस्था को लौह-दीवार (Iron curtain) बतलाते हुए उसे ईसाई सभ्यता के लिए सबसे बडा खतरा माना था तथा साम्यवाद के अन्तर्गत परतन्त्र व्यक्तियो को स्वतन्त्र करने के लिए एक आग्ल-अमरीकी सन्धि आवश्यक मानी। पूँजीवादी खेमे के एक इतिहासकार आरनोल्ड टोयनबी ने भी शीत युद्ध को उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद के मध्य सघर्ष माना। उनके अनुसार साम्यवाद और लोकतन्त्र को लेकर विश्व द्वि-ध्रुवीय प्रणाली मे विभाजित हो चुका था, जिनके

नेता क्रमशः रूस और अमरीका थे। दूसरे देश, टोयनबी के अनुसार, 'कुछ न कुछ मात्रा में इनके आश्रित हैं।' इनमें से अधिकांश देश अमरीका पर और कुछ रूस पर आश्रित हैं। इनमें से कोई भी एक या दूसरी शक्ति से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है।

रूस ने भी पूंजीवादी देशों के साथ अपने संघर्ष को सैद्धान्तिक रंग दे दिया। 5 अक्तूबर, 1947 को रूस सहित 18 प्रमुख साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों द्वारा मास्को तथा वारसा से एक साथ जारी किये गये घोषणा-पत्र से स्पष्ट होता है कि साम्यवादी भी शीत युद्ध को सैद्धान्तिक युद्ध मानते थे। इस घोषणा-पत्र में कहा गया है कि "दो विरोधी राजनीतिक विचारधाराएँ स्पष्ट हो गयी हैं। एक ओर सोवियत संघ तथा अन्य लोकतन्त्रीय राज्यों का उद्देश्य साम्राज्यवाद का विनाश तथा लोकतन्त्र को मजबूत बनाना है। दूसरी ओर इंग्लैण्ड और अमरीका का उद्देश्य साम्राज्यवाद को मजबूत बनाना तथा लोकतन्त्र का गला घोंटना है। चूंकि सोवियत संघ और लोकतन्त्रीय देश विश्व प्रभुत्व एवं लोकतन्त्रीय आन्दोलनों के दमन की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक है, इसलिए इंग्लैण्ड तथा अमरीका के खूनी साम्राज्य-वादियों ने सोवियत संघ तथा नये लोकतन्त्र के प्रतीक अन्य देशों के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ कर दिया। इन परिस्थितियों में साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तों द्वारा लोकतन्त्रीय समुदाय के लिए संगठित होकर साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध अपनी कार्यवाही निश्चित करने हेतु एक सामान्य मंच का निर्माण करना आवश्यक है।'

किन्तु अपने-अपने राष्ट्र हितों की रक्षा के लिए साम्यवादी और पूंजीवादी खेमों में जहाँ-जहाँ टकराव हुआ या टकराव की स्थिति पैदा हुई, उन्हें दोनों महाशक्तियों ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सैद्धान्तिक जामा पहना दिया। वस्तुतः संघर्ष तो राष्ट्र-हितों, शक्ति प्रचार, विरोधी की शक्ति सीमित करने या शक्ति सन्तुलन के लिए ही छिड़े थे। अमरीका 'मुक्त अर्थव्यवस्था' का प्रतिपादक होने के कारण किसी भी देश में साम्यवाद के प्रसार को अपने राष्ट्र-हितों के विरुद्ध मानता था क्योंकि उस देश में न तो उसे कच्चा माल मिल सकता था और न ही खुला बाजार। यह संयोग की बात नहीं थी कि अमरीकी खेमे के सभी देश 'मुक्त-अर्थव्यवस्था' के अनुयायी थे। वस्तुस्थिति यह थी कि उनके आर्थिक हितों ने साम्यवाद के प्रसार को रोकना आवश्यक बना दिया था। अमरीकी खेमे में कई उपनिवेशवादी देश थे, जो अपने उपनिवेशों को छोड़ना नहीं चाहते थे। साम्यवाद की लहर उपनिवेशों में अव्यवस्था पैदा कर क्रान्ति की भूमिका तैयार कर सकती थी। अतः साम्यवाद को ही धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से बुरा बताकर ये देश उप-निवेशों पर अपना वर्चस्व बनाये रखना चाहते थे। पूंजीवादी देश अपने को लोकतन्त्र का सबसे बड़ा मसीहा प्रतिपादित करते थे, किन्तु साम्यवाद विरोधी खेमा बनाने की प्रक्रिया में वे सैनिक तानाशाहों एवं निरंकुश राजाओं को अपने साथ रखने में कभी नहीं हिचकिचाए। इस दृष्टि से वे ईरान व सऊदी अरब जैसे शाहों को साम्यवाद-विरोध के लिए आवश्यक मानते थे, वहीं थाइलैण्ड, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया के सैनिक तानाशाहों तथा फिलीपीन्स के राष्ट्रपति मार्कोस जैसे जनतन्त्र-विरोधी नेताओं को भी प्रश्रय देने में वे नहीं चूके। अतएव शीत युद्ध का मुख्य मुद्दा लोकतन्त्र की रक्षा नहीं था।

दूसरी ओर रूस के सैद्धान्तिक दावे भी राष्ट्र-हितों के सामने खोखले पड़ जाते हैं। रूस ने भी पूंजीवादी देशों को परेशान करने के लिए अनेक बार

अधिनायकवादियो को समर्थन दिया है। मिसाल के तौर पर सोमालिया, इथोपिया, सुडान, लीबिया जैसे देशो के सैनिक तानाशाहो को रूस महज इसलिए समर्थन देता रहा, क्योंकि वे पूंजीवादी खेमे के विरुद्ध थे। यहाँ तक कि उगाडा के दादा अमीन को भी रूस ने कभी बुरा नही कहा। रूस के सैद्धान्तिक नकाब को उतारने के लिए एक ही उदाहरण काफी है। 1970 मे अमरीका के इशारे पर जब लोन नोल ने कम्पुचिया के राजकुमार सिहानुक को अपदस्थ कर सत्ता हथिया ली एव 1975 तक साम्यवादियो के दमन मे उसन कोई कसर न छोडी, तब भी उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई करना तो दूर रहा, रूस ने उससे राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद भी नही किये। कुल मिलाकर शीत युद्ध के पीछे रूस का प्रमुख उद्देश्य ससार को दो खेमो में विभाजित रखते हुए स्वय को एक खेमे का सर्वेसर्वा बनाये रखना मात्र रहा। यही कारण है कि किसी तीसरे शक्ति केन्द्र के निर्माण को रूस ने साम्यवाद-विरोधी माना क्योंकि वह उसके राष्ट्र-हितो के विरुद्ध है। चीन के साथ मतभेद इस पृष्ठभूमि मे ज्यादा अच्छी तरह समझे जा सकते हैं।

चौथा अध्याय

क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय तथा सैनिक संगठन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'क्षेत्रवाद' का प्रयोग नया नहीं। भौगोलिक सामीप्य, सांस्कृतिक एकरूपता तथा सहयोगी राजनीतिक सम्बन्धों या परस्पर आर्थिक निर्भरता के अनुसार अक्सर राज्यों को एक खास समूह में रखा-पहचाना जा सकता है। यह समूह अपनी एक अलग पहचान बना लेता है। प्राचीन काल में यूनानी साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद भी यूनानी प्रभाव क्षेत्र में एक बार आ चुकी इकाइयों की विशिष्ट क्षेत्रीय पहचान सदियों तक बनी रही। कमोबेश यही बात रोमन साम्राज्य (होली रोमन एम्पायर तक), चीनी साम्राज्य तथा मध्य-युगीन इस्लामी खलीफाओं तक बनी रही।

क्षेत्रवाद का एक दूसरा प्रयोग तिरस्कारपूर्ण तथा अपमानजनक ढंग से 'क्षेत्रीयता' के रूप में होता है। इस सन्दर्भ में इसे प्रान्तीयता या प्रादेशिकता के पर्याय के रूप में कूपमंडूकता की निशानी की तरह लिया जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सामयिक क्षेत्रवाद इन दोनों ही प्रवृत्तियों को झलकाता है। एक ओर नवोदित राष्ट्रों ने औपनिवेशिक गुलामी का जुआ उतार फेंकने के बाद अपनी स्वाधीनता बरकरार रखने तथा आर्थिक स्वावलम्बन की आकांक्षा से अपने संकीर्ण स्वार्थों को पीछे रखकर एकता की उपयोगिता समझी। इस क्षेत्रवाद की मूल प्रेरणा यह थी कि साम्राज्यवादी औपनिवेशिक ताकतों ने 'फूट डालकर राज करने' की नीति अपनायी थी और उनकी वापसी के बाद अलगाव बनाये रखने की कोई जरूरत नहीं रह गयी थी।

इसके बाद एक और प्रवृत्ति ने क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया। औपनिवेशिक काल में विभिन्न यूरोपीय शक्तियों ने अपने-अपने उपनिवेशों को अपने राजनीतिक साँचों में ढालने का प्रयत्न किया। इसकी गहरी छाप आज भी हिन्द चीन, अलजीरिया और लातीनी अमरीका में देखने को मिलती है। ऐतिहासिक महत्त्व की इस प्रक्रिया ने एक भू-भाग के कई उप-क्षेत्रीय विभाजन कर दिये। 1945 के बाद विश्व भर में अनेक जगह क्षेत्रवाद और क्षेत्रीय संगठन इन उप-क्षेत्रीय हितों, स्वार्थों, महत्त्वाकांक्षाओं से पुष्ट होते रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ और महाशक्तियों ने अपने-अपने ढंग से क्षेत्रवाद और क्षेत्रीय संगठनों को प्रेरित-प्रोत्साहित किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इस आशा के साथ की गई थी कि इसके द्वारा क्रमशः विश्व सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा। इनिस क्लोड जैसे विद्वानों का यह मानना रहा कि क्षेत्रीय संगठन सम्प्रभु-स्वतन्त्र राज्यों और विश्व सरकार के बीच आवश्यक-अनिवार्य सेतु बन सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए जिस तरह 'इकाफे' (ECAFE; बाद में ESCAFE) जैसे संगठनों की स्थापना की,

उसे एक तरह से क्षेत्रीय सगठनो को प्रतिष्ठा देने का आरम्भ समझा जा सकता है।

जहाँ तक अमरीका का प्रश्न है, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीकी सरकार के लिए यह चिन्ता निरन्तर बनी रही कि यूरोप मे साम्यवादी लाल सेना का जमाव व व्यापक सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल सिर्फ साम्यवादियो के प्रसार-विस्तार मे सहायक हो सकते हैं। इस कारण मार्शल योजना के जरिये या बर्लिन की घेराबन्दी तोडने के लिए बडा जोखिम उठा सकने की अमरीकी तत्परता बारम्बार कभी प्रत्यक्ष तो कभी परोक्ष रूप से यूरोप की राजनीतिक एकता व भौगोलिक इकाई, अलग क्षेत्रीय पहचान को प्रमाणित करने वाली सिद्ध हुई। बाद के वर्षों मे जनरल देगोल जैसे यूरोपीय नताओ ने मध्ययुगीन सास्कृतिक उत्तराधिकार मे नव-जीवन का सचार करते हुए यूरोपीय साझा बाजार का शिलान्यास किया।

इसकी प्रतिक्रिया मे सोवियत सघ ने अपने प्रभाव क्षेत्र मे आ चुके पूर्वी यूरोप के उपग्रह राज्यो को 'कोमेकोन' (COMECON) के झण्डे तले सगठित करना आवश्यक समझा। यहाँ याद रखना जरूरी है कि यूरोप मे पश्चिमी तथा पूर्वी क्षेत्रो मे विभाजन सिर्फ शीत युद्ध के कारण नही सम्पन्न हुआ, बल्कि जहाँ एक ओर आधुनिक यूरोप के ऐतिहासिक घटनाक्रम मे पिछली दो तीन सदियो मे फ्रास, ब्रिटेन, आस्ट्रिया घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे है, वही दूसरी ओर आस्ट्रिया, हगरी, पोलैण्ड, रूस आदि अधिकाश यूरोपीय देश राजनीतिक व सास्कृतिक उथल-पुथल से बडी सीमा तक अछूते रहे हैं। शीत युद्ध के आविर्भाव के बाद सैनिक सगठनो की स्थापना ने इन क्षेत्रीय विभाजनो को और पक्का किया। 'नाटो' और 'वारसा' शक्तियो का द्वन्द्व तथा 'यूरोपीय आर्थिक सगठन' (European Economic Community) और 'कोमेकोन' की स्पर्द्धा-प्रतिद्वन्द्विता तथा विग्रह इसके उदाहरणस्वरूप बतलाये जा सकते हैं।

अनेक औपनिवेशिक शक्तियो ने उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद अपने भूतपूर्व उपनिवेशो मे प्रकारान्तर से अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए भी क्षेत्रीय सगठनो का निर्माण किया। जिस समय मलयेशिया महासघ की प्रस्तावना की गयी, उस समय इण्डोनेशिया ने स्पष्टत आक्षेप लगाया कि यह अग्रेजो का दक्षिण-पूर्व एशिया मे बने रहने का षड्यन्त्र था। इसी तरह फ्रास ने अफ्रीका मे फ्रेंच भाषी इकाइयो को सगठित करने मे कोई कसर नही छोडी। आगे चलकर 'आमा', 'माफिलिदो', 'आमियान' या अफ्रीकी एकता सगठन (Organisation of African Unity) के रूप मे इनकी परिणति हुई। कई बार इस पूर्व भूमिका को भुलाकर यह दावा किया जाता रहा है कि ये सभी क्षेत्रीय सगठन स्वत स्फूर्त और स्थानीय प्रेरणा से उपजे हैं।

क्षेत्रवाद की परिभाषा
(Definition of Regionalism)

उपरोक्त सर्वेक्षण के बाद क्षेत्रवाद की परिभाषा एव उसके स्वरूप के बारे मे सोचना सहज होगा। क्षेत्रीय सगठन भौगोलिक सामीप्य और सामूहिक हित, प्रतिरक्षा एव आर्थिक विकास की जरूरतो के अनुसार राज्यो को वैकल्पिक ढग से एकत्र होने की प्रेरणा देते रहे हैं। इस प्रवृत्ति को वैचारिक सिद्धान्त एकता पुष्ट करती है। यही क्षेत्रवाद या क्षेत्रीय सगठनो की मूल प्रेरणा है।

डा० ई० एन० वान क्लेफेंस का कहना है—क्षेत्रीय व्यवस्था या समझौता एक क्षेत्र मे सार्वभौमिक राज्यो का ऐच्छिक समुदाय है जिनके उस क्षेत्र मे

सामान्य उद्देश्य होते हैं, परन्तु जो उस क्षेत्र के लिए आक्रमक नहीं होने चाहिएं।'[1] लेकिन, यह परिभाषा शीत युद्ध के एक विशेष दौर के सदर्भ में ही सटीक बैठती है। पिछले 30–40 वर्षों में यह स्पष्ट हो चुका है कि अनेक क्षेत्रीय संगठनों के तेवर और उनकी प्रकृति मुख्यतः आक्रमक हो सकते है। इसी सिलसिले में अर्नेस्ट हास जैसे विद्वानो ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयाँ बड़े क्षेत्रीय सगठनो मे विलय के बाद ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकती हैं। इस प्रकार शक्ति-सतुलन सिद्धान्त की तरह क्षेत्रीयकरण और क्षेत्रवाद को एक शाश्वत सिद्धान्त के रूप मे भी प्रचारित किया जाने लगा है।

क्षेत्रीय संगठनों के प्रकार
(Kinds of Regional Organizations)

क्षेत्रीय सगठनो को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग में एक ही भौगोलिक क्षेत्र या सास्कृतिक परिधि मे रहने वाले देशो का लगभग अवचेतन ढग से एकता को प्रच्छन्न रूप से स्वीकार करने वाले क्रियाकलाप या सगठन रखे जा सकते हैं। धर्म और नस्लीय तत्व इसको पुष्ट करते हैं। अक्सर ऐसा भी होता है कि इन देशों की आर्थिक व सुरक्षा समस्याएँ मिलती जुलती है। इस तरह भौगोलिक निकटता, सास्कृतिक समरूपता तथा सामूहिक आर्थिक हितो के आधार पर 'सगठित' क्षेत्रीय सरचनाओ मे अरब राष्ट्रों की बिरादरी मे अरब लीग प्रमुख है। इस अमूर्त सी एकता से कालक्रम में अधिक विशेषीकृत संरचनाएँ उभरती हैं। इस्लामी बिरादरी और अरब भाईचारे ने जिस क्षेत्रवाद को पुष्ट किया, उसकी परिणति 'अरब लीग', 'ओपेक' और 'गल्फ कॉपरेशन कौंसिल' मे हुई। इस तरह के क्षेत्रीय सगठन भौगोलिक सास्कृतिक कहे जा सकते हैं। इसी तरह के और उदाहरण 'आसियान', 'अफ्रीका एकता सघ' और 'साफ्टा' हैं।

क्षेत्रीय सगठनो की दूसरी किस्म सैनिक सगठनो वाली है। शीत युद्ध के पहले दौर मे सामरिक समस्याओ को क्षेत्र विशेष के साथ जोड़कर देखा जाता रहा। यूरोप, पश्चिम एशिया, दक्षिण पूर्व एशिया तथा सुदूर पूर्व मे 'डोमिनो सिद्धान्त' के आधार पर अपने-अपने समर्थको-पक्षधरों को मजबूत करने के लिए सैनिक सहबन्ध (Alliances) का निर्माण किया गया। इनमे 'नाटो', 'सेन्टो', 'सिएटो' और 'वारसा सन्धि' उल्लेखनीय हैं। इनमे से प्रत्येक किसी क्षेत्र विशेष की समस्याओ से जुड़ा हुआ है। अनायास ही इस प्रवृत्ति ने क्षेत्रवाद की पहचान बनायी और संकीर्ण राष्ट्र हित के स्थान पर क्षेत्रीय हित रेखांकित किये।

परन्तु यह भी स्मरणीय है कि इन सैन्य सगठनो के कारण क्षेत्रीयता मे अनेक बार दरारें भी पड़ी। उदाहरणार्थ, दक्षिण पूर्व एशिया में हिन्द चीन और मलय राष्ट्रो के बीच मुठभेड या पश्चिम एशिया मे अरब-इजराईल सघर्ष मे बिगाड इसी कारण आया। शायद इसका सबसे अच्छा उदाहरण यूरोप मे मिलता है, जिसमे नाटो और वारसा सधि के बीच 'शत्रुता' के कारण लबे समय तक यूरोप का विभाजन

[1] 'A regional arrangement or pact is a voluntary association of sovereign states within a certain area or having common interest in that for joint purpose, which should not be of an offensive nature, in relation to that area.' E. N Van Kleffens, Regionalism and Political Pacts, *The American Journal of International Law*, (Washington D. C , October, 1949), 669.

कटुतापूर्ण बना रहा। यूरोपीय साझा बाजार और 'कोमेकोन' का गठन तथा ओस्त पोलिनिक भी इसको मिटा नही पाये। कमोबेश यह बात अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण सैनिक सहबन्धो पर भी लागू होती है। जैसे अंजुस (ANJUS) सन्धि में भागीदारी ने दक्षिण-पूर्व एशिया और दक्षिण-प्रशान्त क्षेत्र मे क्षेत्रीय शक्तियो और राज्यो को एक-दूसरे से अलग किए रखा।

क्षेत्रीय सगठनो का तीसरा प्रकार यह है, जो या तो सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा प्रेरित-प्रोत्साहित होता है (जैसे 'इकाफे', 'एस्केफ' आदि) या फिर सैनिक सगठनो के क्षय और पुराने गठबन्धनो के अवमूल्यन के बाद क्षेत्र की ही किसी शक्ति द्वारा सुझाया जाता है। इस परम्परा मे दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग सघ (SAARC) या अपदस्थ होने के पहले ईरान के शाह द्वारा सुझायी गयी क्षेत्रीय विकास की सहकारी परियोजना उल्लेखनीय हैं। 'आसियान' और खाडी सहयोग सघ (Gulf Cooperation Council) दोनो का नाम इस सूची मे जोडा जाता है। अधिकतर विद्वानो का मानना है कि ऐसा करना उचित नहीं। इन दोनो सगठनो का आविर्भाव जिन परिस्थितियों में हुआ, उनसे यही पता चलता है कि पश्चिमी रणनीति जिन सगठनो पर आधारित थी, उनके अवमूल्यन के बाद उनका स्थान लेने के लिए ही प्रकटत स्वाधीन सगठनो के रूप मे ये मूर्तिमान हुए।

प्रादेशिक संगठनों की उपादेयता
(Utility of Regional Organizations)

विश्व शान्ति और सुरक्षा के उद्देश्य से बने राष्ट्र सघ और सयुक्त राष्ट्र सघ मे उनके सदस्य-राष्ट्रो को प्रादेशिक सगठनो के निर्माण की इजाजत दी गयी। इसका स्वाभाविक तौर पर यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इन प्रादेशिक सगठनो की उपादेयता है। इनकी उपादेयता निम्नांकित बिन्दुओ के तहत अभिव्यक्त की जा सकती है—

(क) क्षेत्रीय सहयोग और एकता की स्थापना—प्रादेशिक सगठन अपने सदस्य देशों मे क्षेत्रीय सहयोग एव एकता स्थापित करते हैं। एक क्षेत्र के देशो की तमाम समस्याओं तथा हितो के कारण उनम सहयोग एव एकता की स्थापना आवश्यक हो जाती है और इसको प्राप्त करने में ज्यादा दिक्कतो का सामना भी नहीं करना पडता। क्षेत्र के विभिन्न राष्ट्र क्षेत्रीय सगठन बनाकर आपस में राज-नीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक आदि क्षेत्रो मे सहयोग कर लाभ उठाते हैं।

(ख) बाहरी हस्तक्षेप का डटकर मुकाबला—प्रादेशिक सगठनो मे आम तौर पर यह प्रावधान रखा जाता है कि क्षेत्र के किसी एक देश मे बाहरी हस्तक्षेप होने पर सगठन के अन्य सदस्य उस देश की सहायता करेंगे। ऐसे सकटकालीन समय मे समस्त क्षेत्रीय देश बाहरी हस्तक्षेप का डटकर मुकाबला कर सकते हैं।

(ग) अन्तर-क्षेत्रीय समस्याओं का क्षेत्रीय स्तर पर हल ढूंढना—प्रादेशिक सगठन अन्तर क्षेत्रीय समस्याओ का क्षेत्रीय स्तर पर हल ढूंढन मे अन्य सगठनो की अपेक्षा अधिक कामयाब हो सकते है। यदि किसी क्षेत्र के किन्ही दो राष्ट्रो में किसी मसले को लेकर विवाद है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ले जाने से दोनो देशो मे कटुता बढ़ेगी। यदि प्रादेशिक सगठन अपने इन सदस्य देशो के आपसी विवाद का हल ढूंढने म कामयाब रहते हैं तो अनावश्यक द्वेष से बचा जा सकता है।

(घ) संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य सुगम बनाना—संयुक्त राष्ट्र संघ में समस्त प्रादेशिक समस्याओं पर अपेक्षित ध्यान दिया जाना मुश्किल ही नहीं, वरन् कभी-कभी असम्भव भी हो जाता है। यदि छोटी-मोटी क्षेत्रीय समस्याओं को प्रादेशिक संगठनों द्वारा क्षेत्रीय स्तर पर ही हल कर लिया जाये तो संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य हल्का हो जायेगा। इससे संयुक्त राष्ट्र संघ शेष जटिल प्रादेशिक समस्याएँ सुलझाने पर अधिक ध्यान दे सकेगा।

प्रमुख प्रादेशिक संगठन
(Major Regional Organizations)

अरब संघ (Arab League)

ब्रिटिश आशीर्वाद एवं सहयोग से 22 मार्च, 1945 को अरब संघ की स्थापना की गयी। मिस्र, इराक, सीरिया, लेबनान, जोर्डन, सऊदी अरब और यमन इसके सात प्रारम्भिक सदस्य थे। बाद में जो अन्य देश इसके सदस्य बने, वे हैं—लीबिया, सूडान, ट्यूनीसिया, मोरक्को, कुवैत, अल्जीरिया, बहरीन, मारीतानिया, ओमान, कतार, सोमालिया, दक्षिण यमन, संयुक्त अरब अमीरात। इस समय फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चे के प्रतिनिधि को मिलाकर अरब संघ के 21 सदस्य हैं।

अरब संघ के उद्देश्य (Objectives)

अरब संघ के चार्टर में उसके निम्नांकित उद्देश्य गिनाये गये हैं—

(क) अरब देशों की सम्प्रभुता की रक्षा;

(ख) फिलस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना का विरोध;

(ग) सदस्य राष्ट्रों में आर्थिक, वित्तीय, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सहयोग की स्थापना;

(घ) पश्चिम एशिया में यूरोपीय उपनिवेशवाद की समाप्ति आदि।

अरब संघ के अंग (Organs)

अरब संघ के प्रमुख अंग निम्नांकित हैं—

(क) परिषद—अरब संघ में परिषद अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। इसे मजलिस भी कहा जाता है। सदस्य देशों से गठित परिषद की बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं। इसमें निर्णय सर्वसम्मति से लेने का प्रयास किया जाता है। लेकिन कोई भी सदस्य राष्ट्र इसके बहुमत का निर्णय मानने के लिए बाध्य नहीं है। महासचिव परिषद के कार्यों को निपटाता है।

(ख) विदेश समितियाँ—अरब संघ में कुछ विदेश समितियों की स्थापना की व्यवस्था की गयी है। इनमें राजनीतिक समिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस समिति में सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्री होते हैं। समय-समय पर उठे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संकटों पर यह विचार करती है।

(ग) सचिवालय—अरब लीग का सचिवालय पहले काहिरा (मिस्र) में था, लेकिन अब यह ट्यूनिस (ट्यूनिसिया) में है। यह अरब संघ के विभिन्न कार्यों में तालमेल बिठाने का कार्य करता है। इसमें एक महासचिव होता है। इसके प्रथम

महासचिव मिस्र के अब्दुल रहमान आजम पाशा थे।

अरब संघ में संकट (Crisis)

अरब संघ के सदस्य देशों में पारस्परिक मत-भिन्नता तथा झगड़ों के कारण समय-समय पर कई संकट उठे हैं। इन संकटों को निम्नांकित बिन्दुओं में अभिव्यक्त किया जा सकता है

(क) अरब जगत के देशों का नेतृत्व हथियाने के लिए मिस्र और इराक के बीच हमेशा प्रतिद्वन्द्विता रही है। अनेक बार इराक ने अरब संघ की बैठकों का बहिष्कार किया है।

(ख) 1946 से 1956 तक जोर्डन तथा सऊदी अरब के शासकों के बीच राजवंशीय प्रतिद्वन्द्विता के कारण अरब संघ में तनाव बढ़ा है। लेकिन 29 अगस्त, 1962 को दोनों देशों के बीच सैनिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सहयोग करने के लिए एक समझौता हुआ।

(ग) 1978 में अमरीकी मध्यस्थता से इजराईल और मिस्र के बीच कैम्प डेविड समझौता होने के बाद बहुसंख्यक अरब देशों ने मिस्र की कड़ी आलोचना की। यही नहीं, कैम्प डेविड समझौते के बारे में कुछ अरब देशों ने अतिवादी विरोध का रुख अपनाया, जबकि कुछ मध्यम-मार्गी रुख के हामी रहे। यह उनकी पारस्परिक मतभेद और फूट का सूचक है।

(घ) अरब देशों में आपसी झगड़ों को लेकर उनमें समय-समय पर तनावपूर्ण स्थिति पैदा होती रहती है। मसलन, मोरक्को और अल्जीरिया तथा ओमान और दक्षिण यमन में अनेक मसलों पर मत-भिन्नता के कारण वे एक-दूसरे से चिढ़े रहते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी सहारा को लेकर मोरक्को और अल्जीरिया तथा मिस्र और लीबिया में भी ऐसी ही खींचातान चलती रहती है।

ईरान-इराक संघर्ष (1980) और कुवैत पर इराकी हमले (1990) के कारण भी अरब राष्ट्रों की एकता खण्डित हुई और अरब लीग की 'अक्षमता' उजागर हुई।

अरब संघ का मूल्यांकन (Assessment)

अरब संघ में उठे अनेक संकटों के बावजूद उसकी अनेक सफलताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहली, संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अफ्रो एशियाई समुदाय की सहायता से इसने अपने उपनिवेशवाद विरोधी अभियान के द्वारा अनेक अरब देशों को औपनिवेशिक शक्तियों के चंगुल से मुक्ति दिलाने में सफलता अर्जित की। दूसरी, इजराईल के खिलाफ फिलस्तीन के मसले पर उसने विश्व समाज के बहुत बड़े वर्ग का समर्थन प्राप्त किया। तीसरी, 'तेल कूटनीति' अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेल को राजनीतिक हथियार के रूप में उसने अपने विरोधियों के खिलाफ इस्तेमाल कर उनको नीचे झुकने पर मजबूर किया। जापान ने 'तेल' की आवश्यकता के कारण ही इजराइल के बजाय अरब देशों को अपना समर्थन दिया।

अफ्रीकी एकता संगठन
(Organization of African Unity OAU)

15–25 मई, 1963 के दौरान इथियोपिया की राजधानी आदिस अबाबा

में आयोजित एक सम्मेलन में 31 अफ्रीकी देशों के प्रतिनिधि मिले। 25 मई, 1963 को एक चार्टर पर उन्होंने हस्ताक्षर करके अफ्रीका एकता सगठन (O.A.U.) का निर्माण किया। आज इसकी सदस्य संख्या 51 है। अर्थात् दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर समस्त अफ्रीकी देश इसके सदस्य बन चुके है। एक वर्ष की पूर्व सूचना देकर कोई भी देश इसकी सदस्यता को छोड सकता है।

संगठन के उद्देश्य
(Objectives of the Organization)

अफ्रीका एकता सगठन के चार्टर पर दृष्टिपात करने पर उसके निम्नांकित उद्देश्य स्पष्ट होते हैं :

(क) सामान्यतया विश्व तथा विशेषतया अफ्रीकी राज्यों में उपनिवेशवाद एवं नस्लवाद को समाप्त करना,

(ख) गुट-निरपेक्ष नीति के अनुसरण के जरिये शीत युद्ध को समाप्त करना तथा टालना,

(ग) अफ्रीकी देशो में मधुर सम्बन्धो की स्थापना तथा उनको बनाये रखना;

(घ) सदस्य देशों की प्रादेशिक अखण्डता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखना तथा इसकी रक्षा करना;

(ङ) अफ्रीकावासियों की आर्थिक, सामाजिक तथा बौद्धिक प्रगति के लिए मदद करना; और

(च) सयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर और मानवाधिकारो की सार्वलौकिक घोषणा के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि करना।

सगठन के अंग
(Organs of the Organization)

अफ्रीका एकता सगठन के चार्टर में की गई व्यवस्थाओं के आधार पर उसके अगो का निम्नांकित बिन्दुओ के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है :

(क) सभा (Assembly)—यह अफ्रीका एकता सगठन का सर्वोच्च अंग है। इसमें संगठन के सदस्य देशो के राज्याध्यक्ष एवं शासनाध्यक्ष भाग लेते हैं। वर्ष में कम से कम एक बार इसकी बैठक होती है किन्तु आवश्यकता पडने पर इसकी विशेष बैठक कभी भी बुलाई जा सकती है। इसकी बैठकों के लिए कुल सदस्यों के दो-तिहाई 'कोरम' की आवश्यकता होती है। सभी प्रस्ताव उपस्थित सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से पारित किये जा सकते है। सभा सदस्य देशों के सामान्य हितो वाले विषयों पर विचार-विमर्श तथा संगठन के अन्य अगों के कार्यों की समीक्षा करती है।

(ख) मन्त्रिपरिषद—यह संगठन के सदस्य-देशो के विदेश मन्त्रियो या उसके बजाय 'मनोनीत मन्त्रियों की परिषद' है। वर्ष में कम से कम दो बार इसकी बैठक होती है, किन्तु जरूरत पडने पर इसकी विशेष बैठक भी बुलायी जा सकती है। मन्त्रि-परिषद अपने समस्त कार्यों के लिए सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। यह सभा की सहायता करती है। इसने समय-समय पर उठे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मसलो (जैसे दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद, अफ्रीका मे पुर्तगाली बस्तियों का भविष्य, रोडेशिया (अब जिम्बाब्वे)

व कांगो संकट, संयुक्त राष्ट्र संघ में अफ्रीकी प्रतिनिधित्व आदि) पर व्यापक विचार-विमर्श किया है। इससे संगठन के सदस्य देशों में अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर आम सहमति कायम करने में मदद मिली।

(ग) **सचिवालय**—सचिवालय अफ्रीकी एकता संगठन के कार्यों में सहायता तथा उनकी गतिविधियों में तालमेल बैठाने का काम करता है। इसके प्रधान को महासचिव कहा जाता है।

(घ) **मध्यस्थता, समझौता एवं पंच निर्णय आयोग (Commission of Mediation, Conciliation and Arbitration)**—इस आयोग के 21 सदस्य हैं, जिनकी सभा द्वारा नियुक्ति होती है।

(ङ) **विशिष्ट आयोग** संगठन की सभा विशिष्ट विषयों के लिए अनेक आयोगों का निर्माण कर सकती है। इन विशिष्ट आयोगों के सदस्य संगठन के सदस्य देशों के सम्बन्धित मन्त्री होते हैं। सभा द्वारा अब तक जिन विविध आयोगों का निर्माण हुआ है वे हैं—(क) आर्थिक और सामाजिक आयोग, (ख) शैक्षणिक और सांस्कृतिक आयोग, (ग) स्वास्थ्य, सफाई और पोषण आयोग, (घ) प्रतिरक्षा आयोग, (ङ) वैज्ञानिक, तकनीकी और अनुसन्धान आयोग, (च) परिवहन और यातायात आयोग; और (छ) विधिवेत्ता आयोग। विशिष्ट आयोग संगठन के सदस्य देशों में पारस्परिक सहयोग स्थापित करने की दिशा में कार्यरत है।

(च) **अफ्रीकी मुक्ति समिति**—अनेक अफ्रीकी देशों को औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलाने के कार्य में तेजी लाने के लिए अफ्रीकी मुक्ति समिति की स्थापना की गयी। इसका प्रमुख कार्य अफ्रीकी उपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों का समर्थन करना ही नहीं, बल्कि सदस्य-राष्ट्रों द्वारा दिये जाने वाले सहायता कार्यों में समन्वय स्थापित करना भी है। इस समिति का मुख्य कार्यालय तंजानिया की राजधानी दार-ए-सलाम में है। अफ्रीकी उपनिवेशों को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कराकर उनको स्वतन्त्र देश के रूप में स्थापित करवाने में इस समिति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

तदर्थ आयोग—अफ्रीकी एकता संगठन के सदस्य देशों के विदेश मन्त्रियों या अन्य मनोनीत मन्त्रियों की मन्त्रि-परिषद अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर आपसी विचार-विमर्श करती है। इसके लिए वह तदर्थ आयोग की स्थापना कर विचार-विमर्श को अधिक सार्थक बनाती है। 1963 में मोरक्को-अल्जीरिया विवाद, 1964 में अफ्रीका में शरणार्थी समस्या तथा कांगो विवाद पर मन्त्रि-परिषद ने तदर्थ आयोगों की स्थापना की।

अफ्रीकी एकता संगठन में संकट
(Crisis in O. A. U.)

संगठन में समय-समय पर अनेक संकट उठे हैं, जिन्होंने अफ्रीकी देशों की एकता में कई बाधाएँ उपस्थित की हैं। आज तक उठे महत्वपूर्ण संकटों को निम्नांकित तरीकों में दर्शाया जा सकता है .

(क) संगठन के उद्देश्यों के विश्लेषण के बारे में सदस्य देश दो गुट में बँट गये हैं। एक गुट के देश औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा स्थापित की गयी राज्य-व्यवस्था का समर्थन करते हैं तो दूसरा गुट पश्चिमी देशों की पूँजीवादी लोकतन्त्र की

विचारधारा के कट्टर विरोधी हैं। इन बातों को लेकर अफ्रीकी देशों में वैचारिक झड़पें होती रहती हैं।

(ख) 1970 के बाद अफ्रीकी देशों में लगातार सैनिक क्रान्तियाँ होती रही हैं जिस कारण उनमें राजनीतिक स्थायित्व नहीं रहा है। अधिकांश देशों में आजकल कमोबेश निरंकुश शासन-व्यवस्था है।

(ग) क्षेत्र में विदेशी सैनिक धमकी, शीत युद्ध तथा शस्त्रीय होड़ को रोकने के लिए अफ्रीकी एकता सगठन के चार्टर में कहा गया है कि सदस्य देश गुट-निरपेक्ष नीति का पालन करेंगे। किन्तु चार्टर एवं अफ्रीकी एकता सगठन दोनों ने आज तक गुट-निरपेक्षता को निश्चित अर्थों में परिभाषित नहीं किया है। परिणामस्वरूप सदस्य देशों में गुट-निरपेक्ष नीति के तत्वों तथा कार्यान्वयन के बारे में सर्व-सम्मति का अभाव है।

(घ) दक्षिण अफ्रीका में अल्पसंख्यक गोरों के विरुद्ध बहुसंख्यक कालों के शासन की स्थापना करवाने में अफ्रीकी एकता सगठन को अभी तक पूर्ण सफलता नहीं मिली है।

(ङ) अधिकतर अफ्रीकी देश उपनिवेशवाद के चंगुल से तो मुक्त हो गये किन्तु औपनिवेशिक शक्तियों के नव-उपनिवेशवाद के पंजे में वे फिर आ गये हैं। धीरे-धीरे वे अपने विकास के लिए नव-उपनिवेशवादी ताकतों पर निर्भर होते जा रहे हैं।

(च) समय-समय पर अफ्रीकी देशों में आपसी सीमा-विवाद उठे हैं, जिन्होंने क्षेत्रीय तनाव पैदा किया। हालांकि अफ्रीकी एकता संगठन अल्जीरिया और मोरक्को, घाना और अपर वोल्टा तथा घाना और टोगो के बीच झगड़ों का शान्तिपूर्ण तरीकों से हल निकालने में सफल हुआ है किन्तु अभी भी अनेक देशों में आपसी सीमा-विवाद क्षेत्रीय तनाव के कारण बने हुए हैं। मसलन, नाइजर और डाहोमी, सुडान और चाड आदि देशों के आपसी सीमा-विवाद हैं। इसके अतिरिक्त सोमालीलैण्ड को लेकर सोमालिया और इथियोपिया, स्पेनिश सहारा को लेकर मोरीतानिया और मोरक्को तथा फर्नांडो पो का स्पेनिश द्वीप को लेकर नाइजीरिया और केमरून के बीच सीमा-विवाद भविष्य में कभी भी सैनिक संघर्ष का रूप धारण कर सकते हैं।

सगठन की उपलब्धियाँ
(Achievements of the Organization)

संगठन में समय-समय पर अनेक संकटों के उठने पर उसे असफलताओं का सामना करना पड़ा। परन्तु उसकी सफलताओं को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। उसकी महत्वपूर्ण सफलताएँ निम्नांकित हैं—

(क) इसने अफ्रीकी क्षेत्र में चल रहे उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों को नैतिक एवं भौतिक समर्थन नहीं दिया, बल्कि उनके पक्ष में अन्तर्राष्ट्रीय जनमत भी तैयार किया। इससे अनेक अफ्रीकी उपनिवेश स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उभरे।

(ख) इसने अफ्रीकी देशों के अनेक सीमा-विवादों तथा आपसी झगड़ों को सुलझाया है। मसलन, उसने अल्जीरिया और मोरक्को, घाना और अपर वोल्टा तथा घाना और टोगो के बीच सुलह करवाने में सफलता प्राप्त की।

(ग) इसने अफ्रीकी देशों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग करने की भावना को जागृत किया है। आज अनेक अफ्रीकी देश इसकी प्रेरणा से ही विभिन्न क्षेत्रों में आपसी सहयोग कर रहे हैं।

(घ) यह तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की मांगों को एकजुट होकर हरेक अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर समर्थन करता आया है।

संगठन का मूल्यांकन
(Assessment of the Organization)

अफ्रीका एकता संगठन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर दृष्टिपात करने के बाद यह कहा जा सकता है कि क्षेत्रीय संगठन के रूप में यह सबसे ज्यादा व्यापक संगठन है। यह इसकी विशाल सदस्य-देशों की संख्या से स्पष्ट है। किन्तु व्यावहारिक उपलब्धियों के दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस अपने घोषित उद्देश्यों की तुलना में आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई है। इसके बावजूद तीसरी दुनिया के गरीब देशों के लिए ऐसे संगठनों की काफी उपयोगिता है। अन्यथा इनकी अनुपस्थित में विश्व की बड़ी शक्तियाँ गरीब देशों को निगल जायेंगी।

इस संगठन का जिस समय गठन हुआ, उस समय पान-अफ्रीकी भाईचारे का ज्वार तूफान पर था और अफ्रीकी एकता के बारे में आशान्वित होना आसान था। तब से अधिकांश लोगों के निराश होने का प्रमुख कारण यह रहा कि बहुसंख्यक अफ्रीकी राष्ट्र अपनी कबायली स्वामी भक्ति से उबरने में असमर्थ रहे हैं। उगाडा नाइजीरिया आदि में विभाजक गृहयुद्ध भूम्यन कबायली रहे हैं। विदेशी शक्तियों ने इस स्थिति का लाभ उठाया और इसी कारण संगठन के सदस्य देश अपनी समर्थक महा शक्तियों के अनुसार उनकी नीति दक्षिणपंथी या वामपंथी तय करते रहे। एन्क्रूमा केन्याता, ओबोटे जैसे नेताओं के राजनीतिक मंच से हट जाने के बाद सामूहिक रूप से अफ्रीकी हितों को परिभाषित करने की गुंजाइश भी कम हुई है। ऐसा नहीं जान पड़ता कि निकट भविष्य में अफ्रीकी एकता संघ क्षेत्रीय संगठन के रूप में ठोस उपलब्धियाँ हासिल कर सकेगा।

उत्तर अटलांटिक संधि संगठन अर्थात् 'नाटो'
(North Atlantic Treaty Organization 'NATO')

उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन को 'नाटो' के नाम से भी पुकारा जाता है। इसका निर्माण 4 अप्रैल, 1949 को अमरीका की राजधानी वाशिंगटन में किया गया। यहाँ 12 पश्चिमी राष्ट्रों—बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली लक्जमबर्ग, हॉलैण्ड, नार्वे, पुर्तगाल, ब्रिटेन, कनाडा तथा अमरीका के प्रतिनिधियों ने नाटो सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इसके बाद अक्टूबर, 1951 में ग्रीस और टर्की तथा 1954 में पश्चिम जर्मनी को नए सदस्यों के रूप में इस संगठन में सम्मिलित किया गया। नाटो सन्धि को मूल रूप में 20 वर्षों के लिए बनाया गया था किन्तु 1969 में इसकी अवधि 20 वर्षों के लिए बढ़ा दी गयी। प्रत्येक 10 वर्षों बाद सन्धि पर पुनर्विचार किया जाता है।

नाटो के निर्माण के कारण एवं उद्देश्य
(Objectives of NATO)

'नाटो' में सम्मिलित सदस्य देश यूरोप के विभिन्न क्षेत्रो से है। भू-भाग, जनसख्या, प्राकृतिक सम्पदा, औद्योगिक सम्पदा, ऐतिहासिक अनुभवो तथा राजनीतिक परम्पराओ की दृष्टि से उनमे भिन्नता है। फिर भी वे अमरीका के नेतृत्व में एक सैनिक गठजोड़ के एकता सूत्र (common bonds) मे बँध गये।[1] नाटो के निर्माण के पीछे प्रमुख रूप से निम्नांकित कारण एव उद्देश्य थे—

(क) आर्थिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नाटो के समस्त सदस्य देशो ने भौतिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा भावनात्मक रूप से अनेक नुकसान उठाये। दूसरी तरफ सोवियत सघ द्वारा उन पर वर्चस्व स्थापित करने का खतरा मौजूद था। ऐसी अवस्था में शक्तिशाली अमरीका ही उनके लिए आशा की किरण था जो उनके आर्थिक पुनर्निर्माण की सबसे बड़ी आवश्यकता को पूरा करने में सक्षम था। इसी बात को महसूस करते हुए उन्होंने अमरीका के नेतृत्व में नाटो मे सम्मिलित होना स्वीकार किया।

(ख) सोवियत संघ द्वारा साम्यवादी प्रसार—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत सघ ने पूर्वी यूरोप से अपनी सेनाएँ हटाने से इन्कार कर दिया। उसने वहाँ साम्यवादी सरकारें स्थापित करने के प्रयत्न किये। अन्य स्थानो के बारे मे भी उसने यही नीति अपनायी। अमरीका ने इसका लाभ उठाकर साम्यवाद-विरोधी नारा दिया और यूरोपीय देशो को साम्यवादी खतरे से सावधान किया। फलस्वरूप यूरोपीय देश नाटो मे सम्मिलित हो गये।

(ग) संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य-क्षमता पर अविश्वास— सयुक्त राष्ट्र सघ का निर्माण विश्व-शान्ति एव सुरक्षा स्थापित करने के उद्देश्य के साथ 1945 में हुआ। परन्तु पश्चिमी राष्ट्रो ने महसूस किया कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सगठन आक्रमणकारी राष्ट्र से उनकी सुरक्षा नही कर पायेगा। यह उनके द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य-क्षमता पर अविश्वास का सूचक है। इसी ने उन्हे 'नाटो' सदस्य बनने के लिए प्रेरित किया।

नाटो के अग
(Organs of NATO)

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, त्यो-त्यो नाटो का संगठन भी विकसित होता गया। आज यह एक विशाल सगठन है। पहले इसका मुख्यालय फ्रांस की राजधानी पेरिस मे था किन्तु फ्रांस द्वारा नाटो की सदस्यता त्यागने के बाद अब यह बेल्जियम मे है। नाटो सगठन के निम्नांकित अंग है -

(क) परिषद—नाटो के अनुच्छेद–9 के अन्तर्गत परिषद की स्थापना की गयी है। नाटो सगठन मे यह सर्वोच्च अंग है। इसका निर्माण सदस्य राज्यो के मन्त्रियों से होता है। इसकी मन्त्री-स्तरीय बैठक वर्ष में एक या दो बार होती है। स्थायी प्रतिनिधियों के स्तर पर इसकी बैठक वर्ष मे एक या दो बार होती है। इसके सभापति प्रतिवर्ष बारी-बारी से सदस्य देशो के मन्त्री होते हैं। नाटो का महासचिव परिषद

[1] M. V. Naidu, *Alliances and Balance of Power: A Search for Conceptual Clarity* (Delhi, 1964), 42.

साथ ही सामरिक मामलों पर अमरीका के साथ उनका मतभेद तेजी से सामने आया। हाल के वर्षों में सोवियत संघ के साथ पश्चिमी यूरोपीय देशों का तकनीकी आदान-प्रदान, यूरोप में क्रूज मिसाइलों की स्थापना तथा 'स्टार वार्स' परियोजना इसके प्रमुख उदाहरण है। इसके अलावा पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्र अपनी वैदेशिक नीतियों को अमरीका के राष्ट्रीय हित के साथ इस तरह जोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं कि तनाव-शैथिल्य या मुठभेड़ सिर्फ महाशक्ति की इच्छानुसार ही तय होती रहे। जनरल देगोल और विली ब्रांट के काल में यह स्थिति निरन्तर देखने को मिलती थी। पश्चिमी यूरोप में पिछले वर्षों के दौरान शान्ति आन्दोलन का आविर्भाव और इसकी प्रगति अमरीका के लिए बेहद चिन्ताजनक रही है। जर्मनी में ग्रीन पार्टी और इग्लैण्ड में लेबर पार्टी के प्रवक्ताओं द्वारा अमरीकी परमाणु नीति की आलोचना अमरीका के लिए सिरदर्द बनती रही है। हिंसक आतंकवादियों के प्रति यूरोपीय सरकारों का उदार रुख अमरीका को खिन्न करता रहा है। अमरीका के बहुराष्ट्रीय निगमों के बारे में पश्चिमी यूरोपीय उद्योगपति आत्म-रक्षात्मक ढंग से चिन्तित रहे हैं। इन सभी बातों ने नाटो की एकता को कमजोर बनाया है। महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ के क्षय ने भी नाटो की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाया है।

अमरीकी राज्यों का संगठन
(Organization of American States)

अमरीकी राज्यों के संगठन का उदय 1989–90 में स्थापित अखिल अमरीकी संघ (Pan-American Union) से जोड़ा जाता है। अखिल अमरीकी संघ न तो फेडरेशन था और न ही गठबन्धन, बल्कि वह राष्ट्रों का क्लब था। इस संघ का उद्देश्य संयुक्त राज्य अमरीका तथा लातीनी अमरीकी राज्यों की सरकारों में आपसी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सहयोग स्थापित करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनेक प्रयास हुए किन्तु प्रथम विश्व युद्ध तक उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। इसके बाद भी विश्व शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने की महान आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए तेजी से अनेक प्रयास किये गये। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमरीका ने उनकी एक सामान्य विदेश नीति बनाने की पहल की। अन्ततः 1945 में मैक्सिको नगर में अन्तर-अमरीकी सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने रीओ सन्धि और अमरीकी राज्यों के संगठन की भूमिका तैयार की। बोगोटा (कोलम्बिया) में हुए अमरीकी राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अमरीकी राज्यों के संगठन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। इस संगठन के चार्टर में अमरीकी गोलार्द्ध के सभी राज्यों (कनाडा समेत) के सम्मिलित होने का प्रावधान है। वैसे कनाडा ने अब तक इसकी सदस्यता प्राप्त नहीं की किन्तु यदि वह चाहे तो इसका सदस्य बन सकता है। यह भी कहा गया है कि किसी सदस्य-राज्य को संगठन से नहीं निकाला जा सकता, लेकिन यदि कोई राज्य स्वेच्छा से इसकी सदस्यता छोड़ना चाहे तो वह दो वर्ष की पूर्व सूचना देकर ऐसा कर सकता है।

संगठन के उद्देश्य
(Objectives of the Organization)

इसके चार्टर में सदस्य-देशों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का उल्लेख है।

इनमें प्रमुख रूप से विवादों के शान्तिपूर्ण हल, सामूहिक सुरक्षा, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सहयोग पर जोर दिया गया है।

संगठन के अंग
(Organs of the Organization)

अमरीकी राज्यों के संगठन के निम्नांकित पाँच अंग हैं—

(अ) अन्तर-अमरीकी सम्मेलन (Inter-American Conference)—*अन्तर-अमरीकी सम्मेलन अमरीकी राज्यों के संगठन का सबसे प्रथम एवं सर्वोच्च अंग है।* इसमें हरेक सदस्य राज्य को अपना एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। यह संगठन के अन्य समस्त अंगों के स्वरूप और कार्यों तथा संगठन की नीति और कार्यक्रम को तय करता है। सदस्य-राज्य इनको क्रियान्वित करते हैं।

(ब) विदेश मन्त्रियों की बैठक—विदेश मन्त्रियों की बैठक जरूरी विषयों पर विचार विमर्श करती है। संगठन के किसी सदस्य-राज्य की प्रार्थना पर इसकी बैठक बुलाई जा सकती है। इसके अलावा किसी भी सशस्त्र आक्रमण की अवस्था में इसकी बैठक बुलाई जा सकती है। इसकी सहायता के लिए एक परामर्शदात्री प्रतिरक्षा समिति भी होती है।

(स) परिषद—परिषद में संगठन का हरेक सदस्य राज्य एक प्रतिनिधि भेजता है। उसका मुख्यालय अमरीका की राजधानी वाशिंगटन में है। इसके प्रमुख कार्य शान्ति व सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों तथा संगठन के विभिन्न अंगों के कार्यों की देखभाल करना है। साथ ही यह अखिल अमरीकी संघ के कार्य का पर्यवेक्षण करती है। अन्तर-अमरीकी आर्थिक और सामाजिक परिषद, अमरीकी विधिवेत्ताओं की परिषद तथा अन्तर-अमरीकी सांस्कृतिक परिषद सीधे ही इसके नियन्त्रण में रहती हैं।

(द) अखिल अमरीकी संघ (Pan-American Union)—अखिल अमरीकी संघ अमरीकी राज्यों के संगठन का केन्द्रीय एवं स्थायी अंग तथा सचिवालय है। संगठन का महासचिव इसका निदेशक होता है, जो अन्तर-अमरीकी सम्मेलन द्वारा दस वर्ष के लिए चुना जाता है। वह दोबारा नहीं चुना जा सकता। अखिल अमरीकी *संघ के मुख्य कार्य राज्यों में आपसी आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग स्थापित करना* तथा राज्यों के आपसी झगड़ों का शान्तिपूर्ण तरीकों से निपटारा करना है।

(य) विशिष्ट एजेंसियाँ—विशिष्ट एजेंसियाँ विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करती हैं। ये एजेंसियाँ अमरीकी राज्यों के संगठन का अभिन्न अंग बन चुकी हैं। जैसे, परामर्शदात्री सुरक्षा समिति, अन्तर-अमरीकी आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, अन्तर-अमरीकी विधिवेत्ता परिषद, अन्तर-अमरीकी सांस्कृतिक परिषद, अमरीकी स्वास्थ्य ब्यूरो, अन्तर-अमरीकी कृषि विज्ञान संस्था, अखिल अमरीकी भूगोल एवं इतिहास संस्था और अन्तर-अमरीकी दूर संचार कार्यालय आदि।

संगठन का मूल्यांकन
(Assessment of the Organization)

यह संगठन वस्तुतः क्षेत्रीय सहकार की स्वतःस्फूर्त प्रेरणा का परिणाम नहीं, बल्कि अमरीकी महाद्वीप में अमरीका के वर्चस्व को बरकरार रखने वाले मुनरो सिद्धान्त की बीसवीं सदी का संस्करण है। इस संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह

है कि लगभग सभी सदस्य राष्ट्रों का राजनीतिक संस्कार और आर्थिक समस्याएँ एक जैसी हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के विरोधी-प्रतिद्वन्द्वी या या वामपंथी रुझान वाले किसी भी देश के लिए इस संगठन में कोई स्थान नहीं। क्यूबा के उदाहरण से यह बात भलीभाँति प्रकट होती है। जब कभी ऐसा अवसर आया है कि संगठन के सदस्य देशों के निजी या सामूहिक हित संकटग्रस्त हुए हैं तो संगठन नपुंसक और निर्वीर्य सिद्ध हुआ है। ग्रेनेडा में अमरीकी सैनिक हस्तक्षेप, अर्जेन्टीना और ब्रिटेन के बीच फॉकलैण्ड युद्ध तथा निकारागुआ एवं अल सल्वाडोर की क्रान्तिकारी उथल-पुथल में इस संगठन ने कोई रचनात्मक भूमिका नहीं निभाई।

दक्षिण-पूर्व एशियाई सन्धि संगठन या सिएटो
(South East Asian Treaty Organization or SEATO)

6 से 8 सितम्बर, 1954 तक फिलीपीस की राजधानी मनीला में अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, फिलीपीस, थाईलैण्ड और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। यह सभी देश साम्यवाद के प्रसार से आतंकित थे और चाहते थे कि उसे रोकने के लिए कोई कारगर कदम उठाये जायें। सम्मेलन में लम्बे विचार-विमर्श के बाद दक्षिण-पूर्व एशियाई सन्धि संगठन का प्रस्ताव हुआ, जिसे 19 फरवरी, 1955 को कार्यान्वित किया गया। इसे मनीला समझौता या 'सिएटो' के नाम से भी जाना जाता है।

संगठन के उद्देश्य
(Objectives of the Organization)

'सिएटो' की स्थापना के पीछे जो उद्देश्य थे, वे संक्षेप में निम्नांकित हैं—

(क) दक्षिण-पूर्व एशिया तथा दक्षिण पश्चिमी प्रशान्त महासागर में साम्यवाद का प्रसार रोकना;

(ख) दक्षिण-पूर्व एशिया तथा दक्षिण पश्चिमी प्रशान्त महासागर में पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा अपने हितों की रक्षा करना; और

(ग) सदस्य देशों में बहुमुखी क्षेत्रों में आपसी सहयोग स्थापित करना।

संगठन की प्रमुख व्यवस्थाएँ

सिएटो सन्धि में की गई प्रमुख व्यवस्थाएँ (major provisions) संक्षेप में निम्नांकित हैं—

(क) सन्धि की प्रस्तावना में संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में आस्था व्यक्त करते हुए कहा गया है कि सन्धिकर्ता सदस्यों में से किसी एक देश के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण को शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा माना जायेगा और सदस्य राज्य इसका मुकाबला करने के लिए संवैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार कार्य करेंगे। इसके अन्तर्गत उठाये गये कदमों की सूचना संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद को तत्काल देंगे;

(ख) सन्धि का क्षेत्र दक्षिण-पूर्व एशिया का सामान्य क्षेत्र तथा दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त सागर का उत्तर में 21 डिग्री 30 मिनट की उत्तरी अक्षांश रेखा निश्चित किया गया है;

(ग) अन्य किसी राष्ट्र को सदस्य-देशो की सर्वसम्मति से इस सन्धि मे शामिल किया जा सकता है,

(घ) यह सन्धि अनिश्चित काल के लिए की गई है, परन्तु कोई सदस्य-देश एक वर्ष की पूर्व सूचना देकर अपने अपने आपको सन्धि से अलग कर सकता है, और

(ङ) इस सन्धि मे सशस्त्र आक्रमण को रोकने तथा आन्तरिक विध्वस के बारे मे जवाबी उपायो के अलावा स्वतन्त्र संस्थाओ के विकास, आर्थिक विकास तथा सामाजिक कल्याण के सम्बन्ध मे व्यवस्थाएँ की गयी हैं।

सगठन के अग
(Organs of the Organization)

इसके निम्नाकित अग है—

(क) परिषद—परिषद एक मन्त्रिमण्डलीय सस्था है। इसकी बैठक वर्ष मे कम से कम एक बार बुलाने की व्यवस्था है। आवश्यकता पडने पर इसकी बैठक किसी भी समय बुलाई जा सकती है।

(ख) सचिवालय एव कार्य समूह—जब परिषद की बैठक नही हो रही हो इसका कार्य परिषद के प्रतिनिधि (अर्थात् विदेश मन्त्री) करते हैं। इन प्रतिनिधियो की सहायता के लिए एक सचिवालय और आवश्यकता के अनुसार कार्य समूह की व्यवस्था की गयी हैं।

(ग) पहरूआ समितियाँ (Watch Dog Committees)—सिएटो के अन्तर्गत कुछ पहरूआ समितिया की व्यवस्था की गयी है जो सदस्य देशो मे विध्वसात्मक गतिविधियो पर निगरानी रखती हैं।

(घ) मुख्यालय —परिषद का प्रधान कार्यालय थाईलैण्ड की राजधानी बैंकाक मे है।

सिएटो की आलोचना
(Criticism of SEATO)

निम्नाकित आधारो पर सिएटो की आलोचना की जा सकती है—

(क) सिएटो को क्षेत्रीय व्यवस्था नही माना जा सकता। हालाकि इसका नाम दक्षिण-पूर्व एशियाई सन्धि सगठन है, किन्तु इसमे शामिल आठ देशो मे सिर्फ तीन ही एशियाई देश हैं, जबकि अन्य सभी राष्ट्र पश्चिम के हैं,

(ख) सिएटो के जरिये पश्चिमी राष्ट्रो ने पाकिस्तान जैसे देश को साम्यवादी प्रसार रोकने के लिए शस्त्रों से लैस किया, जो उसने भारत के विरुद्ध प्रयोग किये। इन पश्चिमी शस्त्रो से शान्ति भग हुई। इस अनुत्तरदायी आचरण के लिए अमरीका भी कम दोषी नही है,

(ग) सिएटो मे आत्म-निर्णय का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है किन्तु इसके सदस्य अमरीका ने वियतनाम, लाओस और कम्पुचिया मे गुप्त हस्तक्षेप किया। यह हस्तक्षेप इस सन्धि मे स्वीकार किये गये आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लघन था, और

(घ) सिएटो नव-उपनिवेशवाद का एक नया रूप है। इसके द्वारा पश्चिमी

देशों ने एशियाई सदस्य देशों को परोक्ष रूप से नियन्त्रित करना चाहा और किया। इसे 'मुनरी सिद्धान्त' जैसी सज्ञा दी जा सकती है।

सिएटो का अवसान

सिएटो मुख्यतः डलेस की शीत युद्धकालीन रणनीति का हिस्सा था और उनके साथ ही इस सगठन का अवसान हुआ। इसके कई कारण थे। भले ही इसे क्षेत्रीय सहकार का जामा पहनाने की कोशिश की गयी, परन्तु यह एक सैनिक संगठन ही था। इसके सदस्य राष्ट्रो मे आर्थिक और सैनिक सामर्थ्य का भीषण असन्तुलन था। पाकिस्तान हो या फिलीपीस या थाईलैण्ड, सभी की स्थिति अमरीका के परजीवी शिविरानुचरो की थी। 1960 के दशक मे वियतनाम सघर्ष ने अमरीका के सामने इन सभी की अनुपयोगिता का रहस्योद्घाटन कर दिया। अनेक विद्वानों का मत है कि सिएटो के क्षय को देखकर अमरीका ने 1968 मे 'आसियान' की प्रस्तावना को प्रोत्साहित किया। 1979 तक इसकी दुर्बलता और भी स्पष्ट हो चुकी थी। न केवल अमरीका, बल्कि पाकिस्तान तक ने अपने सामरिक हितो की रक्षा के लिए सिएटो को अक्षम पाया। 1965 और 1971 के युद्धो में इसकी सदस्यता का वाछित लाभ पाकिस्तान को नही मिला और हताश होकर उसने इसकी सदस्यता छोड़ दी। दक्षिण वियतनाम के पतन के बाद फिलीपीस, थाईलैण्ड भी निष्क्रिय हो गये। इसके बाद सिएटो का औपचारिक समापन सिर्फ प्रतीक्षा का विषय रह गया। 1977 में इस सगठन का विधिवत विघटन हो गया।

वगदाद समझौता या केन्द्रीय सन्धि संगठन या 'सेन्टो'
(Bagdad Pact or Central Treaty Organization or 'CENTO')

अमरीका ने यूरोप मे साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए नाटो का निर्माण किया, वही पश्चिम एशिया के देशो मे इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु केन्द्रीय सन्धि संगठन अर्थात् 'सेन्टो' का निर्माण किया। 'सेन्टो' के निर्माण की कहानी जितनी जटिल है उतनी ही रोचक भी। अमरीकी प्रयासो से 24 फरवरी, 1955 को इराक और टर्की के बीच सुरक्षा के बारे मे एक-दूसरे की सहायता करने के लिए इराक की राजधानी बगदाद में जो समझौता हुआ वह आगे चलकर बगदाद समझौता कहलाया। 22 अप्रैल, 1955 को टर्की और पाकिस्तान के बीच एक सन्धि हुई। 24 फरवरी, 1955 को टर्की और इराक के बीच फिर एक सन्धि हुई। 4 अप्रैल, 1955 को 1930 की सन्धि के स्थान पर ब्रिटेन और इराक में एक नया समझौता हुआ। पाकिस्तान और ईरान क्रमशः सितम्बर, 1955 और अक्तूबर, 1955 मे टर्की-इराक समझोते मे सम्मिलित हो गये। इस प्रकार इन देशो के बीच विभिन्न द्विपक्षीय सन्धियो और समझौतों ने बगदाद समझौते का रूप धारण कर लिया। बगदाद समझौते के सदस्य देश टर्की, इराक, ईरान, ब्रिटेन और पाकिस्तान थे।

बगदाद समझौते का अवसान और सेन्टो का निर्माण—बगदाद समझौता इराक मे सरकार परिवर्तन के साथ समाप्त हो गया। 14 जुलाई, 1958 को इराक में क्रान्ति हो गयी और नये शासनाध्यक्ष जनरल अब्दुल करीम कासिम ने बगदाद समझौते से अलग होने की घोषणा की। 21 अगस्त, 1959 को अन्तिम रूप से उसने इसकी सदस्यता त्याग दी। तदुपरान्त टर्की, ईरान, ब्रिटेन और पाकिस्तान ने मिलकर

इसे जो नया नाम दिया, वह था—केन्द्रीय सन्धि सगठन अर्थात् सेन्टो।

सेन्टो की प्रमुख व्यवस्थाएँ—'सेन्टो' सगठन मे की गयी व्यवस्थाएँ वही हैं जो बगदाद समझौते के अन्तर्गत की गयी थी। प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्नांकित हैं :

(क) सदस्य देश सुरक्षा और प्रतिरक्षा के लिए एक-दूसरे से सहयोग करने के लिए वचनबद्ध हैं किन्तु यह भी कहा गया है कि वे एक-दूसरे के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप नही करेंगे,

(ख) अरब सघ का कोई भी सदस्य और अन्य देश जो पश्चिम एशिया मे शान्ति और सुरक्षा के लिए चिन्तित हैं, वे इसके सदस्य बन सकते हैं। ब्रिटेन को इसी आधार पर सदस्य बनाया गया, और

(ग) इस समझौते को पाँच वर्ष के लिए किया गया तथा पाँच-पाँच वर्ष के लिए इसके नवीनीकरण का प्रावधान रखा गया है।

सेन्टो के उद्देश्य (Objectives of CENTO)—सन्टो के निर्माण के पीछे जो उद्देश्य रहे हैं, वे सक्षेप मे निम्नांकित हैं

(क) पश्चिम एशिया के देशो को साम्यवादी विस्तार से बचाना,

(ख) इस समझौते मे ब्रिटेन द्वारा सम्मिलित होने का उद्देश्य पश्चिम एशिया के राष्ट्रो मे साम्यवाद के प्रसार को रोकना ही नही, बल्कि पश्चिमी प्रभाव-क्षेत्र कायम रखना भी है, और

(ग) सदस्य देशो में चहुँमुखी क्षेत्रो मे पारस्परिक सहयोग स्थापित करना।

सगठन के अग
(Organs of the Organization)

इसके विभिन्न अगो के बारे मे सक्षिप्त जानकारी निम्नांकित है—

(क) परिषद—इसमे सदस्य-देशो के विदेश मन्त्री सम्मिलित होते है। इसकी सहायता के लिए सैनिक एव आर्थिक समिति की भी स्थापना की गयी है।

(ख) मुख्यालय—बगदाद समझौते के समय इसका मुख्यालय बगदाद मे था जिसके प्रधान को महासचिव कहा जाता है। बगदाद समझौते के अवसान और सेन्टो के निर्माण के बाद उसका मुख्यालय अकारा मे स्थापित किया गया।

सेन्टो की आलोचना (Criticism of CENTO)—असल मे सेन्टो सगठन के निर्माण के समय जो उसके घोषित उद्देश्य थे, उसमे सदस्य देशो को असफलता ही हाथ लगी। निम्नांकित आधारो पर इसकी आलोचना की जा सकती है :

(क) इसने अरब देशो मे गुटबाजी उत्पन्न की;

(ख) इसके जरिये ब्रिटेन और अमरीका ने सदस्य देशो की अर्थव्यवस्था ही नही, बल्कि राजनीतिक-तन्त्र मे भी घुसपैठ आरम्भ कर परोक्ष रूप से नियन्त्रण कर लिया,

(ग) जब 1956 एव 1971 मे भारत-पाक युद्ध हुआ तो सदस्य राष्ट्र पाकिस्तान की मदद करने के लिए न तो ब्रिटेन आया और न ही अन्य सदस्य देश;

(घ) इसके माध्यम से सदस्य देशों को पश्चिमी देशों से जो शस्त्रास्त्र सहायता मिली, उससे क्षेत्रीय तनाव बढ़ा, और

(ङ) ईरान मे 1979 मे शाह रजा पहलवी के पतन का कारण उनके द्वारा पश्चिमी देशो का अधानुकरण कर जन-विरोधी नीतियो का कार्यान्वयन करना था :

सेन्टो का मूल्यांकन

सिएटो की तरह सेन्टो भी एक ऐसा सैनिक संगठन था, जिसे क्षेत्रीय सहकारी संगठन का जामा पहनाने का असफल प्रयत्न किया गया। इसके अतिरिक्त इसका कार्यक्षेत्र बहुत स्पष्ट ढग से परिभाषित नही किया जा सका। एक ओर सोवियत संघ से सामीप्य के कारण यह यूरोपीय घटनाक्रम से जुड़ता था तो दूसरी ओर पाकिस्तान की सदस्यता के कारण दक्षिण एशियाई तनाव से। पश्चिम एशिया के संकट का प्रभाव भी सेन्टो के सामरिक दृश्य पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। सेन्टो के सदस्यों को भी सिएटो के सदस्यों की तरह अपने संगठन की असलियत का पता था और वे अपने आश्रयदाता समर्थक को प्रसन्न रखने के अलावा कोई पहल या लाभप्रद बहुपक्षीय सहकार की प्रक्रिया का सूत्रपात करने मे असमर्थ रहे। 1977 के बाद सेन्टो एकदम निष्क्रिय सा हो गया और उसका अस्तित्व खत्म हो गया।

अंजुस : सैनिक संगठन या क्षेत्रवाद ?
(ANZUS : Military Organization or Regionalism ?)

अंजुस का गठन शीत युद्ध के पहले चरण में फरवरी, 1951 में हुआ। इसके तहत अमरीका ने आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड को सैनिक समझौते का साथी बनाया। इसका नामकरण इनके संक्षिप्ताक्षरों आस्ट्रेलिया (A), न्यूजीलैण्ड (NZ) और संयुक्त राज्य अमरीका (US) से हुआ। भले ही, अंजुस कभी सिएटो, सेन्टो या नाटो की तरह चर्चित या विवादास्पद नही रहा, लेकिन इसके सामरिक महत्व को कम करके आंकना गलत होगा। इसके माध्यम से तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री जोन फास्टर डलेस का लक्ष्य हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के बीच एक प्रतिरक्षात्मक सेतु निर्मित करना था। उनकी 'दूरदर्शिता' इसी से समझी जा सकती है कि तब न तो अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का आविष्कार हुआ था और न ही आस्ट्रेलिया या न्यूजीलैण्ड को यूरोपीय देशों की तरह किसी बाहरी या आन्तरिक अस्थिरता का खतरा था।

अंजुस के गठन के पीछे लक्ष्य—अंजुस के द्वारा डलेस का प्रयत्न कालक्रम में ब्रिटेन की हिन्द महासागर से वापसी के बाद अपने प्रवेश के लिए जमीन तैयार करना था। इस काम में उन्हें इस बात से सहायता मिली कि अंजुस के सभी सदस्य राष्ट्र गोरे थे और पूँजीवादी मुक्त व्यापार के समर्थक। कई विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि अंजुस का गठन सिर्फ इसीलिए किया गया था कि धुर दक्षिण में बसे गोरों के साथ भाईचारा निभाने के लिए उन्हें मानसिक संबल दिया जा सके। पर निश्चय ही आरम्भ से अंजुस की उपयोगिता प्रतीकात्मक भर नहीं थी। डलेस शायद यही चाहते थे कि 'कामनवेल्थ' वाले भाईचारे का लाभ वे अपनी सामरिक परियोजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए उठा लें। यह बात नहीं भुलायी जा सकती कि प्रारम्भिक प्रस्ताव में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के अलावा भारत को भी शामिल करने की बात सुझायी गयी थी।

जहाँ तक आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड का प्रश्न है, इन दोनों देशों को अमरीका की सामरिक अगुआई स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं थी। न तो उनके मन में यूरोपीय देशों की तरह खोई हुई गरिमा का अहंकार था और न ही उनकी

स्थिति ऐसी थी वे सुदूर भविष्य मे भी अपने पैरो पर खड़े होने की बात प्रतिरक्षा के क्षेत्र मे सोच सकें।

अंजुस की व्यवस्थाएँ (Provisions of ANZUS)—अजुस सधि के अनुच्छेद चार और पाँच मे यह बात स्पष्टत स्वीकार की गई थी कि किसी भी सदस्य राष्ट्र पर बाहरी आक्रमण की स्थिति में सामूहिक खतरे का मुकाबला सवैधानिक प्रावधानो को देखते हुए एक साथ किया जायेगा। वर्षों तक आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड सुकार्णो के व्यक्तित्व के आतक मे रहे। पश्चिमी इरियान को आजाद कराने के लिए राष्ट्रपति सुकार्णो ने लड़ने-भिड़ने की जो मुद्रा अपनाई थी, उसे देखते हुए एक बड़ी सीमा तक यह स्वाभाविक भी था। इसीलिए कई दशक तक अजुस संधि पर अतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम के उतार-चढ़ाव के बावजूद विशेष दबाव नही पड़े।

अजुस के सदस्य राष्ट्रों मे फूट (Differences among ANZUS Members)—पिछले दशक मे अजुस फिर से चर्चा का विषय बना है तो इसलिए नही कि सिएटो या नाटो की तरह यह आज असगत एव अनुपयोगी जान पड़ने लगा है बल्कि इसलिए कि आज इसके सदस्य-राष्ट्रो के बीच सामरिक मतैक्य शेष नही रह गया है। न्यूजीलैण्ड ने परमाणु निशस्त्रीकरण के प्रति अपनी पक्षधरता बेहिचक जाहिर की है और परमाणु शस्त्रो मे सज्जित अमरीकी तथा पाकिस्तानी पोतो को अपने स्वामित्व वाली जल राशि मे न आने देने का निर्णय उसने किया है। इसकी दुखद परिणति रेनबो वोरियर-ग्रीनपीस काण्ड मे हो चुकी है। न्यूजीलैंड के भूतपूर्व सुरक्षा-मन्त्री डेविड थामसन का मानना है कि इस सधि पर हस्ताक्षर परमाणु पोतो के आविष्कार के पहले हुए थे। यह स्वाभाविक है कि इसके अनुच्छेदो मे इस विषय मे कोई व्यवस्था नही हो सकती थी। उनकी समझ मे यह स्वयसिद्ध है कि इस सधि को अक्षत रखने के लिए इनके प्रयोग के विषय मे भी आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड एव अमरीका मे सहकार जरूरी है। पर अधिकतर न्यूजीलैंडवासियो और कई आस्ट्रेलियायी विद्वानो का भी मानना है कि आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड को अमरीकी चश्मे से दुनिया देखना बन्द करना चाहिए। विडबना तो यह है कि अजुस मे दरारें उस वक्त नजर आ रही हैं, जब इण्डोनेशिया मे पश्चिमी रुचि-रुझान वाली सरकार पिछले 25–26 वर्षों से कार्यरत है और उत्तर की ओर सबसे भयानक सकट (माओवादी चीन) का निवारण हो चुका है। जब तक दक्षिण पूर्व एशिया मे हिन्द चीन मे सघर्ष चल रहा था, तब भी डोमिनो सिद्धात के अनुसार आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड का आसक्त रहना समझ मे आने वाली बात थी। परन्तु ऐसा नही कि सिर्फ किसी एक शत्रु के न रहने से यह सगठन दुर्बल पड गया है। वस्तुस्थिति तो यह है कि अजुस के सदस्य राष्ट्रो के सामरिक हित सामूहिक नही रह गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे क्षेत्रीयता और सैनिक सगठनो के प्रतिस्पर्धी-अन्तर्विरोधी तत्वों का अच्छा उदाहरण अजुस मे मिलता है। दक्षिण प्रशान्त क्षेत्र फ्रांसीसी सरकार का परमाणु प्रयोग-स्थल है। यदि यह प्रयोग निरन्तर जारी रहते हैं तो इसका घातक असर आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड पर पड़े बिना नही रह सकता। परमाणु निशस्त्रीकरण को लेकर न्यूजीलैण्ड का सबसे बड़ा झगड़ा फ्रांस मे ही है। उधर यूरोपीय रगमच की राजनयिक विवशताओ के दबाव तथा स्टार वार्स परियोजना की प्राथमिकताओं को देखते हुए अमरीका, फ्रांस पर अकुश लगाने का कोई

प्रयत्न नहीं करना चाहता। इससे आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड का असंतुष्ट होना तर्क-संगत है।

क्षेत्र में सामरिक परिवर्तन (Strategic Changes in the Area)—पिछले कुछ वर्षों में एक और महत्वपूर्ण सामरिक परिवर्तन इस क्षेत्र में हुआ है, जिसने सदस्य देशों के न केवल 'सामरिक', बल्कि महत्वपूर्ण सामूहिक हितों को भी उजागर किया है। इस क्षेत्र में सोवियत प्रवेश को लेकर कई देशों की चिन्ता बढ़ी है। फिजी, सोलोमन द्वीप, वानाउतु, टोंगा, किरीबात आदि अनेक ऐसे सूक्ष्म राज्य हैं, जो देखने में छोटे, तोलने में हल्के जान पड़ते हैं, परन्तु वे अपनी विस्तृत समुद्री सीमा तथा विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र (Exclusive Economic Zone) के महत्वपूर्ण संभावनाओं वाले हैं। मिसाल के तौर पर वानाउतु के साथ सोवियत संघ का हुआ मछलियाँ पकड़ने के लिए जो समझौता हुआ है, उसके तहत जटिल इलेक्ट्रोनिक उपकरणों से सज्जित ट्रालर जहाजों की आवाजाही शुरू हुई है। कई पश्चिमी विद्वानों का मानना है कि ये सोवियत जहाज मछुआरे नहीं, बल्कि गुप्तचर हैं। दूसरी ओर, स्टारवार्स परियोजना के चर्चित होने के पहले ही ये दूरस्थ छोटे-छोटे द्वीप भी इलैक्ट्रोनिक संचार सम्पर्क केन्द्रों के रूप में अप्रत्याशित ढंग से महत्वपूर्ण बन गये। इनमें से अनेक को यह लगता है कि उनकी यह नई सामरिक महत्ता ही उनकी स्वाधीनता और सम्प्रभुता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। ग्रेनेडा का उदाहरण इनमें से अनेक को याद है। उन्हें यह लगता रहता है कि वास्तव में सामूहिक सुरक्षा अमरीकी छत्रछाया के बाहर ही प्राप्त हो सकती है।

अंजुस की भावी करवट

इन सबसे इस निष्कर्ष तक पहुँचने में जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए कि ये तनाव अंजुस के अन्त की पूर्व-सूचना दे रहे हैं। सिर्फ जीवन-यापन शैली के आधार पर ही नहीं, बल्कि आर्थिक अन्तर-निर्भरता के कारण भी अमरीका, आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैंड का नाता बहुत नजदीक का है। हाँ, इतना जरूर हो सकता है कि गुट-निरपेक्ष सम्मेलन या राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में इस प्रसंग को अधिक तूल दिया जाये। यह सम्भव है कि न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया के आत्म-सम्मान को बचाये रखने के लिए अमरीका सिर्फ थोड़ी-बहुत दिखावटी रियायतें दे दे और अपनी परमाणु नाविक गतिविधियाँ अनवरत चलती रहने दे। आखिरकार जैसे मलयेशिया के प्रधानमन्त्री डा० महाथीर ने कहा--'ऐसा कोई तरीका नहीं जो पानी की सतह से नीचे परमाणु पनडुब्बी का चलना रोक सके।' सिर्फ सामरिक मामलों में ही नहीं, आर्थिक सामाजिक व राजनीतिक पैमानों पर भी अमरीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के बीच शक्ति तथा सम्भावना का इतना असन्तुलन है कि इस सन्धि को एकतरफा ढंग से रद्द नहीं किया जा सकता। हकीकत तो यह है कि इसका गठन भी पूर्णतः वैकल्पिक नहीं था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आज भले ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीयता की सम्भावनाओं और इससे उपजी एकीकरण की प्रवृत्ति की अनदेखा न किया जा सकता हो, परन्तु आज भी महा-शक्तियों या बड़ी शक्तियों के सामरिक परिप्रेक्ष्य इस पर हावी हैं। यह बात सिर्फ अंजुस पर नहीं, अन्य क्षेत्रीय संगठनों पर भी लागू होती है।

वारसा सन्धि सगठन
(Warsaw Treaty Organization)

नाटो का गठन तथा 9 मई, 1955 मे पश्चिमी जर्मनी तथा फ्रास के इसमें प्रवेश के प्रतिक्रिया स्वरूप सोवियत सघ के नेतृत्व मे युगोस्लाविया को छोड़कर यूरोप के समस्त साम्यवादी देश पोलैण्ड की राजधानी वारसा मे मिले। उन्होने 14 मई, 1955 को मैत्री, सहयोग तथा आपसी सहायता सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जिसे 'वारसा सन्धि' सगठन के नाम से जाना जाता है। अल्बानिया, बुल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, रूमानिया तथा सोवियत सघ वारसा सन्धि पर हस्ताक्षरकर्ता देश थे। हालांकि 31 मार्च, 1991 को वारसा सधि-सगठन विधिवत ढग से भग कर दिया गया, किन्तु उसके विभिन्न पहलुओ का अध्ययन उपयोगी है।

सगठन की व्यवस्थाएँ

वारसा सन्धि की प्रस्तावना म स्पष्ट कहा गया है कि यूरोप मे सामूहिक सुरक्षा की पद्धति स्थापित की जाए। नाटो के निर्माण तथा पश्चिमी जर्मनी के पुन शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि वारसा देश अपनी सुरक्षा मजबूत करें और यूरोप मे शान्ति रखें। इसमे सदस्य देशो मे पारस्परिक आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक सहयोग की भी बात कही गयी। इसके अलावा (सन्धि के अनुच्छेद तीन मे) कहा गया कि यदि किसी सदस्य-देश पर आक्रमण होता है तो उसे अन्य सदस्य-देशो पर भी हमला माना जायेगा और समस्त देश आक्रमणकारी देश के खिलाफ उसे सैनिक सहायता देंगे।

वारसा सन्धि सगठन के कारण एव उद्देश्य

इसके निर्माण के कारण एव उद्देश्य निम्नाकित हैं

(क) साम्यवादी प्रसार—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत सघ महाशक्ति के रूप मे उभरा। वह चाहता था कि उसके नेतृत्व मे दुनिया मे साम्यवाद का प्रसार हो। सैनिक सन्धि के जरिये यह काम आसानी से हो सकता था।

(ख) नाटो का विरोध—जब अमरीका ने साम्यवादी प्रसार रोकने तथा सम्भावित सोवियत हमले के खतरे के मुकाबले के लिए पश्चिमी यूरोप के देशो को 'नाटो सगठन' मे बाँध लिया तो सोवियत सघ ने इस यूरोप में अपने हितों के लिए गम्भीर खतरा माना। इसके प्रतिकार मे उसने पूर्वी यूरोपीय देशो को एकत्र कर वारसा सन्धि सगठन का निर्माण किया।

सगठन के अग
(Organs of the Organization)

इसके प्रमुख अग निम्नाकित हैं

(क) सयुक्त सैनिक कमान—वारसा सन्धि के अनुच्छेद पाँच के अन्तर्गत एक सयुक्त सैनिक कमान (United Military Command) बनायी गयी जिसका मुख्यालय सोवियत सघ की राजधानी मास्को मे था। इसके अधीन वारसा सन्धि के

समस्त सदस्य देशों की सेनाएँ रखी गयी। इनका सर्वोच्च सेनापति, महामन्त्री और सोवियत जनरल स्टाफ के साथ परामर्श करके सेनाओं का संगठन तथा इनका विभिन्न प्रदेशों में वितरण करेगा। यूरोप में इसकी उत्तरी, मध्य तथा दक्षिण यूरोप की तीन कमानें तथा सुदूर पूर्व की एक कमान रखी गयी।

(ख) राजनीतिक सलाहकार समिति—वारसा सन्धि में राजनीतिक सलाहकार समिति की संरचना, नीति-निर्धारक प्राधिकरण तथा प्रक्रिया के बारे में विस्तृत विवरण नहीं दिया गया। सन्धि के अनुच्छेद छह में इस समिति की संरचना के बारे में इतना भर कहा गया कि हरेक राज्य के सदस्य या विशेष रूप से नियुक्त प्रतिनिधि को इसमें प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। साम्यवादी दल का नेता विशेष प्रतिनिधि होगा। अनुच्छेद छः के अनुसार समिति की शक्ति परामर्श तक सीमित थी जो सन्धि के क्रियान्वयन के बारे में उठने वाले मुद्दों पर होगी। समिति संगठन की सलाहकार निकाय मात्र थी। इसके तहत संगठन के सदस्य देशों ने सोवियत संघ के अधीनस्थ रहना स्वीकार किया।

संगठन में संकट—नाटो की तरह वारसा सन्धि संगठन में समय-समय पर अनेक गतिरोध उत्पन्न हुए, जिससे सदस्य देशों की एकता कमजोर हुई। 1955 में संगठन की स्थापना के बाद धीरे-धीरे सोवियत संघ शक्तिशाली हो गया, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसके द्वारा उठाये गये अनेक कदमों को वारसा सन्धि के सदस्य देशों ने पसन्द नहीं किया। प्रथमतः, 1956 में हंगरी तथा 1968 में चेकोस्लोवाकिया में सोवियत संघ ने सेनाएँ भेजकर हस्तक्षेप किया। रूमानिया तथा अन्य देशों ने इसका समर्थन नहीं किया। द्वितीयतः, वारसा सन्धि का सहारा लेकर सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोपीय देशों में अपना सैनिक जमाव किया और उन देशों को वह अपने मत-मुताबिक नियन्त्रित करने लगा। इसके विरोध में पूर्वी यूरोपीय देशों में सोवियत-विरोध बढ़ने लगा। तृतीयतः, सोवियत संघ द्वारा वारसा-देशों को अपने पूर्ण प्रभुत्व में रखने तथा ख्रुश्चेव-ब्रेझनेव द्वारा स्टालिन की आलोचना के कारण अल्बानिया ने सोवियत संघ से मुख मोड़ लिया और वारसा संगठन की सदस्यता भी त्याग दी। चतुर्थतः, सोवियत संघ द्वारा प्रवर्तित आपसी आर्थिक सहायता परिषद (कोमिकोन), जिसका उद्देश्य पूर्वी यूरोपीय देशों का आर्थिक एकीकरण करना था, वारसा देशों के लिए लाभदायक नहीं, बल्कि बोझ साबित हुई। रूमानिया ने यही महसूस करते हुए अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, मिस्र, अल्जीरिया तथा साम्यवादी चीन से व्यापारिक समझौते किये।

संगठन का मूल्यांकन—इस संगठन के जरिए सोवियत संघ पूर्वी यूरोपीय देशों में एकछत्र प्रभाव क्षेत्र कायम कर सका था। ये देश सोवियत संघ के 'उपग्रह' बन गये। वारसा सन्धि के जरिए रूस द्वारा हस्तक्षेप करने एवं प्रभुत्व जमाने की नीति से जहाँ एक ओर सदस्य देशों में आन्तरिक विरोध बढ़ा, वहीं गैर-साम्यवादी देशों में सोवियत संघ तथा वारसा सन्धि संगठन की प्रतिष्ठा काफी घटी। पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासनों के खिलाफ आन्दोलनों और लोकतान्त्रिक लहर ने वारसा पैक्ट का तेजी से अवमूल्यन किया। पोलैण्ड, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया से सोवियत की वारसा-फौजें लौटने लगीं। यही नहीं, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया ने वारसा पैक्ट की समाप्ति के लिए जोरदार माँग की। जर्मनी के एकीकरण ने भी इस संगठन की प्रासंगिकता खत्म कर दी। अततः 31 मार्च, 1991 को वारसा पैक्ट औपचारिक

रूप से भंग कर दिया गया।

क्षेत्रीय सैनिक संगठनों के ह्रास के कारण

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रादेशिक एवं सैनिक संगठनों में सम्मिलित होने की जो लहर चली, वह धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक-पटल से ओझल होने लगी। इन संगठनों में शामिल होने के बाद राष्ट्रों ने पाया कि वे उनके राष्ट्रीय हितों, स्वतन्त्रता एवं सम्प्रभुता की रक्षा के दृष्टिकोण से ज्यादा उपयोगी नहीं। क्षेत्रीय एवं सैनिक संगठनों के ह्रास के कारणों को निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(क) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का प्रचार—गुट-निरपेक्ष नीति के तेजी से प्रसार से प्रादेशिक सैनिक संगठनों का ह्रास हुआ। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने विश्व में महाशक्तियों द्वारा गुटबाजी की राजनीति करने का सदैव विरोध किया। इस आन्दोलन में वही राष्ट्र सम्मिलित हो सकता है जो किसी भी महाशक्ति या बड़ी शक्ति द्वारा प्रवर्तित सैनिक गठबन्धन का सदस्य न हो। इससे अनेक राष्ट्र क्षेत्रीय एवं सैनिक संगठनों में शामिल होने से विमुख हुए और कई राष्ट्रों ने इनकी सदस्यता त्याग कर गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में प्रवेश किया।

(ख) नई शस्त्र टैक्नोलोजी का आविष्कार एवं विकास—नई शस्त्र टैक्नोलोजी के आविष्कार और विकास ने प्रादेशिक सैनिक संगठनों की जड़ें खोखली कर दी। जब घातक रॉकेट, मिसाइल और बमवर्षक विमानों का निर्माण होने लगा तो महाशक्तियों द्वारा किसी अन्य देश के भू-भाग में सैनिक अड्डों की स्थापना की पहले जैसी जरूरत नहीं रही, क्योंकि अब वह दूर से ही नौसेना या वायु सेना के जरिए आक्रमण कर सकने की क्षमता रखने लगे। ध्यान रहे कि प्रादेशिक सैनिक संगठनों के जरिये महाशक्तियाँ सदस्य देशों में सैनिक अड्डा स्थापित करती थी। मसलन, अमरीका ने फिलीपीन्स, थाइलैण्ड तथा अन्य अनेक देशों में सैनिक अड्डे कायम किये। किन्तु नई शस्त्र टैक्नोलोजी के विकास के बाद इस प्रकार के सैनिक अड्डों में महाशक्तियों की ज्यादा रुचि नहीं रह गयी, क्योंकि वे अपने देश से ही दूर-मारक शस्त्रों से हमला करने की स्थिति में हो गये।

(ग) सदस्य राष्ट्रों द्वारा क्षेत्रीय सैनिक संगठनों की निरर्थकता महसूस करना—क्षेत्रीय सैनिक संगठन के अनेक सदस्य राष्ट्रों ने इनकी निरर्थकता महसूस की। उन्होंने सदस्यता प्राप्त करने के बाद जब यह पाया कि उन संगठनों की प्रवर्तक बड़ी शक्तियाँ इनके द्वारा मात्र अपना हित साधन करती हैं और संकट के समय अपना हाथ पीछे खींच लेती हैं तो उन्होंने धीरे-धीरे इन संगठनों की कार्यवाही और नीति क्रियान्वयन में रुचि लेना कम कर दिया। अन्ततः अनेक राष्ट्रों ने इनकी सदस्यता त्याग दी। मसलन, पाकिस्तान, अमरीका और ब्रिटेन जैसी दो प्रवर्तक बड़ी शक्तियों की प्रेरणा से सिएटो और सेन्टो में सम्मिलित हुआ। किन्तु भारत के साथ दो युद्धों में इन बड़ी शक्तियों ने उनकी अपेक्षित सहायता नहीं की उल्टे उसको दी जाने वाली सैनिक सहायता एवं शस्त्र बिक्री पर रोक लगा दी इससे पाकिस्तान, सिएटो एवं सेन्टो के साथ अपने सम्बन्धों के प्रति निराश हुआ और उसने इनकी सदस्यता त्याग दी। इस प्रकार अन्य सदस्य देशों ने भी ऐसे ही अनेक कारणों से सदस्यता त्याग दी जिससे ये संगठन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक पटल

से लुप्त हो गये।

(घ) **पूर्वी यूरोप में परिवर्तन से वारसा पैक्ट व नाटो को झटका**—पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासनों के खिलाफ जन-आन्दोलनों व लोकतान्त्रिक लहर, सोवियत संघ की दुर्बल स्थिति और जर्मनी के एकीकरण ने जहां एक ओर वारसा पैक्ट के विघटन का मार्ग प्रशस्त किया, वहीं नाटो की उपयोगिता पर गहरा प्रश्न चिन्ह लगा दिया। इन दोनों संगठनों का गठन तब हुआ था, जब अमरीका व सोवियत संघ के नेतृत्व में क्रमशः पूंजीवादी पश्चिम यूरोपीय देश और साम्यवादी पूर्वी यूरोपीय देश शीत युद्ध लड़ रहे थे। किन्तु अब जब पूर्वी यूरोपीय देश सोवियत संघ के पिछलग्गू नहीं रहे और वारसा पैक्ट भंग कर दिया गया है तो फिर पश्चिम यूरोपीय देशों को साम्यवादी खतरे से अपने हितों की रक्षा के लिए नाटो की क्या जरूरत रह जाती है? हालांकि सोवियत संघ ने वारसा पैक्ट के साथ-साथ नाटो को भंग करने की मांग उठायी, किन्तु नाटो अपने 16 सदस्यीय देशों में राजनीतिक सहयोग-वृद्धि और सोवियत ताकत के जवाब में सन्तुलन बनाये रखने में अपनी भूमिका को महत्वपूर्ण मानता है। इसके अलावा, नाटो अपने क्षेत्र के बाहर की भूमिका को भी जरूरी समझता है। 1991 में खाड़ी युद्ध के दौरान जब अमरीका ने टर्की स्थित नाटो देशों के अड्डों से इराक पर बमबारी की तो यह चेतावनी भी दी कि यदि इराक ने प्रतिकार कर टर्की पर हमला किया तो इसे नाटो देशों पर हमला माना जायेगा। नाटो की इस भूमिका से सदस्य देशों के इरादे साफ जाहिर हो जाते हैं।

इस सिलसिले में एक और बात का उल्लेख जरूरी है। जर्मनी के एकीकरण के बाद अमरीका और फ्रांस को संयुक्त जर्मनी के एक लघु महाशक्ति (Mini-Super Power) बनने का खतरा नजर आ रहा है, जो अंततः नाटो से भी नाता तोड़ सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमरीकी विदेश नीति निर्धारक इस भावी चुनौती का सामना करने के लिए यह भी प्रयास कर रहे हैं कि नाटो के सैनिक महत्व की समाप्ति के पहले ही उसकी राजनीतिक भूमिका बढ़ायी जाये, ताकि यह संगठन जीवित रह सके। इस राजनीतिक भूमिका के तहत पूर्वी यूरोप में लोकतान्त्रिक आन्दोलनों को समर्थन और पूर्वी व पश्चिम यूरोपीय देशों में व्यापार-सम्बन्ध एवं पूंजी निवेश सम्बन्धी मसलों पर विचार-विमर्श के लिए नाटो को एक मंच के रूप में इस्तेमाल किया जायेगा। बहरहाल, यह तो मानना होगा कि पूर्वी यूरोप में परिवर्तनकारी लहर ने जहां एक ओर वारसा पैक्ट को भंग होने के लिए बाध्य किया, वहीं दूसरी ओर नाटो जैसे बड़े सैनिक संगठन के महत्व को एकदम घटा दिया।

क्षेत्रीय सहयोग में 'आसियान' की भूमिका
(Role of 'ASEAN' in Regional Cooperation)

दक्षिण पूर्व एशिया नाम से जो क्षेत्र विख्यात है, वह भारत के पूर्व और चीन के दक्षिण में स्थित है। सदियों से इस भू-भाग की अपनी अलग पहचान बनी हुई है। इसमें इण्डोनेशिया, फिलीपीन्स जैसे बड़े द्वीप समूह हैं और हिन्द चीन, मलाया, बर्मा, थाई देश, जैसे ऐतिहासिक महत्व के प्रायद्वीप स्थित राज्य भी। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच आदि साम्राज्यवादी शक्तियां यहां सक्रिय रहीं।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान यहां सामरिक महत्व के अनेक युद्ध हुए। शीत युद्ध के आविर्भाव के बाद दक्षिण पूर्व एशिया के अधिकांश देश एक या दूसरे ध्रुव के शिविरानुचर बन गये और क्षेत्रीय एकता, जो पहले ही औपनिवेशिक काल में खण्डित हो चुकी थी और भी कमजोर पड़ गयी। इस सन्दर्भ में 'आसियान' नामक संगठन एक अनूठा प्रयोग है, जिसे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तत्त्व पुष्ट भी करते हैं और दुर्बल भी। 'आसियान' के सदस्य राष्ट्रों की संख्या इस समय छः है।

आसियान से पहले क्षेत्रीय सहयोग के प्रयत्नों की पृष्ठभूमि

'आसियान' से पहले दक्षिण पूर्व एशियाई क्षेत्र में सहकार की अनेक योजनाएँ सुझायी गयी थीं। उनकी सफलता-असफलता को भी 'आसियान' के सदस्य देश अनदेखा नहीं कर सकते। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ ने इकाफे (ECAFE) की स्थापना कर इस एशियाई भू-भाग की आर्थिक विकास की समस्याओं को रेखांकित किया। सिएटो की स्थापना ने क्षेत्रीय सामूहिक सुरक्षा की सम्भावना-समस्या पर बल दिया। कोलम्बो योजना ने तकनीकी-सांस्कृतिक सहयोग के लिए जमीन तैयार की। मलय देशों के आपसी भाई-चारे को मुखर करने वाली योजनाएँ समय-समय पर प्रकाशित की जाती रहीं। 1959 में 'आसा' (Association of South East Asian States) की प्रस्तावना की गयी और 1961 में मलयशिया महासंघ की। इसके बाद मलयेशिया-फिलीपीन्स विवाद निपटाने के लिए मलाया, फिलीपीन्स तथा इण्डोनेशिया का संगठन 'माफिलिंडो' सुझाया गया। सुकार्णो की हठधर्मिता के कारण इस दिशा में ज्यादा प्रगति नहीं हो सकी। 1965 के बाद वियतनाम युद्ध में निरन्तर बढ़ते अमरीकी हस्तक्षेप ने क्षेत्रीय सहकार कम किया है।

1965 में तख्ता पलट के बाद सुकार्णो अपदस्थ हुए और मलयेशियाई महासंघ से सिंगापुर के निकल जाने के बाद एक बार फिर क्षेत्रीय सहकार की बात उठायी जाने लगी। 1967–68 में ब्रिटेन ने स्वेज के पूर्व से अपनी सेनाओं को वापस बुला लेने की घोषणा की और चीन में महान् सांस्कृतिक क्रान्ति के विस्फोट के साथ इस क्षेत्र में अपने सामरिक हितों के लिए पश्चिमी शक्तियाँ व्यग्र होने लगीं। इस समय तक सिएटो का खोखलापन अच्छी तरह प्रकट हो चुका था। इसीलिए कुछ विश्लेषकों को लगता है कि 'आसियान' की प्रस्तावना एक नव-उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी रणनीति के अनुसार ही हुई थी। यह सच है कि आसियान के सभी सदस्य कमोबेश पश्चिमी खेमे के पक्षधर हैं, परन्तु निजी या क्षेत्रीय हितों को लेकर इनमें सभी मामलों में मतैक्य नहीं है। उदाहरणार्थ, चीन के विषय में या हिन्द महासागर में बड़ी शक्तियों की उपस्थिति के बारे में सिंगापुर और इण्डोनेशिया दो बिल्कुल ही अलग-अलग छोरों पर खड़े दीखते हैं।

आसियान का गठन
(Formation of ASEAN)

1967 में इण्डोनेशिया, मलयेशिया, फिलीपीन्स, सिंगापुर एवं थाईलैण्ड द्वारा 'आसियान' नामक असैनिक संगठन का निर्माण दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में क्षेत्रीय सहयोग की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। बाद में ब्रुनेई भी इसका सदस्य

बना। इस क्षेत्र के प्राकृतिक सम्पदायुक्त एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थिति में होने के कारण सातवाँ दशक समाप्त होते-होते यह बड़ी शक्तियों के लिए विशेष रूप से आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का क्षेत्र बनता गया। वियतनाम युद्ध के दौरान जापान, आस्ट्रेलिया एवं यूरोपीय देशों के हाथों खोया यह दुधारु गाय रूपी लाभकारी बाजार अमरीका इन दिनों फिर से पाने की दुगुने उत्साह से चेष्टा कर रहा है। सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन भी बड़ी शक्तियाँ होने के नाते अपने-अपने न्यस्त राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति में दक्षिण पूर्व एशियाई क्षेत्र को किसी दूसरे खेमे के चंगुल में नहीं देखना चाहते। आसियान के छहों सदस्य-राष्ट्रों में विभिन्न भाषा, धर्म, जाति, संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन वाले लोग निवास करते हैं। हालांकि इन देशों का विगत औपनिवेशिक इतिहास, वर्तमान राजनीतिक एवं आर्थिक तन्त्र तथा सामाजिक जीवन के मूल्य भी भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी, उक्त देशों के सम्मुख आम चुनौतियों जनसंख्या विस्फोट, गरीबी, असुरक्षा (आन्तरिक एवं बाहरी), आर्थिक शोषण आदि हैं, जिन्होंने उनको 'आसियान' के निर्माण के लिए उत्साहित किया। उक्त समस्त कारणों से क्षेत्रीय सहयोग में 'आसियान' की भूमिका का महत्व बढ़ जाता है।

वस्तुतः दक्षिण पूर्व एशिया में क्षेत्रीय सहयोग कायम करने की दिशा में 1967 में 'आसियान' का निर्माण ही प्रथम प्रयास नहीं था। इससे पूर्व 'ग्रेट ईस्ट एशिया को-प्रोसपेरिटी स्फीयर', 'इकाफे', 'सिएटो', 'आसा', 'माफिलिंदो' आदि का निर्माण किया गया, किन्तु उनकी संरचनात्मक त्रुटियों, सदस्य-राष्ट्रों में आपसी मन-मुटाव एवं अविश्वास, कुछ विशेष अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ आदि कारणों से वे सफल नहीं हो सके। 1967 में 'आसियान' के निर्माण के समय पूर्वकाल की असफलताओं के कारणों को ध्यान में रखा गया, जिससे सदस्य-राष्ट्रों को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में कटु अनुभव न हो: आसियान के निर्माण के पूर्व सदस्य-राष्ट्रों की आपसी राजनीतिक मत भिन्नता को कम किया गया। 1966 में इण्डोनेशिया एवं मलयेशिया के बीच झगड़े को सुलझा दिया गया। इण्डोनेशिया, मलयेशिया एवं सिंगापुर में व्यापारिक एवं राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। 1963 में मलयेशिया एवं फिलीपीन के बीच साबा के सम्बन्ध में उठे प्रादेशिक अधिकार के झगड़े का कुछ सीमा तक सामान्यीकरण किया गया।

आसियान का स्वरूप व उद्देश्य
(ASEAN : Nature and Objectives)

मोटे तौर पर आसियान का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, प्रशासनिक, आदि क्षेत्रों में परस्पर सहायता करना तथा सामूहिक सहयोग से विभिन्न आम समस्याओं का हल ढूँढ़ना है, जो इसके निर्माण के समय आसियान घोषणा में स्पष्ट रूप से लिखित है। इस क्षेत्रीय संगठन का स्वरूप कदापि 'सैनिक' नहीं है। सदस्य राष्ट्र 'सामूहिक सुरक्षा' जैसी किसी कठोर एवं अनिवार्य शर्त से बँधे हुए नहीं हैं। यह किसी महाशक्ति से प्रोत्साहित, प्रवर्तित एवं जुड़ा नहीं है। आसियान की सदस्यता उन सभी दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के लिए खुली है जो इसके लक्ष्यों से सहमत हैं।

अप्रांकित परिप्रेक्ष्य में विचारणीय प्रश्न यह है कि 'आसियान' क्षेत्रीय सहयोग
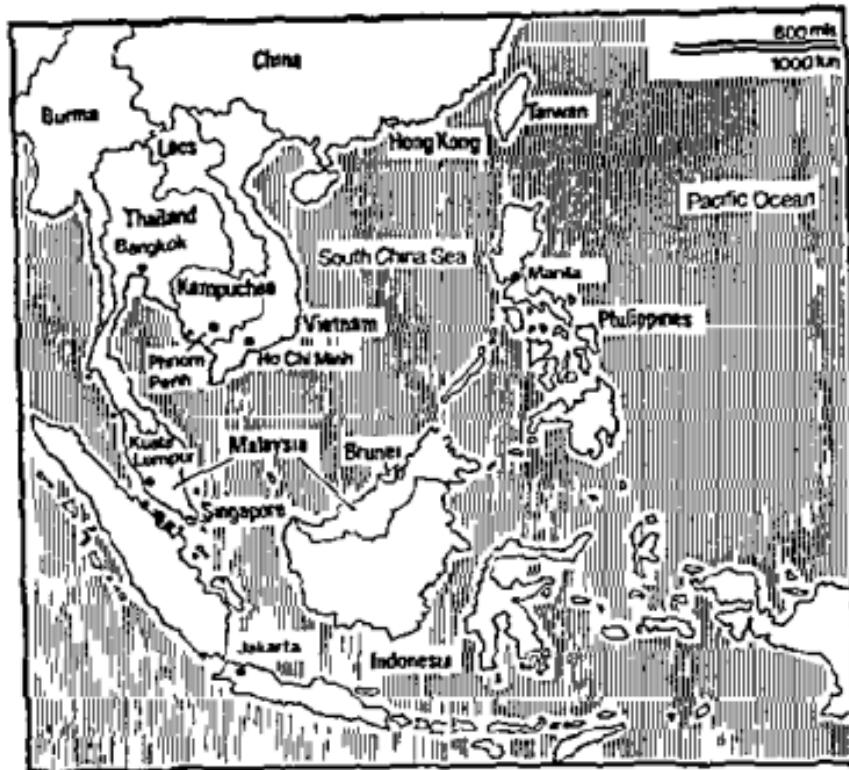
चित्र—दक्षिण पूर्व एशिया का मानचित्र, जिसमें 'आसियान के छहो सदस्य देशो को दर्शाया गया है।

कायम करने के उद्देश्य मे किस सीमा तक सफल रहा ? असल मे इसका मूल्यांकन 'आसियान' की सरचना एव कार्यों का लेखा-जोखा देकर आसानी से किया जा सकता है।

सगठन के कार्य
(Functions of the Organization)

आसियान अपने स्थापना काल के बाद दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रो मे आपसी सम्बन्धो को निकटतर बनाने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। इसके सदस्य देश अपनी वैयक्तिक कार्यप्रणालियो को क्षेत्रीय सगठन द्वारा सुलझाने के लिए प्रस्तुत करते हैं। पर्यटन के क्षेत्र मे आसियान ने अपना एक सामूहिक सगठन 'आसियन्टा' स्थापित किया है जो बिना 'वीसा' के सदस्य राष्ट्रो मे पर्यटन की सुविधा प्रदान करता है। आसियान देशो ने 1971 में हवाई सेवाओ के व्यापारिक अधिकारो की रक्षा एव 1972 मे फँसे जहाजो को सहायता पहुँचाने मे सम्बन्धित समझौते पर हस्ताक्षर किये। 'आसियान' ने खाद्य सामग्री के उत्पादन मे प्राथमिकता देने के लिए किसानों को अर्वाचीन तकनीकी शिक्षा देने के कुछ कदम उठाये हैं जो विशेषकर गन्ना, चावल तथा पशुपालन मे सहायक होंगे।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों से सम्बन्धित स्थायी समिति ने अनेक परियोजनाएँ बनायी है जिनका उद्देश्य जनसंख्या नियन्त्रण एवं परिवार नियोजन कार्यक्रमों को प्रोत्साहन, दवाइयों के निर्माण पर नियन्त्रण, मानवीय वातावरण, शैक्षणिक खेल, सामाजिक कल्याण एवं राष्ट्रीय व्यवस्था में संयुक्त कार्यप्रणाली को महत्व देना है। 1969 में संचार-व्यवस्था एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ाने के लिए एक समझौता किया गया जिसके अन्तर्गत आसियान के सदस्य राष्ट्र रेडियो एवं दूरदर्शन के माध्यम से एक-दूसरे के कार्यक्रमों का परस्पर आदान-प्रदान करते है। एक आसियान फिल्म समारोह भी प्रतिवर्ष जनता की माँगो के अनुसार बारी-बारी से सदस्य राष्ट्रों में मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त क्षेत्र की जनता तक समाचार पहुँचाने के लिए एक 'आसियान जरनल' का प्रकाशन भी किया जाता है।

प्राथमिक आधार पर सीमित वस्तुओं के 'स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र' स्थापित करने के लिए आसियान के सदस्य राष्ट्र विचार कर रहे हैं। आसियान देशों में आपसी निर्यात एवं आयात उनके सीमित बाजार का विस्तार तथा विदेशी मुद्रा की बचत करेंगे। इसके अलावा आसियान वाणिज्य व उद्योग संघो के महासंघ के एजेन्डा पर मुख्य निर्यातों में आसियान देशों के संयुक्त बाजार एवं व्यापार का लक्ष्य रखा जा चुका है। किस प्रकार उक्त योजनाएँ एवं कार्यक्रम सफल होंगे, इस सम्बन्ध में आसियान देशों द्वारा सामूहिक एवं वैयक्तिक रूप से विशिष्ट अध्ययन किये जा रहे हैं।

1976 के बाली शिखर सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों के प्रधानों ने क्षेत्रीय सहयोग में आसियान की भूमिका पर एक अधिक ठोस रूपरेखा प्रस्तुत की। एक घोषणा एवं समझौते में इण्डोनेशिया एवं फिलीपीन्स के राष्ट्रपति और सिंगापुर, मलयेशिया एवं थाइलैण्ड के प्रधानमन्त्रियों ने यह घोषणा की कि आसियान का कार्य-क्षेत्र सिर्फ आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक मामलों तक ही सीमित रहेगा तथा उसमें 'सुरक्षा' को सम्मिलित नहीं किया जायेगा। वे आवश्यक व्यापारिक व्यवस्था के लिए औद्योगिक संयन्त्र की स्थापना के लिए सहमत हुए। आसियान के सदस्य राष्ट्रों ने क्षेत्र के अन्दर तथा बाहर शान्ति बनाये रखने के लिए एक सहयोग एवं मैत्री सन्धि पर हस्ताक्षर किये। क्षेत्रीय सुरक्षा कायम रखने हेतु उन्होंने गैर-एशियाई आधार पर सदस्य राष्ट्रों में उनकी आपसी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए द्विपक्षीय सहयोग जारी रखने का निश्चय किया। इस शिखर सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों ने इस बात की पुनः पुष्टि की कि आसियान साम्यवाद एवं हिन्द चीन-विरोधी नहीं है। संक्षेप में बाली शिखर सम्मेलन में आसियान के सदस्य राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने के सन्दर्भ में मुख्य रूप से तीन सुझाव रखे गये, जो निम्नांकित हैं—

1. बाहरी आयात कम करके सदस्य राष्ट्र पारस्परिक व्यापार को महत्व देंगे,

2. अधिशेष खाद्य एवं ऊर्जा शक्ति वाले राष्ट्र इन क्षेत्रों में अभाव से पीड़ित आसियान देशों को मदद देंगे; एवं

3. आसियान के देश व्यापार को अधिकाधिक क्षेत्रीय बनाने का प्रयास करेंगे।

वस्तुतः, आसियान के विगत रिकार्ड को देखते हुए यह कहना कदापि

अनुचित नही होगा कि सदस्य राष्ट्रो मे वह आर्थिक एव अन्य प्रकार का सहयोग तीव्र गति से नहीं बढा पाया है। आर्थिक सहयोग मे 'आसियान' की गति मन्द होने का कारण सदस्य राष्ट्रो के पास आवश्यक पूंजी एव क्रय शक्ति का कम होना है। सदस्य राष्ट्रो के हितो मे आपसी टकराव के कारण उनके बीच कई अन्तर्राष्ट्रीय झगडे भी उठे हैं। असल मे, क्षेत्रीय सहयोग की दिशा मे दृढता से कदम उठाने हेतु 'आसियान' के सदस्य राष्ट्रो द्वारा क्षेत्रीय एव राष्ट्रीय हितो मे सामजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है।

एशिया मे राष्ट्रीय मुक्ति सग्रामो की सफलता तथा अमरीकी सैनिक हस्तक्षेप की असफलता ने आसियान देशो द्वारा उनके बीच सैनिक समझौता होने को निरुत्साहित किया, अर्थात् सामाजिक एव आर्थिक मामलो मे सैनिक गुटो के नकारात्मक अनुभव के कारण सदस्य देशो द्वारा आसियान को सैनिक सगठन बनाने के सम्बन्ध मे निरुत्साहित किया। 1972 मे चीन के प्रति अमरीका की बदली विदेश नीति ने आसियान देशो के शासको मे अमरीका के प्रति सन्देह उत्पन्न किया कि कही अमरीका चीन के साथ 'मैत्री' के चक्कर मे चीन के बढते राजनीतिक एव आर्थिक प्रभाव-क्षेत्र की बात को नजरअन्दाज न कर ले।

सोवियत सघ एव चीन 'आसियान' को समय-समय पर पश्चिमी गुट के अन्ध भक्त की सज्ञा देते रहे हैं। यह सही है कि इण्डोनेशिया के अतिरिक्त आसियान के अन्य चार सदस्य राष्ट्र मलयेशिया, सिंगापुर, फिलीपीन एव थाईलैण्ड पश्चिमी देशों के साथ सुरक्षात्मक समझौते से जुडे हुए हैं तथा उन्होंने विश्व राजनीति के अनेक मुद्दो पर ही नही, बल्कि हिन्द चीन पर भी पश्चिमी शक्तियो का साथ दिया है। फिर भी, अब वे साम्यवाद के कट्टर विरोधी नही रहे हैं। इसी कारण वे हिन्द चीन के राष्ट्रो को आसियान मे सम्मिलित करने पर राजी हैं बशर्ते कि आवेदनकर्ता राष्ट्र आसियान के लक्ष्यो से सहमत हो।

बदला परिवेश

यह कहा जाता है कि सदस्य राष्ट्रो मे विदेशी सैनिक शक्तियो के सैनिक अड्डा एव अनर्गल प्रभाव की अनुपस्थिति वियतनाम के द्वारा आसियान मे सम्मिलित होने की प्रथम शर्त है। असल मे, बदलती क्षेत्रीय स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अनेक तत्त्वो के समावेश के कारण 'आसियान' के सदस्य राष्ट्रो की हिन्द चीन के राष्ट्रो के प्रति पुरानी हठधर्मिता का रूप बदल चुका है। आसियान के सदस्य राष्ट्रों के अनेक नेताओ ने 1967 मे जारी की गई आसियान घोषणा का हवाला देते हुए कई बार कहा है कि 'आसियान' दक्षिण-पूर्व एशिया के उन सभी राष्ट्रो के लिए खुला है जो इसके उद्देश्य, सिद्धान्त तथा प्रयोजनो मे विश्वास रखते हो। उक्त घोषणा की यह बात भी उनके द्वारा बार-बार दोहराई जा चुकी है कि 'आसियान' के सदस्य राष्ट्रो मे विदेशी सैनिक अड्डे अस्थाई हैं। वस्तुत आसियान के सदस्य राष्ट्रो पर साम्यवादी विरोधी होने के आरोप का सुरक्षात्मक जवाब उन्होंने अनेक साम्यवादी देशो के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। इस दिशा मे अप्रैल, 1976 तथा मई, 1976 मे मलयेशिया, सिंगापुर एव फिलीपीन द्वारा कम्पूचिया से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन दिनो आसियान के अनेक सदस्य राष्ट्र सोवियत सघ एव साम्यवादी चीन से भी व्यापार द्वारा अपने

सम्बन्ध निकटतर बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। आसियान का निर्माण करते समय उसके अधिकांश सदस्य राष्ट्रों के पश्चिमी राष्ट्रों के निकटवर्ती राज्यों के मुकाबले समीप के सम्बन्ध थे, किन्तु वर्तमान समय में वे अधिक जागरूक, सच्चे पड़ोसी एवं सामूहिक सहयोग के बारे में अधिक से अधिक कार्यरत है। वस्तुतः आसियान के द्वारा उसके सदस्य राष्ट्रों को राजनय का एक नया आयाम मिला है। यह सही है कि आसियान द्वारा प्रारम्भिक वर्षों में क्षेत्रीय सहयोग कायम करने मे सदस्य राष्ट्रों में आपसी गलतफहमियां थी कि उनसे निकटवर्ती राष्ट्रों में परिवर्तनो के सम्बन्ध में मन्त्रणा नही की गई। किन्तु अब उनके उत्साहजनक कार्यकलापों को देखकर लगता है कि उनका राजनय परिपक्व अवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है। जनवरी, 1974 मे सिंगापुर के प्रधानमन्त्री ली कुआन यू ने आसियान के सदस्य राष्ट्रो की अपनी यात्रा के दौरान फिलीपीस मे कहा कि इस समय तेल सकट को लेकर सदस्य राष्ट्रों का सामूहिक दृष्टिकोण अधिक महत्त्वपूर्ण रहा, बनिस्वत जब वे पूर्वकाल मे वैयक्तिक स्तर पर अपने राजनय को क्रियान्वित करते थे।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, आज आसियान के कार्यों का क्षेत्र काफी विस्तृत है। सार्वजनिक और निजी क्षेत्र दोनों में आसियान की परियोजनाएँ हैं। आसियान घोषणा-पत्र यद्यपि राजनीतिक मामलो को क्षेत्रीय विषयो में नही जोड़ना चाहता, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि यह आसियान का महत्व कम कर देता है। यह आज समस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, प्रशासनिक आदि क्षेत्रों में कार्यरत है। यही केवल सबसे अधिक प्रचलित सच्चा क्षेत्रीय जन संगठन है एवं 'आसियान' के सदस्य राष्ट्रो की जनता उसको एक ऐसी मशीनरी के रूप मे मानती है जो एक देश की जनता को दूसरे देश की जनता से जोड़ती है। सदस्य राष्ट्र द्विपक्षीय एव बहुपक्षीय सम्बन्धों की स्थापना के विषय में नीति निर्धारण करते समय इसको दृष्टि मे रखते हैं। अन्य क्षेत्रीय संगठनों जैसे इकाफे एवं यूरोपीय साझा बाजार जैसे संगठनों की बैठको मे 'आसियान' को दक्षिण-पूर्व एशियायी राष्ट्रों की एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि में इसका महत्व यहाँ तक बढ गया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने आसियान के सदस्य राष्ट्रों मे सहयोग पर अनेक अध्ययन किये है।

आसियान का मूल्यांकन
(Assessment of ASEAN)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कुछ पर्यवेक्षको का मत है कि मोटे तौर पर 'आसियान' का कार्य मन्द एवं निराशाजनक रहा है। इस कथन के समर्थन में उक्त पर्यवेक्षक आसियान की तुलना यूरोपीय आर्थिक समूह की सफलताओ का उदाहरण देकर करते हैं। वस्तुतः आसियान के कार्यों की विगत एवं भावी स्थिति समझने के लिए आवश्यक है कि हम उसकी तुलना यूरोपीय आर्थिक समुदाय से करते वक्त दोनों क्षेत्रीय संगठनो के उद्भव के पीछे विभिन्न कारणो एवं तत्कालीन परिस्थितियों का भी तुलनात्मक अध्ययन करें, तभी किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

इस प्रकार 1967 मे स्थापित किये गये 'आसियान' नामक असैनिक संगठन का विकास मन्द गति से किन्तु नियमित एवं आशाजनक तरीके से हुआ है, जो सदस्य राष्ट्रों मे बढते आपसी विश्वास एवं सहयोग का सूचक है। दक्षिण पूर्व एशिया में

क्षेत्रीय सहयोग कायम करने की दिशा में 'आसियान' तीसरी दुनिया के लिए राजनयिक मॉडल का रूप धारण कर सकता है, बशर्ते उसका सांस्थानीकरण सुचारु एवं सावधानीपूर्वक किया जाये। वस्तुतः एक मजबूत एवं सांस्थानीकृत 'आसियान' महाशक्तियों से सम्मान प्राप्त कर सकता है, अन्यथा कमजोर 'आसियान' उनके हस्तक्षेप, दबाव एवं प्रभाव का शिकार होगा।

1975 में वियतनाम की मुक्ति और एकीकरण के बाद इस स्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन आया है। एक ओर बड़ी शक्तियों को यह लगा कि आसियान ही वियतनाम की सैनिक, विस्तारवादी महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगा सकता है तो दूसरी ओर कम्पुचिया में वियतनामी हस्तक्षेप से आसियान के सदस्यों में बुनियादी मतभेद उभरने लगे। जहाँ एक ओर सिंगापुर और थाईलैण्ड जुझारू वैर का भाव दर्शाते रहे हैं, वहीं इण्डोनेशिया और मलयेशिया कहीं अधिक सुलह-समझौते के लिए तत्पर रहे हैं। आसियान की स्थापना से आज तक दक्षिण पूर्व एशिया के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। चीन में माओ युग के साथ ही उग्र आक्रामकता का अन्त हुआ है तथा अमरीका-चीन सम्बन्धों में दूरगामी सुधार के आसार सामने आने लगे। स्वयं मलयेशिया व इण्डोनेशिया जैसे देशों ने सोवियत संघ और चीन जैसे साम्यवादी देशों के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने में पहल की है। इसके अलावा फिलीपीन्स में मार्कोस के पतन के बाद फिलीपीन्स के राजनीतिक संस्कार में बुनियादी परिवर्तन आया है। साथ ही वियतनाम में पुरानी पीढ़ी के कट्टरपंथी शीर्षस्थ नेताओं के अवकाश-ग्रहण के बाद वियतनाम की विदेश नीति के नरम पड़ने की आशा जगी है। ऐसा लगता है कि स्थापना के दो दशक बाद जाकर आसियान सार्थक, रचनात्मक, ठोस कदम उठाने की स्थिति तक पहुँच पाया है।[1]

'सार्क' संगठन और क्षेत्रीय सहयोग
(South Asian Association of Regional Cooperation ('SAARC') and Regional Cooperation)

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले दक्षिण एशिया के लगभग सभी देश ब्रिटिश उपनिवेश थे और एक ही प्रशासनिक ढाँचे के अधीन थे। प्रकृति ने वैसे भी भारतीय उपमहाद्वीप को जो रूप दिया है, उसमें भौगोलिक एवं आर्थिक दृष्टि से खैबर दर्रे से लेकर कोहिमा तक और हिमालय से लेकर हिन्द महासागर स्थित श्रीलंका व मालदीव जैसे द्वीपों तक इस एक ही 'इकाई' बनाया है। इस परिस्थिति में दक्षिण एशिया के सभी देशों के बीच क्षेत्रीय सहकार का तर्क बहुत प्रबल है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अर्थशास्त्र का तर्क हमेशा कारगर नहीं होता और यही बात दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहकार पर भी लागू होती है। साम्राज्यवादियों की 'फूट डालो और राज करो' वाली नीति ने 'अखण्ड भारत' में साम्प्रदायिक द्वेष और नस्लीय

[1] इस परिप्रेक्ष्य में आसियान और दक्षिण एशियाई देशों के बीच आर्थिक सहकार के बारे में कुतूहल पैदा हुआ है। यह विषय काफी महत्वपूर्ण है और इसके वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के लिए देखें, Charan D Wadhava and Mukul G Easher (ed), *ASEAN-South Asia Economic Relations* (Singapore, 1985)

बैर भाव को जन्म दिया। सदियों से जो लोग एक अविभाजित सांस्कृतिक-व्यापारिक जगत के निवासी थे, वे औपनिवेशिक मुनाफाखोरी या सामरिक जरूरतों के अनुसार कृत्रिम दीवारों द्वारा एक-दूसरे से अलग कर दिये गये। भारत और पाकिस्तान का उदाहरण सबसे पहले याद आता है, परन्तु श्रीलंका, बर्मा और नेपाल के विषय में भी यही बात लागू होती है।

दक्षिण एशियाई देशों में मतभेद
(Differences among South Asian Nations)

भारत के आजाद होने के बाद नेहरू जी की प्रेरणा और निर्देशन में देश ने गुट निरपेक्षता की नीति अपनायी। इस कारण भी भारत द्वारा अनेक पड़ोसियों के साथ सार्थक संवाद की सम्भावना कम हुई। पाकिस्तान, अमरीका पक्षधर और पश्चिमी सैनिक गठबंधन का सदस्य था तथा कोटलेवाला के प्रधान-मन्त्रित्व काल में श्रीलंका भी छोटे राष्ट्रों के लिए विदेशी बड़ी शक्तियों द्वारा समर्थित सामूहिक सुरक्षा योजनाओं को लाभप्रद समझता रहा। बर्मा में व्यापक जन-जातीय विद्रोह निरन्तर जारी रहे और बर्मी गुट निरपेक्षता क्रमशः एकान्तवास में बदल गयी। नेपाल में राणा वंश की तानाशाही का अन्त भारतीय सहायता से ही सम्पन्न हुआ। इसके बाद पश्चिमी नमूने के जनतान्त्रिक प्रयोग की असफलता ने नेपाल तथा भारत दोनों को ही एक-दूसरे से खिन्न किया।

इस पृष्ठभूमि को दोहराने का प्रमुख उद्देश्य यह जताना है कि भारत के छोटे पड़ोसी उसकी ओर से अपने को निरापद नहीं समझते। इन पड़ोसियों के शक बिल्कुल बेबुनियाद भी नहीं कहे जा सकते। राणाशाही के उन्मूलन का जिक्र ऊपर किया जा चुका है। 1971 में पाकिस्तान का विभाजन भारतीय सहयोग से ही हुआ। बर्मा तथा श्रीलंका को अलग-अलग अवसरों पर विप्लवकारियों के दमन के लिए भारतीय सैनिक सहायता दी गयी। सैनिक बल और आर्थिक सामर्थ्य की दृष्टि से भारत का आकार सारे पड़ोसियों के एक हो जाने के बाद भी उन्हें दैत्याकार लगता है। अनेक भारतीय नेताओं ने समय-समय पर अपने पड़ोसी देशों से सरकार के स्वरूप के बारे में आलोचनात्मक टिप्पणियाँ कर उन्हें और भी आशंकित रखा है। नेपाल एवं श्रीलंका जैसे राज्यों का यह सोचना गलत भी नहीं कहा जा सकता कि भारत और उनकी समस्याएँ भिन्न हैं, उपलब्ध समाधान और तदनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण भी एकसा नहीं है।

क्षेत्रीय सहकार के प्रयत्न व भारत का संकोच
(Regional Cooperation and India)

इस सबसे यह समझना गलत होगा कि 'सार्क' की प्रस्तावना के पहले क्षेत्रीय सहकार का कोई प्रयत्न इस क्षेत्र में नहीं किया गया। नेहरू जी और लियाकत अली खाँ के जीवन काल में नदी जल-विवाद के निपटारे, सलाल और फरक्का जलबन्ध के सिलसिले में रचनात्मक सहकारी परियोजनाओं को अनेक बार सुलझाया गया। इसी तरह कोलम्बो योजना, आइटेक परियोजना के अन्तर्गत वैज्ञानिक व तकनीकी सहकार की प्रस्तावना—परियोजनाओं में इस समूचे दक्षिण एशियाई क्षेत्र को अधिकतर एक अविभाज्य इकाई के रूप में देखा गया। इस बात से भी इंकार नहीं किया जा

सकता कि इस तरह के सहकार के लाभदायक परिणाम ही निकलें। तब भी भारत अपने पड़ोसियों की संवेदनशीलता के प्रति हमेशा सतर्क रहा है। उसने स्वयं कभी क्षेत्रीय सहकार की नई रूपरेखा सुझाने में कोई पहल नहीं की है, ताकि उसके मतव्यों को गलत न समझा जाये और कोई भी छोटा पड़ोसी यह आरोप-आक्षेप न लगा सके कि भारत इस बहाने दक्षिण एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है।

जहाँ तक पड़ोसियों के साथ भारत के उभयपक्षीय सम्बन्धों का प्रश्न है, कश्मीर को छोड़कर लगभग सभी अन्य विवादों का निपटारा शांतिपूर्ण परामर्श द्वारा सम्भव हुआ है और इसने क्षेत्रीय सहकार की जमीन तैयार की है। नेपाल के साथ व्यापार और पारगमन संधि, श्रीलंका के साथ कच्चा तिवु समझौता, बर्मा और श्रीलंका के साथ भारतीय मूल के नागरिकों की गुत्थी सुलझाना सभी उदाहरण-स्वरूप गिनाये जा सकते हैं। परन्तु इससे इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता कि औपनिवेशिक काल का जहर मिट चुका है या कि यूरोप और दक्षिण पूर्व एशिया की तरह क्षेत्रीय एकीकरण का भाव दक्षिण एशिया में भी प्रबल हुआ है। जिन समझौतों का ऊपर उल्लेख है, वे दोनों पक्षों के लिए बराबर लाभप्रद नहीं है। कई विद्वानों का मानना है कि भारत के पड़ोसियों का प्रयत्न सिर्फ इतना-भर रहा है कि क्षेत्रीय सद्भावना की दुहाई देकर वे भारत को कमोबेश अपने राष्ट्रीय हितों की बलि देने के लिए विवश कर सकें। इन्हीं कारणों से 1947 से 1981 तक क्षेत्रीय सहकार के बारे में दक्षिण एशियाई सोच असमंजस वाला ही रहा। 1970 वाले दशक के मध्य में ईरान के शाह ने अपनी समृद्धि के अहंकार में एक बार व्यापक एशियाई विकासोन्मुख सहकार की बात सुझायी, जिसका आधार दक्षिण एशियाई देशों को बनना था, परन्तु उसके पतन के बाद यह प्रस्ताव खटाई में पड़ गया।

'सार्क' का प्रस्ताव
(Proposal of SAARC)

यह मानना तर्कसंगत होगा कि जब 1981 में बंगला देश के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल जिया-उर-रहमान ने दक्षिण एशियाई देशों में सहयोग का प्रस्ताव रखा तो यह एक नई पहल थी। इस समय तक दक्षिण एशियाई अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में व्यापक परिवर्तन हो चुके थे। भारत में आपातकाल की घोषणा, चुनाव में कांग्रेस की भारी पराजय और जनता सरकार की पुरान ढर्रे की विदेश नीति ने अनेक पड़ोसियों को यह सोचने का मौका दिया था कि वे संगठित होकर अपने हितों की रक्षा भारत के मुकाबले कहीं बेहतर ढंग से कर सकते हैं। भले ही कुछ विद्वानों ने यह बात सुझायी हो कि जनरल जिया-उर-रहमान ने यह पहल अमरीकी इशारे पर की थी, तथापि इसके प्रमाण आसानी से नहीं जुटाये जा सके है। यह सोचना अधिक तर्कसंगत है कि सैनिक तानाशाही का जनप्रिय नागरिक रूपान्तरण चाहने और वैधानिकता का जामा पहनने के लिए उत्सुक जनरल जिया की यह अपनी मौलिक सूझ थी। यह नहीं भूलना चाहिए कि 1981 में अनेक पर्यवेक्षकों का मानना था कि पुनः निर्वाचित श्रीमती गांधी बहुत सुधर चुकी हैं और पड़ोसियों के प्रति भारत का रवैया अब अपेक्षाकृत कम कठोर रहेगा। जनरल जिया ने इस बात की एहतियात बरती कि राजनीतिक मतभेद आरम्भ में ही सार्क के मार्ग में बड़ी बाधा न बन जायें। इसीलिए

सार्क के मूल घोषणा-पत्र में यह बात स्पष्ट की गई कि दक्षिण एशियाई देश इस मंच पर आपसी राजनीतिक विवाद नहीं घसीटेंगे, फैसले सर्वसम्मति से किये जायेंगे और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रश्नों पर एक समान नीति अपनाने का प्रयत्न करेंगे। तब से आज तक विदेश सचिव, विदेश मन्त्री, विशेषज्ञ स्तर पर सार्क की अनेक बैठकें हो चुकी हैं और कुछ शिखर सम्मेलन भी। दक्षिण एशियाई सहयोग के बारे में इनके आधार पर तर्कसंगत निष्कर्ष निकालना आज सम्भव है।

1981 के बाद पहले चार-पाँच वर्षों तक सार्क एक अमूर्त आन्दोलन के रूप में चर्चित रहा। इसकी एक संगठन के रूप में स्थापना करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसके दो कारण थे। ऊपर गिनाये गये कारणों से भारत तो इस विषय में कोई पहल कर ही नहीं सकता था। अन्य सदस्य भी कुछ रुककर औरों की प्रतिक्रिया देख परख लेना चाहते थे। दूसरे, जनरल जिया-उर-रहमान ने अपनी प्रस्तावना में यह संकेत दिया था कि शीर्ष सम्मेलन की सफलता के लिए विशेषज्ञों और उच्च-पदस्थ सरकारी अफसरों द्वारा जमीन पहले अच्छी तरह तैयार की जानी जरूरी है। यों ढाका और बंगलौर में पहले तथा दूसरे शिखर सम्मेलनों (दिसम्बर, 1985 और नवम्बर 1986) के पहले सार्क अन्तर्राष्ट्रीय खेल समारोह तथा थिम्पू-वार्ता सम्पन्न हो चुके थे। परन्तु इनका महत्त्व ठोस राजनय की दृष्टि से नहीं, प्रचार के संदर्भ में ही था। थिम्पू वार्ताएँ चर्चा का विषय बनी तो सिर्फ इसलिए कि श्रीलंका की जातीय समस्या के समाधान के लिए भारत की मध्यस्थता में कोलम्बो और 'तमिल बागियों' के बीच सीधा संवाद यहाँ शुरू हो सका। 1981 से नवम्बर 1985 तक का तिथिक्रम दोहराना लाभप्रद नहीं। यहाँ सिर्फ दो-तीन ऐसी बातों की ओर इशारा जरूरी है, जिससे इन वर्षों में धीमी प्रगति के कारणों का विश्लेषण स्वयमेव हो जाता है। पहले बंगला देश में राष्ट्रपति जिया-उर-रहमान की हत्या हुई और तख्ता पलट। फिर पाकिस्तान में जनतंत्र की बहाली के लिए बेनजीर भुट्टो के लिए व्यापक जन-आन्दोलन हुआ। तदुपरान्त 1984 में ऑपरेशन ब्ल्यू स्टार के बाद भारत में आतंकवादी हिंसा घातक ढंग से भड़की। इसकी परिणति श्रीमती गांधी की हत्या में हुई। श्रीलंका में तमिलों का असन्तोष बड़े पैमाने पर लड़े जा रहे गृह-युद्ध में बदल गया, जिसमें बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप निरन्तर दृष्टिगोचर होता रहा है। छुटपुट ही सही, नेपाल में भी आतंकवादी बम विस्फोट हुए। कुल मिलाकर भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल, श्रीलंका सभी दक्षिण एशियाई देश (भूटान व मालदीव को छोड़कर) आन्तरिक राजनीति के दबावों में इतना व्यस्त रहे कि क्षेत्रीय सहकार-संगठन की बात पृष्ठभूमि में चली गयी।

सार्क की संगठन के रूप में विधिवत स्थापना—7 दिसम्बर, 1985 तक भारतीय उप-महाद्वीप में राजनीतिक व सामाजिक उथल-पुथल के बाद इतनी स्थिरता आ गई थी कि एक बार फिर क्षेत्रीय सहकार को समुचित संरचनात्मक ढाँचा देने की बात सोची जा सकती थी। जैसाकि तब पत्रकारों ने टिप्पणी की—इन चार-पाँच वर्षों में एक अस्पष्ट परिकल्पना-अवधारणा यथार्थ में बदल चुकी थी। ढाका में भले ही सार्क का जन्म हुआ हो, परन्तु कुछ कर सकने की सक्षमता उसे बंगलौर में ही प्राप्त हुई। इस समय तक राजनयाचार की अनेक ऐसी औपचारिकताएँ पूरी कर ली गयी, जो आगे चलकर विवादस्पद बन सकती थी और किसी तरह की जटिलता पैदा कर सकती थी। बंगलौर में तय किया गया कि सार्क का मुख्यालय

काठमाडू (नेपाल) में होगा और इसका पहला अध्यक्ष बगला देश द्वारा मनोनीत व्यक्ति होगा। तदुपरान्त वर्णानुक्रमानुसार बारी-बारी से इस पद पर अन्य सदस्यो द्वारा मनोनीत व्यक्ति दो वर्ष तक कार्य करेगा।

यह सोचना अनुचित नहीं कि निकट भविष्य में सचिवालय स्वय किसी खर्चीले कार्यक्रम को नही उठायेगा, बल्कि जैसाकि नई दिल्ली में अगस्त, 1983 मे सार्क विदेश मन्त्रियो के सम्मेलन मे तय किया गया कि सचिवालय विभिन्न देशो के विकास कार्यक्रमो मे सहकार और बेहतर समायोजन का ही प्रयत्न करेगा।

सहयोग क्षेत्रो का निर्धारण
(Areas of Cooperation)

अगस्त, 1983 मे ऐसे नौ क्षेत्र रेखाकित किये गये थे—कृषि, स्वास्थ्य सेवाएँ, मौसम विज्ञान, डाक-तार सेवाएँ, ग्रामीण विकास, विज्ञान तथा टैक्नोलॉजी, दूर-सचार तथा यातायात, खेलकूद तथा सास्कृतिक। ढाका मे दो वर्ष बाद इस सूची मे कुछ और विषय जोड दिये गये—आतकवाद की समस्या, मादक द्रव्यो की तस्करी तथा क्षेत्रीय विकास मे महिलाओ की भूमिका। महत्वपूर्ण बात यह है कि कार्य-सूची मे विषय जोडने या घटाने से कोई अन्तर नही पडता, जैसा कि नवम्बर, 1986 मे आयोजित बगलौर शिखर सम्मेलन मे स्पष्ट हुआ। आतकवाद की परिभाषा तक सर्वसम्मति से तय नही हो सकी। श्रीलका इसके माध्यम से भारत को सकोच मे डालना चाहता था। इस बात को भी अनदेखा नही किया जा सकता था कि प्रभाकरण और जयवर्द्धने मे सीधी वार्ताएँ कराने के प्रयत्न क्षेत्रीय सहकार की तमाम अन्य योजनाओ के ऊपर हावी हो गये।

दक्षिण एशिया मे तनावग्रस्त माहौल
(Tension in South Asia)

जितनी प्रगति दिसम्बर, 1985 से नवम्बर 1986 तक हुई थी, उससे कही ज्यादा बिगाड 1987 मे भारत-पाक, भारत-श्रीलका और भारत-बगला देश सम्बन्धो मे हुआ। जहाँ एक ओर बहुपक्षीय लाभ का आर्थिक तर्क आज भी बरकरार है, वही पाकिस्तानी परमाणु बम, नदी जल-विवाद और तामिल सकट को लेकर सहकार के मार्ग मे बडी-बडी बाधाएँ यथावत् बनी हुई हैं। ऐसी स्थिति मे इस आशावादिता का कोई कारण नही कि नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और तकनीकी सहकार के क्षेत्र मे सार्क के माध्यम से वाछित प्रगति हो सकेगी।

दक्षिण एशिया मे भारत के तमाम पडौसियो के साथ सम्बन्ध पिछले दशक वर्षों मे निरन्तर तनावग्रस्त हुए हैं। पहले सिर्फ पाकिस्तान के साथ कश्मीर विवाद था, जो क्षेत्रीय सहकार के मार्ग मे बडी बाधा था, या पाकिस्तान को दी जाने वाली अमरीकी सैनिक सहायता थी, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय उप-महाद्वीप मे शीत युद्ध का प्रवेश हुआ। परन्तु आज इस तरह की कटुता और विवाद बगला देश, श्रीलका, नेपाल, भूटान आदि सभी के साथ है। न्यू मूर द्वीपसमूह, फरक्का जलबध, चकमा आदिवासी, असम मे बिहारी मूलज शरणार्थियो का अनधिकृत प्रवेश, सीमा सुरक्षा बल के साथ मुठभेड आदि सभी विषय ऐसे हैं, जिनमे वर्षों के सद्प्रयत्नो के बावजूद कोई प्रगति नही हो सकी है।

जनता सरकार के शासन काल में नेपाल के साथ व्यापार और पारगमन (transit) की अलग-अलग सन्धि पर हस्ताक्षर किये जाने के बाद यह आशा जगी थी कि मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का निर्वाह आगामी वर्षों में निरापद रहेगा। परन्तु नेपाली सरकार की यह महत्त्वकांक्षा कि वह भारत तथा चीन को एक-दूसरे के साथ सन्तुलित कर लाभ उठाती रहे, कम नहीं हुई। जब पश्चिमी बंगाल में गोरखालैण्ड की माँग ने सिर उठाया है, तब नेपाली इरादों के बारे में भारत सरकार निश्चिन्त नहीं बैठ सकी। बंगला देश के साथ जल-विवाद का निपटारा हो या अरुणाचल व सिक्किम में प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन, नेपाल ने भारतीय क्रिया-कलाप की आलोचना करने में कोई संकोच नहीं दिखाया। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा तथा सुरक्षा परिषद् में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर हुए मतदान में नेपाल ने भारत का बहुत कम अवसरों पर साथ दिया है।

इसी तरह श्रीलंका में तामिल समस्या में बिगाड़ के साथ दक्षिण अफ्रीकी और इजराइली भाड़े के सैनिकों के प्रवेश के साथ भारत और श्रीलंका के बीच लगभग वैर की स्थिति विकसित हो गयी। स्वयं जयवर्द्धने ने उभयपक्षीय समस्याओं का बारबार अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर सार्क की भावना को बहुत नुकसान पहुँचाया। यहाँ कहने का अभिप्राय यह कतई नहीं है कि इन सम्बन्धों में भारत का पक्ष न्यायोचित है और छोटे पड़ौसी जान-बूझकर विवाद पैदा करते हैं। हमारा उद्देश्य सिर्फ यह इंगित करना है कि चाहे किसी भी कारण जब तक भारत और उसके पड़ौसियों के बीच सामरिक और भू-राजनीतिक विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान नहीं हो जाता, तब तक सार्क के उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में कोई प्रगति नहीं की जा सकती, भले ही काठमांडू में मुख्यालय का उद्घाटन हो गया हो। जब तक पाकिस्तान के साथ परमाणु विकास कार्यक्रम के सम्बन्ध में, बंगला देश के साथ चकमा आदिवासियों के मानवाधिकारों के हनन के विवाद का निपटारा नहीं हो जाता और श्रीलंका में शान्ति नहीं लौटती, तब तक सार्क के सहकारी विकास कार्यक्रम, पशु-पालन, स्वास्थ्य सेवा, तकनीकी सहयोग और मौसम की भविष्यवाणी सम्बन्धी कार्यक्रम सार्क के किसी भी सदस्य के लिए महत्वपूर्ण नहीं बन सकते। अतएव इस निष्कर्ष तक पहुँचना तर्क-संगत है कि निकट भविष्य में सार्क दक्षिण एशिया में रचनात्मक सहकार की एक 'आदर्श अवधारणा' के रूप में ही बना रहेगा।

सार्क की अन्य क्षेत्रीय सहयोग संगठनों से तुलना

यदि दक्षिण एशियाई सहकार योजना की तुलना अन्य क्षेत्रीय सहकार परियोजनाओं, आसियान या यूरोपीय साझा बाजार से करें तो अब तक की प्रगति, वर्तमान समस्याएँ और भविष्य की सम्भावना, किसी भी दृष्टि से अब तक का घटनाक्रम अस्वाभाविक नहीं लगता। भौगोलिक सामीप्य और पूरक अर्थव्यवस्थाओं का अस्तित्व अपने आप में क्षेत्रीय सहकार को सुदृढ़ बनाने के लिए यथेष्ट कहीं भी नहीं रहा है। सबसे बड़ी जरूरत इसी बात की होती है कि राजनीतिक विवाद के क्षेत्र में तनाव घटाया जा सके और अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में समानता लायी जा सके। इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि यूरोपीय साझा बाजार और आसियान में से कोई भी संगठन अपने पूरे क्षेत्र का प्रतिनिधित्व नहीं करता। यूरोप में यूरोपीय आर्थिक समुदाय का प्रतिद्वन्द्वी कामेकोन है तो दक्षिण पूर्व एशिया में

आसियान का मुकाबला हिन्द चीन के देशों से है, जबकि पूरक अर्थव्यवस्थाओं का तर्क इन पर भी लागू होता है। दक्षिण एशियाई सहकार भी भारत-पाक सम्बन्धों के सामान्यीकरण या इनमें तनाव पर टिका हुआ है। अफगान घटना-क्रम के बाद अमरीका से बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता ग्रहण कर पाकिस्तान का आत्म-विश्वास इस सीमा तक बढ़ा कि भारत को सन्तुलित करने के लिए रचनात्मक सहकार की कोई जरूरत उसे महसूस नहीं होती।

सार्क का मूल्यांकन
(Assessment of SAARC)

यह दोहराने की जरूरत है कि सार्क की धीमी प्रगति के लिए पड़ौसियों पर दोषारोपण का कोई अभिप्राय हमारा नहीं। स्वयं भारत में श्रीमती गांधी की हत्या के बाद आन्तरिक राजनीति इतनी उथल-पुथल वाली रही है कि शान्ति और सुव्यवस्था का प्रश्न और षड्यन्त्रकारी बाहरी हस्तक्षेप का सकट क्षेत्रीय सहकार से कहीं अधिक महत्वपूर्ण बन गये हैं। कमोबेश यही स्थिति पाकिस्तान और श्रीलंका पर भी लागू होती है। भूटान और मालदीव भले ही इस चिन्ता से मुक्त हैं परन्तु उनकी भूमिका इस परियोजना में अपेक्षाकृत गौण और सहायता-अनुदान के ग्राहक वाली है। ऐसा जान पड़ता है कि इन परिस्थितियों में जो कुछ भी प्रगति हुई है, चाहे कितनी ही शिथिल रही हो, उसे ही बड़ी उपलब्धि माना जाना चाहिए। यह स्मरणीय है कि 'आसियान' की प्रस्तावना 1967 में किये जाने के बाद पहला शिखर सम्मेलन 1976 में ही आयोजित किया जा सका था और यूरोपीय साझा बाजार का स्वरूप तथा संगठन भी श्रीगणेश के दस वर्ष बाद ही तय हो पाया था। भारत की दृष्टि से यही सन्तोष का विषय समझा जाना चाहिए कि 'सार्क' के बहाने इस क्षेत्र में कम से कम बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाना सम्भव हुआ है। बंगला देश, नेपाल और पाकिस्तान में दीर्घकाल तक प्रतिनिधि जनतन्त्र नहीं रहा और श्रीलंका में लगभग आपातकाल की स्थिति बनी रही। ऐसी स्थिति में जनमत सार्क विषयक नीति निर्धारण को आसानी से प्रभावित नहीं कर सकता। यह जरूर है कि सार्क के कार्यक्रमों के अन्तर्गत उच्च-पदस्थ विशेषज्ञों तथा सरकारी अधिकारियों की नियमित बैठकों से परोक्ष रूप से ही सही, भविष्य में सार्थक तकनीकी आर्थिक सहयोग का ढांचा तैयार होने लगा है।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय
(European Economic Community or E. E. C)

यूरोपीय आर्थिक समुदाय, यूरोपीय साझा बाजार आदि नामों से जिन क्षेत्रीय सहकार योजनाओं-संगठनों का सूत्रपात हुआ, उन्हीं के साथ युद्धोत्तर काल में क्षेत्रीय एकीकरण की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। क्षेत्रीय सहकार का सघन परिष्कृत रूप यूरोपीय आर्थिक समुदाय में देखने को मिलता है। इस अवस्था को अनेक नामों से जाना जाता है, परन्तु यूरोपीय आर्थिक समुदाय का प्रयोग ही सबसे उचित है, क्योंकि 1 जनवरी, 1958 की सन्धि द्वारा स्थापित संस्था का यही अधिकारिक नाम है। यूरोपीय साझा बाजार इसके अन्तर्गत आर्थिक सहयोग की एक विशेष व्यवस्था है और यूरोपीय मुक्त व्यापार संघ, यूरोपीय परिषद, यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय,

आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (O. E. C. D.) जैसी अनेक संरचनाएँ आज यूरोपीय आर्थिक समुदाय की छतरी के नीचे आ चुकी है और अपने क्रियाकलापों द्वारा, क्षेत्रीय सहयोग द्वारा संगठन को पुष्ट करती है।

यूरोप का आर्थिक पुनर्निर्माण (Economic Reconstruction of Europe)

पिछली दो सदियों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे यूरोपीय शक्तियो का प्रभुत्व रहा। द्वितीय विश्व युद्ध ने इस स्थिति को नाटकीय ढंग से बदल दिया। औपनिवेशिक शक्तियो का सूर्य अस्त हुआ और विजेता तथा पराजित दोनो पक्षो के यूरोपीय देश, फ्रांस तथा जर्मनी ध्वस्त तथा पस्त बने रहे। अमरीकियो ने आर्थिक ह्रास और सामाजिक असन्तोष को सर्वव्यापी स्थिति को अपने हितो के लिए जोखिम भरा समझा और यह तर्कसंगत भी था। भले ही इस समय तक परमाणु अस्त्रो पर अमरीका का एकाधिकार था, परन्तु सोवियत लाल सेना का अधिपत्य यूरोप में अनदेखा नही किया जा सकता था। आतंक का सन्तुलन उभरने लगा था, लेकिन अभी स्पष्ट नही हुआ था। इसलिए साम्यवाद की विस्तारवादी चुनौती का सामना यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के द्वारा ही किया जा सकता था।

युद्ध समाप्ति के तत्काल बाद चर्चिल ने स्थायी शांति के हित मे यूरोपीय एकता का स्वर मुखर किया। अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमेन ने उनका अनुसरण करते हुए यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए आर्थिक और वित्तीय सहायता का प्रस्ताव रखा। आगे चलकर यह प्रस्ताव ट्रूमेन सिद्धान्त के नाम से विख्यात हुआ। इस दिशा में अगला और सबसे महत्वपूर्ण कदम अमरीकी विदेश सचिव जार्ज मार्शल ने उठाया। उन्होने 5 जून, 1947 को हारवर्ड विश्वविद्यालय मे दिये गये अपने प्रसिद्ध भाषण मे यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण का स्पष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस योजना के अन्तर्गत 1948 से 1952 के चार वर्षों मे अमरीका ने यूरोप के 16 देशो को 20 अरब डालर की सहायता दी। निश्चय ही मार्शल योजना ने यूरोपीय क्षेत्रीय सहकार को बहुत सही ढंग से प्रोत्साहित किया और जड़ता तोडकर यथास्थिति बदलने के लिए आवश्यक संसाधन जुटाये।

यूरोपीय एकता की अवधारणा सदियों पुरानी

यह समझना गलत है कि यूरोप मे क्षेत्रीय सहकार की प्रक्रिया बाहरी (अमरीकी) प्रेरणा पर आधारित थी। असल में यूरोपीय एकता की अवधारणा सदियों पुरानी है। पवित्र रोमन साम्राज्य और सम्राट शार्लमा के जमाने से यूरोप की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकता सर्वसम्मत रही है। यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन के रहते यूरोप की छोटी-बड़ी किसी भी शक्ति को अपनी स्वतन्त्रता गँवानी नही पड़ी। औपनिवेशिक ताकतो ने जिस तरह अफ्रीका और एशिया में शासन के लिए जान-बूझकर विभाजक नीतियाँ लागू की, वैसे षड्यन्त्रों के दुष्प्रभाव से भी यूरोप बचा रहा। इसे भी अनदेखा नही किया जा सकता कि इंग्लैंड को छोडकर फ्रांस से लेकर रूस तक, स्केन्डिनेवियायी देशो से लेकर इटली तक यूरोपीय महाद्वीप का 'हृदय स्थल' भौगोलिक रुकावटों-बाधाओ से मुक्त है। 19वी शताब्दी में औद्योगीकरण के विकास

के साथ उत्पादन और वितरण का एक ऐसा ताना-बाना बुना जा चुका था, जिसने आर्थिक एवं राजनीतिक क्रियाकलाप को किसी भी एक राष्ट्र की सरहद के पार फैला दिया था। विडम्बना तो यह है कि जिस मार्क्सवादी-साम्यवादी चुनौती का सामना करने के लिए 1947–48 में क्षेत्रीय सहकार की रूपरेखा तैयार की जा रही थी उसी विचारधारा के प्रसार ने अन्तर्राष्ट्रीय, विशेषकर यूरोपीय, एकता को रेखांकित किया।

यहाँ एक और बात जोड़ने की जरूरत है। नाजीवाद और फासीवाद की निर्णायक पराजय ने विजेता और पराजित दोनों ही राष्ट्रों को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार 1914 से 1935 का अन्तराल एक अपवाद था और वह यूरोपीय एकीकरण के लिए व्यवधान डालने वाला सिद्ध हुआ। 1947 से 1958 में एक अनावश्यक अन्तराल के बाद यूरोप में क्षेत्रीय सहकार की प्रक्रिया फिर से शुरू हो गयी।

ई० ई० सी० का गठन (Formation)

मार्शल योजना के क्रियान्वयन के साथ-साथ तकनीकी एवं वैज्ञानिक क्षेत्र में सहयोग कार्यक्रम आरम्भ हुए, जिनमें 1949 में यूरोपीय परिषद की स्थापना, 1952 में यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय का गठन, 1948 में यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन का शिलान्यास, 1950 में यूरोपीय अदायगी संघ आदि का निर्माण उल्लेखनीय हैं। इन सभी ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय के कार्यक्षेत्र को बढ़ाया और इसके क्रियाकलापों को आर्थिक दृष्टि से और भी अधिक प्रभावशाली बनाया। गठन के वक्त यूरोपीय आर्थिक समुदाय में सम्मिलित जनसंख्या 16 76 करोड़ थी और उसका क्षेत्रफल 457 7 हजार वर्गमील था। सदस्य राष्ट्रों की कुल राष्ट्रीय आय 16 47 करोड़ डालर थी। किसी भी पैमाने पर इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की उपस्थिति को अनदेखा नहीं किया जा सकता था। इस समय यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्य देशों की संख्या 12 है।

ई० ई० सी० के उद्देश्य (Objectives)

यूरोपीय आर्थिक समुदाय सन्धि के अनुच्छेद दो में इस संगठन के पाँच उद्देश्यों का जिक्र है। ये उद्देश्य हैं—(i) यूरोप को विभाजित करने वाले विवादों को हमेशा के लिए समाप्त करना, (ii) यूरोप की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करना तथा आर्थिक शक्ति और सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल भूमिका का निर्वाह करना, (iii) संयुक्त कार्रवाई द्वारा यूरोपीय जनता की कार्यशैली एवं जीवन यापन के स्तर में सुधार करना; (iv) यूरोप को छोटे-छोटे बाजारों में बाँटने वाले व्यवधानों का अन्त करना, और (v) बड़े पैमाने पर लाभप्रद औद्योगिक उत्पादन को प्रोत्साहन तथा भविष्य में यूरोप के संयुक्त राष्ट्रों के एकीकरण का आधार प्रस्तुत करने के प्रयत्न करना।

अनुच्छेद तीन और चार में इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रस्तावित क्रियाकलाप तथा संगठन, महासभा, परिषद्, आयोग तथा न्याय सभा आदि का ब्यौरा दिया गया है। इस प्रकार 'आदर्श' और 'सम्भव' के बीच सन्तुलन बिठाने का प्रयत्न किया गया। ई० ई० सी० की प्रगति-सफलता के बारे में विचार करते समय यह बात नहीं भुलायी जा सकती कि प्रस्तावना से योजना के मूर्त रूप ग्रहण

करने तक लगभग एक दशक बीत चुका था। अन्यत्र जहाँ क्षेत्रीय सहकार की जमीन पहले से इतनी अच्छी तरह तैयार न हो, क्षेत्रीय सहकार से अवरुद्ध होना बड़ी चिन्ता का विषय नहीं समझा जाना चाहिये। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि आर्थिक समुदाय के सभी सदस्य राष्ट्रों का सामरिक परिदृश्य एक-सा था। इसी कारण आर्थिक एवं सामरिक तर्क के सयोग के कारण यूरोप मे क्षेत्रीय सहकार की प्रगति आशाजनक रही।

सगठन की उपलब्धियाँ (Achievements)

यूरोप में क्षेत्रीय एकीकरण और सहकार मे प्रगति के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके रचनात्मक प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं। 1 जनवरी, 1973 से डेनमार्क, ग्रीस, आयरलैण्ड तथा इग्लैण्ड भी ई० ई० सी० के सदस्य हो गये और आज इस सगठन के देशों की आबादी अमरीका या सोवियत सघ की जनसख्या से अधिक है। अधिकतर देश सम्पन्न एवं विकसित हैं और बढ़े हुए आर्थिक सहकार के साथ इनकी आर्थिक दशा में और भी सुधार हुआ है। फ्रास, जर्मनी जैसे देशों में प्रति व्यक्ति आय मे तीन-चार गुणा वृद्धि हुई और वास्तविक मजदूरी में यह वृद्धि 75 से लेकर 109 प्रतिशत रही। 1958 में ई० ई० सी० देशो का विश्व व्यापार मे आयात मे हिस्सा 22·3 प्रतिशत था, जो 1975 तक बढ़कर 37 प्रतिशत हो गया। निर्यात में यह भाग 23·9 से बढ़कर 37·5 प्रतिशत पहुँच गया। संगठन आन्तरिक व्यापार कर भार से मुक्त है। श्रम, पूँजी और सेवाओं की गतिशीलता में वृद्धि हुई है। कल के शत्रु फ्रांस और जर्मनी आज मित्र ही नहीं, बल्कि सहयोगी भी बन चुके हैं। भले ही ई० ई० सी० आज एक महाशक्ति न हो, तब भी इसकी अलग पहचान बन चुकी है—खासकर सामरिक तथा आर्थिक क्षेत्रों मे। पिछले कुछ वर्षों मे अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों पर इस संगठन की नीतियाँ सदस्य राष्ट्रों के सामूहिक हितो को देखते हुए सन्धि मित्र अमरीका से फर्क रही हैं। आज यह नहीं कहा जा सकता कि साम्यवाद के मुकाबले के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोपीय एकीकरण को जिस तरह प्रोत्साहित किया गया, उसका विकास सैनिक सगठन नाटो के सहयोगी अनुचर के रूप मे हुआ। सोवियत सघ से आयात की जाने वाली गैस, यूरोपीय भूमि में क्रूज मिसाइलो की तैनाती तथा यूरोपीय अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रभुत्व को लेकर ई० ई० सी० के देशो में मतभेद सामने आते रहे हैं। इसके अतिरिक्त विकासशील देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता के 'परिणाम' को लेकर भी अमरीका और ई० ई० सी० के देशो में हमेशा मतैक्य नहीं रहा है। दक्षिण अफ्रीका की समस्या, आतंकवाद, पर्यावरण, मध्यपूर्व तेल संकट आदि अन्य विषय हैं, जिन पर यूरोपीय प्रतिक्रिया-नीतियाँ ई० ई० सी० से प्रस्तावित और अनुमोदित हुई हैं।

सगठन का विभाजक प्रभाव

इनिस क्लॉड जैसे अनेक विद्वानों ने यह बात सुझायी है कि क्षेत्रीय सहकार के जरिए व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सहकार की नींव रखी जा सकती है, परन्तु यूरोपीय आर्थिक समुदाय के अनुभव से यह पता चलता है कि इसके विभाजक प्रभाव भी हो सकते हैं। ई० ई० सी० की प्रगति से सोवियत सघ चौकन्ना हुआ और उसने

'कोमेकोन' की स्थापना तत्परता के साथ की। यहाँ 'कोमेकोन' और ई० ई० सी० की सफलता-असफलता का तुलनात्मक अध्ययन किये बिना यह कहा जा सकता है कि यूरोप का पूर्व और पश्चिम में बँटवारा इन दो क्षेत्रीय सगठनो ने पक्का किया। शायद इनके अभाव मे हैलसिकी समझौता इतनी आसानी से न हो पाता। इसके अतिरिक्त लगभग हर प्रमुख यूरोपीय शक्ति के अपने पुराने उपनिवेशो के साथ विशेष आर्थिक सम्बन्ध आजादी के बाद भी बने आ रहे थे। इस सिलसिले मे 'कोमनवेल्थ प्रीफरेंसेज' तथा फ्रेंच भाषी अफ्रीका के साथ फ्रास के सम्बन्धो का उल्लेख किया जा सकता है। यूरोपीय एकीकरण और क्षेत्रीय सहकार म वृद्धि के साथ पुरानी चली आ रही ये व्यवस्थाएँ बेमानी सिद्ध हो गयी। यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि आपस म कर भार घटाने व साथ बाहरी दुनिया के साथ सरक्षणात्मक आर्थिक नीतियाँ अपनाने का अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड सकता है? इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि ई० ई० सी० मुख्यत समृद्ध, विकसित व सास्कृतिक दृष्टि से एकरूप देशो का क्लब है। साम्यवादी सामरिक चुनौती हो या अपेक्षाकृत अधिक समर्थ अमरीका के साथ परामर्श मे अपने हित-रक्षण की समस्या, इस सगठन के सदस्य राष्ट्रो मे मतैक्य आसान है। अफ्रीका, एशिया तथा लातीनी अमरीका के अन्य देशो मे जहाँ समृद्धि ही नही, विपन्नता का वातावरण भी विषमता बढाने वाला है और हस्तक्षेप न करने के विषय मे महाशक्तियो की कोई सहमति नही, वहाँ क्षेत्रीय सहकार का पथ इतना सुगम नही हो सकता।

ई० ई० सी० का मूल्याकन (Assessment)

1950 के दशक के मध्य से 1960 के दशक के मध्य तक जब यूरोपीय एकीकरण व क्षेत्रीय सहकार का घटनाक्रम निर्णायक ढग से गतिशील था, तब फ्रास और जर्मनी मे देगोल, आडिनआवर, विली ब्राट जैसे लोगो के हाथ मे सत्ता रहने से इस प्रक्रिया को बडी मदद मिली। जहाँ देगोल ने महाशक्ति अमरीका के सामने न झुकने के तेवर अपनाकर प्रतीकात्मक ढग से पूरे यूरोप की गरिमा को पुन प्रतिष्ठित किया, वही विली ब्राट जैसे राजपुरुष सोवियत नेताओ को यह आश्वासन देने मे समर्थ हुए कि यूरोपीय आर्थिक समुदाय आक्रमक या प्रच्छन्न सामरिक सगठन नही है। इन नेताओ की अनुपस्थिति मे फ्रास और जर्मनी जैसे शत्रुओ का मित्र के रूप म परिवर्तन कठिन बना रहता। ऐसा नही कि सहकार का मार्ग निष्कटक ही रहा। ई० ई० सी० मे ब्रिटेन की सदस्यता को लेकर वर्षों कटु विवाद चलता रहा और आज भी तुर्की जैसे सदस्यो को समानता का दर्जा अक्सर नहीं मिल पाता। क्षेत्रीय सहकार के लाभ के अलावा ई० ई० सी० ने यूरोपीय राष्ट्रो की सम्प्रभुता को 'क्षीण' कर आपसी सघर्ष की सम्भावना को कम किया है। यूरोपीय परिषद हो या न्याय सभा, विवादो के निपटारे (विशेषकर मानवाधिकारो के प्रसग मे) के विषय मे ई० ई० सी० की सफलता सयुक्त राष्ट्र सघ से कही अधिक रही है।[1] इस प्रकार राजनयिक तथा आर्थिक दोनों तरह के तर्क ई० ई० सी० के पक्ष मे

[1] ई० ई० सी० के विस्तृत अध्ययन विश्लेषण के लिए देखें—K B Lal, Volfgang Earnest and H S Chopra, (ed) *The E E C and the Global System* (Delhi, 1984)

रहे हैं। यह सौभाग्यपूर्ण संयोग अब तक तीसरी दुनिया में देखने को नहीं मिला है।

राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रादेशिक व्यवस्थाएँ

विश्व शान्ति, सुरक्षा तथा राष्ट्रों में आपसी सहयोग स्थापित करने के लिए क्रमश: 1919 एवं 1945 में स्थापित राष्ट्र संघ (League of Nations) तथा संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) दोनों अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में प्रादेशिक व्यवस्थाएं की गयी। इनके अन्तर्गत किन्हीं निश्चित शर्तों पर सदस्य राष्ट्रों को प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की इजाजत दी गई। उग्र क्षेत्रवाद तथा कतिपय अन्य कारणों से राष्ट्र संघ असफल रहा और द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया। इस महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् जब 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण की बात चली तो इसके चार्टर में प्रादेशिक व्यवस्थाओं का उल्लेख करते समय अत्यन्त सावधानी बरती गयी।

संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रादेशिक व्यवस्थाएँ रखने के कारण

यहां यह प्रश्न भी विचारणीय है कि जब राष्ट्र संघ की असफलता के पीछे उग्र क्षेत्रवाद प्रमुख कारण था तो संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करते समय चार्टर में प्रादेशिक संगठनों को बनाने की व्यवस्थाएँ क्यों रखी गयी? इसका सीधा-सादा उत्तर यह हो सकता है कि प्रादेशिकवाद नहीं, बल्कि उग्र प्रादेशिकवाद खतरनाक है। द्वितीय विश्व युद्ध के भड़कने और राष्ट्र संघ की असफलता के पीछे उग्र प्रादेशिकवाद एक प्रमुख कारण था, सबसे प्रमुख कारण नहीं। संक्षेप में, संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर में प्रादेशिक संगठनों को मान्यता देने के निम्नांकित कारण थे .

(i) **क्षेत्रीय सहयोग स्थापित करने में कोई बुराई नहीं**—संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने सोचा कि यदि चार्टर के प्रयोजनों और उद्देश्यों के अनुकूल बने प्रादेशिक संगठन क्षेत्रीय सहयोग से स्थापित करें तो इसमें कोई बुराई नहीं होगी। संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रारूप तैयार करते समय ब्रिटेन जैसी महत्वपूर्ण विश्व-शक्ति के प्रधान मन्त्री विंसटन चर्चिल ने यह सुझाव दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सफल संचालन के लिए तीन प्रादेशिक परिषदें होनी चाहिएं। यह पश्चिमी गोलार्द्ध, यूरोप तथा एशियाई परिषदें होतीं जो विश्व परिषद के अन्तर्गत कार्य करतीं। इनमें अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ और सम्भवतः चीन को स्थायी स्थान प्राप्त होते। इसके अलावा अन्य सदस्य देश इन तीनों परिषदों से चुन लिये जाते। इस योजना को तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का समर्थन प्राप्त होने पर भी अन्य देशों ने इसे नहीं स्वीकारा। किन्तु इस प्रस्तावित योजना का दूरगामी प्रभाव यह पड़ा कि संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर में प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की छूट एवं इजाजत दे दी गयी।

(ii) **अमरीका तथा लातीनी अमरीकी राज्यों द्वारा अपनी भूमिका विशिष्ट मानना**—अमरीका और लातीनी अमरीकी राज्य पश्चिमी गोलार्द्ध की समस्याओं के हल में अपनी भूमिका विशिष्ट एवं निर्णायक मानते थे। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर में प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की इजाजत का मार्ग प्रशस्त किया।

(iii) **सुरक्षा परिषद की असफलता की स्थिति में प्रादेशिक संगठनों द्वारा सामूहिक सुरक्षा का विकल्प**—फ्रांस, जर्मनी द्वारा आक्रमण करने के सम्भावित खतरे

से भयभीत था। इस कारण वह चाहता था कि सुरक्षा परिषद द्वारा आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध उचित कार्रवाई न करने पर या इससे पहले प्रादेशिक संगठन से उसका मुकाबला किया जा सके। ब्राजील ही नहीं, बल्कि अन्य अनेक छोटे-बड़े राष्ट्रों ने इसकी आवश्यकता महसूस की।

संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर में प्रादेशिक व्यवस्थाएँ

संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के आठवें अध्याय में अनुच्छेद 52 से लगाकर 54 तक प्रादेशिक व्यवस्थाओं के बारे में उल्लेख किया गया है। इनमें प्रमुख रूप से निम्नांकित प्रादेशिक व्यवस्थाएँ हैं।

(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों को तय करने वाली प्रादेशिक कार्रवाई के लिए जो उपयुक्त प्रबन्ध एवं साधन इस समय हैं, यदि वे प्रबन्ध और संस्थाएँ तथा उनके कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयोजनों और सिद्धान्तों के अनुकूल हैं तो उनके रहने से वर्तमान चार्टर के संचालन में कोई बाधा नहीं पड़ेगी;

(ii) संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य यदि ऐसी संस्थाओं के सदस्य हैं और उन्होंने ऐसे प्रबन्ध किये हैं तो स्थानीय विवादों को सुरक्षा परिषद के सामने ले जाने से पूर्व इन समस्याओं का समाधान पहले इन्हीं प्रादेशिक संस्थाओं या प्रबन्धों के जरिये शान्तिपूर्ण ढंग से करने का प्रयत्न किया जायेगा,

(iii) सुरक्षा परिषद इस बात को प्रोत्साहन देगी कि या तो सम्बद्ध राज्यों की प्रेरणा पर अथवा सुरक्षा परिषद से सूचना प्राप्त होने पर स्थानीय विवादों का प्रादेशिक प्रबन्धों अथवा प्रादेशिक अभिकरणों के माध्यम से शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा किया जाये,

(iv) परन्तु अनुच्छेद 52 के दूसरे पैराग्राफ में बताये किसी शत्रु राष्ट्र के खिलाफ अनुच्छेद 107 के अनुसार कार्रवाई की जा रही हो, तो इस प्रकार अधिकार पाने की आवश्यकता तब तक नहीं होगी, जब तक कि उस मामले से सम्बन्ध रखने *वाली सरकारों की प्रार्थना पर संयुक्त राष्ट्र संघ को उस विशेष आक्रमणकारी राष्ट्र* का और आगे आक्रमण करने से रोकने का उत्तरदायित्व न दे दिया जाये,

(v) इन प्रादेशिक संस्थाओं और प्रबन्धों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने की जो भी कार्रवाई की गयी या की जाने वाली कार्रवाई होगी, उसकी सूचना सभी अवसरों पर सुरक्षा परिषद को दी जायेगी,

(vi) यदि किसी विवाद से विश्व शान्ति और सुरक्षा को खतरा हो तो दोनों विवादी पक्ष अन्य शान्तिपूर्ण साधनों के साथ-साथ प्रादेशिक संस्थाओं का सहारा ले सकते हैं, और

(vii) आत्म-रक्षा के अधिकार के अन्तर्गत सशस्त्र आक्रमण को रोकने के लिए प्रत्येक राष्ट्र सभी उपायों का आश्रय तब तक ले सकते हैं, जब तक कि सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए स्वयं कोई कार्यवाही न करे।

प्रादेशिक संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ का अवमूल्यन

चार्टर में प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की इजाजत यह मानकर दी गयी थी कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं प्रयोजनों में कोई बाधा नहीं डालेंगे। यही नहीं, बल्कि वे विश्व शान्ति, सुरक्षा तथा राष्ट्रों में आपसी सहयोग स्थापित

करने मे संयुक्त राष्ट्र सघ की पूरक संस्थाओ के रूप मे महत्वपूर्ण योगदान देंगे। ससार के लोग क्रमश. विभिन्न राष्ट्रो, राष्ट्र विभिन्न प्रादेशिक सगठनो तथा प्रादेशिक सगठन एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के रूप मे 'एका' स्थापित कर 'वसुधैव कुटुम्बकम' की उक्ति चरितार्थ करेंगे और सयुक्त राष्ट्र सघ इस उक्ति का सबसे आदर्श प्रतीक होगा।

लेकिन खेद की बात है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माताओ द्वारा प्रादेशिक व्यवस्थाओ के बारे मे सोचे गये उद्देश्यो और प्रयोजनो पर कालान्तर में असफलता ही हाथ लगी। सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना के कुछ समय पश्चात् विश्व अमरीकी और सोवियत सघ के नेतृत्व मे क्रमश पूँजीवादी और साम्यवादी खेमो मे बँट गया। विश्व महाशक्तियो ने सयुक्त राष्ट्र सघ चार्टर मे उल्लिखित प्रादेशिक व्यवस्थाओ का सहारा लेकर और बहाना बनाकर नाटो, सिएटो, सेन्टो, वारसा पैक्ट आदि प्रादेशिक सगठनो का निर्माण किया। इन प्रादेशिक सगठनो ने उग्र प्रादेशिकवाद फैलाकर महाशक्तियो की शीत युद्ध की गर्माहट को और तेज कर दिया। छोटे राष्ट्रो ने भी अरब लीग और अफ्रीकी एकता सगठन बनाये। इन प्रादेशिक सगठनो ने हठधर्मी का रुख अपनाया। परिणामस्वरूप उग्र प्रादेशिकवाद और विश्व के अनेक गुट मे विभाजन से सयुक्त राष्ट्र सघ अप्रभावित न रह सका। सयुक्त राष्ट्र सघ मे शक्ति-सतुलन का खेल खेला जाने लगा। इससे इस अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को अपने घोषित उद्देश्यो और प्रयोजनो मे अपेक्षित सफलता नही मिल सकी।

प्रादेशिक व्यवस्थाओ के कारण सयुक्त राष्ट्र सघ को पहुँचे नुकसान को कुछ उदाहरणो से स्पष्ट करना उपयोगी होगा। मसलन, सोवियत सघ द्वारा 1956 मे हंगरी तथा 1968 मे चेकोस्लोवाकिया मे सैनिक हस्तक्षेप, वारसा पैक्ट जैसे प्रादेशिक सगठन की व्यवस्था का सहारा एव बहाना लेकर किया गया। सयुक्त राष्ट्र सघ मे जब इस पर विचार हुआ तो वारसा पैक्ट से जुडे पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशो ने पक्षपातपूर्ण तरीके से सोवियत कार्रवाई का पूरा समर्थन किया। दूसरी तरफ वारसा पैक्ट का विरोधी नाटो नामक प्रादेशिक संगठन से जुडे पश्चिमी देशों ने आवश्यकता से अधिक सोवियत सैनिक हस्तक्षेप का हौव्वा खडा किया और वे इस मामले को लम्बे समय तक उछालते रहे। सुरक्षा परिषद 'वीटो' के कारण जडवत हो गयी। सोवियत सघ, वारसा देशो के समर्थन के कारण अडिग रहा और अमरीका नाटो देशो के समर्थन के कारण उसका मात्र मौखिक विरोध करता रहा। परिणामस्वरूप हगरी और चेकोस्लोवाकिया जैसे सकटो का समाधान नही हो सका।

दूसरा उदाहरण सिएटो और सेन्टो का है। अमरीका तथा ब्रिटेन द्वारा प्रवर्तित इन प्रादेशिक सगठनों के पाकिस्तान तथा कुछ अन्य एशियाई देश इनके सदस्य बने। पाकिस्तान ने प्रवर्तक राष्ट्रों की सहायता से असीमित मात्रा मे शस्त्रीकरण किया और कश्मीर के मामले को लेकर भारत से युद्ध करने का दुस्साहस कर बैठा। जहाँ पाकिस्तान आन्तरिक राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर रहा और आर्थिक विकास नही कर पाया, वहाँ क्षेत्रीय विकास के बजाय उसने क्षेत्रीय शान्ति को भग किया। इसका कुप्रभाव संयुक्त राष्ट्र संघ पर भी पडा। वहाँ पाकिस्तान ने सिएटो और सेन्टो के सदस्यो को लेकर गुटबाजी आरम्भ कर दी। फलस्वरूप भारत-पाक सीमा विवाद का हल अभी तक अधर मे लटका हुआ है।

तीसरा, अरब सघ का उदाहरण भी कम दिलचस्प नहीं है। अरब देश

इजराईल के खिलाफ फिलस्तीन राज्य की स्थापना के लिए लम्बे समय से एकजुट होकर सघर्ष करते रहे हैं। लेकिन अरब सघ का नेतृत्व हथियाने के लिए मिस्र और इराक के बीच हमेशा प्रतिद्वन्द्विता रही। 1978 मे अमरीकी पहल से मिस्र द्वारा इजराईल के साथ कैम्प डेविड समझौता कर लेने के बाद इराक जैसे मिस्र-विरोधी राष्ट्र अरब सघ के सदस्य-राष्ट्रों को मिस्र को सयुक्त राष्ट्र सघ से निकलवाने के लिए उकसाने लगे। परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर उनमें आपसी फूट के बीज बोये गये, वहीं सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा फिलस्तीन समस्या के समाधान की दिशा मे आगामी प्रयासो की गति को धक्का लगा।

इस प्रकार चार्टर मे प्रादेशिक सगठनो की व्यवस्थाएँ, उनको उल्लिखित करने के कारण तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सकटो के दौरान इससे पहुँचे नुकसान की विवेचना के बाद कहा जा सकता है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के अवमूल्यन के लिए क्षेत्रीय सगठन काफी हद तक जिम्मेदार रहे हैं।

क्षेत्रीय सैनिक सगठनो की आलोचना
(Criticism of Regional Military Organizations)

आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे सहयोग स्थापित करने हेतु जिन प्रादेशिक सगठनो की स्थापना की गयी, वे मोटे तौर पर क्षेत्रीय सहयोग स्थापित करने मे उपयोगी सिद्ध हुए। किन्तु क्या प्रादेशिक सैनिक सगठन विश्व शान्ति एव सुरक्षा की स्थापना के मार्ग मे बाधक हैं? प्रादेशिक सैनिक सगठनो ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा की स्थापना मे योगदान देना तो दूर की बात है, उन्होंने अधिकाश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सकटो के दौरान तनाव को बढाने का ही कार्य किया। इन सगठनो की निम्नाकित आधारो पर आलोचना की जा सकती है

(i) सयुक्त राष्ट्र सघ चार्टर मे 'क्षेत्रीयता' शब्द का अस्पष्ट उल्लेख—सयुक्त राष्ट्र सघ चार्टर के *आठवें अध्याय मे अनुच्छेद 52 से 54 तक* क्षेत्रीय व्यवस्थाओ के बारे मे उल्लेख है। इनमें मुख्य रूप से कहा गया है कि यदि प्रादेशिक सगठन सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रयोजनों तथा सिद्धान्तों के अनुकूल हैं तो उनके रहने से वर्तमान चार्टर के सचालन मे कोई बाधा नही पडेगी। असल मे सयुक्त राष्ट्र सघ के अनुच्छेद प्रादेशिकता के स्वरूप और उद्देश्यो के बारे मे एकदम स्पष्ट नही हैं। इस कारण प्रादेशिक सगठनो का निर्माण करने वाले राष्ट्र इन अस्पष्ट अनुच्छेदो का सहारा लेकर गलत व्याख्या करते हैं।

(ii) सुरक्षा किसी क्षेत्र विशेष की नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है—यह आशिक रूप मे उचित हो सकता है कि किसी क्षेत्र के समस्त या अधिकाश देश अपनी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक सगठनो का निर्माण करें, परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिये कि 'सुरक्षा एक विश्वव्यापी समस्या है, जो क्षेत्रीय आधार पर नही सुलझाई जा सकती।'[1] यदि अपवाद के तौर पर किसी एक क्षेत्र के देशो मे क्षेत्रीय सैनिक सगठनो के ज़रिए सुरक्षा स्थापित हो भी गयी तो अन्य क्षेत्रो से व्याप्त असुरक्षा एव तनाव इस अपवादजनक सुरक्षित क्षेत्र को भी चैन से नहीं रहने देंगे।

[1] Charles P Schleicher, *Introduction to International Relations* (New York, 1954) 691

अतः क्षेत्रीय सैनिक संगठनों से स्थायी तौर पर न तो क्षेत्रीय सुरक्षा की अपेक्षा की जा सकती है और न ही अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की।

(iii) प्रादेशिक एवं सैनिक संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ के विरुद्ध काम करते हैं—प्रादेशिक एवं सैनिक संगठन व्यवहार में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विरुद्ध कार्य करते है। मसलन, मिस्र ने संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया कि वह इजराईल को भेजे जाने वाले सामान को स्वेज नहर से गुजरने दे। नाटो के सदस्य देशों ने सुरक्षा परिषद में मोरक्को, हिन्द चीन, ट्यूनीशिया, साइप्रस आदि समस्याओं के हल में सदैव रोड़े अटकाये। इस प्रकार विश्व शान्ति एवं सुरक्षा जैसे पुनीत उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में प्रादेशिक संगठन अनेक बाधाएँ खड़ी करते हैं।

(iv) प्रादेशिक सैनिक संगठनों में आक्रामक व्यवस्थाएँ होती हैं—नाटो, वारसा पैक्ट, सीएटो, सेन्टो आदि सभी सैनिक संगठनों में यह प्रावधान रखा गया है कि उनके किसी भी सदस्य पर अन्य देश द्वारा आक्रमण करने की स्थिति में संगठन के अन्य सदस्य देश उसकी मदद करेंगे। इसकी स्वाभाविक तार्किक परिणति यही हुई कि वे उस आक्रमण का जवाब 'युद्ध' से ही देंगे। तभी तो इ० बी० हास तथा ए० एस० व्हाईटिंग ने कहा है कि 'तनाव और अविश्वास के वातावरण में एक शत्रु देश (antagonist) के सुरक्षात्मक उपाय हमेशा उसके विरोधी देश को आक्रमक नजर आते है।'[1] अर्थात् तनाव और अविश्वास की स्थिति में क्षेत्रीय सैनिक संगठनों की सुरक्षात्मक व्यवस्थाएँ आक्रमक एवं जवाबी हमले की ओर उन्मुख करती है, जिससे विश्व शान्ति और सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है।

(v) क्षेत्रीय सैनिक संगठनों में क्षेत्रातीत व्यवस्थाओं की कोई तुक नहीं—आम तौर पर यह दलील दी जाती है कि क्षेत्रीय संगठन के जरिये उस क्षेत्र विशेष के देशों में आपसी सहयोग स्थापित कर क्षेत्रीय सुरक्षा कायम रखी जाती है। यदि सैद्धान्तिक तौर पर इसे मान लिया जाये तो भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सिएटो और नाटो संगठनों में अन्य क्षेत्र के देशों को सदस्य रखने की क्या तुक है? अमरीका और ब्रिटेन सिएटो के सदस्य बने, जबकि वे एशिया के दक्षिण-पूर्व क्षेत्र से हजारों मील दूरी पर स्थित है। इसी तरह यूनान और टर्की अटलांटिक सागर से हजारों मील दूर होने पर भी नाटो के सदस्य बने। बड़ी शक्तियाँ शक्ति-सन्तुलन के कवच के भीतर राजनीति करती हैं। क्षेत्रीय संगठनों में क्षेत्रातीत व्यवस्थाओं का मकसद नेक नहीं, बल्कि बड़ी शक्तियों द्वारा साठगाँठ और सैनिक घेराबन्दी करना होता है।

(vi) उग्र क्षेत्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी—क्षेत्रीय एवं सैनिक संगठनों के जरिये *क्षेत्रीय सहयोग की स्थापना एवं विकास कोई बुरी बात नहीं,* किन्तु जब क्षेत्रवाद उग्र रूप धारण कर लेता है तो यह अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बाधक सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। विश्व शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए आवश्यक है कि दुनिया में उग्र क्षेत्रवाद की भावना की जड़ों को उखाड़ दिया जाये। जब तक यह क्षेत्रीय संगठन रहेंगे, तब तक उग्र क्षेत्रवाद की भावना कभी भी बलवती होकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को भंग कर देगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता की खातिर

[1] E. B. Hass and A. S. Whiting, *Dynamics of International Relations* (New York, 1956), 529.

उग्र-क्षेत्रवाद को पनपने ही नही दिया जाये, अर्थात् क्षेत्रीय सगठनों का निर्माण अवाछनीय है।

(vii) क्षेत्रीय सैनिक समझौतों का उद्देश्य बड़ी शक्तियो द्वारा छोटे देशों पर वर्चस्व जमाना है—बड़ी शक्तियाँ प्राय आर्थिक एव सामाजिक सहयोग की व्यवस्था के नाम पर प्रादेशिक सैनिक सगठनो का निर्माण करती हैं, मगर उनका वास्तविक इरादा सदस्य देशो पर परोक्ष रूप से वर्चस्व जमाना होता है। सीएटो और सेन्टो पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि उनके उद्देश्यो मे क्षेत्रीय, आर्थिक एव सामाजिक सहयोग की बात जरूर कही गयी है, किन्तु व्यवहार में यह नहीं के बराबर हुआ है। इनके द्वारा ब्रिटेन ने सदस्य देशों में अपना प्रभाव क्षेत्र बनाये रखा। इसी कारण बाद म सदस्य-देशो न इनसे अपना नाता तोड लिया।

(viii) क्षेत्रीय सैनिक सगठनो द्वारा शस्त्रो की होड बढाना—क्षेत्रीय सैनिक सगठन में सुरक्षात्मक स्वरूप क प्रावधान होते हैं। इनका सहारा लेकर सगठन के प्रवर्तक राष्ट्र घातक अस्त्र उँडेलते हैं और सदस्य राष्ट्र उन्हे दोनो हाथो से बटोरते हैं। इसस क्षेत्र मे शस्त्रीकरण बढता है और क्षेत्रीय शान्ति भग होती है। इसका दूसरा पक्ष भी अत्यन्त दिलचस्प है। शस्त्रीकरण के कारण गरीब राष्ट्र अपने विकास कार्यक्रमो पर अधिक समाधन खर्च नही कर पाते। अत सैनिक सगठनो से एक ओर जहाँ क्षेत्र के देशो मे शस्त्रीकरण की होड आरम्भ होती है, वहीं दूसरी ओर जन-कल्याणकारी विकास कार्यक्रमो की उपेक्षा होती है।

(ix) प्रादेशिक सैनिक सगठनो द्वारा तनाव उत्पन्न कर युद्ध भडकाना—प्रादेशिक सैनिक सगठन क्षेत्र मे शस्त्रीकरण को बढाते हैं। शस्त्रो की होड तनाव पैदा करती है और अनेक बार यह युद्ध का कारण बन जाती है। ममलन, पाकिस्तान सिएटो और सेन्टो का सदस्य बना। उसने सोचा कि इन सगठनों के जरिये वह प्रवर्तक बडी शक्तियों से भारत के विरुद्ध शस्त्र एव अन्य प्रकार का समर्थन प्राप्त करेगा। हुआ भी यही। पाकिस्तान ने इन सैनिक सगठनों के बलबूते पर प्राप्त हथियारो से भारत के विरुद्ध युद्ध छेडे।

(x) प्रादेशिक सैनिक सगठन के द्वारा सदस्य राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता सीमित होना—प्रादेशिक सैनिक सगठनो के सुरक्षात्मक प्रावधानों का सहारा लेकर प्रवर्तक राष्ट्र सगठन के सदस्य देशो की नव-उपनिवेशवादी घेराबन्दी करते हैं। नव उपनिवेशवादी घेराबन्दी का अर्थ है—परोक्ष रूप मे उनका राजनीतिक और आर्थिक नियन्त्रण। जब उनकी इस घेराबन्दी का विरोध होता है तो प्रवर्तक राष्ट्र सदस्य देशो पर आक्रमण करने से भी नहीं चूकते। मसलन, सोवियत सघ ने कामकान और वारसा समझौतों की प्रादेशिक व्यवस्था का अनुचित लाभ उठाकर पूर्वी यूरोप के राष्ट्रो पर परोक्ष कब्जा जमाये रखा। जब 1956 म हगरी और 1968 मे चेकोस्लोवाकिया मे आन्तरिक विरोध हुआ तो सोवियत सघ ने सैनिक हस्तक्षेप कर उस लोकप्रिय विरोध को कुचल दिया। इसे प्रादेशिक सगठनों के सदस्य देशो पर प्रवर्तक राष्ट्रों द्वारा उनकी स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता पर हमला ही कहा जाना चाहिये। भारत के भूतपूर्व रक्षामन्त्री वी० के० कृष्ण मेनन ने ठीक ही कहा था कि 'क्षेत्रीय व्यवस्थाएँ न्यूनाधिक मात्रा मे उपनिवेशवादी शासन की ओर प्रतिगमन हैं'।

(xi) राष्ट्रो मे फूट डालना—विश्व की बडी शक्तियाँ क्षेत्रीय सैनिक सगठनों

को प्रवर्तित कर राष्ट्रों में फूट के बीज बोती है। इससे विश्व दो या अनेक गुटों मे बँट जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ऐसा ही हुआ। अमरीका और सोवियत संघ ने वैचारिक और राष्ट्रीय हितों के टकराव के कारण विश्व के अन्य देशो में प्रभाव-क्षेत्र स्थापित करना चाहा। प्रभाव-क्षेत्र की स्थापना करने के लिए उन्होंने अन्य देशो को सैनिक और आर्थिक मदद का आकर्षण दिखाकर उन्हें क्षेत्रीय सगठनो मे बाँध लिया। अमरीका ने जहाँ एक ओर पश्चिम यूरोपीय देशों को नाटो में बाँधा, वही दूसरी तरफ सोवियत सघ ने पूर्वी यूरोपीय देशो को वारसा पैक्ट मे। इमसे ये देश पूँजीवादी और साम्यवादी खेमों मे बँट गये। ऐसे प्रयासों को महाशक्तियो द्वारा 'फूट डालो और राज करो' नीति अपनाने के अलावा और क्या सज्ञा दी जा सकती है। तभी तो बगदाद पैक्ट के बारे में यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने कहा था कि 'विश्व के इस क्षेत्र के देशो और उनकी जनता का बगदाद पैक्ट से कोई हित नही होगा क्योंकि वह उनको विभाजित करता है।' इस प्रकार स्पष्ट है कि क्षेत्रीय सैनिक सगठन राष्ट्रों मे फूट डालकर उनको गुटो मे विभाजित कर देते है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रादेशिक सगठनो की स्थापना क्षेत्रीय सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा कायम करने के दृष्टिकोण से की गयी। सयुक्त राष्ट्र सघ चार्टर मे इसी भावना से अपने सदस्य-राष्ट्रों को उनके निर्माण की इजाजत दी गयी। लेकिन दुःख की बात है कि राष्ट्रो ने विभिन्न प्रादेशिक सैनिक संगठनों के माध्यम से अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितो की पूर्ति करने के प्रयास किये और अनेक बार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भग की। जहाँ सिएटो, सेन्टो, वारसा पैक्ट और कौमेकोन विघटन की ओर बढे, वहीं सार्क, आसियान और ई० ई० सी० जैसे संगठन रचनात्मक सहयोग की स्थापना मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है।

पाँचवाँ अध्याय

गुट-निरपेक्ष नीति : बदलते आयाम

द्वितीय विश्व युद्ध के अवसान के साथ जो नई व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृश्य-पटल पर उभरी उसमें कई बातें बड़ी क्रान्तिकारी एवं आश्चर्यचकित कर देने वाली थीं। प्रथम जिन महाशक्तियों ने पिछले तीन सौ वर्षों से यूरोप और कमोबेश समस्त विश्व को अपनी शक्ति से दबा दिया था वे धूल धूसरित हो गयीं। जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस जैसे देश अपनी ही आन्तरिक समस्याओं को निपटाने में स्वयं को असमर्थ पाने लगे। दूसरा क्रान्तिकारी परिवर्तन महाशक्तियों के रूप में दो ऐसे देशों (अमरीका व सोवियत संघ) का उभर कर आना था, जिनके बारे में इस तरह की कल्पना अत्यन्त दूरदर्शी राजनेता ही कर सकते थे। तीसरे, यूरोपीय महाशक्तियों के पराभव के साथ विश्व में औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन संग्राम की सुगठित शक्तिशाली लहर सामने आयी, जिसने पाँच वर्ष के अल्प समय में ही अनेक स्वतन्त्र एवं शक्तिसम्पन्न देशों के अभ्युदय को सम्भव बनाया। चौथी बात, जो उपरोक्त तीनों बातों का परिणाम थी, विश्व के दो गुटों में विभाजित होने की प्रक्रिया के रूप में सामने आयी, जिसने शीत युद्ध को जन्म दिया।

गुट निरपेक्षता उपरोक्त पृष्ठभूमि को समझे बिना ठीक से विश्लेषित नहीं की जा सकती। गुट निरपेक्ष आन्दोलन शीत युद्ध एवं द्विध्रुवीय विश्व प्रणाली के विरुद्ध नवस्वतन्त्र देशों का एक ऐसा अभियान था जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सद्भावना एवं आर्थिक विकास के साथ-साथ उनके राष्ट्रीय हितों एवं महत्वाकांक्षाओं का अद्भुत सामंजस्य विद्यमान था। गुट निरपेक्ष आन्दोलन के प्रमुख जनक नवस्वतन्त्र देशों के स्वाधीनता संग्राम के नेता रहे थे। वे उपनिवेशवाद, रंगभेद, आर्थिक असमानता एवं प्रसारवाद के विरुद्ध वैचारिक युद्ध छेड़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन छेड़ना चाहते थे। चूँकि गुट निरपेक्ष आन्दोलन के जनक के रूप में भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका रही थी, अतएव भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के कुछ मूलभूत सिद्धान्त इस आन्दोलन की सैद्धान्तिक विचारधारा बन गये। इनमें प्रमुख स्वतन्त्रता, सह अस्तित्व, अहिंसा एवं विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त थे। पंचशील गुट निरपेक्ष आन्दोलन की सैद्धान्तिक व्याख्या माना गया, जिसमें गुटों से अलग रहते हुए विश्व शान्ति के लिए सक्रिय कार्य करना एवं युद्धखोरों की प्रक्रियाओं को रोकना भी आन्दोलन के उद्देश्यों में जुड़ गया। इस दृष्टि से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इतने बड़े पैमाने पर इस आन्दोलन का जन्म एवं विश्व शान्ति के लिए किये गये इसके प्रयत्न इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान दिया जाने लगा।

गुट-निरपेक्षता का अर्थ एवं परिभाषा
(Non-Alignment : Meaning and Definition)

गुट-निरपेक्षता के अर्थ एवं परिभाषा के बारे में विभिन्न लोगों ने विभिन्न कालों में विभिन्न प्रकार के मत प्रकट किये हैं। पश्चिमी लेखकों ने इस शब्द को 'तटस्थता' (Neutrality) या 'तटस्थवाद' की सहायता से समझने की कोशिश की है। ऐसा जान पड़ता है कि वे जानबूझकर गलत अर्थ एवं परिभाषा देकर विश्व के अन्य देशों को गुमराह करना चाहते रहे, ताकि अन्य देश गुट-निरपेक्ष न बनें और पश्चिमी खेमे के साथ जुड़े रहें। वास्तव में 'गुट-निरपेक्ष' शब्द को समझने के लिए इससे सम्बन्धित तीन अवधारणाओं का स्पष्ट विवेचन करना आवश्यक है—'स्थायी तटस्थीकरण', 'तटस्थता' तथा 'गुट-निरपेक्षता'।

1. स्थायी तटस्थीकरण (Permanent Neutralization)—यह एक ऐसी स्थिति है जो लम्बे काल तक अस्तित्व में रही है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा मान्यता प्राप्त है। इसका सम्बन्ध ऐसे राज्य से है, जो ऐच्छिक या परिस्थितियों के दबाव के कारण कमोबेश स्थायी रूप से तटस्थ रहता है। उदाहरणार्थ, स्विटजरलैण्ड ने स्थायी तटस्थीकरण की नीति ऐच्छिक रूप से अपनायी, अर्थात् यह देश विश्व राजनीति में स्थायी रूप से तटस्थ रहता है।

2. तटस्थता (Neutrality)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून में यह एक ऐसी अवधारणा है जिसका सम्बन्ध केवल युद्ध की अवस्था से है। मान लो यदि 'अ' और 'ब' नामक देशों में युद्ध छिड़ गया है और उस युद्ध के दौरान 'स' राष्ट्र तटस्थ रहता है अर्थात् यदि वह ('स' राष्ट्र) 'अ' या 'ब' राष्ट्र में से किसी की तरफदारी नहीं करता है तो 'स' राष्ट्र की नीति को तटस्थता की नीति अपनाने वाला राष्ट्र माना जायेगा।

3. गुट-निरपेक्षता (Non-Alignment)—गुट-निरपेक्षता का अर्थ न तो 'स्थायी तटस्थीकरण' है और न 'तटस्थता'। जैसा की जवाहरलाल नेहरू ने एक बार अमरीका की प्रतिनिधि सभा में कहा था—'जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होता हो, वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।'[1]

वास्तव में गुट-निरपेक्षता का अर्थ अन्य राज्यों के सैनिक समझौतों में भाग न लेना है। गुट-निरपेक्षता का अर्थ अलगाव की नीति नहीं लिया जाना चाहिये। इसके विपरीत गुट-निरपेक्ष देश विश्व की राजनीति में सक्रिय भूमिका अदा करने में विश्वास करते हैं। कम्बोडिया के नरेश नोरोदेम सिहानुक ने बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में कहा था—'गुट-निरपेक्षता में अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक गतिशील स्वरूप परिलक्षित होता है; वह अस्वस्थ और निष्क्रिय अन्तर्मुखी प्रवृत्ति नहीं है।' यह सोचना भ्रान्तिपूर्ण है कि गुट-निरपेक्ष राष्ट्र विश्व राजनीति की ज्वलन्त समस्याओं से अलग-थलग या उनके प्रति मौन दर्शक बने रहते हैं। असल में वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भाग लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर किसी भी संकट के उठने पर उसके गुण-दोषों या भलाई-बुराई के बारे में मूल्यांकन कर स्वतन्त्र निर्णय कर लेते हैं। जार्ज लिस्का ने सही कहा है—'किसी विवाद के सन्दर्भ में यह जानते हुए कि

[1] *Jawaharlal Nehru's Speeches*, 1949–1953, Vol. 2 (Delhi, 1957), 125.

कौन सही है और कौन गलत है, किसी का पक्ष न लेना तटस्थता है, किन्तु असंलग्नता या गुट निरपेक्षता का अर्थ है—सही और गलत में भेद कर सदैव सही नीति का समर्थन करना।' असल में जार्ज लिस्का ही पहला पश्चिमी विद्वान था जिसने 'गुट-निरपेक्षता' को उसके वैज्ञानिक अर्थ में समझने का प्रयत्न किया। उसके बाद कुछ अन्य विद्वानों ने भी गुट-निरपेक्षता को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक नई अवधारणा के रूप में स्वीकार किया।

गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने के कारण
(Adoption of Non-Alignment Policy)

द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद कुछ राष्ट्रों ने गुट-निरपेक्ष नीति अपनाना आरम्भ किया। इस नीति का पालन करने वाले राष्ट्रों की संख्या बढ़कर 103 तक पहुँच गई। केवल कुछ राष्ट्रों से 101 तक गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या बढ़ जाने के पीछे जो अनेक कारण रहे हैं, वे इस प्रकार हैं—

1 **विश्व का वैचारिक आधार पर दो भागों में विभाजित होना**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत दो खेमों में बँट गया था। पूँजीवादी राष्ट्रों का नेतृत्व जहाँ अमरीका ने किया, वहीं साम्यवादी राष्ट्रों का नेतृत्व सोवियत संघ ने। दोनों महाशक्तियों—अमरीका और रूस ने नवोदित स्वतन्त्र देशों को वैचारिक आधार पर अपनी-अपनी ओर मिलाना चाहा, जिसे अन्य देशों ने पसन्द नहीं किया। इसका प्रमुख कारण यह था कि वे अपने आपको वैचारिक आधार पर विभाजित कर किसी विशेष महाशक्ति के वैचारिक आधिपत्य को न तो स्वीकार करना चाहते थे और न ही दूसरी महाशक्ति को नाराज करना चाहते थे। इस कारण, नवोदित राष्ट्रों को ऐसा लगा कि गुट-निरपेक्षता उनके लिए विशेषतः दोनों गुटों के वैचारिक संघर्ष के सन्दर्भ में अपने पृथक और विशिष्ट वैचारिक स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने का साधन था। वे अपने राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थाओं के पृथक स्वरूप को बनाये रखना चाहते थे और नहीं चाहते थे कि राष्ट्रों के किसी बड़े समूह में जहाँ किसी न किसी सर्वोच्च शक्ति का बोलबाला हो, उनकी अपनी कोई पहचान न रह जाये।[1]

2. **सैनिक सन्धियों से न बंधने की इच्छा**—अमरीका और रूस जब वैचारिक आधार पर नवोदित गरीब राष्ट्रों को आकर्षित करने में असफल रहे तो उन्होंने उनको सैनिक सन्धियों से बाँधने की एक नयी चाल चली। महाशक्तियों ने उनको आश्वासन दिया कि यदि वे 'सेन्टो', 'सिएटो', 'नाटो', 'वारसा' आदि सैनिक सन्धियों में सदस्यता ग्रहण कर लें तो वे उन्हें किसी अन्य देश के आक्रमण से बचायेंगी। किन्तु अनेक छोटे राष्ट्र किसी भी महाशक्ति के सैनिक प्रभुत्व के तहत रहकर पिछलग्गू बनने को तैयार नहीं थे। गुट निरपेक्ष देश इन सैनिक सन्धियों को विश्व शान्ति के प्रतिकूल मानते हैं। जैसाकि नेहरू जी ने अपने एक प्रसारण में कहा था—'शीत युद्ध के सैनिक गठबन्धनों ने विश्व में अच्छे प्रभाव नहीं छोड़े हैं। पिछले कुछ वर्षों में एशिया में इस नीति के प्रसार ने विश्व सुरक्षा या किसी भी देश की सुरक्षा को दृढ़ नहीं किया है । वास्तव में यह देश के विकास में बाधक रही

[1] एम० एम० राजन, 'गुट निरपेक्षता भारत और भविष्य' (दिल्ली, 1975) पृ० 15।

है।'[1] इसी प्रकार, बर्मा के प्रधानमन्त्री ऊ नू ने 'सिएटो' नामक सैनिक संगठन के निर्माण के बारे में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था कि 'ऐसे संगठनों का निर्माण तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावनाएँ बढ़ाता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हम जो समस्याएं सुलझाना चाहते हैं, वह युद्ध नहीं सुलझा सकता है। इसलिए हम प्रस्तावित 'सिएटो' में सम्मिलित नहीं होंगे।'[2]

3. राष्ट्रवाद एवं स्वतन्त्र विदेश नीति निर्माण की भावना—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अफ्रीका, एशिया एवं लातीनी अमरीका में अनेक उपनिवेश राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों के द्वारा स्वतन्त्र हुए। औपनिवेशिक शासन के दौरान उनका हर प्रकार से शोषण किया गया किन्तु राष्ट्रवाद की भावना के कारण वे स्वतन्त्र हुए और वे चाहते थे कि बिना किसी महाशक्ति या बड़े देश के हस्तक्षेप के स्वतन्त्र विदेश नीति का निर्माण करें। जैसाकि फिलीपीस के राजनयिक कार्लोस पी० रोम्यूलो ने दलील दी है कि गुट-निरपेक्षता समकालीन राष्ट्रवाद का एक पक्ष मात्र है और यह एक सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आन्दोलन है, जो पूर्व बनाम पश्चिम अथवा लोकतन्त्र बनाम साम्यवाद के परम्परागत द्वन्द्व से परे की चीज है।'[3] बर्मा के प्रधानमन्त्री ऊ नू ने एक बार कहा था—'विदेशी मामलों के परिचालन में वह पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ कार्य करना चाहेंगे। इसी प्रकार घाना के एन्क्रूमा ने भी कहा था कि गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों को अपने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को तय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।'[4]

4. शीत युद्ध तीसरे विश्व युद्ध का खतरा—1945 के बाद जब अमरीका और रूस ने विश्व के विभिन्न भागों में सैनिक सन्धियों और आर्थिक सहायता के दबाव से अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र कायम करना आरम्भ किया तो नवोदित व अन्य राष्ट्रों ने कुछ समय बाद महसूस किया कि महाशक्तियाँ प्रभाव-क्षेत्र स्थापित कर उन्हें आपस में लड़ाती हैं और कभी-कभी स्वयं आमने-सामने खड़ी हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना को नहीं टाला जा सकता। अतः उन्होंने तय किया कि वे महाशक्तियों के स्वार्थवश अपनी भूमि पर तीसरा विश्व युद्ध नहीं होने देंगे।

5. विश्व शान्ति एवं सहयोग को बढ़ावा देने की इच्छा—शीत युद्ध के दूषित वातावरण में गुट-निरपेक्ष देश विश्व शान्ति एवं सहयोग की भावना को बढ़ावा देना चाहते थे। उनका उद्देश्य समस्त राष्ट्रों के साथ शान्ति और मैत्री को

[1] 'I think that the policy of military alliances of the cold war has not brought any such results to the world...in the last few years, the spread of this policy to Asia has not added to the world's security, or to any country's security... It has really come in the way of a country's progress.' —Jawaharlal Nehru, *India's Foreign Policy, Selected Speeches* (Delhi, 1961), 98.

[2] 'The formation of such organizations increases the chances of World War III. I am firmly convinced that war will not solve any of the problems we want to solve. Therefore, we will not be a party to the proposed SEATO.' —Quoted by William C. Johnstone is his book, *Burma's Foreign Policy* (Cambridge, 1963), 93–99.

[3] Carlos P. Romulau, *Contemporary Nationalism and World Order* (Bombay, 1964), 29–31.

[4] विस्तार के लिए देखें—Kwame Nkrumah, *I Speak of Freedom : A Statement of African Ideology* (London, 1961).

बढ़ावा देना रहा, चाहे उसमें कैसे भी राजनीतिक अथवा वैचारिक मतभेद क्यों न हो। इसी कारण अनेक राष्ट्रों ने शीत युद्ध में न फँसकर गुट-निरपेक्ष नीति अपनायी। उल्लेखनीय है कि गुट-निरपेक्ष देश अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं विश्व शान्ति के पोषण के लिए सिर्फ कोरी आदर्शवादिता से प्रेरित नहीं हुए थे। नेहरू और नासिर जैसे नेताओं ने यह बात स्पष्ट कर दी थी विश्व शान्ति का नवस्वतन्त्र राष्ट्र के विकास से अभिन्न सम्बन्ध है। स्पष्ट था कि अन्तर्राष्ट्रीय संकट अफ्रीकी व एशियाई देशों में बाहरी हस्तक्षेप को बुलाने का बहाना ही हो सकते थे और ऐसा होने पर आर्थिक विकास, समतापूर्ण समाज का गठन असम्भव हो जाता। आर्थिक विकास व सामाजिक प्रगति के अभाव में राजनीतिक आजादी अधूरी होगी। विश्व शान्ति की रक्षा के लिए सहयोग की भावना ने गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के जमघट में बहुमुखी पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहित किया।

6 **तकनीकी एवं आर्थिक विकास की आवश्यकता**—अनेक देशों द्वारा गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने का यह भी एक प्रमुख कारण था कि वे तकनीकी एवं आर्थिक विकास की दृष्टि से पिछड़े हुए थे। उनके पास न तो पूँजी ही थी और न ही टैक्नोलोजी एवं तकनीकी ज्ञान। उन्होंने महसूस किया कि यदि वे किसी गुट में शामिल हो गये तो एक ओर वे उस गुट पर पूर्णरूपेण निर्भर हो जायेंगे तो दूसरी तरफ वे दूसरे गुटों से तकनीकी एवं आर्थिक विकास के लिए सहायता नहीं पा सकेंगे। अतः गुट-निरपेक्ष रहकर वे दोनों गुटों से सहायता प्राप्त कर सकते थे। लेकिन यह सहायता महाशक्तियों या बड़ी शक्तियों द्वारा किसी भी प्रकार के राजनीतिक दबाव से मुक्त होने पर ही गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा स्वीकार की जाती रही है। नेहरू जी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि 'यदि किसी विदेशी सहायता के साथ राजनीतिक प्रतिबन्ध जुड़े हुए होंगे और यदि उस सहायता को स्वीकार करने में हमें अपनी किसी मूलभूत नीति में कोई परिवर्तन करना होगा तो भारत विदेशी सहायता स्वीकार नहीं करेगा।'[1]

गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन : बेलग्रेड से हरारे तक
(Non-Aligned Summits : From Belgrade to Harare)

विकासशील देशों में सहयोग एवं एकता स्थापित करने का प्रारम्भिक एवं सबसे ठोस कार्य 1946 में दिल्ली में इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता के लिए बुलाए गए एशियाई सम्बन्ध सम्मेलन और 1955 में बाडुंग में हुए अफ्रो-एशियाई देशों के शिखर सम्मेलन द्वारा किया गया। इसके बाद गुट-निरपेक्ष देशों ने इस दिशा में अनेक कदम उठाये।

वास्तव में, गुट-निरपेक्षता का विकास इस नीति का पालन करने वाले देशों के विभिन्न शिखर सम्मेलनों के जरिये हुआ है। इनके कई शिखर सम्मेलन हुए। इन सम्मेलनों में गुट-निरपेक्षता के अर्थ, समय-समय पर उठे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संकटों पर विचार तथा कई प्रकार की योजनाएँ क्रियान्वित करने के बारे में घोषणाएँ की गयीं। इनका संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है।

[1] If any help from abroad depends upon a variation, howsoever slight, in our policy, we shall relinquish that help completely."—Jawaharlal Nehru, *India's Foreign Policy Selected Speeches*, 63

1961 का बेलग्रेड शिखर सम्मेलन

1961 मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो का पहला शिखर सम्मेलन युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में हुआ। इसमे 25 देशों ने भाग लिया। इसमें गुट-निरपेक्षता के पाँच आधारभूत तत्व निश्चित किये गये, जो इस प्रकार है—

(i) जो देश गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आधार पर स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुसरण करता हो,

(ii) जो देश उपनिवेशवाद के खिलाफ स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए चल रहे आन्दोलन का समर्थन करता हो,

(iii) जो देश शीत युद्ध से सम्बन्धित किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो;

(iv) जिस देश की रूस या अमरीका किसी भी महाशक्ति के साथ कोई द्विपक्षीय सैनिक सन्धि न हो; और

(v) उस देश की धरती पर कोई विदेशी सैनिक अड्डा न हो।

सम्मेलन ने तत्कालीन विश्व राजनीति का जायजा लेते हुए अनेक घोषणाएँ की, जिसमे से प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

(i) निरस्त्रीकरण और आणविक परीक्षणो पर रोक लगे;

(ii) विश्व शान्ति एव सह-अस्तित्व की अवधारणा का विकास हो,

(iii) घरेलू मामलो मे विदेशी हस्तक्षेप व रंगभेद की निन्दा की गई; और

(iv) आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पिछड़ेपन को दूर करने की आवश्यकता पर बल दिया गया।

बेलग्रेड सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने पहली बार गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संस्थागत ढांचा प्रस्तुत किया। साथ ही इस बात की घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे इस तीसरी शक्ति को अनदेखा नही किया जा सकता। यह बात भी अच्छी तरह स्पष्ट की जा सकी कि गुट-निरपेक्षता का अर्थ निष्क्रियता नही, बल्कि उपनिवेशवाद-विरोध, जातिवाद-विरोध है। निरस्त्रीकरण के सन्दर्भ मे भी गुट-निरपेक्ष देशों ने अपना प्रगतिशील जुझारूपन प्रमाणित किया।

1964 का काहिरा शिखर सम्मेलन

1964 में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो का दूसरा शिखर सम्मेलन मिस्र की राजधानी काहिरा मे हुआ। इसमें 47 पूर्ण सदस्य तथा 11 पर्यवेक्षक राष्ट्रो ने भाग लिया। सम्मेलन में आमन्त्रित देशों को पांच श्रेणियो मे विभाजित[1] किया जा सकता है—

(i) वे 25 देश, जिन्होने बेलग्रेड सम्मेलन मे भाग लिया था;

(ii) वे सभी देश, जो अफ्रीकी एकता संघ के घोषणा-पत्र में आस्था रखते थे;

(iii) वे सभी अरब राज्य, जिन्होंने 1964 के अरब शिखर सम्मेलन में भाग लिया था;

[1] ध्यान रहे, काहिरा सम्मेलन के बाद 1970 मे लुसाका, 1973 में अलजीयर्स, 1976 मे कोलम्बो, 1979 में हवाना में गुट-निरपेक्ष देशो को निमन्त्रित करने मे लगभग यही फार्मूला अपनाया गया, जो काहिरा शिखर सम्मेलन के लिए अपनाया गया था।

(iv) मलावी नाओम मैक्सिको जैमका ट्रिनिडाड और टोबगो, अर्जेनटीना बोलविया ब्राजील चिली उरुग्वे वनेजुअला आस्ट्रिया फिनलैण्ड,

(v) जाम्बिया और ग्वायना (यदि वे सम्मेलन के पहले स्वतन्त्र हो जायें) और

(vi) अगोला की अस्थाई सरकार (साथ ही यदि किसी अन्य अफ्रीकी देश म सम्मेलन शुरू होने के पहले अस्थाई सरकार बन जाये तो वह देश भी काहिरा सम्मेलन म भाग ले सकेगा)।

इस सम्मेलन म भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने विश्व शान्ति की स्थापना के लिए पाँच सूत्री प्रस्ताव पश किया। पाँच सूत्र निम्नांकित थ—1 अणु निशस्त्रीकरण 2 सीमा विवादो का शान्तिपूर्ण हल 3 विदेशी प्रभुत्व आक्रमण एव तोडफोड की कार्यवाहिया स मुक्ति 4 अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा आर्थिक विकास और 5 सयुक्त राष्ट्र सघ क कार्यक्रम का समर्थन। सम्मेलन की जो दो प्रमुख घोषणाएँ विशष रूप स उल्लेखनीय हैं वे हैं—1 उपनिवेशवाद को समाप्त कर पीडित देशो को इसक चगुल स स्वतन्त्र कर दिया जाये और 2 अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा आर्थिक विकास किया जाय।

काहिरा गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन के बारे मे यह उल्लेखनीय है कि इस समय तक अफ्रीकी एशियाई बिरादरी म फूट पड चुकी थी। भारत चीन सीमा विवाद ने निश्चय ही गुट निरपक्ष देशो की एकता को कमजोर किया था। इसके साथ सयुक्त राष्ट्र सघ की वार्ता म गतिविधियो को लेकर अनेक तनाव पैदा हुए थ जिसक परिणामस्वरूप विश्व शान्ति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आर्थिक विकास आदि की प्राथमिकताएँ गड्ड मड्ड हो गयी थी। बेलग्रेड सम्मेलन के समय उपनिवेशवाद के उन्मूलन के साथ जुडा उत्साह प्रभावशाली था। काहिरा सम्मेलन इस बात को अनदेखा नही कर सकता था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किस तरह विघटनकारी प्रवृत्तियो चुनौतियो का सामना नय राष्ट्रो को करना पड सकता है। इसके परवर्ती वर्षो म अन्तर्राष्ट्रीय सकट क साथ-साथ गुट निरपेक्ष आन्दोलन क सदस्यो का ध्यान राष्ट्र निर्माण की ओर भी लगा रहा। इस दौर म सहयोगी आर्थिक विकास तथा सीमा विवादो क हल को प्राथमिकता दी गई। एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक परिवर्तन न इस प्रवृत्ति को पुष्ट किया। 1962 म क्यूबाई सकट न महाशक्तियो को सर्वनाश के कगार तक ला दिया। इसके बाद उनम हाट लाइन क माध्यम स आपातकालीन सवाद आरम्भ हुआ। इस सवाद क सूत्रपात क साथ शीत युद्ध की कटुता म कमी आयी और महाशक्तियो की दृष्टि म गुट निरपेक्षता की उपयोगिता बढी।

1970 का लुसाका शिखर सम्मेलन

1970 म गुट निरपेक्ष राष्ट्रो का तीसरा शिखर सम्मेलन जाम्बिया की राजधानी लुसाका म हुआ। इसम 47/54 पूर्ण सदस्य-देशो तथा 11/9 पर्यवेक्षक देशो न भाग लिया। इस सम्मेलन म अनक घोषणाएँ की गयी जिनम स प्रमुख बात अधोलिखित हैं—

(i) पश्चिम एशिया सकट क बार म कहा गया कि 1967 क युद्ध क दौरान ताकत क जरिय हडपी गई जमीन इजराईल खाली कर। यदि इजराईल

शान्ति के विरुद्ध लगातार कार्य करता रहा और अरब क्षेत्रों की भूमि खाली करने से मना करता रहा तो ऐसी परिस्थितियों में उसके विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव भी पास किया जायेगा।

(ii) सम्मेलन की यह आम राय थी अमरीकी सेना ने वियतनाम में घुस कर स्थिति बिगाड दी है। यह माँग की गयी कि वियतनाम से अमरीका तथा अन्य सभी देश अपनी फौजें हटायें। ध्यान रहे, वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार की विदेश मन्त्री श्रीमती बिन्ह को लुसाका सम्मेलन मे प्रेक्षक बनाकर यह साबित कर दिया गया कि गुट-निरपेक्ष देश राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के साथ है।

(iii) हिन्द-चीन में जहाँ शान्ति प्रयत्नो को आरम्भ करने की सिफारिश की गयी, वही कम्पुचिया के बारे में यह विवाद उठा कि राजकुमार सिहानुक या लोन नोल मे किसे सम्मेलन मे स्थान दिया जाये। अन्त मे दोनो मे से किसी को भी स्थान नही दिया गया। लोन नोल के विरुद्ध अनेक वक्ताओ ने स्पष्ट शब्दो में कह दिया था कि जनरल लोन नोल की सरकार ने राजकुमार सिहनुक को अपदस्थ करके विदेशी हस्तक्षेप के लिए मार्ग खोला जबकि दूसरी ओर सिहानुक सत्ता मे नही हैं, का तर्क दिया गया।

(iv) दक्षिण अफ्रीका मे उपनिवेशवाद के बारे मे सम्मेलन ने सदस्य राष्ट्रो से अनुरोध किया कि दक्षिण अफ्रीका की हवाई कम्पनी के विमानो को वह अपने ऊपर से होकर जाने की अनुमति न दें। हालांकि अफ्रीकी जनता के मुक्ति संग्राम के लिए धन राशि एकत्र करने का प्रस्ताव पेश किया गया, लेकिन निश्चित व्यवस्था के अभाव मे ऐसी कार्यवाही का लाभ सीधे सघर्षरत अफ्रीकी जनता को पहुँच सके, यह सभव न हो पाया।

(v) गुट-निरपेक्ष देशो में आपसी आर्थिक सहयोग पर जोर दिया गया। इसमें भारत की विशेष पहल रही।

(vi) जैसा कि गुट-निरपेक्षता का अर्थ ही गुटबन्दी का विरोध करना है, अनेक अफ्रीकी देशो ने लुसाका मे गुट-निरपेक्ष देशो के सचिवालय के विचार को रद्द कर दिया। भारत ने भी इसका कडा विरोध किया।

लुसाका गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन बहुत कुछ हासिल करने मे असमर्थ रहा। पूर्ववर्ती वर्ष अप्रत्याशित अन्तर्राष्ट्रीय सकट वाले थे और अनेक गुट-निरपेक्ष राष्ट्र आन्तरिक समस्याओ से ग्रस्त थे। इन कठिनाइयो का पता इसी बात से चलता है कि काहिरा के बाद 1967 मे गुट-निरपेक्ष सम्मेलन का अधिवेशन न हो सका। वियतनाम मे गृह-युद्ध में बिगाड, इण्डोनेशिया मे तख्तापलट, भारत में सत्ता परिवर्तन, मध्य पूर्व में अरब-इजराईल युद्ध के साथ-साथ 1969 में सोवियत-चीन सघर्ष आदि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के लिए सरदर्द बने रहे। लुसाका सम्मेलन इस बात के लिए विवश था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय संकट के राजनयिक निवारण को ही प्राथमिकता दे। अतएव आन्दोलन के घोषित उद्देश्यों को ही फिर से परिभाषित किया गया।

1973 का अल्जीयर्स शिखर सम्मेलन

1973 में गुट-निरपेक्ष देशों का चौथा शिखर सम्मेलन अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में हुआ। इसमे 76 देशों ने पूर्ण सदस्य, नौ ने पर्यवेक्षक और

युद्ध ने विशिष्ट अतिथि (जैसा कि सयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डा० कुर्त वाल्दहीम) के रूप मे भाग लिया। इस सम्मेलन मे प्रमुख रूप से निम्न बातें कही गयीं—

1 गुट-निरपेक्षता की अवधारणा को मजबूत करने के लिए लीबिया तथा अल्जीरिया ने यह प्रस्ताव रखा कि गुट-निरपेक्षता की नई परिभाषा की जाये और इस नीति का पालन करने वाले राष्ट्रों के लिए नया विधान तैयार किया जाये। लेकिन यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। गुट-निरपेक्ष देशो के लिए एक बार फिर स्थायी सचिवालय के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया। जेमेका के प्रधानमन्त्री ने सुझाव दिया कि गुट-निरपेक्ष देशों का अपना एक विकास कोष होना चाहिए। इस सुझाव पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

2 सम्मेलन द्वारा जारी किये गये घोषणा-पत्र मे सदस्य राष्ट्रों से सिफारिश की गई कि वह राजकुमार सिहानुक की निर्वासित सरकार को कम्पुचिया की सरकार के रूप मे मान्यता दें। वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार को राजनयिक समर्थन देने की सिफारिश की गई।

3. मिस्र तथा जोर्डन अपने प्रदेशो को (इजराईल द्वारा हड़पे क्षेत्रो को) मुक्त कराने के लिए जो प्रयत्न कर रहे थे, उनमे गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा राजनयिक सहयोग प्रदान करने की सिफारिश की गयी।

4 सम्मेलन मे अफ्रीका मे चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति सग्रामो का समर्थन देने की बात अनेक बार उठी किन्तु ठोस समर्थन उपलब्ध कराने की कोई व्यवस्था न की जा सकी।

5. गुट-निरपेक्ष देशों के इस सम्मेलन में महाशक्तियो को लेकर पहली बार खुली आपसी नोक-झोंक हुई। क्यूबा के फिदेल कास्त्रो ने सोवियत सघ को गुट-निरपेक्ष देशों का हिमायती बताया। उन्होंने लातीनी अमरीका के देशों विशेषकर ब्राजील पर आरोप लगाया कि वह अमरीकी साम्राज्यवाद का गढ है। दूसरी ओर इस वक्तव्य को लेकर लीबिया के राष्ट्रपति कर्नल गद्दाफी और कास्त्रो के मध्य मौखिक झपड हो गई। ट्यूनिशिया के राष्ट्रपति हबीब बोर्गीबा ने बीच-बचाव के तरीके से कहा कि गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो को अमरीकी 'कोका कोला साम्राज्य' तथा सोवियत 'वोदका साम्राज्य' दोनो से ही सतर्क रहना चाहिए।

6 हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित करने की बात कही गयी।

7 यह कहा गया कि हरेक राष्ट्र को अपने प्राकृतिक स्रोतो का राष्ट्रीयकरण करने और आन्तरिक आर्थिक गतिविधियों को नियन्त्रित करने का अधिकार है। विकासशील देशो मे पारस्परिक आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया।

अल्जीयर्स गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन तक यह बात सामने आने लगी कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का प्रसार उसकी धार को कुन्द करने लगा है। सदस्य सख्या मे वृद्धि ने आन्दोलन की एकरूपता को निश्चय ही कम किया। फिर भी अल्जीयर्स सम्मेलन का अधिवेशन अपने आप मे एक बडी उपलब्धि था। 1969 के बाद के वर्षों म जनवादी चीन मे महान् सास्कृतिक क्रान्ति का आरम्भ हो चुका था और उसने व्यापक उथल-पुथल को जन्म दिया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनय पर इस घटनाक्रम के दूरगामी प्रभाव पड़े। इस दौर मे चीन का प्रयत्न यह रहा कि गुट-निरपेक्ष

आन्दोलन को पथ-भ्रष्ट कर उसे विस्थापित किया जा सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए चीन ने अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन की पेशकश की। अल्जीयर्स सम्मेलन ने यह बात स्पष्ट कर दी की गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की जड़ें अब तक इतनी गहरी हो चुकी है कि जोड़-तोड़ वाले राजनयिक षड्यन्त्र तक भी उसे नुकसान नहीं पहुँचा सकते।

1975 का कोलम्बो शिखर सम्मेलन

गुट-निरपेक्ष देशो का पाँचवाँ शिखर सम्मेलन भारत के पड़ौसी देश श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो मे हुआ। इसमे 86 देशो ने पूर्ण सदस्य, 10 ने पर्यवेक्षक, 12 ने पर्यवेक्षक गैर राज्य (जैसे सयुक्त राष्ट्र सघ, अफ्रीकी एकता सगठन और अरब लीग इत्यादि) तथा सात ने अतिथि सदस्य के रूप मे भाग लिया। इस प्रकार इस सम्मेलन मे 115 देशों एव अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो ने भाग लिया। कुल पूर्ण सदस्यो मे 48 अफ्रीका, 28 एशिया, सात लातीनी अमरीका और तीन यूरोप के देश थे। सम्मेलन की मुख्य बातें निम्नांकित हैं—

1. गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की एकता मे फूट डालने के प्रयासो का विरोध किया गया। जब बगला देश में मुजीब की हत्या के बाद भारत-विरोधी नये शासक सत्ता मे आये तो उन्होंने इस सम्मेलन के दौरान गगा के पानी के बँटवारे के प्रश्न को उठाने का प्रयास किया तो गुट-निरपेक्ष आन्दोलन मे सामुदायिक उद्देश्यो की एकता स्थापित कर उन्हे प्राप्त करने के लिए ऐसे द्विपक्षीय विवाद को न उठाने के लिए कहा गया।

2 सम्मेलन में महाशक्तियो के इस आरोप का विरोध किया गया कि सयुक्त राष्ट्र सघ मे गुट-निरपेक्ष देशो की संख्यात्मक विशालता 'बहुमत का आतक' है। श्रीलंका की तत्कालीन प्रधान मन्त्री तथा सम्मेलन की अध्यक्ष श्रीमती सिरिमावो भण्डारनायके ने कहा कि गुट-निरपेक्ष देशो का सघर्ष किसी राष्ट्र या समुदाय से नहीं है बल्कि अन्याय, असहिष्णुता, असमानता, साम्राज्यवाद, हस्तक्षेप और आधिपत्य से है।

3. सम्मेलन में कहा गया कि फ्रास और इजराईल के विरुद्ध तेल निषेध की पाबन्दियाँ (Sanctions of Oil Embargo) लगायी जाये क्योकि इन देशो ने दक्षिण अफ्रीका की रगभेद (Aparthied) की नीति के विरुद्ध सयुक्त राष्ट्र सघ की महासभा के प्रस्तावो की अवहेलना करते हुए उन्हें हथियारो की आपूर्ति की है।

4. उन बहुराष्ट्रीय निगमो की आलोचना की गई जो घूस और अन्य साधनो के जरिये विकासशील देशों को विकसित देशो के अधीन बनाये है।

5. नई अन्तर्राष्ट्रीय समाचार व्यवस्था की स्थापना के लिए 'न्यूज पूल' की स्थापना की आवश्यकता पर जोर दिया गया ताकि इस क्षेत्र मे तीसरी दुनिया के विकासशील राष्ट्रो की विकसित राष्ट्रो पर अत्यधिक निर्भरता समाप्त हो और विकासशील राष्ट्रो की खबरें बड़े देशो के समाचार संगठनो द्वारा तोड़ी-मरोड़ी न जायें।

6. सम्मेलन मे नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना अर्थात् विश्व मे मौजूदा अर्थव्यवस्था मे आमूल-चूल परिवर्तन किया जाये। यह नई विश्व अर्थव्यवस्था समानता और न्याय पर आधारित हो। गुट-निरपेक्ष देशो के लिए नई मुद्रा का

प्रचलन, व्यावसायिक बैंक की स्थापना, विकासशील अर्थात् गुट-निरपेक्ष देशो की सुरक्षित मुद्रा निधियो से विकसित देशो की मुद्राओ का क्रमिक निष्कासन, उत्पादक संघों (Producers' Associations) की स्थापना (विशेष तौर पर तेल, तांबा, बॉक्साइट और यूरेनियम जैसे महत्वपूर्ण कच्चे माल के लिए) पर बल दिया गया। असल मे पहली बार इतने जोर के साथ इस सम्मेलन मे नई विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए आवाज उठायी गयी।

7 'शक्ति-सन्तुलन', 'युद्ध की अनिवार्यता' एव 'प्रभाव-क्षेत्र' जैसी अवधारणाओं को शान्ति-विरोधी घोषित किया गया।

8 भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने सम्मेलन मे बोलते हुए कहा कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन 'मानवता की अन्तरात्मा' है। उन्होंने सदस्य राष्ट्रो से एक साथ मिलकर शान्ति कायम करने मे योगदान करने की अपील की।

9 सम्मेलन द्वारा जारी किये गये राजनीतिक घोषणा-पत्र मे 'तनाव-शैथिल्य' शब्द को स्थान न देकर 'समस्त देशो के लिए शान्ति की स्थापना' वाक्याश का प्रयोग किया गया।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के इतिहास मे कोलम्बो शिखर सम्मेलन का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा कहा जा सकता है कि आन्दोलन के व्यस्क-प्रौढ होने के चिन्ह इस सम्मेलन मे देखे गये। सम्मेलन की सबसे बडी उपलब्धि निरर्थक राजनयिक बहस से मुडकर सार्थक आर्थिक सहकार की भूमिका तैयार करना था। यों अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मचो पर जैसे सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा बुलाई गई अक्टाड (UNCTAD) बैठकें, राष्ट्र-मण्डलीय सम्मेलन आदि मे रह-रह कर आर्थिक सहकार की बात उठायी जाती रही थी, किन्तु कोलम्बो शिखर सम्मेलन के बाद ही नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की खोज विधिवत शुरू की जा सकी।

1979 का हवाना शिखर सम्मेलन

1979 मे गुटनिरपेक्ष देशो का छठा शिखर सम्मेलन क्यूबा की राजधानी हवाना में हुआ। इसमे करीब 95 राष्ट्रो ने भाग लिया। यह पहला मौका था, जबकि भारत की ओर से किसी शासनाध्यक्ष ने शिखर सम्मेलन मे भाग नही लिया। सम्मेलन मे आन्दोलन के सस्थापको मे से एकमात्र जीवित मार्शल टीटो की अत्यन्त सक्रिय उपस्थिति महत्वपूर्ण थी। शिखर सम्मेलन में आठ नये सदस्यो बोलीविया, ग्रेनेडा, ईरान, पाकिस्तान, निकारागुआ, जिम्बाब्वे के देशभक्त मोर्चे, 'स्वापो' आदि का तुमुल हर्षध्वनि के साथ स्वागत किया गया। 1961 मे 25 राष्ट्रो से शुरू हुए गुट निरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य देशो की सख्या अब बढ़कर 96 हो चुकी थी।

सम्मेलन के सातो दिन अत्यन्त गरमागर्मी से भरे हुए थे। एक ओर कुछ राष्ट्र आन्दोलन को रूसी खेमे के निकट तथा अमरीका के विरुद्ध खडा करना चाहते थे तो दूसरी ओर मार्शल टीटो के नेतृत्व मे अधिकाश राष्ट्र आन्दोलन के स्वतन्त्र चरित्र को कायम रखने के लिए कठिन सघर्ष करते रहे। बहस के हर क्षेत्र मे यह द्वद्व चलता रहा। लेकिन सम्मेलन के अन्त मे हुई घोषणाओं ने स्पष्ट कर दिया कि अधिकाश गुट निरपेक्ष राष्ट्र अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम रखते हुए लगातार एकजुट रहे है। आर्थिक, राजनीतिक आदि हरेक क्षेत्र मे पारस्परिक सहयोग के ठोस कार्यक्रम बनाने का निश्चय सम्मेलन की मुख्य उपलब्धि रही।

सम्मेलन में रखे गये प्रस्ताव—सम्मेलन के शुरू होने के काफी पहले क्यूबा ने शिखर सम्मेलन में स्वीकृत होने वाली घोषणाओं को तैयार कर लिया था। उसने प्रारूप सभी सदस्यों में वितरित कर दिया, जिसका अधिकांश सदस्य देशों द्वारा भारी विरोध किया गया। इसमें गुट निरपेक्ष आन्दोलन के पूरे चरित्र को बदलने की घिनौनी कोशिश की गयी थी। क्यूबा द्वारा वितरित प्रारूप में तथाकथित समाजवादी खेमे यानि रूसी खेमे को गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का 'स्वाभाविक मित्र' बताया गया था। रूसी पिछलग्गुओं को छोड़कर सभी गुट निरपेक्ष राष्ट्रों ने पूरे आन्दोलन के चरित्र को बदलने के इस कुत्सित प्रयास का जबरदस्त विरोध किया। अतएव क्यूबा को दूसरा प्रारूप प्रस्तुत करने पर मजबूर होना पड़ा। दूसरे प्रारूप में गुट निरपेक्ष आन्दोलन को रूसी खेमे के नजदीक लाने की खुली वकालत के बजाय उसकी परोक्ष तौर पर वकालत की गयी। इस बार समाजवादी खेमे के बजाय अन्य शान्तिपूर्ण व प्रगतिशील शक्तियों के सहयोग की बात प्रारूप में कही गयी। इससे रूसी आशाओं पर पानी फिर गया। इस तरह युगोस्लाविया के नेतृत्व में विभिन्न राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत संशोधन के बाद हवाना शिखर सम्मेलन की घोषणा के प्रारूप में गुट निरपेक्ष आन्दोलन की मूल भावना को फिर से कायम किया गया।

1 **कंपुचिया का मामला**—कंपुचिया के तत्कालीन शासक पोलपोट को हेंग सामरिन ने वियतनाम की सहायता एवं रूस के समर्थन से बाहर निकाल दिया था। मगर हेंग सामरिन की 'कठपुतली' सरकार देश के अन्दर हो रहे प्रतिरोध और संघर्ष को न तो दबा पायी और न ही दुनिया से मान्यता प्राप्त कर सकी। इस प्रस्ताव को विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन ने शिखर सम्मेलन पर ही छोड़ दिया था। हवाना सम्मेलन में वियतनाम व क्यूबा ने पोलपोट सरकार को बीजिंग व वाशिंगटन के बीच में फिरने वाली सरकार बताकर हेंग सामरिन को शिखर सम्मेलन में बिठाने की कोशिश की, लेकिन मार्शल टीटो, बर्मा, भूटान, पाकिस्तान, नेपाल, बंगला देश, श्रीलंका, 'आसियान' देशों तथा अफ्रीका एवं लातीनी अमरीका के अधिकांश देशों ने वियतनाम द्वारा कंपुचिया को हड़पे जाने की निन्दा की और हेंग सामरिन सरकार का सम्मेलन में प्रतिनिधित्व एकदम अस्वीकार कर दिया। जबकि भारत ने किसी का पक्ष लेने के बजाय बीच का रास्ता अख्तियार किया और यह समाधान प्रस्तुत किया कि कंपुचिया की सीट खाली रखी जाये और इस विवाद का फैसला 1981 में नई दिल्ली में होने वाले गुट निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में किया जाये। इससे दोनों ही पक्षों को कंपुचिया में वास्तविक सरकार बनाने का समय मिल जायेगा। अन्त में यही प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

2. **मिस्र की समस्या**—मिस्र को गुट निरपेक्ष आन्दोलन से निकालने की माग सम्मेलन का दूसरा महत्वपूर्ण विवादास्पद मुद्दा था। अमरीकी व रूसी साम्राज्यवादियों की होड़ ने पश्चिम एशिया में संकट की जो स्थिति उत्पन्न कर दी और अरब देशों के बीच जो फूट के बीज बोये, यह उसी का परिणाम था। यह उभर कर हवाना सम्मेलन में सामने आया। मिस्र को तीसरी दुनिया से काटकर अमरीकी साम्राज्यवाद के सामने समर्पण के लिए विवश करने तथा अरब राष्ट्रों में मिस्र की साख घटाने के तहत ही साम्यवादी पक्ष ने अरब राष्ट्रों की माग पर मिस्र को गुट निरपेक्ष आन्दोलन से निष्कासित करने का समर्थन किया। लेकिन आन्दोलन के सजग प्रतिनिधियों ने साम्यवादी गुट एवं अरब राष्ट्रों की इस योजना पर पानी फेर

दिया। इन राष्ट्रों मे युगोस्लाविया, लाइबेरिया, आइवरी कोस्ट, सेनेगल, गैबोन और कैमरून आदि अफ्रीकी देशो तथा अन्य कई देशो के प्रतिनिधियो ने मिस्र को गुट निरपेक्ष देशो के सम्मेलन से निकालने का विरोध किया। अततोगत्वा, यह तय हुआ कि एक तदर्थ समिति की रिपोर्ट के आधार पर 1981 मे नई दिल्ली मे गुट निरपेक्ष राष्ट्रो के विदेश मन्त्रियो के सम्मेलन मे मिस्र के मामले पर फैसला किया जायेगा। इस तरह से इस समस्या को फिलहाल टाल कर सम्मेलन को सफल बनाया गया।

3 **दो महाशक्तियों के बीच तीसरी दुनिया का शक्ति प्रदर्शन**—सम्मेलन मे हुई घोषणाओ ने निर्णायक तौर पर यह स्पष्ट कर दिया कि गुट निरपेक्ष राष्ट्रो ने दोनो महाशक्तियो विशेष तौर पर रूस के षड्यत्र को नाकाम करके अपना अलग अस्तित्व कायम रखा है और आन्दोलन पहले की तरह तीसरी दुनिया की उभरती हुई ताकत के रूप मे मौजूद है। अतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे सम्मेलन मे साम्राज्यवाद, प्रभुत्ववाद, उपनिवेशवाद, रगभेद, जातिभेद, विस्तारवाद, नवउपनिवेशवाद तथा असमान सम्बन्धो को बढाने वाली सभी शक्तियो के खतरो को रेखाकित किया गया और उन्हे चेतावनी दी गयी। सम्मलन मे नामीबिया और जिम्बाब्वे के मुक्ति सगठनो के सघर्षों को पूरा समर्थन दिया गया और फिलिस्तीनी जनता के सघर्ष मे अपनी सहभागिता का प्रदर्शन किया गया।

4 **आर्थिक समस्या**—आर्थिक क्षेत्र मे सामूहिक आत्मनिर्भरता कि दिशा मे गुट निरपेक्ष राष्ट्रो की प्रगति भी हवाना शिखर सम्मेलन की घोषणा से परिलक्षित होती है। क्यूबा द्वारा प्रस्तावित घोषणा के प्रारूप मे आर्थिक सहयोग का जो खाका प्रस्तुत किया गया, वह परोक्ष रूप से तीसरी दुनिया के देशो को रूस के निकट पहले आर्थिक रूप से और बाद मे समग्र रूप से लाने की व्यापक साजिश का एक अग था। प्रारूप के इस हिस्से को भी प्रतिनिधियो ने बदल दिया और पारस्परिक आर्थिक सहयोग पर बल दिया, ताकि महाशक्तियाँ गरीब देशो को अपने चगुल मे न फँसा सकें। दोना महाशक्तियो के विरुद्ध तीसरी दुनिया का जो मोर्चा अतर्राष्ट्रीय राजनीतिक पर्दे पर उभर रहा था उसका महत्वपूर्ण पहलू आर्थिक मोर्चाबन्दी था। हवाना सम्मेलन ने इस दिशा मे सकारात्मक उपलब्धि अर्जित की।

सम्मेलन की घोषणाएँ एव उपलब्धियाँ

हवाना शिखर सम्मेलन मे निम्नाकित महत्वपूर्ण घोषणाएँ की गयी—

1 सम्मेलन की समापन घोषणाओ मे जातिवाद, वर्णभेद, उपनिवेशवाद, बहुराष्ट्रीय निगमो परमाणु एकाधिकार, सैनिक अड्डो तथा सैनिक गठबन्धनो आदि पर कड़ा प्रहार किया गया। कोलम्बो सम्मेलन की तुलना मे इस सम्मेलन की शब्दावली अपेक्षाकृत अधिक तीखी थी।

2 सम्मेलन म फिलिस्तीनियो के जोरदार समर्थन का प्रस्ताव पारित किया गया।

3 सम्मेलन की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि तेल-सम्पन्न राष्ट्रो ने अन्य गुट निरपेक्ष राष्ट्रों को सस्ते दाम पर तेल देने की घोषणा की। साथ ही तेल निर्यातक देशो मे अपील की गयी कि वे दक्षिण अफ्रीका को तेल की आपूर्ति बन्द न करें। नाइजीरिया की इस बात के लिए सराहना की गयी कि उसने अपने तेल

उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया। पहले नाइजीरियाई तेल कम्पनी पर आरोप लगाया गया था कि वह दक्षिण अफ्रीका को तेल सप्लाई करती है।

4. सम्मेलन ने अमरीका की पहल से मिस्र एव इजराईल के बीच हुए कैम्प डेविड समझौते की कड़े शब्दो में आलोचना की। इसके बावजूद मिस्र को गुट निरपेक्ष आन्दोलन की सदस्यता से वंचित नही कर सम्मेलन ने सयम का परिचय दिया। मिस्र को गुट निरपेक्ष आन्दोलन से निलम्बित करने की अरब देशो की मांग पर विचार का काम गुट निरपेक्ष देशों के ब्यूरो पर छोड़ दिया गया।

5. सम्मेलन मे सभी गुट निरपेक्ष देशो से अपील की कि वे दक्षिण अफ्रीका के अश्वेतो के छापामार युद्ध का समर्थन करें। साथ ही दक्षिण अफ्रीका की नस्लवादी सरकार से सम्पर्क कायम रखने के लिए पश्चिमी देशो की भर्त्सना की गयी। इसके लिए घोषणा-पत्र मे अमरीका, ब्रिटेन, फ्रास, पश्चिमी जर्मनी, जापान, बेल्जियम, इटली, कनाडा, आस्ट्रेलिया और इजराईल की निन्दा की गई।

हवाना शिखर सम्मेलन की असफलताएँ

हालांकि गुट निरपेक्ष देशो का छठा शिखर सम्मेलन काफी हद तक सफल रहा, किन्तु उसकी असफलताएँ भी है। सम्मेलन मे यह तय नही हो सका कि कंपूचिया की असली सरकार किसे माना जाये। शिखर सम्मेलन में क्यूबा जैसे सोवियत समर्थक साम्यवादी देश में आयोजित होने के कारण कुछ हद तक उसके बाईं ओर झुक जाने का आरोप न्यायसंगत माना जा सकता है। सम्मेलन मे बहु-गुटता का बोलबाला रहा। इसमें अमरीका, रूस व चीन तीनो बड़ी शक्तियों के समर्थक गुट निरपेक्ष देशो के बीच आपसी खींचातानी विभिन्न कुछ मुद्दो को लेकर होती रही। गुट निरपेक्ष आन्दोलन के अपनी 'लीक' से हट जाने के कारण बर्मा ने इससे नाता तोड़ दिया। सम्मेलन अपने सदस्य राष्ट्रों की आपसी खींचातानी को ही सुलझाने मे उलझा रहा। वह उनकी आम समस्याओं जैसे तेल, आपसी सहयोग, नई विश्व समाचार व्यवस्था, नई विश्व अर्थव्यवस्था, समुद्री सम्पदा के उचित एव समान दोहन आदि के बारे में कोई ठोस कदम नही उठा सका।

हवाना सम्मेलन में उक्त आलोचनात्मक मूल्याकन के बाद यह कहा जा सकता है कि अनेक नाजुक उतार चढ़ाव के बाद जहाँ सम्मेलन के समापन तक गुट निरपेक्ष देशो द्वारा अन्ततः फूट न पड़ने देने की सफलता प्रशसा योग्य है, वही इस आन्दोलन में ऐसी विभाजनकारी प्रवृत्तियाँ भविष्य मे पुनः न उभरे, इसके लिए पहले से एहतियाती कदम उठना बहुत जरूरी है। हवाना सम्मेलन ने सदस्यो का ध्यान एक बार पुनः इस ओर आकर्षित किया कि आर्थिक सहकार की बात भले ही जोर-शोर से की जाये, लेकिन राजनीतिक यथार्थ को अनदेखा नही किया जा सकता। गुट निरपेक्ष आन्दोलन को सोवियत संघ के साथ 'स्वाभाविक रूप से जोडने' के क्यूबाई प्रयत्नों ने अन्य सदस्यो को सतर्क किया। इसी तरह कैम्प डेविड समझौते के बाद मिस्र के निष्कासन के प्रश्न ने इस समस्या के एक और पहलू को उजागर किया। विवादस्पद प्रश्न का परामर्श द्वारा समाधान ढूंढने के बदले उसे अगले सम्मेलन तक स्थगित करने को ही राजनयिक सफलता मान लिया गया। इस प्रवृत्ति ने निश्चय ही गुट निरपेक्ष आन्दोलन की सम्भावनाओं को सीमित किया है।

1983 का नई दिल्ली शिखर सम्मेलन
(The New Delhi Summit)

मार्च, 1983 मे नई दिल्ली मे गुट निरपेक्ष देशो का सातवाँ शिखर सम्मेलन हुआ। उसने 'काम कम, बातें ज्यादा' वाली कहावत चरितार्थ की। इसमें 101 देशो के प्रतिनिधियों ने विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करने के बाद जो आम सहमति प्रकट की, वह 'बिना ठोस सार की आम सहमति' थी। हालांकि यह सम्मेलन प्रकट रूप से असफल तो नही था, किन्तु इसमें ठोस सफलता भी नही मिली थी।

शिखर सम्मेलन के समापन दिवस पर प्रमुख रूप से दो प्रकार की घोषणाएँ की गयी—राजनीतिक और आर्थिक। राजनीतिक घोषणाओ मे प्रमुख मसले थे—अफगानिस्तान, कपुचिया, ईरान-इराक युद्ध, दियागो गार्सिया द्वीप, हिन्द महासागर मे महाशक्तियों की सैनिक प्रतिस्पर्द्धा, फिलस्तीनी राज्य की स्थापना, नई समाचार व्यवस्था, निरस्त्रीकरण आदि। आर्थिक घोषणाओ मे मुख्य मुद्दे थे—उत्तर-दक्षिण सवाद, विकासशील देशों में पारस्परिक सहयोग, गुट निरपेक्ष देशों के बैंक की स्थापना इत्यादि।

इन महत्वपूर्ण, किन्तु जटिल मामलो पर आम सहमति मे जो निर्णय लिए गये, उनके बारे मे गुट निरपेक्ष देशो के प्रतिनिधि तो सन्तुष्ट होकर लौटे, सोवियत सघ ने भी उन पर सतोष प्रकट किया तथा अमरीका इस बारे में अधिक नाराज नहीं हुआ। जबकि गुट निरपेक्ष देश महाशक्तियो की गुटबाजी और शक्ति-सघर्ष की राजनीति के विरोधी हैं और महाशक्तियों से स्वाभाविक तौर पर यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे गुट निरपेक्ष देशो के शिखर सम्मेलन की घोषणाओं पर सतोष प्रकट करें, लेकिन यह सब सम्भव हुआ—सम्मेलन द्वारा गुट निरपेक्ष आन्दोलन मे कलह को टालने के लिए पारित किये गये अनेक बचकाने और सैद्धान्तिक नारेबाजी की भाषा वाले मसौदा प्रस्तावो से।

सम्मेलन मे सबसे अधिक कटु बहस राजनीतिक मसलो पर हुई। निरस्त्रीकरण के बारे म कहा गया कि हथियारो की होड समाप्त हो और हथियारों पर खर्च किया जाने वाला विशाल धन विकास कार्यक्रमों पर खर्च किया जाये। परमाणु हथियारो पर रोक लगाई जाय। सम्मेलन की घोषणा मे इस बारे मे कोई ठोस उपाय नहीं सुझाया गया, जिससे निरस्त्रीकरण की अपील महज नारेबाजी बनकर रह गयी।

अफगानिस्तान और कपुचिया से क्रमश सोवियत सघ और वियतनाम के सैनिक हटाने के स्पष्ट उल्लेख के बारे मे गुट निरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य देश—लीबिया, इराक, अफगानिस्तान, क्यूबा, वियतनाम आदि ने कड़ा विरोध किया, जिससे सिर्फ 'विदेशी सैनिक' हटाने का ही उल्लेख किया गया। इन सोवियत-समर्थक गुट निरपेक्ष देशों ने सम्मेलन मे कपुचिया की सीट खाली रखवाने के लिए जी-तोड प्रयास किया और सफल भी हुए। इस सफलता पर सोवियत सघ और उसके समर्थक गुट निरपेक्ष देशो ने राहत की साँस ली। सम्मेलन का काफी समय इस प्रश्न पर बर्बाद हो गया कि कपुचिया की सीट पर हेग सामरिन सरकार या राजकुमार सिहानुक की निर्वासित सरकार को प्रतिनिधित्व दिया जाये। अन्तत सम्मेलन में यह स्थान रिक्त रखा गया, किन्तु आगे विचार के लिए यह मुद्दा एक तदर्थ समिति को सौंप दिया गया।

सम्मेलन में सोवियत समर्थक गुट निरपेक्ष देशों के रवैये ने एक बार फिर यह साबित कर दिया कि वे गुट निरपेक्ष आन्दोलन को सोवियत खेमे के निकट ले जाना चाहते हैं। खासकर क्यूबा ने यह दोहराया कि सोवियत संघ की साम्राज्यवाद-विरोधी नीति होने के कारण वह गुट निरपेक्ष आन्दोलन के मूलभूत सिद्धान्त का ही समर्थक है; जबकि इस आन्दोलन का उद्देश्य सोवियत संघ और अमरीका जैसी महाशक्तियों की गुटबाजी का जमकर विरोध करना और सदस्य देशों को उनके काले साये से बचाना है।

हालांकि सम्मेलन में सोवियत संघ का नाम लेकर उसे भला-बुरा नहीं कहा गया, किन्तु अमरीका को बिल्कुल नहीं बख्शा गया। दियागो गार्सिया पर अमरीकी सैन्य अड्डा बनाने की कटु आलोचना करते हुए यह द्वीप मारीशस को लौटाने की बात कही गयी। हिन्द महासागर के 'विसैन्यीकरण' पर आम सहमति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया।

सम्मेलन में ईरान-इराक युद्ध पर पूरे एक दिन चर्चा हुई, किन्तु शान्ति प्रेमी गुट निरपेक्ष देश अपनी बिरादरी के इन दोनों देशों को युद्ध रोकने के लिए सहमत नहीं कर पाये। हालांकि इराक शान्ति वार्ता के लिए तैयार हो गया, किन्तु ईरान अपनी जिद्द पर अड़ा रहा और उसने यहाँ तक कह डाला कि यह इस मामले का निबटारा युद्ध के मोर्चे पर ही करेगा। अन्ततः गुट निरपेक्ष देशों को सम्मेलन के घोषणा-पत्र में ईरान-इराक युद्ध समाप्त करने की अपील से ही संतोष करना पड़ा। यहाँ उल्लेखनीय है कि नई दिल्ली में आयोजित सातवाँ गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन सितम्बर, 1982 में इराक की राजधानी बगदाद में होने वाला था, किन्तु ईरान-इराक युद्ध के कारण इसे नई दिल्ली में करने का निर्णय किया गया था।

इस सम्मेलन में फिलस्तीन राज्य की स्थापना, लेबनान पर इजराइली आक्रमण का विरोध और नई विश्व समाचार व्यवस्था की आवश्यकता पर आम सहमति प्रकट की गयी। क्यूबा की राजधानी हवाना में नई अन्तर्राष्ट्रीय समाचार व्यवस्था केन्द्र स्थापित करने का निर्णय लिया गया, जो खबरों की दुनिया में विकसित देशों का एकाधिकार तोड़ने और विकासशील देशों की सही तस्वीर पेश करने के क्षेत्र में पहल करेगा। यों नई विश्व समाचार व्यवस्था का नारा खूब उछलकर लगभग पिटने की स्थिति में आ गया है। यह सही है कि संवाद समितियों का वर्चस्व विकसित देशों के हाथों में न रहे और विकासशील देशों की अपनी भी कोई ऐसी व्यवस्था हो। लेकिन क्या सरकारी समाचार एजेन्सियाँ निष्पक्ष और मानवीय मूल्यों के तहत अपना कर्तव्य निभा पायेंगी, यह जरूर संदेहास्पद है।

हालांकि सभी देशों ने समानता और न्याय पर आधारित नई विश्व अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के प्रश्न पर आम सहमति प्रकट की, किन्तु इसे प्राप्त करने के लिए अपनाये जाने वाले साधनों पर गम्भीर मतभेद उभर कर सामने आये। इस कारण कोई ठोस रूपरेखा तैयार नहीं की जा सकी। यह भी तय नहीं हो पाया कि अन्तर्राष्ट्रीय संसाधनों के दोहन व उपभोग तथा व्यापार के क्षेत्र में विकसित देशों के साथ विकासशील देशों की समान हिस्सेदारी पर विश्वव्यापी वार्ता तत्काल शुरू की जाये या ऋण-भार, व्यापार और सहायता जैसे मुद्दों को पहले उठाया जाये। इस पर भी कोई निर्णय नहीं हो पाया कि मौजूदा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं को समाप्त कर उनके स्थान पर नई संस्थाएँ बनायी जायें या फिर इन संस्थाओं के ढांचे को

पुनर्रचना की जाये।

गुट निरपेक्ष देशों के बैंक की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया, किन्तु गुट निरपेक्ष समुदाय के अधिकतर सदस्य देश गरीब हैं, जिससे बैंक को सुचारु ढग से चलाने के लिए कोष को एकत्र करने की समस्या उठी। भारत, नाइजीरिया, जाम्बिया आदि ने कुछ आर्थिक योगदान देने की पेशकश की, किन्तु पर्याप्त धन देने मे समर्थ तेल-निर्यातक देशो ने कोई रुचि नही ली। इन नव-धनाढ्य तेल-निर्यातक देशो का उक्त बैंक न होने मे ही स्वार्थ निहित हैं, क्योकि उनका पहले से ही इस्लामी देशो का बैंक है, जिससे वह अपना काम चला लेते है। स्पष्ट है कि वे अपने धन से अन्य देशो के आर्थिक कल्याण मे पहल नही करना चाहते।

सम्मेलन मे विकासशील देशो के आपसी सहयोग कायम करने पर बल दिया गया। नई दिल्ली मे विज्ञान और प्रौद्योगिकी केन्द्र की स्थापना का निर्णय लिया गया। विकासशील देशो मे खासकर भारत, मिस्र, पाकिस्तान और कुछ अन्य देशों के पास ऐसी प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिक-तकनीकी ज्ञान है, जिससे वे विकासशील देशों के औद्योगिक विकास मे काफी मदद कर सकते है। लेकिन क्या सभी विकासशील देश उक्त देशो की प्रौद्योगिकी को अपने आर्थिक ढाँचे मे बिठा पायेंगे, यह सन्देह-जनक है।

असल मे, महाशक्तियों के प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार की नीति ने गहराई से अनेक समस्याओ यथा, गुट निरपेक्ष देशो की अर्थव्यवस्थाओ को एक-दूसरे से इतना भिन्न, प्रतियोगितात्मक और विकसित या समाजवादी देशो की अर्थव्यवस्थाओ के साथ जकड दिया है कि कोई भी आर्थिक निर्णय गुट निरपेक्ष देशो के लिए समान रूप से लाभदायी नही कहा जा सकता। फिर इनकी अर्थ-व्यवस्थाएँ विकास के अलग-अलग चरणों मे है। यदि इसके मुताबिक इनकी अर्थव्यवस्थाओं को विभाजित किया जाये तो उनकी कम से कम दस श्रेणियाँ बनेंगी। इनमे एक ओर दुनिया के सम्पन्नतम तेल निर्यातक राष्ट्र हैं, वही दूसरी ओर तेल की मार से धूल-धूसरित अर्थव्यवस्थाएँ मौजूद है। एक ओर नव-औद्योगिक राष्ट्र हैं, तो दूसरी ओर समाजवादी अर्थ-व्यवस्था से जुडे देश। जहाँ एक ओर पूर्णरूपेण कृषि प्रधान अर्थव्यवस्थाएँ हैं तो दूसरी ओर मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ। ऐसे मे इस बात का सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इन सबके हितो को दृष्टि मे रखते हुए नई विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना बिना ठोस और व्यवहारिक प्रस्तावों के कैसे हो सकती है।

गुट निरपेक्ष आन्दोलन के विकास मे नई दिल्ली शिखर सम्मेलन की उपरोक्त निराशाजनक तस्वीर के बावजूद न तो यह कहा जा सकता है कि यह आन्दोलन अप्रासंगिक हो चुका था और न ही यह भी कि नई दिल्ली शिखर सम्मेलन असफल रहा। वस्तुत 101 सदस्य देशो वाले इस आन्दोलन मे मतभेद होना स्वाभाविक था। इस आन्दोलन तथा नई दिल्ली सम्मेलन के सैद्धान्तिक निर्णयो का विश्व जनमत पर सकारात्मक प्रभाव पडा। इसका विकसित देशों की शोषक प्रवृतियो पर नैतिक दबाव पडा। भारत ने गुट निरपेक्ष आन्दोलन की स्थापना, उसके विकास और उसे मजबूत बनाने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। नई दिल्ली शिखर सम्मेलन के दौरान भारत के मसौदा प्रस्तावो और विभिन्न मुद्दो पर उसके सन्तुलित रुख की सदस्य देशों ने सराहना की।

1986 का हरारे शिखर सम्मेलन
(The Harare Summit)

यह शिखर सम्मेलन 1986 में जिम्बाब्वे की राजधानी हरारे में हुआ। कई वर्ष बाद शिखर सम्मेलन का आयोजन अफ्रीका महाद्वीप में हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनय का ध्यान रंगभेद विरोधी, नव-उपनिवेशवाद विरोधी उन समस्याओं की ओर जबरन दिलाया गया, जिनसे अफ्रीकी देश जूझते रहते हैं, परन्तु जो आम तौर पर उपेक्षित रह जाते हैं। यों जिम्बाब्वे स्वयं न तो गुट निरपेक्ष आन्दोलन के जनकों में एक है, और न ही अपनी आन्तरिक समस्याओं के कारण गुट निरपेक्ष आन्दोलन की गतिविधियों में उसने सक्रिय रूप से भाग लिया है। तथापि अपने स्वतन्त्रता संग्राम और दक्षिण अफ्रीका की नस्लवादी सरकार के विरुद्ध संघर्ष में उसकी भूमिका को देखते हुए उसको मेजबान बनाये जाने का निर्णय बिना ज्यादा मतभेद के लिया जा सका।

यहाँ एक और बात जोड़ने की जरूरत है। पहले गुट निरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलनों में युगोस्लाविया, भारत, मिस्र जैसे प्रतिष्ठित अनुभवी देशों का वर्चस्व देखने को मिलता था। हरारे शिखर सम्मेलन ने यह बात एक बार फिर स्पष्ट की कि सम्भवतः शिखर सम्मेलन की सफलता किसी अपेक्षाकृत कम विख्यात राजधानी में उसका आयोजन होने पर अधिक निरापद रह सकती है। अनेक अन्य सदस्यों की महत्वकांक्षा मेजबानी के सन्दर्भ में उभरने लगी है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि हरारे शिखर सम्मेलन में राजनय का एक महत्वपूर्ण हिस्सा इसी बात पर केन्द्रित रहा कि अगले शिखर सम्मेलन की मेजबानी के दावेदार अपना पक्ष पुष्ट कर सकें, जैसे युगोस्लाविया व इण्डोनेशिया।

जहाँ तक ठोस राजनयिक उपलब्धियों का प्रश्न है, हरारे में अफ्रीकी सहायता कोष की स्थापना की घोषणा की गयी, जिसका उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध लागू की जाने वाली पाबन्दियों के दुष्प्रभाव से निरीह अफ्रीकी राष्ट्रों को बचाना है। इस प्रयत्न के पीछे काम कर रही मुख्य प्रेरणा यह थी कि सिर्फ घोषणाओं से कुछ हासिल होने वाला नहीं, बल्कि अफ्रीकी देशों के साथ अपना 'एका' दर्शाने के लिए ठोस कार्यक्रम पर अमल आवश्यक है। आर्थिक सहकार के क्षेत्र में वांछित प्रगति के लिए दक्षिण-दक्षिण आयोग का गठन किया गया। भारत ने पहले इस पहल का विरोध किया था क्योंकि व्यापक सहमति के लिए इस तरह के प्रस्ताव में जितने समझौतों की जरूरत पड़ती है, उनमें वे लगभग निरर्थक हो जाते हैं। तथापि भारत ने अन्ततः अन्य गुट निरपेक्ष देशों के साथ एका बनाये रखा।

जहाँ तक अधूरे कामों की सूची है, यह बहुत लम्बी है। कम्पुचिया की सीट (जो हवाना से खाली चली आ रही थी) हरारे में भी खाली ही रखी गयी। इसी तरह अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के विषय में कोई स्पष्ट राय बहुमत के रूप में नहीं रखी जा सकी। ईरान-इराक युद्ध के शमन के लिए कोई पहल सुझाने में भी हरारे सम्मेलन असफल रहा। हरारे सम्मेलन ने यह बात भी दर्शायी कि महाशक्तियों के बीच तनाव-शैथिल्य या निशस्त्रीकरण संवाद में गुट निरपेक्ष आन्दोलन की कोई विशेष प्रासंगिकता नहीं रह गयी है। हरारे सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकांश प्रतिनिधि मण्डलों का प्रयत्न इस बात तक सीमित रहा कि उन्हें

व्यक्तिगत रूप से असमजस मे डालने वाला कोई विवादास्पद प्रश्न, कोई विरोधी-शत्रु सम्मेलन की कार्यवाही के दौरान न उठाये। सम्मेलन के पूरे कार्यकाल मे प्रत्यक्ष और परोक्ष राजनय की मुद्रा इसी कारण प्रतीकात्मक रही और किसी रचनात्मक सहकारी कार्यसूची की रूपरेखा प्रस्तुत नही की जा सकी।

यो तो अनेक प्रस्ताव पारित हुए, परन्तु यह प्रतिक्रिया अनुष्ठान पूरा किया जाने वाली मुद्रा मे जारी रही। हाँ, सिर्फ इस अमरीकी घोषणा ने कि वह जिम्बाब्वे को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बन्द कर रहा है, मेजबान राष्ट्र को शहादत ओढने का मौका दिया। गुट निरपेक्ष राष्ट्रो को धमका कर चुप कराने के लिए शायद इतना काफी था, क्योकि इसके ठीक बाद पेरू मे हुए 'गेट' (GATT) सम्मेलन मे अधिकतर गुट-निरपेक्ष प्रतिनिधि दुबके-सहमे अमरीकी इच्छाओ के अनुकूल आचरण करते रहे। दिल्ली से हरारे तक आन्दोलन की सदस्य सख्या मे कोई वृद्धि नहीं हुई। भले ही छुटपुट छोटे देश स्वाधीन हुए, जैसे ब्रुनेई और अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण देश न्यूजीलैंड पुराने सैनिक सगठनो से निकल आये। ऐसा जान पडता है कि अब सदस्य राष्ट्रो के लिए गुट-निरपेक्ष सम्मेलन राष्ट्रीय हित-साधन का उपकरण नहीं समझा जा सकता।

1989 का बेलग्रेड शिखर सम्मेलन

गुट-निरपेक्ष देशो का नवाँ शिखर सम्मेलन एक बार फिर युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड मे 4 से 7 सितम्बर, 1989 के दौरान हुआ। इसमे 102 देशो ने भाग लिया। इसमे गुट-निरपेक्ष देशो ने अमीर देशो से अपील की कि वे गरीब देशो पर बढ रहे बाहरी ऋण के भीषण सकट के हल मे सहयोग करें। उन्होंने चार देशो की 'परिस पहल' का समर्थन करते हुए कहा कि विश्व-शान्ति और सुरक्षा विकास सम्बन्धी मसलो से सीधी जुडी हुई है। सम्मेलन ने पूर्ण निशस्त्रीकरण, विकासशील देशो मे आपसी सहयोग बढाने, दक्षिण अफ्रीका मे रगभेद की समाप्ति और बहुसख्यक अश्वेतो की सरकार की स्थापना, अफगान सकट के हल और फिलस्तीनियो को उनके अधिकार दिलाने की आवश्यकता पर जोर दिया।

सम्मेलन मे इस बात की बडी चर्चा रही कि 1961 मे जहाँ गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का जन्म हुआ, वही 28 वर्ष बाद घूम-फिरकर यह जमघट फिर पहुँचा है। परन्तु यह तर्क आन्दोलन के वास्तविक महत्व को नही दर्शाता, बल्कि अनुष्ठान-मूलक समारोह-प्रेम को ही उजागर करता है। यो इसमे जो प्रस्ताव पारित किये गये, उनमे गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को अधिक स्पष्ट और मुखर करने के दावे किये गये, किन्तु दुर्भाग्यवश, कोई ठोस प्रगति नहीं हो सकी। इसका कारण स्पष्ट है। पिछले दो-तीन शिखर सम्मेलन ऐसी परिस्थितियो मे आयोजित हुए, जहाँ स्वय मेजबान देश की अपनी आन्तरिक राजनीतिक स्थिति अस्थिर रही है। परम्परा यह है कि मेजबान राष्ट्र शिखर सम्मेलन को राजनीतिक दिशा देता है। लेकिन आज के युगोस्लाविया की कोई तुलना टीटोकालीन युगोस्लाविया से नहीं की जा सकती। पिछले दो दशको मे उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का काफी अवमूल्यन हुआ है। 1989 में बेलग्रेड मे शिखर सम्मेलन आयोजित कर युगोस्लाविया का अहम भले ही सन्तुष्ट हुआ हो, किन्तु इससे गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को कोई लाभ नहीं पहुँचा। इस सम्मेलन मे अमीर देशो से गरीब देशो पर बढ रहे बाहरी ऋण की विकट समस्या के

हल पर जोर तो अवश्य दिया परन्तु इस सिलसिले मे स्वयं कोई ठोस कदम नही उठाया।

गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलनों का तुलनात्मक मूल्यांकन (Non-Aligned Summits : A Comparative Assessment)

गुट-निरपेक्ष देशो के उक्त नौ शिखर सम्मेलनों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि 1961 मे आयोजित बेलग्रेड सम्मेलन मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्र होने के मानदण्डो को पारिमापित किया, जबकि 1964 में काहिरा और 1970 में लुसाका मे आयोजित सम्मेलनो ने उस पारिमापित मानदण्ड को ठोस आधार प्रदान किया। काहिरा सम्मेलन की प्रमुख विशेषता यह रही कि उसने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति में प्रगति हेतु प्रभावकारी कदम उठाने पर बल दिया। लुसाका (1970) एवं अल्जीयर्स (1973) के सम्मेलनों के दौरान गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की आकृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। इस दौरान गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो की संख्या मे अत्यधिक वृद्धि से उन्होने विश्व राजनीति मे प्रभावकारी भूमिका अदा करने की अन्तर-शक्ति को महसूस किया। गुट-निरपेक्ष नीति के प्रसार एवं प्रचार में अब केवल भारत, युगोस्लाविया एवं मिस्र का नेतृत्व ही प्रभावकारी नही रहा, बल्कि तंजानिया एवं जाम्बिया जैसे छोटे-छोटे राष्ट्रों ने भी अत्यन्त दिलचस्पी से हिस्सा लेना आरम्भ किया। अल्जीयर्स सम्मेलन की सबसे बडी विशेषता यह रही कि इसमें अमरीका एवं रूस के मध्य तनाव-शैथिल्य (detente) की नीति एवं निरस्त्रीकरण की दिशा मे उनके प्रयासों का हार्दिक स्वागत किया गया।

1976 के कोलम्बो सम्मेलन में राजनीतिक घोषणाओ के साथ-साथ आर्थिक एवं अन्य प्रकार की घोषणाएँ भी की गयी। अन्य घोषणाओं में समानता व न्याय पर आधारित नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा नई अन्तर्राष्ट्रीय समाचार व्यवस्था के लिए 'समाचार संगम' (न्यूज पूल) की स्थापना का निर्णय लिया गया। इस प्रकार कोलम्बो सम्मेलन ने राजनीतिक कार्यों के अलावा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक दिशाओं की ओर प्रवृत्त किया। इसके बाद 1979 के हवाना शिखर सम्मेलन ने विश्व राजनीति की अनेक समस्याओं पर विचार करने के साथ-साथ गुट-निरपेक्ष देशों मे आपसी सहयोग स्थापित करने की दिशा में अनेक घोषणाएँ की। हवाना सम्मेलन इसलिए विवादास्पद बन गया कि क्यूबाई नेता फिदेल कास्त्रो ने जोरदार शब्दों में माग सामने रखी कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को समाजवादी राज्यों को अपना 'स्वाभाविक सन्धि-मित्र' मान लेना चाहिए और इस सम्बन्ध को औपचारिक रूप देना चाहिए। इसके विरोध मे बर्मा ने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन छोड़ दिया तथा कम्पुचिया के प्रश्न पर चीन तथा सोवियत संघ के पक्षधर तत्वों के बीच गरमा-गरम वाद-विवाद हुआ। कुल मिलाकर, इससे गुट निरपेक्ष आन्दोलन की छवि धूमिल हुई।

दिल्ली शिखर सम्मेलन (1983) की सबसे बडी उपलब्धि यह थी कि उसने हवाना में पैदा हुए असन्तुलन को समाप्त किया और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को वस्तुतः निरपेक्ष बनाया। अनेक समस्याओ के समाधान की खोज को स्थगित करने की परम्परा हरारे सम्मेलन (1986) में भी जारी रही। इस प्रवृत्ति को दुर्भाग्यपूर्ण ही मानना चाहिए कि सम्मेलन-स्थल को देखते हुए कार्य सूची भी

क्षेत्रीय रग मे रग जाती है। ऐसी स्थिति मे अधिकतर सदस्यो की सार्थक भागीदारी का अवकाश कम रहता है। बेलग्रेड शिखर सम्मेलन 1989 ने अमीर देशो से गरीब देशो पर बढ रहे बाहरी ऋण की विकट समस्या के हल पर जोर अवश्य दिया, किन्तु इस सिलसिले मे स्वय कोई ठोस कदम नही उठाया।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों मे शीत युद्ध के सकटपूर्ण दौर मे गुट-निरपेक्षता की अवधारणा और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को महत्वपूर्ण ढग से प्रभावित किया। उपनिवेशवाद-विरोध, नस्लवाद-विरोध, निरास्त्रीकरण, नवोदित राष्ट्रो के आर्थिक सहकार जैसे विषयो मे गुट-निरपेक्ष देशो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। अन्तर्राष्ट्रीय सकटो मे मध्यस्थता के द्वारा गुट-निरपेक्ष देशो ने तनाव-शैथिल्य का मार्ग प्रशस्त किया। ऐसे अनेक अवसर है, जब गुट-निरपेक्ष देशो की राजनयिक पहल ने महाशक्तियो के अन्तर-सम्बन्धो या सयुक्त राष्ट्र सघ के क्रिया-कलाप पर अपनी छाप छोडी। परन्तु हाल के वर्षों मे ऐसा जान पडता है कि विस्तार-प्रसार के कारण गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने अपनी एकरूपता गँवायी है और उसके प्रभाव मे कमी हुई है। बेलग्रेड सम्मेलन तक गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का सस्थागत रूप स्पष्ट नही था और शायद यही इसका सबसे सफल व रचनात्मक दौर रहा। त्रिवार्षिक शिखर सम्मेलनो के आयोजन, विदेश मन्त्रियो के सम्मेलन, ब्यूरो की स्थापना और सदस्य सख्या मे विस्तार ने पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और सकीर्ण राष्ट्रीय हितो के टकराव को बढावा दिया है। अब यह देखना है कि गुट-निरपेक्ष देश कैसे इन चुनौतियो का सामना करते हैं और सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक दबावो को देखते हुए गुट-निरपेक्षता को आवश्यकतानुसार परिष्कृत-परिमार्जित करते है या नही ?

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की उपलब्धियाँ
(Non-Aligned Movement : Achievements)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद महाशक्तियो की शक्ति-सन्तुलन की राजनीति को अस्वीकार करते हुए कुछ राष्ट्रो ने गुट-निरपेक्ष नीति अपनायी। यह एक आन्दोलन का रूप धारण कर चुकी है तथा इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक 'महत्वपूर्ण ताकत' के रूप मे माना जाने लगा। इसकी उपलब्धियाँ निम्नांकित हैं—

(1) **विश्व को खेमेबन्दी के चगुल से बचाना**—गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो ने महाशक्तियो की खेमेबन्दी की राजनीति मे सम्मिलित होने से मना कर दिया। जैसा कि प्रो० एम० एस राजन मानते हैं कि 'उन्होंने अमरीकी और सोवियत आदर्श अपने ऊपर थोपे जाने का विरोध किया और अपनी राष्ट्रीय प्रकृति के अनुसार विकास के अपने राष्ट्रीय साँचों और पद्धतियों का आविष्कार किया। इस तरह भारत ने अपने 'समाज के समाजवादी ढाँचे' को अपनाया और अरब राष्ट्रो ने 'अरब समाजवाद' को। यह बात राजनीतिक सस्थाओं, शासन और प्रशासन प्रणालियो के सदर्भ मे लागू होती है।'[1] डा० सतीश कुमार ने गुट निरपेक्ष देशो द्वारा महाशक्तियो की खेमबन्दी की राजनीति को अस्वीकार करने के बारे मे कहा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के रूपान्तरण (Transformation) के बारे मे गुट निरपेक्ष आन्दोलन की देन है कि जहाँ तक विश्वव्यापी सन्तुलन का सम्बन्ध है, उसको उसने पूरी तरह

[1] एम० एस० राजन की पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 32।

अस्वीकार कर दिया है।' इस प्रकार गुट निरपेक्ष देश महाशक्तियों की खेमेबन्दी से बाहर निकल आये और उन्होंने गुट निरपेक्ष आन्दोलन में सम्मिलित होकर खेमेबाजी की राजनीति पर पानी फेर दिया। अतः विश्व के अधिकांश देश महाशक्तियों की खेमेबन्दी के चंगुल से बच गये।

(2) अफ्रो-एशियाई, लातीनी अमरीकी और कैरिबियायी देशों को स्वतन्त्रता मिलना—1961 के बेलग्रेड सम्मेलन द्वारा गुट निरपेक्षता की निर्धारित परिभाषा के अन्तर्गत साफ लिखा गया है कि इस नीति का पालन करने वाला हर राष्ट्र अफ्रीका, एशिया, लातीनी अमरीका और कैरिबियायी क्षेत्रों मे औपनिवेशिक शक्तियों के खिलाफ चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामो का समर्थन करेगा। गुट निरपेक्ष देशो ने एकजुट होकर हर एक मच से इन देशो मे चल रहे मुक्ति संग्रामों का समर्थन किया। इससे उन्हें आजादी मिलने में काफी आसानी रही, क्योंकि औपनिवेशिक शक्तियाँ विश्व के इतने बड़े समुदाय की आलोचना एव तिरस्कार का शिकार लम्बे समय तक नही रहना चाहती थी।

(3) विश्व शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना में सहायक—गुट निरपेक्ष देशों का हमेशा यही प्रयास रहा है कि राष्ट्र आपसी विवादो को शान्तिपूर्ण समाधानो के द्वारा हल करें, युद्ध से नहीं। इसके लिए उन्होंने समय-समय पर अनेक सकटो के दौरान युद्धरत राष्ट्रो पर नैतिक दबाव डालकर यह समझाने बुझाने की कोशिश की कि वे शान्तिपूर्ण तरीकों से विवादो का समाधान ढूंढे। विश्व शान्ति एव सुरक्षा की स्थापना के लिए उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ की हरेक कार्रवाई को प्रभावशाली बनाने के लिए उसका सदैव भरपूर समर्थन किया। इस प्रकार, गुट निरपेक्ष आन्दोलन विश्व शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने मे अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ।

(4) राष्ट्रवाद की रक्षा एवं स्वतन्त्र विदेश नीति के निर्माण को प्रोत्साहन—गुट निरपेक्ष नीति का जन्म ही महाशक्तियों द्वारा अन्य देशो को उनके अधीनस्थ बनाने की नीति के विरुद्ध हुआ था। गुट निरपेक्ष आन्दोलन ने हमेशा इस बात पर जोर दिया है कि वह महाशक्तियों द्वारा राजनीतिक दबावो से जुड़ी आर्थिक या अन्य प्रकार की सहायता प्राप्त नही करेंगे। वे किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संकट पर दबावमुक्त होकर अपना विचार व्यक्त करेंगे। इस प्रकार उन्होंने छोटे राष्ट्रों में राष्ट्रवाद की भावना की रक्षा एवं स्वतन्त्र विदेश नीति निर्माण को पूरा प्रोत्साहन दिया।

(5) साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद एवं रंगभेद की समाप्ति—गुट निरपेक्ष आन्दोलन ने हमेशा ही बड़ी शक्तियों की साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी एवं रंगभेद की नीति का घोर विरोध किया। इससे वह विश्व में बड़ी शक्तियों की साजिश के खिलाफ जनमत बनाने में सफल रहा। इसी का परिणाम है कि वर्तमान में बड़ी शक्तियों की उक्त चाल काफी हद तक नाकाम रही।

(6) अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर एकजुट होकर आवाज उठाना—गुट निरपेक्ष देशो ने अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए केवल अपने ही मंच से नही, बल्कि अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों का भी उपयोग किया। मसलन, संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्र-मण्डल, अफ्रीकी एकता संगठन, 'अंकटाड' (UNCTAD), समुद्री कानून सम्मेलन में अनेक मुद्दों पर एकजुट आवाज उठाकर अपने उद्देश्यो की प्राप्ति करने में काफी हद तक सफलता अर्जित की। जे० डब्ल्यू बर्टन के अनुसार—'उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ को

छोटे राष्ट्रों के बीच शान्ति कायम रखने वाले संगठन में रूपान्तरित करने में सहायता दी, जिसमें छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों पर कुछ नियन्त्रण रख सकें।'[1]

(7) **महाशक्तियों द्वारा गुट निरपेक्षता के महत्व को स्वीकार करना**—जब आरम्भ में कुछ राष्ट्रों ने गुट निरपेक्ष नीति अपनायी तो महाशक्तियों ने उन्हें गालियाँ दीं एवं आलोचना की। एक तरफ अमरीकी विदेश मन्त्री जॉन फॉस्टर डलेस ने इस नीति को 'अनैतिक' एवं 'अदूरदर्शितापूर्ण' माना। उसका मानना था कि गुट निरपेक्ष राष्ट्र दोनों ही खेमों में से किसी भी खेमे में न मिलकर दोनों ही खेमों से आर्थिक सहायता का लड्डू खाना चाहते हैं, जो अनैतिक एवं अदूरदर्शितापूर्ण है।[2] दूसरी तरफ सोवियत संघ ने गुट निरपेक्ष देशों द्वारा उसके खेमे में नहीं मिलने के कारण उन्हें 'पूँजीवादी अमरीकी दलाल' की संज्ञा दी। लेकिन अब इस बारे में दोनों महाशक्तियों का रुख बदला है। वे गुट निरपेक्षता के महत्व को स्वीकार करने लगी हैं। मसलन, सोवियत संघ के ख्रुश्चेव ने माना कि 'देश तटस्थ हो सकते हैं, व्यक्ति चाहे तटस्थ न हो सकते हों।' अमरीकी विदेश सचिव हेनरी किसिंजर ने 1974 की भारत-यात्रा के दौरान भारतीय गुट निरपेक्षता की भूरी-भूरी प्रशंसा की। अब जब भी कभी गुट निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन होते हैं तो अमरीका और सोवियत संघ दोनों उनकी सफलता के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ भेजते हैं। इस प्रकार महाशक्तियों ने गुट निरपेक्ष आन्दोलन के महत्व को स्वीकार किया है।

(8) **तीसरी दुनिया में आपसी सहयोग कर आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त करना**—गुट निरपेक्ष देशों ने धीरे-धीरे चहुँमुखी क्षेत्रों में आपसी सहयोग करने का रास्ता अपनाया। नई विश्व अर्थव्यवस्था, नई समाचार व्यवस्था, तेल का उचित दामों पर उपलब्ध होना आदि क्षेत्रों में व्यावहारिक आपसी सहयोग कर उन्होंने गुट निरपेक्ष देशों द्वारा आत्मनिर्भरता बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त किया है। इससे विभिन्न क्षेत्रों में उनके विकास के लिए बड़ी शक्तियों पर निर्भरता घटेगी और वे आत्म-निर्भरता के पथ पर अग्रसर होंगे।

(9) **सदस्य संख्या में अपार वृद्धि**—जब भारत, युगोस्लाविया और मिस्र ने पहल कर गुट निरपेक्ष नीति अपनाना आरम्भ किया तो शीघ्र ही इण्डोनेशिया, श्रीलंका, कम्पुचिया ने भी इसका अनुसरण किया। इसके बाद धीरे-धीरे कई देश गुट निरपेक्ष आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। जहाँ गुट निरपेक्ष देशों के पहले शिखर सम्मेलन में 25 पूर्ण देशों ने भाग लिया वहाँ काहिरा में 47, लुसाका में 56, अल्जीरिया में 76, कोलम्बो में 86 तथा हवाना में 95, नई दिल्ली और हरारे में एक सौ से अधिक पूर्ण सदस्य राष्ट्रों ने शिखर सम्मेलनों में भाग लिया। इन शिखर सम्मेलनों में पूर्ण सदस्य राष्ट्रों के अलावा अनेक देशों को पर्यवेक्षक के रूप में, अनेक राष्ट्रीय मुक्ति संगठनों, संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रतिनिधियों को पर्यवेक्षक एवं अतिथि के रूप में आमन्त्रित किया गया। इस प्रकार गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की संख्यात्मक शक्ति में विस्तार होता गया।

[1] J W Burton, *International Relations A General Theory*, (London, 1965), 230–31

[2] 'This (Non alignment) has increasingly become an obsolete conception and except under very exceptional circumstances it is an immoral and short sighted conception' —John Foster Dulles

गुट निरपेक्ष आन्दोलन की असफलताएँ
(Non-Aligned Movement : Failures)

गुट निरपेक्ष आन्दोलन के इस ऐतिहासिक विश्लेषण से कदापि यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सदैव सफलताएँ ही अर्जित की है, असफलताएँ नहीं। वस्तुतः गुट निरपेक्ष आन्दोलन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में आशातीत रूप से सफल नहीं हो पाया है। इन असफलताओं को निम्नांकित रूप में दिया जा सकता है—

1. महाशक्तियों की खेमेबन्दी का प्रवेश—आरम्भ में तो गुट निरपेक्ष देशों ने महाशक्तियों की खेमेबन्दी का डटकर विरोध किया, किन्तु धीरे-धीरे उनका उत्साह ढीला पड़ता गया। इससे महाशक्तियों को गुट निरपेक्ष आन्दोलन के भीतर खेमेबन्दी को प्रवेश करवाने का अवसर मिल गया। यह भी एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि स्वयं गुट निरपेक्ष आन्दोलन के भीतर कुछ सदस्य राष्ट्र ऐसे हैं जो इस आन्दोलन की कार्यवाही के समय किसी न किसी महाशक्ति की नीति का पक्ष लेते है। मसलन, केरिबियायी क्षेत्र या क्यूबा, जिसने सितम्बर, 1979 में हवाना में हुए शिखर सम्मेलन में सोवियत संघ को गुट निरपेक्ष देशों का 'स्वाभाविक मित्र' स्वीकार करने की वकालत की। दूसरी तरफ दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्र में 'आसियान' नामक क्षेत्रीय संगठन के देश अमरीका का पक्ष लेते रहे है। इस प्रकार गुट निरपेक्ष आन्दोलन के भीतर महाशक्तियों की खेमेबन्दी के प्रवेश को असफलता ही माना जा सकता है।

2. सैन्य संगठनों एवं सन्धियों से जुड़े राष्ट्रों को गुट निरपेक्ष आन्दोलन में प्रवेश—1961 के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में यह तय किया गया कि जो राष्ट्र महाशक्तियों द्वारा प्रवर्तित सैन्य संगठनों एवं सन्धियों से जुड़े रहेंगे, उन्हें गुट निरपेक्ष आन्दोलन में सदस्यता नहीं दी जायेगी। परन्तु आगे चलकर इस निर्णय का उल्लंघन किया गया। मसलन, अगस्त, 1976 में कोलम्बो में गुट निरपेक्ष देशों का जो शिखर सम्मेलन हुआ, उसमें पुर्तगाल, फिलीपीन्स और रूमानिया को अतिथि के रूप में भाग लेने की अनुमति मिली। ये देश किसी न किसी तरह सैन्य-सन्धियों से जुड़े रहे हैं, फिर भी गुट निरपेक्ष आन्दोलन के पिछले दरवाजे से उन्हें प्रवेश दिया गया। अर्थात् पर्यवेक्षक के रूप में आमन्त्रित कर उनके द्वारा सदस्यता प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया गया। गुट निरपेक्ष आन्दोलन की शुद्धि कायम रखने के दृष्टिकोण से इसे न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता।

3. गुट निरपेक्ष देशों द्वारा आपसी समस्याओं में ही वक्त बर्बाद करना—असल में, गुट निरपेक्ष देशों ने बाहरी विश्व की गम्भीर चुनौतियों से जूझने पर पर्याप्त ध्यान न देकर आपसी समस्याओं में ही वक्त बर्बाद किया है। मसलन, सितम्बर, 1979 में गुट निरपेक्ष देशों के छठे शिखर सम्मेलन का उदाहरण ही लें। इसमें मिस्र को गुट निरपेक्ष आन्दोलन से बाहर निकालने, कम्पुचिया में पोल पोट या हेंग सामरिन में से असली सरकार किसे माना जाये आदि आपसी खींचातान सारे शिखर सम्मेलन पर छायी रही। परिणामस्वरूप वे उनकी आम समस्याओं जैसे तेल, नई समाचार व्यवस्था, नई विश्व अर्थव्यवस्था, समुद्री सम्पदा के उचित एवं समान दोहन आदि समस्याओं के बारे में कोई ठोस कदम नहीं उठा सके।

4. राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों को भौतिक समर्थन नहीं—हालांकि आरम्भ से

सभी गुट निरपेक्ष देशों ने अफ्रो-एशियाई, लातीनी अमरीका एवं केरेबियाई क्षेत्रों में चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों का स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया है, लेकिन भौतिक समर्थन के अभाव में अनेक देशों को आजादी प्राप्त करने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और वे लम्बे संघर्ष के बाद स्वतन्त्र हो सके। आज भी दक्षिण अफ्रीका में बहुसंख्यक कालों के समर्थन की गुट निरपेक्ष देश स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं, किन्तु भौतिक समर्थन के अभाव में उन्हें सत्ता अब तक प्राप्त नहीं हुई है। इसीलिए 1979 में जाम्बिया के प्रधानमन्त्री ने अपनी भारत यात्रा के दौरान यहाँ की सरकार को भौतिक समर्थन देने की अपील की थी।

5. मौखिक एवं लिखित घोषणाएँ ज्यादा और व्यवहारिक काम कम—समय-समय पर गुट निरपेक्ष देश विश्व शान्ति एवं सुरक्षा की अनेक लम्बी-चौड़ी आदर्शवादी घोषणाएँ करते रहे हैं। यह ठीक है, किन्तु उनकी प्राप्ति के लिए ठोस एवं व्यावहारिक कदम उठाने भी उतने ही जरूरी हैं। मसलन, नई समाचार व्यवस्था की स्थापना के लिए उन्होंने आपसी सहयोग से 'न्यूज पूल' की स्थापना की घोषणा तो कर दी, किन्तु उसकी स्थापना के बाद उस 'न्यूज पूल' से रिलीज होने वाली खबरों को खरीदने का प्रस्ताव आया तो उन्होंने पीठ दिखा दी। इस प्रकार घोषणाएँ तो वे अनेक कर देते हैं, किन्तु ठोस एवं व्यावहारिक काम की बात आने पर हिच-किचाने लगते हैं।

6. गुट निरपेक्षता की अनेक किस्में पैदा हो जाना—गुट निरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य राष्ट्रों में भी अनेक प्रकार की गुट निरपेक्षता की किस्में पैदा हो गयी हैं। इस पर एक विद्वान ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि 'इससे गुटबद्धता की तरह गुट निरपेक्षता की कोई अखण्ड-एकान्वित सत्ता नहीं रह गयी है।' मसलन, बर्मा ने गुट निरपेक्षता के बजाय महाशक्तियों एवं बड़ी शक्तियों से दूर रहकर अलगाववाद (Isolationism) की नीति का पालन किया है। कुछ राष्ट्रों ने महाशक्तियों के साथ मैत्री एवं सहयोग-सन्धि के नाम पर सैनिक व्यवस्थाओं वाली सन्धियाँ कर दीं। भारत और मिस्र ने सोवियत संघ के साथ ऐसी सन्धियाँ कीं, जबकि कई गुट निरपेक्ष राष्ट्रों ने ऐसा नहीं किया। इन अनेक किस्मों के उत्पन्न होने को गुट निरपेक्ष आन्दोलन की असफलता ही माना जायेगा।

गुट निरपेक्ष आन्दोलन : नवीन चुनौतियाँ एवं समस्याएँ
(New Challenges and Problems before the Movement)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद गरीब व नवोदित देशों के सामने प्रमुख चुनौतियाँ और समस्याएँ यह थीं कि वे महाशक्तियों की खेमेबन्दी से कैसे दूर रहें, स्वतन्त्र विदेश नीति का निर्माण कैसे करें तथा बिना राजनीतिक दबाव के महाशक्तियों से आर्थिक व तकनीकी मदद कैसे प्राप्त करें? किन्तु शीत युद्ध के अवसान और देतान युग के आगमन के साथ इन चुनौतियों और समस्याओं के स्वरूप में काफी परिवर्तन आ गया। तत्पश्चात् नए शीत युद्ध के दौर में भी काफी-कुछ बदल जाने से इनमें और बदलाव आया। अब गुट निरपेक्ष देशों के सामने जो प्रमुख चुनौतियाँ और महत्त्वपूर्ण समस्याएँ मुँह बाए खड़ी हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—नव उपनिवेशवाद, तेल की कीमतों में वृद्धि, उत्तर-दक्षिण संवाद, परमाणु ऊर्जा का शान्तिपूर्ण उपयोग,

समुद्री सम्पदा का समुचित दोहन, दक्षिण-दक्षिण सहयोग आदि। यही नहीं, कई विद्वानों ने गुट निरपेक्ष आन्दोलन की नवीन परिस्थितियों में प्रासंगिकता पर भी प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। उनका कहना है कि यह आन्दोलन अब निष्प्राण सा हो गया है।

प्रखर भारतीय पत्रकार प्रफुल्ल बिदवई ने तो कुछ समय पहले गुट निरपेक्ष आन्दोलन के देहान्त की विधिवत घोषणा तक कर डाली, जिससे प्रोफेसर एम० एस० राजन जैसे प्रतिष्ठित विद्वान बौखला गये। प्रोफेसर राजन ने बिदवई के तर्कों के जवाब में यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि गुट निरपेक्ष आन्दोलन अभी भी सार्थक, सगत और महत्वपूर्ण है। वह निशस्त्रीकरण और नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। किन्तु यदि वस्तुनिष्ठ ढंग से देखें तो इसमें नया कुछ नही है। ये सिर्फ नारे हैं, जिनको आदत से मजबूर विशेषज्ञ चालू रखे हुए हैं। यही स्थिति कमोबेश विदेश मंत्रालयों के नौकरशाहों की है, जिनकी जुबान पर गुट निरपेक्षता का मुहावरा इस तरह चढा है कि इनकी तुलना बूढे रट्टू तोते से ही की जा सकती है। नई चुनौतियो का सामना करने के लिए नया कुछ सोचने की सामर्थ्य उनमें नहीं। खाड़ी युद्ध, जर्मनी का एकीकरण और सोवियत संघ व पूर्वी यूरोप मे नाटकीय घटनाक्रम के बाद विश्वव्यापी स्तर पर कहीं भी गुट निरपेक्षता की प्रासंगिकता नजर नही आती।

भारत एवं गुट-निरपेक्ष नीति
(India and non-aligned policy)

गुट-निरपेक्ष नीति एवं भारत में विशेष सम्बन्ध रहा है। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के प्रमुख जनक नेहरू, नासिर एव टीटो थे। भारत की ओर से गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को दिशा देने में नेहरू जी का विशेष योगदान रहा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे प्रारम्भ से ही गुट-निरपेक्षता का दृष्टिकोण होने के कारण भारत की चर्चा करना अत्यन्त प्रासंगिक है। गुट-निरपेक्षता नीति का अर्थ विश्व के किसी भी गुट के साथ द्विपक्षीय सम्बन्धो के आधार पर सैनिक समझौतों मे भाग न लेना है। इस नीति का पालन करने वाले राष्ट्र जहाँ एक ओर गुटबाजी की विश्व राजनीति से विलग रहते हैं, वही दूसरी ओर विश्व-शान्ति और सुरक्षा मे प्रगति हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो को भरपूर मदद देते हैं। इसका अर्थ कदापि 'तटस्थता' की नीति नही है। जैसा कि हम बता चुके है, भारतीय प्रधानमन्त्री नेहरू जी ने गुट-निरपेक्ष नीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा था—'यदि स्वतन्त्रता का हनन होगा, न्याय की हत्या होगी अथवा कहीं आक्रमण होगा तो वहाँ हम न तो आज तटस्थ रह सकते हैं और न भविष्य मे तटस्थ रहेंगे।' यह नीति गुट-निरपेक्ष देशों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उठने वाली दैनंदिन की ज्वलन्त समस्याओं पर उनके गुणानुसार अपनी स्वतन्त्र प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के योग्य बनाती है।

भारत द्वारा गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने के कारण

भारत ने आजादी के बाद तत्कालीन राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का जायजा लेने के बाद यह निर्णय किया कि वह गुट-निरपेक्षता की नीति अपनायेगा। इस निर्णय के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं—

1 भारत द्वारा साम्यवाद या पूंजीवाद जैसे वैचारिक पचड़े मे न पड़ने की इच्छा—स्वतन्त्रता के बाद भारत ने पाया कि विश्व वैचारिक तौर पर साम्यवादी एवं पूंजीवादी विचारधारा के आधार पर बँटना शुरू हो गया है। वह नही चाहता था कि ऐसे वैचारिक पचड़े मे अनावश्यक रूप से पड़ा जाये। उसका विचार था कि हरेक राष्ट्र मौजूदा परिस्थितियो के अनुसार उचित विचारधारा को अपनाये।

2 भारत द्वारा किसी भी महाशक्ति का मोहरा न बनने की इच्छा—भारत ने पाया कि विश्व राजनीति दो भागो मे विभाजित हो चुकी है। अमरीका एवं सोवियत संघ के नेतृत्व मे दो भीमकाय खेमे पश्चिमी एवं पूर्वी विश्व राजनीति रंगमंच पर उदित हुए। यदि भारत किसी भी गुट मे सक्रिय रूप से सम्मिलित हो जाता तो उसका शतरंज के एक मोहरे के समान उस गुट के द्वारा मनचाहा दुरुपयोग किया जा सकता है। नेहरू जी ने अपने 7 सितम्बर, 1946 के प्रसारण मे एकदम स्पष्ट रूप से कहा कि 'हमें एक-दूसरे के विरुद्ध गुटबद्ध वर्गों की शक्ति-प्रधान राजनीति से अलग रहना चाहिए, क्योकि अतीत मे इसकी परिणति विश्व युद्धो मे हुई और भविष्य में और भी बड़े स्तर पर विनाश हो सकता है।'

3. आर्थिक दृष्टि से भारत द्वारा गुट-निरपेक्ष नीति अपनाना उचित—प्रो० जे० बंद्योपाध्याय का मानना है कि 'भारत जैसे विकासशील देश के सन्दर्भ में, जहाँ आर्थिक विकास को प्रमुखता दी जाती है, जब विकास के लक्ष्य, इसका स्वरूप और तरीका निर्धारित किये जाते हैं, तब आर्थिक पक्ष विदेश नीति निर्धारण मे एक निर्णायक तत्त्व होता है।' आजादी के समय भारत की अर्थव्यवस्था एकदम कमजोर थी, क्योकि ब्रिटिश शासन के दौरान उसका खूब शोषण किया गया। आर्थिक एवं तकनीकी क्षेत्रो मे अविकसित होने के कारण आवश्यक था कि वह दोनो महाशक्तियों अमरीका एवं रूस से आर्थिक एवं तकनीकी सहायता प्राप्त करे। गुट-निरपेक्ष नीति अपनाकर यह सहायता प्राप्त की जा सकती है।

4 स्वतन्त्र विदेश नीति-निर्माण की इच्छा—लम्बे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन और ब्रिटिश शासन के दौरान आर्थिक शोषण एवं राजनीतिक दमन के कारण भारतीय स्वतन्त्रता सेनानी यह महसूस कर चुके थे कि 'स्वतन्त्रता' का वास्तविक अर्थ क्या होता है और देश के वैदेशिक सम्बन्धो मे निर्णय लेते समय स्वतन्त्र विदेश नीति-निर्माण भी कितना आवश्यक है। स्वतन्त्र विदेश नीति निर्धारण की इसी इच्छा के कारण भारत ने गुट-निरपेक्ष नीति अपनायी।[1]

5 भारत विश्व शान्ति एवं सुरक्षा का पुजारी—भारत बुद्ध, अशोक एवं गाधी का देश रहा है। उन्होंने जिन्दगी भर विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के अग्रदूत बनकर काम किया। आजादी के बाद भी भारत अपने आदर्शों पर डटा रहा और विश्व शान्ति और सुरक्षा का सन्देश उसने गुट-निरपेक्ष नीति को अपनाने की घोषणा करके दिया।

चूंकि भारत ने सर्वप्रथम गुट-निरपेक्ष नीति अपनायी, इसी कारण वह

[1] अवकाश प्राप्त अनुभवी राजनयिक ए० के० दामोदरन का मानना है कि गुट निरपेक्ष नीति अपनाना भारत की विवशता थी। उसके आकार का स्वाभिमानी महत्त्वाकांक्षी देश न तो किसी महाशक्ति का पिछलग्गू बन सकता है और न ही कोई महाशक्ति उसे आसानी से नियंत्रण-अनुशासित कर सकती है। इस सिलसिले में विस्तृत विश्लेषण के लिए देखें—K P Misra and A K Damodaran (ed) *Dynamics of Non-Alignment* (Delhi, 1983)

विशेष रूप मे दोनों महाशक्तियो—अमरीका एवं सोवियत सघ की कोपभाजनता व अविश्वास का शिकार बना। प्रारम्भ मे जहाँ अमरीका के विदेश सचिव जान फोस्टर डलेस ने गुट-निरपेक्ष नीति को 'अनैतिक' बताते हुए भारत को दोनो महाशक्तियों के साथ गठबन्धन करने वाले देश के रूप मे चित्रित किया, वही दूसरी ओर सोवियत शासक स्टालिन ने भारत को 'पूँजीवादी देशो के पिछलग्गू' की सज्ञा दी। किन्तु जब भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मच पर ईमानदारी से उपनिवेशवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद की खुले शब्दों मे आलोचना की, कोरिया सकट मे दोनों महाशक्तियो का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन कर आलोचना की, विश्व के दोनो गुटों से बिना राजनीतिक दबाव के तकनीकी एव आर्थिक मदद स्वीकार की तथा साम्यवादी चीन की सयुक्त राष्ट्र सघ मे सदस्यता दिलाने के लिए आवाज बुलन्द की तो अमरीका और सोवियत सघ दोनो ने भी अपना पुराना भारत-विरोधी रुख बदल दिया तथा गुट निरपेक्ष नीति की महत्ता और उपयोगिता को सिद्धान्तत महसूस किया।

भारत पर चीनी आक्रमण और गुट निरपेक्षता
(Chinese Aggression and Non-alignment)

भारतीय गुट निरपेक्ष नीति की चर्चा करते समय भारत पर 1962 मे चीन द्वारा अचानक फौजी हमला करने के फलस्वरूप इस नीति की प्रासगिकता के साथ-साथ इस बात का विश्लेषण भी जरूरी है कि क्या भारत गुट निरपेक्षता के रास्ते से हट गया ? जब चीन ने भारत पर बर्बर हमला किया तो सोवियत सघ जैसे हमारे पारम्परिक मित्र ने यह तर्क देकर अपने हाथ खीच लिये कि भारत हमारा मित्र है तो चीन हमारा भाई। उसने भारत को किसी भी प्रकार उस हमले से बचाने से इन्कार कर दिया। उधर चीन एव रूस की प्रतिद्वन्द्वी शक्ति अमरीका ने भी युद्ध के दौरान भारत की ठोस मदद नही की। उसने उल्टे भारत पर यह दबाव डाला कि वह अमरीका द्वारा प्रवर्तित सैनिक गठबन्धनो मे सम्मिलित हो जाये या फिर अमरीका की परमाणु छतरी स्वीकार कर ले, अर्थात् भारत पर आक्रमण होने पर अमरीका उसकी रक्षा करेगा। इन्ही तर्कों से प्रभावित होकर भारतीय ससद के अनेक सदस्यो ने यह मत व्यक्त किया था कि यदि भारत किसी महाशक्ति के सैन्य सगठन से जुडा होता तो उसे चीनी बर्बर हमले के दुर्दिन नही देखने पडते। इसी प्रकार के तर्क भारत द्वारा गुट-निरपेक्ष नीति अपनाये जाने की प्रासगिकता पर प्रश्न चिन्ह खडा कर देते है।

असल मे, गुट निरपेक्ष भारत पर किसी शत्रु देश द्वारा सैनिक आक्रमण करने से किसी नीति की असफलता नही मानी जा सकती। इस बात की भी कोई गारन्टी नही कि सैन्य संगठन में सम्मिलित होने पर प्रवर्तक महाशक्ति सुरक्षा की गारन्टी देकर उसे शत-प्रतिशत व्यवहार मे भी पूरा कर सके। भारत के पडोसी देश पाकिस्तान का ही उदाहरण लें। 1965 के भारत-पाक युद्ध के दौरान अमरीका ने उसके द्वारा प्रवर्तित 'सेन्टो' एव 'सिएटो' के सदस्य होने पर भी गुट निरपेक्ष भारत के विरुद्ध अपने गुट में बँधे पाकिस्तान को शस्त्रीय मदद भी रोक दी। गुट-निरपेक्ष नीति का अर्थ गुटबाजी मे शामिल न होकर स्वतन्त्र विदेश नीति का निर्धारण करना है। सकट की घडियो मे भी स्वतन्त्र नीति निर्माण गुट निरपेक्षता की परिचायक है।

कुछ आलोचकों का यह मानना है कि 1962 मे भारत पर चीनी हमले के कारण भारत ने दूसरे देशो से पहली बार सैनिक सहायता स्वीकार की। इससे पहले भारत अन्य देशो या महाशक्तियों से तकनीकी एव आर्थिक मदद ही लेता था, सैन्य सामग्री नही। इस कारण भारत ने गुट निरपेक्षता का रास्ता छोड दिया। वास्तव मे यह आलोचना निरर्थक एव असगत है। जैसा कि प्रो० के० पी० मिश्र ने लिखा है—'भारत द्वारा चीनी आक्रमण के समय दूसरे देशो से सैनिक सामग्री स्वीकार करने से उसकी गुट निरपेक्षता नीति मे कोई मूलभूत परिवर्तन नही हुआ, जिसके दो कारण हैं—(i) साम्यवादी चीन के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए सैन्य सामग्री की सहायता दोनो गुटो मे ली गई, (ii) गुट निरपेक्ष नीति का अर्थ कदापि यह नही है कि वह राष्ट्र अपनी सुरक्षा की उपेक्षा करे। अनेक देशो ने विगत मे विदेशो से सैनिक सहायता ली है और अब भी गुट निरपेक्ष है। युगोस्लाविया, इथियोपिया, घाना, लीबिया, अफगानिस्तान आदि के उदाहरण इस मत को पुख्ता करते हैं।'[1]

भारत पर चीनी आक्रमण का हमारी गुट निरपेक्षता पर यह सकारात्मक प्रभाव जरूर पड़ा कि पहले हम विश्व शान्ति और सुरक्षा के आदर्श की बात अधिक करते थे, परन्तु चीनी बर्बर हमले से मोह भग होने के कारण भारत ने सुरक्षा तैयारियाँ तेज कर दी। यह आदर्शवाद एव यथार्थवाद का अच्छा मिश्रण है। जब चीनी हमले के बाद अनेक आलोचकों ने भारतीय गुट-निरपेक्ष नीति की आलोचना की तो नेहरू जी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि 'यदि भारत गुट निरपेक्षता छोड देता है तो यह भयंकर नैतिक विफलता होगी।' इस प्रकार स्पष्ट है कि चीनी हमले के बावजूद भारत गुट निरपेक्ष रास्ते पर डटा रहा।

भारत-सोवियत सहयोग व मैत्री सन्धि तथा गुट निरपेक्षता
(Indo-Soviet Treaty and Non-alignment)

9 अगस्त, 1971 को भारत और सोवियत सघ के बीच की गयी मैत्री व सहयोग सन्धि को लेकर गम्भीर विवाद चलता रहा है कि इससे भारतीय गुट निरपेक्ष नीति का उल्लघन हुआ है या नही? इस विवाद का मूल्याकन करने से पहले यहाँ हम सन्धि के पूर्व भारत के समक्ष तत्कालीन बाहरी चुनौतियों का जिक्र कर देना प्रासगिक होगा। 1970 मे पूर्वी पाकिस्तान मे पाकिस्तानी सरकार (याहिया शासन) के बर्बर दमन के खिलाफ विद्रोह हुआ और स्वतन्त्र देश की माग उठी। पाकिस्तानी दमन से पीडित पूर्वी पाकिस्तान से करीब 90 लाख लोग भारत मे शरणार्थी के रूप मे आ गये। एक तरफ जहाँ भारत सरकार इन शरणार्थियों के आवास, भोजन एवं कपडों की व्यवस्था कर रही थी, वही दूसरी ओर पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध सैनिक युद्ध छेडने की जोरदार तैयारियाँ शुरू कर दी। अमरीका ने घोषणा की कि वह भारत-पाक युद्ध मे निष्क्रिय नही रहेगा और उसने चीन से घोषणा करवा दी कि वह भारत-पाक युद्ध मे भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की सहायता करेगा। इस प्रकार भारतीय सुरक्षा के समक्ष गम्भीर चुनौती उपस्थित हो गयी। ऐसी अवस्था मे भारत-सोवियत मैत्री एव सहयोग सन्धि पर हस्ताक्षर हुए।

इस सन्धि के बारे मे मुख्यत दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुई। पश्चिमी समीक्षकों ने कहा कि भारत ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करके गुट निरपेक्ष नीति का

[1] K P Misra (ed), *Studies in Indian Foreign Policy*, 104

उल्लंघन किया है। दूसरी तरफ भारतीय एवं सोवियत शासकों और विद्वानों के मत में इस सन्धि से भारतीय गुट निरपेक्ष नीति का किसी प्रकार का उल्लंघन नहीं हुआ है। उनका मानना है कि यह सन्धि भारत और सोवियत सघ के बीच बढती मैत्री व सहयोग की प्रतीक है। पहले इस सन्धि के पश्चिमी आलोचको के तर्कों का उल्लेख कर लिया जाय

सन्धि से गुट निरपेक्षता का उल्लंघन ?

(क) सन्धि का स्वरूप सैनिक है—हालाकि इस सन्धि का नाम भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि किया गया है (अर्थात् सैनिक शब्द का प्रयोग नही किया गया), परन्तु इसमे सैनिक व्यवस्थाएँ हैं। मसलन, इस सन्धि के नवें अनुच्छेद मे कहा गया है कि दोनो देशों मे से किसी पर भी अन्य देश द्वारा आक्रमण करने के दौरान वे एक-दूसरे से सम्पर्क करेंगे। अत. इस सन्धि का स्वरूप सैनिक माना जाना चाहिए।

(ख) सन्धि से भारतीय विदेश नीति की स्वतन्त्रता को ठेस पहुँची है—भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि से भारतीय विदेश नीति निर्माण मे स्वतन्त्रता को ठेस पहुँची है, क्योंकि इसमे सोवियत सघ द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप करने की गुजाइश छोड़ी गयी है। सन्धि के नवें अनुच्छेद मे दोनो मे किसी भी एक देश पर आक्रमण के दौरान सम्पर्क साधने की व्यवस्था के फलस्वरूप भारत के सोवियत सघ की दया पर निर्भर हो जाने का खतरा बना रहेगा।

(ग) सन्धि से भारत द्वारा सोवियत संघ विरोधी राष्ट्रों से सम्बन्ध सुधारने में काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी—इस सन्धि से भारत को सोवियत सघ के विरोधी राष्ट्रो (जैसे साम्यवादी चीन और अमरीका) से सम्बन्ध सुधारने में काफी कठिनाइयो का सामना करना पड सकता है। इस सन्धि ने सोवियत-विरोधी अमरीका और साम्यवादी चीन के मस्तिष्क मे अनावश्यक रूप से यह सन्देह एवं गलतफहमी पैदा कर दी कि भारत अब गुट-निरपेक्ष न रहकर सोवियत संघ की गोद मे चला गया, अर्थात् वह पश्चिम एवं चीन विरोधी है। इससे भारत को अमरीका और चीन से सम्बन्ध सुधारने में काफी कठिनाइयो का सामना करना पडा, क्योंकि उनके मस्तिष्क मे भारत की सोवियत-समर्थक छवि स्थापित हो गयी।

(घ) सन्धि से भारत का सोवियत संघ की ओर झुकाव स्पष्ट होता है—गुट निरपेक्ष नीति का अर्थ होता है—विश्व की किसी भी महाशक्ति की ओर झुकाव न हो। भारत ने सोवियत सघ के साथ मैत्री व सहयोग सन्धि पर हस्ताक्षर करके अपनी *विदेश नीति का सोवियत संघ की* तरफ झुकाव अर्थात् महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता मे भाग लेना स्वीकार कर लिया है। यह 1961 के गुट निरपेक्ष देशों के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन मे तय किये गये सिद्धान्तो के खिलाफ है।

(ङ) सन्धि के द्वारा भारत ने गुट निरपेक्ष रास्ता छोड़ अन्य गुट निरपेक्ष देशो द्वारा ऐसा करने का मार्ग प्रस्तुत किया है—भारत ने सिद्धान्ततः इस सन्धि का मैत्री व सहयोग सन्धि नाम रखा, किन्तु व्यवहार मे इसमे सैनिक व्यवस्थाएँ है। इस चाल का अन्य गुट निरपेक्ष राष्ट्र भी अनुसरण करेंगे और जब उन पर गुट निरपेक्षता के उल्लंघन का आरोप लगेगा, तब वे भारत का उदाहरण देकर कहेंगे कि हमारी भी उसके समान मैत्री व सहयोग सन्धि है, सैनिक नही। इस प्रकार गुट निरपेक्ष नीति

की विशुद्धता का पतन होगा।

सन्धि से गुट निरपेक्षता का उल्लंघन नहीं

वस्तुतः भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि द्वारा भारत ने गुट निरपेक्ष नीति के सिद्धान्तों या तत्वों का किसी भी प्रकार का उल्लंघन नहीं किया। पश्चिमी शासक भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि को जान बूझकर बदनाम करते रहे हैं। उन्हें दोनों देशों के बीच बढ़ती मैत्री एवं सहयोग पसन्द नहीं है। इस सन्धि के पक्ष में निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं—

1 **यह सैनिक नहीं, मैत्री व सहयोग सन्धि है**—भारत-सोवियत सन्धि सैनिक नहीं, बल्कि मैत्री व सहयोग सन्धि है। जैसा के० आर० नारायणन (चीन में भूतपूर्व भारतीय राजदूत) ने कहा है— यह सन्धि कोई सैनिक संगठन नहीं है, जिसमें भारत की सुरक्षा और विदेश नीतियों को सोवियत संघ के अधीन कर दिया गया है। इसके तहत रूस को भारत में सैनिक अड्डे अथवा सेनाएँ रखने का अधिकार नहीं दिया गया है। भारत को सोवियत संघ से जो शस्त्र एवं सैनिक उपकरण मिलते हैं, वह एक व्यापारिक सौदा है जिसमें प्रत्येक चीज की कीमत चुकाई जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस सन्धि के द्वारा दोनों देशों के बीच विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ाया गया है। अतः इसे सैनिक सन्धि कहकर भारत पर गुट निरपेक्ष मार्ग से हटने का आरोप लगाना बेईमानी है।

2 **सन्धि में गुट निरपेक्षता के महत्व को स्वीकार किया गया है**—स्वयं भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि के चौथे अनुच्छेद के अन्तर्गत भारतीय गुट निरपेक्ष नीति के महत्व को स्वीकार किया गया है। इसके बाद इस सन्धि की आलोचना बेतुकी ही प्रतीत होती है। इससे साफ जाहिर है कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करके भारत ने गुट निरपेक्ष नीति का किसी भी प्रकार से उल्लंघन नहीं किया है।

3 **भारत विदेश नीति निर्धारण में स्वतन्त्र है**—भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बावजूद भारत सरकार अपने देश की विदेश *नीति निर्धारण प्रक्रिया में पूर्णतः स्वतन्त्र है। इस सन्धि में कहीं यह नहीं कहा गया* है कि भारत विदेश नीति निर्धारण में सोवियत सलाह या दबाव मानने को बाध्य है। जब भारत अपने विदेश नीति निर्धारण में स्वतन्त्र है तो उस पर गुट निरपेक्ष मार्ग से हटने का आरोप लगाना बेकार है। आज तक व्यवहार में एक भी ऐसी घटना प्रकाश में नहीं आयी है, जिसमें भारत सरकार ने सोवियत दबाव को मान लिया हो।

4 **गुट निरपेक्षता साध्य नहीं, साधन है**—भारत द्वारा सोवियत संघ के साथ मैत्री व सहयोग सन्धि पर हस्ताक्षर करने पर आलोचकों ने गुट निरपेक्ष नीति का गलत अर्थ लगाकर आरोप लगाये। वस्तुतः गुट निरपेक्षता भारतीय विदेश नीति के लिए साध्य नहीं, साधन है। अर्थात् भारत ने अपनी विदेश नीति के उद्देश्यों जैसे राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा तथा आर्थिक विकास को पाने के लिए गुट निरपेक्षता को साधन के रूप में अपनाया। जैसाकि प्रो० एम० एस० राजन ने कहा है—'गुट निरपेक्षता अन्य किसी भी नीति की तरह सरकार भारत के राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने का साधन है।'[1] गुट निरपेक्षता भारतीय विदेश नीति के राष्ट्रीय

[1] एम० एस० राजन की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 80

हितों का साध्य नहीं, बल्कि साधन है।

'भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि तथा गुट निरपेक्षता' के विवाद के पक्ष तथा विपक्ष दिये गये उपरोक्त तर्कों के बाद भारत द्वारा गुट निरपेक्ष नीति का उल्लंघन करने का 'हाँ' या 'न' में जवाब देना अत्यन्त कठिन हो जाता है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि 1971 में भारत द्वारा सोवियत संघ के साथ मैत्री व सहयोग सन्धि के अन्तर्गत दोनों में से किसी भी देश पर आक्रमण की अवस्था में 'एक-दूसरे से सम्पर्क साधन' का प्रावधान रखकर भारतीय गुट निरपेक्ष नीति के इतिहास में एक अभूतपूर्व तत्व का समावेश किया। यह तत्व अनेक विद्वानों की आलोचना का शिकार बना तथा गुट निरपेक्ष आन्दोलन में भी इसको विशेष सम्मान के साथ नहीं देखा गया है।

नवीन चुनौतियाँ और भारतीय गुट निरपेक्षता

शीत युद्ध के अवसान के बाद देतांत और नए शीत युद्ध के दौर में गुट निरपेक्ष आंदोलन के समक्ष कई नवीन चुनौतियाँ और समस्याएँ खड़ी हो गईं। परमाणु ऊर्जा का शान्तिपूर्ण उपभोग, नव उपनिवेशवाद, तेल संकट, उत्तर-दक्षिण दक्षिण-दक्षिण सहयोग, आदि जैसे मसले विश्व राजनीति में हावी हो गये। भारत ने इन मसलों पर विकासशील देशों के हितों की अगुवाई की, किन्तु उसे आंशिक सफलता ही मिल पायी। भारत ने ईरान-इराक युद्ध रुकवाने के लिए सुलह प्रयास किये किन्तु कोई कामयाबी नहीं मिली। इसी प्रकार कुवैत को लेकर इराक और बहुराष्ट्रीय सेना के बीच छिड़े युद्ध को रुकवाने में भारत की भूमिका नगण्य रही।

देतांत और नए शीत युद्ध के दौर में अमरीका व सोवियत संघ के बीच टकराव टालने व सम्बन्ध-सुधार के प्रयासों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप ही बदलने लगा। पिछले कुछ वर्षों में पोलैंड, हंगरी, रूमानिया आदि में साम्यवादी शासन के खिलाफ जन-आन्दोलनों, सोवियत संघ में 'पेरेस्त्रोयिका' व 'ग्लासनोस्त' नीति के अनुसरण, जर्मनी के एकीकरण, सेन्टो व वारसा पैक्ट के विघटन आदि जैसे परिवर्तनकारी घटनाक्रमों ने गुट निरपेक्ष आन्दोलन के महत्व को कम किया। सोवियत संघ के विघटन तथा सिकुड़े हुए नए राजनीतिक ढाँचे तथा कुवैत मसले को लेकर इराक पर बहुराष्ट्रीय सेना की जीत के बाद अमरीका एकमात्र महाशक्ति के रूप में बचा है। इन नई परिस्थितियों में गुट निरपेक्ष आन्दोलन अपने मसलों को न तो सही ढंग से परिभाषित कर कोई नया अभियान चला पाया है और न ही अपनी अन्य प्राथमिकताएँ निर्धारित कर सका है। इन विकट परिस्थितियों के साथ-साथ भारत में पिछले कुछ वर्षों से जारी राजनीतिक अशान्ति-अस्थिरता ने भी गुट निरपेक्ष आन्दोलन में भारत की सक्रियता को काफी कम कर दिया। गुट निरपेक्ष आन्दोलन पहले भले ही तेजस्वी, प्रभावशाली और जुझारू रहा हो, किन्तु आज वह निष्प्राण-सा प्रतीत होता है। भारतीय गुट निरपेक्षता भी इन नए प्रभावों-घटनाक्रमों से अप्रभावित नहीं रह सकी है।

छठा अध्याय

देतांत (तनाव-शैथिल्य) एवं विश्व राजनीति

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमरीका और रूस महाशक्तियों के रूप में उभरे। इसके साथ ही विश्व में द्विध्रुवीय प्रणाली में अन्तर्गत दोनों महाशक्तियों के इर्द-गिर्द अन्य राष्ट्र जमा होने लगे। अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार एवं अधिक से अधिक देशों को अपने खेमे में बटोर लाने के लिए दोनों महाशक्तियों को सैनिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सैद्धान्तिक क्षेत्रों में एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ा होना पड़ा। टकराव की इस स्थिति को 'शीत युद्ध' की संज्ञा दी गयी। वैसे यह कहना सम्भव नहीं कि शीत युद्ध का दौर कब समाप्त हुआ, किन्तु 1960 के दशक के आरम्भ से ही दोनों महाशक्तियाँ यह अनुभव करने लगी थीं कि शीत-युद्ध दोनों के लिए यदि हानिकारक नहीं तो लाभप्रद भी नहीं था। *आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक सम्बन्धों में उन्हें* एक-दूसरे की कहीं न कहीं आवश्यकता हो ही जाती थी।

अतएव अपने सम्बन्ध सुधारने की दृष्टि से दोनों ने तनाव में लचीलापन परिलक्षित किया। इस प्रक्रिया में 'देतान' अर्थात् 'तनाव-शैथिल्य' का युग आरम्भ हुआ, जिसने अमरीका और रूस के बीच 'संवाद' की प्रक्रिया शुरू की। यह बातचीत सैनिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रश्नों के हल की दिशा में अत्यन्त उपयोगी साबित हुई और शनैः शनैः इस प्रक्रिया ने दोनों महाशक्तियों की नीतियों में स्थायी रूप प्राप्त कर लिया। इस प्रक्रिया के प्रभावस्वरूप एक ओर जहाँ दोनों की प्रतिस्पर्धा में कुछ कमी आयी, वहीं आर्थिक मुद्दों पर दोनों एक-दूसरे को सहयोग करने पर भी प्रस्तुत हो गये। कुल मिलाकर यद्यपि तनाव-शैथिल्य के बावजूद तीसरी दुनिया के देशों में कभी-कभी दोनों महाशक्तियाँ अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ी हो गयीं, किन्तु दोनों के बीच सीधे टकराव और परमाणु युद्ध की सम्भावना में अवश्य ही कमी आयी। यही 'तनाव-शैथिल्य' की वह प्रक्रिया है, जिसे 'देतान' (Detente) का नाम दिया गया।

देतान की परिभाषा
(Definition of Detente)

'देतान' एक फ्रांसीसी शब्द है। इसका अर्थ तनाव में कमी या शिथिलता है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसका व्यापक प्रयोग अमरीका और सोवियत संघ के बीच तनाव में कमी या शिथिलता, उसमें बढ़ती मित्रता तथा सहयोग में लगाया जाता है। देतान की परिभाषा के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञ एकमत नहीं है। कुछ प्रमुख विशेषज्ञों, लेखकों और जानकारों द्वारा दी गयी परिभाषाएँ निम्नांकित है

अमरीका के भूतपूर्व विदेश मन्त्री हेनरी किसिंजर के अनुसार 'परमाणु युग मे सैनिक शक्ति और राजनीतिक दृष्टि से व्यावहारिक शक्ति में जो असंगति है वह देतात है।'[1] अर्थात् उन्होंने देतांत को पारस्परिक परमाणविक सर्वनाश के आतंक से मुक्ति के रूप मे अभिव्यक्त किया है।

जार्जी ऐराबाटोव के अनुसार 'देतात से अभिप्राय है—अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियो एव वास्तविकताओ मे समझौता।'[2]

ए० पी० राणा के अनुसार 'यदि देतात की व्याख्या महाशक्तियो के व्यवहार के केवल सहयोगी स्वरूप के अर्थ में की जाये तो वह वर्तमान वास्तविकता का मिथ्या वर्णन होगा, उसका प्रतिबिम्ब या स्पष्टीकरण नही।'[3]

देतात की परिभाषा एवं अर्थ के बारे मे विद्वानो मे इसी असमजस की स्थिति को व्यक्त करते हुए इलिम ब्जोल ने लिखा है कि 'कभी-कभी इसे नीति के रूप मे तथा किसी अन्य समय इसका प्रयोग पूर्व तथा पश्चिम मे कम तनाव वाले सम्बन्धो के रूप मे विवेचन करने में प्रयोग किया गया। कभी-कभी क्यूबाई मिसाइल सकट को सोवियत नीति मे निर्णायक मोड माना जाता है, जिसने आंशिक परमाणु परीक्षण रोक सन्धि तथा परमाणु प्रसार रोक सन्धि (Non Proliferation Treaty) का मार्ग प्रशस्त किया। कभी-कभी ख्रुश्चेव के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त से देतात का काल निर्धारित किया जाता है।'

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे रुचि रखने वाले विद्वानो, विशेषज्ञो एव लेखको की तो विसात ही क्या, स्वय देतात के जनको मे इसकी परिभाषा और अर्थ के बारे में मतभेद हैं। मसलन 28 दिसम्बर, 1973 को अमरीका के तत्कालीन विदेश मन्त्री हैनरी किसिंजर ने एक पत्रकार सम्मेलन मे कहा कि 'हम नही कहते है कि देतात घरेलू व्यवस्थाओं की अनुकूलता पर आधारित है। हमारी मान्यता है कि सोवियत संघ तथा चीन के मूल्य एवं विचारधाराएँ विरोधी तथा कभी-कभी हमसे शत्रुतापूर्ण हैं। हम नही कहते कि हमारे राष्ट्रीय हित एक-दूसरे के विरोधी नही हैं। परन्तु हम यह जरूर कहेंगे कि यह पूर्वकाल की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण मे एक मूलभूत परिवर्तन है।' किसिंजर आगे कहते है कि 'आचरण के नियम तथा आपसी हितो के सम्बन्ध की स्थापना के लिए एक जाग्रत प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त अधिकारियों के हरेक स्तर पर सचार-सम्बन्ध है, जो संकट की घड़ियों मे सम्भावित दुर्घटना या भूल-चूक को कम करता है।' अमरीका देतात के बारे में इसी दृष्टिकोण से सोचता है।

दूसरी तरफ सोवियत सघ द्वारा देतांत के बारे मे कही गयी बातो को लिया जाये। सोवियत संघ में देतात शब्द को 'मिरनाई सोसुशेस्ट वोवानी' अर्थात् 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है। सोवियत क्रान्ति के जनक लेनिन ने भी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की परिकल्पना की थी। सोवियत विदेश नीति निर्धारक देतात को इसी सिद्धान्त से जोड़ते हैं और उसे आगे बढाते है।

[1] Kissinger sees the raison d'etre of detente in the discrepancy that obtains, in the nuclear age, between military Strength and politically usable Power.

[2] Georgy Arabatov describes detente as accomodation to the new realities of the international situations.

[3] A. P. Rana, *Detente and Non-alignment*, 192.

सितम्बर, 1973 मे तत्कालीन सोवियत नेता ब्रेझनेव ने घोषणा की कि 'दो देशों मे बढता तनाव-शैथिल्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की एक नई व्यवस्था नियत करता है, जो कि सम्प्रभुता एव आन्तरिक मामलो मे अहस्तक्षेप के सिद्धान्तो का ईमानदारी और *निरन्तरता के साथ पालन करने तथा सन्धि समझौते के बिना किसी धोखे और* अस्पष्ट पैंतरेबाजी के दृढतापूर्वक क्रियान्वयन पर आधारित है।'[1] 1973 के अन्त मे उन्होने कहा—'हम सब अपनी नीति के नवीन उद्देश्यो एव नवीन दिशा निर्देशो की अवधारणा के लिए कार्यरत है। इस दिशा में आगे बढते हुए हमारे प्रमुख ध्येय शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के अत्यावश्यक नियम के रूप मे अधिक प्रभावशाली ढग से प्राप्त कर सकते है।'[2]

देतात की परिभाषा, अर्थ एव उद्देश्यो के बारे मे अमरीका तथा सोवियत सघ के जिम्मेदार व्यक्तियो के उपरोक्त विचारो से स्पष्ट है कि वे इस बारे मे पूर्णत एकमत नही है। देतात के बारे मे सोवियत दृष्टिकोण तनाव मे कमी से ज्यादा एव विशुद्ध शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का है। वह इसे कानूनी जामा भी पहनाना चाहता है, *जबकि अमरीका का चिन्तन ऐसा नही। वह इसे सकट के समय स्तर को कम* करने वाला बनाता है। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म किसी भी अवधारणा के बारे मे प्राय मतभेद रहता है। इस कारण यहाँ इसकी निश्चित परिभाषा, अर्थ एव उद्देश्यो का विस्तार से उल्लेख कर विषय को अनावश्यक तूल देना उचित नही। प्रोफेसर एम० एस० अगवानी ने देतात का परिचय देते हुए जो कुछ कहा है, वह काफी हद तक इस अवधारणा के अर्थ एव परिभाषा के प्रति न्याय करता है। उन्ही के शब्दो मे '1960 के बाद महाशक्तियो के सम्बन्ध एक ही दिशा मे बहने लगे हैं। समय की गति के साथ-साथ शीत-युद्ध के नकारात्मक रवैये और स्थितियाँ दोनो पक्षो मे आपसी बातचीत, समायोजन तथा सह-अस्तित्व की ओर उन्मुख होने लगे। दोनो मे वैचारिक मतभेद आज भी बने हुए हैं, किन्तु वे अब राजनीतिक और आर्थिक *अन्तर्क्रिया मे बाधा पैदा नही करते। यद्यपि शस्त्रो की होड पूर्णतया समाप्त नही हुई* है तथापि यह खेल प्रतिबद्ध सयम के साथ खेला जाने लगा है। सैनिक गठबन्धनो का अन्त नही हुआ, तथापि उन्होंने अपनी मौलिक छाप एव एकरूपता खो दिये है। इसके अतिरिक्त परमाणु विनाश का दुस्वप्न दुनिया को पहले जितना अधिक नही सताता है। अमरीका-सोवियत सम्बन्ध मे इस गतिशील परिवर्तन को 'देतात' का नाम दिया गया है।'[3]

[1] L. I Breznev, *Our Course - Peace and Socialism* (Moscow, 1974) 20

[2] L. I Breznev, *On the Foreign Policy of the CPSU and the Soviet State* (Moscow, 1973), 554

[3] Super power relationship has been in a state of flux since the sixties *Over the years the negative attitudes and postures of the cold war* have gradually yielded place to a new found willingness of both sides to talk, to accommodate and to co exist The ideological differences persist, but they no longer obstruct political and economic intercourse The arms race is not eliminated altogether, but the game is played with contractual restraint The military alliances have not exactly disappeared into thin air, but they have lost much of their original punch and cohesion Above all the nightmare of nuclear holocaust no longer torments the world as much as before This outgoing change in the relations between the Soviet Union and the United States has been given the name of detente

देतांत की प्रमुख विशेषताएँ
(Salient Characteristics of Detente)

देतात की किसी निश्चित परिभाषा, अर्थ एवं उद्देश्य के अभाव में यही उचित होगा कि हम इसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर लें ताकि इसके अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं के बारे में बहस आगे बढायी जा सके। देतात की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं :

(अ) देतात एक प्रक्रिया है;

(ब) देतात-प्रक्रिया के अन्तर्गत दो देशों के बीच तनाव को कम किया जाता है,

(स) देतात के द्वारा तनाव में कमी की प्रक्रिया का यहाँ विशेष रूप से उल्लेख विश्व की दो महाशक्तियों अर्थात् अमरीका और सोवियत संघ के बीच तनाव में कमी के सन्दर्भ में किया गया है,

(द) देतात प्रक्रिया के अन्तर्गत महाशक्तियाँ शीत युद्ध के तनाव में कमी विभिन्न क्षेत्रों (जैसे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक प्रौद्योगिकी, विज्ञान आदि) में सहयोग द्वारा करती हैं, और

(र) देतात का अर्थ कदापि यह नहीं कि महाशक्तियों के वैचारिक या अन्य प्रकार के मतभेद समाप्त हो गये है। देतात की विशेषता यह है कि दोनों के बीच वैचारिक मतभेद या शक्ति-संघर्ष की प्रतियोगिता के बावजूद उनमें विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग अधिक बाधा उपस्थित नहीं होने देता।

देतांत के कारण
(Causes of Detente)

अमरीका और सोवियत संघ के बीच देतांत प्रक्रिया अर्थात् तनाव में शिथिलता आने के अनेक कारण जिम्मेदार रहे। प्रोफेसर एम० एस० राजन का मानना है कि "शीत युद्ध के अवसान एवं देतात के उदय के पीछे वास्तविक व्याख्या तथा औचित्य सक्षेप में दो आधारों में निहित है—(1) महाशक्तियों के आपसी हित एवं (2) उनकी जनता की आकांक्षाओं की अनुभूति। दोनों महाशक्तियों के तनाव-शैथिल्य के इन्ही दोनों आधारों में अनेक कारण कुरेदे जा सकते है, जो निम्न हैं :

(1) परमाणु बराबरी-जनित आतंक का सन्तुलन—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनेक वर्षों तक अमरीका का 'परमाणु एकाधिकार' रहा। हालांकि 1954 में रूस ने सफलतापूर्वक परमाणु विस्फोट कर दिया था, किन्तु इस क्षेत्र में पर्याप्त आविष्कार एवं शोध कार्य के अभाव में वह अमरीका के मुकाबले कम ही परमाणु शस्त्रों का निर्माण कर पाया। 1962 में क्यूबा सकट के दौरान अमरीका और रूस परमाणु क्षेत्र में लगभग बराबरी के हो गये। तत्पश्चात दोनों महाशक्तियों को यह भय सताने लगा कि यदि शीत युद्ध वास्तविक युद्ध के रूप में परिणत हो गया तो दोनों इसके हानिकारक प्रभाव से नहीं बचेंगे। यह महसूस करते हुए 1972 में 'साल्ट-एक' समझौते के अन्तर्गत अमरीका तथा रूस ने प्रक्षेपास्त्रों और विस्फोट-शीर्षों (Warheads) में बराबरी का सिद्धान्त स्वीकार किया। 1974 में निक्सन-ब्रेझनेव समझौते के अन्तर्गत दोनों ने अपने लिए एक-एक प्रक्षेपास्त्र-भेदी व्यवस्था (Anti-ballistic

Missile System) तय की। इस प्रकार अमरीका और सोवियत संघ के बीच परमाणु बराबरी ने उनमें आतंक का संतुलन पैदा किया। इसने देतान्त का मार्ग प्रशस्त किया।

(2) स्टालिनोत्तर रूस की शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति—पहले सोवियत संघ ने इस विचारधारा का प्रतिपादन किया था कि पूँजीवादी और साम्यवादी खेमों में किसी प्रकार का सहयोग स्थापित नहीं किया जा सकता। दोनों के बीच युद्ध अवश्यम्भावी है। सोवियत शासक स्टालिन अपने राजनीतिक पतन तक यह नीति अपनाते रहे। किन्तु इसके बाद शासन की बागडोर सम्भालने वाले शासक अपने रुख में नरमी लाये। 1956 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में ख्रुश्चेव ने स्टालिन की खुली आलोचना की तथा युद्ध की अनिवार्यता के स्थान पर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की घोषणा की। ख्रुश्चेव के बाद ब्रेझनेव ने भी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त अपनाने की घोषणा की। इस प्रकार शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त देतान्त का कारण बना।

(3) संयुक्त राष्ट्र संघ में तीसरी दुनिया के देशों द्वारा महाशक्तियों के विरुद्ध एकजुट होना—जब 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ बना, तब उसमें 51 सदस्य राष्ट्र थे। इनमें से अधिकांश पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के विकसित देश थे। शीत युद्ध के दौरान दोनों खेमों ने तीसरी दुनिया के गरीब देशों को अनेक लालच देकर अपनी तरफ रखा। किन्तु यह स्थिति धीरे-धीरे बदलने लगी और तीसरी दुनिया के राष्ट्रों ने आपसी सहयोग के द्वारा एकजुट होना शुरू किया। अनेक उपनिवेश औपनिवेशिक शक्तियों के चंगुल से मुक्त होकर स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में आये। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश किया। आज संयुक्त राष्ट्र संघ के करीब 159 देश सदस्य हैं जिनमें गरीब देशों की संख्या दो-तिहाई है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में हिन्द महासागर को 'शान्ति क्षेत्र बनाने', नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना, समुद्री कानून सम्मेलनों में प्राकृतिक सम्पदा के समान दोहन आदि के मामलों में रखे गये प्रस्तावों पर तीसरी दुनिया के राष्ट्रों द्वारा एकजुट होकर मतदान करने से दोनों महाशक्तियाँ चौंकीं। उन्होंने महसूस किया कि संयुक्त राष्ट्र संघ में अनेक मामलों पर दोनों महाशक्तियों के हित एक समान हैं और तीसरी दुनिया उनके खिलाफ। इसने अमरीका और रूस के बीच देतान्त प्रक्रिया तेज की ताकि वे अन्य विकसित देशों को अपने साथ लेकर इस विश्व संगठन में तीसरी दुनिया से मुकाबला कर सकें।

(4) शस्त्रीकरण पर अपार खर्च—शीत युद्ध के दौरान रूस और अमरीका दोनों ने एक-दूसरे के विरुद्ध सुरक्षा और श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए नये-नये हथियारों का आविष्कार कर उनका बड़े पैमाने पर उत्पादन आरम्भ कर दिया। दोनों शस्त्रीकरण की होड़ में जुट गये। फलस्वरूप शस्त्रीकरण के बोझ से उनकी अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। मार्च, 1971 में अमरीका में हुए एक गैलोप पोल (एक प्रकार की रायशुमारी) के अनुसार 49% अमरीकियों का मानना था कि उनके देश का प्रतिरक्षा खर्च ज्यादा है। केवल 11 प्रतिशत लोगों ने सोचा कि यह बहुत कम है। 55 प्रतिशत कालेज में शिक्षा पाने वालों तथा 55 प्रतिशत मध्यवर्गीय आय वालों का मानना था कि प्रतिरक्षा खर्च अत्यधिक ज्यादा है। उन्होंने महसूस किया कि शस्त्रीकरण का यह अपार खर्च निरर्थक है। उनका कहना था कि शस्त्रीकरण रोककर यह खर्च अमरीकियों का जीवन स्तर बहतर बनाने के लिए

किया जाये। परिणामस्वरूप दोनो महाशक्तियों के बीच दो साल्ट समझौते हुए। इस प्रकार अमरीका और सोवियत संघ द्वारा सामरिक हथियारों के निर्माण की अन्धी प्रतियोगिता रोकने की आपसी इच्छा ने इनमे देतांत का मार्ग प्रशस्त किया।

(5) आर्थिक सहायता की निरर्थकता महसूस करना—शीत युद्ध के दौरान अमरीका और रूस तीसरी दुनिया के देशों को आर्थिक सहायता का लालच देकर अपने-अपने खेमे की ओर आकर्षित करने लगे थे। मदद प्राप्तकर्ता देशों ने भी महाशक्तियों की महत्वकांक्षाओं का लाभ उठाने मे कोई कसर बाकी नही रखी। उन्होंने ज्यादा से ज्यादा आर्थिक सहायता की मांग की। ऐसे मे अमरीका और रूस ने महसूस किया कि उनके द्वारा गरीब देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता का प्राप्तकर्ता देश गलत ढंग से फायदा उठा रहे हैं तथा यह उनकी अर्थव्यवस्था पर बोझ के रूप मे साबित हो रही है तो वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दोनों को खामख्वाह टकराने की क्या जरूरत है ?

(6) सैनिक गुटबाजी की निरर्थकता का अहसास—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका और रूस ने क्रमश: पूंजीवादी तथा साम्यवादी खेमे के नेतृत्व की बागडोर सम्भाली थी। दोनो ने अन्य देशों को अपने खेमे मे शामिल होने का निमन्त्रण दिया। उन्होंने अनेक प्रादेशिक एवं सैनिक संगठनों जैसे 'नाटो', 'सिएटो', 'सेन्टो' तथा 'वारसा पैक्ट' को प्रवर्तित कर अन्य देशों को विशाल सैनिक एवं आर्थिक मदद दी। ये संगठन कुछ दिनों तक तो ठीक चले। उनके सदस्य-राष्ट्र महाशक्तियों के 'आदेशों' का पूर्णतया पालन करते रहे, किन्तु बाद मे उन्होंने आंख मूंदकर आदेश पालन करने से इन्कार कर दिया। मसलन, पश्चिमी जर्मनी के शासक विली ब्राट ने अमरीका की इच्छा के खिलाफ पूर्व तथा पश्चिम यूरोप के देशों मे सहयोग की धारणा का प्रतिपादन किया। फ्रांस के शासक देगोल ने भी समस्त यूरोपीय देशों मे सहयोग पर बल दिया। दूसरी तरफ सोवियत संघ की इच्छा के खिलाफ रूमानिया ने रूस-प्रवर्तित वारसा पैक्ट का सैनिक बजट बढाने का विरोध किया। अमरीका द्वारा प्रवर्तित सिएटो एवं सेन्टो संगठन समाप्त हो गये, क्योंकि उनमें सम्मिलित देशों ने अपनी सदस्यता त्याग दी। फलस्वरूप दोनों महाशक्तियों ने सैनिक गुटबन्दी की निरर्थकता एवं प्रभावहीनता महसूस की तथा वे एक-दूसरे के बीच सहयोग की ओर अग्रसर हुई।

(7) सैनिक शक्ति की विफलता महसूस करना—शीत युद्ध के दौरान अमरीका और रूस ने विश्व के अन्य देशों मे अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र जमाने के दृष्टिकोण से सैनिक अड्डे स्थापित करने आरम्भ किये। अमरीका ने फिलीपीन्स, थाईलैंड आदि मे तथा सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों मे ऐसा ही किया। कुछ वर्षों बाद जिन देशों मे उनके सैनिक अड्डे थे, उन्होंने उसका विरोध शुरू किया। दोनो महाशक्तियों ने अनेक देशों मे सैनिक हस्तक्षेप भी किया जो उनके लिए काफी महँगा साबित हुआ। सोवियत संघ द्वारा 1956 मे हंगरी तथा 1968 मे चेकोस्लोवाकिया मे हस्तक्षेप करने पर अन्य देशों मे उसकी काफी बदनामी हुई। अमरीका ने वियतनाम में अपने आपको काफी लम्बे समय तक सैनिक रूप से उलझाये रखा। इससे अनेक देशों में उसकी छवि बिगड़ी। इससे दोनों महाशक्तियों ने महसूस किया कि अकेले सैनिक शक्ति के बलबूते पर अन्य राष्ट्रों को ज्यादा समय तक पकड़ मे नहीं रखा जा सकता। उन्होंने एक-दूसरे के विरुद्ध ऐसा करने के बजाय आपसी सम्बन्ध सुधार

को बेहतर माना। इससे उनमें देतांत सम्बन्धों की खिड़की खुली।

(8) **पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के बीच सहयोग**—आरम्भ में तो पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के देश क्रमश सोवियत संघ तथा अमरीकी खेमों में सम्मिलित हुए, किन्तु कुछ वर्षों बाद पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों के बीच द्विपक्षीय और बहुपक्षीय सहयोग आरम्भ करने की बहस उठी। 1959 में फ्रांस के शासक चार्ल्स देगोल ने पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोपीय देशों में आपसी सहयोग का विचार प्रतिपादित किया। उन्होंने एक व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त यूरोपीय राष्ट्रों में मेल-मिलाप और एकीकरण पर बल दिया। यूरोप के अनेक राष्ट्रों ने इस धारणा के प्रति उत्सुकता जाहिर की। उसके बाद पश्चिमी जर्मनी के विली ब्राट की 'ओस्त राजनीति' ही पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोपीय देशों में आपसी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करने के लिए जिम्मेदार थी। 1970 से 1973 के बीच पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य सहयोग से सम्बन्धित अनेक समझौते हुए। 1971 में पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच किया गया बर्लिन समझौता इसी सहयोग भरे वातावरण का परिणाम था। दूसरी तरफ जैसा कि सियोम ब्राउन ने कहा है कि अमरीका और रूस यूरोप के पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों में यथास्थिति कायम रखना चाहते थे। सोवियत संघ पूर्वी यूरोप तथा अमरीका पश्चिमी यूरोप के देशों में अपना दबाव एवं अप्रत्यक्ष नियन्त्रण ज्यों का त्यों बरकरार रखना चाहते थे। यह दोनों महाशक्तियों के बीच आपसी समझ एवं सहयोग से ही सम्भव हो सकता था। अतएव पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोपीय देशों में आपसी सहयोग प्रारम्भ होने से पहले ही दोनों महाशक्तियाँ चिन्तित होने लगीं। इस कारण वे यूरोप में अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में यथास्थिति कायम रखने के बारे में सहमत हो गईं। इसी सहमति ने दोनों के बीच देतांत की प्रक्रिया को विकसित किया।

(9) **सोवियत संघ की कृषि-उत्पादन में असफलता**—यों तो सोवियत संघ अमरीका के मुकाबले की महाशक्ति है किन्तु उसे अमरीका के समान कृषि-उत्पादन क्षेत्र में सफलता हासिल नहीं हो सकी। सोवियत संघ में खाद्यान्नों की पैदावार में गिरावट तथा उनकी माँग में वृद्धि के कारण उसे अनाज खरीदने की जरूरत पड़ी। अनाज की विशाल मात्रा में आवश्यकता को पूरा करने में विश्व में अमरीका सबसे ज्यादा समर्थ था। यह महसूस करते हुए सोवियत संघ ने अमरीका की तरफ सहयोग का हाथ बढ़ाकर देतांत नीति अपनानी आरम्भ की। सोवियत संघ ने देश की आन्तरिक समस्या पहले सुलझाने को प्राथमिकता दी।

(10) **सोवियत संघ को पश्चिमी प्रौद्योगिकी की आवश्यकता**—विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के इस आधुनिक युग में अमरीका और सोवियत संघ दोनों ने अपने चरण अबाध गति से बढ़ाये हैं। पर अनेक क्षेत्रों में विशेषकर परिष्कृत प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सोवियत संघ अमरीका से पीछे है। सोवियत संघ ने अमरीका से परिष्कृत प्रौद्योगिकी पाने के लालच में देतांत नीति अपनायी।

(11) **संयुक्त राष्ट्र संघ की महत्वपूर्ण भूमिका**—महाशक्तियों को नजदीक लाने में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शीत युद्ध के दौरान विश्व में कई अनेक संकट उठे, जिसमें युद्ध कभी भी भड़क सकता था। किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने शान्ति प्रयासों द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संकटों को तीसरे महायुद्ध का रूप धारण करने से बचा लिया। तीसरे महायुद्ध का अर्थ होना

सोवियत संघ और अमरीका के बीच सैनिक टकराव, अर्थात् महाविनाश। जब दोनों के बीच प्रत्यक्ष टकराव को संयुक्त राष्ट्र संघ ने टाल दिया तो उन्हें आपसी मेल-मुलाकात का मौका मिल गया।

(12) **सोवियत-चीन विवाद का उग्र होना**—शीत युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में चीन सोवियत खेमे में था। किन्तु धीरे-धीरे उनके बीच वैचारिक एवं सीमा मतभेद पैदा हो गये। इन मतभेदों ने दोनों पुराने सहयोगी देशों को आमने-सामने खड़ा कर दिया। उनमें मतभेद इस हद तक बढ़ने लगे कि अनेक पर्यवेक्षक भावी महायुद्ध रूस और अमरीका के बीच न होकर साम्यवादी शक्तियों में होने की सम्भावनाएँ प्रकट करने लगे। सोवियत-चीन तनाव का अमरीका ने फायदा उठाया। उसने सोवियत संघ के दुश्मन चीन के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ा दिया। इससे सोवियत संघ चिन्तित हुआ और उसने अमरीका से टकराव की हठधर्मिता छोड़कर देतांत की नीति अपनायी।

(13) **मध्य-पूर्व में प्रत्यक्ष संघर्ष टालना**—सोवियत संघ ने मध्य-पूर्व के क्षेत्र में पहले मिस्र तथा बाद में सीरिया और इराक में प्रभाव-क्षेत्र कायम करना आरम्भ किया। अमरीका का इस क्षेत्र के अन्य देशों में पहले से प्रभाव था। सोवियत संघ ने अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए अमरीका-समर्थित इजराईल द्वारा 'ताकत' के बलबूते पर हड़पी भूमि को अरब देशों को वापस दिलाने के लिए नैतिक एवं भौतिक समर्थन देना आरम्भ किया। अमरीका इससे चिन्तित हुआ, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि मध्य-पूर्व जैसे सामरिक स्थिति एवं तेल जैसी महत्त्वपूर्ण सम्पदा वाले इस क्षेत्र में उसकी प्रतिस्पर्धी महाशक्ति सोवियत संघ घुसपैठ कर उसके स्थूल राष्ट्रीय हितों के लिए गम्भीर चुनौती उपस्थित कर दे। फलस्वरूप अमरीका ने अरब-इजराईल विवाद सुलझाने के प्रयास आरम्भ किए। इसकी ठोस शुरुआत अमरीकी विदेश मन्त्री हेनरी किसिंजर की 'शटल डिप्लोमेसी' (Shuttle Diplomacy) अर्थात् मध्य-पूर्व के एक देश से दूसरे देश की राजधानियों की यात्रा कर इस विवाद को सुलझाने के प्रयास द्वारा हुई। बाद में 1979 में अमरीकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने पहल कर मिस्र एवं इजराईल के बीच कैम्प डेविड समझौता करवाया। हालाँकि सोवियत संघ ने इस प्रयत्न को अरब देशों के लिए आत्मघाती बताया किन्तु इससे अरब-इजराईल विवाद की आग जरूर कम हुई। इन सबका परिणाम यह हुआ कि मध्य-पूर्व में महाशक्तियों का प्रत्यक्ष संघर्ष टालने में अमरीकी प्रयास काफी सीमा तक सफल रहा। इससे देतांत को बल मिला।

(14) **महाशक्तियों के तत्कालीन शासकों के व्यक्तित्व की भूमिका**—देतांत प्रक्रिया तेज करने में अमरीका और रूस के तत्कालीन शासकों के व्यक्तित्व का भारी योगदान रहा। अमरीका में कैनेडी, निक्सन, फोर्ड व कार्टर और सोवियत संघ में बुल्गानिन, ख्रुश्चेव एवं ब्रेझनेव अपने देश के विगत शासकों की तरह कट्टरपंथी न होकर अपेक्षाकृत अधिक दूरदर्शी, व्यावहारिक एवं उदारवादी थे। उन्हीं की उदार विश्व दृष्टि से दोनों महाशक्तियों में देतांत सम्बन्ध कायम हुए।

(15) **चीन का नए शक्ति केन्द्र के रूप में उदय**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका और रूस विश्व महाशक्ति के रूप में उभरे। सम्पूर्ण विश्व राजनीति इन दोनों ध्रुवों के इर्द-गिर्द घूमने लगी। लेकिन 1960 के बाद चीन बड़ी शक्ति के रूप में उभरने लगा। 1970 के बाद तो चीन महाशक्ति के रूप में ही दादागिरी करने

लगा। 1972 मे अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन तथा विदेश मन्त्री हेनरी किसिंजर ने स्वीकार किया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे चीन नए शक्ति पुंज के रूप मे उभरा है। सोवियत संघ द्वारा चीन की शक्ति को रोकने के बारे में टिप्पणी करते हुए एडम बी० उलाम ने लिखा है कि 'सोवियत संघ द्वारा देतान नीति अपनाने का मूल कारण तथा प्रयोजन वाशिंगटन और पीकिंग के बीच अत्यधिक निकटस्थता को रोकना था।'[1] दोनों महाशक्तियाँ भी नही चाहती थी कि चीन विश्व राजनीति मे अहम भूमिका अदा करे। अतएव चीन का प्रभाव कम करने के लिए दोनो एकमत होकर निकटस्थ साथी हो गए।

(16) **गुट निरपेक्ष देशो का अभ्युदय**—गुट-निरपेक्ष नीति का उदय शीत युद्ध के प्रति एक तीव्र प्रतिक्रिया थी। अमरीका और रूस विश्व के अन्य भागो मे शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त के जरिये अन्य राष्ट्रों मे अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र जमाकर उन्हें अपनी विदेश नीति के मोहरो के रूप मे प्रयोग कर रहे थे, जबकि गुट-निरपेक्ष देश किसी भी महाशक्ति के खेमे म शामिल नही होना चाहते थे। वे उनके शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के लिए खतरनाक मानते थे। जब महाशक्तियो ने पाया कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन मे एक के बाद दूसरा राष्ट्र सम्मिलित होता जा रहा है और उनकी खेमेबाजी दुर्बल पडती जा रही है तो उन्होंने आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना की शुरुआत की। अतएव गुट-निरपेक्ष देशो द्वारा अमरीका और सोवियत संघ के गुटो के बहिष्कार से शीत युद्ध मे कमी आयी और महाशक्तियो मे तनाव कम होना आरम्भ हो गया, क्योकि अब उनके संघर्ष क्षेत्र भी कम होने लगे। इसम उनमे देतान प्रक्रिया आरम्भ हुई।

(17) **बडी शक्तियाँ बनाम तीसरी दुनिया**—शीत युद्ध के दौरान रूस और अमरीका एक-दूसरे से टकराते रहे, किन्तु 1965 के बाद धीरे-धीरे विश्व की बडी शक्तियों तथा एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीकी देशो के बीच मतभेद के अनेक मुद्दे उभरने लगे। विशेषकर 'अंकटाड' एवं समुद्री कानून सम्मेलनो मे बडी शक्तियों के खिलाफ व्यापारिक रियायतो पर गरीब मुल्कों ने अपनी एकता का जोरदार प्रदर्शन किया। इससे स्पष्ट है कि महाशक्तियों के कुछ हित समान थे तथा तीसरी दुनिया के देश उनके खिलाफ थे। इसमे महाशक्तियाँ एक-दूसरे म निकट आयी और उनमे देतान्त का मार्ग प्रशस्त हुआ।

देतान-प्रक्रिया के विकास के विभिन्न चरण
(Various Stages of Detente)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानो मे देतात प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय-काल को लेकर मतभेद हैं। अनेक लोगो का मानना है कि उसकी शुरुआत शीत युद्ध के साथ ही हुई और जब शीत युद्ध मे शिथिलता आने लगी तो यह प्रक्रिया तेजी से आगे बढने लगी। कुछ विद्वानो का मत है कि देतात का आरम्भ अमरीका म कैनेडी और सोवियत संघ मे ख्रुश्चेव द्वारा शासन की बागडोर सम्भालने के साथ हुआ जबकि अनेक राजनीतिक पर्यवेक्षको का मत है कि इसका आरम्भ अमरीका

[1] Adam B Ulam, *Detente under the Soviet Eyes* (*Foreign Policy*, New York, Fall, 1976), 4-6

में निक्सन तथा सोवियत संघ में ब्रेझनेव के शासन काल के दौरान हुआ। देतांत के उद्भव के समय-काल के बारे में विद्वानों में विभिन्न प्रकार के मतभेदों के पचड़े में न पड़कर यह उचित होगा कि अमरीका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध के दौरान से 1979 तक जो सम्बन्ध सुधार हुआ, उस काल की प्रमुख घटनाओं को विभिन्न चरणों में रेखांकित कर दिया जाये। देतांत प्रक्रिया के विभिन्न चरण अधोलिखित हैं—

प्रथम चरण (1953 से 1955)—शीत युद्ध के आरम्भिक वर्षों में दोनों महाशक्तियों के बीच देतांत सम्बन्धों की स्थापना सम्भव नहीं थी, क्योंकि एक तरफ अमरीका ने अन्य देशों में साम्यवादी भूत या रूसी भालू का हौवा खड़ा कर सोवियत संघ को बदनाम करने के अनेक प्रयत्न किये, वहीं दूसरी ओर सोवियत संघ ने पूँजीवादी और साम्राज्यवादी शोषण की बात उठाकर अमरीका की छवि खराब करने की कोशिश की। इस काल में दोनों महाशक्तियों के बीच अनेक क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा का वातावरण बना रहा, जिसमें 1949 में कोरिया संकट को लेकर दोनों में आपसी खींचातानी का उदाहरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

लेकिन 1953 के आरम्भ में कुछ ऐसे संकेत दिखाई दिये, जिन्हें महाशक्तियों के बीच 'आंशिक सहयोग' की संज्ञा दी जा सकती है। इनके प्रमुख संकेत निम्नांकित हैं—

(अ) 1953 में कोरिया युद्ध की समाप्ति की घोषणा हुई;

(ब) 1955 में आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि सम्पन्न हुई, और

(स) 1955 में 'पैकेज डील' समझौता किया गया। इस समझौते के परिणाम-स्वरूप 16 राष्ट्रों (4 पश्चिमी राज्यों के समर्थक राष्ट्रों, 4 सोवियत संघ के समर्थक राष्ट्रों, तथा 8 गुट निरपेक्ष राष्ट्रों) को एक साथ संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यता हासिल हुई। ये घटनाएँ दोनों महाशक्तियों के बीच आंशिक सहयोग एवं विश्वास का परिणाम थीं। इस आंशिक सहयोग को सम्भव बनाने में एक ओर स्टालिन की मृत्यु और सोवियत व्यवस्था में जड़ता की समाप्ति ने योगदान दिया तो दूसरी ओर इस प्रक्रिया को गुट निरपेक्ष देशों के रचनात्मक क्रियाकलापों जैसे 1955 का बाडुंग शिखर सम्मेलन तथा अप्रैल, 1954 का पंचशील समझौता आदि ने पुष्ट किया। सम्भवतः इन दोनों घटनाओं ने दोनों खेमों को महसूस करवा दिया कि उनके आपसी सम्बन्धों में देतांत लाभदायक है।

द्वितीय चरण (1956 से 1962)—इस बीच अमरीका और सोवियत संघ में तनावपूर्ण सम्बन्ध जारी रहे। मसलन 1 मई, 1960 को यू-2 विमान काड और 1962 में क्यूबा संकट ने दोनों महाशक्तियों को सैनिक टकराव के कगार पर खड़ा कर दिया। किन्तु इसकी परिणति वास्तविक युद्ध में नहीं हुई, क्योंकि दोनों परमाणु बराबरी के आपसी भय तथा अनेक कारणों से अपने को महायुद्ध की आग में झोंककर नष्ट करने से डरते थे। इस प्रकार दोनों ने शान्ति प्रयास आरम्भ किये, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं—

(अ) 1959 में सोवियत शासक ख्रुश्चेव ने अमरीका-यात्रा की, और

(ब) इस यात्रा के परिणामस्वरूप मई, 1960 में फ्रांस की राजधानी पेरिस में शिखर सम्मेलन हुआ अर्थात् अमरीका और सोवियत संघ के शासनाध्यक्षों की मुलाकात सम्भव हो सकी।

तृतीय चरण (1963–1969)—इस बीच अमरीका और रूस के बीच आपसी प्रतिद्वन्द्विता चलती रही। इसके बावजूद उन्होंने शान्ति एवं मैत्री प्रयासों द्वारा एक-दूसरे के निकट आने के लिए अनेक कदम उठाये। प्रमुख कदम इस प्रकार हैं—

(अ) 1963 में अमरीका और सोवियत संघ की राजधानियों क्रमश: वाशिंगटन और मास्को के बीच 'हॉट लाइन' स्थापित की गयी, ताकि दोनों देशों के शासनाध्यक्ष संकटकालीन परिस्थितियों को विनाशकारी युद्ध में बदलने से रोकने के लिए तत्काल टेलीफोन खड़खड़ा सकें।

(ब) 1963 में दोनों महाशक्तियों के बीच निशस्त्रीकरण अर्थात् घातक परमाणु हथियारों के उत्पादन को कम करने के लिए एक 'आंशिक परमाणु परीक्षण रोक सन्धि' हुई।

(स) 1968 में एक बार पुन: निशस्त्रीकरण प्रयास के रूप में दोनों देशों के बीच 'परमाणु प्रसार रोक सन्धि' हुई।

चतुर्थ चरण (1970–1979)—इस दौरान अमरीका और सोवियत संघ ने आपसी सम्बन्ध सुधारने के लिए अपेक्षाकृत अनेक ठोस प्रयास किये। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस चरण में उनमें तनाव उत्पन्न हुआ ही नहीं। हालाँकि उनमें अनेक क्षेत्रों में तनाव जारी रहा, फिर भी पहले की अपेक्षा काफी कम रहा। इस चौथे चरण में महाशक्तियों में सबसे अधिक सहयोग देखने को मिला। इस चरण की प्रमुख घटनाएँ निम्नांकित हैं—

(1) मास्को-बोन समझौता (1970)—शीत युद्ध के दौरान जहाँ अमरीका पश्चिमी जर्मनी की पीठ थपथपा रहा था, वहीं सोवियत संघ उनके विरुद्ध पूर्वी जर्मनी को समर्थन दे रहा था। इससे सोवियत संघ तथा पश्चिमी जर्मनी में तनाव उत्पन्न हुआ। 12 अगस्त, 1970 को सोवियत संघ तथा पश्चिमी जर्मनी के प्रशासक क्रमश: कोसीगिन तथा विली-ब्राट ने मास्को में एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इसके अन्तर्गत दोनों देश दो प्रमुख बातों पर सहमत हो गये। प्रथम, सोवियत संघ और पश्चिमी जर्मनी एक-दूसरे के विरुद्ध शक्ति का इस्तेमाल नहीं करेंगे। द्वितीय, पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी की सीमाओं सहित यूरोप में जो मौजूदा राष्ट्रीय सीमाएँ हैं उन्हें दोनों देशों ने स्वीकार कर लिया। ध्यान रहे कि दोनों राष्ट्रों के बीच तनाव का मुद्दा जर्मनी के मौजूदा स्वरूप और दूसरे विश्व युद्ध के बाद की राष्ट्रीय सीमाओं का आधार बनाकर ही था। इस पर समझौता हो जाने से अमरीका और सोवियत संघ के बीच झगड़े की एक जड़ नष्ट हो गयी।

(2) कोरिया का समझौता (20 अगस्त, 1971)—शीत युद्ध के दौरान कोरियाई भूमि अमरीका और सोवियत संघ के बीच प्रतिद्वन्द्विता का मैदान बनी हुई थी। किन्तु 20 अगस्त 1971 को उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया की रेडक्रॉस सोसाइटी की एक बैठक हुई। इसमें तय किया गया कि कोरिया युद्ध के दौरान कोरियावासियों के जो एक करोड़ रिश्तेदार एवं मित्र बिछुड़ गये थे, उनकी अदला-बदली की जाये। 4 जुलाई, 1972 को दोनों कोरियाई राज्यों के बीच समझौता हुआ, जिसमें उन्होंने वायदा किया कि वे एक-दूसरे को कमजोर करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे। इसके अलावा एकीकरण को सम्पन्न करने के लिए एक समन्वय समिति गठित की गयी। जुलाई 1973 में दोनों देशों में सहयोग स्थापित करने के लिए एक आयोग गठित किया गया। इस आयोग ने दोनों के बीच सैनिक

तनाव कम करने के लिए अनेक सुझाव दिये। इस प्रकार कोरिया-संकट से उत्पन्न दोनो महाशक्तियों के बीच तनाव कम हो गया।

(3) **बर्लिन समझौता (अगस्त, 1971)**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अमरीका और सोवियत सघ के बीच पश्चिम बर्लिन को लेकर तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे। यहाँ तक कि 1948 मे बर्लिन की नाकेबन्दी हो गयी और इस संकट ने महाशक्तियो के बीच एक और महायुद्ध जैसी विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी। इस बारूद में आग लगाने भर की देर थी। किन्तु बाद में उन्होने संयमपूर्ण रुख अपनाना आरम्भ किया और अगस्त, 1971 मे अमरीका, ब्रिटेन, फ्रास और सोवियत सघ के बीच पश्चिम बर्लिन के बारे मे समझौता हो गया। इसके अन्तर्गत तय हुआ कि अब पश्चिम बर्लिन के लोग पूर्वी बर्लिन मे जा सकेंगे। 3 सितम्बर, 1971 के समझौते के अन्तर्गत चार बातें तय हुई—

(अ) बर्लिन तक और बर्लिन से असैनिक आयात,

(ब) सघीय जर्मनी के साथ पश्चिम बर्लिन के सम्बन्ध,

(स) बर्लिन के पश्चिमी क्षेत्र और पूर्वी क्षेत्र तथा पूर्वी जर्मनी के साथ संचार सम्बन्ध; एव

(द) बर्लिन का विदेशों मे प्रतिनिधित्व।

(4) **अनेक द्विपक्षीय समझौते (1971)**—1971 में अमरीका और सोवियत संघ के बीच अनेक द्विपक्षीय सहयोग समझौते हुए। ये देतात प्रक्रिया के ही परिणाम थे। प्रमुख समझौते निम्नांकित है

(अ) फरवरी, 1971 मे दोनो ने समुद्री सतह से व्यापक विनाश के अस्त्रों को 'छोडना' निषिद्ध कर दिया;

(ब) मई, 1971 मे उन्होंने उस ढाँचे पर सहमति प्रकट की, जिसने साल्ट वार्ताओ को फिर से आरम्भ किया, और

(स) सितम्बर, 1971 मे तीन महत्वपूर्ण समझौते हुए, जो इस प्रकार है: (1) जीवाणु तथा विषैले अस्त्रो के उत्पादन एव स्वामित्व सम्बन्धी समझौता; (2) हॉट लाइन को 'अधिक विश्वसनीय' बनाने सम्बन्धी समझौता, (3) परमाणु युद्ध का खतरा कम करने के लिए सूचना एवं विचार-विमर्श सम्बन्धी समझौता।

(5) **पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के मध्य समझौता (8 नवम्बर, 1972)**—शीत युद्ध के दौरान अमरीका और सोवियत संघ क्रमश पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के समर्थन का बहाना बनाकर 'शक्ति सघर्ष' का खेल खेलते रहे, किन्तु 8 नवम्बर, 1972 को पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इसके अन्तर्गत दोनो देशो ने एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकारा और अनेक मानवीय क्षेत्रों में आपसी सहयोग का वायदा किया। सन्धि की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि समस्या के हल के रूप मे दोनो जर्मन राज्यो ने एक-दूसरे के खिलाफ 'धमकी' या 'शक्ति प्रयोग' के उपायो को सदैव के लिए त्याग दिया। इससे महाशक्तियो को यहाँ अपनी प्रतिद्वन्द्विता समाप्त करने को विवश होना पडा।

(6) **मास्को शिखर वार्ता**—22 मई, 1972 को तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन मास्को पहुँचे। वहाँ उन्होने सोवियत शासक ब्रेझनेव के अलावा अनेक नेताओ से बातचीत की। वह वहाँ सात दिन तक ठहरे। इस यात्रा के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अनेक विवादास्पद समस्याओं पर दोनो महाशक्तियो

के शासकों के बीच वार्ताएँ हुईं। उन्होंने अपनी घोषणा के आरम्भ में कहा कि 'दोनों देश संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अन्तर्गत स्वीकार किये गये कर्त्तव्यों को पूरा करने की प्रतिज्ञा करते हैं तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना चाहते हैं जिनसे तनाव में कमी हो और युद्ध की आशंका दूर हो।' शिखर वार्ता के अन्त में 29 मई, 1972 को अमरीका और सोवियत संघ ने अपने संयुक्त वक्तव्य में निम्नांकित बातों पर जोर दिया

(क) परमाणु आयुधों को सीमित करने के लिए साल्ट-एक सन्धि—परमाणु आयुधों को सीमित करने के लिए साल्ट-एक समझौता अर्थात् सामरिक शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि-एक पर हस्ताक्षर हुए। असल में साल्ट-एक के अन्तर्गत दो समझौते किये गये, जो इस प्रकार हैं :

(1) प्रक्षेपास्त्र विरोधी शस्त्रों को सीमित करने सम्बन्धी सन्धि (Treaty on the Limitation of Anti-ballistic Missile System)।

(2) सामरिक आक्रमक अस्त्रों के परिसीमन सम्बन्धी कुछ उपायों पर अन्तरिम समझौता।

पहला समझौता अनिश्चित काल के लिए किया गया, जबकि दूसरा समझौता पाँच वर्ष के लिए। पहले समझौते के अन्तर्गत अमरीका और सोवियत संघ के लिए प्रक्षेपास्त्रों को निरापद बनाने वाले स्थलों को दो तक सीमित कर दिया गया—एक देशों की राजधानी की सुरक्षा के लिए और दूसरा अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों (आई० सी० बी० एम०) की सुरक्षा के लिए। पंचवर्षीय अन्तरिम सन्धि (जो राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध होने पर किसी भी पक्ष द्वारा छः महीने के नोटिस पर रद्द की जा सकती है) में स्वीकार किया गया कि—

(अ) 1 जुलाई, 1972 के बाद नये अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण नहीं किया जायेगा,

(ब) कोई भी पक्ष हल्के या पुराने किस्म के भू-प्रक्षेपास्त्र स्थलों का सुधार कर उन्हें भारी अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग के योग्य नहीं बनायेगा,

(स) दोनों पक्ष पनडुब्बियों के प्रक्षेपास्त्र और प्रक्षेपक तथा प्रक्षेपास्त्रयुक्त आधुनिक पनडुब्बियाँ नहीं बनायेंगे, हालांकि इसमें निर्माणाधीन पनडुब्बियों का काम करने की छूट रहेगी,

(द) इस अन्तरिम सन्धि की व्यवस्थाएँ ध्यान में रखते हुए दोनों देशों को मौजूदा आक्रामक प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों का आधुनिकीकरण करने या वैकल्पिक शस्त्र बनाने का अधिकार रहेगा, और

(य) सन्धि के परिपालन की जाँच के लिए हर राष्ट्र केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप ही विधियाँ अपनायेगा। दोनों पक्षों ने स्वीकार किया कि अस्त्र-शस्त्र निर्माण गुप्त रखने के लिए जान-बूझकर ऐसी व्यवस्थाएँ नहीं करेंगे, जिनसे सन्धि की भावना को ठेस पहुँचे और दूसरे देश को निगरानी रखने में कठिनाई हो।

(ख) व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध—अमरीका और सोवियत संघ ने अपने व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिए एक संयुक्त व्यापारिक आयोग बनाने का निश्चय किया।

(ग) समुद्री मामलों पर समझौता—दोनों महाशक्तियों ने समुद्र और आकाश

में उनके जहाजों और विमानों की भीषण दुर्घटनाएँ रोकने के लिए एक समझौता किया।

(ग) विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सहयोग—दोनों देशों ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में सहयोग के विस्तार के लिए संयुक्त आयोग बनाने का निश्चय किया। अन्तरिक्ष में भीषण दुर्घटनाएँ रोकने और इस क्षेत्र में शान्तिपूर्ण अनुसन्धान के दृष्टिकोण से दोनों देशों ने यह समझौता किया कि वे अन्तरिक्ष में अमरीकी और सोवियत यानों के मिल-जुलकर कार्य करने की व्यवस्था करेंगे। दोनों महाशक्तियों ने विश्व के सम्पूर्ण मानव-समाज के स्वास्थ्य की महत्वपूर्ण समस्याओं जैसे कैंसर, हृदय रोग तथा पर्यावरणीय स्वास्थ्य विज्ञान के सम्बन्ध में अनुसन्धान कार्य में सहयोग का निश्चय किया।

(7) 1972 में कुछ और द्विपक्षीय समझौते—अगस्त, 1972 में सोवियत संघ ने अमरीका से विशाल मात्रा में गेहूँ खरीदने के लिए एक समझौता किया। 18 अक्टूबर, 1972 को दोनों देशों में एक व्यापार सन्धि हुई, जिसके तहत सोवियत संघ ने वायदा किया कि द्वितीय महायुद्ध के समय उसने अमरीका से जो 'उधार पट्टा ऋण' लिया था, उस धनराशि को वह चुका देगा। इसके बाद एक और सन्धि हुई, जिसमें तय किया गया कि आगामी तीन वर्षों में दोनों का व्यापार तीन गुना कर दिया जायेगा। अमरीका के निक्सन प्रशासन ने वायदा किया कि सोवियत माल के आयात पर न्यूनतम दर से कर लगाने की व्यवस्था के लिए वह कांग्रेस (संसद) से अनुमति प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा।

(8) ब्रेझनेव की अमरीका-यात्रा (1973)—अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन ने अपनी मास्को यात्रा के दौरान सोवियत नेताओं को अमरीका-यात्रा पर आने के लिए आमन्त्रित किया था। इसके प्रत्युत्तर में 18 जून 1973 को सोवियत शासक ब्रेझनेव अमरीका की नौ दिवसीय यात्रा पर गये। वाशिंगटन हवाई अड्डे पर उनका स्वागत करते हुए निक्सन ने कहा—'हमने अनुभव किया है कि अपने सैद्धान्तिक मतभेदों और सामाजिक प्रणालियों में भिन्नता के बावजूद हम सामान्य सम्बन्ध बढ़ा सकते हैं।' इसके जवाब में ब्रेझनेव ने कहा—'सोवियत-अमरीकी सम्बन्धों में सुधार किसी भी प्रकार से किसी तीसरे देश के हित के विरुद्ध नहीं है।' दोनों नेताओं की वार्ता में निम्न मुद्दों पर सहमति हुई :

(अ) दोनों देशों ने सैद्धान्तिक तौर पर स्वीकार किया कि 1974 तक वे परमाणु आयुधों के निर्माण पर स्थायी रोक लगा देंगे तथा परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र में सहयोग करेंगे;

(ब) दोनों ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सहयोग का वायदा किया जिससे उनके बीच व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त हुआ; और

(स) एक सन्धि में दोनों ने सकल्प किया कि उनमें से कोई भी परमाणु युद्ध नहीं करेगा और न ही एक-दूसरे तथा उनके साथी राष्ट्रों को धमकी देगा या बल प्रयोग करेगा।

(9) निक्सन की सोवियत यात्रा (1974)—27 जून, 1974 को अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन पुनः मास्को गये। यह दो महाशक्तियों के मध्य तीसरा शिखर सम्मेलन था। इस यात्रा की उपलब्धियाँ निम्नांकित हैं :

(अ) दोनो देशो ने जवाबी प्रक्षेपास्त्र प्रणालियो और आक्रामक परमाणु अस्त्रो को और सीमित करने एव भूमिगत परीक्षणो पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित समझौतो पर हस्ताक्षर किये, और

(ब) 1972 मे हुए व्यापार समझौते के पूरक के रूप मे एक दस-वर्षीय व्यापार समझौता किया। इसके तहत दोनो पक्षो के मध्य आर्थिक सस्थाओ के बारे मे जानकारी का प्रतिवर्ष आदान-प्रदान करना तय किया गया।

(10) यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन—यूरोपीय सुरक्षा एव सहयोग सम्मेलन फिनलैण्ड की राजधानी हैलसिंकी मे 3 जुलाई, 1975 को आरम्भ हुआ। जेनेवा मे यह सम्मेलन 17 सितम्बर, 1973 से 2 जुलाई, 1975 तक जारी रहा और 1 अगस्त, 1975 को हैलसिंकी मे समाप्त हुआ। अमरीका सहित यूरोप के 35 देशो ने इसमे भाग लिया। वस्तुत यह अनेक दृष्टियो से ऐतिहासिक सम्मेलन था। कालान्तर की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके दूरगामी प्रभाव पडे। फिनलैंड के राष्ट्रपति उर्हो केक्कोनेन ने प्रतिनिधियो का स्वागत करते हुए कहा कि 'यह यूरोप के लिए खुशियो और उम्मीदो का दिन है। हमारे लिए यह मानने के सभी कारण मौजूद हैं कि हमारे आपसी सम्बन्धो मे नये युग की शुरुआत हो रही है।' सयुक्त राष्ट्र सघ के तत्कालीन महासचिव कुर्त वाल्दहीम ने कहा—'यह सम्मेलन पूरे मानव इतिहास का न सही, तो भी हमारी शताब्दी का एक अनूठा सम्मेलन है। इसका उद्देश्य किसी युद्ध को समाप्त करना या शान्ति की शर्तों की परिभाषा करना ही नही है, वरन् कुछ समय से अस्तित्व मे चले आ रहे शान्ति के आधार को मजबूत बनाना है।' यह सम्मेलन यूरोपीय देशो मे तनाव कम करने मे एक हद तक सफल रहा।

(11) ब्लादीवोस्तक शिखर सम्मेलन—अब तक अमरीका के राष्ट्रपति बदल चुके थे। निक्सन के त्याग-पत्र के बाद जेराल्ड फोर्ड ने इस पद का कार्यभार सम्भाला। उन्होंने सोवियत सघ के साथ देतान्त प्रक्रिया को 'शिखर सम्मेलनीय राजनय' द्वारा तेज करने की नीति जारी रखी। 23–24 नवम्बर, 1974 को ब्लादिवोस्तक मे सोवियत एव अमरीकी शासक क्रमश ब्रेझनव और फोर्ड मिले। इस शिखर वार्ता ने दोनो देशो मे सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौते-दो (साल्ट-दो) की रूपरेखा तैयार की। कहा गया कि जून, 1975 मे ब्रेझनेव की अमरीका यात्रा के समय प्रस्तावित समझौते पर हस्ताक्षर हो जायेंगे। यह समझौता 1977 मे साल्ट-एक (जो 1972 मे हुआ था) की अवधि समाप्त होने पर लागू होगा तथा 1985 तक लागू रहेगा।

(12) अपोलो-सोयुज का अन्तरिक्ष मे मिलन—17 जुलाई, 1975 को अमरीकी अपोलो और सोवियत सोयुज यान अन्तरिक्ष मे अपनी कक्षा मे आकर एक-दूसरे से मिले। दोनो देशों के अन्तरिक्ष यात्रियो ने एक-दूसरे का अभिवादन किया। इसे वैज्ञानिक दृष्टि से ही नही, वरन् राजनीतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण घटना माना गया, क्योंकि यह सहयोग इस बात का परिचायक था कि अमरीका और सोवियत सघ विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस आधुनिक युग मे एक-दूसरे के निकट आना चाहते हैं। यह विश्व के देशों के विभिन्न क्षेत्रो मे बढती अन्तर-निर्भरता का ही परिणाम था।

(13) वियना मे साल्ट दो समझौता—मई, 1979 को वियना मे अमरीकी

राष्ट्रपति कार्टर तथा सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने साल्ट-दो समझौते पर हस्ताक्षर किये। 1985 तक की अवधि के इस समझौते की निम्नांकित दो उपलब्धियाँ हैं—

(अ) साल्ट-दो समझौते द्वारा सामरिक शस्त्रों तथा प्रक्षेपास्त्रों की संख्या और किस्मों पर एक सीमा लगा दी गयी, लेकिन इसके अन्तर्गत दोनों देशों को नये प्रक्षेपास्त्र तथा परमाणु शस्त्र बनाने की छूट दी गयी। दोनों देशों के पास अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों, सामरिक बमवर्षक विमानों तथा पनडुब्बियों से छोड़े जाने वाले परमाणु प्रक्षेपास्त्रों की संख्या 1981 तक 2400 निश्चित कर दी गयी। 1981 के बाद यह संख्या घटाकर 2250 कर दी गयी; और

(ब) हथियारों की होड़ में और कमी के लिए सोवियत संघ और अमरीका अगले समझौते 'साल्ट-तीन' के लिए बातचीत करेंगे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साल्ट-दो समझौते से विश्व में शस्त्रीकरण की बढ़ती होड़ कम हुई, जिसने अनेक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी और सहयोग का मार्ग प्रशस्त किया। साल्ट-दो समझौता ऊपर से दिखने में चाहे कितना ही प्रभावशाली हो, किन्तु उसका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति या देतांत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि अमरीकी सीनेट ने इसका अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया। वैसे यह सुझाना तर्कसंगत होगा कि यदि सीनेट इसे अपना अनुमोदन दे भी देती तो भी इस पर अमल करना शायद असम्भव होता, क्योंकि ईरान में शाह का तख्तापलट, तुरन्त तैनाती दस्ते और अफगानिस्तान व वियतनाम के घटनाक्रम ने महाशक्तियों के बीच उस विश्वास को समाप्त कर दिया, जिस पर निशस्त्रीकरण के परामर्श का दारोमदार था। 'स्टार वार्स' की प्रस्तावना ने साल्ट-तीन समझौते की कल्पना को भी पृष्ठभूमि में धकेल दिया। बाद के विभिन्न शिखर सम्मेलन सिर्फ प्रचारात्मक महत्व के रहे।

देतांत के प्रभाव
(Impact of Detente)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनेक वर्षों तक शीत युद्ध काल के दौरान 'न सच्ची शान्ति एवं न ही वास्तविक युद्ध की स्थिति' बनी रही। अर्थात् शीत युद्ध रूपी बारूद में आग फेंकने भर की देर थी कि तीसरा महायुद्ध भड़क जाता। यह स्थिति महाशक्तियों के देतांत के कारण स्थायी नहीं रही। अमरीका और सोवियत संघ के कटुता भरे सम्बन्धों में तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया आरम्भ होने से कालान्तर में विश्व राजनीति पर अनेक प्रभाव पड़े। एक तरफ जहाँ इसके लाभकारी प्रभाव पड़े, वहीं दूसरी ओर कुछ हानिकारक प्रभाव भी पड़े।

देतांत के लाभकारी प्रभाव—देतांत के निम्न लाभकारी प्रभाव पड़े, जिससे विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने के उद्देश्य में काफी सफलता मिली :

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी**—शीत युद्ध के दौरान महाशक्तियों के टकराव ने उनके अनेक समर्थक देशों में तनाव पैदा कर दिया। मसलन, कोरिया व वियतनाम के मामलों को ही लें, जहाँ अमरीका और सोवियत संघ ने एक-दूसरे के समर्थक राष्ट्रों के विरुद्ध मदद देकर तनाव को जन्म दिया। इससे उनके बीच भीषण युद्ध हुए। इन युद्धकारी राष्ट्रों के बीच उतने गहरे मतभेद नहीं थे जितने कि महाशक्तियों ने अपनी स्वार्थ पूर्ति के कारण पैदा किये। जब दोनों महाशक्तियों ने देतांत प्रक्रिया

द्वारा एक-दूसरे के नजदीक आना आरम्भ किया तो उनके समर्थक राष्ट्रों में भी आपसी मतभेद की उग्रता कम हुई। अत महाशक्तियों के देतात से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में काफी कमी आयी।

(2) **तीसरे महायुद्ध के खतरे से मुक्ति**—शीत युद्ध के दौरान अमरीका और सोवियत संघ विश्व के अन्य देशों को अपने क्षेम में आकर्षित कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कटुता बढ़ाते रहे जिससे तीसरे महायुद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया था। अनेक विद्वानों ने इस खतरे को और भी बढ़ा दिया जब उन्होंने अनेक प्रकार की ऐसी अटकलबाजी एवं भविष्यवाणी करनी आरम्भ कर दी कि तीसरा महायुद्ध किस समय किस काल कहाँ और कैसे भड़केगा? यह किन शस्त्रों से लड़ा जायगा? कौन से राष्ट्र किस महाशक्ति का साथ देंगे? और अन्तत कौन किसे जीतने में सफल होगा? लेकिन महाशक्तियों में देतात सम्बन्ध आरम्भ होने से अन्तर्राष्ट्रीय समाज में ज्यों ज्यों कटुता घटने लगी और खेमेबाजी टूटने लगी त्यों-त्यों लोगों के मस्तिष्क में तीसरे महायुद्ध की सम्भावना का भूत हटने लगा। अमरीका और रूस के सम्बन्ध में कुछ समय बाद देतात प्रक्रिया के ठोस रूप धारण करने के बाद लोगों के मस्तिष्क से तीसरे विश्व युद्ध के सम्भावित खतरे का डर काफी तेजी से घटा।

(3) **शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मंजूरी**—शीत युद्ध के दौरान जहाँ सोवियत संघ सदैव इस उहापोह में रहता था कि विश्व के अन्य भागों में किसी भी प्रकार साम्यवादी क्रान्ति हो उसकी ओर आकर्षित नहीं होने वाले राष्ट्रों को वह अमरीकी पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद का एजेन्ट करार देता। दूसरी ओर अमरीका भी कहता है कि जो देश उसके साथ नहीं हैं वे उसके दुश्मन हैं। इस बात को लेकर दोनों महाशक्तियाँ राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक प्रणालियों की भिन्नता एवं एक दूसरे पर श्रेष्ठता का आरोप लगाकर टकराव की बातें करती। पर दोनों देशों द्वारा देतात प्रक्रिया की शुरूआत से उन्होंने यह मान लिया कि भिन्न प्रणालियों के बावजूद वे शान्तिपूर्ण ढंग से रह सकते हैं अर्थात् उन्होंने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। अब उन्होंने विभिन्न विवादों को युद्ध अर्थात् ताकत के बल पर नहीं बल्कि शान्तिपूर्ण वार्ता के जरिये सुलझाने पर जोर देना शुरू किया।

(4) **निशस्त्रीकरण का मार्ग प्रशस्त करना**—शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों ने एक-दूसरे के विरुद्ध श्रेष्ठता और सुरक्षा स्थापित करने के दृष्टिकोण से असीमित घातक परमाणु हथियारों का निर्माण आरम्भ किया। दूसरे देशों ने भी उनकी देखा देखी शस्त्रों की रेस होड़ में अपने संसाधन फूँकने शुरू किये। इससे शस्त्रीकरण अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। पर दोनों महाशक्तियों ने बाद में शस्त्रीकरण के घातक परिणामों को महसूस किया और उनके बीच देतात सम्बन्ध स्थापित हुए। इस भावना ने निशस्त्रीकरण का मार्ग प्रशस्त किया। 1963 की आंशिक परमाणु परीक्षण रोक संधि 1968 की परमाणु अस्त्र प्रसार रोक संधि 1972 का साल्ट-एक और 1979 का साल्ट-दो समझौता निशस्त्रीकरण के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

(5) **शस्त्रीकरण के बजाए जनकल्याणकारी कार्यों पर ध्यान देना**—शीत युद्ध के दौरान अमरीका और सोवियत संघ शस्त्रीकरण की होड़ में लगे रहे।

विनाशकारी परमाणु हथियारों का निर्माण कुछ समय बाद उनकी अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होने लगा, क्योंकि इन हथियारों पर विशाल पूँजी खर्च हो रही थी। शस्त्रीकरण के असीमित खर्च के इस बोझ से उनकी अर्थव्यवस्था मे अनेक संकट पैदा हो गये। जहाँ अमरीका मे मुद्रा-स्फीति, बेरोजगारी एव तेल संकट मुँह बाए खडे हो गये, वहीं सोवियत संघ कृषि के क्षेत्र में पिछड़ गया। दोनो के मध्य देतांत सम्बन्ध स्थापित होने से शस्त्रीकरण की होड़ कम हुई जिससे वे इस पर हो रहे अनाप-शनाप खर्च को देश की आन्तरिक समस्याएँ सुलझाने अर्थात् जन-कल्याणकारी कार्यों पर लगाने में समर्थ हुए। यह दोनों के लिए लाभकारी साबित हुआ।

(6) **महाशक्तियों के बीच वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, आर्थिक एवं व्यापारिक सहयोग का मार्ग प्रशस्त होना**—शीत युद्ध के दौरान दोनो देशो में तनाव सम्बन्ध जारी रहे, जिससे किसी भी क्षेत्र मे ठोस सहयोग स्थापित होना अत्यन्त कठिन था। पर उनके द्वारा देतांत नीति अपनाने से सहयोग का मार्ग खुला। 1970 के बाद उनके बीच वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, आर्थिक एवं व्यापारिक क्षेत्रो में अनेक सहयोग-समझौते हुए। इस सन्दर्भ मे 1972 की मास्को शिखर वार्ता के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों मे सहयोग की अनेक घोषणाएँ, 1972 मे सोवियत संघ द्वारा अमरीका से गेहूँ खरीदना, 1974 मे निक्सन की मास्को-यात्रा के दौरान 1972 के व्यापार समझौते के पूरक के रूप में दस-वर्षीय व्यापार समझौता, हैलसिंकी घोषणा के तहत विभिन्न क्षेत्रों मे सहयोग की घोषणाएं, 1975 मे अपोलोसोयुज का अन्तरिक्ष में मिलन महत्वपूर्ण कदम थे।

(7) **संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रभावशाली ढंग से कार्य करना**—अमरीका और सोवियत संघ ने शीत युद्ध के काल मे विश्व के अन्य देशो को विभिन्न प्रलोभनों तथा अन्य तरीकों से अपने-अपने गुट की ओर आकर्षित किया। इससे दोनो गुटों में खींचातान रही। यह खींचातान संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व संगठन में भी परिलक्षित हुई, जिसका निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए किया गया था। संयुक्त राष्ट्र संघ मे जो भी अन्तर्राष्ट्रीय विवाद चर्चा के लिए प्रस्तुत किया जाता, उसी पर दोनो खेमे विरोधी मत जाहिर करते। इससे जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का बढना स्वाभाविक था, वही धीरे-धीरे संयुक्त राष्ट्र संघ अपने उद्देश्य मे प्रभावहीन साबित होने लगा। पर महाशक्तियों द्वारा देतांत अपनाने मे खेमेबाजी कमजोर हुई और संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी प्रभावशाली ढंग से कार्य करना आरम्भ कर दिया। अब वह विवादों के शान्तिपूर्ण ढंग से हल मे अधिक सक्षम होने लगा। इस प्रकार देतांत मे संयुक्त राष्ट्र संघ प्रभावशाली ढग से कार्य करने लगा।

(8) **गुट निरपेक्ष देशों सहित तीसरी दुनिया की एकता का मार्ग प्रशस्त होना**—देतांत युग में अमरीका और सोवियत संघ एक-दूसरे के नजदीक आये। परिणाम यह हुआ कि नई विश्व अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित अनेक मुद्दों (जैसे गरीब देशों के कच्चे माल की उचित कीमत, प्रौद्योगिक हस्तान्तरण, समुद्री सम्पदा के दोहन तथा परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग) पर महाशक्तियां तीसरी दुनिया के अल्प-विकसित देशों की माँगों के विरुद्ध हो गयी। इसने तीसरी दुनिया के देशों मे एकता की भावना को मजबूत किया। नई विश्व अर्थव्यवस्था, समुद्री सम्पदा के दोहन, परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग, नई समाचार व्यवस्था जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर तीसरी दुनिया के देश आपसी सहयोग द्वारा एकजुट होकर आत्म-निर्भरता

की दिशा में अग्रसर हुए। देतान्त-जनित तीसरी दुनिया की एकता को विकासशील देशों के लिए लाभकारी ही माना जायगा।

(9) मानवाधिकार आंदोलन प्रारम्भ होना—हेलसिंकी सम्मेलन में अमरीका और सोवियत संघ ने मानव सम्पर्क बढ़ाने के लिए 'तीसरी डलिया' के तहत अनेक घोषणाएँ कीं। सोवियत संघ ने काफी आनाकानी के बाद मान लिया कि परदेश में बसे अपने कुटुम्बियों से मिलने के लिए विदेश यात्रा का 'वीसा' माँगने वाले रूसियों के आवेदन पत्रों पर वह सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगा। उसने वचन दिया कि विभिन्न देशों के नागरिकों में परस्पर विवाह और अपने मनपसन्द देश में बसने की उनकी इच्छा पर वह 'सकारात्मक एवं मानवतावादी भावना से विचार करेगा। इसके अतिरिक्त तीसरी डलिया में सभी प्रकार की सूचनाओं के मुक्त तथा व्यापक आदान प्रदान और अन्य देशों से प्रकाशित समाचार पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार में सुधार की अपील की गयी। सोवियत संघ द्वारा अपने बन्द समाज (Closed Society) अर्थात् 'लौह आवरण (Iron Curtain) की नीति में ढील देने के कारण जहाँ एक तरफ राजनीतिक विरोधियों (असन्तुष्ट लोग) का दमन कम हुआ, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक विरोधियों ने सोवियत सरकार के विरुद्ध मताधिकार रक्षा आन्दोलन चलाया। इससे सखारोव तथा स्नेमिरिचकी जैसे राजनीतिक विरोधियों द्वारा चलाये गये मानवाधिकार रक्षा अभियान तेज हुए क्योंकि अन्य देशों के लोगों तथा सोवियतवासियों में अन्तःक्रिया (Inter action) आरम्भ हो गई। कई विद्वानों ने सोवियत संघ में सरकारी दमन के विरोध में मानवाधिकार रक्षा अभियान शुरू होना लोकतन्त्र के लिए लाभदायी प्रभाव माना।

देतान्त के हानिकारक प्रभाव—जहाँ महाशक्तियों के बीच देतान्त सम्बन्धों ने विश्व राजनीति पर अनेक लाभकारी प्रभाव डाला, वहीं इसने अनेक हानिकारक प्रभाव भी पैदा किये। उनकी ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों ने बहुत कम ध्यान दिया है। प्रमुख हानिकारक प्रभाव निम्नांकित हैं—

(1) अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों का विभाजन—शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों ने विश्व में अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र स्थापित किये और इससे उनके बीच टकराव हुआ। हालांकि देतान्त सम्बन्धों को अपनाकर उन्होंने आपस में सहयोग स्थापित किया किन्तु इस सहयोग के आधार पर उन्होंने विश्व में मौजूद अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों का विभाजन कर लिया। मसलन सोवियत संघ ने लातीनी अमरीकी करिबियाई एवं पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों में अमरीकी आधिपत्य स्वीकार कर लिया। दूसरी तरफ अमरीका ने पूर्वी यूरोप तथा विश्व के कुछ अन्य देशों में सोवियत आधिपत्य मंजूर कर लिया। दोनों ने अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया कि एक-दूसरे के प्रभाव क्षेत्र में विरोधी कारवाई नहीं करेंगे। देतान्त का यह हानिकारक प्रभाव है क्योंकि इससे महाशक्तियों के कई प्रभाव-क्षेत्र लगभग ज्यों के त्यों समझौतों में फँसे रहे। इस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महाशक्तियों द्वारा तत्कालीन शक्ति सन्तुलन की यथास्थिति बनाये रखने की साजिश कहा जायगा।

(2) विश्व शांति एवं सुरक्षा की स्थापना में तीसरी दुनिया की भागीदारी की उपेक्षा—देतान्त का अन्य हानिकारक प्रभाव यह हुआ कि महाशक्तियाँ विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के नाम पर चुपके चुपके आपसी समझौते करने लगीं। विश्व शान्ति और सुरक्षा की स्थापना की जिम्मेदारी सभी राष्ट्रों की होती है। अमरीका

और सोवियत संघ ने निरस्त्रीकरण के लिए साल्ट समझौते करते समय अन्य राष्ट्रों से किसी प्रकार का परामर्श नहीं किया और न ही बाद में उन्हें विश्वास में लिया। इस प्रकार महाशक्तियों ने विश्व-शान्ति और सुरक्षा को कायम रखने का ठेका लेकर जो समझौते किये उनमे उन्होंने तीसरी दुनिया की भागीदारी की उपेक्षा की। विश्व-शान्ति एव सुरक्षा की स्थापना केवल अमरीका और सोवियत सघ के मध्य द्विपक्षीय ही नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दा है।

(3) महाशक्तियाँ बनाम तीसरी दुनिया—देतात का अन्य हानिकारक प्रभाव यह पड़ा कि इससे महाशक्तियों और तीसरी दुनिया के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गयी। शीत युद्ध के दौरान अमरीका और सोवियत सघ अन्य राष्ट्रों को अपने खेमे मे मिलाकर आपस में क्रमशः पूँजीवादी और साम्यवादी विचारधारा के टकराव का रूप दे रहे थे, पर देतात को अपनाकर उन्होंने पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों प्रणालियों के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त मानकर आपस मे सहयोग किया। उनके बीच इस सहयोग ने उनके तथा तीसरी दुनिया के बीच टकराव पैदा कर दिया। यह अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों में परिलक्षित हुआ। मसलन समुद्री ससाधनों के दोहन, समानता एव न्याय पर आधारित नई विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना, परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए उपयोग आदि अनेक मुद्दों पर महाशक्तियों और तीसरी दुनिया के बीच टकराव आरम्भ हो गया, क्योंकि इन मसलों पर अमरीका और सोवियत सघ के हित समान है और तीसरी दुनिया के हित उससे एकदम भिन्न। इस प्रकार देतांत ने विश्व राजनीति मे महाशक्तियाँ बनाम तीसरी दुनिया के विवाद को जन्म देकर हानिकारक प्रभाव डाला।

देतांत की आलोचना
(Criticism of Detente)

महाशक्तियों द्वारा अपनायी गयी देतांत प्रक्रिया की अनेक आधारों पर आलोचना की जा सकती है—

(1) देतांत शक्ति-सन्तुलन के भौंडे सिद्धान्त का परिष्कृत रूप—शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों ने खुल्लम-खुल्ला शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त अपनाकर अन्तर्राष्ट्रीय समाज को नियन्त्रित करने की कोशिश की। जब इसके द्वारा वे विश्व के अन्य देशों को बेवकूफ नहीं बना सके तो कुछ अन्य कारणों के साथ देतांत सम्बन्ध अपनाकर उसी प्रकार की एक नई एव परिष्कृत साजिश रची। इसके तहत दोनों ने आपसी समझ के आधार पर मौजूदा शक्ति-सन्तुलन को यथास्थिति कायम रखने की चाल चली।

(2) देतात यूरोप तक सीमित, विश्व के अन्य भागों में उसका फैलाव नहीं—शीत युद्ध के दौरान महाशक्तियों द्वारा अधिकांश राष्ट्रों मे द्विपक्षीय या बहुपक्षीय तनाव उत्पन्न किया गया। महाशक्तियों ने आपसी द्विपक्षीय तनाव को तो कम कर दिया (जो अच्छी बात थी) किन्तु इसका असर केवल उनके निकटस्थ यूरोपीय देशों तक सीमित रहा। अफ्रो-एशियाई, लातीनी अमरीकी और कैरिबियाई क्षेत्र के देशों पर इसका प्रभाव नहीं हुआ।

(3) देतांत की दिशाहीनता—देतात को दिशाहीन कहना अनुचित नहीं होगा। देतात के अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य, साधन आदि के बारे मे अमरीका और

सोवियत संघ के बीच व्यापक मतभेद रहे। ऐसी स्थिति में देतान्त को 'दिशाहीन' की ही संज्ञा दी जा सकती है।

(4) *स्थायी शान्ति के अत्यन्त ठोस प्रयास नहीं—महाशक्तियों द्वारा* दोनों के बीच निशस्त्रीकरण, आर्थिक, सांस्कृतिक या अन्य कोई भी समझौते कर घनिष्ठता बढ़ायी गयी। उन्हें स्थायी विश्व शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने के दृष्टिकोण से अत्यन्त ठोस प्रयास नहीं माना जा सकता। इन्हें केवल अस्थायी प्रयास कहना उचित होगा, क्योंकि ये समझौते कुछ ही वर्षों के लिए किये गये। इन समझौतों की कालावधि समाप्त होने पर शान्ति की क्या गारन्टी हो सकती है?

(5) तनाव क्षेत्र फिर भी मौजूद—प्राय कहा जाता है कि महाशक्तियों द्वारा देतान्त अपनाने से विश्व के अन्य भागों में तनाव क्षेत्र समाप्त हो गये। किन्तु असल में ऐसा नहीं हुआ। अनेक क्षेत्र ऐसे थे जहाँ महाशक्तियों के प्रोत्साहन के कारण तनाव मौजूद रहा। मसलन पश्चिम एशिया क्षेत्र को ही लिया जाये। 1978 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर की मध्यस्थता से इजराईल और मिस्र के बीच हुए कैम्प डेविड समझौते के बाद भी उस क्षेत्र में तनाव में कभी उल्लेखनीय कमी नहीं हुई। इसका सबसे प्रमुख कारण अमरीका तथा सोवियत संघ द्वारा पश्चिम एशिया क्षेत्र के देशों को एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काना है। इससे वहाँ तनाव बना रहा। यही बात कई अन्य क्षेत्र में भी समान रूप से लागू होती है।

देतान्त का एशिया पर प्रभाव

देतान्त की सबसे बड़ी उपलब्धि हैलसिंकी में हुए समझौते के अनुसार यूरोप में महाशक्तियों के बीच युद्ध की आशंका टालना था। किन्तु यूरोप के बाहर इसका *प्रभाव नकारात्मक ही रहा। शायद दोनों महाशक्तियाँ यह अनुभव करती थी कि* यूरोपीय टकराव की स्थिति में सीधे युद्ध की आशंका अधिक है। मगर एशिया, अफ्रीका या लातीनी अमरीकी देशों में टकराव की स्थिति बरकरार रहते हुए भी सीधे युद्ध की सम्भावनाओं का इतना खतरा नहीं था। अतएव देतान्त की भावना में यूरोपीय समस्याओं को सुलझाने की इच्छा ही प्रमुख थी।

देतान्त के बावजूद एशिया दोनों महाशक्तियों के टकराव का क्षेत्र बना रहा। हेलसिंकी सम्मेलन के बाद आशंका व्यक्त की गयी कि दोनों महाशक्तियाँ अपने सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक साधन एशिया पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए और भी आसानी से प्रयोग कर सकेंगे। इसमें रूस द्वारा चीन पर सैनिक दबाव डालने, हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर में अपनी नौसैनिक गतिविधियाँ बढ़ाने और मध्य पूर्व तथा दक्षिण पूर्व एशिया में अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए अपने शस्त्रास्त्रों और साधनों का प्रयोग शामिल था। दूसरी ओर अमरीका हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागर में अपना नौसैनिक वर्चस्व स्थापित करने तथा चीन, जापान और दक्षिण पूर्व एशियाई देशों की नीतियों से रूसी तत्व को समाप्त करने की कोशिश करेगा। कुल मिलाकर तीसरी दुनिया के देशों ने यह आशंका व्यक्त की थी कि महाशक्तियों के इस एकतरफा सामंजस्य ने जहाँ एक ओर उनके स्वतन्त्र विकास में बाधा पैदा की है, वहीं दूसरी ओर उनके महत्व को भी घटा दिया है।

देतान्त प्रक्रिया के चीन और जापान पर पड़े नकारात्मक प्रभाव का उल्लेख

करते हुए आर० के० जैन ने ठीक ही लिखा कि राजनीतिक दृष्टि से यूरोप में हेलसिंकी सम्मेलन के बाद सीमाओं के स्थिरीकरण से सोवियत भू-भाग पर चीनी दावों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। जापान के सोवियत संघ के विरुद्ध भौगोलिक दावों पर भी ऐसा ही प्रभाव होगा। सोवियत-अमरीकी मेल-मिलाप जापान की माँगों को ठण्डा कर सकती है।[1] अतएव जापान और चीन दोनों देतांत की प्रक्रिया से सीधे प्रभावित होने वाले राष्ट्र थे। इधर दक्षिण पूर्व एशिया में भी अमरीकी पराजय के बाद चीन के बढ़ते प्रभाव क्षेत्र को देतांत ने कुछ हद तक रोका क्योंकि चीन का खुल्लम-खुल्ला समर्थन करके अमरीका सोवियत संघ के साथ तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया को ठेस पहुँचाने की हिम्मत नहीं कर सका। मध्य पूर्व में मिस्र द्वारा फिलस्तीनियों का साथ छोड़कर इजराईल और अमरीका से मिल जाने की प्रक्रिया को रूस रोकने में असफल रहा क्योंकि फिलस्तीनियों का समर्थक होने के बावजूद वह अमरीका के साथ अपने सम्बन्ध पर आँच नहीं आने देना चाहता था।

देतांत ने एशिया के छोटे देशों पर विश्व शक्तियों के प्रभाव को और अधिक बढ़ा दिया। शीत युद्ध के दौरान एक महाशक्ति के नाराज हो जाने पर दूसरी महाशक्ति का समर्थन किसी देश को मिल जाता था और इस प्रकार वह अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखने में सफल होता था। तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया ने छोटे राष्ट्रों द्वारा विश्व शक्तियों को एक-दूसरे के विरुद्ध प्रयोग करने की परम्परा पर विराम चिह्न लगा दिया। देतांत के दौरान दोनों महाशक्तियाँ मिलकर यह तय करने लगीं कि छोटे राष्ट्रों के संकट को कैसे सुलझाया जाये और वहाँ दोनों में से किसका प्रभाव क्षेत्र कायम किया जाये।

आर्थिक दृष्टि से देतांत का प्रभाव एशिया के देशों पर लाभप्रद नहीं रहा। मध्य पूर्व के तेल-निर्यातक देशों ने स्वयं को पूँजीवादी देशों से मुक्त करने में सफलता इसलिए नहीं पायी कि रूस न तो उन्हें सैनिक संरक्षण दे सकता था और न उनका तेल खरीद सकता था। कच्चे माल के निर्यात की दृष्टि से एशिया के सभी देश पूँजीवादी देशों पर निर्भर हो गये और रूस इस निर्भरता को कम करने की दृष्टि से कोई कदम नहीं उठाना चाहता था, क्योंकि ऐसा करने से उसके अमरीका के साथ सम्बन्धों पर बुरा प्रभाव पड़ता जो वह नहीं चाहता था। दूसरी और अमरीका अपने प्रभाव क्षेत्र वाले एशियाई देशों से कच्चे माल की रूसी खरीद में कोई रुकावट नहीं डाल रहा था, जैसे, रूस मलयेशिया से टीन और रबड़ आसानी से प्राप्त कर रहा था। कुल मिलाकर आर्थिक क्षेत्र में भी एशियाई देशों की सौदेबाजी की क्षमता देतांत के बाद कम हो गयी और कच्चे माल की कीमतों का निर्धारण पश्चिमी राष्ट्रों के हाथों में चला गया।

देतांत का मूल्यांकन (Assessment)

रॉबिन एडमंड्स का मानना है कि 1962 से शुरू होने वाला दशक देतांत का युग था।[2] उनका यह भी कहना है कि 'देतांत' शब्द में जिस तरह का सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण व मधुर प्रतिध्वनित होता है, वह महाशक्तियों के सन्दर्भ में सटीक नहीं।

[1] R. K. Jain, *Detente in Europe . Implications for Asia* (Delhi, 1977), 244.
[2] Robin Edmonds, *Soviet Foreign Policy* (London, 1975), 168

पारम्परिक प्रयोग मे इससे तनाव-शैथिल्य का बोध होता है, जो इस मामले मे पूरी तरह सही नही। जैसा कि उपरोक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि देतान के अन्तराल मे महाशक्तियो के बीच शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्वाभाविक या नियमित नही रहा। अत इसे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का सर्वसम्मत नियम या स्थायी नीति नही कहा जा सकता। एडमड्स इस बात को स्वीकार करने से नही कतराते कि ब्रिटेन-फ्रास सम्बन्धो के परिप्रेक्ष्य मे इस शताब्दी के पहले चरण मे जो परिकल्पना विकसित की गयी, उसकी सम-सामयिक नई व्याख्या विसगत है। भले ही, देतात के सूत्रधार ने अमरीका-सोवियत सम्बन्धो को महत्वपूर्ण ढग से बदला परन्तु पुरानी परिभाषा की अनुगूंज भ्रान्ति ही पैदा करती है। 25 अक्टूबर, 1973 को एक प्रेस सम्मेलन मे हेनरी किसिंजर ने बदली परिस्थिति और बदले परिदृश्य मे इन सम्बन्धो को जिस तरह परिभाषित किया, उसको नितारना आज भी कठिन है। किसिंजर ने कहा था—सोवियत सघ के साथ हमारे सम्बन्ध अनूठे हैं। हम एक साथ, एक ही वक्त विपक्षी भी हैं और सहयोगी भी। एडमड्स का यह मानना बिल्कुल सही है कि एक काल विशेष मे आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय घटना-क्रम के दबाव से अपनायी गयी राजनयिक रणनीति ही देतात थी। इसे विश्व इतिहास मे कोई क्रान्तिकारी या निर्णायक महत्व का परिवर्तन समझना गलत होगा। इसी कारण बदली परिस्थिति मे क्रिया-प्रतिक्रिया वाले सिद्धान्त के अनुसार देतात को भी त्यागना सम्भव हुआ।

1970 के दशक के अन्तिम वर्षों तक विश्व भर मे ऐसी अनेक घटनाएँ घटी जिन्होंने देतात के तर्क को झुठला दिया। चीन मे माओ युग की समाप्ति, अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप, लेबनान सकट मे बिगाड, कम्पुचिया मे वियतनामी अतिक्रमण को सोवियत समर्थन, ईरान मे शाह का तख्ता पलट व इस्लामी कठमुल्लापन का उभार, ईरान इराक युद्ध का जारी रहना, दक्षिण अफ्रीकी नस्लवाद के आक्रामक तेवर, निकारागुआ एव दक्षिण अमरीका मे अन्यत्र परोक्ष रूप से अमरीका द्वारा सैनिक हस्तक्षेप आदि जैसी घटनाएँ घटी, जिससे देतात की भावना को गहरा धक्का पहुँचा।

सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव ने एशियाई प्रशान्त प्रदेश मे शान्ति क्षेत्र के विस्तार के लिए जो नई योजना सुझायी, उसकी एक विशेषता यह है कि कि उसमे 'प्रतिस्पर्धी सहकारी महाशक्ति' के रूप मे सिर्फ अमरीका को ही नही बल्कि चीन को भी आमन्त्रित किया गया अर्थात् 'तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया नये दबावो के अनुसार न तो सिर्फ महाशक्तियो तक सीमित रह गयी है और न ही उसका मुख्य प्रभाव-क्षेत्र यूरोप तक सिमटा है। तनाव-शैथिल्य की वास्तविकता पर सवालिया निशान लगाना जरूरी है। भले ही रोजमर्रा की बातचीत मे सोवियत-चीन, चीन जापान, आसियान-वियतनाम सम्बन्धो मे किसी भी परिवर्तन को देतात की सज्ञा देने मे जल्दबाजी की जाती थी, परन्तु यह याद रखना उपयोगी होगा कि देतात एक युग नही, देश-काल बद्ध अन्तराल था।

सातवाँ अध्याय

नया शीत युद्ध

तनाव-शैथिल्य की जो प्रक्रिया 1962 मे क्यूबाई मिसाइल संकट के बाद आरम्भ हुई थी, वह लगभग 15–16 वर्ष तक निरन्तर जारी रही। मगर 1970 के दशक के अन्तिम वर्षों मे एकाएक अप्रत्याशित ढग से ऐसे अनेक अशुभ सकेत देखने को मिले, जिन्होने विद्वानो को यह सोचने को विवश किया कि कही 'नया शीत युद्ध'[1] तो आरम्भ नहीं हो रहा है। 1973 के ऊर्जा सकट के बाद अमरीकी विदेश मन्त्री हेनरी किसिंजर ने खाडी के तेल-उत्पादक देशों को जो धमकियाँ दी, उनसे अमरीका का 'आक्रमक अधिपति' वाला रूप झलका। निश्चय ही, तमाम तनाव-शैथिल्य के बावजूद सोवियत सघ इसका मूक दर्शक बना नही रह सकता था। कुछ समय बाद इस क्षेत्र मे अपने हितो की रक्षा के लिए अमरीका ने तुरन्त तैनाती दस्ते (Rapid Deployment Force) की योजना पेश की। अमरीका ने अपने सामरिक हितो के लिए यह जरूरी समझा कि हिन्द महासागर के क्षेत्र मे डिएगो गार्शिया जैसे नए सैनिक अड्डो की स्थापना की जाये। ऊपर से देखने मे इनमे से कोई भी घटना सोवियत सघ के खिलाफ नही थी। परन्तु इसका दूरगामी प्रभाव महाशक्तियो के सम्बन्ध को असंतुलित करने वाला था।

अन्तर्राष्ट्रीय संकटो का सन्निपात

1979 मे दो ऐसी घटनाएँ हुई, जिन्होने तनाव-शैथिल्य के भ्रम को बचाये रखना असम्भव बना दिया। ये दो घटनाएँ थी—ईरान के शाह का पतन और अफगानिस्तान मे सोवियत सघ का सैनिक हस्तक्षेप। ईरान के शाह अपने क्षेत्र मे अमरीकी रणनीति के प्रमुख स्तम्भ थे, जो ढह गये। अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिक हस्तक्षेप ने न केवल सोवियत महत्वकाक्षा, बल्कि उसके सामर्थ्य को प्रमाणित किया। सोवियत शह और समर्थन से ही वियतनाम ने कम्पुचिया मे सफल हस्तक्षेप किया और वियतनाम चीन के साथ सैनिक मुठभेड को झेल सका। इन सब घटनाओ का सयोग अमरीका के पडौस मे निकारागुआ और अल सल्वाडोर में मार्क्सवादी सोवियत पक्षधर सरकारों के सत्ता सम्भालने से हुआ। इस तरह लगभग डेढ दशक बाद एक बार फिर पुराने शीत युद्ध के पहले चरण की तरह ही विश्व भर मे अन्तर्राष्ट्रीय संकटों का सन्निपात दिखायी दिया। इनमें से अनेक जैसे ईरान में शाह का पतन या अफगानिस्तान मे सोवियत प्रवेश महाशक्तियों के बीच टकराव लाने वाले थे।

[1] 'नए शीत युद्ध' को 'द्वितीय शीत युद्ध' या 'दूसरा शीत युद्ध' भी कहा गया है। इसी प्रकार 'पुराने शीत युद्ध' को 'पहला शीत युद्ध' भी कहा गया है। इस पुस्तक मे सुविधानुसार इन सभी नामों-शब्दावलियों का प्रयोग किया गया है।

तनाव-शैथिल्य में नए शीत युद्ध के बीज

उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि दूसरे या नए शीत युद्ध के बीज तनाव-शैथिल्य में निहित थे। तनाव-शैथिल्य का स्वागत करने के उत्साह में किसी ने इसकी सीमाओं को याद रखने की आवश्यकता नहीं समझी। 'वैरी सहकारिता (adversary partnership) वाली रिश्तेदारी में 'वैर' और 'सहकार' दोनों समान रूप से महत्वपूर्ण होते हैं और इनमें से किसी भी पक्ष की अवहेलना लाभप्रद नहीं हो सकती। जहाँ एक ओर साल्ट-एक समझौते और हैलसिंकी शिखर सम्मेलन ने तनाव-शैथिल्य के रचनात्मक पक्ष को स्पष्ट किया, वहीं साल्ट-दो की निष्फलता ने इसकी सीमाओं को भी झलकाया।

अमरीका में राष्ट्रपति निक्सन के कार्यकाल के अन्तिम वर्षों में दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं। वाटरगेट प्रकरण में यह बात पता चली कि राष्ट्रपति कार्यालय में नीति-निर्धारण की प्रणाली-प्रक्रिया कितनी दोषपूर्ण है और वैदेशिक मामलों में यह एक हद तक राष्ट्र को कमजोर बनाने वाली हो सकती है। दूसरी ओर निक्सन ने चीन के साथ अमरीका के सम्बन्ध सुधार कर सोवियत संघ पर एक तरह का करारा राजनयिक वार करने की अपनी क्षमता प्रदर्शित की। निक्सन ने इस सारे दौर में अपने तमाम सकटों के बावजूद हिन्द महासागर में शक्ति-संघर्ष और अफ्रीका में क्यूबाई सैनिकों के माध्यम से अस्थिरता लाने के आरोप लगाकर सोवियत संघ को बचाव की मुद्रा के लिए विवश किया।

दूसरी ओर ब्रेझनेव के शासन काल में सोवियत साम्यवादी पार्टी और नेताओं को इस बात का अहसास होने लगा कि उन्हें अमरीका के सामने दबने-झुकने की कोई आवश्यकता नहीं। सोवियत क्रान्ति की 60वीं वर्षगांठ मनाते-मनाते सोवियत जनता अपने जीवन स्तर में बेहतरी की माँग मुखर करने लगी थी। इसके परिणामस्वरूप सोवियत विदेश नीति के निर्धारण व संचालन में एक नया आत्म-विश्वास देखने को मिला। ऐसी स्थिति में जब सोवियत संघ को महसूस हुआ कि अमरीका तनाव-शैथिल्य के अन्तर्निहित तर्क के अनुरूप आचरण नहीं कर रहा और उसे महाशक्ति के रूप में नहीं देख रहा है तो उसने अपने राजनयिक क्रियाकलाप में जवाबी तौर पर तनाव-शैथिल्य की शर्तों का उल्लंघन आरम्भ कर दिया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण पश्चिम एशिया संकट निवारण के लिए अमरीकी क्रियाकलाप में मिलता है जिसकी परिणति कैम्प डेविड समझौते में हुई। अमरीका ने इजराईल एवं मिस्र के बीच सुलह-सन्धि कराने वक्त सोवियत संघ को साथ रखने की कोई जरूरत नहीं समझी। इथियोपिया, अंगोला आदि में बढ़ी सोवियत रुचि इसी सन्दर्भ में समझ में आती है। इसी तरह इस बात की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि ईरान में शाह के पतन के बाद जिस इस्लामी कट्टरता का दौर शुरू हुआ, उसकी उपेक्षा सोवियत संघ अपनी जनसंख्या के मुसलमान हिस्से को देखते हुए नहीं कर सकता था। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के पहले चीन-ईरान साठगांठ से सोवियत संघ के इस दक्षिणी मर्मस्थल में 'शोला ए जावेद' जैसे छापामारों की गतिविधियाँ शोचनीय रूप ले चुकी थीं। सोवियत संघ द्वारा वियतनाम को दिया गया समर्थन व सहायता भी तब तक ठीक से नहीं समझे जा सकते, जब तक हम इस बात को याद नहीं रखते कि हिन्द

चीन से अपनी वापसी के बाद पोल पोट और सिहानुक के पक्षधर षड्यन्त्रकारी छापामारों के जरिये परोक्ष रूप से अमरीका और चीन, वियतनाम को निरन्तर कष्ट पहुँचाते रहे। यदि सोवियत संघ वियतनाम का साथ नहीं देता तो उसे महाशक्ति के रूप में अपनी हैसियत बचाये रखना कठिन हो जाता और यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि उसके हित, उसकी भौगोलिक सीमाओं के भीतर सिमटे हैं, अमरीका की तरह विश्व भर में फैले हुए नहीं।

नए शीत युद्ध के उद्भव के कारण

नए शीत युद्ध के उद्भव के दो कारण हैं, जिनकी ओर ध्यान देना जरूरी है। राष्ट्रपति जिमी कार्टर के कार्यकाल में अमरीकी विदेश नीति का एक प्रमुख मुद्दा मानवाधिकारों की रक्षा बना और आलोचना का प्रमुख लक्ष्य सोवियत संघ को बनना पड़ा। अपने मित्र राष्ट्रों अर्जेंटीना और चिली में मानवाधिकारों के हनन की ओर अमरीका की आँख मुँदी रही। साथ ही बड़े पैमाने पर सैनिक खर्च, वैज्ञानिक परियोजनाओं को सरकारी अनुदान की स्वीकृति देने के लिए भी तनाव और संकट की मानसिकता बनी रही। इन सबकी प्रतिक्रिया में सोवियत संघ ने अप्रत्यक्ष रूप से क्यूबा के माध्यम से लातीनी अमरीकी भू-भाग में अमरीका की दुर्बलता को उद्घाटित करना आवश्यक समझा। मानवाधिकारों का प्रश्न हो या सैन्यीकरण का, व्यक्तित्व का टकराव हो या सैद्धान्तिक विवाद, एक बार फिर दो व्यवस्थाओं का बुनियादी विरोध समाप्त न कर सकना नए शीत युद्ध के रूप में सामने आया।

नए शीत युद्ध की परिभाषा
(New Cold War . Definition)

कुछ विद्वानों के मत में नया शीत युद्ध नया या दूसरा नहीं, बल्कि पुराने शीत युद्ध काल का एक और चरण है। दूसरी ओर फ्रेड हेलीडे और के० सुब्रह्मण्यम जैसे विश्लेषकों ने प्रकृति में मूलभूत अन्तर के कारण इन दोनों में फर्क किया है। सुब्रह्मण्यम के विचार से 'पहले और दूसरे शीत युद्ध में विकासशील देशों के आचरण के सन्दर्भ में दो बातों के आधार पर फर्क किया जा सकता है। पहले शीत युद्ध के दौरान सोवियत संघ के पास सातों समुद्रों के नीले जल पर विहार करने वाली नौसेना नहीं थी। परिणामस्वरूप उसकी शक्ति-क्षमता की पहुँच विश्व भर में नहीं देखी जाती थी—कम से कम अमरीका में तो नहीं"।' दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि औपनिवेशिक काल के पश्चात् विकासशील देशों ने अपने क्षेत्र में प्राकृतिक संसाधनों पर राजनीतिक और कानूनी स्वामित्व ग्रहण कर लिया। तब इन देशों के पास अपने प्राकृतिक संसाधनों के समुचित दोहन के लिए सोवियत समाजवादी खेमे की वैकल्पिक टैक्नोलोजी सुलभ हुई।[1]

इसके अलावा सुब्रह्मण्यम के मत में नये शीत युद्ध के कुछ और पहलू पुराने शीत युद्ध से भिन्न हैं। पुराने शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों के सन्धि-मित्र देश सैनिक संगठनों और आर्थिक सहायता के माध्यम से उनके आज्ञाकारी व अनुशासित शिविरानुचर बने रहते थे। लेकिन आज सिर्फ दक्षिण अफ्रीका और इजराईल की निरंकुश उच्छृंखलता ही नहीं, फ्रांस, जर्मनी, हंगरी, रूमानिया जैसे

[1] K. Subrahmanyam, *The Second Cold War* (Delhi, 1983), 20–21

देशो की 'स्वाधीनता' द्विध्रुवीय विश्व को विसंगत सिद्ध कर चुकी है। पुराने शीत युद्ध के दौरान दो महाशक्तियो के बीच टकराव को रोकने और शान्ति के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए गुट निरपेक्ष आन्दोलन का आविर्भाव हुआ और उसने एक रचनात्मक-सार्थक भूमिका निभाई। इसके विपरीत सम-सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे नये शीत युद्ध के आरम्भ ने गुट निरपेक्ष आन्दोलन मे दरारें पैदा कर दी। इसके अलावा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शीत युद्ध के पहले चरण मे अन्तर्राष्ट्रीय सकट का केन्द्र यूरोप था, जबकि 1978 के बाद के दशक मे शक्ति-संघर्ष के लगभग सारे मौके अफ्रीका, एशिया और लातीनी अमरीका मे दृष्टिगोचर हुए हैं।

अन्त मे, अमरीकी शक्ति का अपेक्षाकृत ह्रास, सिर्फ सोवियत क्षमता के विस्तार के कारण नही, बल्कि आर्थिक क्षेत्र मे जापान और जर्मनी के आर्थिक महाशक्ति के रूप मे उदय के कारण भी शीत युद्ध के दौर मे जटिलता आयी। इनमें से अनेक बातो की पुष्टि फ्रेड हेलीडे ने भी की है। उन्होंने अलग से कुछ विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ की हैं। इनमे सबसे महत्वपूर्ण यह है कि पुराने शीत युद्ध मे सैद्धान्तिक या वैचारिक पक्ष जिस तरह महत्वपूर्ण था, नये शीत युद्ध के टकराव मे उसकी वह स्थिति नही रही। इतिहासकार आर्नो मेअर का एक सटीक उदाहरण देते हुए फ्रेड हेलीडे ने इस बात पर जोर दिया है कि पुराने शीत युद्ध के दौरान अमरीका और सोवियत सघ जिन सैद्धान्तिक हथियारो से एक-दूसरे पर वार करते थे, उनका भण्डार आज खत्म हो चुका है। आज ये दोनो महाशक्तियाँ जिस दगल मे भिडी है, वह तीसरी दुनिया मे आधिपत्य जमाने के लिए सीधी सादी जोर आजमाइश है।[1]

भूतपूर्व अमरीकी विदेश मन्त्री हेनरी किसिजर ने स्वय यह बात स्वीकार करते हुए कहा कि 'हमारी सबसे बडी समस्या यह है कि हम शत्रुओ के साथ अपनी प्रतिद्वन्द्विता को सीमित-नियमित करें।' भले ही उन्होंने यह कहा कि हम सोवियत सघ विषयक मानसिक ग्रन्थि-कुठा से मुक्त होना चाहते हैं, यथार्थ मे नीति निर्धारण और सम्पादन इस सफाई के अनुसार नहीं हुए। प्रसिद्ध विद्वान एलस्टर बेकन ने 1973 मे यह भविष्यवाणी कर दी थी कि 'सोवियत सघ और अमरीका को अन्तत तीसरी दुनिया मे अपना आधिपत्य स्थापित करने के विषय मे कोई न कोई समझ हासिल करनी होगी। यूरोप व पश्चिम एशिया जैसे स्थानो के बारे मे एक-दूसरे की भेद्यता (vulnerability) को देखते हुए शीत युद्ध की चपेट से छुटकारा पाया जा सकता है।'[2] ऐसा न हो सकने के कारण ही नये शीत युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सकटग्रस्त बनाया।

शीत युद्ध को परिभाषित करते हुए 'सम्पत्ति एव निर्धनता' (Wealth and Poverty) नामक पुस्तक के लेखक जार्ज गिल्डर ने यह मत अभिव्यक्त किया कि 'द्वितीय शीत युद्ध का प्रमुख कारण और इसकी प्रकृति की विशेष पहचान का एक प्रमुख तत्व साम्यवादी सपने का समाप्त होना है।' हैलिडे ने इससे अपनी असहमति प्रकट करते हुए लिखा है कि 'वस्तुत दूसरा शीत युद्ध पारम्परिक दक्षिणपंथी विचारधारा का पुनर्पोषण नही, बल्कि नव-अनुदारवाद (New-Conservatism) का

[1] Fred Haliday, *The Making of the Second Cold War* (London, 1983), 19.
[2] फ्रेड हेलीडे की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 19।

बलवान होना था।' इसकी पुष्टि कार्ल केसर आदि द्वारा लिखित 'पश्चिम की सुरक्षा : क्या बदला और क्या किया जाये' (Western Security What has changed and What should be done) नामक पुस्तक में प्रकाशित सामग्री से होती है। इसमें विदेश नीति सम्बन्धी पारम्परिक सामान्य ज्ञान को नकारा गया है। मारग्रेट थैचर का ब्रिटेन हो या रोनाल्ड रीगन का अमरीका, प्रतिपक्षी को पीछे धकेलने वाली मानसिकता-प्रतिबद्धता पूर्ववत् रही। अमरीका द्वारा अपनी तथा अपने मित्र देशों की विदेश नीति का सचालन एक बार फिर सोवियत सघ के साथ मुठभेड के लिए किया गया।

इन परिभाषाओ के विश्लेषण, इनकी प्रवृत्तियो की समानता और अन्तर पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट होती है 'वस्तुत पुराने तथा नये शीत युद्ध के मौलिक स्वरूप मे अन्तर उतना बुनियादी नही जितना अक्सर बतलाया जाता है जैसा कि हेलीडे ने अपने निष्कर्ष मे लिखा—'शीत युद्ध के दोनो चरण (अर्थात् पुराना व नया शीत युद्ध) निर्व्यक्ति (Impersonal) और शस्त्र-होड़ के कारणो भर से नही उपजे थे, बल्कि इनका विकास विश्वव्यापी सामाजिक सघर्ष तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्य जटिल घटको की अन्तर-क्रिया से हुआ। द्वितीय शीत युद्ध उस बुनियादी टकराव को प्रतिबिंबित करता है, जिसके रहते महाशक्तियो की नीतियों मे सामंजस्य नही बिठाया जा सकता। इसका आविर्भाव इसलिए तेज हुआ कि दोनो पक्ष पुराने शीत युद्ध के दौरान हासिल सभी उपलब्धियो को बरकरार रख सकें और शत्रु का आतंक दिखाकर अपने खेमे की एकता बनाये रख सकें। यदि पहला शीत युद्ध द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान रूजवेल्ट प्रशासन की रणनीति-राजनय की सन्तान था तो दूसरा शीत युद्ध अमरीकी राष्ट्रपतियो और उनके सलाहकारो की सुविचारित, पूर्वनिश्चित व दूरदर्शी सामरिक योजनाओं का परिणाम। इस तरह द्वितीय शीत युद्ध न तो आकस्मिक दुर्घटना है और न ही कुटिल षड्यन्त्र। यह सीमित क्षमता वाले सत्तारूढ व्यक्तियो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम को प्रभावित करने के प्रयत्न को प्रतिबिंबित करता है। *निरन्तर बदलती अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ महाशक्तियो के* वर्चस्व को नई चुनौतियाँ पेश करती रही है और यही परिवर्तन प्रतिपक्षी के साथ शक्ति सघर्ष जारी रखने का नया आयाम उद्घाटित करती रही है। यही दूसरे शीत युद्ध का यथार्थ है।[1]

पुराने व नये शीत युद्ध में अन्तर

भले ही पुराने और नये शीत युद्ध के बीच कोई मूलभूत अन्तर न हो, फिर भी दोनो स्थितियों मे महत्वपूर्ण अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होते थे, जिनके परिणाम दूरगामी सिद्ध हुए। इनमें प्रमुख अन्तर निम्नांकित है—

1. विचारधारा का अवमूल्यन—पूँजीवाद और साम्यवाद का टकराव 1945 से नही, बल्कि 1917 से ही विश्व को दो खेमो मे बाँट चुका था। 1945 से लेकर

[1] 'The Second Cold War was neither an accident, nor the product of some neat conspiracy; it reflected conscious long-term decisions taken by people in power with limited control over world events Theirs was a response to a changing world situation which provided new challenges to their system of domination and new opportunities for prosecuting the globalised conflict with opposing bloc'. —Fred Halliday, *Ibid*, 23

1960–62 तक का सैद्धान्तिक कलह शीत युद्ध का मुख्य प्रेरक रहा। इसी आधार पर दोनों महाशक्तियों ने एक-दूसरे की नीतियों का मूल्यांकन किया और भविष्य के बारे में पूर्वानुमान लगाया। उनके द्वारा अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए नैतिक व लगभग आध्यात्मिक-तात्विक शब्दावली का प्रयोग करना आम बात थी। अमरीका व रूस ने तीसरी दुनिया के देशों का दिलो दिमाग जीतने के लिए सांस्कृतिक और आर्थिक राजनय को विदेश नीति के कारगर उपकरणों के रूप में इस्तेमाल किया। नये शीत युद्ध के वर्तमान दौर में विचारधारा का अवमूल्यन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ऐसा नही जान पड़ता कि किसी एक पक्ष के विचारधारा पर कम जोर दिये जाने से यह प्रक्रिया आरम्भ हुई। जैसाकि जॉन केनेथ गेलब्रेथ जैसे विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि एक खास स्तर की तकनीकी योग्यता हासिल करने के बाद पूँजीवादी और साम्यवादी राष्ट्र एक ही स्वरूप धारण कर लेते हैं। यह विश्लेषण 'अभिसरण धारणा' (Convergence Thesis) के नाम से विख्यात है और इसका विस्तृत ब्यौरा उनकी 'न्यू इंडस्ट्रियल स्टेट' (New Industrial State) नामक पुस्तक में मिलता है। पिछले 12–13 वर्षों में भले ही अमरीका और रूस की एक-दूसरे के प्रति आक्रामकता बढ़ी है, परन्तु इसका विश्लेषण बिना किसी सैद्धान्तिक शब्दजाल में पड़े विशुद्ध सामरिक कारणों से किया जा सकता है।

2. संघर्ष स्थल का स्थानान्तरण—पुराने शीत युद्ध में सबसे बड़ा संकट-स्थल यूरोप रहा, भले ही ईरान, कोरिया आदि समय-समय पर चर्चित रहे। आरम्भ से ही यह बात सर्वसम्मत थी कि विभाजित जर्मनी लोह-आवरण वाले शब्द प्रयोग को सार्थक बनाता है। द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में सामाजिक व आर्थिक उथल पुथल का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यूरोपीय क्षेत्र में साम्यवादी प्रभाव को कम करने के लिए मार्शल योजना की रूपरेखा तैयार की गयी। बर्लिन की नाकेबन्दी इसी को स्पष्ट करती है। नये शीत युद्ध के वर्तमान चरण में संकट-स्थली का क्रमश स्थानान्तरण होता रहा। 1960 के दशक के मध्य से 1970 के दशक के मध्य तक वियतनाम और हिन्द चीन अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के सबसे बड़े केन्द्र रहे। इसके बाद ईरान-इराक, अफगानिस्तान, कम्पुचिया, वियतनाम, अंगोला, मोजाम्बिक, इथियोपिया, सोमालिया, लेबनान आदि का घटना-क्रम निरन्तर विस्फोटक बनता रहा।

3 प्रत्यक्ष मुठभेड़ की सम्भावना में वृद्धि—पुराने शीत युद्ध के दौरान उपनिवेशवाद का 'पूर्ण उन्मूलन' नही हुआ था। यह सम्भावना बची थी कि आतंक व सन्तुलन के रहते महाशक्तियाँ प्रत्यक्ष टकराव से बचते हुए परोक्ष रूप से भिड़कर एक-दूसरे की क्षमता आँकते रह सकते हैं। अफ्रीका और एशिया में चल रहे अनेक स्वाधीनता संग्रामों में पक्षधरता के कारण जहाँ एक ओर सोवियत संघ ने लोक-प्रियता हासिल की, वही जन-मुक्ति आन्दोलनों को अस्थिरता पैदा करने वाला षड्यन्त्र घोषित कर एवं यथास्थिति का बनाये रखने के अमरीकी प्रयत्न ने शीत युद्ध को अनावश्यक रूप से कटु एव त्रासद बनाया। अंगोला और मोजाम्बिक तथा तख्ता-पलट के बाद से अफगान घटनाक्रम इस धारणा को पुष्ट करते हैं। फिलीपीन्स से लेकर निकारागुआ तक उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवाद की प्रत्यक्ष पकड़ कमजोर हुई। साथ ही महाशक्तियों में अप्रत्यक्ष टकराव या रस्साकशी की सम्भावना

का विकल्प शेष नहीं रहा। निश्चय ही, महाशक्तियों की आपसी मुठभेड़ों को कम खतरनाक बनाने वाले 'बफर' राज्यों का अभाव नये शीत युद्ध के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। इससे अमरीका व सोवियत संघ में प्रत्यक्ष मुठभेड़ की सम्भावना बढ़ी।

4. सैनिक संगठनों का अवमूल्यन—पुराने शीत युद्ध के दौरान अमरीका और सोवियत संघ दोनों ने टकराव को बुनियादी तौर पर सैनिक माना और संकट समाधान के लिए सैनिक संगठनों को आवश्यक समझा। परिणामस्वरूप, महाशक्तियों द्वारा प्रवर्तित सिएटो, सेन्टो, वारसा सन्धि, अंजुस, आंग्ल-मलय आदि सैनिक समझौतों के माध्यम से तमाम विश्व में इन गठबन्धनों के साथ शीत युद्ध की मानसिकता का प्रसार हुआ। अपने को महाशक्ति बतलाने वाले राष्ट्र के लिए विश्व भर में अपने हितों को परिभाषित करने और इनकी रक्षा के लिए अपने सामर्थ्य के प्रदर्शन के लिए ये संगठन बहुत उपयोगी थे। 1950 के दशक में तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री डलेस का 'डोमिनो सिद्धान्त' तथा 1960 के दशक में सोवियत संघ द्वारा सहयोगी राष्ट्रों की 'सीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त' का प्रतिपादन सैनिक संगठनों और इनके एक 'निर्विवाद नायक' की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है।

सैनिक संगठनों की स्थापना और विश्व का द्विध्रुवीकरण अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे। सैनिक संगठनों की कट्टरता का क्षय और बहुध्रुवीकरण की प्रक्रियाएँ समानान्तर रूप से चलती रहीं। जहाँ एक ओर सोवियत-चीन विग्रह ने साम्यवादी खेमे में दरार डाली, वहीं फ्रांस द्वारा देगोल के कार्यकाल में स्वाधीन निजी परमाणु शक्ति हासिल करने एवं जर्मनी तथा जापान के आर्थिक शक्ति के रूप में उभरने से यह स्पष्ट हुआ कि पश्चिमी खेमे में पहले जैसी एकता शेष नहीं बची है। वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप, सभी 'सिएटो' सदस्यों तक को एकसाथ रखने में पूर्णतः सफल नहीं हुआ। इसी तरह निशस्त्रीकरण शिखर वार्ताओं और यूरोप में सोवियत-अमरीकी मुकाबले को लेकर अमरीका और मित्र राष्ट्रों के बीच तनाव बना रहा है। 'नाटो' की जर्जरता का पता अभी पिछले वर्षों में फॉकलैण्ड युद्ध में चला। अरब-इजराईल संघर्ष ने 'सेन्टो' को लगभग दो दशक पहले ही निरर्थक बना दिया था।

5. द्विध्रुवीय से बहुध्रुवीय विश्व—द्विध्रुवीय (Bi-polar) विश्व से बहुध्रुवीय (Multi-polar) विश्व में परिवर्तन ऐसी नाटकीय एवं महत्वपूर्ण घटना थी, जिसने बहुत बड़ी सीमा तक द्वितीय विश्व युद्ध से पहले की स्थिति (अनेक राष्ट्रों के बीच शक्ति सन्तुलन वाली स्थिति को) को वापस ला दिया। द्वितीय महायुद्ध की हार-जीत और परमाणु अस्त्रों के आविष्कार ने महाशक्तियों के आविर्भाव के साथ विश्व को सैद्धान्तिक और भू-राजनीतिक दृष्टि से दो परस्पर विरोधी खेमों में बाँटा था। कालक्रम में सामाजिक सुस्थिरता एवं आर्थिक पुनर्निर्माण के साथ दोनों महाशक्तियों के पस्त-क्षतिग्रस्त सहयोगी देश अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और विगत क्षमता फिर से हासिल करने के लिए उत्सुक हुए। 1956 का स्वेज संकट एक बड़ी सीमा तक इसी कारण पैदा हुआ, क्योंकि ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री एंथोनी ईडन यह मानने को तैयार नहीं थे कि उनका देश अब दूसरे दर्जे की शक्ति समझा जाता है। इसी तरह चीन और फ्रांस ने माओ और देगोल के जीवनकाल में अपनी संरक्षक महाशक्ति तक को अपना समकक्ष नहीं माना। जापान और पश्चिम जर्मनी ने चमत्कारी ढंग से लाभप्रद आर्थिक विकास के साथ-साथ अपनी महत्वाकांक्षा को

मुखर करना आरम्भ किया। इसका प्रमुख कारण यह था कि वे वैदेशिक मामलों में पथ प्रदर्शन नहीं करते थे।

इसके अतिरिक्त यूरो कम्यूनिज्म (Euro-Commun sm) अर्थात् इस बात के परिवेश में प्रभावित साम्यवादी दलों के राष्ट्रीय संस्करण के प्रकट होने, सोवियत संशोधनवाद और मार्क्सवाद के माओवादी व्याख्याकरण ने सैद्धान्तिक कारणों से बहु-ध्रुवीकरण की प्रवृत्ति को पुष्ट किया। इसके समानान्तर स्वयं अमरीका की [illegible] के रूप में उसके मित्र राष्ट्रों ने आरम्भ की। इसका अच्छा दृष्टान्त श्राइबर द्वारा लिखित पुस्तक अमरीकी चुनौती (The American Challenge) है। पुस्तक में इस बात पर बल दिया गया है कि फ्रांस जैसे सांस्कृतिक पुरोधा देशों की सबसे बड़ी चुनौती अमरीकी आधिपत्य (आर्थिक और सांस्कृतिक) से बचने की है।[1] इसी तरह प० जर्मनी में विली ब्रांट की आस्टपालितिक' नीति ने यह बात झलकायी कि यूरोपीय परिदृश्य के विषय में अमरीका और उसके सहयोगी देशों में मतभेद रहते हैं। इस प्रकार बदले अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में द्विध्रुवीय विश्व बचा नहीं रह सकता था।

6 गुट निरपेक्ष आन्दोलन की निरर्थकता—द्विध्रुवीय विश्व के बहुध्रुवीय जगत में बदलने के साथ गुट निरपेक्ष आन्दोलन का अवमूल्यन होना अवश्यम्भावी था। जैसाकि नेहरू जी कहा करते थे कि गुट निरपेक्ष राज्यों की इच्छा किसी तीसरे गुट की स्थापना नहीं बल्कि शान्ति का क्षेत्र विस्तृत करने की अभिलाषा थी। शीत युद्ध के चरम चरण में विनाश के कगार पर खड़े प्रतिद्वन्द्वियों के बीच सुलह का मार्ग प्रशस्त करने वाले मध्यस्थ के रूप में गुट निरपेक्ष राष्ट्र अपने को देखते थे। नेहरू जी ने कतिपय ऐसे अवसरों पर इस मामले में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बहुध्रुवीकरण के साथ एवं महाशक्तियों के बीच दितान्त की सम्भावना उजागर होने से गुट निरपेक्ष राजनय का अवमूल्यन हुआ। इसके कुछ और कारण रहे जिनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के पहले बेलग्रेड शिखर सम्मेलन (1961) में यह बात साफ हो गयी कि सदस्य संख्या बढ़ने के साथ गुट निरपेक्ष राष्ट्रों में पुरानी एकता नहीं बची रही है। जहाँ एक ओर नेहरू जी ने परमाणु अस्त्रों को विश्व-शान्ति के लिए सबसे बड़ी आत्यन्तिक समस्या कहा, सुकार्णो जैसे नेताओं ने नव उपनिवेशवाद का अन्त करने के लिए नेहरू जी की आलोचना की। नेहरू जी एक आदर्शवादी थे जो अद्भुत दूरदृष्टि के साथ शीत युद्ध एवं नव उपनिवेशवाद के अन्तर-सम्बन्ध को अच्छी तरह समझते थे। अन्यथा आज तक इस मामले में गुट निरपेक्ष आन्दोलन असमंजस में पड़ा दीखता। इस सबका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शीत युद्ध के नये दौर में गुट निरपेक्ष राष्ट्रों और आन्दोलन द्वारा पुरानी भूमिका निभाने तथा संघर्ष से बाहर रहने की आशा अपेक्षा नहीं की जा सकती।

7 महाशक्तियों के स्वरूप-सामर्थ्य में असमानता एवं असन्तुलन कम होना—पुराने और नये शीत युद्ध के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात पता चलती है कि 1945 से आज तक के अन्तराल में दोनों प्रतिस्पर्धी-प्रतिद्वन्द्वी महाशक्तियों के स्वरूप और सामर्थ्य में असमानता एवं असन्तुलन निरन्तर कम होते रहे। इससे शीत युद्ध की नई स्थिति पर भारी प्रभाव पड़ा। 1945 में अमरीका द्वितीय विश्व युद्ध के

[1] देखें J J Servan Schre ber *The American Chal enge* (London 1968)

नुकसान से अक्षत रहा। समृद्धि में उसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता था। जो पुरानी औपनिवेशिक ताकतें अमरीका की प्रतियोगी बन सकती थीं, वे सभी ध्वस्त पड़ी थीं। इनमें सोवियत संघ भी शामिल था, जिसने द्वितीय विश्व युद्ध में 20 लाख से अधिक जानें गवायी थीं और उसके आर्थिक विकास के सभी कार्यक्रम गड्ड-मड्ड हो चुके थे। कुछ ही वर्षों तक सही, परमाणु अस्त्रों के क्षेत्र में अमरीका का एकाधिकार रहा था। इसके अलावा अमरीका सोवियत जड़ता-कट्टरता के मुकाबले अपनी व्यवस्था को मुक्त जनतान्त्रिक व्यवस्था के रूप में प्रचारित करता था।

परन्तु आज यह स्थिति आमूल-चूल बदल चुकी है। टैक्नोलोजी के कुछ क्षेत्रों में भले ही सोवियत संघ अमरीका से पिछड़ा हो, लेकिन सामरिक शस्त्रास्त्रों के क्षेत्र में दोनों देश समकक्ष हैं। इस स्थिति में दोनों पक्ष अपने को निरापद नहीं समझते। इस प्रकार इस परिवर्तन ने नये शीत युद्ध को पुराने शीत युद्ध की अपेक्षा जटिल बनाया है।

नये शीत युद्ध के कारण
(Causes of the New Cold War)

पुराने शीत युद्ध के आविर्भाव के साथ यह स्पष्ट हो गया कि न युद्ध और न ही शान्ति वाली यह स्थिति आतंक के सन्तुलन के कारण सम्भव हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर सम्भावित घटनाक्रम के बारे में कोई भी तर्कसंगत अनुमान लगाना तभी तक सहज था, जब तक महाशक्तियों में सन्तुलन न सही, एक तरह की तुलनीयता (Comparability) दृष्टिगोचर होती थी। इस प्रवृत्ति की परिणति महाशक्तियों के बीच तनाव-शैथिल्य में हुई। तनाव-शैथिल्य के समापन और नये शीत युद्ध के आरम्भ होने के साथ महाशक्तियों की क्षमताओं में उत्पन्न असन्तुलन और तद्जनित अस्थिरता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। बहरहाल, नये शीत युद्ध के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं :

1. **अमरीकी शक्ति का क्षय एवं सोवियत शक्ति का विस्तार**—जिस तरह द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सोवियत संघ निरन्तर संघर्षरत रहने के कारण ध्वस्त-पस्त हो गया था तथा अमरीका अपेक्षाकृत निरापद बचा रह सका था, उसी तरह वियतनाम संघर्ष के बाद नये शीत युद्ध की पूर्व संध्या पर अमरीका खिन्न-क्लांत तथा सोवियत संघ अपेक्षाकृत आराम-विश्रामी था। ऐसा नहीं कि अमरीकी शक्ति का व्यय-अपव्यय सिर्फ हिन्द चीन में हुआ हो। क्यूबा में फिदेल कास्त्रो के उदय के बाद में पारम्परिक मुनरो सिद्धान्त का प्रतिपादन सहज नहीं रहा। चिली हो या अर्जेनटीना, अमरीकी पक्षधर सैनिक जमघटों को सत्तारूढ़ रखने की बड़ी कीमत अमरीका को चुकानी पड़ी। *1973* के बाद पश्चिम एशिया ने नया सामरिक महत्व ग्रहण किया और तेल सकट ने अमरीकियों का ध्यान इस ओर दिलाया कि उनके वैभव और ऐश्वर्य की नींव कितनी कमजोर है ? इन्हीं वर्षों में पश्चिमी जर्मनी और जापान जैसे मित्र राष्ट्र आर्थिक क्षेत्र में अमरीका से बाजी मार ले गये और अन्तर्राष्ट्रीय मण्डी में उसके लिए चुनौती बन गये। अमरीकी नेताओं को यह बात खिन्न करती रही कि वे ऐसे सन्धि-मित्र देशों की सुरक्षा का भार वहन करने के लिए मजबूर हैं। फ्रांस हो या ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी हो या इजराईल, अमरीका अपने शिविरानुचरों की नीतियों का तालमेल अपने सामरिक हितों के साथ करने में असमर्थ रहा। अमरीकी

सोवियत संघ द्वारा वियतनाम को दी जाने वाली सहायता-समर्थन तथा अफगानिस्तान के प्रति उनकी विशेष संवेदनशीलता कमोबेश अमरीका-चीन सम्बन्ध सुधार से जुड़े हुए हैं। सोवियत संघ और चीन के पारस्परिक सम्बन्धों में सामान्यीकरण की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई, उसने नये शीत युद्ध को और जटिल बना दिया, क्योंकि इसके बाद शक्ति-सन्तुलन त्रिकोणीय हो गया।

3. अमरीकी कट्टरता—पुराने शीत युद्ध के बारे में अक्सर कहा जाता है कि इलेस के व्यक्तित्व का रूखापन तथा उसकी कट्टरता एक बड़ी सीमा तक संकटों के लिए जिम्मेदार रहे। साम्यवादी खेमे में रूसी नेता स्टालिन और चीन में माओ का उल्लेख इसी सन्दर्भ में किया जाता है। बिना अनावश्यक सरलीकरण के यह बात सुझायी जा सकती है कि नये शीत युद्ध के विकास के साथ अमरीकी सरकार की कट्टरता बहुत बड़ी सीमा तक जुड़ी रही है। यह बात सिर्फ राष्ट्रपति रीगन की जुझारू मानसिकता पर नहीं, बल्कि कार्टर जैसे अपेक्षाकृत उदार समझे जाने वाले राष्ट्रपति के मानवाधिकार सम्बन्धी दुराग्रह पर भी लागू होती है। यदि वस्तुनिष्ठ ढंग से देखें तो कैम्प डेविड समझौते से रूस को अलग रखने, डिएगो गार्सिया में नौ-सैनिक अड्डे की स्थापना, पाकिस्तान को दी जाने वाली सैन्य सहायता आदि के मामलों में भड़काने-उकसाने वाली पहल कार्टर ने ही की।

अमरीकी कट्टरता सिर्फ किसी एक व्यक्ति या पदाधिकारी तक सीमित नहीं रही। आखिर राष्ट्रपति रीगन को अभूतपूर्व बहुमत से दो बार निर्वाचित करने वाले अमरीकी मतदाता उस देश की जनसंख्या का बहुसंख्यक हिस्सा है। सोवियत संघ को बुरा और शत्रु समझने वाले और उसके साथ आत्मघाती मुठभेड़ के लिए तैयार रहने वाले ये मतदाता सम-सामयिक अमरीका की अहंकारी मानसिकता का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रेजेंजिस्की हो या जनरल हेग या किसिंजर, अमरीकी विदेश नीति के निर्धारण व संचालन के तौर-तरीकों में भेद समझ पाना आसान नहीं। इन अमरीकी लोगों को लगता है कि जिस तरह धौंसधमकी से ग्रेनेडा, पनामा, कोलम्बिया आदि पर काबू किया जा सकता है, उसी तरह सोवियत संघ के साथ आचरण कर काम निकाला जा सकता है। इस भ्रान्ति ने नये शीत युद्ध के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

4. नये सोवियत नेतृत्व का आत्म-विश्वास—यों तो यह बात शुरू से कही जाती रही है कि सोवियत नीति की कट्टरता या लचीलापन शीर्षस्थ साम्यवादी नेता के व्यक्तित्व पर आधारित रहते हैं, तथापि नये शीत युद्ध के सन्दर्भ में इस बात का एक नया पक्ष उजागर होता है। स्टालिन के सामने सबसे बड़ी समस्या द्वितीय विश्व युद्ध के बाद देश के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण की थी, तो ख्रुश्चेव के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती प्रक्षेपास्त्रों और परमाणु अस्त्रों के निर्माण की दौड़ में अमरीका से न पिछड़ने की। तीसरी दुनिया के देशों में सोवियत प्रभाव क्षेत्र फैलाना इन वर्षों में सामरिक महत्व का काम बना रहा। अर्थात् कुल मिलाकर सोवियत संघ की राजनयिक मुद्रा प्रतिरक्षात्मक रही। ब्रेझनेव के कार्यकाल के अन्तिम वर्षों तक इस स्थिति में गहरा परिवर्तन आ चुका था। जहाँ एक ओर अन्तरिक्ष अन्वेषण, शस्त्रास्त्र निर्माण आदि के क्षेत्र में सोवियत संघ 'हीनता ग्रन्थि' से मुक्त हो चुका था, वहीं दूसरी ओर जीवन-स्तर सुधारने के मामले में अपनी धीमी गति रूसी जनता को सालने लगी थी। इस तरह सोवियत नेताओं के बड़े आत्म-विश्वास ने नये शीत युद्ध को दो तरह

से प्रभावित किया। एक तो अफगानिस्तान, वियतनाम, कम्पुचिया जैसे रणक्षेत्रों में वैहिचक एवं लगभग दुस्साहसिक ढंग से कूद पड़ने की तत्परता सोवियत नेतृत्व ने दर्शायी। दूसरे, अमरीका के साथ भिड़कर वैदेशिक मामलों में अपना पराक्रम प्रमाणित कर सोवियत जनता के असन्तोष को नियमित-नियन्त्रित करने का प्रयत्न तर्कसंगत समझा गया।

ब्रेझनेव के बाद आन्द्रोपोव और गोर्बाच्योव ने अपने-अपने ढंग से इस प्रक्रिया को प्रभावित किया। जहाँ इन नये नेताओं के 'स्वाभाविक व्यक्तित्व' ने विश्व भर को प्रभावित किया, वहीं अमरीका इस बात को लेकर त्रस्त रहा कि कहीं यह मुखौटा भर न हो या कि प्रचार अभियान में रूस आगे न निकल जाये। इसे दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना समझा जाना चाहिए कि सोवियत नेतृत्व के आत्म-विश्वास ने महाशक्तियों के बीच तनाव को घटाने के बदले बढ़ाया।

5 नये राष्ट्रों-सहयोगियों का गैर-जिम्मेदाराना आचरण—द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर तब के नवोदित राष्ट्र गिने चुने थे—जैसे भारत, इण्डोनेशिया आदि। इनमें से अनेक एक ही राजनीतिक इकाई के प्रशासनिक या राजनीतिक विभाजन से उत्पन्न हुए थे—जैसे भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका और बर्मा। इस कारण राजनीतिक संस्कार और आर्थिक विकास की दृष्टि से इनमें समरूपता थी। भारत जैसे नवोदित राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनुभवहीन नहीं थे और उन्होंने द्विध्रुवीय विश्व में व्याप्त आतंक के सन्तुलन को देखते हुए बेहद उत्तरदायी ढंग से अपनी भूमिका निभायी। नेहरू जी ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, निशस्त्रीकरण, साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद के विरोध आदि के बारे में जो मुहिम छेड़ी, उसने शीत युद्ध के तनाव को एक बड़ी सीमा तक कम किया। इसके लिए एक बड़ी हद तक यह बात उत्तरदायी थी कि भारत जैसे देशों ने अपनी स्वाधीनता अहिंसक तरीके से संसदीय प्रणाली के साथ हासिल की थी और भारतीय नेता संघर्ष की तुलना में परामर्श को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे।

जब हम स्थिति की तुलना नये शीत युद्ध के काल से करते हैं तो कई अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। 1960 के बाद अफ्रीका और एशिया के जिन देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की, उन्होंने अधिकांशतः यह सफलता हिंसक जन-मुक्ति संग्राम के जरिये प्राप्त की। अल्जीरिया, पूर्वी अफ्रीका के देश, हिन्द चीन इसके अच्छे उदाहरण हैं। क्यूबा के फिदेल कास्त्रो, घाना के एन्क्रूमा तथा इण्डोनेशिया के सुकार्णो का यह निश्चित मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनय में संघर्ष का महत्व परामर्श से ज्यादा है। इनमें से अनेक देशों ने महाशक्तियों के बीच शीत युद्धजनित प्रतिस्पर्धा का लाभ अपने हित में उठाना चाहा। इन नेताओं के पास न तो नेहरू जी जैसी दूरदृष्टि थी और न ही कोई स्पष्ट विश्व दर्शन। अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों की पुष्टि के लिए इन लोगों ने अनेक बार गैर जिम्मेदार आचरण से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को संकट में डाला। पुराने शीत युद्ध के दौरान कुल मिलाकर एकाध बार ही स्वेज और इण्डोनेशिया-मलयेशिया टकराव के सन्दर्भ में इस तरह की स्थिति प्रकट हुई थी। परन्तु नये शीत युद्ध के सन्दर्भ में दक्षिणी प्रशान्त क्षेत्र से लेकर मध्य अमरीका और कैरिबियाई सागर तक सर्वत्र हर छोटे से छोटे नगण्य शक्ति वाले राज्य का आचरण महाशक्तियों के व्यवहार के लिए निर्णायक सिद्ध होने लगा। इस दौरान यह उक्ति लोकप्रिय हुई कि 'कुत्ता दुम को नहीं, बल्कि दुम कुत्ते को हिलाती है।' अर्थात् नये

छुटभइयों राष्ट्रों-सहयोगियों का अनुत्तरदायी आचरण महाशक्तियों की नीतियों को पथ-भ्रष्ट करने लगा।

6. संयुक्त राष्ट्र संघ, गुट निरपेक्ष आन्दोलन एवं क्षेत्रीय संगठनों की असफलता—द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद दुनिया परमाणु अस्त्रों के आविष्कार के कारण आतंकग्रस्त तो थी, परन्तु सारी आशाएं धूमिल नहीं हुई थी। तब तक संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलता-अक्षमता उजागर नहीं हुई थी और ऐसा सोचना अन्यथा न था कि नेहरू व नासिर जैसे लोग अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरात्मा (conscience) की भूमिका को निभायेंगे तथा सर्वनाश के कगार पहुँचने के पहले हमें बचा लेंगे।

आज भले ही यह कहना आसान हो गया है कि ऐसी आशावादिता नादान भोलापन थी, परन्तु तब (1945–50) ऐसा सोचना तर्कसंगत था। संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर की पाँच बड़ी शक्तियों और निषेधाधिकार वाली व्यवस्था ऐसी थी, जो किसी भी तरह जनतांत्रिक या क्षमता पोषक नहीं हो सकती थी। अन्ततः इसे महाशक्तियों के दंगल में भी बदलना था। कश्मीर से लेकर कोरिया तक और बर्लिन से लेकर हिन्द चीन तक कोई भी ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संकट नहीं था, जिसका समाधान संयुक्त राष्ट्र संघ ने कराया हो। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि कांगो जैसे प्रसंग में संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप के कारण गुत्थी और भी उलझ गयी। इसी तरह गुट निरपेक्ष आन्दोलन के दावों और इसकी रचनात्मक सम्भावनाओं का खोखलापन सामने आने में देर नहीं लगी। पहले गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन के आयोजन तक दो प्रमुख सहयोगी राष्ट्रों—इण्डोनेशिया और भारत के बीच दरार स्पष्ट हो चुकी थी। बाद में यह स्थिति कहीं अधिक बिगड़ी। हवाना शिखर सम्मेलन में न्यूवाई-वियतनामी तथा कम्पुचियाई प्रतिनिधि मण्डलों के बीच विकट टकराव ने यह बात स्पष्ट की कि गुट निरपेक्ष जमघट में समाजवादी पक्षधर सदस्य भी आपसी फूट से मुक्त नहीं। इसी तरह क्षेत्रीय संगठनों के बारे में जो भ्रम लोगों ने पाल रखे थे, वे शीघ्र टूट गये। अनेक लोगों का ऐसा मानना था कि सैनिक संगठनों के अलावा क्षेत्रीय सहकार का पोषण मित्र-राष्ट्रों के समूह की स्थापना से हो सकेगा। यूरोपीय साझा बाजार को छोड़कर अन्यत्र कहीं ऐसा सम्भव नहीं हुआ। 'आसियान' से लेकर 'सापटा' तक इनको असफल ही कहा जाना चाहिए। इन क्षेत्रीय संगठनों ने अन्तर्राष्ट्रीय एकता को खण्डित किया और इस तरह शीत युद्ध के संकट को बढ़ाया।

नये शीत युद्ध का विकास : प्रमुख घटनाएँ
(Evolution of the New Cold War : Major Events)

नये शीत युद्ध के विकास के साथ अनेक घटनाएँ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। इनमें से प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है।[1]

1. अफगान संकट—अफगानिस्तान का भूमिबद्ध कबायली राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थ और गुट निरपेक्ष पहचान बना चुका था। भले ही इसे सोवियत

[1] अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप, कम्पुचिया संकट, ईरान-इराक युद्ध, मध्य अमरीका का संकट, आतंकवाद की समस्या, स्टार वार्स आदि के बारे में विस्तृत जानकारी व विश्लेषण पुस्तक में अन्यत्र दिये गये हैं।

प्रभाव क्षेत्र मे समझा जाता रहा हो, किन्तु महाशक्तियो के बीच यह सहमति थी कि मौजूदा स्थिति को कोई भी पक्ष नही बदलेगा। लेकिन दिसम्बर, 1979 मे सोवियत सैनिक हस्तक्षेप ने एकपक्षीय निर्णय द्वारा इस सन्तुलन का बिगाड दिया और नये शीत युद्ध का मार्ग प्रशस्त किया। अफगान शरणार्थियो के पाकिस्तान मे प्रवेश के बाद बहुत बड़े पैमाने पर दी गयी अमरीकी सैनिक-आर्थिक मदद और अफगानिस्तान मे सक्रिय छापामार मुजाहिदीनो के विरुद्ध बर्बर सोवियत बल प्रयोग को लेकर दोनो महाशक्तियो के बीच निरन्तर तनाव बना रहा। जेनेवा समझौते के बाद भी *अफगान सकट का स्थायी हल नही निकला। सितम्बर, 1991 मे अमरीका और रूस* मे यह समझौता हुआ कि दोनो मे से कोई भी अफगानिस्तान को सैनिक सहायता नहीं देगा।

2. कम्पुचिया सकट—अफगानिस्तान की ही तरह द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कम्पुचिया गुट निरपेक्ष राष्ट्र के रूप मे पहचाना जाता रहा है। वियतनाम युद्ध के अन्तिम वर्षों मे सिहानुक के अपदस्थ होने के बाद कम्पुचिया का राजनयिक अवमूल्यन हुआ और फिर पोल पोट के कट्टरपथी माओवादी अनुसरण ने देश के सामाजिक व आर्थिक जीवन को तहस-नहस कर दिया। इस पृष्ठभूमि मे वियतनामी सेना ने जनवरी, 1979 मे कम्पुचिया को मुक्त कराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया तो इसने नये शीत युद्ध के सकट को बढाया। इस घटनाक्रम ने हिन्द चीन मे वियतनामी प्रभुत्व की घोषणा की और सोवियत समर्थन से चीन के साथ मुठभेड के लिए वियतनाम की तत्परता को जाहिर किया। अमरीका के लिए यह सिर्फ मानहानि का प्रश्न था, क्योंकि इस हस्तक्षेप द्वारा क्षेत्रीय शक्ति समीकरण (वियतनाम बनाम इण्डोनेशिया, चीन बनाम सोवियत सघ) बुनियादी ढग से बदले जा रहे थे।

3. ईरान-इराक युद्ध—पुराने शीत युद्ध के दौरान पश्चिम एशिया का सकट अरब-इजराईल सघर्ष तक सीमित था, परन्तु नए शीत युद्ध के काल मे युद्ध का विस्फोट दो नए प्रतिपक्षियो ईरान और इराक के बीच (सितम्बर, 1980) हुआ। इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। इजराईल को अमरीका का और अरब देशों को सोवियत सघ व साम्यवादी देशो का समर्थन प्राप्त था, लेकिन इस बार सैद्धान्तिक विचारधारा के आधार पर पक्षधरो-समर्थको को अलग नही किया जा सकता। इस टकराव के कारण गड्डमड्ड हो चुके हैं। शत-अल-अरब जल राशि को लकर भूमि विवाद, शिया-सुन्नी साम्प्रदायिक सघर्ष, खुमैनी और सद्दाम हुसैन के व्यक्तित्वो का टकराव और इस्लामी कट्टरपथी तथा धर्म-निरपेक्ष व प्रगतिशीलता मे द्वन्द्व ईरान-इराक सघर्ष मे देखने को मिलते है। आठ वर्षो तक चले इस युद्ध का असली फायदा शस्त्रास्त्रो का व्यापार करने वाले मौत के सौदागरो को हुआ। दोनो युद्धरत देश तेल-उत्पादक हैं और इस सघर्ष ने उनके विकास कार्यक्रमो को अस्त-व्यस्त कर दिया। इसका नुकसान भारत जैसे तीसरी दुनिया के तेल आयातक देशो को भुगतना पड़ा। वर्ष 1988 मे ईरान-इराक मे युद्ध विराम होने के बाद 1991 मे खाडी युद्ध हुआ और उसके बाद भी अशान्ति की स्थिति बनी रही।

4 मध्य अमरीका का सकट—मध्य अमरीकी भू-भाग (अल सल्वाडोर, निकारागुआ, होंडुरास, पनामा, कोलम्बिया आदि) हमेशा स अमरीकी भू-राजनीतिक परिधि क भीतर समझा जाता रहा है। 19वी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे मुनरो सिद्धान्त की घोषणा ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि अमरीका इस क्षेत्र मे किसी

अन्य शक्ति का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करेगा। पुराने शीत युद्ध के वर्षों में इन सभी देशों में सैनिक सरकारें थीं और वहाँ अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितों का पोषण करने वाले—एक छोटे से कुलीन वर्ग का वर्चस्व बना हुआ था। कालक्रम में ये सत्ताधारी 'सैनिक गुट' विलासी तथा दुर्बल हो गये और अल सल्वाडोर, निकारागुआ जैसे देशों में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित छापामारों ने उन्हें अपदस्थ कर दिया। अमरीका ने यह समझा कि यह सब कुछ किसी सुनियोजित सोवियत रणनीति के अनुसार सम्पन्न किया जा रहा है और क्यूबा प्रकरण की पुनरावृत्ति हो रही है। इन नई साम्यवादी सरकारों को अपदस्थ करने के लिए अमरीका ने षड्यन्त्रकारी तरीके से प्रतिक्रियावादी तत्वों (कोंतराओं) को सहायता देना शुरू किया। इस प्रक्रिया ने नए शीत युद्ध के सबसे नए चरण में मध्य अमरीका की उथल-पुथल को मध्य पूर्व में ईरान में बन्धकों के प्रकरण से जोड़ा है।

5. राज्य आतंकवाद—यों तो फिलस्तीन मुक्ति संगठन की गतिविधियों ने आतंकवाद को जन-मुक्ति संग्राम के एक प्रमुख राजनयिक उपकरण के रूप में दशकों पहले प्रतिष्ठित कर दिया था, परन्तु नए शीत युद्ध के दौरान इसके नए-नए आयाम सामने आये। इनमें पहला आयाम राज्य आतंकवाद (State Terrorism) वाला है। चाहे वह अमरीका द्वारा सिदरा की खाड़ी में बर्बर बमबारी द्वारा कर्नल गद्दाफी की रीढ़ तोड़ने का प्रयत्न हो या सोवियत संघ द्वारा बिना चेतावनी के कोरियाई नागरिक विमान को मार गिराने की घटना। इस तरह के राज्य आतंकवाद ने निश्चय ही नए शीत युद्ध के संकट को बढ़ाया। दक्षिण अफ्रीकी सरकार द्वारा सीमान्तों अफ्रीकी देशों के विरुद्ध अनुशासनात्मक सैनिक कार्रवाई इसी श्रेणी में रखी जा सकती है। ईरान में बंधकों के मामले में ईरान व अमरीका दोनों का आचरण जिम्मेदार राज्यों वाला नहीं, बल्कि 'असामाजिक अपराधी गिरोहों' जैसा था। इस सबने संकट के शान्तिपूर्ण समाधान की राजनयिक परम्परा का अवमूल्यन किया।

6. स्टार वार्स—स्टार वार्स या अन्तरिक्ष युद्ध, जिसे सामरिक प्रतिरक्षात्मक पहल के नाम से भी जाना जाता है, नए शीत युद्ध का संकट बढ़ाने वाली घटना सिद्ध हुई। पुराने शीत युद्ध को निरापद बनाने वाली सबसे बड़ी बात यह थी कि आतंक का सन्तुलन कमोबेश बरकरार रहा था। स्टार वार्स परियोजना इस स्थिति को नाटकीय ढंग से बदल सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय अस्थिरता-आकांक्षा उपजा सकती है। इस योजना का प्रमुख अंग एक ऐसी इलेक्ट्रानिक ढाल तैयार करना है जो प्रतिपक्षी देश के प्रक्षेपास्त्रों को अन्तरिक्ष में निश्चित रूप से शत-प्रतिशत नष्ट कर दे। यदि ऐसा किया जा सकता हो तो शत्रु पर प्रथम प्रहार का लोभ-संवरण शायद ही कोई महा शक्ति कर सके। इसके अतिरिक्त, इस परियोजना के लिए तय बड़े पैमाने पर खर्च ने वैदेशिक सहायता के बजट को गड्ड-मड्ड किया और महाशक्तियों के टैक्नोलोजी हस्तान्तरण को भी अनिवार्यतः प्रभावित किया। सोवियत संघ का मानना है कि इस अन्तरिक्ष युद्ध परियोजना का एक मात्र उद्देश्य शस्त्रास्त्रों की नई दौड़ शुरू कर सोवियत अर्थव्यवस्था को चरमराना था। इस प्रकार स्टार वार्स ने निःशस्त्रीकरण वार्ताओं को निरर्थक साबित कर शीत युद्ध की मानसिकता को पुनः खतरनाक ढंग से बढ़ावा दिया।

नए शीत युद्ध के प्रभाव
(Impact of the New Cold War)

पुराने शीत युद्ध की तरह नए शीत युद्ध के भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर दूरगामी और व्यापक प्रभाव देखने को मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1 देतात की क्षति— नए शीत युद्ध की सबसे पहली पहचान इसके द्वारा देतान को पहुँचायी गयी क्षति है। क्यूबाई संकट के बाद दोनों महाशक्तियों के बीच सीधा संवाद 'हॉट लाइन' के जरिए आरम्भ हुआ था। 1962 से 1972 के दस वर्षों में 'प्रतिस्पर्धी सहकारिता' (Adversary Partnership) में वृद्धि हुई और साल्ट-परामर्श वार्ताओं व जेनेवा शिखर सम्मेलनों की शृंखला के जरिये इसका क्रमश विस्तार हुआ। देतात की चरम परिणति हेलसिंकी समझौते तथा अन्तरिक्ष में सोवियत संघ और अमरीका के बीच सामरिक महत्व के तकनीकी सहकार में देखने को मिली। वियतनाम युद्ध की कटुता और पश्चिम एशिया के संकट का दबाव-तनाव झेलकर भी देतान बरकरार बना रह सका। परन्तु नए शीत युद्ध के लक्षण स्पष्ट होने के बाद महाशक्तियों का 'संवाद' निरर्थक सिद्ध हो गया। न तो साल्ट वार्ताएँ-समझौते अनुमोदित हुए और न ही हेलसिंकी व्यवस्था के माध्यम से ही कुछ प्रगति हो सकी।

2 *तनाव का स्थानान्तरण*—पहले शीत युद्ध के वर्षों में तनाव के जाने-पहचाने केन्द्र बिन्दु थे। इनमें अधिकतर यूरोप के हृदयस्थल में अवस्थित थे और अन्य सीमान्तीय सुरक्षा चौकियों की तरह—जैसे बर्लिन, तुर्की, ग्रीस, कोरिया, ताइवान, आदि। क्यूबा जैसे उदाहरण लगभग अपवाद थे। साम्यवादी खेमे में भी पोलैण्ड और हंगरी का महत्व अपेक्षाकृत अधिक समझा जाता था। दूसरे नए शीत युद्ध की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके तनाव बिन्दु स्पष्टत महाशक्तियों की निजी सामरिक जरूरतों और उनकी भू-राजनीतिक चिन्ताओं से नहीं जुड़े हुए हैं। इनमें ईरान-इराक, कम्पूचिया वियतनाम व नवोदित दक्षिण अफ्रीकी राष्ट्र प्रमुख हैं। अफगानिस्तान, निकारागुआ और अल सल्वाडोर को इस श्रेणी में रखना कुछ अटपटा लग सकता है, परन्तु वास्तविक यही है। मुनरो सिद्धान्त का उल्लेख किया जाये या 'बफर' राज्यों की परम्परा का, अफगानिस्तान और मध्य अमरीकी देशों की स्थिति पहले शीत युद्ध में निरन्तर तिरापद ही रही थी।

3 निशस्त्रीकरण का क्षय—तनाव-शैथिल्य के साथ अभिन्न रूप से निशस्त्रीकरण की प्रगति जुड़ी हुई थी। परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर लगी रोक, परमाणु अस्त्र प्रसार रोक सन्धि, साल्ट-वार्ताओं आदि ने तनाव-शैथिल्य के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया था। किन्तु नए शीत युद्ध में यह सब छिन्न-भिन्न हो गया। स्टार वार्स परियोजना को शस्त्रास्त्रों की सर्वनाशक होड़ का अब तक का सबसे सनसनीखेज उदाहरण पेश किया जाता है। परन्तु नए शीत युद्ध की मानसिकता ने परमाणु ही नहीं, पारम्परिक शस्त्रास्त्रों के मामले में भी निशस्त्रीकरण को नुकसान पहुँचाया है। ससलन, ईरान और इराक के बीच आठ वर्षों तक चले युद्ध ने बड़े पैमाने पर सैनिक साज सामान की खपत जारी रखी। इस तरह लेबनान में निरन्तर चल रहे गृह युद्ध, अफगान-प्रतिरोध और कम्पुचिया में वियतनामी हस्तक्षेप ने सहारक-उपकरणों का बाजार गर्म रखा। इराक, सोवियत संघ तथा वियतनाम पर बार-बार

यह आक्षेप लगाये गये कि उन्होंने अपने शत्रुओं के खिलाफ जेनेवा समझौते में निषिद्ध रासायनिक हथियारों का उपयोग किया है। इससे निश्चय ही निशस्त्रीकरण की 'उपलब्धियाँ' कठिन हुई हैं।

4. **गुट निरपेक्षता का अवमूल्यन**—तनाव-शैथिल्य के आविर्भाव के पहले भी पुराने शीत युद्ध के प्रारम्भिक चरण में गुट निरपेक्ष आन्दोलन ने निष्पक्ष मध्यस्थता व शान्तिपूर्ण परामर्श को प्रोत्साहित कर रचनात्मक राजनय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना विशेष स्थान बना लिया था। कोरिया से लेकर कांगो तक, स्वेज से हिन्द-चीन तक और बर्लिन से बेलग्रेड तक, भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया आदि ने अपने आकार और सामर्थ्य से कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। दूसरे शीत युद्ध में इसकी कोई गुंजाइश आरम्भ से ही नहीं रही। संकट केन्द्रों के स्थानान्तरण से स्वयं अनेक गुट निरपेक्ष देश आपसी झगड़ों में फंस गये और अपने समर्थन के लिए एक न एक महाशक्ति का आश्रय ढूंढने लगे। इसके अलावा अब तक गुट निरपेक्ष आन्दोलन इतना वृहद् रूप धारण कर चुका था कि उसकी एकता बनाए रखना सम्भव नहीं था।

5. **महाशक्तियों के आक्रामक तेवर**—पुराने शीत युद्ध के दौरान आतंक के सन्तुलन के कारण दोनों महाशक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध शत्रुता के बावजूद संयत रहे थे। यह स्थिति आज शेष नहीं रह गयी है। ऐसा जान पड़ता है कि 40–45 वर्षों के अनुभव ने दोनों महाशक्तियों को यह अहसास करा दिया चाहे कुछ भी हो, परमाणु अस्त्रों का प्रयोग किया ही नहीं जायेगा। इसलिए वे एक दूसरे के साथ मुठभेड़ से कतराती नहीं और न ही उकसाने-भड़काने वाले क्रिया-कलाप में हिचकिचाती हैं। अमरीका द्वारा ग्रेनाडा में सैनिक हस्तक्षेप एवं सोवियत संघ द्वारा अफगान तटस्थता का अतिक्रमण, इस बात के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसी तरह राष्ट्रपति रीगन द्वारा 'स्टार वार्स' के बारे में हठधर्मी रुख अपनाने, निकारागुआ के 'कोंतरा-तत्वों' को अवैध सहायता देने और लेबनान व ईरान के अराजकतावादी-आतंकवादी तत्वों के साथ सौदेबाजी में भी अमरीका के आक्रमक तेवर पता चलते हैं। सोवियत संघ ने इतना 'अनुत्तरदायी' आचरण प्रकटतः न किया हो, लेकिन उसने अपने जुझारूपन में कोई कमी नहीं दिखाई है। ब्रेझनेव के कार्यकाल में पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों के सन्दर्भ में 'सीमित सम्प्रभुता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया और वियतनाम के समर्थन में कभी कोई कसर नहीं छोड़ी गयी। बिना सोवियत शह के क्यूबाई पेशेवर सैनिक अफ्रीका और लातीनी अमरीका में स्वच्छन्द आचरण नहीं करते रह सकते थे। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ ने हिन्द महासागर में नौसैनिक प्रवेश तथा दक्षिणी प्रशान्त में अपनी बढ़ी रुचि के कारण भी अमरीका को चिन्तातुर किया।

6. **सर्वत्र स्थानीय संकटों में बिगाड़**—पुराने शीत युद्ध की प्रमुख प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय संकटों को सीमित रखने वाली थी, किन्तु दूसरे शीत युद्ध में सर्वत्र स्थानीय संकट अपेक्षाकृत अधिक जोखिम भरे बन गये हैं। अनेक स्थानों में भले ही सीधा कार्य-कारण सम्बन्ध न जोड़ा जा सकता हो, लेकिन घटनाक्रम शीत युद्ध के उतार-चढ़ाव को प्रतिबिम्बित करता दृष्टिगोचर होता है। भारतीय महाद्वीप में यह लक्षण सबसे अधिक स्पष्ट दीखता है। पाकिस्तान का सामरिक महत्व अमरीका और रूस दोनों के लिए अफगान संकट और तुरन्त तैनाती दस्ते (Rapid Deployment

Force) के सन्दर्भ में बढ़ गया है। इसी कारण पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम की ओर अनचाहे ही सही, अमरीका की आँखें मुंदी रही हैं। पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर दी गयी सैनिक सहायता का प्रभाव भारत-पाक क्षेत्रीय सन्तुलन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसी तरह खाड़ी युद्ध (ईरान-इराक युद्ध) में जीतने वाले पक्ष के बारे में पूर्वानुमान लगाने और उसका साथ निभाने की आकुलता ने अस्थिरता को ही बढ़ावा दिया। यह सोचना अनुचित नहीं कि लेबनान की त्रासदी, दक्षिण अफ्रीकी देशों की व्यथा और कम्पुचिया में संकट समापने की जटिलता तनाव-शैथिल्य के अभाव में दुष्कर बने।

उपसंहार—इस प्रकार नये शीत युद्ध के तात्कालिक एवं दूरगामी परिणाम दो तरह के हैं। एक तो वे, जिन्होंने महाशक्तियों के आपसी सम्बन्धों को प्रभावित किया, उनके आक्रामक तेवर चढ़ाये और शस्त्रास्त्रों की खतरनाक होड़ तथा सीधे मुठभेड़ की प्रवृत्ति को उकसाया है। दूसरे वे जिन्होंने तीसरी दुनिया के देशों का जबरन संघर्ष में खींचा, स्थानीय विवादों को विस्फोटक संकटों में बदला और गुट निरपेक्षता व अफ्रो-एशियाई एकता का अवमूल्यन किया है।

संक्रमण काल

बहरहाल, बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में शीत युद्ध जनित अनेक तनाव अभी शेष हैं। तनाव शैथिल्य ने जिस आशा को जगाया था, वह निर्मूल सिद्ध हुई। पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर कई ऐसे अप्रत्याशित परिवर्तन हुए हैं, जिन्होंने विश्व राजनीति का स्वरूप ही बदल दिया। जर्मनी के एकीकरण (1990) और खाड़ी युद्ध (कुवैत) को लेकर (1990–91) में अमरीका की निर्णायक विजय के बाद यह कहा जा सकता है कि आज विश्व द्विध्रुवीय नहीं रह गया। अभी अमरीका का एक छत्र वर्चस्व स्पष्ट है। पर, इससे यह निष्कर्ष निकालना बिल्कुल गलत होगा कि इस घटनाक्रम से अंतर्राष्ट्रीय तनाव अनन्त घटेंगे। अधिक संभव यह है कि अमरीका के निरंकुश स्वेच्छाचार की आशंका से अमरीका का प्रतिरोध बढ़ेगा। अभी फिलहाल सोवियत संघ अक्षम है—किसी भी हस्तक्षेप के लिए। लेकिन, यह सोचने का कोई कारण नहीं कि वह भविष्य में भी अनुपस्थित या निष्क्रिय रहेगा। अतएव, वर्तमान स्थिति को अधिक से अधिक संक्रमण काल (Transitional Period) ही समझा जाना चाहिये। यह दूसरे शीत युद्ध और नए तनाव-शैथिल्य के दौर में मात्र एक अंतराल है।

आठवाँ अध्याय

संयुक्त राष्ट्र संघ व उसकी विशिष्ट एजेंसियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सद्भाव बनाये रखने के लिए एक मंच की आवश्यकता लम्बे समय से महसूस की जाती रही है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद पेरिस के शान्ति सम्मेलन में जब 1919 में राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना की गयी तो उसके पीछे विश्व के स्वतन्त्र देशों में शान्तिपूर्ण वाद-विवाद का सिलसिला स्थापित करने का उद्देश्य प्रमुख था। राष्ट्र संघ के स्वप्नद्रष्टा अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विल्सन यह मानते थे कि छोटे युद्ध बड़े युद्धों में परिणत हो जाते हैं। उन्हें रोकने के लिए छोटी-छोटी समस्याओं को तत्काल सुलझा देना चाहिए। किन्तु राष्ट्र संघ की असफलता जहाँ एक ओर द्वितीय विश्व युद्ध का कारण बनी वहीं दूसरी ओर द्वितीय विश्व युद्ध की भयावहता ने विश्व राजनेताओं के सामने और अधिक प्रभावशाली विश्व मंच बनाने की आवश्यकता को अवश्यभावी बना दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पूर्व ही मित्र-राष्ट्रों के नेता इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि विश्व की समस्याओं को निपटाने एवं भविष्य में विश्व युद्ध की आशंका को टालने के लिए एक ऐसा मंच स्थापित किया जाये जो राष्ट्र संघ से अधिक प्रभावशाली हो सके।[1] अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट यह मानते थे कि विश्व के समस्त स्वतन्त्र देश इसके सदस्य हों और छोटी-बड़ी सभी समस्याओं पर इसमें खुलकर वाद-विवाद एवं परामर्श हो। इस प्रकार विश्व राष्ट्रों के सम्मेलन और अन्तर्क्रिया से बातचीत के ऐसे माध्यम स्थापित हो जायेंगे, जहाँ दो या अधिक राष्ट्रों के बीच पैदा हुए संकटों को टकराव की स्थिति में पहुँचने के पूर्व ही हल करने के रास्ते खोज लिए जायेंगे। दूसरे, उनकी यह भी मान्यता थी कि इस प्रकार के निरन्तर सम्प्रेषण-सम्पर्क से राष्ट्रों में मित्रता का वातावरण पैदा होगा। तीसरे, यह भी सोचा गया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए हरेक देश युद्ध जैसी कार्रवाई करने से हिचकिचायेगा। यदि कोई ऐसी कार्रवाई करेगा तो वह अन्तर्राष्ट्रीय आलोचना का शिकार होकर अपनी भूल सुधारने को बाध्य हो जायेगा। इसके अलावा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक गतिविधियों में ऐसे मंच के जरिये राष्ट्रों में तालमेल एवं निकटता स्थापित करके उनमें आपसी वैमनस्य और संघर्ष की प्रवृत्ति को समाप्त किया जा सकेगा। इस पृष्ठभूमि में और भविष्य में युद्ध न हो, इस उद्देश्य को लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organization) की स्थापना की गई।

[1] देखें, Nagendra Singh's forward in *United Nations for A Better World* (Delhi, 1985), 5.

संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्भव

राष्ट्र संघ की असफलता के बावजूद विश्व के देशों ने यह विश्वास सदैव बनाये रखा कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के जरिये दुनिया में शान्ति और सुरक्षा कायम की जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ बीसवीं शताब्दी के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने का दूसरा सबसे बड़ा कदम था। असल में संयुक्त राष्ट्र संघ के अभ्युदय की कहानी अनेक चरणों से गुजरी है। इसमें अटलांटिक चार्टर, मास्को सम्मेलन, डम्बरटन ऑक्स सम्मेलन, याल्टा सम्मेलन एवं सेन-फ्रांसिस्को सम्मेलन प्रमुख घटनाएँ हैं जिनका संक्षिप्त विवरण देना उचित रहेगा।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अटलांटिक चार्टर (14 अगस्त 1941) और मास्को सम्मेलन (19–30 अक्टूबर, 1943) संयुक्त राष्ट्र की स्थापना में महत्वपूर्ण प्राथमिक कदम माने जा सकते हैं। अटलांटिक चार्टर के अन्तर्गत ब्रिटेन और अमरीका ने स्पष्ट किया कि वे न तो युद्धोत्तर विस्तारवादी नीति का अनुसरण करेंगे और न ही कोई ऐसे प्रादेशिक परिवर्तन करना चाहेंगे जो उस देश की जनता के विरुद्ध हों। मास्को सम्मेलन में अमरीका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के विदेश मन्त्रियों ने यह घोषणा की कि विश्व शान्ति और सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जाये। डम्बरटन ऑक्स सम्मेलन (2 अगस्त से 1 सितम्बर, 1944) में अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ और चीन के प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की रूपरेखा तैयार करने के लिए एकत्रित हुए। हालांकि इस प्रश्न को लेकर उनमें पारस्परिक मतभेदों के कारण वे किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सके किन्तु तय किया गया कि 'संयुक्त राष्ट्रों' का एक सम्मेलन 25 अप्रैल, 1945 को सेन-फ्रांसिस्को में बुलाया जाय जो डाम्बरटन ऑक्स सम्मेलन के विचार-विमर्श तथा प्रस्तावों के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान का निर्माण करे।

4 से 11 फरवरी, 1945 को कृष्ण सागर में स्थित क्रीमिया द्वीप के याल्टा नामक स्थान पर हुए सम्मेलन में अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल और सोवियत प्रधानमन्त्री स्टालिन ने भाग लिया। इस याल्टा सम्मेलन ने निर्णय लिया कि विश्व संगठन की स्थापना के सम्बन्ध में 25 अप्रैल, 1945 को सेन-फ्रांसिस्को नगर में राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया जाये। 1 मार्च, 1945 तक जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित करने वाले समस्त राष्ट्रों को इसमें निमन्त्रित किया जाय, पाँच देशों—संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ, फ्रांस और चीन को इसकी सुरक्षा परिषद् में स्थायी स्थान और निषेधाधिकार (Veto) प्रदान किया जाय।

25 अप्रैल से 26 जून, 1945 को सेन-फ्रांसिस्को सम्मेलन हुआ, जिसमें 50 देशों को निमन्त्रित किया गया। इस सम्मेलन के द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान (चार्टर) का निर्माण हुआ और 26 जून, 1945 को उसमें भाग लेने वाले राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने उसके 'संविधान' को अन्तिम रूप में स्वीकार कर उस पर अपने हस्ताक्षर किये। राष्ट्रों द्वारा इस स्वीकृत चार्टर की कमियों की ओर इशारा करते हुए पामर एवं परकिन्स ने कहा कि 'हालांकि प्रतिनिधियों ने इस चार्टर के कुछ प्रावधानों की आलोचना की, फिर भी उन्होंने समझौतावादी रुख अपनाया और कई अपूर्णताओं को स्वीकार करते हुए अन्त संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण कर

डाला।[1] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि हस्ताक्षरकर्ताओं में से अनेक राष्ट्रों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ग्रहण करने के लिए उनकी संसद की स्वीकृति आवश्यक थी। यह प्रक्रिया 24 अक्टूबर, 1945 को पूरी हो गई और इसी दिन संयुक्त राष्ट्र संघ की औपचारिक रूप से स्थापना हुई। इसी कारण 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म दिवस कहा जाता है।

सं० रा० संघ के उद्देश्य

सं० रा० संघ के अनेक उद्देश्य थे। इस संगठन के चार्टर की प्रस्तावना और पहले अनुच्छेद में इसके उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। ये निम्नांकित हैं :

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा बनाये रखना,

(ब) समान अधिकार और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के लिए आदर की भावना के आधार पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण भावना को मजबूत करना;

(स) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानव कल्याण सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना; और

(द) इन सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों द्वारा किये गये कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए एक केन्द्रीय संगठन के रूप में कार्य करना।

सं० रा० संघ के सिद्धान्त

कोई भी संगठन अपने लिए तय किये गये उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी इसका अपवाद नहीं। संक्षेप में सं० रा० संघ निम्नांकित सिद्धान्तों पर आधारित है :

(अ) इसके सभी सदस्य सार्वभौम एवं समान हैं ;

(ब) इसके सभी सदस्य चार्टर में उल्लिखित उत्तरदायित्वों के अनुसार आचरण करेंगे;

(स) इसके सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शान्तिपूर्ण तरीकों से करेंगे ताकि विश्व शान्ति, सुरक्षा तथा न्याय खतरे में न पड़ें,

(द) इसका कोई भी सदस्य-राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता और क्षेत्रीय अखण्डता के विरुद्ध शक्ति का इस्तेमाल नहीं करेगा;

(य) इसके सदस्य इसके द्वारा सम्पादित सभी कार्यों में सहयोग देंगे, साथ ही वह ऐसे किसी भी राष्ट्र की सहायता नहीं करेंगे, जिसके विरुद्ध सं० रा० संघ निरोधात्मक या प्रवर्तन कार्य कर रहा है,

(र) सं० रा० संघ यह भी देखेगा कि गैर-सदस्य देश ऐसा कोई काम नहीं करें जिससे विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा खतरे में पड़ जाये; तथा

(ल) अध्याय सात के अन्तर्गत प्रवर्तन कार्यों के अतिरिक्त अर्थात् विश्व-शान्ति और सुरक्षा के कार्यों को छोड़कर सं० रा० संघ किसी भी देश के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

इस प्रकार जहाँ एक ओर विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा को कायम करने तथा जीवन के चहुँमुखी क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ावा देकर विश्व के देशों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध

[1] Norman D. Palmer and Howard C. Perkins, *International Relations* (New York, 1954), 350

स्थापित करना स० रा० सघ के प्रमुख उद्देश्य हैं, वही दूसरी ओर इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए यह विश्व सगठन, 'प्रजातन्त्र, आत्म-निर्णय, समानता, ससदवाद, बहुमत, कानून का शासन, न्याय, शान्तिपूर्ण परिवर्तन, शक्ति पृथक्करण, सघवाद और प्रदत्त प्राधिकार जैसे आदर्श सिद्धान्तों पर आधारित है।'[1]

स० रा० सघ की सदस्यता
(Membership of the U. N O)

किसी भी सगठन के सदस्य बनने के लिए कुछ योग्यताओ की पूर्ति करनी पडती है। जहाँ तक स० रा० सघ का सवाल है, वह एक विश्वव्यापी सगठन है। यो तो विश्व के समस्त देश इसके सदस्य बन सकते हैं किन्तु उसके पहले उन्हे कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति करनी पडती है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति करने पर सदस्यता मिल जाती है। सदस्य देश चाहे तो सदस्यता को त्याग भी सकता है। साथ ही सगठन द्वारा किसी सदस्य देश को निष्कासित भी किया जा सकता है। अन सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता के मुद्दे को अनेक बिन्दुओ मे बाँटना श्रेयस्कर होगा।

चार्टर मे सदस्यता से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ

स० रा० सघ के चार्टर के दूसरे अध्याय के अनुच्छेद 3, 4, 5 व 6 सगठन की सदस्यता से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 3 इसके मौलिक सदस्यो के बारे मे है। अनुच्छेद 4 नये सदस्यो की योग्यताओ के बारे मे है। अनुच्छेद 5 सदस्य-देश के निलम्बन और अनुच्छेद 6 निष्कासन के बारे मे है। इनके बारे मे विस्तृत व्यवस्थाओ को निम्नांकित तरीके से प्रस्तुत किया जा सकता है

(अ) मौलिक सदस्यों के लिए योग्यताएँ—अनुच्छेद 3 के अनुसार स० रा० सघ के सदस्य वे राज्य होग जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सगठन पर सैन-फ्रासिस्को मे हुए सम्मेलन मे भाग लिया अथवा जिन्होंने पहले एक जनवरी, 1942 को सयुक्त राष्ट्र की घोषणा पर हस्ताक्षर किये और उसके पश्चात् जिन्होंने प्रस्तुत घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करके उसे अनुच्छेद 110 के अनुसार सत्यांकित किया। इस फार्मूले के अनुसार स० रा० सघ के मौलिक सदस्यो की सख्या 51 हुई। ये देश निम्नांकित है अर्जेन्टीना, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, बोलिविया, ब्राजील, बाइलोरशिया, कनाडा, चिली, चीन, कोलम्बिया, कोस्टारिका, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, डेनमार्क, डोमिनिकन रिपब्लिक, इक्वेडोर, मिस्र, अल सल्वाडोर, इथियोपिया, फ्रास, यूनान, ग्वाटेमाला, हाण्डुरास, भारत, ईरान, इराक, लेबनान, लाइबीरिया, लक्जमबर्ग, मैक्सिको, हॉलैंड, न्यूजीलैण्ड, निकारागुआ, नार्वे, पनामा, पैरुग्वे, पेरु, फिलीपीन्स, सऊदी अरब, सीरिया, टर्की, यूक्रेन, दक्षिण अफ्रीका यूनियन, सोवियत सघ, ग्रेट-ब्रिटेन, अमरीका, उरुग्वे, वेनेजुएला, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड।

(ब) नये सदस्यों के लिए योग्यताएँ—अनुच्छेद 4 मे नये सदस्यों के लिए योग्यताओं का उल्लेख किया गया है जो सक्षेप मे निम्नांकित है—(क) वह राज्य शान्तिप्रिय हो, (ख) वह वर्तमान चार्टर के उत्तरदायित्वो को स्वीकार करता हो, और (ग) वह स० रा० सघ की दृष्टि मे उत्तरदायित्वो को निभाने के योग्य एव

[1] J C Plano and R. I Riggs, *Forging World Order: The Politics of International Organization* (New York, 1567), 56.

इच्छुक हो। इसके अतिरिक्त इन योग्यताओं की पूर्ति होने के बावजूद भी दो अन्य बातें आवश्यक हैं—(1) सुरक्षा परिषद की इसके लिए सिफारिश, और (2) महासभा की उस पर स्वीकृति का निर्णय होना। तभी नये प्रत्याशी देश संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बन सकते हैं।

(स) सदस्यता का निलम्बन— अनुच्छेद 5 में सदस्य देश की सदस्यता के निलम्बन तथा उसके बाद उसे पुन. लेने का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार (i) सं० रा० संघ के ऐसे किसी सदस्य को, जिसके विरुद्ध सुरक्षा परिषद की सिफारिशों पर सदस्यता के अधिकारों या विशेषाधिकारों का प्रयोग करने में निलम्बित किया जा सकता है, और (ii) इन अधिकारों और विशेषाधिकारों के प्रयोग का अधिकार सुरक्षा परिषद द्वारा पुन: प्रदान किया जा सकता है।

(द) सदस्यता का निष्कासन—सं० रा० संघ की सदस्यता से किसी भी सदस्य देश को निष्कासित किया जा सकता है। अनुच्छेद 6 में यह व्यवस्था की गयी कि संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई सदस्य यदि प्रस्तुत घोषणा पत्र के सिद्धान्तों का बार-बार उल्लंघन कर रहा है तो सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा उसको निष्कासित कर सकती है।

(र) सदस्यता छोड़ना—किसी सदस्य देश द्वारा सं० रा० संघ की सदस्यता त्यागने के बारे में चार्टर चुप्पी साधे हुए है। यह नये सदस्यों को सदस्यता छोड़ने की न तो आज्ञा देता है और न ही मनाही करता है। जैसे सं० रा० संघ से इण्डोनेशिया ने 1965 में मलयेशिया को सुरक्षा परिषद का अस्थायी सदस्य बनाने का कारण देकर सदस्यता छोड़ी थी, किन्तु वह एक वर्ष बाद पुन: सं० रा० संघ की गोद में लौट आया। इसके अतिरिक्त कुछ सदस्य देश सं० रा० संघ के विभिन्न अंगों, विशिष्ट एजेन्सियों तथा उनकी बैठकों का कभी-कभी बहिष्कार करते रहे हैं। संयुक्त राज्य अमरीका जैसे बड़े देश ने 1 नवम्बर, 1977 को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सदस्यता का परित्याग किया। अमरीका और ब्रिटेन ने 'यूनेस्को' भी छोड़ दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि सदस्यता के बारे में चार्टर में स्पष्ट प्रावधान नहीं है।

सदस्यता का राजनीतिकरण
(Politicization of Membership)

सं० रा० संघ में अनेक नये सदस्यों का प्रवेश महाशक्तियों की राजनीति में उलझा रहा है। दोनों महाशक्तियाँ रूस और अमरीका अपने अपने मित्र देशों को सदस्यता दिलवाने तथा प्रतिस्पर्धी महाशक्ति के समर्थक देशों द्वारा सदस्यता ग्रहण करने के मामले में रोड़ा अटकाने की नीतियाँ अपनाती रही हैं। जहाँ रूस अपने मित्र राष्ट्र उत्तर कोरिया और साम्यवादी चीन को सं० रा० संघ में सदस्यता दिलाने की वकालत करता रहा, वहीं अमरीका दक्षिण कोरिया जैसे अपने समर्थक राष्ट्र की सदस्यता के लिए प्रयत्नशील रहा। दोनों ने एक-दूसरे के समर्थक देशों की सदस्यता के सवाल पर 'वीटो' या अन्य तरीके से विरोध किया और इससे नये सदस्य देशों को सदस्यता हासिल न हो सकी। बाद में जाकर साम्यवादी चीन को 1971 में सदस्यता हासिल हो पायी। इस प्रकार नये देशों द्वारा सदस्य बनने की योग्यता होने पर भी वे महाशक्तियों की आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण लम्बे अरसे

तक इस विश्व सगठन के सदस्य न बन पाये।

स० रा० सघ के विभिन्न अग
(Organs of the U. N)

चार्टर के अध्याय 3 में अनुच्छेद 7 के अनुसार स० रा० सघ के छह अगो की व्यवस्था की गई है। ये निम्नांकित हैं—(1) महासभा, (2) सुरक्षा परिषद, (3) आर्थिक व सामाजिक परिषद, (4) न्याय परिषद, (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, और (6) सचिवालय। इन विभिन्न अगो के बारे में विस्तार से विवेचन करना समुचित होगा।

महासभा
(General Assembly)

महासभा मे सयुक्त राष्ट्र सघ के सभी देशो के सदस्य होते हैं। सभा मे किसी भी देश के अधिक से अधिक पाँच प्रतिनिधि होते है। प्रत्येक देश को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है।

कार्य (Functions)

महासभा के कार्यों का विश्लेषण नीचे किया जा रहा है—

शान्ति और सुरक्षा को कायम रखने मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्त पर विचार करना तथा सुझाव देना, जिसमे नि शस्त्रीकरण और शस्त्रीकरण को मर्यादित करने का प्रश्न भी शामिल है।

जिन विवादों और परिस्थितियों पर सुरक्षा परिषद उस समय विचार कर रही हो, उन्हे छोडकर शान्ति और सुरक्षा को भग करने वाले किसी भी प्रश्न पर महासभा विचार कर सकती है और उस पर सुझाव दे सकती है।

उपर्युक्त अपवाद को ध्यान मे रखकर महासभा चार्टर के अन्तर्गत किसी प्रश्न या स० रा० सघ की किसी शाखा के कार्य या अधिकार के बारे मे विचार कर सकती है और उसपर सुझाव दे सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सहयोग बढाने की व्यवस्था करना और सुझाव देना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और उसको सहिताबद्ध करना, सभी के लिए मानवीय अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रताओ को मूर्त रूप देना तथा आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्रो मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विषय भी इसमे सम्मिलित हैं। महासभा सुरक्षा परिषद तथा स० रा० सघ की दूसरी शाखाओ से रिपोर्ट लेती है तथा उन पर विचार करती है। मूल कारण पर बिना विचार किये देशो के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को नष्ट करने वाली किसी भी स्थिति के आने पर शान्तिपूर्ण समझौते के लिए सुझाव देती है।

सामरिक इलाकों को छोडकर निक्षेपधारी (ट्रस्टीशिप) समझौतों का निक्षेपधारी (ट्रस्टीशिप) परिषद के माध्यम द्वारा निरीक्षण करती है।

सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यो का चुनाव करना, आर्थिक एव सामाजिक परिषद तथा ट्रस्टीशिप परिषद के लिए चुने गये सदस्यो का निर्वाचन करना, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशो के चुनाव मे सुरक्षा परिषद के साथ भाग

लेना तथा सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासचिव नियुक्त करना इसका कार्य है।

महासभा सं० रा० संघ के बजट पर विचार करती है, उसे मंजूर करती है, सदस्यों के अंशदान का निर्धारण करती है तथा विशेष शाखाओं के बजट की जाँच का काम करती है।

नवम्बर, 1950 में महासभा द्वारा स्वीकृत 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' (Uniting for Peace Resolution) के अन्तर्गत यदि सुरक्षा परिषद अपने स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति के अभाव में शान्ति के लिए खतरा, शान्ति भंग या आक्रमण होने की दशा में शान्ति कायम रखने की जिम्मेदारी निभाने में असमर्थ रहती है तो महासभा अपने सदस्यों से मिल-जुलकर विचार करेगी तथा शान्ति भंग या आक्रमण की दशा में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने या पुनर्स्थापित करने के लिए सेना का उपयोग कर सकती हैं। यदि महासभा का अधिवेशन न चल रहा हो तब ऐसी स्थिति में यदि आवश्यकता पड जाये तो महासभा सुरक्षा परिषद के किन्ही 9 सदस्यों की प्रार्थना पर अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकांश सदस्यों की सहमति पर 24 घण्टे के भीतर विशेष बैठक बुला सकती है।

शान्ति और सुरक्षा के बारे में सुझाव, शाखाओं के सदस्यों का निर्वाचन, सदस्यों के प्रवेश, निलम्बन और निष्कासन, निक्षेपधारी (ट्रस्टीशिप) प्रश्नों और बजट के मामलों पर दो-तिहाई बहुमत से निर्णय लिया जाता है। शेष मामलों में केवल साधारण बहुमत पर्याप्त है। महासभा के प्रत्येक सदस्य का एक वोट होता है।

अधिवेशन (Session)

प्रतिवर्ष महासभा का एक नियमित अधिवेशन सितम्बर के तीसरे मंगलवार को शुरू होता है। सुरक्षा परिषद की प्रार्थना पर अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकांश सदस्यों अथवा अधिकांश सदस्यों द्वारा अनुमोदित एक सदस्य की प्रार्थना पर महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। यदि सुरक्षा परिषद के 9 सदस्य पक्ष में हों, या संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों का बहुमत हो अथवा अधिकांश सदस्यों द्वारा अनुमोदित एक सदस्य की प्रार्थना पर 24 घण्टे के भीतर आपातकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है।

मुख्य समितियाँ

महासभा अपना काम 6 मुख्य समितियों के द्वारा चलाती है, जिनमें सदस्य देशों को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। ये समितियाँ इस प्रकार हैं—

(i) पहली समिति—राजनैतिक एवं सुरक्षा—(जिसमें निरस्त्रीकरण नियमन शामिल है);

विशेष राजनीतिक समिति—जो प्रथम समिति की सहायक है;

(ii) दूसरी समिति—आर्थिक और वित्त सम्बन्धी;

(iii) तीसरी समिति—सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक;

(iv) चौथी समिति—निक्षेपधारी (ट्रस्टीशिप), जिसमें गैर-स्वशासित क्षेत्र शामिल हैं;

(v) पाँचवी समिति—प्रशासन और बजट सम्बन्धी; और

(vi) छठी समिति—कानून सम्बन्धी।

इसके अतिरिक्त सभा के काम को सुचारु रूप से चलाने के लिए साधारण समिति की बैठकें समय-समय पर होती रहती हैं। इस समिति में महासभा के अध्यक्ष तथा 17 उपाध्यक्ष एवं 7 मुख्य समितियों के प्रधान होते हैं। अध्यक्ष हर अधिवेशन के समय प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जाँच के लिए एक प्रमाण-पत्र समिति नियुक्त करता है।

विषय-सूची में विचारणीय प्रत्येक प्रश्न को महासभा नियमानुसार किसी एक विशेष समिति, संयुक्त या तदर्थ समिति को भेज देती है। ये समितियाँ सभा की पूर्वकालिक बैठक में विचारार्थ अपने प्रस्तावों को भेजती हैं। इन समितियों और उप-समितियों में सामान्य बहुमत के आधार पर मतदान होता है। मुख्य समिति को न भेजे गये विषय पर सभा की पूर्वकालिक बैठकों में विचार किया जाता है।

इस महासभा की सहायता के लिए दो समितियाँ होती हैं—एक प्रशासनिक एवं बजट सम्बन्धी प्रश्नों की सलाहकार समिति और दूसरी अंशदान सम्बन्धी समिति। महासभा इन समितियों के सदस्यों को उनकी योग्यता एवं भौगोलिक आधार पर तीन साल की अवधि के लिए चुनती है। सहायक और तदर्थ समितियाँ आवश्यकता के अनुसार बनायी जाती हैं।

सुरक्षा परिषद
(Security Council)

सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्य हैं—चीन, फ्रांस, रूस, अमरीका और ब्रिटेन। 10 अस्थायी सदस्य महासभा द्वारा 2 साल की अवधि के लिए चुने जाते हैं। सदस्यों का तत्काल पुनर्निर्वाचन नहीं हो सकता।

मूल रूप में सुरक्षा परिषद के 11 सदस्य थे, किन्तु बाद में घोषणा-पत्र में संशोधन करके 1965 में यह संख्या 15 कर दी गयी।

कार्य तथा अधिकार (Functions and Powers)

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों के अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को कायम रखना, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ा पैदा करने वाली किसी भी स्थिति अथवा विवाद की छानबीन करना, इन झगड़ों को सुलझाने अथवा समझौते की शर्तों के उपायों का सुझाव देना, शस्त्रीकरण का नियमन करने की प्रणाली स्थापित करने के लिए योजना बनाना, शान्ति को खतरा या आक्रमण के कारणों का निर्धारण करना तथा क्या कार्रवाई की जाये, इसके विषय में सुझाव देना, आक्रमण को रोकने या बन्द करने के लिए शस्त्र-प्रयोग के अतिरिक्त आर्थिक सहायता पर रोक तथा अन्य प्रतिबन्धों के लिए सदस्यों से अनुरोध करना, आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करना, नये सदस्यों के प्रवेश तथा ऐसी शर्तों का सुझाव देना जिसके आधार पर सदस्य-राज्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अधिनियम में भाग ले सकें, सामाजिक क्षेत्रों में सं० रा० संघ के निक्षेपधारी (ट्रस्टीशिप) कार्यों का सुझाव देना, महासभा को महासचिव की नियुक्ति के विषय में सुझाव देना तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में महासभा के साथ मिलकर न्यायाधीशों को चुनना, महासभा को वार्षिक तथा विशेष रिपोर्ट भेजना।

सुरक्षा परिषद सं० रा० संघ के सभी सदस्यों की ओर से कार्य करती है और वे सब इस बात पर सहमत होते है कि सुरक्षा परिषद की प्रार्थना पर वे अपनी सशस्त्र सेनाओं को सौंप देंगे तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को कायम रखने के लिए आवश्यक सुविधा एवं सहायता देंगे।

सुरक्षा परिषद मे कार्य विधि सम्बन्धी प्रश्नों के अलावा सभी विषयों में स्थायी सदस्यों की सहमति सहित 9 सदस्यों के पक्ष मे मतदान होने पर निर्णय लिया जाता है। कोई भी स्थायी या अस्थाई सदस्य अपने से सम्बन्धित किसी विवाद को सुलझाने के निर्णय के सम्बन्ध में अपना मतदान नही दे सकता। कार्यविधि के प्रश्नों पर किन्ही नौ सदस्यों के मतदान पर निर्णय होता है।

सुरक्षा परिषद का गठन इस प्रकार होता है कि उसका कार्य निरन्तर चलता रहे और प्रत्येक सदस्य देश का एक प्रतिनिधि सं० रा० संघ के मुख्यालय पर सदैव विद्यमान रहे। परिषद यदि उचित समझे तो अपने मुख्यालय के अलावा अन्य स्थान पर भी अपनी बैठक बुला सकती है।

सं० रा० संघ का कोई भी सदस्य देश, चाहे वह सुरक्षा परिषद का सदस्य न भी हो, अपने देश के हित से सम्बन्धित चर्चा में भाग ले सकता है। सदस्य और गैर-सदस्य दोनों को परिषद मे भाग लेने के लिए निमन्त्रित किया जाता है जबकि उनसे सम्बन्धित किसी विवाद पर चर्चा हो रही हो। गैर-सदस्य होने की दशा मे भाग लेने के बारे मे परिषद कुछ नियम निर्धारित कर देती है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद
(Economic and Social Council)

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के 27 सदस्य हैं जिनमें 9 का चुनाव महासभा प्रतिवर्ष तीन साल की अवधि के लिए करती है। अवधि-निवृत्त (रिटायर) होने वाले सदस्य दुबारा चुनाव लड़ सकते है।

कार्य (Functions)

महासभा द्वारा अधिकृत सं० रा० की आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियों के लिए जिम्मेदार होना; अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा अन्य सम्बद्ध विषयों पर रिपोर्ट और सुझाव देना तथा अध्ययन की व्यवस्था करना; सबके लिए मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं का पालन करना और उनके प्रति सम्मान को बढ़ावा देना; अपने आन्तरिक विषयों पर महासभा मे विचारार्थ मसौदे तैयार करना और इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाना; सं० रा० संघ के साथ उनके सम्बन्धों की परिभाषा करते हुए विशेष शाखाओं के साथ समझौते के लिए बात चलाना; सलाह-मशविरा और सुझाव के द्वारा विशेष शाखाओं के कामों मे और महासभा तथा सं० रा० संघ के सदस्यों को सुझाव देकर तालमेल बैठाना, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के लिए महासभा द्वारा स्वीकृत और विशेष प्रार्थना पर विशेष शाखाओं के लिए काम करना; जिन मामलों मे परिषद का सम्बन्ध होता है उनके विषय मे गैर-सरकारी संगठनों से सलाह लेना।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् में सामान्य बहुमत के आधार पर मतदान होता है और प्रत्येक सदस्य का एक वोट होता है।

सहायक सम्थाएँ

परिषद् का काम आयोगो, समितियों तथा कई दूसरी सहायक सस्थाओं के द्वारा चलता है। इसका काम चलाने वाले आयोग निम्नलिखित हैं—(i) सांख्यिकी आयोग, (ii) जनगणना आयोग, (iii) मानव अधिकार आयोग, (iv) सामाजिक विकास आयोग, (v) महिलाओं का स्तर विषयक आयोग, और (vi) मादक औषधियों का आयोग।

भेदभाव के निवारण एवं अल्पसंख्यकों के बचाव के लिए एक अतिरिक्त आयोग है, जो सीधे मानवीय अधिकारों के निर्देशन में काम करता है। इसके अतिरिक्त चार क्षेत्रीय आयोग भी हैं, जो अपने क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन करके विद्युत शक्ति, देश के भीतर यातायात और व्यापारिक उन्नति जैसे मामलों पर उन देशों की सरकारों को उपाय बताते हैं। ये आयोग हैं

(i) यूरोप के लिए आर्थिक आयोग, (ii) एशिया एवं मध्य पूर्व के लिए आर्थिक आयोग, (iii) लातीनी अमरीका के लिए आर्थिक आयोग, और (iv) अफीका के लिए आर्थिक आयोग।

इसके अतिरिक्त परिषद् के अन्तर्गत कई अन्य समितियाँ हैं, जो इन विषयों के सम्बन्ध में कार्य करती हैं जैसे—भवन-निर्माण तथा आयोजन, विज्ञान तथा तकनीकी, योजना तथा विकास, प्राकृतिक साधन, अपराध निषेध तथा आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में स० रा० सघ की कार्यविधियों में तालमेल बैठाना।

गैर सरकारी सगठन

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् अपने अधिकार क्षेत्र से सम्बन्धित क्षेत्रों में काम करने वाले और सरकारी सगठनों से भी सलाह ले सकती है। परिषद् यह मानती है कि इन सगठनों को अपना दृष्टिकोण अभिव्यक्त करने का अधिकार होना चाहिए क्योंकि उन्हें अपने से सम्बन्धित विषयों का अनुभव तथा तकनीकी ज्ञान होता है जो परिषद के लिए अधिक मूल्यवान हो सकता है।

ये सलाहकार सगठन परिषद और उसकी सहायक सस्थाओं की साधारण बैठकों में अपने प्रेक्षक भेज सकते हैं और यदि चाहें तो परिषद से सम्बन्धित कामों व विषय में उचित वक्तव्य लिखित रूप में भेज सकते हैं। वे स० रा० सघ के सचिवालय से भी आसानी हिला के सामने से सलाह ले सकते हैं। प्लानो एवं रिग्ज के अनुसार, 'आर्थिक और सामाजिक परिषद की गतिविधियाँ इसे अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन का केन्द्र और अन्तर्राष्ट्रीय कार्य का उत्प्रेरक बनाती हैं (It is a focus for international thinking and a catalyst for international action)'।

ट्रस्टीशिप परिषद
(Trusteeship Council)

ट्रस्टीशिप परिषद में स० रा० सघ द्वारा प्रशासित इलाकों के सदस्य, इन इलाकों का प्रशासन न चलाने वाले सदस्य तथा अन्य बहुत से ऐसे भी सदस्य होते हैं, जिन्हें महासभा तीन वर्ष के लिए चुनकर भेजती है। इससे प्रशासनकर्ता व अप्रशासनकर्ता देशों के बीच उचित सन्तुलन बना रहता है। परिषद द्वारा निर्वाचित

सदस्य अवधि समाप्त होने पर पुनः चुनाव के लिए खड़े हो सकते हैं।

कार्य (Functions)

इस परिषद का काम अपने अधीनस्थ इलाकों के प्रशासन की देखभाल करना है। अपना कार्य करने के लिए परिषद को ये अधिकार हैं : इन अधीनस्थ इलाकों के निवासियों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक प्रगति के लिए प्रश्नावली तैयार करना जिसके आधार पर प्रशासनिक अधिकारियों को हर वर्ष रिपोर्ट देनी होती है। प्रशासनिक अधिकारियों से सलाह करके याचिकाओं को जाँचना; प्रशासन द्वारा नियत अवसरों पर बीच में निरीक्षण करना।

ट्रस्टीशिप परिषद में मतदान सामान्य बहुमत के आधार पर होता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य का एक वोट होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(International Court of Justice)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सं० रा० संघ की मुख्य न्यायिक संस्था है। इसका कार्य संचालन चार्टर के अभिन्न अंग के अधिनियम के अनुसार होता है। यह न्यायालय अधिनियम के अन्तर्गत सं० रा० संघ के सभी सदस्यों के लिए स्वतः खुला हुआ है। यदि कोई देश संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं भी है तो भी वह इस अधिनियम के अन्तर्गत मुकदमे में भाग ले सकता है परन्तु इस प्रकार के प्रत्येक मामले में सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा उसके नियम निर्धारित करेगी।

सारे देश जो कि न्यायालय के अधिनियम के अन्तर्गत आते हैं वे इसके समक्ष आये सारे मुकदमों में उपस्थित हो सकते हैं। अन्य देश सुरक्षा परिषद द्वारा निर्धारित नियमों के आधार पर अपना मुकदमा प्रस्तुत कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद भी न्यायालय को कानूनी वाद-विवाद के मामले भेज सकती है। महासभा और सुरक्षा परिषद किसी भी कानूनी मामले पर न्यायालय से सलाह माँग सकते हैं। इसी प्रकार महासभा की अनुमति से सं० रा० संघ की अन्य शाखाएँ तथा विशेष समितियाँ अपने-अपने कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत कानूनी मामलों पर सलाह माँग सकती है।

सदस्य राज्य द्वारा भेजे गये मुकदमों, चार्टर में लिखित सभी विषयों अथवा लागू सन्धियों या परम्पराओं को इस न्यायालय को सुनने का अधिकार है। सभी सदस्य देश विशेष मामलों में सन्धि या परम्परा पर हस्ताक्षर करके अपने आपको न्यायालय की सीमा में आबद्ध कर लेते हैं। ये सदस्य यदि चाहें तो कुछ विशेष मुकदमों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सीमा से बाहर रख सकते हैं।

अधिनियम की धारा 38 के अनुसार विचारार्थ भेजे गये इन विवादों का निर्णय करते समय न्यायालय ध्यान रखता है कि : विवादकर्ता देशों द्वारा स्वीकृत नियमों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं; कानून द्वारा अभिमत व्यवहार का आधार मानकर अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाजों; देशों द्वारा स्वीकृत कानून के सामान्य सिद्धान्तों; कानून के नियमों का निर्धारण करने की दृष्टि से न्यायिक निर्णयों और विभिन्न देशों के सुयोग्य प्रचार विशेषज्ञों की शिक्षाओं के सम्बन्ध में उपर्युक्त तथ्य सामने रहें। यदि विवादकर्ता देश सहमत हो तब कानूनी बाल की खाल निकालने

की अपेक्षा यह न्यायालय मामले का व्यावहारिक दृष्टि से न्याययुक्त निर्णय कर सकता है। इस प्रकार के मामलों में यदि एक पक्ष निर्णय को कार्यान्वित न करे तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् से इस पर कार्रवाई करने की माँग कर सकता है।

इस न्यायालय के 15 न्यायाधीश होते हैं और उन्हें 'सदस्य' कहा जाता है। महासभा और सुरक्षा परिषद स्वतन्त्र रूप से मतदान द्वारा उनका निर्वाचन करती है। इन न्यायाधीशों का चुनाव उनकी राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं अपितु योग्यता के आधार पर किया जाता है। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि संसार की सभी मुख्य न्याय प्रणालियों को उसमें प्रतिनिधित्व मिले। एक ही देश के दो नागरिक एक ही समय में न्यायाधीश नहीं बन सकते। न्यायाधीश 9 वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं और उनका पुनर्निर्वाचन हो सकता है। वे अपने कार्यकाल में कोई अन्य व्यवसाय नहीं कर सकते। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हेग में स्थित है।

सचिवालय
(Secretariat)

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्य शाखाओं के कार्य करता है तथा उनके द्वारा निर्धारित नीतियों तथा योजनाओं का प्रशासन करता है। उसका मुख्य प्रशासनिक अधिकारी महासचिव होता है जिसकी नियुक्ति महासभा सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर करती है। उसके अनेक कार्यों में से एक कार्य यह भी है कि वह सुरक्षा परिषद का ध्यान उन मामलों की ओर दिला सकता है जो उसके विचार में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा पैदा करते हैं।

नार्वे के त्रिग्वेली सबसे पहले महासचिव नियुक्त हुए थे जिनका कार्यकाल 1953 तक रहा। स्वीडन के डाग हैमरशोल्ड ने 1953 से लेकर 1961 तक कार्यभार सम्भाला। 1961 में अफ्रीका में एक विमान दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गयी। *उनकी मृत्यु के उपरान्त बर्मा के ऊथांट महासचिव बने। दिसम्बर 1971 में आस्ट्रेलिया* के कुर्त वाल्दहीम महासचिव के रूप में नियुक्त हुए जिन्होंने जनवरी, 1972 में अपना कार्यभार सम्भाला। 1982 में पेरेज डी कुयार ने यह पद सम्भाला और अक्टूबर 1987 में वह पुन पाँच वर्ष के लिए चुन गये।

सचिवालय का मुख्य कार्यालय और विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले उसके अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकर्ता संयुक्त राष्ट्र संघ के दैनिक कार्यों को करते हैं। कार्यकर्ता 100 से अधिक देशों से लिये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक कर्मचारी के रूप में ये लोग कार्य करते हैं और प्रत्येक कर्मचारी यह शपथ ग्रहण करता है कि जब तक वह संयुक्त राष्ट्र संघ की सेवा कर रहा है उस दौरान वह किसी और सरकार या किसी बाहरी शक्ति से कोई आदेश नहीं लेगा।

महासचिव और उसके कर्मचारियों का कार्यक्षेत्र संयुक्त राष्ट्र संघ की समस्याओं के अनुसार होता है, जैसे सलाह देना और कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से समस्याओं में हस्तक्षेप करना, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाना, शान्ति बनाये रखने वाले कार्यों की देखभाल करना, विभिन्न सरकारों में बातचीत, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक गतिविधियों और समस्याओं का सर्वेक्षण, मानवीय अधिकारों तथा प्राकृतिक साधनों का अध्ययन, अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों का आयोजन, तथ्य सकलन, सुरक्षा परिषद तथा अन्य संस्थाओं के द्वारा किये गये फैसले लागू करने के बारे में सूचनाएँ एकत्रित

करना, भाषणों की व्याख्या करना, प्रमाण-पत्रों का अनुवाद करना और विश्व के सूचना प्रसारण के साधनों को संयुक्त राष्ट्र संघ के बारे में बताना।

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यकर्ता समय-समय पर शान्ति बनाये रखने वाली सेनाओं या निरीक्षकों के रूप में उन स्थानों पर जाते हैं जहाँ शान्ति भंग होने का खतरा हो।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव
(Uniting for Peace Resolution)

'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' की अपनी दिलचस्प कहानी है। जब कोरिया संकट उत्पन्न हुआ तो सोवियत संघ द्वारा सुरक्षा परिषद में वीटो के प्रयोग से कोई भी कार्रवाई करना लगभग असम्भव हो गया था। पश्चिमी गुट के देशों ने 'शान्ति के लिए एकता' प्रस्ताव पारित करवाकर महासभा के अधिकारों में बढ़ोत्तरी करवा दी। इस प्रस्ताव के पीछे मूल उद्देश्य शान्ति और सुरक्षा कायम करने के मामलों पर सुरक्षा परिषद् में वीटो से उत्पन्न गतिरोध की अवस्था में महासभा को कार्रवाई का अधिकार दिया गया। यह प्रस्ताव 3 नवम्बर, 1950 को पारित किया गया। प्रस्ताव में पाँच प्रमुख व्यवस्थाएँ अंकित हैं :

(अ) **महासभा का संकटकालीन अधिवेशन**—सुरक्षा परिषद् के किन्हीं नौ सदस्यों के बहुमत से या संघ के कुल सदस्यों के बहुमत से 24 घण्टे की सूचना देकर महासभा का अधिवेशन बुलाया जा सकता है। महासभा अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित कर वीटो के प्रभाव से बचते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिए कार्रवाई कर सकती है।

(ब) **शान्ति निरीक्षण आयोग** (Peace Observation Commission)—'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' द्वारा सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों समेत एक चौदह सदस्यीय शान्ति निरीक्षण आयोग की स्थापना की गयी। विश्व के किसी भी भाग में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होने पर इस आयोग का कार्य निरीक्षण करना तथा रिपोर्ट देना है। इन्हें पर्यवेक्षक (Observer) की संज्ञा दी जाती है।

(स) **सामूहिक उपाय समिति** (Collective Measures Committee)—'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' द्वारा एक चौदह सदस्यीय सामूहिक उपाय समिति की स्थापना की गई है जिसका प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को मजबूत करने वाले उपायों का अध्ययन तथा उन पर रिपोर्ट देना है।

(द) **राष्ट्रीय सेनाओं की टुकड़ियों का संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के लिए प्रशिक्षण**—'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' के द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राष्ट्रों से सिफारिश की गई है कि वह अपने स्रोतों का सर्वेक्षण कर तय करें कि वह विश्व शान्ति व सुरक्षा के लिए महासभा के कार्यक्रमों के लिए कितनी मदद दे सकते हैं। प्रस्ताव में यह भी सिफारिश की गई है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की इकाइयों को शीघ्र उपलब्ध कराने के लिए वह अपनी सशस्त्र सेनाओं की टुकड़ियों को प्रशिक्षित, संगठित तथा सुसज्जित करें।

(य) **सं० रा० संघ के प्रति निष्ठा तथा आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के लिए कार्य**—'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों से सिफारिश की गई है कि वह संगठन के प्रति अपनी निष्ठा को दोहरायें, उसके

निर्णयो का आदर करें, मानव अधिकारों की रक्षा के प्रति आदर बढ़ायें। इस प्रस्ताव में आर्थिक स्थिरता तथा सामाजिक विकास के लिए कार्य करने का भी आग्रह किया गया।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव का विरोध—सोवियत संघ ने 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' की उपरोक्त दूसरी और पांचवी व्यवस्थाओं का घोर विरोध किया था। उसका तर्क था कि यह गैर-कानूनी है, क्योंकि संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के अन्तर्गत विश्व शान्ति और सुरक्षा का कार्य सुरक्षा परिषद् को सौंपा गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के कुछ अन्य राष्ट्रों ने भी इस प्रस्ताव की कुछ व्यवस्थाओं का विरोध किया। उनका मत था कि संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के अन्तर्गत सामूहिक परिपालन उपायों का अधिकार सुरक्षा परिषद् का है, महासभा का अधिकार मात्र चर्चा तथा सिफारिश तक सीमित है। इस प्रकार इस प्रस्ताव का कुछ सदस्य-राष्ट्रों ने विरोध किया था।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव का मूल्यांकन—यह प्रस्ताव पारित होने से कालान्तर में इसका अनेक बार कार्यान्वयन हुआ जिसका सुरक्षा परिषद् के पांचों सदस्यों—अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, चीन और सोवियत संघ ने समर्थन किया। कोरिया संकट के दौरान सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ द्वारा वीटो के इस्तेमाल करने पर महासभा द्वारा 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' के अन्तर्गत कार्यवाई करने के निर्णय का अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा चीन ने समर्थन किया। दूसरी ओर स्वेज संकट के दौरान ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा सुरक्षा परिषद् में वीटो के प्रयोग करने पर महासभा द्वारा इस प्रस्ताव के अन्तर्गत कार्यवाई करने के निर्णय का सोवियत संघ ने समर्थन किया। इन तथ्यों के आधार पर अब यह कहा जा सकता है कि सुरक्षा परिषद् द्वारा विश्व शान्ति व सुरक्षा कायम करने में असमर्थ रहने पर 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' द्वारा महासभा शक्तिशाली हो जाती है और दो-तिहाई बहुमत से सामूहिक सुरक्षा का उपाय कार्यान्वित कर सकती है। अतः शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव अत्यन्त उपयोगी है। अब यह एक यथार्थ बन चुका है।[1]

सुरक्षा परिषद् में वीटो (निषेधाधिकार) के प्रयोग पर विवाद
(Controversy on the use of Veto in the Security Council)

सुरक्षा परिषद् में 'वीटो' अर्थात् निषेधाधिकार के प्रयोग पर जितना उग्र विवाद खड़ा होता रहा है उतना शायद उसके चार्टर के अन्य किसी प्रावधान को लेकर नहीं हुआ। वीटो शब्द का अर्थ है—अस्वीकृत करना या किसी प्रस्ताव का विरोध करना। सुरक्षा परिषद् के सन्दर्भ में जब इस शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इसका विशिष्ट अर्थ होता है। वीटो के प्रयोग के विवाद को समझने से पहले सुरक्षा परिषद् में होने वाली मतदान प्रक्रिया के स्वरूप को समझना जरूरी है।

अनुच्छेद 27 के अन्तर्गत कहा गया है कि सुरक्षा परिषद् के हरक सदस्य राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार है। सुरक्षा परिषद् के कार्यों को दो भागों में बांटा गया है—(अ) साधारण, और (ब) असाधारण। साधारण कार्यों के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् का कार्यक्रम, स्थान एवं समय से सम्बन्धित निर्णय आते हैं। इनके बारे में सुरक्षा परिषद् के निर्णय के लिए किन्हीं 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक

[1] इस विस्तृत विवेचन के लिए देखें, Leo Mates, *'The U N and the Maintenance of International Peace and Security'.*

मतों के साथ ही पाँच स्थायी सदस्य-राष्ट्रों का मत सम्मिलित होना आवश्यक है। यदि इन पाँच स्थायी सदस्यों में से कोई भी अपनी असहमति प्रकट करता है अथवा प्रस्ताव के विरुद्ध मत देता है तो प्रस्ताव अस्वीकृत समझा जाता है। इसे ही 'वीटो का इस्तेमाल' कहा जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सुरक्षा परिषद् की कार्य-प्रणाली सम्बन्धी मामलों के अलावा अन्य निर्णयों के लिए पाँच स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है। लेकिन यदि स्थायी सदस्यों में से कोई सुरक्षा परिषद् की बैठक में अनुपस्थित हो या मतदान में भाग न ले तो उसे उस सदस्य के द्वारा वीटो (निषेधाधिकार) का इस्तेमाल नहीं माना जाता है। सुरक्षा परिषद् के सदस्य-राष्ट्र से सम्बन्धित विवाद पर यदि सुरक्षा परिषद् में विचार हो रहा हो तो वह उसमें भाग तो ले सकता है लेकिन उसमें मतदान नहीं कर सकता। सुरक्षा परिषद् की बैठक में विवाद से सम्बन्धित ऐसे राज्यों को भी भाग लेने के लिए बुलाया जा सकता है, जो उसके सदस्य न हों किन्तु उन्हें मतदान करने का अधिकार नहीं होता।

वीटो-व्यवस्था की आलोचना

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक जानकार लोगों ने वीटो-व्यवस्था की आलोचना की है। मसलन सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री हैन्स केल्सन का मानना है कि 'निषेधाधिकार' के द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में पाँच स्थायी राष्ट्रों को विशेषाधिकार प्राप्त हो गया है और इस प्रकार अन्य सदस्यों पर उनकी वैधानिक प्रभुता स्थापित हो गई है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सभी सदस्यों को समान माना गया है, किन्तु निषेधाधिकार की व्यवस्था उसका उल्लंघन करती है। उससे संघ की व्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न हुआ है। इसलिए उसे समाप्त किया जाना चाहिए।'[1] वीटो के विपक्ष में मुख्य रूप से निम्नांकित तर्क देकर इस व्यवस्था को समाप्त करने की बात कही जाती है :

(अ) **समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन**—विश्व की पाँच बड़ी शक्तियों को वीटो अधिकार देने से संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्य राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन हुआ है।

(ब) **अन्तर्राष्ट्रीय जनमत की अवहेलना**—यदि सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों को छोड़कर संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य सदस्य राष्ट्र किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करना चाहते हैं तो उसे इन पाँच में से कोई भी वीटो का प्रयोग कर उसमें बाधा पहुँचा सकता है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का उल्लंघन ही माना जायेगा।

(स) **बड़ी शक्तियों की निरंकुशता का प्रतीक**—सुरक्षा परिषद् में वीटो व्यवस्था विश्व की पाँच बड़ी शक्तियों की निरंकुशता स्थापित करती है। इस व्यवस्था से वह छोटे राष्ट्रों को वीटो का भय दिखाकर ब्लेकमेल, दबाव एवं शोषण की चालें चल सकती है।

(द) **विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के कार्य को ठप्प करना**—विश्व के किसी भी भाग में तनाव एवं युद्ध भड़कने की स्थिति में सुरक्षा परिषद् कोई कार्रवाई करने के प्रस्ताव पर किसी भी एक सदस्य की सनक या हठधर्मिता से विश्व शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने का कार्य ठप्प पड सकता है। गुडरिच और हैनब्रो का मानना

[1] Hans Kelson, *The Law of the United Nations* (New York, 1950), 276–77.

है कि 'निषेधाधिकार सम्बन्धी विवाद ने शान्ति सन्धियों के कार्यों को विलम्बित किया है और युद्ध से ध्वस्त क्षेत्रों में अपने निर्माण कार्य को रोक दिया है।'[1]

(य) वीटो का सभी स्थायी सदस्यों द्वारा दुरुपयोग—वीटो के अधिकार का सभी स्थायी सदस्यों ने अनेक मौकों पर दुरुपयोग किया है। मसलन, कोरिया, वियतनाम, चीन आदि की संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यता के मामलों पर अमरीका और सोवियत संघ ने एक-दूसरे के विरुद्ध वीटो का इस्तेमाल कर इस अधिकार का दुरुपयोग किया।

वीटो व्यवस्था के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क

एक तरफ जहाँ सुरक्षा परिषद् में वीटो के अधिकार की आलोचना कर इस व्यवस्था को समाप्त करने की वकालत की गयी है वहीं दूसरी ओर अनेक विद्वानों ने इसके पक्ष में भी काफी कुछ कह कर इसका औचित्य सिद्ध किया है। मसलन, श्लाइशर का मानना है कि 'निषेधाधिकार असहमति का सूचक है न कि उसका कारण। अतः वीटो व्यवस्था समाप्त कर देने से न तो महाशक्तियों में मतभेद दूर होंगे और न ही इस दिशा में कोई प्रगति होगी। फिर निषेधाधिकार अनेक प्रकार के प्रश्नों के लिए प्रयुक्त होता है। सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौतों के रूप में इस व्यवस्था की समाप्ति लाभपूर्ण है, किन्तु शान्ति भंग होने अथवा आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्रवाई के सम्बन्ध में वीटो व्यवस्था समाप्त करना बहुत विवादास्पद और नवीन समस्याओं को उत्पन्न करने वाला है। अतः वीटो व्यवस्था बनी रहनी चाहिए।'[2] वीटो व्यवस्था कायम रखने के पक्ष में आम तौर पर निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं।

(अ) विश्व शान्ति एवं सुरक्षा बड़ी शक्तियों के सहयोग पर निर्भर—इस कटु सत्य को स्वीकार करने में नहीं हिचकना चाहिए कि विश्व शान्ति और सुरक्षा बड़ी शक्तियों के सहयोग से ही कायम की जा सकती है। बड़ी शक्तियाँ छोटे राष्ट्रों की अपेक्षा उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से काम करती हैं। इस कारण सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्णय लेते समय सभी बड़ी शक्तियों की आम सहमति अत्यन्त जरूरी है। इसी बात को अभिव्यक्त करते हुए ए० वदेन बोश (A. Vanden Bosch) तथा डब्ल्यू० टी० होगान (W. T. Hogan) ने कहा है कि 'यदि सुरक्षा परिषद् अपना काम अच्छे ढंग से चलाना चाहती है तो पाँचों स्थायी सदस्यों में आपसी सहयोग जरूरी है। यदि सभी सदस्य एक ही तरह वोट डालते हैं तो इससे जाहिर होता है कि वे उठाये जाने वाले कदमों से सहमत हैं। यदि कुछ सदस्य देश पक्ष में और शेष सदस्य विपक्ष में वोट देते हैं तो इससे जाहिर होता है कि उनमें असहमति है और इसलिए प्रस्तावित कार्रवाई पर सहयोग करने को तैयार नहीं हैं।'[3]

[1] M. Leland Goodrich and Edward Hambro, *The Charter of the United Nations* (Boston, 1947), 224

[2] 'The Veto is a symptom of disagreement rather than its cause, its abolition would accomplish nothing.'—Charles P. Schleicher, *International Relations* (New York, 1954), 170

[3] 'Cooperation among the five permanent members is essential, if the security council is to perform its functions, . if all the members vote the same way, this shows that they agree on the measures to be taken. If some vote for

(ब) वीटो के अधिकार से गलत कार्यवाही को रोकना—यह कहना गलत है कि हर समय वीटो का दुरुपयोग किया जाता है। अनेक उदाहरण ऐसे हैं, जहाँ सुरक्षा परिषद् के चार स्थायी सदस्य गलत कार्रवाई करना चाहते थे जिसको सोवियत संघ ने वीटो का इस्तेमाल कर रोक दिया। मसलन, अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन द्वारा भारत-पाक युद्ध के दौरान भारत-विरोधी कार्रवाई करने के प्रस्ताव को सोवियत संघ ने वीटो का इस्तेमाल कर उस गलत कार्रवाई को रोका। सोवियत संघ द्वारा इस मामले पर वीटो का प्रयोग इस अधिकार का दुरुपयोग नहीं, बल्कि सत्य की रक्षा के लिए उपयोग था।

(स) छोटे राष्ट्रों को अनुशासित करने के लिए—बड़ी शक्तियों का तर्क है कि छोटे राष्ट्र अक्सर गैर-जिम्मेदाराना ढंग से व्यवहार करते हैं। सीमा-विवाद या किसी अन्य मतभेद हो जाने पर वे युद्ध लड़ने को उतारू हो जाते हैं। छोटे राष्ट्रों द्वारा उत्पन्न की गयी संकटकालीन परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम करने की जिम्मेदारी यदि बड़ी शक्तियों को दे दी जाती है तो इसमें हर्ज ही क्या है? बड़ी शक्तियों के पास इस अधिकार के होने से छोटे राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार को अनुशासित करने में मदद मिलेगी।

(द) वीटो से सुरक्षा परिषद् ठप्प होने पर महासभा द्वारा कार्रवाई—वीटो के आलोचक अनेक बार यह तर्क देते हैं कि सुरक्षा परिषद् द्वारा किसी भी कार्रवाई के करने के लिए पाँचों स्थायी सदस्य राष्ट्रों की आम सहमति आवश्यक है। किसी भी एक स्थायी सदस्य द्वारा वीटो के प्रयोग से सुरक्षा परिषद् ठप्प हो जाती है। लेकिन 1950 में 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' पारित हो जाने से जहाँ एक ओर वीटो का महत्व कम हो गया वहीं दूसरी ओर महासभा शक्तिशाली हो गयी। सुरक्षा परिषद् में वीटो के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध के बाद विश्व-शान्ति के लिए इस प्रस्ताव को महासभा में लाया जा सकता है और यहाँ 2/3 के बहुमत से कार्रवाई की जा सकती है।

(य) वीटो-व्यवस्था दोषपूर्ण नहीं, बल्कि बड़ी शक्तियों का रवैया पक्षपातपूर्ण है—असल में विश्व-शान्ति और सुरक्षा को कायम करने तथा इसे मजबूत बनाने के लिए वीटो-व्यवस्था अपनायी गयी। यह व्यवस्था नहीं, बल्कि बड़ी शक्तियों का रवैया दोषपूर्ण एवं पक्षपातपूर्ण रहा है जिसने वीटो की उपयोगिता पर प्रश्न-चिन्ह लगाया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि वीटो-व्यवस्था को सफल बनाने के लिए बड़ी शक्तियाँ पक्षपातरहित एवं उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से वीटो के अधिकार का प्रयोग करें।

इस प्रकार वीटो के पक्ष तथा विपक्ष में दिये गये उक्त तर्कों से स्पष्ट है कि अनेक खामियों के बावजूद वीटो-व्यवस्था को बनाये रखना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए वांछनीय होगा।

राष्ट्र संघ एवं सं० रा० संघ : तुलनात्मक अध्ययन
(The League of Nations and the U.N.O. : A Comparative Study)

1919 तथा 1945 में स्थापित क्रमशः राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ के

and some vote against a proposal, this shows that they disagree and therefore are not prepared to cooperate in the suggested course of action.' —V. Vanden Bosch and W. T. Hogan, *The United Nations : Background, Organization, Functions and Activities* (New York, 1952), 146

उद्देश्य एक से थे। दोनो का लक्ष्य अन्तराष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना तथा शान्ति एव सुरक्षा को कायम करना था, किन्तु अनेक मामलों मे वे असमानताएँ-भिन्नताएँ लिए हुए भी थे। कुछ टीकाकार यह कहते हैं कि स० रा० सघ का चार्टर, राष्ट्र सघ की प्रसविदा की नक्ल है। अनेक विद्वान यह भी मानते हैं कि 'राष्ट्र सघ को नया लिबास पहनाकर स० रा० सघ का स्वरूप दिया गया है।'[1] अत. राष्ट्र सघ एव स० रा० सघ के बारे में विद्वानों की इस बहस के सदर्भ मे सच्चाई को खोजा जाना चाहिए। इसके लिए हमे दोनों अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो मे समानताओ तथा असमानताओ को पहचानना होगा तभी कुछ ठोस निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है।

दोनो सगठनो मे असमानताएँ

पहले राष्ट्र सघ और स० रा० सघ में असमानताओ-भिन्नताओं का तुलनात्मक विश्लेषण करना उचित रहेगा। दोनो सगठनों मे अन्तर इस प्रकार है—

(1) उद्देश्यों एव गतिविधियों मे अन्तर—हालांकि राष्ट्र सघ और स० रा० सघ दोनो का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को कायम करना था, किन्तु यदि गहराई से देखा जाये तो राष्ट्र सघ एव स० रा० सघ के उद्देश्यो एव गतिविधियो के क्षेत्र मे अन्तर दिखाई पडता है। उदाहरणार्थ राष्ट्र सघ राजनीतिक सगठन था और उसकी गतिविधियाँ राजनीतिक उद्देश्यो को प्राप्त करने तक सीमित थीं, जबकि स० रा० सघ को राजनीति के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव मानवीय गतिविधियो से सम्बन्धित सगठन भी माना जा सकता है। इसके अनेक विशिष्ट अभिकरणो की गतिविधियो का कार्यक्षेत्र राजनीति के अलावा मानव जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी फैला हुआ है, जबकि राष्ट्र सघ जीवन के अन्य क्षेत्रो मे सक्रिय नहीं रहा।

(2) समय काल का अन्तर—राष्ट्र सघ और स० रा० सघ की स्थापना और सक्रियता के समय-काल मे भी अन्तर है। राष्ट्र सघ प्रथम विश्व-युद्ध के बाद पेरिस शान्ति सम्मेलन की प्रसविदा द्वारा स्थापित हुआ, जबकि स० रा० सघ द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद आयोजित एक विशेष सैन फ्रासिस्को सम्मेलन के द्वारा स्थापित किया गया।

(3) राष्ट्र सघ की प्रसविदा से स० रा० सघ का चार्टर बड़ा दस्तावेज है—राष्ट्र सघ की प्रसविदा में कुल 26 धाराएँ थीं, जबकि स० रा० सघ के चार्टर मे 111 धाराएँ हैं। इस प्रकार प्रसविदा से चार्टर के बड़े होने के कारण स० रा० सघ के उद्देश्य एव कार्यों को अधिक व्यापक एव स्पष्ट रूप दिया जाना सम्भव हो सका।

(4) संरचनात्मक अन्तर—राष्ट्र सघ और स० रा० सघ मे मूलभूत सरचनात्मक अन्तर पाया जाता है। राष्ट्र सघ के तीन प्रमुख अग थे—सभा, परिषद् और सचिवालय। दूसरी ओर स० रा० सघ के छ प्रमुख अग हैं—महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक एव सामाजिक परिषद्, न्यास परिषद् (ट्रस्टीशिप कौंसिल), अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्र सघ के अन्तर्गत स्थायी न्यायालय की व्यवस्था की गयी थी, किन्तु वह उसका स० रा० सघ के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की तरह अभिन्न अग नहीं था। वह राष्ट्र सघ से परोक्ष

[1] 'The United Nations Organization is League of Nations in a new guise' —Fredrick L. Schuman *International Politics* (New York, 1948)

रूप से सम्बद्ध था। इसी प्रकार राष्ट्र संघ के अन्तर्गत मेन्डेट्स आयोग (मेन्डेट्स कमीशन) सं० रा० संघ की न्यास परिषद् से एकदम भिन्न स्वरूप का था। इस प्रकार दोनों अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में कई प्रकार के और भी संरचनात्मक अन्तर पाये जाते हैं।

(5) **कार्यों के स्पष्ट विभाजन का अन्तर**—राष्ट्र संघ की प्रसंविदा में परिषद और सभा के कार्यों और अधिकारों के बारे में स्पष्ट विभाजन का अभाव था जबकि सं० रा० संघ के अन्तर्गत महासभा और सुरक्षा परिषद के मध्य स्पष्ट शक्ति विभाजन पाया जाता है। सं० रा० संघ के चार्टर में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सुरक्षा परिषद की सबसे बड़ी जिम्मेदारी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम करने की है, जबकि महासभा का काम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए सिफारिशें करना, सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों का चुनाव करना, नये सदस्यों को प्रवेश देना आदि है। इस प्रकार सं० रा० संघ के चार्टर में सुरक्षा परिषद और महासभा के कार्यों और अधिकारों में राष्ट्र संघ की अपेक्षा स्पष्ट विभाजन है।

(6) **मतदान प्रक्रिया का अन्तर**—राष्ट्र संघ और सं० रा० संघ के अन्तर्गत मतदान प्रक्रिया में मूलभूत अन्तर है। राष्ट्र संघ की परिषद और सभा में उपस्थित सदस्यों के मतैक्य नियम से निर्णय लिए जाते थे जबकि सं० रा० संघ में इस 'मतैक्य मतदान' प्रक्रिया में ढील दी गयी है। महासभा में केवल महत्वपूर्ण विषयों पर ही उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्य राष्ट्रों के दो-तिहाई बहुमत और साधारण विषयों पर साधारण बहुमत की व्यवस्था अपनायी गयी है। सुरक्षा परिषद में महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय के लिए 15 में से 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों की आवश्यकता होती है जिसमें पांच स्थायी सदस्यों के समर्थनात्मक मतों का होना भी अनिवार्य है। इस प्रकार राष्ट्र संघ की अपेक्षा सं० रा० संघ की मतदान प्रक्रिया अधिक उदार है।

(7) **अमरीकी सहयोग का अन्तर**—प्रथम विश्व युद्ध के बाद पेरिस शान्ति सम्मेलन में अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने फ्रांस तथा ब्रिटेन की संकीर्ण तथा स्वार्थपरक नीतियों का घोर विरोध किया था। वह अपने चौदह सूत्रों के अनुसार विश्व शान्ति एवं सुरक्षा कायम करना चाहते थे। राष्ट्र संघ की स्थापना की योजना भी इसी का महत्वपूर्ण अंग थी। लेकिन राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद सीनेट ने अमरीका द्वारा इस विश्व संगठन की सदस्यता ग्रहण करने का विरोध किया। अमरीका जैसे महत्वपूर्ण राष्ट्र के राष्ट्र संघ में न होने के कारण यह विश्व संगठन अपने कार्यों और उद्देश्यों में असफल रहा। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका ने सं० रा० संघ की सदस्यता ग्रहण की। इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में अमरीका जैसी महाशक्ति की भागीदारी के कारण विश्व शान्ति एवं सुरक्षा को अधिक प्रभावकारी ढंग से कायम करने में मदद मिली है।

(8) **संशोधन प्रक्रिया का अन्तर**—राष्ट्र संघ की प्रसंविदा के अनुच्छेद 26 के अनुसार "संशोधन उसी समय लागू होंगे, जब परिषद में प्रतिनिधित्व प्राप्त सदस्यों तथा सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त सदस्यों का बहुमत उनका समर्थन करेगा। संशोधन उस सदस्य पर बाध्यकारी नहीं होगा, जो उनसे अपनी असहमति प्रकट करेगा, परन्तु ऐसी स्थिति में वह संघ का सदस्य नहीं रह जायेगा।' दूसरी तरफ

संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के अनुच्छेद 108 के अनुसार 'जो भी संशोधन होंगे वे संगठन के सभी सदस्यों पर तभी लागू हो सकेंगे जब उनको महासभा दो-तिहाई के बहुमत से मान ले और सुरक्षा परिषद के सभी स्थायी सदस्यों सहित स० रा० संघ के सदस्य अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उनका सत्यांकन कर दें। इस प्रकार राष्ट्र संघ और स० रा० संघ द्वारा संशोधनों के मामले में भिन्न प्रक्रिया अपनाये जाने की व्यवस्था की गयी।

(9) **सदस्यता के प्रत्याहार एवं निष्कासन का अन्तर**—राष्ट्र संघ की *प्रसंविदा तथा स० रा० संघ के चार्टर दोनों में सदस्यों को संगठन की सदस्यता* से च्युत करने की व्यवस्था की गयी है। स० रा० संघ चार्टर में निष्कासन की व्यवस्था न होकर 'स्थगन' की व्यवस्था की गयी है।

(10) **कार्यवाई क्षमता का अन्तर**—सैनिक आक्रमण होने की अवस्था में राष्ट्र संघ कोई प्रभावकारी कदम नहीं उठा सकता था जबकि स० रा० संघ चार्टर के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद को तत्काल कार्रवाई करने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार राष्ट्र संघ की अपेक्षा स० रा० संघ अपने निर्णयों को लागू करने में अधिक सक्षम है।

(11) **मानव अधिकारों पर अधिक बल का अन्तर**—स० रा० संघ चार्टर में मानवाधिकार रक्षा एवं मौलिक स्वतन्त्रताओं पर अधिक बल दिया गया है। महासभा ने इस बारे में 'मानव अधिकार घोषणा' भी की है, जबकि राष्ट्र संघ ने इस बारे में ध्यान नहीं दिया।

(12) **सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीयकरण का अन्तर**—राष्ट्र संघ की सदस्यता अत्यन्त सीमित थी जबकि स० रा० संघ को विश्व-व्यापी संगठन बनाया गया। राष्ट्र संघ की सदस्यता 60 देशों तक बढ़ी। इसके प्रसंविदा पर हस्ताक्षर करने वाले 32 राष्ट्र थे, किन्तु उनमें से 29 ने ही इसका अनुसमर्थन किया। तत्कालीन विश्व की पाँच बड़ी शक्तियों में अमरीका जैसी बड़ी शक्ति कभी इसका सदस्य बनी ही नहीं। रूस को इसमें निकाल दिया गया। धीरे-धीरे कुल 18 देशों ने अपने को राष्ट्र संघ से अलग कर दिया। दूसरी तरफ स० रा० संघ के 51 राष्ट्र प्रारम्भिक सदस्य थे। दक्षिण अफ्रीका और इजराईल के अपवाद के अतिरिक्त आज तक किसी भी राष्ट्र को स० रा० संघ से नहीं निकाला गया। अफ्रो-एशियाई एवं लातीनी अमरीकी देशों ने उपनिवेशवादी शक्तियों के चंगुल से मुक्ति पाने के बाद स० रा० संघ में प्रवेश किया। इस प्रकार राष्ट्र संघ जहाँ यूरोपीय देशों तक सीमित था वहीं स० रा० संघ विश्व-व्यापी संगठन है।

(13) **अधिवेशनों के स्वरूप में अन्तर**—राष्ट्र संघ और स० रा० संघ के अधिवेशनों में भी अन्तर पाया जाता है। राष्ट्र संघ की परिषद के अधिवेशन एक वर्ष में तीन या चार होते थे और सभा के अधिवेशन अल्पकालीन होते थे, जबकि स० रा० संघ की सुरक्षा परिषद निरन्तर कार्य करने वाली संस्था है। सुरक्षा परिषद का विशेष अधिवेशन 24 घण्टे की पूर्व-सूचना पर बुलाया जा सकता है। सुरक्षा परिषद के प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र का एक प्रतिनिधि कार्य-स्थान पर सदैव उपस्थित रहता है। इसके विपरीत राष्ट्र संघ के अन्तर्गत परिषद के सदस्य-राष्ट्र के प्रतिनिधि के लिए यह आवश्यक नहीं था। इस प्रकार राष्ट्र संघ और स० रा० संघ के अधिवेशनों के सम्बन्ध में अन्तर पाया जाता है।

(14) आत्म-रक्षा की व्यवस्था में अन्तर—राष्ट्र संघ की प्रसंविदा के अन्तर्गत सदस्य-देशों को आत्म-रक्षा के वास्ते किसी प्रकार की वैयक्तिक एवं सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की गयी थी। किन्तु सं० रा० संघ चार्टर के अनुच्छेद 51 में आक्रमण की अवस्था में सदस्य-देश आत्मरक्षा के वास्ते तब तक वैयक्तिक तथा सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था कर सकते हैं जब तक सं० रा० संघ शान्ति कायम करने के लिए आवश्यक उपाय न जुटा ले। इस प्रकार सं० रा० संघ में वैयक्तिक एवं सामूहिक सुरक्षा को अधिक व्यावहारिक एवं स्पष्ट बनाने का प्रयास किया गया है।

अन्य अन्तर—राष्ट्र संघ और सं० रा० संघ में और भी अनेक अन्तर हैं जो निम्नांकित हैं—

(क) राष्ट्र संघ की प्रसंविदा (Covenant) में अपनी किसी सेना का उल्लेख नहीं किया गया है जबकि सं० रा० संघ के चार्टर में अपनी सेना की व्यवस्था का उल्लेख है।

(ख) राष्ट्र संघ की प्रसंविदा और सं० रा० संघ के चार्टर में सचिवालय तथा महासचिव का उल्लेख है, परन्तु चार्टर में प्रसंविदा से ज्यादा स्पष्ट रूप से सचिवालय तथा महासचिव के कार्यों का उल्लेख मिलता है।

(ग) राष्ट्र संघ की प्रसंविदा तथा सं० रा० संघ चार्टर दोनों में सुरक्षा की दृष्टि से क्षेत्रीय संगठन की आवश्यकता को स्वीकारा गया है, किन्तु प्रसंविदा की तरह चार्टर में इसका विस्तृत उल्लेख नहीं है।

(घ) राष्ट्र संघ की प्रसंविदा में अधिदेश पद्धति (Mandatory System) के बारे में अधिदेश आयोग (Mandatory Commission) की व्यवस्था की गयी थी, जबकि सं० रा० संघ के चार्टर में एक स्थायी न्यास परिषद का उल्लेख किया गया है, जिसका कार्यक्षेत्र और अधिकार अधिक व्यापक है।

राष्ट्र संघ तथा सं० रा० संघ के तुलनात्मक अध्ययन का मूल्यांकन—राष्ट्र संघ तथा सं० रा० संघ के उपरोक्त तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि जहाँ राष्ट्र संघ की अनेक अच्छी व्यवस्थाओं को सं० रा० संघ की स्थापना करते समय अपनाया गया, वहीं दूसरी ओर उसकी कमजोरियों के अनुभवों का ध्यान में रखते हुए कई नई व्यवस्थाएँ की गयी। इसका उद्देश्य सं० रा० संघ को विश्व शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने में सक्षम एवं प्रभावी बनाना था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए सं० रा० संघ की 'नकल' या 'नये लिबास में पुरानी वस्तु' की संज्ञा देना अनुचित होगा।

सं० रा० संघ चार्टर का पुनरीक्षण एवं संशोधन
(Revision and Amendment of the U. N. Charter)

सं० रा० संघ जैसे महत्वपूर्ण विश्व संगठन को स्थापित हुए अब तक करीब पाँच दशक हो रहे हैं। इस काल के दौरान इसने कई उतार-चढ़ाव अनुभव किये हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूँजीवादी एवं साम्यवादी खेमों के शीत युद्ध में गुटबाजी का बोलबाला रहा और तत्पश्चात् देतांत युग में विकसित बनाम विकासशील देशों में टकराव उत्पन्न हुआ जो 'नये शीत युद्ध' के मौजूदा दौर में भी काफी हद तक जारी है। इस मूलभूत परिवर्तन की प्रक्रिया के दौर में अनेक विद्वानों ने सं० रा०

संघ के चार्टर के पुनरीक्षण एवं संशोधन की बात उठायी है, ताकि यह विश्व संगठन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नई चुनौतियों का मुकाबला कर सके।[2]

पुनरीक्षण एवं संशोधन सम्बन्धी व्यवस्था—इस सन्दर्भ में पहले चार्टर में दी गयी पुनरीक्षण एवं संशोधन सम्बन्धी व्यवस्थाओं का उल्लेख कर देना उचित रहेगा। अध्याय 18 के अनुच्छेद 108 एवं 109 में चार्टर के पुनरीक्षण एवं संशोधन सम्बन्धी उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 108 के अनुसार महासभा के सदस्यों के दो-तिहाई मतों का समर्थन प्राप्त होने पर और संवैधानिक प्रक्रिया के अनुसार स० रा० संघ के सदस्यों के दो-तिहाई का, जिसमें सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य सम्मिलित होंगे, अनुसमर्थन प्राप्त हो जाने पर ही घोषणा-पत्र में स० रा० संघ के सभी सदस्यों के लिए संशोधन प्रभावी हो सकेंगे। 'अनुच्छेद 109 में तीन बातें कही गयी हैं। पहली बात, महासभा के सदस्यों के दो तिहाई मतों और सुरक्षा परिषद के किन्हीं नौ सदस्यों के मतों द्वारा तारीख और स्थान का निर्धारण होने पर ही घोषणा-पत्र का पुनरीक्षण करने के लिए स० रा० संघ के सदस्यों का साधारण सम्मेलन नियत तारीख और स्थान पर आयोजित किया जा सकेगा। दूसरी बात, घोषणा-पत्र में कोई भी परिवर्तन तभी प्रभावी होगा जब उसके समर्थन में सम्मेलन के दो-तिहाई मतों के आधार पर सिफारिश की जायेगी और संवैधानिक प्रक्रिया के अनुसार सुरक्षा परिषद के सभी स्थायी सदस्यों सहित स० रा० संघ के दो-तिहाई सदस्य उसका अनुसमर्थन करें। तीसरी बात, यदि ऐसा सम्मेलन घोषणा-पत्र के लागू होने के बाद महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के पूर्व आयोजित नहीं किया जाता है तो यह सम्मेलन करने का प्रस्ताव महासभा के उस अधिवेशन की कार्य सूची में रखा जा सकता है और महासभा के सदस्यों के अधिकांश मतों और सुरक्षा परिषद के सात सदस्यों के मतों के समर्थन पर यह सम्मेलन आयोजित किया जा सकता है।

चार्टर में वांछनीय संशोधन—चार्टर में संशोधन करने के अब तक कोई ठोस प्रयास नहीं हुए हैं जिस कारण इसके निम्नांकित प्रावधानों के बारे में अनेक प्रकार से संशोधन वांछनीय है·

(1) सदस्यता—हालांकि स० रा० संघ के चार्टर में कहा गया है कि विश्व शान्ति में विश्वास रखने वाले सभी देश इस संगठन के सदस्य बन सकते हैं किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हुआ है। इसका प्रमुख कारण सुरक्षा परिषद में पाँच बड़े देशों के पास 'वीटो' शक्ति होने के कारण अनेक देश जैसे वियतनाम, चीन, उत्तरी कोरिया तथा दक्षिण कोरिया आदि को काफी समय तक सदस्यता नहीं मिल पायी। इस कारण किसी भी देश द्वारा स० रा० संघ की सदस्यता के लिए आवेदन करने पर 'वीटो' के प्रावधान को समाप्त किया जाना वांछनीय है।

(2) वीटो का अधिकार—सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्य देशों—अमरीका, रूस, ब्रिटेन, चीन और फ्रांस के पास 'वीटो' का अधिकार है। किसी भी नाजुक अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय स० रा० संघ द्वारा कोई भी कार्रवाई करने के प्रस्ताव पर किसी भी एक स्थायी सदस्य देश द्वारा वीटो का प्रयोग करने की अवस्था में विश्व शान्ति एवं सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। कुछ लोगों ने 'वीटो' के अधिकार

[2] इसकी विशेष व्याख्या के लिए देखें—Robert W Gregg and Michael Barkin (ed) *The United Nations System and Its Functions*, (New York, 1970)

को खत्म करने का सुझाव दिया है किन्तु वर्तमान मे यह सम्भव नही प्रतीत होता, क्योकि पांच बडे देशो से 'वीटो' के अधिकार को छीन लेने के बाद वे सं० रा० संघ की सदस्यता ही छोड़ देंगे। इससे इस विश्व सगठन का ही अस्तित्व समाप्त हो जाने का डर है। अतएव यही अच्छा रहेगा कि सुरक्षा परिषद के अलावा स० रा० सघ के अन्य अंगो जैसे महासभा और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की शक्तियों मे बढोत्तरी की जाये। उनके निर्णय के प्रभाव क्षेत्र को बढाने के बारे मे प्रावधान किया जाये।

(3) स्वतन्त्र वित्त—स० रा० सघ की जिम्मेदारियां दिनो-दिन बढ रही है। राजनीतिक कार्यों को सम्पन्न करने के बाद अब वह आर्थिक कार्यों को आयोजित करने मे सबसे ज्यादा जोर दे रहा है, जिस कारण उसका आर्थिक रूप से सशक्त रहना अति आवश्यक है। चार्टर मे यह व्यवस्था है कि स० रा० संघ का खर्चा सदस्य देश वहन करेंगे। सदस्य देश अपनी क्षमता के अनुसार धन देंगे। लेकिन अनेक बार यह देखने मे आया है कि सोवियत सघ और फ्रास स० रा० सघ की अनेक गतिविधियो से सहमत नही होते है और उनके खर्च के लिए धन देने से मुकर जाते हैं। इस दृष्टि से स० रा० सघ को आर्थिक दृष्टि के स्वतन्त्र एव सशक्त बनाना अत्यन्त जरूरी है। इसके लिए नये आर्थिक ससाधनों की व्यवस्था करनी होगी। राष्ट्रों द्वारा राष्ट्रीय क्षेत्राधिकार के बाहर समुद्री सम्पदा के दोहन करने पर, अन्तर्राष्ट्रीय डाक एव सचार पर कर लगाकर या अन्य प्रकार से सं० रा० सघ अपनी आमदनी के स्रोत ढूंढ सकता है।

(4) संरचनात्मक संशोधन—स० रा० सघ को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए चार्टर मे इस विश्व सगठन मे संरचनात्मक संशोधन वाछनीय है। विशेष तौर से सुरक्षा परिषद, महासभा और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में अनेक प्रकार के सरचनात्मक संशोधन स० रा० सघ के घोषित उद्देश्यों की प्राप्ति में अत्यन्त सहायक सिद्ध होंगे। इन सशोधनों को निम्नांकित तरीके से अभिव्यक्त किया जा सकता है :

(क) सुरक्षा परिषद—सुरक्षा परिषद की स्थापना विश्व शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए हुई थी। 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' के द्वारा इसकी कुछ हद तक जिम्मेदारी महासभा को सौंपी गयी। सुरक्षा परिषद में किसी भी स्थायी सदस्य द्वारा वीटो का प्रयोग करने की स्थिति मे महासभा को आगे की कार्रवाई करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। ऐसा करने का प्रमुख कारण विगत में स्थायी सदस्यों द्वारा बारंबार 'वीटो' का इस्तेमाल करना था। किन्तु इस स्थिति मे परिवर्तन आ गया है। एक तरफ जहाँ स्थायी सदस्य बारंबार वीटो का प्रयोग नही कर शालीनता के साथ आचरण कर रहे है, वही दूसरी ओर भारत, जापान और पश्चिम जर्मनी जैसे देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को दिशा देने मे महत्वपूर्ण कारक बनते जा रहे हैं। इस सबको देखते हुए भारत, जापान और पश्चिम जर्मनी को भी सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बना लेना चाहिए, क्योकि यह विश्व शान्ति को मजबूत करने के पक्ष में होगा। इससे पुराने स्थायी सदस्यो के मतदान-आचरण पर भी नियन्त्रण रखा जा सकेगा।

(ख) महासभा—महासभा ने अनेक सराहनीय कार्य किये है। इसके बावजूद उसमे अनेक संरचनात्मक सशोधन करना वांछनीय है। पहली बात, इसकी प्रमुख समितियो की बैठक के अधिवेशन हमेशा जारी रहने चाहिए। दूसरी बात, महासभा

के अधिवेशन के दौरान रखे जाने वाले मुद्दो पर विशेष समितियाँ हो। तीसरी बात, महासभा के अधिवेशन के दौरान वक्ताओ को विश्व के हरेक भाग से समान प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। चौथी बात, अधिवेशन मे वाद-विवाद (चर्चा) को सीमित रखने के लिए महासभा के अध्यक्ष तथा समितियो के अध्यक्ष को न्यायिक शक्तियाँ दी जानी चाहिएँ। इस प्रकार महासभा मे इन चार संरचनात्मक संशोधन को करना उचित होगा।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मुख्यतया दो प्रकार के काम करता है। प्रथम, सदस्य राष्ट्रो द्वारा इसको सौंपे गये विवादो को सुनता है। दूसरे, स० रा० सघ के विभिन्न अगो तथा विशिष्ट अभिकरणो को कानूनी प्रश्नो पर सलाह (Advisory Opinion) देता है। यहा यह उल्लेखनीय है कि इसके निर्णय बाध्यकारी नही होते। साथ ही यह भी पाया गया है कि अधिकाश सदस्य राष्ट्र अपने विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के बजाय स० रा० सघ के राजनीतिक अगो जैसे महासभा एव सुरक्षा परिषद मे प्रस्तुत कर समाधान ढूँढना पसन्द करते है। इसे देखते हुए आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को प्रभावकारी बनाने के लिए स० राष्ट्र सघ चार्टर मे सशोधन किया जाये। इस सम्बन्ध मे निम्नाकित दो सशोधन विशेष तौर से ध्यान देने योग्य हैं (i) सभी सदस्य राष्ट्रो द्वारा कानूनी मामलो को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे ही सौंपने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे महासभा और सुरक्षा परिषद का कानून के तकनीकी पक्ष के बारे मे अधिक वाद-विवाद करने मे वक्त बर्बाद नही होगा, और (ii) जिन विवादो को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे सौंपा गया है, उन पर महासभा और सुरक्षा परिषद विचार न करें।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि स० रा० सघ को प्रभावशाली बनाने के लिए चार्टर का पुनरीक्षण एव सशोधन करना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि अब तक इसकी समीक्षा के लिए कोई भी सम्मेलन आयोजित नही हो पाया है। प्रो० आइखेलबर्जर (Eichelberger) ने 'चार्टर सशोधन सम्मेलन' नही होने के दो कारण माने है। पहला कारण यह भय है कि कुछ बडी शक्तियाँ समीक्षा सम्मेलन वीटो व्यवस्था के बाहर उनकी तानाशाही के विस्तार तथा महासभा की सत्ता (Authority) को कम करने के लिए चाहते हैं। महासभा मे बहुमत वाले छोटे राष्ट्र महासभा की सत्ता को मजबूत करना तथा साधारण बहुमत के लिए काम करना चाहते हैं। दूसरा कारण यह कहा जाता है कि स० रा० सघ उसके चार्टर की भाषा से सकुचित नही होता, बल्कि उसकी हिचक का कारण अनेक शक्तियो द्वारा अपने उत्तरदायित्व को नकारना है, जिन्हे वे अपनी सहूलियत व सुविधा के अनुसार ही निभाती हैं।[1] कुल मिलाकर यह कहना उचित होगा कि स० रा० सघ को प्रभावशाली बनाने के लिए चार्टर का पुनरीक्षण एव उसमे सशोधन अत्यन्त आवश्यक है ताकि यह बदलती अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की चुनौतियो का मुकाबला कर सके।

[1] "The U N is not being held back by the language of the Charter but by the refusal of many powers to fulfil their obligations under the Charter, unless it suits their convenience "—Clarke M Eichelberger, *The U.N : The First Twenty-five Years* (New York, 1970), 157.

सं० रा० संघ के राजनीतिक कार्य
(Political Activities of the U.N.)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व शान्ति एवं सुरक्षा को कायम करने के लिए विश्व संगठन के रूप में स्थापित स० रा० संघ ने अनेक राजनैतिक कार्य सम्पादित किये हैं। आज के युग में जीवन के हरेक क्षेत्र में राजनैतिक क्रियाकलापों का वर्चस्व है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक पटल पर अनेक राष्ट्रों के मध्य सीमा विवाद तथा अन्य मतभेदों ने युद्ध का मार्ग प्रशस्त किया है। यदि ऐसे नाजुक मौकों पर स० रा० संघ चतुराई, कार्यकुशलता और प्रभावशाली तरीकों से काम नहीं लेता तो सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय तीसरे विश्व युद्ध की चपेट में आ जाता। इस दृष्टि से स० रा० संघ ने अनेक राजनीतिक कार्य सम्पादित किये हैं। यहाँ मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक कार्यों का ही संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

(1) बर्लिन का प्रश्न (1945–49)—1945 में आयोजित 'पोट्सडाम' समझौते के अन्तर्गत बर्लिन नगर को ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ के बीच विभाजित कर दिया गया था। जहाँ पश्चिमी बर्लिन, ब्रिटेन व फ्रांस के कब्जे में हो गया, वहीं पूर्वी बर्लिन रूस को दे दिया गया। इस समझौते के अन्तर्गत यह तय किया गया था कि बर्लिन के पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों हिस्सों में समान आर्थिक व्यवस्था रखी जायेगी। लेकिन ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इस व्यवस्था का उल्लंघन किया जिससे चिढ़कर सोवियत संघ ने बर्लिन की नाकेबन्दी कर ली। इससे फ्रांस एवं ब्रिटेन द्वारा पूर्वी जर्मनी के जरिये प० जर्मनी पहुँचने का मार्ग अवरुद्ध हो गया। 4 अक्टूबर, 1948 को फ्रांस एवं ब्रिटेन ने सोवियत-नाकेबन्दी की स० रा० संघ में शिकायत की। अन्त में अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस में परस्पर वार्ताएँ हुईं, जिसके परिणामस्वरूप 4 मई, 1949 को रूस ने बर्लिन की घेराबन्दी उठा ली। इस प्रकार सं० रा० संघ ने बर्लिन समस्या सुलझाने में उल्लेखनीय पहल की।

(2) इण्डोनेशिया का विवाद (1945–49)—यह विवाद इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब हालैण्ड ने इण्डोनेशिया में अपना प्रभुत्व फिर से स्थापित करना चाहा तो यह मामला सुरक्षा परिषद के सामने लाया गया, क्योंकि हालैण्ड और इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादी नागरिकों के बीच युद्ध छिड़ गया था। 17 जनवरी, 1948 को सुरक्षा परिषद की 'सहप्रयास समिति' ने दोनों देशों में युद्ध विराम कराने और तत्पश्चात् सं० रा० संघ स्थायी समझौता करवाने में सफल हो गया। इस प्रकार 27 दिसम्बर, 1949 को इण्डोनेशिया का स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ।

(3) सीरिया-लेबनान विवाद (1946)—4 जनवरी, 1946 को सीरिया तथा लेबनान ने सुरक्षा परिषद में यह मांग रखी कि उनकी भूमि पर ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी सेनाओं की उपस्थिति सं० रा० संघ के चार्टर के अनुसार तुरन्त हटा ली जाये, हालांकि अमरीका, ब्रिटेन एवं फ्रांस से निकट होने के कारण वह इस मामले को टालना चाहता था। दूसरी तरफ अमरीका का प्रतिस्पर्धी सोवियत संघ विदेशी सेनाओं के उक्त क्षेत्र से हटने के लिए दबाव डाल रहा था। विश्व जनमत के डर से 30 अप्रैल, 1946 तक ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी सेनाओं के हटा लेने का विश्वास दिलाया और बाद में जाकर उसका पालन भी किया।

(4) यूनान का विवाद (1946–49)—सीमान्त देशों द्वारा यूनान में छापामारों को युद्ध सहायता पहुँचाने के कारण यूनान ने सं० रा० संघ का ध्यान आकर्षित किया। सुरक्षा परिषद ने एक विशेष जाँच आयोग को परिस्थिति का जायजा लेने के लिए नियुक्त किया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि अल्बानिया, बुल्गारिया तथा यूगोस्लाविया यूनान में छापामार युद्ध को सहायता पहुँचा रहे हैं। सोवियत संघ द्वारा सुरक्षा परिषद में वीटो के इस्तेमाल से यह मामला 3 सितम्बर, 1947 को महासभा को सौंपा गया, पर इसका कोई समाधान नहीं किया जा सका। फिर भी महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया कि यूनान के तीनों सीमान्त देश छापामारों को मदद बन्द करें और शान्तिपूर्ण तरीकों से विवादों का निपटारा करें। आगे चलकर रूस और यूगोस्लाविया में कटुता उत्पन्न होने से यूगोस्लाविया ने छापामारों को मदद बन्द कर दी। उधर यूनान को अमरीकी मार्शल योजना के अन्तर्गत भारी मात्रा में सैनिक एवं आर्थिक मदद मिलने से यूनान के विरोधी राष्ट्र चुप बैठ गये।

(5) ईरान (1946)—19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सं० रा० संघ की सुरक्षा परिषद में यह आरोप लगाया गया कि उसके अजरबाइजान नामक प्रान्त में रूसी सेना ने प्रवेश कर आन्तरिक हस्तक्षेप किया है। सुरक्षा परिषद ने इस अनुरोध पर ईरान और रूस के मध्य बातचीत आरम्भ करवाई ताकि इस झगड़े को टाला जा सके। 23 मई, 1946 को ईरान से रूसी सेनाएँ हटा ली गईं। इस प्रकार सं० रा० संघ ने ईरान और रूस के बीच विवाद का समाधान कर दिया।

(6) काश्मीर-विवाद (1947)—भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजन के समय देशी रियासतों पर अधिकार के बारे में विवाद उत्पन्न हो गया। पाकिस्तान ने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबाइलियों की सहायता से 22 अक्टूबर, 1947 को कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। चार दिन के अन्दर ही वे कश्मीर की राजधानी *श्रीनगर से 15 मील दूर बारामूला तक पहुँच गये। ऐसी नाजुक घड़ी में* कश्मीर के शासक ने भारत में मिलने की इच्छा प्रकट की तथा उसे आक्रमणकारियों से बचाने के लिए सैनिक सहायता का अनुरोध किया। भारत ने इस अनुरोध पर तुरन्त अपनी सेनाएँ भेज दीं। इसके बाद यह मामला सं० रा० संघ में प्रस्तुत किया गया। सुरक्षा परिषद ने इस विवाद के समाधान के लिए पाँच देशों का संयुक्त राष्ट्र आयोग नियुक्त किया। साथ ही सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें दोनों देशों को अपनी सेनाएँ हटाने और भारत को कश्मीर में जनमत संग्रह करवाने का आदेश दिया। 1 जनवरी, 1949 को दोनों पक्ष युद्ध विराम के लिए सहमत हो गये। लेकिन बाद में दोनों पक्षों के बीच काश्मीर के भाग्य को लेकर अनेक वार्ताएँ हुईं, फिर भी कोई ठोस समाधान न हो पाया। दोनों देशों के बीच 1965 तथा 1971 में युद्ध हुए। इन युद्धों को रोकने में सं० रा० संघ ने सराहनीय भूमिका अदा की।

(7) फिलस्तीन-विवाद (1947)—सं० रा० संघ में आज तक प्रस्तुत समस्याओं में फिलस्तीन विवाद सबसे अधिक जटिल है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र संघ के जरिये इस पर ब्रिटेन का संरक्षण कायम किया गया था। किन्तु यहूदियों द्वारा इसको तीर्थ स्थान तथा अरबों द्वारा मातृभूमि मानने के कारण इसने कौमी संघर्ष का रूप धारण कर लिया। दोनों द्वारा इसे हथियाने के प्रयासों के

कारण आपसी संघर्ष हुए। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्थिति ने और उग्र रूप धारण कर लिया। जब ब्रिटेन ने 1947 में वहाँ से अपनी फौजें 1 अगस्त, 1948 तक हटाने का निर्णय किया तो यहूदी और अरब दोनों लड़ पड़े। परिणामस्वरूप सुरक्षा परिषद ने दोनों में एक विराम सन्धि करवाकर युद्ध को रोका। 15 मई, 1948 को ब्रिटेन द्वारा फिलस्तीन से अपना संरक्षण उठा लेने के तुरन्त बाद यहूदियों ने फिलस्तीन में 'इजराईल' राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। उधर अमरीका ने तत्काल उसे मान्यता प्रदान कर दी। इससे अरब देशों ने इजराईल के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई की। सुरक्षा परिषद की बैठक आयोजित कर एक प्रस्ताव द्वारा यह अपील की गयी कि फिलस्तीन में सभी राज्य सैनिक कार्रवाई बन्द कर दें। युद्ध बन्द तो हो गया, किन्तु आज तक इस समस्या के बारे में इजराईल और अरब देशों में तनाव बना हुआ है। इसको लेकर उनके बीच 1948, 1956, 1967 तथा 1973 में चार युद्ध हो चुके हैं।

(8) **अरब-इजराईल संघर्ष** – 1948 में इजराईल के एक स्वतन्त्र देश के रूप में उदय होने के बाद इजराईल और अरब देशों में हमेशा तनावपूर्ण स्थिति रही है। 1948, 1956, 1967 तथा 1973 में चार युद्ध भी हो चुके हैं, लेकिन वही तनावपूर्ण स्थिति जारी है। इजराईल के अड़ियल रुख के कारण उसको स० रा० संघ से बाहर निकाल दिया गया तथा उसको अरब देशों की भूमि वापस करने का महासभा ने आदेश दिया। स्थायी हल न निकलने के बावजूद भी इजराईल के अड़ियल रुख के विरोध में विश्व जनमत जाग्रत करने में स० रा० संघ एक हद तक सफल रहा है।

(9) **कोरिया-विवाद (1950–53)**—सम्भवतः कोरिया का संकट स० रा० संघ के शक्ति-सामर्थ्य का सबसे महत्वपूर्ण परीक्षण था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वान शूमा ने इसे 'सामूहिक सुरक्षा परीक्षण' की संज्ञा दी है।[1] द्वितीय विश्व युद्ध के अन्तिम दिनों में मित्र-राष्ट्रों में यह तय हुआ था कि जापानी आत्म-समर्पण के बाद सोवियत सेना उत्तरी कोरिया के 38° अक्षांश तक तथा सं० रा० संघ की सेना इस लाइन के दक्षिण भाग की निगरानी करेगी। दोनों शक्तियों ने 'अन्तरिम कोरियाई प्रजातन्त्रिक सरकार' की स्थापना के लिए संयुक्त आयोग की स्थापना की। किन्तु 25 जून, 1950 को उत्तरी कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। इसी दिन सुरक्षा परिषद में सोवियत अनुपस्थिति का फायदा उठाते हुए अमरीका ने अन्य सदस्यों से उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करवा दिया। सुरक्षा परिषद ने यह सिफारिश की सं० रा० संघ के सदस्य कोरियाई गणराज्य को आवश्यक सहायता प्रदान करें जिससे वह सशस्त्र आक्रमण का मुकाबला कर सके तथा उस क्षेत्र में शान्ति और सुरक्षा स्थापित की जा सके। पहली बार 7 जुलाई, 1950 को अमरीकी जनरल मैकार्थर की कमान में सं० रा० संघ के झण्डे के नीचे संयुक्त कमान का निर्माण किया गया।

लेकिन सोवियत संघ ने बाद में सुरक्षा परिषद की कार्रवाई में भाग लेना आरम्भ कर दिया और कोरिया में स० रा० संघ की कार्रवाई रोकने के लिए 'वीटो' का प्रयोग कर दिया। इसके परिणामस्वरूप 3 नवम्बर, 1950 को महासभा ने 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' पास कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का

[1] फेडरिक एल० शूमा की पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० 272।

उत्तरदायित्व स्वय ले लिया। फलस्वरूप अमरीकी और चीनी सेनाएँ कोरियाई मामले को लेकर उलझ पड़ी। अतत भारत तथा कुछ अन्य शान्तिप्रिय राष्ट्रो की पहल के कारण 27 जुलाई, 1953 मे दोनो पक्षो के बीच युद्ध विराम-सन्धि हुई। इस प्रकार कोरिया युद्ध को स० रा० सघ रोकने मे सफल हुआ। वैसे उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया मे आपसी तनाव जारी रहा।

(10) वियतनाम विवाद—*1954 मे जेनेवा मे सम्पन्न हुए एक समझौते के* अन्तर्गत वियतनाम को उत्तर तथा दक्षिण वियतनाम नामक दो देशो मे विभाजित कर दिया गया। किन्तु 1954 मे उत्तरी वियतनाम ने टोंकिंग की खाड़ी मे स्थित अमरीकी विध्वसक पर फौजी हमला बोल दिया। फलस्वरूप उत्तर वियतनाम और अमरीका मे ठन गयी। अमरीका इस मामले को सुरक्षा परिषद मे ले गया, किन्तु कोई आशाजनक परिणाम न निकला। हालांकि इस समस्या को 1975 मे स० रा० सघ के बाहर ही हल कर लिया गया। फिर भी यह कहा जा सकता है कि स० रा० सघ की मौजूदगी के कारण उसने वियतनाम समस्या को विश्व युद्ध के रूप मे बढ़ने से रोका।

(11) मोरक्को, ट्यूनीशिया तथा अलजीरिया की स्वतन्त्रता का विवाद (1955-62)—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मोरक्को, ट्यूनीशिया तथा अलजीरिया तीनो देशो मे फ्रासीसी उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन तेजी से शुरू हुए। इससे दोनो मे खून-खराबा होने लगा। फ्रास ने इन देशो को मुक्त करने मे काफी आनाकानी की। स० रा० सघ की महासभा ने अनेक बार दोनो पक्षों से शान्तिपूर्ण तरीको से हल ढूंढ़ने की अपील की। अन्त मे विश्व जनमत के इन तीनो देशो की स्वतन्त्रता के पक्ष म होने के कारण फ्रास को झुकना पड़ा। इस प्रकार 1955 मे ट्यूनीशिया, 1956 मे मोरक्को तथा 1962 मे अलजीरिया स्वतन्त्र हुए।

(12) स्वेज सकट (1956)—मिस्र के भूतपूर्व राष्ट्रपति कर्नल नासिर द्वारा आस्वान बाध का राष्ट्रीयकरण कर देने से फ्रास और ब्रिटेन ने इसका विरोध किया। इसका कारण यह था कि स्वेज नहर कम्पनी के अधिकाश हिस्से इन दोनो देशो के स्वामित्व मे थे, उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया था। फ्रास और ब्रिटेन इस विवाद को सुरक्षा परिषद मे ले गये, लेकिन सोवियत 'वीटो' के कारण कोई निर्णय नही लिया जा सका। इससे क्रुद्ध होकर 29 अक्टूबर, 1956 को ब्रिटेन, फ्रास, और इजराईल ने मिस्र पर हमला बोल दिया। 12 नवम्बर, 1956 को महासभा ने 'तत्काल युद्ध विराम करने और सेनाओ की वापसी' से सम्बन्धित प्रस्ताव पारित कर फ्रास, ब्रिटेन व इजराईल द्वारा आक्रमण करने की निन्दा की। अतत महासभा के प्रयासों से 6 दिसम्बर 1956 को युद्ध विराम हो गया। 22 दिसम्बर, 1956 तक फ्रास एव ब्रिटेन ने मिस्र से अपनी सेनाएँ हटा ली, हालांकि इजराईल ने गाजा पट्टी को अपने नियन्त्रण मे ही रखा। भविष्य मे युद्ध न होने देने के लिए स० रा० सघ द्वारा एक सकटकालीन सेना (UNEF) का निर्माण कर उसे युद्ध विराम रेखा की सुरक्षा के लिए वहाँ नियुक्त किया गया। इस प्रकार स० रा० सघ ने स्वेज विवाद को बड़े युद्ध के खतरे से टाल दिया।

(13) हगरी सकट (1956)—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हगरी के सोवियत सघ द्वारा प्रवर्तित वारसा सैनिक सगठन मे शामिल हो जाने से वहाँ रूसी प्रभाव क्षेत्र कायम हो गया था। 23 अक्टूबर, 1956 को तत्कालीन साम्यवादी सरकार के

खिलाफ जन-विद्रोह हुआ जिसके फलस्वरूप 1 नवम्बर, 1956 को इम्रे नेगी की अध्यक्षता में एक सयुक्त सरकार की स्थापना की गयी। किन्तु रूसी समर्थक जानोस कादार ने नेगी सरकार के विरुद्ध एक समानान्तर सरकार की स्थापना कर विद्रोह दबाने के लिए सोवियत संघ से मदद मांगी। 4 नवम्बर, 1956 को वारसा सन्धि के अन्तर्गत सुविधाओं का उपयोग करते हुए रूसी सेनाओ ने हंगरी मे प्रवेश कर दिया। इम्रे नेगी ने सुरक्षा परिषद से रक्षा की मांग की, किन्तु रूसी 'वीटो' के कारण कोई कदम नही उठाया जा सका। अमरीका ने अपने मित्र राष्ट्रों की मदद से महासभा के विशेष अधिवेशन मे रूसी हस्तक्षेप की निन्दा का प्रस्ताव पारित करवाया तथा मांग की कि सोवियत सघ हस्तक्षेप बन्द करके मानव अधिकारो की स्थापना करे। हगरी विवाद मे सं० रा० सघ की उक्त भूमिका से स्पष्ट है कि सोवियत 'वीटो' के कारण हगरी हस्तक्षेप का शिकार हुआ। साथ ही महासभा भी कोई विशेष प्रभावशाली कदम नही उठा सकी।

(14) **कांगो संकट (1960–63)**—30 जून, 1960 को कांगो का बेल्जियम के औपनिवेशिक शासन से मुक्त होकर एक नये राष्ट्र के रूप मे उदय हुआ। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् कटंगा नामक प्रान्त के राष्ट्रपति शोम्बे ने 11 जुलाई, 1960 को केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध तोड दिया। इस विघटन से दुखी कांगो की केन्द्रीय सरकार ने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद मे रखा। सुरक्षा परिषद से आदेश प्राप्त कर महासचिव हेमरशोल्ड ने कांगो के लिए स० रा० सघ की कार्यवाई को संगठित किया। उधर कांगो के लिए एशिया और अफ्रीका के प्रतिनिधियो ने एक आयोग की स्थापना भी कर दी। 1962–63 में सं० रा० सघ की सेनाओ ने कटंगा मे प्रवेश कर जब अनेक महत्वपूर्ण नगरो को अपने कब्जे मे ले लिया तो हारकर शोम्बे ने केन्द्रीय सरकार से पुनः सम्बन्ध स्थापित करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार स० रा० संघ ने कांगो को विघटित होने से बचा लिया।

(15) **यमन-विवाद (1962)**—1962 में यमन मे सैनिक क्रान्ति हुई। नई सरकार मिस्र और सोवियत समर्थक थी। क्रान्ति होने के बाद पडौसी देश यमन में हस्तक्षेप करने लगे। 1962 के पहले तीन महीनो मे इस प्रदेश मे उग्र युद्ध चलने के कारण स्थिति अत्यन्त विकट और गम्भीर हो गयी। इस विस्फोटक स्थिति को रोकने के लिए सं० रा० संघ ने राल्फ बुंचे को तथ्यों की जांच करने के लिए भेजा। स० रा० सघ के प्रयत्नो से बाहरी शक्तियो ने यमन मे हस्तक्षेप करना छोड दिया तथा शान्ति कायम हो गयी। इस विवाद को सुलझाने मे स० रा० संघ की भूमिका अत्यन्त सराहनीय रही।

(16) **पश्चिमी इरियन की समस्या (1962)**—पश्चिमी इरियन दक्षिण पूर्व एशिया के इण्डोनेशिया द्वीप समूह में है। 1962 मे पश्चिमी इरियन के इण्डोनेशिया मे विलय को लेकर इण्डोनेशिया और नीदरलैण्ड (हॉलैण्ड) में मतभेद उठे। इस मतभेद ने युद्ध स्थिति पैदा कर दी। अगस्त 1962 मे सं० रा० संघ की पहल से दोनो पक्षो के बीच समझौता कराया गया। समझौते के अन्तर्गत 1 मई, 1962 को हॉलैण्ड ने पश्चिमी इरियन इण्डोनेशिया को सौंप दिया। इस प्रकार सं० रा० सघ ने उक्त विवाद को हल कर दिया।

(17) **क्यूबा विवाद (1962)**—अक्टूबर, 1962 मे क्यूबा में एक अत्यन्त विकट अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो गया। हुआ यह कि फिदेल कास्त्रो के नेतृत्व में

क्यूबा मे साम्यवादी सरकार स्थापित होने के बाद सोवियत सघ ने वहाँ परमाणु प्रक्षेपास्त्रो का जमाव करना शुरू कर दिया। अमरीका ने इसको अपने तथा अपने मित्र देशो के विरुद्ध कदम माना। अमरीकी राष्ट्रपति केनेडी ने 22 अक्टूबर 1962 को क्यूबा की नौसैनिक नाकेबन्दी कर दी, ताकि सोवियत नौसैनिक युद्धपोत क्यूबा न पहुँच सकें। इससे अमरीका तथा सोवियत सघ मे बडे युद्ध के भडकने की स्थिति पैदा होने की आशका प्रतीत होने लगी। स० रा० सघ के तत्कालीन महासचिव ऊ थाट ने पहल कर इस सकट को सुलझाने मे प्रशसनीय भूमिका अदा की। दोनो पक्षो मे समझौता हुआ, जिसके अनुसार सोवियत सघ द्वारा क्यूबा से अपने प्रक्षेपास्त्र हटाने तथा अमरीका द्वारा नौसैनिक नाकेबन्दी समाप्त करना तय हुआ। इस प्रकार स० रा० सघ ने एक बहुत बडे अन्तर्राष्ट्रीय सकट को युद्ध के रूप मे भडकने से टाल दिया।

(18) साइप्रस संकट (1963-64)—16 अगस्त, 1960 को ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से मुक्त होकर साइप्रस का एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ। इस देश मे यूनानी और तुर्की जाति के लोग हैं किन्तु यूनानी बहुसख्या मे हैं और तुर्की अल्पसख्यक हैं। सितम्बर, 1963 मे यूनानी और तुर्की लोगो के बीच साम्प्रदायिक दगों के भडकने से इस विवाद को 1964 मे सुरक्षा परिषद मे ले जाया गया। स० रा० सघ ने अपनी सेना भेजकर वहाँ शान्ति स्थापित करवायी। फिर भी दोनो सम्प्रदायों के बीच तनावपूर्ण सम्बन्ध कायम रहे। 15 जुलाई, 1974 मे *साइप्रस के राष्ट्रपति मकारिओस को यूनानी षड्यन्त्र से हटाने तथा उसके जवाब मे* साइप्रस पर तुर्की का आक्रमण हुआ। 30 जुलाई, 1974 को वहाँ स० रा० सघ के जरिये युद्ध विराम हो गया। उसके बाद राष्ट्रपति मकारिओस पुन साइप्रस लौट आये और अपना पद सम्भाल लिया।

(19) डोमिनिकन गणराज्य विवाद (1965-66)—वेस्ट इन्डीज के इस छोटे से टापू मे 25 अप्रैल, 1965 को अचानक ही गृह युद्ध भडक उठा। विद्रोहियो ने अमरीका समर्थित सरकार को हटाकर शासन पर कब्जा जमाने के लिए युद्ध शुरू कर दिया। अमरीकी नागरिको की रक्षा के बहाने अमरीका ने 14 हजार सैनिक इस टापू पर भेज दिये। 1 मई, 1965 को सोवियत सघ ने सुरक्षा परिषद की बैठक मे यह प्रस्ताव रखा कि अमरीका ने डोमिनिकन गणराज्य के आन्तरिक मामले मे जो हस्तक्षेप किया है उस पर विचार किया जाये। स० रा० सघ ने अपना एक मिशन वहाँ स्थापित किया तथा जब चुनाव के पश्चात् नई सरकार स्थापित हो गयी तब इस मिशन को 1966 मे वापस बुला लिया गया। इस प्रकार स० रा० सघ ने सराहनीय ढग से कार्य किया।

(20) चेकोस्लोवाकिया विवाद—21 अगस्त, 1968 को बिना किसी सङ्कावे के सोवियत सघ तथा उसके द्वारा प्रवर्तित वारसा सन्धि के मित्र देशो की सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया मे प्रवेश कर दिया। रूस ने यह तर्क दिया कि प्रतिक्रियावादी ताकतों द्वारा चेकोस्लोवाकिया मे साम्यवादी सरकार को उलटने के कारण वहाँ *साम्यवादी पार्टी तथा उसके नेताओं ने मदद के लिए सेना भेजने का निवेदन किया* था। 22 अगस्त, 1968 को सुरक्षा परिषद की विशेष बैठक बुलाकर उसमें यह मामला रखा गया। इसमें अमरीका, फ्रास और ब्रिटेन ने एक प्रस्ताव रखा, जिसमें सोवियत सैनिक हस्तक्षेप की निन्दा की गयी तथा सेना का तुरन्त हटाने के लिए कहा

गया। सोवियत संघ ने इस पर 'वीटो' का इस्तेमाल कर इस प्रस्ताव को व्यर्थ कर दिया। बाद में 27 अगस्त को रूस एवं चेकोस्लोवाकिया की सरकारों में एक समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत यह तय हुआ कि चेकोस्लोवाकिया का मौजूदा नेतृत्व मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों के अनुसार शासन करेगा तथा पश्चिमी जर्मनी और आस्ट्रिया की सीमाओं के अलावा चेकोस्लोवाकिया के सभी जगहों से सोवियत एवं वारसा सेनाएँ हट जायेंगी। इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया विवाद में स० रा० संघ निष्क्रिय साबित हुआ।

(21) **दक्षिण अफ्रीका तथा रोडेशिया विवाद**—दक्षिण अफ्रीका तथा रोडेशिया में बहुसंख्यक कालों पर अल्पसंख्यक गोरों का शासन रहा है। गोरी सरकार कालों के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार कर रही है। इन सब बातों के विरुद्ध तीसरी दुनिया के राष्ट्रों ने एकजुट होकर आवाज उठाई, जिससे स० रा० संघ महासभा में दक्षिण अफ्रीका तथा रोडेशिया में गोरी सरकार के अन्यायपूर्ण व्यवहार के खिलाफ अनेक प्रस्ताव पारित किये गये। इसके परिणामस्वरूप उक्त दोनों देशों की अल्पसंख्यक गोरी सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में अकेली पड़ गयीं। परिणामस्वरूप, रोडेशिया (अब जिम्बाब्वे) में अश्वेत सरकार स्थापित हो गयी। दक्षिण अफ्रीका में गोरी सरकार के प्रति स० रा० संघ में विरोध जारी रहा।

सं० रा० संघ के सामाजिक व आर्थिक कार्य
(Social and Economic Activities of the U. N.)

सं० रा० संघ की स्थापना केवल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही नहीं की गयी, बल्कि अनेक गैर राजनीतिक कार्य आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, विज्ञान, टैक्नोलोजी आदि के क्षेत्रों में सहयोग का वातावरण निर्माण करने हेतु की गई थी। चार्टर के अनुच्छेद 1 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स० रा० संघ का उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय प्रकरणों में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सं० रा० संघ की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, परिषद के आयोग तथा विशिष्ट अभिकरण, ट्रस्टीशिप परिषद तथा सचिवालय मदद करते हैं। यहाँ सुविधा के तौर पर स० रा० संघ की गतिविधियों को सामाजिक एवं आर्थिक श्रेणियों में विभाजित कर अध्ययन करना उचित होगा।

सं० रा० संघ की सामाजिक उपलब्धियाँ—सामाजिक क्षेत्र में स० रा० संघ के अनेक विशिष्ट अभिकरण एवं सहायक संस्थाएँ सक्रिय हैं। मसलन, स्वास्थ्य के क्षेत्र में विश्व स्वास्थ्य संगठन; युद्ध के विनाश से पीड़ित बच्चों की सहायता (भोजन, कपड़ा, चिकित्सा आदि) करने में 'युनीसेफ'; शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक सहयोग के क्षेत्रों में युनेस्को; मानवाधिकार-रक्षा के क्षेत्र में महासभा द्वारा पारित घोषणा-पत्र आदि प्रमुख हैं। स० रा० संघ ने महिलाओं के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी अनेक सराहनीय कार्य किये हैं। जातिभेद, रंगभेद आदि बुराइयों के उन्मूलन के लिए भी उसने अनेक ठोस कदम उठाये हैं।

आर्थिक उपलब्धियाँ—आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सामने अनेक समस्याएँ हमेशा मुँह बाये खड़ी रही हैं। संसार के दो-तिहाई देश अल्पविकसित हैं

जिनमें लोगों का जीवन-स्तर अत्यन्त खराब है तथा व्यापक बेरोजगारी है। ये देश आर्थिक विकास की दौड़ में विकसित देशों से बहुत पीछे हैं। इन्हीं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए स० रा० संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय समाज की आर्थिक हालत सुधारने की आवश्यकता महसूस की। इस क्षेत्र में भी वह अपने अनेक विशिष्ट अभिकरणों तथा सहायक संस्थाओं के जरिये सक्रिय रहा है। ममलन, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्मेलन, 'अंक्टाड' सम्मेलन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।[1]

स० रा० संघ के विशिष्ट अभिकरण—यद्यपि स० रा० संघ का मुख्य उद्देश्य विश्व शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करना है, तथापि अन्य क्षेत्रों में भी राष्ट्रों के आपसी सहयोग द्वारा उक्त उद्देश्य की प्राप्ति को सुगम बनाने के लिए विशिष्ट अभिकरणों की व्यवस्था की गयी है। पामर एवं परकिन्स ने सही ही लिखा है कि स० रा० संघ के 'विशिष्ट अभिकरण का सम्बन्ध मानवता की सभी मूलभूत आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं से है जिस कारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने तथा विश्व के लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है।'[2] स० रा० संघ के विशिष्ट अभिकरणों को मोटे तौर पर चार भागों में बाँटा जा सकता है। इन विभाजित चार भागों को निम्नांकित तरीके से प्रस्तुत किया जा सकता है। स० रा० संघ के विशिष्ट अभिकरणों के संगठन तथा कार्यों के बारे में संक्षिप्त विवरण अग्रांकित तालिका में दिया गया है।

तकनीकी मामलों में सक्रिय अभिकरण

(1) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन (International Civil Aviation Organization)—इसकी स्थापना एक सम्मेलन (convention) द्वारा हुई, जो शिकागो में दिसम्बर, 1944 में अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड़ानों को सुरक्षित और व्यवस्थित बनाये रखने के लिए की गयी। इसका मुख्य कार्य विश्व में हवाई यातायात की स्वतन्त्रता की रक्षा करना व उससे सम्बन्ध में उत्पन्न झगड़ों को निपटाना है। इसका मुख्यालय कनाडा के मान्ट्रियल नगर में है।

(2) विश्व मौसम विज्ञान सम्बन्धी संगठन (World Meteorological Organization)—इसकी स्थापना 1947 में हुई, किन्तु इसने 1950 से विधिवत् अपना कार्य प्रारम्भ किया। इसका प्रमुख कार्य मौसम की सूचना और अपने परीक्षणों के आधार पर सांख्यिकीय आँकड़ों का वितरण और अन्तरिक्ष के सन्दर्भ में उपलब्ध सूचनाएँ देना है। इसका मुख्यालय स्विट्जरलैण्ड के जेनेवा शहर में है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय नौपरिवहन सलाहकार संगठन (Inter-Governmental Maritime Consultative Organization)—उक्त सलाहकार संगठन प्रमुख रूप से वाणिज्य-सम्बन्धी नौपरिवहन से सम्बन्धित है। इस संस्था का उद्देश्य उन तकनीकी प्रश्नों पर सदस्यों को सुविधा देना है जिससे नौपरिवहन प्रभावित होता है।

[1] विस्तृत विवेचन के लिए देखें : Irving Louis Horowitz, *The United Nations and the Third World East West Conflict in Focus*', in Robert W. Gregg and Michael Barkin, *Ibid*, 350–67.

[2] पामर एवं परकिन्स की पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० 360

सं० रा० संघ के विशिष्ट अभिकरण
(Specialised Agencies of the U.N.)

1. तकनीकी मामलों में सक्रिय अभिकरण
   - (i) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सगठन (I. C. A. O.)
   - (ii) विश्व ऋतु विज्ञान सगठन (W. M. O.)
   - (iii) अन्तर्राष्ट्रीय सामुदायिक सलाहकार सगठन (I. M. C. O.)
   - (iv) विश्व डाक सघ (U. P. U.)
   - (v) अन्तर्राष्ट्रीय दूर-सचार सघ (I. T. U.)
2. सामाजिक व मानवीय गतिविधियों में सक्रिय अभिकरण
   - (i) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (I. L. O.)
   - (ii) स० रा० सघ शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक सगठन (UNESCO)
   - (iii) विश्व स्वास्थ्य सगठन (W. H. O.)
3. अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय समस्याओं विशेषकर आर्थिक विकास में सक्रिय अभिकरण
   - (i) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक (I. B. R. D.)
   - (ii) अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद (I. D. C.)
4. विशुद्ध रूप से आर्थिक समस्याओं से सम्बद्ध अभिकरण
   - (i) खाद्य एव कृषि सगठन (F. A. O.)
   - (ii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन (I. T. O.)
   - (iii) अन्य सभी अभिकरण इस चौथे भाग मे आते हैं।

(4) **सार्वजनिक डाक संघ** (Universal Postal Union)—सार्वजनिक डाक सघ की स्थापना जुलाई, 1875 मे हुई। सं० रा० सघ की स्थापना के बाद उसने इसे अपने तत्वावधान मे ले लिया। सं० रा० संघ के विशिष्ट अभिकरण के रूप मे जुलाई, 1952 में इसके लिए एक सविधान का निर्माण किया गया। सार्वजनिक डाक सघ का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय डाक सेवाओं में सुधार लाना तथा विभिन्न प्रकार की डाक सेवाओं की दरें तय करना है। इसका कार्य-संचालन विश्व डाक महासभा द्वारा निर्वाचित 20 सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति करती है। सार्वजनिक डाक सघ का कार्यालय स्विट्जरलैण्ड के बर्न नगर मे है। यहाँ विशेष रूप से यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि इसके द्वारा विकासशील देशों के अनेक डाक अधिकारियों को विकसित राष्ट्रों मे प्रशिक्षण के लिए भेजा गया और कई देशों की डाक सेवाओं के पुनर्गठन मे मदद हुई।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ** (International Telecommunication Union)—अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार सघ की 1865 मे स्थापना हुई। सं० रा० सघ ने 1951 मे इसे अपने तत्वावधान मे ले लिया। इसका प्रमुख उद्देश्य विश्व मे संचार को सुनियोजित रूप मे सेवा प्रदान करना है। वह तार, टेलीफोन तथा रेडियो की सेवाओं के उत्तरोत्तर प्रसार, विकास और सर्वसाधारण को न्यूनतम दर पर इनकी सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियम आदि बनाती है।

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन** (International Labour Organization)—लोगों को सामाजिक न्याय प्रदान करना विश्व-शान्ति को मजबूत बनाने के दृष्टिकोण से अत्यन्त आवश्यक है। इसी बात को महसूस करते हुए अप्रैल 1919 में इसकी स्थापना की गयी तथा राष्ट्र संघ के तत्वावधान में इसको ले लिया गया। 1946 में यह स० रा० संघ का पहला विशिष्ट अभिकरण बना। वर्तमान में 135 राष्ट्रों से भी ज्यादा इसके सदस्य हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का प्रमुख उद्देश्य विश्व के मजदूरों की दशा सुधारना है। इसके लिए यह विभिन्न प्रकार के श्रमिक समझौतों तथा सिफारिशों के प्रारूप तैयार करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन, अधिशासी निकाय तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय नामक अंगों के जरिये अपने कार्य सम्पादित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की महासभा कहा जा सकता है। इसकी बैठकों में हरेक सदस्य राष्ट्र से दो सरकारी, एक मालिकों तथा एक मजदूरों का प्रतिनिधि सम्मिलित होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का वार्षिक बजट भी पास करता है। अधिशासी निकाय को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की कार्यकारिणी परिषद कहा जा सकता है। इसमें 48 सदस्य होते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन द्वारा तीन वर्ष के लिए चुने जाते हैं। ये सदस्य ही महानिदेशक (डायरेक्टर जनरल) को नियुक्त करते हैं। अधिशासी निकाय ही श्रम सम्मेलन के कार्यक्रमों को तैयार करती है और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (सचिवालय) के कार्य की देखरेख करती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का सचिवालय कहा जा सकता है। यह स्विट्ज़रलैण्ड के जिनेवा नगर में है। यह संगठन को विविध प्रकार की सेवाएँ प्रदान करता है तथा इसकी गतिविधियों में तालमेल बिठाता है।

(2) **स० रा० संघ शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन** (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization · UNESCO)—युनेस्को 4 नवम्बर, 1946 को अस्तित्व में आया। इसका संविधान पहले ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों द्वारा तैयार किया गया जिसको बाद में स० रा० संघ के 43 सदस्यों ने अपनाया। 14 दिसम्बर, 1946 को एक समझौते द्वारा युनेस्को को स० रा० संघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में मान्यता मिली।

'युनेस्को' की संरचना—युनेस्को के तीन अंग हैं—महासभा सम्मेलन, अधिशासी मण्डल और सचिवालय। महासभा सम्मेलन की प्रति 2 वर्ष में एक बैठक होती है। इसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक प्रतिनिधि होता है। यह इसका बजट और कार्यक्रम तय करती है। अधिशासी मण्डल का निर्वाचन महासभा सम्मेलन द्वारा होता है। इसमें 25 सदस्य होते हैं तथा एक देश का एक से अधिक प्रतिनिधि नहीं लिया जाता। युनेस्को का सचिवालय फ्रांस की राजधानी पेरिस में स्थित है। इसके महानिदेशक की नियुक्ति अधिशासी मण्डल द्वारा की जाती है।

युनेस्को का उद्देश्य एवं कार्य—'युनेस्को' के नाम से ही स्पष्ट है कि इसका कार्यक्षेत्र शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में फैला हुआ है। इसके कार्यों को मुख्यतया तीन बिन्दुओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है. (i) शिक्षा, (ii) प्राकृतिक विज्ञान, तथा (iii) सामाजिक एवं मानवीय विज्ञान तथा संस्कृति।

शिक्षा के क्षेत्र में 'युनेस्को' शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति तथा विश्व समुदाय मे रहने की शिक्षा प्रदान करता है। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र मे 'युनेस्को' प्राकृतिक और सामाजिक ज्ञान मे प्रगति के उद्देश्य को पाने के लिए इसके द्वारा वैज्ञानिको के सम्मेलन, वैज्ञानिक संगठनो को आर्थिक सहायता प्रदान करना, अनुसन्धान, प्रकाशन आदि की व्यवस्था करना आते है। सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक क्षेत्रो मे 'युनेस्को' समस्त मानवीय ज्ञान की आवश्यक एकता पर बल देता है। यह निशस्त्रीकरण के आर्थिक एव सामाजिक परिणामो तथा मानवाधिकार पर भी बल देता है। सांस्कृतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत अनुसन्धान, सभा-सम्मेलन, विचार-गोष्ठियाँ तथा साहित्य-प्रकाशन आदि कार्य करता है। सामूहिक ज्ञान के प्रचार के लिए इसके द्वारा फिल्म, प्रेस, रेडियो आदि को प्रयोग मे लाया जाता है। तकनीकी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत युनेस्को अपने विशेषज्ञो द्वारा विभिन्न देशो को परामर्श देकर लाभ पहुँचाता है। इसके द्वारा विभिन्न देशो के विद्वानों को दूसरे राष्ट्रो में भेजा जाता है जिससे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे राष्ट्रो मे आपसी सहयोग स्थापित हो सके।

युनेस्को में संकट—युनेस्को उस समय गहरे सकट मे फँस गया, जब अमरीका ने एक जनवरी, 1985 और ब्रिटेन ने एक जनवरी, 1986 से इसकी सदस्यता छोड दी। यही नही, जापान व सिंगापुर ने भी धमकी दी कि यदि युनेस्को में 'आवश्यक सुधार' नही किये गये तो वे भी इसकी सदस्यता त्याग देंगे। इससे जहाँ एक ओर युनेस्को के प्रति उदासीनता बढी, वही दूसरी तरफ इस सगठन के समक्ष गहरा वित्तीय सकट उत्पन्न हो गया, क्योकि अमरीका और ब्रिटेन युनेस्को के बजट में क्रमश: 25 व 5 प्रतिशत योगदान देते थे, वह मिलना बन्द हो गया। इससे सगठन के कर्मचारियों और कार्यक्रमों मे कटौती करने की नौबत आ गई।

पाँचवें और छठे दशक मे इस सगठन के सदस्य देशों की संख्या कम थी, जिस कारण पश्चिमी देश प्राय: ऐसे प्रस्ताव और कार्यक्रम मंजूर करवा लेते थे, जिनसे उनके हित पूरा होते थे। किन्तु ज्यों-ज्यों औपनिवेशिक शिकंजे से एक के बाद दूसरे देश आजाद होते गये, त्यों-त्यो पश्चिमी देशों की मनमानी पर अंकुश बढ़ता गया। आठवें दशक के दौरान युनेस्को के सदस्यो मे विकासशील देशों की संख्या बढकर दो-तिहाई हो गई। परिणामस्वरूप ऐसे प्रस्ताव पास हुए, जिनमें पश्चिमी देशों की भेदभावपूर्ण नीतियों की कड़ी आलोचना की गई। दक्षिण-अफ्रीका में नस्लवाद, अरब देशों पर इजराईल के गैर कानूनी कब्जे, नई विश्व समाचार व्यवस्था आदि के बारे मे पारित प्रस्तावों मे यह आलोचना मुखर हुई। विकासशील देशों के बहुमत के कारण ऐसे कार्यक्रम मंजूर हुए, जिनसे पश्चिम देश सहमत नहीं थे। पश्चिम देश इस बात से चिढ़ने-खीजने लगे कि युनेस्को के लिए वे बड़ी मात्रा में चन्दा देते है, लेकिन उसके खर्चे के मामले मे चलती विकासशील देशों की है।

अमरीका और ब्रिटेन का तर्क था कि इस संगठन मे गन्दी राजनीति ने जड़ें जमा ली है, जिससे उसके कार्यक्रमो का बुनियादी उद्देश्यों के साथ कोई तादात्म्य नही रह गया है। युनेस्को पश्चिम विरोध का अखाड़ा बन गया है। युनेस्को मे प्रशासनिक अव्यवस्था है और उसके कोष को मनमाने एव अर्थहीन कार्यक्रम पर खर्च किया जा रहा है।

अमरीका व ब्रिटेन मे अनुदान बन्द होने पर यह समस्या उठ खड़ी हुई कि

युनेस्को के किन कार्यक्रमों और कर्मचारियों में कटौती कर गाड़ी को पटरी से उतरने न दी जाय। 1987 में डा० एम० वोव के कार्यकाल की समाप्ति के बाद फेडरिक मेयर युनेस्को के नये महानिदेशक चुने गये, किन्तु न तो अमरीका और ब्रिटेन इस संगठन में लौटे और न ही इस संगठन की आर्थिक हालत में उल्लेखनीय सुधार हुआ। युनेस्को का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि इसमें 'अपेक्षित सुधार' कैसे क्रियान्वित होते हैं और महानिदेशक सदस्य देशों का समर्थन एवं विश्वास कितनी क्षमता से हासिल कर कुशल नेतृत्व दे पाता है? अतएव इस संगठन के भविष्य के बारे में महानिदेशक की भूमिका निर्णायक होगी।

(3) **विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization)**—विश्व स्वास्थ्य संगठन अधिकारिक तौर पर 7 अप्रैल, 1948 को अस्तित्व में आया। हरेक वर्ष इस दिन को विश्व स्वास्थ्य दिवस के रूप में मनाया जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के तीन अंग हैं—(i) विश्व स्वास्थ्य सभा, (ii) अधिशासी मण्डल, और (iii) सचिवालय। विश्व स्वास्थ्य सभा में समस्त राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। वर्ष में एक बार इसकी बैठक होती है। यह नीति निर्धारण का कार्य करती है।

अधिशासी मण्डल में 24 सदस्य होते हैं। इसका निर्वाचन विश्व स्वास्थ्य सभा द्वारा किया जाता है। अधिशासी मण्डल अचानक आये प्राकृतिक प्रकोपों में सक्रिय रहता है। सचिवालय का अध्यक्ष महानिदेशक होता है जो विश्व स्वास्थ्य सभा द्वारा नियुक्त किया जाता है। इसका मुख्यालय स्विट्ज़रलैंड के जिनेवा नगर में है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के कार्य—विश्व स्वास्थ्य संगठन के विभिन्न कार्यों को संक्षेप में निम्नांकित चार बिन्दुओं के अन्तर्गत अंकित किया जा सकता है (1) बीमारी की रोकथाम (2) बीमारी का उपचार, (3) सार्वजनिक सेवा में सक्रिय लोगों को प्रशिक्षण, तथा (4) स्वास्थ्य प्रशासन को सुधारने में मदद। विश्व स्वास्थ्य संगठन में अनेक खामियाँ होने के बावजूद भी उसका कार्य काफी सराहनीय रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय समस्याओं विशेषकर आर्थिक विकास में सक्रिय अभिकरण

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)—अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की स्थापना दिसम्बर, 1945 में हुई। इसे विश्व बैंक (World Bank WB) के नाम से पुकारा जाता है। वैसे इसने अपना कार्य 1946 में आरम्भ किया। इसके प्रमुख उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रों को 'विकास' के लिए आर्थिक मदद देना है। युद्ध से दुष्प्रभावित देशों को पुनर्निर्माण के लिए धन प्रदान करना और अविकसित देशों को विकसित बनाना, उत्पादन बढ़ाना, जीवन-स्तर को ऊँचा करना और विश्व व्यापार में सन्तुलन लाने के लिए यह बैंक सहायता देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक के चार अंग हैं—(अ) गवर्नरों का बोर्ड, (ब) कार्यपालिका निदेशक, (स) अध्यक्ष, और (द) अधिकारी तथा कर्मचारी वर्ग। इस बैंक ने विश्व के अनेक जरूरतमन्द राष्ट्रों को उनके आर्थिक विकास के लिए अनेक प्रकार की सहायता प्रदान की है। प्रो० जैकब व एथरटन का मानना है कि 'यह बैंक सिर्फ अगुवा जामिन के रूप में ही काम नहीं करता बल्कि एक तीसे

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभा पुंज के रूप में सक्रिय रहता है, जो पुनर्निर्माण के लिए मूल्यांकन व विकास सम्बन्धी रणनीति तय करता है।'[1] इस बैंक का मुख्यालय वाशिंगटन (अमरीका) में है। न्यूयार्क, लन्दन और पेरिस में भी इसके कार्यालय है।

विशुद्ध रूप से आर्थिक समस्याओं से सम्बद्ध अभिकरण

1 खाद्य एवं कृषि संगठन (Food and Agricultural Organization : FAO)—खाद्य एवं कृषि संगठन की स्थापना 16 अक्टूबर, 1945 को हुई। इसके प्रमुख उद्देश्य विश्व के विभिन्न राष्ट्रों की आम जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना, उसे पौष्टिक आहार उपलब्ध कराना, उत्पादन क्षमता बढाना, गाँवो की स्थिति सुधारना आदि है। इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु यह विश्व की विभिन्न सरकारो को खाद्यान्नो तथा अन्य फसलो के अधिक उत्पादन, नाशी जीवों (Pests) के नियन्त्रण, पौधों एव पशुओ के रोगों के नियन्त्रण, भण्डारों-गोदामो के खाद्यान्नों की सुरक्षा करने, कृषि, मछली तथा जंगलो से अधिक पैदावार करने के समय में तकनीकी सहायता देता है। यह भू-सरक्षण (Soil Conservation), सिचाई के साधनो में विकास तथा बजर भूमि को कृषि-योग्य बनाने मे उनको परामर्श देता है।

खाद्य एव कृषि सगठन के तीन प्रमुख अग है—(अ) महासम्मेलन, (ब) कार्यकारिणी परिषद्, और (स) सचिवालय। महासम्मेलन महासभा के समान है। कार्यकारिणी परिषद् मे 24 सदस्य होते है जिनका चुनाव महासम्मेलन करता है। सचिवालय सगठन को सेवाएँ प्रदान करता है। इसके प्रधान को महानिदेशक (डायरेक्टर जनरल) कहा जाता है। इसका प्रमुख कार्यालय रोम में है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund : IMF)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना 27 दिसम्बर, 1946 को की गयी। इसका उद्देश्य विश्व के विभिन्न देशो में मुद्रा सम्बन्धी सहयोग बढाना, विनिमय में स्थिरता लाना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सुविधाएँ प्रदान करना, उत्पादन मे वृद्धि करना तथा सदस्य राष्ट्रो को आर्थिक सहायता प्रदान करना इत्यादि है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के तीन प्रमुख अंग हैं—(अ) गवर्नर मण्डल (Board of Governors), (ब) अधिशासी निदेशक मण्डल (Board of Executive Directors), और (स) प्रबन्ध निदेशक (Managing Director)। गवर्नर मण्डल संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों की महासभा के समान है। यह मुद्रा कोष की नीति निर्धारित करता है। अधिशासी निदेशक मण्डल कोष की कार्यकारिणी परिषद है। इसमे कुल 20 सदस्य होते हैं जिनमें 5 सदस्यों की नियुक्ति वे देश करते है जिनके सबसे अधिक अभ्यांश होते हैं तथा शेष 15 सदस्यो का निर्वाचन क्षेत्रीय आधार पर गवर्नर मण्डल द्वारा किया जाता है। यह कोष के नियमित कार्य संचालन के लिए उत्तरदायी होता है। प्रबन्ध निदेशक की नियुक्ति अधिशासी निदेशक मण्डल करता है। निदेशक, अधिशासी निदेशक मण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा कोष के दैनिक कार्य-संचालन के लिए उत्तरदायी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का मुख्यालय अमरीका की राजधानी वाशिंगटन मे है।

[1] This Bank functions not only as a leader and guarantor but also as an international brain-trust for the evaluation and guidance of reconstruction and development strategy.—P. E. Jacob and A. L. Atherton, *The Dynamics of International Organization*, (Dorsey Press, 1965), 38.

(3) स० रा० संघ अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपातकालीन कोष (U. N. International Children's Emergency Fund . UNICEF)—स० रा० संघ अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपातकालीन कोष की स्थापना महासभा द्वारा 1946 में की गयी। इसका उद्देश्य स्वास्थ्य पोषण इत्यादि कार्यों के माध्यम से बच्चों के कल्याण में सहयोग देना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बच्चों के स्वास्थ्य सुधार, पौष्टिक आहार, शिक्षा व्यवस्था तथा अन्य अनेक कार्यक्रम सम्पादित किये जाते हैं। इसके अलावा भूकम्प, बाढ़ आदि दैवी प्रकोपों के समय भी यह कोष शिशुओं और उनकी माताओं की सहायता करता है। यूनिसेफ की सर्वत्र सराहना की गयी है। प्रोफेसर जेकब और एथेरटन ने इसी बात को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि "सतर्क नियोजन, पक्षपात रहित प्रशासन, उच्च कोटि की किफायतशारी और कौशल, इन सबसे पहले मानवीय कार्यों के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के कारण यूनिसेफ ने यह बात प्रमाणित की है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था मानवीय सत्रास को दूर करने और राहत कार्यों में सार्थक भूमिका निभा सकती है।[1]

स० राष्ट्र संघ एवं मानव अधिकार
(U N and Human Rights)

क्लार्क एम० आइखेलबर्जर का मानना है कि 'राष्ट्र स्थायी शान्ति की ओर अग्रसर होते हैं तो यह भी अपरिहार्य है कि मानव अधिकारों की भी प्रगति होगी तथा वे सरक्षित होंगे।' इस प्रकार अधिकार मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य आवश्यकता है। इसी आवश्यकता को महसूस करते हुए स० रा० संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के वक्त इसके बारे में पर्याप्त विचार किया गया। स० रा० संघ को मानव अधिकारों के प्रति सभी देशों में सम्मान बढ़ाने तथा प्रोत्साहित करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। चार्टर के प्रस्तावना के अलावा अनुच्छेद 1, 13, 55, 62, 68 तथा 76 में स० रा० संघ के इस सम्बन्ध में कर्त्तव्यों पर बल दिया गया है। हालांकि चार्टर में स० रा० संघ को मानव अधिकार को सम्मान दिलाने तथा प्रोत्साहित करने की बात कही गयी है किन्तु इसमें अधिकारों की सूची नहीं दी गयी है। यह काम मानव अधिकार आयोग (The Commission on Human Rights) द्वारा किया गया। इसने मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा तैयार की जिसको महासभा ने पारित किया।

मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा

10 दिसम्बर, 1948 को महासभा ने मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को स्वीकार किया जिसके अन्तर्गत इतिहास में पहली बार मानव अधिकारों की रक्षा और परिपालन की जिम्मेदारी अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय ने अपने ऊपर ले ली और यह उसका एक स्थायी कर्त्तव्य स्वीकार किया गया।

इस सार्वभौम घोषणा की तीस धाराएँ हैं जिनमें नागरिक और राजनीतिक

[1] *By its careful planning, scrupulous non partisan administration, high operating efficiency and economy, and above all, the over riding sense of international responsibility for a humanitarian purpose that permeated the organization, UNICEF, vindicated the role of international organization as agent for the relief of human need and misery*

अधिकारों के साथ आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार भी शामिल हैं।

पहली और दूसरी धारा सामान्य है। इनमें कहा गया है कि सब मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र हैं और सबकी प्रतिष्ठा तथा अधिकार समान है, और उन्हे घोषणा में निहित सारे अधिकार और उनकी स्वतन्त्रताएँ, जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीति या अन्य विचार, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक उद्गम, सम्पत्ति, जन्म या अन्य स्थिति के आधार पर बिना भेदभाव किये पाने का अधिकार है।

घोषणा की धारा 3 से 21 तक में नागरिक व राजनीतिक अधिकार माने गये हैं। इनमें मनुष्य का जीवन, स्वाधीनता और सुरक्षा का अधिकार, गुलामी व अधीनता से मुक्ति, सताने या अपमानपूर्ण व्यवहार या दण्ड से मुक्ति, कानून से समान संरक्षण पाना, अदालत में जाने का अधिकार, मनमाने ढग से गिरफ्तारी, नजरबन्दी या निर्वासन से मुक्ति, स्वतन्त्र व निष्पक्ष अदालत के सम्मुख ठीक ढग से मुकदमा पेश होने, और उसमे सुनवाई पाने के अधिकार, परिवार, घर या पत्र-व्यवहार तथा अपने बारे में गोपनीयता, मनमाने ढंग से हस्तक्षेप न होने देना, आने-जाने में स्वतन्त्रता, शरण लेने का अधिकार, नागरिकता का अधिकार, विवाह करने *व परिवार बनाने का अधिकार, सम्पत्ति पर मालिकाना अधिकार, विचार, अन्तःकरण* व धर्म की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति रखने व उसे खर्च करने की स्वतन्त्रता, एकत्र होने का अधिकार, शासन में भाग लेने का अधिकार तथा सार्वजनिक सेवाओ मे समान रूप से प्रवेश शामिल है।

22 से 27 तक की धाराओ में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार शामिल हैं, जैसे सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, काम का अधिकार व आराम और खाली समय बिताने या अच्छी तरह रहने व स्वास्थ्य के लिए आवश्यक जीवन-स्तर बिताने का, शिक्षा का और अपने समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त है।

28 से 30 तक की अन्तिम धाराओ मे इस बात को स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी सामाजिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पाने का अधिकार है जिसके अन्तर्गत इन अधिकारो व स्वतन्त्रताओं को पूरी तरह माना जावे। इनमें समाज के प्रति व्यक्ति की जिम्मेदारी और कर्तव्यों पर जोर दिया गया है।

महासभा ने (सब लोगों और देशों द्वारा समान स्तर पाने के लिए) मानव अधिकारों का सार्वभौम घोषणा पत्र निकाला और अपने सब सदस्य देशों और लोगों से इस घोषणा-पत्र मे निहित अधिकारो व स्वतन्त्रताओं का पूरा पालन और स्वीकृति के लिए प्रयत्न करने को कहा। महासभा द्वारा 1950 मे इस प्रस्ताव *को स्वीकृत करने के बाद से सारे संसार में हर साल 10 दिसम्बर को 'मानव* अधिकार दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

इस घोषणा-पत्र में निहित अधिकारो को अब दो प्रतिज्ञा-पत्रों मे शामिल कर दिया गया है। इसमे से पहला नागरिक व राजनीतिक अधिकारो और दूसरा आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों के विषय में है। इनको महासभा ने 1966 में सर्वसम्मति से पारित किया। जिन सरकारों ने इसकी पुष्टि की, वहाँ इन प्रतिज्ञा-पत्रों को कानूनी सन्धि माना जाएगा। नागरिक व राजनीतिक अधिकारों के विषय में प्रतिज्ञा-पत्र के वैकल्पिक शिष्टाचार का मतलब उसे लागू करना है।

दिसम्बर, 1965 में महासभा ने एक प्रस्ताव पारित करके अन्तर्राष्ट्रीय

प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कराने शुरू किए, जिसमे सभी प्रकार के जातीय भेदभाव को समाप्त करने और इस काम के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाने के लिए कहा गया। इस ध्येय को पूरा करने के लिए 18 विशेषज्ञो की एक समिति बनाई गई। यह प्रतिज्ञा-पत्र 4 जनवरी, 1969 को लागू हुआ। उक्त समिति की बैठकें 1970 से होने लगी।

मानव अधिकारो की घोषणा के स्वीकार होने के 20 वर्ष बाद 1968 को मानव अधिकारो के अन्तर्राष्ट्रीय वर्ष के रूप मे मनाया गया। इस अवसर पर अप्रैल-मई मे तेहरान मे मानव अधिकारो के सम्बन्ध मे एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया और यह 1968 की एक महत्वपूर्ण घटना थी। सम्मेलन मे 'तेहरान घोषणा-पत्र' जारी करके मानव अधिकारो को पूरी तरह दिलाने की जिम्मेदारी सम्बद्ध देशो की मानी गई। इसमे उत्पन्न होने वाली विशेष समस्याओ और कठिनाइयो को आँका गया। सभी सरकारो से सभी मनुष्यो के लिए शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व आध्यात्मिक कल्याण मे सहायक और स्वतन्त्रता से युक्त जीवन की व्यवस्था दिलाने के प्रयत्न पूरे जोर-शोर से करने के लिए कहा गया।

महासभा ने 1971 का वर्ष जातिवाद और जातीय भेदभाव को दूर करने की कार्रवाई का वर्ष कहा है। मानव अधिकार वर्ष मनाने का प्रयोजन जातिवाद और जातीय भेदभाव के सभी चिह्नो व तरीको को हटाना और मानवीय अधिकारो का आनन्द उठाने मे सबको समानता दिलाने की दिशा मे ठोस प्रगति करना था।

मानव अधिकारो से सम्बन्धित अन्य प्रश्न

महिलाओ की स्थिति मे सुधार, बच्चो के अधिकार, भेदभाव को रोकना, सूचना की आजादी जैसे दूसरे मानव अधिकार सम्बन्धी प्रश्नो पर भी ध्यान दिया गया है। स्त्रियो के लिए राजनीतिक अधिकार सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन जुलाई 1954 मे हुआ और विवाह की स्वीकृति, विवाह के लिए न्यूनतम आयु और विवाह के पंजीकरण के सम्बन्ध मे दिसम्बर, 1964 मे सम्मेलन किया गया। 1967 मे महासभा ने औरतो के प्रति भेदभाव समाप्त करने के विषय मे एक घोषणा मंजूर की।

नवम्बर, 1959 मे बच्चो के अधिकार के सम्बन्ध मे एक घोषणा-पत्र सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार अपना सर्वोत्तम जितना भी हो सहर्ष बच्चो को देने के लिए मनुष्यो से कहा गया। इसके अतिरिक्त मानव अधिकार आयोग ने सभी प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता दूर करने के लिए एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया।

मानव अधिकारो के सम्बन्ध मे अन्य कार्रवाईयो मे विशेष शाखाओ के सहयोग से विशेष अध्ययन और तकनीकी सहायता देना शामिल है। मानव अधिकारो के प्रति सम्मान बढाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य देशो को विशेषज्ञो से सलाह दिलाना, छात्रवृत्ति देना तथा विचार गोष्ठियाँ बुलाना जैसी सेवाएँ उपलब्ध है।

मानव अधिकारो की सार्वभौम घोषणा का महत्व

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गयी मानव अधिकारो की सार्वभौम घोषणा का अत्यधिक महत्व है—

(क) मानवाधिकार घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इतिहास मे एक प्रकार की

पहली मिसाल थी। इससे इस सम्बन्ध में और आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(ख) यह घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कदम था। जैसा कि प्रोफेसर आइखेलबर्जर (Eichelberger) का मानना है कि 'वास्तव में राष्ट्रों के कानून के विकास में यह घोषणा विशिष्ट है। हालांकि यह सन्धि के समान बाध्यकारी नहीं है, तथापि इसने ऐसी 'सत्ता' का विकास किया है, जो कानून का स्रोत ही नहीं, बल्कि कानून की ताकत भी है।'

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह घोषणा उपयोगी रही है। किसी भी देश द्वारा मानव अधिकार का उल्लंघन करने पर यह तर्क देकर उसकी आलोचना की जा सकती है कि वह इस घोषणा का उल्लंघन कर रहा है। इससे उस देश के खिलाफ विश्व जनमत तैयार करने मे मदद मिलती है।

इस प्रकार स० रा० संघ एवं उसके अनेक निकाय मानवाधिकार रक्षा के पवित्र कार्य में सक्रिय है। अतः इस क्षेत्र में इसका कार्य बड़ा ही सराहनीय रहा है।

सं० रा० संघ एवं निशस्त्रीकरण
(U. N. and Disarmament)

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हुई अपार जन व धन की हानि ने दुनिया को यह महसूस करवा दिया कि घातक शस्त्रों पर रोक नहीं लगाई गई तो मानवता को बचाना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। स० रा० संघ के चार्टर में कहा गया है कि संगठन का प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखना है। अनुच्छेद 26 मे कहा गया है कि विश्व के मानवीय तथा आर्थिक साधनों का शस्त्रीकरण की दिशा मे तनिक भी प्रयोग न करके विश्व शान्ति का कार्य सम्पन्न किया जायेगा। घोषणा-पत्र के द्वारा महासभा को निशस्त्रीकरण तथा शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने का सिद्धान्त निर्धारित करने का अधिकार दिया गया एवं सुरक्षा परिषद को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया है कि वह शस्त्रों के नियमन की प्रणाली स्थिर करने के लिए स० रा० संघ के सदस्यों के समक्ष योजना प्रस्तुत करे। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले अमरीका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर परमाणु बम गिराया। कालान्तर में शीत युद्ध के दौरान शस्त्रीकरण बढ़ता गया। तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया कुछ सालों तक चली, मगर पुनः शीत युद्ध का नया दौर शुरू हो गया। इस प्रकार शस्त्रीकरण से मानव समाज को एक बहुत बड़ा खतरा पैदा हो गया। अतएव इस परिप्रेक्ष्य में निशस्त्रीकरण में स० रा० संघ की भूमिका का मूल्यांकन करना अत्यधिक प्रासंगिक होगा।

निशस्त्रीकरण : स० रा० संघ के विभिन्न प्रयास

महासभा मे 24 जनवरी, 1946 को निशस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे पहला प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था। तब से सं० रा० संघ ने लगातार शस्त्रों की होड़ रोकने तथा उसे धीरे-धीरे समाप्त करने के भरपूर प्रयत्न किये हैं। यह संगठन निशस्त्रीकरण पर विचार-विमर्श और समझौतों का स्थायी मंच रहा है। उसका उद्देश्य है—निशस्त्रीकरण को प्राप्त करना। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा शक्तिशाली देशों को इसके विषय मे सिफारिशें करना और इस सम्बन्ध में प्रभावशाली अध्ययन करना (मसलन परमाणु ऊर्जा के प्रयोग का प्रभाव, रासायनिक तथा जैविक शस्त्रों के प्रयोग

का प्रभाव और निशस्त्रीकरण के आर्थिक प्रभाव)।

स० रा० संघ ने सबसे पहले परमाणु ऊर्जा आयोग और परम्परागत शस्त्र आयोग गठित किये। 1952 में महासभा ने इन दोनों के स्थान पर सुरक्षा परिषद के नीचे निशस्त्रीकरण आयोग बना दिया और उसे एक या अधिक संख्या में शामिल किये जाने वाले प्रस्ताव का मसौदा तैयार करने का आदेश दिया। सभी प्रकार की सेनाओं और शस्त्रों को नियमित और सीमित करना, उनमें सन्तुलित कमी करना, बड़े पैमाने पर संहार करने वाले सभी भीषण शस्त्रों की समाप्ति, अणु शस्त्रों पर पूरी पाबन्दी लगाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परमाणु शक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण और केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु शक्ति का प्रयोग जैसे विषय आयोग को सौंपे गये।

बाद में निशस्त्रीकरण आयोग की पाँच राष्ट्रों वाली उपसमिति ने बातचीत चलाई। इससे मतभेद अवश्य कम हो गए, परन्तु परमाणु निशस्त्रीकरण की तुलना में परम्परागत निशस्त्रीकरण के अनुपात और उस पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण और जाँच जैसे सवालों पर बड़े राष्ट्रों में मतभेद बने रहे।

20 नवम्बर, 1959 को महासभा ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया कि पूर्ण निशस्त्रीकरण का प्रश्न संसार की सबसे बड़ी समस्या है। आशा व्यक्त की कि प्रभावशाली निशस्त्रीकरण की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के विषय में सहमत होने और इसे लागू करने के लिए शीघ्र कदम उठाये जायेंगे।

1961 की घटनाओं से आशा बँधी कि इस विषय में जल्दी प्रगति होगी। 20 दिसम्बर, 1961 को महासभा ने अपने सर्वसम्मत प्रस्ताव में रूसी और अमरीकी सरकारों द्वारा पूर्ण निशस्त्रीकरण की दिशा में की गई बातचीत के आधार पर स्वीकृत सिद्धान्तों वाले संयुक्त वक्तव्य की सराहना की। साथ ही महासभा ने रूस और अमरीका के उस सुझाव की पुष्टि की, जिसमें 18 देशों की निशस्त्रीकरण समिति बनाने के लिए कहा गया था।

निशस्त्रीकरण समिति

1969 में इस समिति के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 26 कर दी गई और इसका नाम निशस्त्रीकरण समिति सम्मेलन (सी० सी० डी०) रखा गया। यह महासभा को अपने काम की रिपोर्ट देती है। महासभा हर साल उसको कुछ विषय देती है, और उन पर उसकी सिफारिश माँगती है तथा हथियारों की होड़ सीमित करने व रोकने के सम्बन्ध में सलाह देती है। विभिन्न देशों ने आपसी बातचीत, सी० सी० डी० तथा स० रा० संघ की अन्य संस्थाओं जैसे बाह्य अन्तरिक्ष के शान्तिपूर्ण प्रयोग की समिति तथा समुद्री जल के शान्तिपूर्ण प्रयोग की समिति ने बातचीत करके अनेक सन्धियों को अपनाया।

5 अगस्त, 1963 को रूस, अमरीका और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने मास्को में एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जिसमें वायुमण्डल, अन्तरिक्ष व जल में परमाणु शस्त्रों के परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया गया। यह सन्धि अगले वर्ष अक्तूबर में लागू हुई। इस पर 100 से अधिक देशों ने हस्ताक्षर किये। 1963 की सन्धि पर हस्ताक्षर होने से पहले महासभा ने अणु-परीक्षण पर गहरी चिन्ता प्रकट की तथा कई प्रस्ताव पारित किये थे। 1963 के बाद महासभा ने परमाणु-अस्त्रों के परीक्षणों पर

प्रतिबन्ध लगाने के लिए सदस्य देशों को बड़े पैमाने पर समझौता करने को कहा।

1966 में चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों सहित बाह्य अन्तरिक्ष के उपयोग के सम्बन्ध में देशों की कार्यवाही से सम्बन्धित प्रस्तावों वाली पहली सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार बाह्य अन्तरिक्ष में राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का परमाणु शस्त्रों के लिए उपयोग करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। 1966 में महासभा ने इस सन्धि की पुष्टि की।

1967 में महासभा ने उस सन्धि का भी स्वागत किया, जिसमें लातीनी अमरीका को परमाणु शस्त्रों से मुक्त क्षेत्र माना गया।

1968 में महासभा ने परमाणु शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने वाली संधि की पुष्टि की। इस सन्धि का प्रस्ताव 1965 में महासभा ने रखा था और इसकी रूपरेखा 18 देशीय निशस्त्रीकरण समिति ने काफी लम्बी बहस के बाद बनाई थी। यह सन्धि 5 मार्च, 1970 से लागू हुई। सन्धि के अनुसार परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों ने यह वचन दिया कि वे दूसरे देशों को परमाणु अस्त्र नहीं देंगे और जो देश परमाणु आयुध बनाना नहीं जानते थे, उन्होंने वचन दिया कि वे देश न तो दूसरे देशों से परमाणु अस्त्र लेंगे और न इनका निर्माण करेंगे। इस विषय में सुरक्षा परिषद ने अपनी तथा विशेष रूप से परमाणु हथियारों से लैस स्थाई सदस्यों ने जिम्मेदारी ली कि गैर-परमाणु शक्ति सम्पन्न देश पर परमाणु हथियारों से हमला होने या उसकी आशंका होने की दशा में तुरन्त कार्यवाही की जायेगी।

अगस्त-सितम्बर, 1968 में जेनेवा में गैर-परमाणु देशों का सम्मेलन हुआ। इसमें परमाणु शस्त्रों की होड़ की समाप्ति पर जोर देते हुए कई प्रस्ताव पारित किये गये, जिनमें पूर्ण निशस्त्रीकरण तथा केवल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए परमाणु शक्ति का उपयोग शामिल था। 1955, 1958, 1964, 1971 में सं० रा० संघ ने परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के लिए चार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाये।

1969 में महासभा ने 1970 के दशक को 'निशस्त्रीकरण दशक' घोषित किया तथा सरकारों से परमाणु अस्त्रों की होड़ बन्द करने, परमाणु निशस्त्रीकरण करने और सामूहिक विनाश के दूसरे हथियारों की समाप्ति के लिए पूरा प्रयत्न करने का अनुरोध किया। इन देशों से कहा गया कि वे कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के तहत पूर्ण निशस्त्रीकरण की सन्धि को स्वीकार करें।

निशस्त्रीकरण समिति सम्मेलन ने 1970 में परमाणु एवं सामूहिक विनाश के दूसरे शस्त्रों को समुद्र तल तथा भूमि के अन्दर ले जाने की रोक के लिए सन्धि का मसौदा तैयार किया। 1970 में इस सन्धि की 'पुष्टि' की गई।

1971 में निशस्त्रीकरण समिति सम्मेलन ने विषैले और जैविक अस्त्रों के विकास, निर्माण व संग्रह की समाप्ति की समस्या के सारे पहलुओं पर व्यापक विचार और प्रयत्न किये। इस सन्धि में, जो आधुनिक युग में अपने ढंग की पहली सन्धि थी, सभी प्रकार के परमाणु आयुधों की समाप्ति के लिए कहा गया। 1971 में महासभा ने देशों से इस पर हस्ताक्षर एवं इसके अनुमोदन के लिए कहा। 1971 में ही महासभा ने रासायनिक शस्त्रों के विकास, निर्माण व संग्रह को रोकने के लिए तुरन्त एक सन्धि के लिए अपनी माँग दोहरायी। साथ ही उसने परमाणु हथियार-सम्पन्न देशों से कहा कि वे परमाणु शस्त्रों के परीक्षण पर तुरन्त रोक लगाएँ और यह कार्य 5 अगस्त, 1973 तक पूरा हो जाना चाहिए। महासभा ने विश्व

निशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने पर भी जोर दिया।

1970 में स० रा० संघ की 25वीं वर्षगांठ के अवसर पर महासभा ने एक घोषणा पारित कर देशों से कहा कि वे 'शस्त्र नियमन' से आगे बढ़ें और सभी प्रकार के तथा विशेषकर परमाणु अस्त्रों को परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों की सहायता से कम तथा अन्त में समाप्त करने का प्रयत्न करें।

महासभा ने विश्वास प्रकट किया कि निशस्त्रीकरण में यदि तेजी से प्रगति करनी है तो परमाणु शक्ति-सम्पन्न देश नये परमाणु अस्त्रों के विकास को रोकें और परमाणु परीक्षण बन्द कर दें। सदस्य देशों से कहा गया कि वे युद्ध में जैविक तथा दम घोंटू गैस वाले अस्त्रों का प्रयोग न करें। उसने निशस्त्रीकरण से विश्व में सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति होने की ओर ध्यान दिलाया।

1968 में महासभा ने रूस और अमरीका को शस्त्र नियमन सन्धि पर सीधे बातचीत करने के लिए कहा। बातचीत 1969 में आरम्भ हुई। मई 1972 में दोनों देश इस बात पर सहमत हुए कि प्रक्षेपास्त्रों तथा दूर तक मार करने वाले शस्त्रों की संख्या कम कर दी जाये। महासचिव ने इस समझौते को शस्त्र होड़ विशेषकर परमाणु अस्त्रों की संख्या को रोकने में एक विशेष कदम बताया। उन्होंने आशा प्रकट की कि 'इस समझौते से अधिक हानि करने वाले शस्त्रों की संख्या कम होगी और निशस्त्रीकरण की दिशा में एक महान् तथा पूर्ण कदम उठाया जायेगा।'

महासचिव की भूमिका
(Role of the Secretary General)

प्लाना तथा रिग्ज ने महासचिव के कार्यों के बारे में कहा है—'महासचिव का कार्य उतना ही विशाल है, जितना कि वह उसे बना सकता है' (as big as he can make it)। स० रा० संघ की सरचना और कार्यप्रणाली को देखते हुए उसके महासचिव की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण है। महासचिव संगठन का मुख्य प्रशासनिक अधिकारी होता है। उसकी जिम्मेवारी सिर्फ किसी समिति या सभा के सदस्य-सचिव जितनी सीमित नहीं है, जो बैठकों-बहसों की गतिविधियों का लेखा रखता हो और जिसके कर्त्तव्य मुख्य तौर पर कार्मिक होते हों।

महासचिव की निश्चित किन्तु महत्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ—स० रा० संघ के चार्टर के अनुसार महासचिव को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत निश्चित जिम्मेदारियाँ सौंपी गयी हैं। इनमें सुरक्षा परिषद और महासभा के क्रियाकलाप निश्चय ही सबसे महत्वपूर्ण हैं। विशिष्ट एजेन्सियों के काम के निरीक्षण, नियन्त्रण और संचालन की जिम्मेदारी भी उसी की है। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुव्यवस्था बरकरार रखना हो या तनाव घटाना या फिर समस्या का समाधान ढूंढना, महासचिव द्वारा पहल करने पर स० रा० संघ की पूरी व्यवस्था की सफलता का दारोमदार टिका हुआ है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दोनों महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध और शक्ति संघर्ष के कारण अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रस्तावित व्यवस्था आरम्भ से ही जिच की स्थिति में फँस गयी थी। अतः स्वाभाविक ढंग से कार्य संचालन के लिए यह परमावश्यक था कि महासचिव कमोवेश (या अधिकाधिक) तटस्थ पंच की भूमिका निभा सके। इन्हीं परिस्थितियों के कारण महासचिव के व्यक्तित्व का महत्व नाटकीय ढंग से रेखांकित किया गया।

युवल महासचिव के वांछित गुण—महासचिव अपने पद के कार्यभार ग्रहण करने के साथ अपनी निजी राष्ट्रीय पहचान मिटाने के लिए विवश है। अन्तर्राष्ट्रीय नौकरशाह के रूप में उसकी एकमात्र प्रतिबद्धता स० रा० संघ, अन्तर्राष्ट्रीय सहकार, गुट निरपेक्षता, निरस्त्रीकरण और विश्व शान्ति के प्रति ही हो सकती है। स्पष्टत किसी तरह की पक्षधरता (जातीय, राष्ट्रीय या सैद्धान्तिक) महासचिव पद के उत्तरदायित्व निर्वाह में बाधक बन सकती हैं। जो व्यक्ति इस कुर्सी पर बैठे, वह ईमानदार, मनोबल वाला, आत्म-सम्मानी, साहसी व आदर्शवादी होना चाहिए। परन्तु वह ऐसा हो, जिसके पैर यथार्थवाद की जमीन पर निरन्तर टिके रहें। यह भी जरूरी है कि महासचिव पद ग्रहण करने वाला व्यक्ति इसके पहले महत्वपूर्ण राजनीतिक या राजनयिक जिम्मेदारी का निर्वाह कर चुका हो। योग्यता व प्रशासनिक कौशल के साथ-साथ निश्चित मात्रा में प्रतिष्ठा और यश-कीर्ति का स्वामी होना भी उसके लिए उपयोगी है। जाहिर है कि इन सभी शर्तों को देखते हुए योग्य पात्र कम ही बचते हैं।

विभिन्न महासचिवों के कामकाज का मूल्यांकन—महासचिव की नियुक्ति के लिए महाशक्तियों की सहमति और सगठन के सदस्यों के बहुमत का समर्थन आवश्यक है। अतः छोटे गुट-निरपेक्ष राष्ट्र के लोकप्रिय और राजनीतिक दृष्टि से अविवादास्पद व्यक्ति की नियुक्ति की सम्भावनाएँ सबसे अधिक मानी जाती हैं। लेकिन इन सभी गुणों को किसी एक कसौटी पर कसा जाना सम्भव नहीं। कई बार उम्मीदवार को परखने में चूक हो सकती है। नियुक्ति के बाद ही चुने गये व्यक्तित्व की खोट सामने आती है और सं० रा० संघ के कामकाज पर असर पड़ता है। पिछले पाँच दशकों का अनुभव इन निष्कर्षों को प्रमाणित और पुष्ट करता है।

1. **त्रिगवेली**—पहले महासचिव त्रिगवेली नार्वे के प्रधानमन्त्री रह चुके थे। वह एक ऐसे देश के प्रतिनिधि थे जिसकी भौगोलिक स्थिति पूर्व और पश्चिमी तथा समाजवादी और पूँजीवादी दुनिया के बीच थी। नार्वे औपनिवेश शक्ति भी नहीं था। अधिकतर अफ्रो-एशियाई देशों के मन में त्रिगवेली के प्रति किसी प्रकार का पूर्वाग्रह और दुराग्रह नहीं था। चूँकि नार्वे यूरोपीय इतिहास और राजनीति की मुख्य धारा से अलग-थलग कटा सा रहा, अतः शीत युद्धकालीन पक्षधरता या संकीर्ण स्वार्थों का आरोप त्रिगवेली पर आसानी से नहीं लगाया जा सकता था। दुर्भाग्यवश, त्रिगवेली ने इन सभी आशाओं को निर्मूल साबित किया। वह न केवल एक दुर्बल अहंकारी व्यक्ति थे, बल्कि एक खास किस्म की बस्तारी मानसिकता (प्रद्यत्नहीनता ग्रन्थि से ग्रस्त) से भी ग्रस्त थे। अफ्रो-एशियाई देशों की आशा-आकांक्षाओं से उनका कोई सरोकार नहीं था। पहल करना तो दूर, अमरीका और पश्चिमी देशों का पिछलग्गू बनने में त्रिगवेली गौरव का अनुभव करते थे। उनके पूरे कार्यकाल में कोई भी ऐसी उल्लेखनीय घटना या उपलब्धि नहीं गिनायी जा सकती, जिससे यह दर्शाया जा सके कि उनका आचरण अपने पद की गरिमा के अनुकूल रहा। आज उनकी स्मृति शेष है तो सिर्फ इसलिए कि वह गिनती में पहले महासचिव थे।

2. **डेग हेमरशोल्ड**—दूसरे महासचिव स्वीडन के डेग हेमरशोल्ड थे। स्वीडन नार्वे का पड़ोसी देश है, जो कई मामलों (राजनीतिक व सांस्कृतिक) में उसी को प्रतिबिम्बित करता है। सिर्फ अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा, आकर्षक और तेजस्वी व्यक्तित्व के बल पर ही हेमरशोल्ड महासचिव पद की गँवाई गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित

करने में सफल हुए और स० रा० संघ की रचनात्मक भूमिका को उजागर कर सके। यों स्वयं हेमरशोल्ड अभिजात्य वर्ग के अन्तर्मुखी कुलीन थे और त्रिगवेली की तरह कई लोगों के लिए आकर्षणहीन और अजनबी बने रह सकते थे। परन्तु वह इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में अपनी खरी आस्था के कारण करिश्माई ढंग से प्रभावशाली रचनात्मक जन-सम्पर्क साधने में सफल हुए।

डेग हेमरशोल्ड के गुणों-विशेषताओं का शारीरिक पक्ष भी उल्लेखनीय है। वह जीवन-पर्यन्त कुंवारे रहे, परन्तु उनकी तेजस्विता और उत्साह उनके अक्षुण्ण यौवन का प्रमाण देते थे। वह स० रा० संघ के न्यूयार्क स्थित मुख्यालय में अपने दफ्तर की ऊँची मंजिल तक पहुँचने के लिए लिफ्ट की अपेक्षा सीढ़ियां चढ़ना ही बेहतर समझते थे। उनके कुछ आलोचक उन्हें भले ही दम्भी-पाखण्डी कहते रहे, किन्तु उनका स्वाभिमान स० रा० संघ के लिए बहुमूल्य पूँजी साबित हुआ। वह न तो अमरीका के दबाव में आते थे और न ही सोवियत संघ की गलत बात सुनने को कभी तैयार हुए। इसी कारण वह नेहरू जी तथा अन्य गुट निरपेक्ष नेताओं के चहेते बन सके। हेमरशोल्ड लकीर के फकीर नहीं थे। जरूरत पड़ने पर वह अन्तर्राष्ट्रीय हित में चार्टर की लचीली रचनात्मक व्याख्या स्वीकार करने के लिए तैयार रहते थे। निशस्त्रीकरण और कोरिया संकट के समय इस सन्दर्भ में उनकी भूमिका काफी महत्वपूर्ण रही। इसी तरह गाजा पट्टी और कांगो में अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक दस्ते भेजकर युद्ध विराम करवाने और शान्ति लौटाने में उनकी पहल महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। स्वयं एक सम्पन्न यूरोपीय देश के नागरिक होने के बावजूद अमरीका और एशिया के विपन्न देशों की दरिद्रता का दुख समझने वाला दिलोदिमाग हेमरशोल्ड के पास था। अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को, यूनिसेफ आदि के कार्यक्रमों की रूपरेखा जिस तरह तैयार की गयी, उसके पीछे हेमरशोल्ड का हाथ सहजता से देखा जा सकता है। दिसम्बर, 1960 में उपनिवेशवाद के उन्मूलन के बारे में जो प्रस्ताव महासभा ने पारित किया, उसकी प्रेरणा भले ही हेमरशोल्ड की न रही हो, किन्तु उसको प्रोत्साहन देने में वह कभी पीछे नहीं रहे।

इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि अपने कार्यकाल के अन्तिम दो वर्षों में हेमरशोल्ड अक्षम दीखने लगे थे। उन पर भी अमरीका के प्रति अपेक्षाकृत उदार रवैया अपनाने के आक्षेप लगाये जाने लगे। इसके लिए दो बातें जिम्मेदार थीं। एक तो यह कि यह हेमरशोल्ड का दूसरा कार्यकाल था और कई देशों विशेषकर समाजवादी और उग्र रूप से उपनिवेशवाद-विरोधी देशों को यह लगने लगा था कि जो महासचिव मध्यममार्गी व सुधारवादी रास्ता सुझाता और अपनाता है, वह यथास्थिति का बनाये रखने तथा न्यस्त स्वार्थों को बचाने वाला सिद्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से दिन-रात वर्षों जूझते जूझते किसी भी व्यक्ति का उत्साह हमेशा उफान पर नहीं रह सकता। यदि हेमरशोल्ड के आचरण में भी 1960 तक यह झलकने लगा था तो यह अस्वाभाविक नहीं था। दूसरी बात, महाशक्तियों के बीच बढ़ते तनाव व प्रतिद्वन्द्विता के साथ स० रा० संघ की संरचनात्मक कमजोरियाँ और खामियाँ भी सामने आने लगी थीं। मिसाल के तौर पर चीन का माओ के नेतृत्व में महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटक के रूप में उदय, कांगो अभियान के कारण स० रा० संघ के दिवालियेपन का संकट, ख्रुश्चेव द्वारा महासचिव के स्थान पर त्रोइका व्यवस्था (तीन घोड़ों द्वारा खींची जाने वाली घोड़ा गाड़ी) के अनुसरण का

सुझाव, ऐसी परेशानियाँ थी, जिन पर सिर्फ व्यक्तित्व के आधार पर काबू नहीं पाया जा सकता था।

इसके अलावा एक ऐसी कठिनाई है, जिसका समाधान आसान नहीं। महासचिव कितना ही समर्थ और प्रतिभाशाली क्यों न हो, उसे दैनंदिन कार्रवाई के लिए अपने सहयोगियों खासकर अधीनस्थ वरिष्ठ कर्मचारियों पर निर्भर होना पड़ता है। इन कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए संगठन के सदस्यों के अनुसार राष्ट्रीय कोटा तय किया जा चुका है। इन सभी कर्मचारियों से महासचिव की तरह संकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थों से ऊपर उठने की अपेक्षा की जाती है, परन्तु यथार्थ में इसकी सम्भावना नगण्य है। एक बार नियुक्त होने के बाद किसी भी अन्य नौकरशाहों की तरह अन्तर्राष्ट्रीय नौकरशाहो की भी एक बिरादरी पनपने लगती है, जिसकी सबसे महत्वपूर्ण प्राथमिकता अपने न्यस्त स्वार्थों को सुरक्षित रखना और बढ़ाना होती है। इन व्यक्तियों के माध्यम से महासचिव की पहल को काफी हद तक निष्फल किया जा सकता है।

डेग हेमरशोल्ड की अकाल मृत्यु के बाद उनकी जो डायरियाँ प्रकाशित हुई, उनसे ऐसा लगता है कि हेमरशोल्ड आत्म-केन्द्रित और दार्शनिक रुझान के व्यक्ति थे, जिनके लिए अपने राजनयिक उत्तरदायित्व मन बहलाव के साधन भर थे। कई विद्वानों ने इसे उनकी आलोचना का प्रमुख मुद्दा बनाया है। परन्तु ऐसा करना न्यायोचित नहीं लगता। यदि हेमरशोल्ड की तुलना उनके परवर्ती उत्तराधिकारियों से की जाये तो इस बात को भलीभांति समझा जा सकता है कि महासचिव की भूमिका को हेमरशोल्ड ने कितने निर्णायक ढंग से परिभाषित किया था।

3. ऊ थांट—डेग हेमरशोल्ड की मृत्यु के बाद बर्मा के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ऊ थांट ने महासचिव पद सँभाला। इस तरह पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का प्रमुख कार्यकारी अधिकारी एक एशियाई देश का प्रतिनिधि बना था। ऊ थांट के चुनाव और नियुक्ति के पीछे भी उसी तरह के तर्क काम कर रहे थे, जो लिगवेली और हेमरशोल्ड के पक्ष में दिये जाते थे। बर्मा एक छोटा-सा गुट निरपेक्ष (अब नहीं) राष्ट्र है और ऊ थांट स्वभाव से मृदु और अनुभवी राजनीतिज्ञ थे। वह दोनों महाशक्तियों को तो स्वीकार्य थे ही, उनसे अफ्रो-एशियाई देशों को यह उम्मीद भी थी कि वह तीसरी दुनिया के विभिन्न तबकों की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सक्रिय रहेंगे। बर्मा स्वयं सत्ता संघर्ष की राजनीति से अलग-थलग रहा था और चीन तथा भारत जैसे सघर्षरत बड़े एशियाई देशों को भी अपनाने लायक लगता था। दुर्भाग्यवश ऊ थांट ने अपने कार्यकाल में अपने तथा सं० रा० संघ के सभी शुभचिन्तकों को निराश ही किया।

ऊ थांट के मूल्यांकन के लिए उनके व्यक्तित्व को टटोलना उपयोगी साबित होगा। जिन गुणों ने उन्हें आकर्षक उम्मीदवार बनाया था, वे ही पद ग्रहण के बाद दुर्बलता बन गये। हेमरशोल्ड मितभाषी और अन्तर्मुखी व्यक्ति थे, परन्तु जिद्दी और अड़ियल भी। जरूरत पड़ने पर वह किसी भी बात को अपनी या अपने पद की प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते थे। इसके विपरीत ऊ थांट समझौता-परस्त थे और हर वक्त विनीत मुद्रा अपनाये रखते थे। आरम्भ से ही उनकी ख्याति नखोले अर्थात् कमजोर व्यक्ति के रूप में फैल गयी। यदि हेमरशोल्ड के तेवर पुरोहित, कुलीन और सामन्ती थे तो ऊ थांट के गृहस्थ बौद्ध-भिक्षु वाले।

परन्तु ऐसा भी नहीं कि ऊ थाट का व्यक्तित्व उनके काम में हमेशा आड़े आया हो। असल में इस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स० रा० संघ का अवमूल्यन भी बहुत तेजी से हो रहा था। भारत-चीन सीमा विवाद के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत का प्रभाव बहुत कम हो गया था। इसने अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में गुट-निरपेक्ष राजनय को क्षति पहुँचायी। अनेक अफ्रो-एशियाई देश भारत और चीन के बीच बिल्कुल तटस्थ रहना चाहते थे और चीन इस बात के लिए सक्रिय था कि 'सहकार' या 'संघर्ष' दोनों के सम्पादन के लिए परामर्श स० रा० संघ के बाहर चलाया जाये। यह समझ में आने वाली बात थी, क्योंकि अब तक चीन स्वयं इस संगठन का सदस्य नहीं था। कुछ और राष्ट्रों का मोहभंग भी स० रा० संघ से हो चुका था। बेलग्रेड सम्मेलन में नेहरू जी से टकराव के बाद सुकार्णो ने स० रा० संघ की सदस्यता त्याग दी थी। इसी तरह ऊ नु के देश बर्मा ने अपने 'गुट निरपेक्ष कौमार्य' को अक्षत रखने के लिए गुट निरपेक्ष आन्दोलन को छोड़ दिया था। कुल मिलाकर, स० रा० संघ का मंच महाशक्तियों और बड़ी शक्तियों तक सिमट गया था।

इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम और प्रवृत्तियाँ इस तरह विकसित हुए कि महासचिव ही नहीं, पूरा स० रा० संघ भी अप्रासंगिक सिद्ध होने लगा। एक ओर महाशक्तियाँ क्यूबाई मिसाइल संकट के दौरान सर्वनाश के कगार तक पहुँचकर इस अहसास के साथ वापस लौटीं कि उनका आपसी सम्पर्क कभी नहीं टूटना चाहिए। इसकी परिणति उनके बीच 'हॉट लाइन' की स्थापना से हुई, जिसने ऐसे मौकों पर स० रा० संघ और महासचिव की तथाकथित भूमिका का खोखलापन उजागर किया। महाशक्तियों से इतर बड़ी शक्तियों ने भी अपने राजनयिक क्रियाकलाप अन्यत्र ही महत्वपूर्ण समझे। इसका सबसे अच्छा उदाहरण फ्रांसीसी राष्ट्रपति देगॉल ने प्रस्तुत किया—फ्रांस के लिए यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना और अपने ही बलबूते पर फ्रेंच भाषी अफ्रीकी देशों में अपना आर्थिक और सांस्कृतिक वर्चस्व बरकरार रखकर। इन्हीं वर्षों में वियतनाम युद्ध असाध्य बीमारी के रूप में फैला और अमरीकी 'राष्ट्र हित' इसके साथ जुड़े होने के कारण स० रा० संघ की अक्षमता बहुत ही क्षोभदायक ढंग से प्रकट हुई।

कुल मिलाकर तनाव-शैथिल्य के पूर्वाभास, जनवादी चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति और सोवियत चीन-विग्रह में निरन्तर बिगाड़ ने इस बात की कोई सम्भावना शेष नहीं रखी कि ऊ थाट अपने पूर्ववर्ती हेमरशोल्ड की तरह असरदार हो सकें। फिर भी यह सोचना गलत होगा कि वह कुछ नहीं कर पाये। आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में स० रा० संघ की गतिविधियों का क्रमशः प्रसार ऊ थाट के उद्यम से ही त्वरित गति से हो सका और इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का महत्व राजनीति के दलदल के बाहर सार्थक ढंग से झलकाया जा सका। अंकटाड सम्मेलन की शृंखलाओं को लें या विशेष अधिवेशनों को, आर्थिक मामलों में सदस्यों की रुचि और मनोबल बढ़ाने में ऊ थाट का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

4 कुर्त वाल्दहीम—ऊ थाट के बाद एक बार फिर महासचिव का पद तटस्थ यूरोपीय देश आस्ट्रिया की ओर लौटा। कुर्त वाल्दहीम पूर्व वर्णित गुणों के स्वामी थे और तमाम जरूरी शर्तें पूरी करते थे। वाल्दहीम की 'उपलब्धियाँ' भी उल्लेखनीय

नहीं रही। फिर भी वह आज याद किये जाते हैं, क्योंकि महासचिव पद त्यागने के कुछ समय बाद उन्हें अपने देश में राष्ट्रपति चुनाव अभियान के दौरान जिस बदनामी का सामना करना पड़ा, उसे देखते हुए वाल्दहीम के जीवन के पिछले वर्ष अपेक्षाकृत यशस्वी नजर आते हैं। वाल्दहीम के कार्यकाल में लम्बे समय से चले आ रहे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संकट स्वयं ही बिना महासचिव के विशेष प्रयत्न के विलीन हो चुके थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन चीन और अमरीका के बीच वैमनस्य का अन्त तथा अमरीका और वियतनाम के बीच लम्बे गोपनीय परामर्श के बाद वियतनाम युद्ध की समाप्ति थे। चीन में न केवल सांस्कृतिक क्रान्ति का अन्त हुआ, बल्कि माओ के बाद देंग सियाओ पिंग और उनके समर्थकों ने समझदार, व्यावहारिक और मध्यममार्गी रास्ता अपनाया। महाशक्तियों के बीच तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया प्रगतिशील रही और इस कारण पश्चिम एशिया में और निःशस्त्रीकरण के मामले में 'प्रगति' देखी जा सकी। पश्चिम एशिया में कैम्प डेविड समझौता हो सका और फिलस्तीन मुक्ति संगठन सं० रा० संघ का पर्यवेक्षक सदस्य बन गया। सर्वत्र तनाव घटने से निश्चय ही महासचिव वाल्दहीम का उत्तरदायित्व निर्वाह ऊ थाट के मुकाबले सहज बना।

वाल्दहीम के मूल्यांकन में इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि जहाँ भी महासचिव के व्यक्तिगत कौशल और उनकी प्रतिष्ठा के माध्यम से समस्या के हल की बात उठी, वहीं वाल्दहीम असफल-असमर्थ सिद्ध हुए। इसका एक अच्छा उदाहरण ईरान में अमरीकी बंधकों वाला प्रकरण है।

5. **पेरेज दी कुइयार**—वाल्दहीम के अवकाश ग्रहण करते-करते शायद यह बात समझ ली गयी कि यूरोप और एशिया के बाद अब लातीनी अमरीका की बारी है। अतएव पेरू के पेरेज दी कुइयार महासचिव नियुक्त हुए। अब तक यह सोचने का कोई कारण नहीं कि उनका व्यक्तित्व उनके कृतित्व को ऐसे प्रभावित करेगा कि यहाँ प्रस्तुत निष्कर्षों में संशोधन की आवश्यकता पड़े। उन्हें भी दूसरा कार्यकाल मिल चुका है, जिससे यही बात उजागर होती है कि महासचिव योग्य हो या अक्षम, संगठन के सदस्यगण जहाँ तक हो सके, जाने-पहचाने आदमी को ही अपने काम का समझते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में ईरान-इराक युद्ध हो या अफगानिस्तान संकट या फिर दक्षिण अफ्रीकी पचड़ा, महासचिव की निष्क्रियता अब तक अच्छी तरह जगजाहिर हो चुकी है।

सं० रा० संघ और तीसरी दुनिया
(U. N. and the Third World)

सं० रा० संघ का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, आर्थिक विकास, सामाजिक एवं मानव अधिकारों की रक्षा तथा राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया था। इसके प्रारम्भिक सदस्य राष्ट्रों की संख्या 51 थी। उत्तरोत्तर समय में एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के अनेक देश औपनिवेशिक दासता से मुक्त होते गये और उन्होंने इसकी सदस्यता ग्रहण की। आज इसके सदस्य राष्ट्रों की संख्या 161 है जिनमें से करीब 110 तीसरी दुनिया के विकासशील देश हैं, अर्थात् संख्यात्मक शक्ति के हिसाब से तीसरी दुनिया के देश दो तिहाई से अधिक हैं। जहाँ पहले सं० रा० संघ में यूरोपीय देश अपना वर्चस्व बनाये हुए थे, वहाँ अब विकासशील देशों ने उनके

दबदबे को अपनी सख्यात्मक शक्ति के बलबूते पर काफी कमजोर कर दिया है। जैसाकि भारतीय विद्वान टी० एस० रामाराव ने लिखा है—स० रा० सघ एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था है, जिस पर विकासशील राष्ट्रो को बडी आस्था है। इसकी महासभा में उनका बहुमत है और उन्हे लगता है कि वे इसका प्रयोग अपने हित-सवर्धन के लिए कर सकते हैं।

उपलब्धियाँ—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अफ्रो-एशियाई एव लातीनी अमरीकी देशों मे औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति सग्राम प्रारम्भ हुए। स० रा० सघ के जरिये ऐसे अनेक प्रयास किये गये जिससे ज्यादा खून-खराबा हुए बिना कई उपनिवेशों को आजादी हासिल हो सकी। ज्यों-ज्यों नवोदित देश स० रा० सघ की सदस्यता ग्रहण करते गये, त्यों-त्यों इस विश्व सगठन मे राष्ट्रीय मुक्ति सग्रामो के प्रति समर्थन भी बढता गया।

रगभेद तथा जातिभेद मिटाने के लिए स० रा० सघ की महासभा मे अनेक प्रकार के प्रस्ताव पारित किये गये। स० रा० सघ द्वारा समय-समय पर इस सम्बन्ध मे की गयी घोषणाएँ मानव-समाज मे समानता और न्याय पर बल देती हैं दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार द्वारा वहाँ के बहुसख्यक कालो पर थोपे गये बर्बर नस्लवाद की इस विश्व सगठन ने अनेक बार कडी भर्त्सना की तथा सदस्य राष्ट्रों से इस गोरी सरकार के साथ कूटनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक बहिष्कार की अपील की। इसका कई राष्ट्रो ने अनुसरण किया।

अनेक नए राष्ट्रो के उदय ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे उथल-पुथल मचा दी। महाशक्तियों के बहकावे मे आकर या किसी अन्य कारण से वे आपस मे लडने लगे थे। इस लडाई मे सीमा-विवाद प्रमुख रहे हैं। वैसे भी अमरीका और रूस के बीच शीत युद्ध के तनाव के कारण स्थिति सकटपूर्ण थी। इस सिलसिले मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना तथा विकासशील राष्ट्रों मे आपसी विवादो के शान्तिपूर्ण हल मे स० रा० सघ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। स्वेज, बर्लिन, कागो, कोरिया तथा लबनान के विवादो मे इसका योगदान इतना सराहनीय रहा है कि उसने विश्व को तीसरे महायुद्ध के विनाश के कगार पर जाने से रोका।

स० रा० सघ के गैर-राजनीतिक कार्य भी कम महत्वपूर्ण नही रहे हैं। इसके विशिष्ट सगठनो जैसे यूनेस्को, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सगठन, विश्व स्वास्थ्य सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय डाक सघ, दूर सचार सघ, खाद्य एव कृषि सगठन आदि ने सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक और कृषि क्षेत्रो मे ऐसे अनेक कार्य किये है जो तीसरी दुनिया के अल्प विकसित राष्ट्रो के लिए कल्याणकारी साबित हुए हैं। आज स० रा० सघ की 80 प्रतिशत गतिविधियाँ सामाजिक और आर्थिक समस्याओ से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार उसका ध्यान अब मानव समाज व बहुमुखी विकास और कल्याण की ओर बढा है।

असफलताएँ—इतना होते हुए भी स० रा० सघ को निशस्त्रीकरण, हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने तथा दक्षिण अफ्रीका मे बहुसख्यक अश्वेतो के शासन स्थापित करवाने, विकसित एव विकासशील देशो के बीच आर्थिक दूरी कम करने, विकसित एव अविकसित देशों द्वारा समुद्री सम्पदा के उचित दोहन, गरीब राष्ट्रो को उनके कच्चे माल की वाजिब कीमत दिलाने आदि मसलों मे आशिक सफलता ही मिली है।

विकसित देशों ने सं० रा० संघ को एक ऐसा मंच बनाये रखा है जहाँ से वे तीसरी दुनिया के विकासमान राष्ट्रों मे गरीबी मिटाने की बात तो करते हैं, किन्तु उन्होंने अपनी 'कथनी' को 'करनी' में बदलने के लिए कभी दृढ राजनीतिक इच्छा शक्ति का व्यवहार मे प्रयोग नही किया। इसमे दो राय नही कि समृद्ध देश अपनी आय का एक छोटा-सा हिस्सा सं० रा० संघ के माध्यम से दुनिया के अविकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए देते हैं। निश्चय ही इससे इन देशो में लाभकारी योजनाएँ जरूर क्रियान्वित हुई, लेकिन कुछ विकासशील देशो द्वारा इसे अब बाहरी हस्तक्षेप के नजरिये से देखा जाने लगा है, जो एक हद तक सही भी है।

विश्व बैंक का ही उदाहरण लें। विश्व बैंक में पश्चिमी देशो के वर्चस्व के कारण मदद में प्राथमिकता भी तीसरी दुनिया मे पश्चिम-समर्थक राष्ट्रों को ही ज्यादा मिलती है तथा जरूरतमन्द गरीब राष्ट्रों को कम। तिस पर सं० रा० संघ के जरिये विकसित देश आर्थिक सहायता प्रदान कर अल्प-विकसित राष्ट्रों मे वैसा ही आर्थिक एवं तकनीकी विकास करवाना चाहते है जैसा वे चाहते हैं। इससे प्राप्तकर्ता देश की निर्भरता दाता देशो पर और बढती है। यही नही, दाता देश अपनी तकनीकी जानकारी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही करवाते और तकनीकी विशेषज्ञों की जमात को भी अपने देश से ही भेजकर असीमित खर्चों का बोझ उन पर जबरदस्ती थोपते हैं। जहाँ एक ओर इन खर्चों से गरीब राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था की कमर टूट जाती है, वहीं दूसरी ओर विदेशी तकनीकी विशेषज्ञों को मेजबान देश के बारे मे पर्याप्त जानकारी के अभाव के कारण योजनाएँ अधिकांशतः आंशिक सफलता ही प्राप्त कर पाती हैं।

उत्तर-दक्षिण संघर्ष—सं० रा० संघ के सामने एक बडी चुनौती, जो उसके अस्तित्व तक को खतरा पहुँचा सकती है, उत्तर तथा दक्षिण के बीच टकराव की है। अब अमरीका और रूस के बीच उतनी कटुता नही रही। ऐसे कई उदाहरण सामने आये हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो चुका है कि जहाँ अमरीका और रूस की उग्र कटुता धीरे-धीरे घट रही है, वहीं विकसित एवं विकासशील देशो के बीच टकराव की स्थिति बढती जा रही है। सं० रा० संघ के तहत कार्यरत विभिन्न 'अंकटाड' तथा 'समुद्री कानून सम्मेलनों' मे उत्तर अर्थात् विकसित राष्ट्र और दक्षिण अर्थात् तीसरी दुनिया के विकासशील राष्ट्रों के बीच टकराव को स्पष्ट तौर पर पाया जाता है।

उत्तर-दक्षिण संघर्ष को सुलझाने के लिए कुछ वर्षों पूर्व मनीला मे आयोजित अंकटाड सम्मेलन का यहाँ उल्लेख करना वांछनीय होगा। वहाँ विकासशील देशो ने एकता के साथ विकसित देशों से 'व्यापार' मे कुछ रियायतों के लिए परामर्श किया लेकिन समृद्ध राष्ट्रों की हठधर्मिता के कारण उसके परिणाम उत्साहजनक नही रहे।

आस्था कम होने के कारण—हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने का मामला हो या दक्षिण अफ्रीका मे बहुसंख्यक अश्वेतों को शासन-सत्ता सौंपने का, सं० रा० संघ मे तीसरी दुनिया के राष्ट्र संख्यात्मक शक्ति के जोर पर विकसित राष्ट्रों के मुकाबले अपने प्रस्तावों को हमेशा पारित करवाते आये हैं। किन्तु व्यवहार में ऐसे प्रस्तावों का पर्याप्त रूप से क्रियान्वयन नही हुआ है। अभी भी दक्षिण अफ्रीका में अल्पसंख्यक गोरी सरकार शासन में है। असल मे विश्व महाशक्तियाँ ऐसे प्रस्तावों के बारे मे ईमानदार नही है।

उदाहरणार्थ, महाशक्तियो के बीच साल्ट समझौतो और हिन्द महासागर के विसैन्यीकरण के लिए किये गये प्रयासो को ही लें। निशस्त्रीकरण और हिन्द महासागर दोनो के बारे मे स्वय स० रा० सघ ने अनेक प्रस्ताव पारित किये और उसने विश्व के समस्त देशो को इस बारे मे कोई आम राय बनाने के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय पचायत' जैसा मच प्रदान किया। हालाकि अमरीका और रूस निरस्त्रीकरण और हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने के लिए स० रा० सघ मे सैद्धान्तिक तौर पर राजी हो गये किन्तु जब उनके कार्यान्वयन जैसी महत्वपूर्ण बातें आयी तो दोनो चुपके-चुपके एकान्त मे परामर्श करते रहे। अर्थात् निशस्त्रीकरण और हिन्द महासागर जैसे महत्वपूर्ण मसलो पर विकासशील राष्ट्रो से सलाह-मशवरा करना तो दूर रहा, वार्ता के बाद भी उन्होंने न तो उनको विश्वास मे लेने का प्रयत्न किया और न परामर्श की विस्तृत जानकारी दी। ऐसे ही अनेक कारणों से स० रा० सघ मे तीसरी दुनिया के अनेक देशो की आस्था अपेक्षाकृत कम होती गयी है।

इसके बावजूद यह मानना होगा कि स० रा० सघ का विश्व शान्ति एव सुरक्षा कायम रखने मे काफी योगदान रहा है। तीसरी दुनिया के अविकसित राष्ट्रो में भी इसके द्वारा विभिन्न प्रकार के जन-कल्याण कार्य सम्पन्न हुए है। अब यह अन्तर्राष्ट्रीय पचायत समृद्ध या विकसित राष्ट्रो की बपौती नही रह गयी है, जो गरीब राष्ट्रो को अपने इशारो पर नचाये। विगत कुछ वर्षों से विकसित एव विकासशील देशो के बीच टकराव के कुछ नये मुद्दे सामने आये हैं, जिस कारण समय की पुकार यही है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को कायम करना है तो तीसरी दुनिया के समस्त देशो को एकजुट होकर चलना चाहिए। इसके लिए पूर्व शर्त के रूप मे विभिन क्षेत्रो मे स्वय उनमे आपसी सद्भाव एव सहयोग जरूरी है अन्यथा विश्व महाशक्तियाँ एव अन्य विकसित देश उनको 'फूट डालो और राज करो' वाली उक्ति के अनुसार अपनी उगलियो के इशारो पर नचाते रहेगे। स० रा० सघ मे तीसरी दुनिया के राष्ट्र अपनी विशाल सख्यात्मक शक्ति के माध्यम से बड़ी शक्तियों की शोषणकारी नीतियो एव हथकण्डो को नाकाम कर सकते हैं। यह अलग बात है कि बड़ी शक्तियो के पास वीटो होने से तीसरी दुनिया के देशो को आशातीत सफलता मिलने मे अनेक अड़चने महसूस हो सकती हैं। फिर भी, उनकी नैतिक विजय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे उनके लिए कुछ लाभकारी रग अवश्य लायेगी। वस्तुत उपर्युक्त प्रयत्नो की सफलता को अवश्यभावी बनाने के लिए सगठित नीति के साथ नैतिक साहस की भी भारी जरूरत है।

स० रा० सघ मे भारत की भूमिका
(India's Role in the U. N)

भारत इस अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के प्रारम्भिक सदस्यो मे से एक था। 1945 में भारत यद्यपि स्वतन्त्र नही था, पर द्वितीय विश्व युद्ध के समय मित्र राष्ट्र (ब्रिटेन) के उपनिवेश होने के कारण उसने सेन-फ्रान्सिस्को सम्मेलन मे भाग लिया। 1947 मे ब्रिटिश उपनिवेशवाद के पजे से मुक्त होने के बाद उसने स० रा० सघ मे स्वतन्त्र सदस्य राष्ट्र के रूप मे प्रवेश किया। स० रा० सघ विषयक अध्ययन के विशेषज्ञ के० पी० सक्सेना का मानना है कि 'विदेश नीति के उद्देश्यो की दृष्टि मे

गुटनिरपेक्ष भारत के लिए सं० रा० संघ उसकी विदेश नीति का प्रमुख उपकरण और साधन समझा जाता रहा है।''' भारत उन गिने चुने सदस्य राष्ट्रों में है, जिनका क्रियाकलाप यह स्पष्ट दर्शाता है कि वे सं० रा० संघ को सबल बनाना चाहते हैं।'[5]

गुट निरपेक्षता एवं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व भारतीय विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त रहे है, जिनके जरिये हम दुनिया मे शान्ति एवं सुरक्षा लाना चाहते हैं। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए रंगभेद, जातिभेद, नस्लभेद, आर्थिक शोषण, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का आरम्भ से ही डटकर विरोध किया है। इन लक्ष्यों में सफलता पाने के लिए उसने सं० रा० संघ मे सदैव आवाज उठाई है। भारत ने सं० रा० संघ के प्रति यह घोषणा की कि वह विश्व शान्ति एवं सुरक्षा लाने के उसके सभी प्रयत्नों में निःसंकोच होकर हृदय तथा कार्यों से भरपूर सहयोग देगा। भारत उसकी उन सभी गतिविधियों में भाग लेगा, जिनमे उसे भौगोलिक स्थिति, आबादी और शान्तिपूर्ण उन्नति में सहयोग मिल सके।

भारत ने आरम्भ से ही सं० रा० संघ मे अफ्रो-एशियाई एवं लातीनी अमरीकी महाद्वीप के देशो में विद्यमान उपनिवेशवाद की कड़ी आलोचना की और उसे 'मानव गरिमा के अपमान' की संज्ञा दी। उसने कहा कि उपनिवेशवाद विश्व शान्ति एवं प्रगति में बाधक ही नहीं, अपितु सं० रा० संघ चार्टर का स्पष्ट उल्लंघन है। औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलाने के विषय मे भारत ने अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर एक प्रस्ताव रखा। इसे सं० रा० संघ महासभा ने स्वीकार किया। परिणामस्वरूप सं० रा० संघ की महासभा ने 1961 के इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने की जाँच करने के लिए एक विशेष समिति का गठन किया। भारत ने इस समिति का एक सदस्य होने के नाते सदैव सक्रिय भाग लिया। उपनिवेशवाद के तहत ही पला जातिभेद, रंगभेद एवं नस्लवाद का भारत विरोध करता आया है। जब 1946 मे महासभा के पहले अधिवेशन में भारत ने दक्षिण अफ्रीका मे भारतीय मूल के निवासियों के प्रति जातिभेद की नीति का प्रश्न उठाया, तो महासभा ने एक प्रस्ताव पारित कर जातिभेद को सं० रा० संघ के चार्टर के खिलाफ घोषित कर दिया। भारत सरकार ने इससे सम्बन्धित सभी प्रस्तावो के पूर्णरूपेण क्रियान्वयन के लिए दक्षिण अफ्रीका की सरकार के साथ अपने कूटनीतिक, आर्थिक एवं वाणिज्यिक सम्बन्ध तोड़ लिये।

अफ्रो-एशियाई तथा लातीनी अमरीकी उपनिवेश ज्यों-ज्यों औपनिवेशिक दासता से मुक्त होते गये, त्यों-त्यों इस विश्व संगठन के सदस्य-राष्ट्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। नवोदित राष्ट्रों द्वारा सदस्यता पाने का आवेदन करने पर विश्व की बड़ी शक्तियों ने अनेक तकनीकी रोड़े अटकाकर उन्हें इसमे आने से रोका। वियतनाम, कोरिया तथा साम्यवादी चीन के उदाहरण विश्व शक्तियों के षड्यन्त्रों की याद ताजा कर देते हैं। भारत ने इन देशों को सं० रा० संघ में स्थान देने के बारे मे भरसक वकालत की। हालांकि 1962 मे पड़ोसी चीन भारत का शत्रु बन चुका था फिर भी उसने विश्व की बड़ी शक्तियों की इच्छा के विरुद्ध उसको इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मे प्रवेश दिलाने की पूरी कोशिश कर अन्ततोगत्वा सफलता

[5] K. P. Saxena, *The United Nations in India's Foreign Strategy*, in M.S. Rajan et. al., *Ibid*, 188-89.

प्राप्त की।

भारत ने स० रा० संघ में निःशस्त्रीकरण के हरेक प्रयास को भरपूर समर्थन दिया है। भारत का मत है कि शस्त्रास्त्रों पर व्यय की जाने वाली अपार धन राशि मानवता के कल्याण में लगायी जाये। 1958 में महासभा के तेरहवें अधिवेशन में निशस्त्रीकरण के बारे में भारत ने दो प्रस्ताव रखे। पहला, समझौता होने की अवधि तक परमाणु आयुधों के परीक्षण तुरन्त बन्द कर दिये जायें। दूसरा, आकस्मिक आक्रमण बन्द करने की सम्भावना के प्रश्न पर विचार किया जाये। यह भी कहा गया कि निशस्त्रीकरण छोटे एवं बड़े दोनों ही प्रकार के मुल्कों पर समान रूप से लागू हो।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसे अनेक नाजुक क्षण भी आये है, जहाँ राष्ट्रों के मध्य युद्ध भावना से जन्म लिया और महायुद्ध की नौबत तक बात पहुँच गई। ऐसे अवसरों पर भारत ने शान्ति का अग्रदूत बनकर विश्व को विनाश के कगार से बचाया। कोरिया, हिन्द चीन, वियतनाम, स्वेज, हंगरी, कांगो, सीरिया-टर्की विवाद, अल्जीरिया आदि संकटों के दौरान युद्ध भड़काने वाली ज्वाला को भारत जैसे शान्ति-प्रिय राष्ट्र ने ही अपनी सूझबूझ के बल पर शान्त किया।

1945 में स० रा० संघ की स्थापना के वक्त और वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में अनेक परिवर्तन के कारण कई नई चुनौतियाँ मुँह बाए खड़ी रह गयी हैं। इनका महत्वपूर्ण मुकाबला करने में भी भारत अग्रगामी रहा है। मसलन, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों अमरीका व रूस ने तीसरी दुनिया में अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र खोजने आरम्भ किये और उनमें परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध भी करवा दिये किन्तु फिर स्थिति बदली। तीसरी दुनिया के देशों में गुट निरपेक्ष आन्दोलन एवं अन्य मंचों के जरिये उनमें अपेक्षाकृत आपसी एकता स्थापित हुई, जिससे विश्व राजनीति के अनेक मुद्दों के बारे में विश्व महाशक्तियाँ एक तरफ और तीसरी दुनिया के गरीब राष्ट्र दूसरी तरफ आमने-सामने खड़े हो गये। ऐसी अवस्था में महाशक्तियों के शोषण के विरुद्ध भारत गरीब राष्ट्रों की अगुवाई करता रहा है। स० रा० संघ के तत्वावधान में आयोजित विभिन्न मंचों जैसे अंकटाड सम्मेलनों तथा समुद्री कानून सम्मेलनों में भारत तीसरी दुनिया के देशों को एकजुट कर महाशक्तियों की शोषणकारी नीतियों की खिलाफत कर रहा है। वह चाहता है कि नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था समानता एवं न्याय पर आधारित हो।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि विश्व शान्ति एवं सुरक्षा कायम करने के उद्देश्य से स्थापित स० रा० संघ का भारत प्रबल समर्थक रहा है। आरम्भ से ही उसने उसके हरेक शान्ति प्रयासों में भरसक समर्थन दिया है। भारत की सूझबूझ एवं रचनात्मक भूमिका के कारण जहाँ एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय तीसरे महायुद्ध की तबाही से बचा है, वहीं दूसरी ओर तीसरी दुनिया के गरीब राष्ट्र अनेक नई चुनौतियों का मुकाबला करने में अधिक समर्थ हैं। प्रो० एम० एस० राजन का मानना है कि 'भारत जैसे गुट निरपेक्ष देशों ने स० रा० संघ में राजनय को इसलिए प्राथमिकता दी है, क्योंकि बहुपक्षीय राजनय के लिए यह सर्वोत्तम मंच है, हालांकि कभी-कभी ऐसा होता है कि पूर्णतः उभयपक्षीय समस्याओं का अवांछनीय अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो जाता है, जैसा कि 1976 में बंगला देश ने नदी

जल के बँटवारे के प्रश्न पर किया। पर, ऐसे दुरुपयोग से बचा नहीं जा सकता और इन्हें अपवाद ही समझना चाहिए।

सं० रा० संघ के समक्ष आर्थिक संकट
(U. N. in Economic Crisis)

सं० रा० संघ कुछ वर्षों पहले गहरे आर्थिक संकट के दौर से गुजरा। अमरीका व ब्रिटेन ने 'यूनेस्को' जैसी उसकी विशिष्ट एजेन्सी की सदस्यता तो बहुत पहले छोड़ दी, जिससे उसे इन दोनों देशों से बड़ी मात्रा में मिलने वाला चंदा बन्द हो गया और इस एजेन्सी के अनेक कार्यक्रमों के लिए धन की भारी तंगी पैदा हो गयी। मगर कुछ समय बाद स्वयं मातृ-संस्था सं० रा० संघ आर्थिक संकट के घेरे में आ गयी। जहाँ एक ओर अमरीका ने उसके बजट में दिये जाने वाले योगदान को 25 से घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया, वहीं सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय देशों ने उसके कुछ कार्यक्रमों से असहमति प्रकट कर उनके लिए चंदा देने से इंकार कर दिया। कई सदस्य देश उनके लिए निर्धारित चंदा राशि का पूरा भुगतान नहीं कर पाये। इसका कुल मिलाकर प्रभाव यह हुआ है कि सं० रा० संघ को कार्यक्रमों और अधिकारियों-कर्मचारियों में कटौती के बारे में सोचने पर विवश होना पड़ा।

सं० रा० संघ के समक्ष गहरा आर्थिक संकट अमरीकी संसद द्वारा पारित उस कानून से खड़ा हुआ, जिसके तहत अमरीकी सरकार को इस संगठन के बजट में अपना योगदान 25 से घटाकर 20 प्रतिशत करने को कहा। इस संगठन के आधे सदस्य उसके बजट में 0·01% योगदान देते रहे हैं, जबकि अमरीका, सोवियत संघ और आठ अन्य देश मिलकर 80% चंदा देते रहे हैं। सं० रा० संघ के बजट में अमरीका 25%, सोवियत संघ 12·22% और जापान 10·32% मदद देते रहे हैं। सोवियत संघ ने शान्ति व्यवस्था सम्बन्धी कुछ कार्यक्रमों (peace-keeping operations) से असहमत होकर 40 मिलियन डालर की राशि का भुगतान रोक लिया। पूर्वी यूरोप के कुछ देशों ने भी सोवियत संघ का साथ देते हुए इसका भुगतान करने से इंकार कर दिया। 40 अन्य देश भी निर्धारित चंदा राशि का पूरा भुगतान नहीं कर पाये।

अप्रैल, 1986 में सं० रा० संघ की महासभा का 40वाँ अधिवेशन हुआ, जिसमें महासचिव पेरेज दी कुइयार ने बताया कि 1985 के अन्त में संगठन पर 242 मिलियन डालर का कर्ज था। यदि इस बारे में ठोस कदम नहीं उठाये गये तो 1986 में यह कर्ज बढ़कर 275 मिलियन डालर हो जायेगा। वर्ष 1984–85 के लिए 80 देशों ने निर्धारित राशि का पूरा भुगतान नहीं किया, जबकि 1985–86 के लिए मात्र 14 देशों ने ही पूरा भुगतान किया। पश्चिमी और विकासशील देशों ने सं० रा० संघ शरणार्थी, मानवीय विषयक आर्थिक एवं विपदा राहत गतिविधियों के लिए 1983 में 425 मिलियन डालर चंदा दिया, जबकि 1984 में 427 मिलियन डालर था। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय देशों ने इन दो वर्षों में उक्त गतिविधियों के लिए एक भी डालर नहीं दिया।

नवम्बर, 1987 तक तो स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि महासचिव कुइयार ने पहली बार सार्वजनिक तौर पर यह घोषणा की कि सं० राष्ट्र संघ लगभग दिवालिया हो चुका है तथा उसके पास अगले माह का वेतन देने के लिए पर्याप्त धन तक नहीं है।

उन्होंने कहा कि संगठन के सबसे बड़े अंशदाता तथा देनदार अमरीका ने अपने हिस्से का 34 करोड़ 28 लाख डालर अभी तक जमा नहीं कराया है। संगठन के तत्कालीन 159 सदस्य राष्ट्रों में से 93 ने अभी तक अपने हिस्से का 45 करोड़ 64 लाख डालर का भुगतान नहीं किया, जबकि वे उसे देने का वचन दे चुके हैं। यह राशि संगठन के सालाना बजट 80 करोड़ डालर की लगभग आधी है। दिसम्बर, 1987 में कुइयार ने कहा कि स० रा० संघ अपने अभूतपूर्व वित्तीय संकट से निपटने के लिए अब खुले बाजार से कर्ज लेने की सम्भावना पर विचार कर रहा है। वह ऋण-पत्र अथवा बांड जारी किये जाने के लिए महासभा से अनुमति मांगे जाने पर भी विचार कर रहा है। कुइयार चाहते थे कि स० रा० संघ की महासभा उन्हें पाँच करोड़ डालर का ऋण लेने की इजाजत दे दे। उल्लेखनीय है कि स० रा० संघ ने इससे पहले खुले बाजार से कभी भी ऋण लेने का प्रयास नहीं किया।

अफगान शरणार्थी आदि मामलों पर असहमति के कारण जहाँ एक ओर सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय देश चंदा देने से इंकार करते रहे, वहीं दूसरी तरफ अमरीका, फिलस्तीन और नामीबिया से सबद्ध मसलों पर अड़गा डालकर योगदान रोकता रहा है। अमरीका का कहना है कि जब तक उसे मतदान में प्रभावी भूमिका नहीं दी जाती, तब तक वह पाँच प्रतिशत कटौती जारी रखेगा। उसने और भी कटौती की धमकी दी है। हालांकि सुरक्षा परिषद् में पाँच बड़ी शक्तियों को मतदान में निषेधाधिकार (वीटो) प्राप्त है, लेकिन अन्यत्र 'एक देश, एक मत' का सिद्धान्त, संगठन की स्थापना के वक्त से ही लागू है। अमरीका का तर्क था कि कई राष्ट्र स० रा० संघ को अपने निहित स्वार्थों, प्रोपेगेंडा और अमरीका के खिलाफ संघर्ष के लिए साधन के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं।

विभिन्न राष्ट्रों द्वारा चंदे में कटौती या कतिपय कार्यक्रमों के लिए चंदा देने से इंकार करने से स० रा० संघ के कुछ कार्यक्रमों पर अमल में बाधाएँ खड़ी हो गईं। मगर बाद में अमरीका, सोवियत संघ, जापान आदि ने सकारात्मक रुख अपनाते हुए स० रा० संघ को 'समुचित चंदा' देना शुरू कर दिया, जिससे उसका आर्थिक संकट काफी कम जरूर हुआ, किन्तु आज भी उसके पास आर्थिक ससाधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। इस मुद्दे पर विचार के लिए बनी 18 सदस्यीय समिति ने अपनी रिपोर्ट दी। उसके प्रमुख सुझाव थे—संगठन के अधिकारियों-कर्मचारियों में 15 प्रतिशत की कटौती, कम बैठकों का आयोजन, कम दस्तावेज बनाना, नौकरशाही का पुनर्गठन आदि।

इन सकारात्मक सुझावों पर अमल होना ही चाहिए, मगर संगठन के कुछ बेतुके कार्यक्रमों पर भी रोक लगनी चाहिए। मतदान में प्रभावी भूमिका सम्बन्धी अमरीका की माँग नहीं मानी जा सकती, क्योंकि संगठन की स्थापना के वक्त सुरक्षा-परिषद को छोड़कर अन्यत्र 'एक राष्ट्र, एक मत का सिद्धान्त' तय किया गया था। इसे अब बदलना व्यावहारिक नहीं क्योंकि किसी बड़े राष्ट्र को हर जगह उसके योगदान को देखकर मतदान में प्रभावी भूमिका देने से उनकी मनमानियाँ बढ़ेंगी और नई परेशानियाँ पैदा होंगी। फिर भी संगठन में अनेक संरचनात्मक सुधार कर उसके कार्यक्रमों को जरूर अधिक सार्थक बनाया जा सकता है।

सं० रा० संघ की विफलताएँ
(Failures of the U. N.)

सं० रा० संघ की जहाँ अनेक सफलताएँ रही हैं, वहाँ अनेक क्षेत्रों में यह विफल भी रहा है। इन विफलताओं को इसकी आंशिक सफलता भी माना जा सकता है। संक्षेप में उसकी विफलताएँ निम्नांकित हैं—

(अ) यह शस्त्रीकरण की होड को रोकने में असफल रहा है।

(ब) यह अपने जीवन के साढे चार दशक बीत जाने के बावजूद दक्षिण अफ्रीका में अल्पसंख्यक गोरों को हटाकर बहुसंख्यक कालों को शासन सत्ता सौंपने में अब तक सफल नहीं हुआ है।

(स) यह अनेक स्थानों पर युद्ध रोकने में अवश्य सफल हुआ है, किन्तु समस्या का स्थायी हल ढूंढ पाने में विफल रहा है—मसलन, भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर-समस्या।

(द) विश्व के गरीब और अमीर देशों के बीच विवादास्पद मुद्दों के बारे में उसने अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं की है—मसलन, नई विश्व अर्थव्यवस्था, समुद्री सम्पदा का उचित दोहन आदि।

सं० रा० संघ की असफलता के कारण

सं० रा० संघ की असफलता के लिए अनेक कारण जिम्मेदार रहे हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नांकित हैं—

(अ) इसका ढाँचा दोषपूर्ण है। मसलन, 'वीटो' के अधिकार से सुरक्षा परिषद में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है जिससे वह विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के लिए समुचित कार्रवाई नहीं कर पाता।

(ब) अनेक राष्ट्रों के संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के कारण वह कुशल ढंग से कार्य नहीं कर पाया है।

(स) उसके पास कार्यपालिका शक्ति नहीं होने के कारण वह अपने निर्णयों को भलीभाँति क्रियान्वित नहीं कर पाया है।

(द) विश्व की बड़ी शक्तियों ने सं० रा० संघ को विश्व शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने में अपेक्षित सहयोग नहीं दिया। उन्होंने उसको तुच्छ राष्ट्रीय हितों के कारण प्रतिस्पर्धा का अखाड़ा बना दिया।

(य) स्वतन्त्र वित्त नहीं होने के कारण वह सामाजिक एवं आर्थिक कल्याण के अनेक कार्य सम्पादित नहीं कर सका।

(र) महाशक्तियों ने सं० रा० संघ के माध्यम को छोड़कर द्विपक्षीय समझौते कर समस्याएँ सुलझाने की अनेक कोशिशें की हैं। साल्ट-एक और साल्ट-दो समझौते इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। इससे सं० रा० संघ के प्रभाव का ह्रास हुआ है।

सं० रा० संघ की उपलब्धियाँ
(Achievements of the U. N.)

सं० रा० संघ की प्रमुख उपलब्धियों को संक्षेप में निम्नांकित बिन्दुओं में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

(1) स० रा० संघ ने अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय संकटों में दूरदर्शितापूर्ण कदम उठाकर विश्व को तीसरे महायुद्ध के विनाश से बचाया।

(2) इसने विश्व शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने में सराहनीय कार्य किया है।

(3) इसने राष्ट्रों में आपसी चहुँमुखी सहयोग बढ़ाकर अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का वातावरण तैयार किया।

(4) निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में इसने अनेक प्रयास किये हैं।

(5) मानवाधिकार-रक्षा में इसने अनेक कदम उठाये हैं।

(6) राष्ट्रों में आपसी तनाव की स्थिति में यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क-स्थल या मंच प्रदान करता है।

(7) इसने विश्व-स्तर पर व्यापक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय भावना विकसित की है।

(8) इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में योगदान दिया है।

(9) इसने राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त अनेक सामाजिक तथा आर्थिक कार्य सम्पादित किये हैं, जिनके बिना विश्व शान्ति एवं सुरक्षा अधूरी रह जाती।

स० रा० संघ के समक्ष नई चुनौतियाँ
(New Challenges before the U N)

स० रा० संघ की स्थापना अक्टूबर, 1945 में हुई थी। तब की और आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन आ गये हैं। इससे संगठन के समक्ष अनेक नई चुनौतियाँ उपस्थित हो गयी हैं जिनका मुकाबला करना समय की सबसे बड़ी पुकार है। ये नई चुनौतियाँ संक्षेप में निम्नांकित हैं—

(अ) घातक परमाणु शस्त्रों का निर्माण विशाल मात्रा में बढ़ रहा है। इसको रोकना बहुत जरूरी है।

(ब) समुद्री सम्पदा के दोहन को लेकर विकसित और विकासशील देशों में मतभेद बढ़ रहे हैं। इनके बीच सहमति स्थापित कराना आवश्यक है।

(स) विकासशील देशों के पास आर्थिक विकास के लिए तकनीकी ज्ञान की कमी है, जिसको विकसित देश देने को तैयार नहीं हैं। इस सम्बन्ध में स० रा० संघ को ठोस कदम उठाना चाहिये।

(द) विकसित देश विकासशील देशों के परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण प्रयोग में अनेक प्रकार की बाधाएँ पैदा कर रहे हैं। इनको स० रा० संघ द्वारा रोका जाना चाहिए।

(य) विकसित देश विकासशील देशों से कच्चे माल को अत्यधिक सस्ते दामों पर खरीदते हैं तथा आकाश छूने महँगे दामों पर अपना तैयार माल खरीदने के लिए उन्हें विवश करते हैं। इस बारे में स० रा० संघ को ठोस प्रयास करना चाहिए।

स० रा० संघ को मजबूत बनाने के सुझाव

स० रा० संघ ने जहाँ अनेक सफलताएँ हासिल की हैं वहीं कुछ असफलताएँ भी रही हैं। इन असफलताओं के लिए जिम्मेदार कारणों का पता लगाकर उसको मजबूत करना समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस सिलसिले में कतिपय सुझाव

निम्नांकित है—

(1) चार्टर में संशोधन व्यवस्था को आसान बनाया जाये—सं० रा० संघ के चार्टर मे संशोधन के लिए अत्यन्त कठोर व्यवस्था की गयी है। किसी भी संशोधन के लिए महासभा के 2/3 बहुमत और सुरक्षा परिषद के 5 स्थायी सदस्यो सहित 9 अन्य सदस्यो के बहुमत का समर्थन आवश्यक है। ऐसी कठोर व्यवस्थाओ के कारण बदलती अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे चार्टर मे आवश्यक संशोधन नही हो सके। अत चार्टर मे संशोधन व्यवस्था को आसान किया जाना चाहिये ताकि विश्व शान्ति और सुरक्षा स्थापित कराने मे सगठन प्रभावी ढग से कार्य कर सके।

(2) चार्टर की व्याख्या की समस्या का निराकरण किया जाये—लोकतन्त्रीय देशो मे संविधान की आधिकारिक व्याख्या करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को दिया जाता है। किन्तु स० रा० संघ चार्टर की धाराओ की आधिकारिक व्याख्या करने का अधिकार किसे है, इस बारे मे निश्चित व्यवस्था का अभाव है। परिणाम-स्वरूप संगठन के सदस्य राष्ट्रो द्वारा संकीर्ण राष्ट्रीय हितो के वशीभूत होकर चार्टर की व्यवस्थाओ की मनमानी व्याख्या करने का खतरा सदैव बना रहता है। महासभा के पारित प्रस्ताव कानूनी रूप से बाध्यकारी है या नही, इस प्रश्न पर अभी तक सहमति नही हो पायी है। अत. क्यो नही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को चार्टर की आधिकारिक व्याख्या करने का अधिकार सौपा जाये।

(3) सदस्यता का प्रश्न हल किया जाय—चार्टर के अनुच्छेद 4 मे सदस्यता सम्बन्धी विषय मे कहा गया है कि इच्छुक राष्ट्र शान्ति-प्रेमी और चार्टर मे दिये गये दायित्वों को पूरा करने की इच्छा और योग्यता रखता हो। इसके अलावा पांच स्थायी सदस्यो सहित सुरक्षा परिषद के बहुमत की सिफारिश और महासभा के दो-तिहाई सदस्यो के बहुमत का समर्थन आवश्यक है। स० रा० संघ को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का स्वरूप देने के लिए उक्त व्यवस्थाएँ अनुचित नही है, किन्तु व्यवहार में इनका बड़ी शक्तियो ने दुरुपयोग कर अनेक देशो को सदस्य बनने से रोका है। सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यो की आम सहमति की व्यवस्था सं० रा० संघ के सदस्य बनाने के लिए बहुत सख्त है। इसे समाप्त किया जाना चाहिये ताकि इसकी योग्यता को पूरा करने वाले राष्ट्रों को सदस्यता प्राप्त करने मे किसी भी प्रकार की दिक्कत का सामना न करना पड़े।

(4) क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण करने की व्यवस्था मे सुधार हो—चार्टर के अनुच्छेद 51 एवं 52 मे सदस्य राष्ट्रो को क्षेत्रीय संगठन बनाने की इजाजत दी गयी है। साथ ही यह भी कहा गया है कि क्षेत्रीय संगठन स० रा० संघ के सहायक के रूप मे कार्य करेंगे। इसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि क्षेत्रीय सगठनो द्वारा सदस्य राष्ट्र आपसी सहयोग करें तथा क्षेत्रीय समस्याओ को इनके जरिये सुलझायें। किन्तु व्यवहार में यह उल्टा साबित हुआ है। नाटो, वारसा आदि क्षेत्रीय सैनिक संगठनों ने जहाँ एक ओर क्षेत्रीय समस्याओ को भडकाया वहीं दूसरी ओर सहायक के रूप मे कार्य करने के बजाय उन्होने स० रा० संघ के सामने अनेक संकट पैदा किये। चार्टर में ऐसे क्षेत्रीय सगठनो को स्थापित करने की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया जाये ताकि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव से बचा जा सके।

(5) आय के स्वतन्त्र एवं विश्वसनीय स्रोतों की व्यवस्था हो—स० रा० संघ के आय के स्रोत स्वतन्त्र एवं विश्वसनीय नही है। सदस्य राष्ट्र अपनी इच्छा

एवं सामर्थ्य के आधार पर खर्चे के लिए धनराशि देते हैं। बड़ी शक्तियाँ छोटे राष्ट्रों की अपेक्षा ज्यादा धनराशि देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि संगठन अपने कार्यों को सम्पादित करने के लिए बड़ी शक्तियों पर निर्भर हो जाता है। वह स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर पाता। स्वेज और कांगो संकटों का उदाहरण ही लिया जाये, जहाँ क्रमशः फ्रांस और सोवियत संघ ने शान्ति सेनाओं (यू० एन० इ० एफ०) के खर्चे के अपने हिस्से का यह तर्क देकर भुगतान नहीं किया कि चार्टर की व्यवस्थानुसार इन्हें सुरक्षा परिषद द्वारा प्राधिकृत नहीं किया गया है। इस कटु अनुभव के बाद आवश्यक हो गया है कि स० रा० संघ के लिए अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्गों एवं यात्रियों पर कर लगाने तथा अन्य अनेक निश्चित अनुदान व्यवस्थाओं द्वारा स्वतन्त्र एवं विश्वसनीय आय के स्रोत तय किये जायें।

स० रा० संघ का भविष्य
(Future of the U. N.)

स० रा० संघ के भविष्य के बारे में विद्वानों के मोटे तौर पर दो प्रकार के विचार हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह संगठन अधिकतर अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के हल में असफल रहा है जिससे उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं माना जा सकता। किन्तु अधिकांश विद्वानों का विचार है कि उसका भविष्य उज्ज्वल है। वे यह बात स० रा० संघ की असफलताओं का हवाला देते हुए तुलनात्मक मूल्यांकन करके प्रकट करते हैं। इस बारे में क्लार्क एम० आइकेलबर्जर का कहना है कि 'राष्ट्रों ने भले ही कुछ क्षणों के लिए इसकी उपेक्षा की हो किन्तु प्रायः वे इसमें लौट आते हैं, क्योंकि यही एक ऐसा माध्यम है जहाँ विश्व की समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है।'[1] प्लानो एवं रीग्स (Plano and Riggs) के अनुसार 'अनेक बार तो स० रा० संघ की उपस्थिति मात्र ने ही प्रतिद्वन्द्वियों को सन्तुलित किया है और घटनाओं की दिशाओं पर प्रभाव डाला है।'[2] पामर एवं परकिन्स का मानना है कि स० रा० संघ ने अपने आपको राष्ट्रों के जीवन में अपरिहार्य बना दिया है।[3] इस प्रकार स० रा० संघ अन्तर्राष्ट्रीय समाज में एक कार्यात्मक वास्तविकता (a working reality) बन गया है।

असल में स० रा० संघ के भविष्य को खराब बताने वाले विशेषज्ञ अनेक बातों को भूलते हैं। वे संगठन की उन मर्यादाओं-सीमाओं को नजरअन्दाज करते हैं जिस कारण वह विश्व शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने में अपेक्षित सफलताएँ हासिल नहीं कर पाया। उसकी प्रमुख मर्यादाएँ-सीमाएँ निम्नांकित हैं—

(क) राष्ट्रीय सरकार की तरह स० रा० संघ कोई विश्व सरकार नहीं है, जिस कारण वह अपने निर्णयों को मानने के लिए राष्ट्रों को बाध्य नहीं कर सकता।

(ख) राष्ट्रीय सरकार के समान उसके पास अपनी सेना नहीं है जो कहीं आक्रमण होने पर उचित सैनिक कारवाई कर सके।

[1] क्लार्क एम० आइकेलबर्जर की पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० 6।

[2] प्लानो एवं रीग्स की पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० 56।

[3] 'The U. N. has made itself indispensible in the lives of nations' —पामर एवं परकिन्स की पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० 378।

(ग) महाशक्तियों को 'वीटो' का अधिकार दे देने से वह अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संकटों में असमर्थ हो जाता है।

(घ) सं० रा० संघ विश्व सरकार न होकर राष्ट्रों के मध्य वाद-विवाद के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय मंच की सुविधा प्रदान करता है।

इस प्रकार यदि सं० रा० संघ की उपरोक्त मर्यादाओं को मद्दे नजर रखते हुए उसकी असफलताओं और सफलताओं का मूल्यांकन किया जाये तो निसकोच कहा जा सकता है कि उसका भविष्य उज्जवल है। अनेक असफलताओं के बावजूद उसकी सफलताएँ भी कम नहीं हैं, जिससे आशा की जा सकती है कि वह अपनी स्थापना के घोषित उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल होगा। यदि हम चाहते हैं कि सं० रा० संघ 21वीं शताब्दी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाये और तीसरी दुनिया के देश इसकी गतिविधियों में महाशक्तियों के पिछलग्गू भर न बने रहे तो नवोदित राष्ट्रों के नेताओं को अपने दिलो दिमाग अच्छी तरह टटोलने होंगे तथा उन्हें अपना अभिगम अनुशासित, मानवाधिकारों का पोषण करने वाला और जनतान्त्रिक रखना होगा।

नवाँ अध्याय

निशस्त्रीकरण

विनाशकारी युद्धों के पीछे शस्त्रीकरण की होड़ प्रमुख कारण रही है। इसी सदी में प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध हुए, जो राष्ट्रों द्वारा शस्त्रीकरण के क्षेत्र में शक्ति-सन्तुलन की सीमा लांघ जाने की प्रक्रिया या उससे जुड़े हुए भय के कारण भड़के थे। पहले विश्व युद्ध के बाद पेरिस शान्ति-सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जर्मनी और उसके मित्र देशों को विसैन्यीकृत (Demilitarised) घोषित करके उनकी सैनिक शक्ति और शस्त्रीकरण की सीमा पर रोक लगा दी थी। किन्तु इससे यूरोप के देशों में शस्त्रीकरण की होड़ कम नहीं हुई। अतएव 1920 और 1936 के बीच अनेक सम्मेलनों के द्वारा विश्व की प्रमुख शक्तियों ने निशस्त्रीकरण की दिशा में कुछ निर्णय लिये। उनका कारगर साबित न होना द्वितीय विश्व युद्ध को भड़काने का प्रमुख कारण था। इस कारण द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही मित्र-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने विश्व में कारगर ढंग से निशस्त्रीकरण लागू करने की दिशा में महत्वपूर्ण बातचीत कर ली थी।

द्वितीय विश्व युद्ध की भयानक विभीषिका के बावजूद विश्व का साम्यवादी और गैर-साम्यवादी खेमों में बँटना निशस्त्रीकरण का घोर शत्रु साबित हुआ। सोवियत संघ और अमरीका दोनों परमाणु शस्त्रों की होड़ में एक-दूसरे को पीछे छोड़ देने की नीयत से अधिकाधिक परमाणु शस्त्रास्त्र जमा करने लगे, जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी शामिल हो गये। परमाणु आयुधों की विनाशकारी शक्ति को मद्दे नजर रखते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक-दार्शनिक आइन्सटीन ने कहा था—'तीसरा विश्व युद्ध यदि परमाणु हथियारों से लड़ा गया, तो मानव-सभ्यता जड़मूल से नष्ट हो जायेगी और उसके बाद कोई भी आगामी युद्ध पत्थरों और लाठियों से ही लड़ा जायेगा।'

शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा के बावजूद बड़ी शक्तियों ने निशस्त्रीकरण और परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने के लिए समय-समय पर कोशिशें की, जिनका दायरा सं० रा० संघ के तहत और फिर उसके बाहर भी फैल गया। इस दृष्टि से महाशक्तियों द्वारा परमाणु प्रसार रोक सन्धि तथा अमरीका और सोवियत संघ के बीच साल्ट-सन्धियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फिर भी विश्व शक्तियों के बीच आपसी मनमुटाव इतने गहरे हैं कि समस्त मानव-जाति की इच्छा के बावजूद वे निशस्त्रीकरण पर कोई निश्चित कार्यवाही नहीं कर पायी है।

निशस्त्रीकरण की परिभाषा
(Disarmament Definition)

निशस्त्रीकरण की सही एवं स्पष्ट परिभाषा देने में इस विषय से सम्बन्धित विद्वान आज तक असफल रहे हैं। फिर भी मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि

निशस्त्रीकरण विनाशकारी शस्त्रास्त्रों पर रोक के लिए दो देशों की सरकारों द्वारा सीधी बातचीत एवं प्रयत्नों से लिये गये उक्त दिशा में ऐसे निर्णयों को प्रतिपादित करता है, जिन्हें लागू करने न केवल शस्त्रों, बल्कि सैनिक साज-सामग्री और सेनाओं की वृद्धि, उत्पादन और नव-अन्वेषणों पर रोक लगायी जाती हो। उक्त ढाँचे में ही निशस्त्रीकरण एक से अधिक राष्ट्रों के बीच आपसी बातचीत द्वारा भी लागू किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद किये गये प्रयत्नों में स० रा० संघ के माध्यम से विश्व के सभी देशों ने निशस्त्रीकरण की दिशा में अपने मत प्रस्तुत किये हैं और बहुमत के निर्णयों को माना है। परमाणु हथियारों से सम्पन्न राष्ट्रों के 'परमाणु क्लब' ने भी समय-समय पर परमाणु शस्त्रों की सीमाओं पर रोक तथा विस्फोटों के कुछ निश्चित नियम बनाने की दिशा में बातचीत कर कुछ निर्णय लिये हैं। इसके अतिरिक्त दोनों महाशक्तियों—सोवियत संघ और अमरीका ने आपसी बातचीत से भी इसे सुलझाने की कोशिश की है। किन्तु खेद है कि परम्परागत शस्त्रों पर रोक के लिए कोई ठोस बातचीत अब तक नहीं हो सकी है जबकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद होने वाले युद्धों में सर्वाधिक विनाश इन्हीं परम्परागत हथियारों से हुआ है।

निशस्त्रीकरण के विभेद
(Types of Disarmament)

'निशस्त्रीकरण' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किये जाने से इसका निश्चित अर्थ तथा परिभाषा तय करने में अनेक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। इस कारण इससे मिलते-जुलते शब्दों के अर्थ का तुलनात्मक अध्ययन करना उचित होगा। ये शब्द हैं—गुणात्मक निशस्त्रीकरण (Qualitative Disarmament), मात्रात्मक निशस्त्रीकरण (Quantitative Disarmament), सामान्य निशस्त्रीकरण (General Disarmament), व्यापक निशस्त्रीकरण (Comprehensive Disarmament) और शस्त्र नियन्त्रण (Arms Control)। इन शब्दों का अर्थ तुलनात्मक दृष्टि से अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है।

निशस्त्रीकरण की आवश्यकता

दुनिया में आज इतने घातक शस्त्रास्त्र बन गये हैं कि उनके प्रयोग से कुछ मिनटों में व्यापक स्तर पर विनाश सम्भव है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आशा जगी थी कि राष्ट्र अपने संकीर्ण हित त्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देंगे। *लेकिन ऐसा नहीं हुआ* और शस्त्रीकरण की होड़ तेज होती गयी। इस प्रकार, निशस्त्रीकरण कई कारणों से जरूरी समझा गया। प्रमुख कारण निम्नांकित हैं—

(1) शस्त्रीकरण से युद्ध की सम्भावना—विश्व राष्ट्रों में शस्त्रों की होड़ के कारण युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती है जिससे अपार जन एवं धन की हानि होती है। प्रथम विश्व युद्ध होने का प्रमुख कारण भी राष्ट्रों में शस्त्रों की होड़ ही था। शस्त्र-उत्पादन पर असीमित व्यय कर शासक उनका युद्ध में इस्तेमाल करके जनता को यह दिखाते हैं कि हम पर किया गया खर्च राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण मामले पर था। मसलन, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमरीका ने जापान के हिरोशिमा और

नागासाकी नगरों पर बम गिराये। इस बम के उत्पादन पर अमरीका ने अरबों डालर व्यय किया था। बम का प्रयोग कर अमरीकी शासकों ने अपनी जनता को परोक्ष रूप से यह दर्शाना चाहा था कि खर्च किया गया धन व्यर्थ नहीं गया। इनिस क्लोड ने ठीक ही कहा है—'शस्त्रों से राष्ट्र-नेताओं को युद्ध में कूदने का प्रलोभन हो जाता है।'[1] अत निशस्त्रीकरण का मार्ग अपनाकर विश्व समाज को महायुद्ध से होने वाली अपार जन एवं धन की हानि को रोका जाना अत्यन्त जरूरी है।

निशस्त्रीकरण के विभेद	
गुणात्मक निशस्त्रीकरण	'कुछ खास किस्म के शस्त्रों पर सीमा या रोक' लगाने को गुणात्मक निशस्त्रीकरण कहा जाता है।
मात्रात्मक निशस्त्रीकरण	'समस्त प्रकार के शस्त्रों के नियन्त्रण' को मात्रात्मक निशस्त्रीकरण कहा जाता है।
सामान्य निशस्त्रीकरण	इसमें सभी या अधिकांश महाशक्तियाँ भाग लेती हैं, किन्तु उनके लिए यह जरूरी नहीं है कि वे समस्त प्रकार के शस्त्रों के त्याग के लिए प्रतिबद्ध हों।
व्यापक निशस्त्रीकरण	इसमें समस्त प्रकार के सभी शस्त्रों का नियन्त्रण व निषेध होता है। इसे पूर्ण या सम्पूर्ण निशस्त्रीकरण (total-disarmament) भी कहा जाता है। इसके द्वारा अन्ततोगत्वा ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था लाना है जिसमें युद्ध से सम्बन्धित सभी मानवीय और भौतिक साधन समाप्त कर दिये जायें।
शस्त्र नियन्त्रण	*शस्त्र नियन्त्रण शब्द भविष्य के शस्त्रों के नियन्त्रण के* सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जाता है। निशस्त्रीकरण, शस्त्रों पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करता है, जबकि शस्त्र नियन्त्रण शस्त्रों की होड रोकने का प्रयत्न है।
निशस्त्रीकर	मोटे तौर पर निशस्त्रीकरण का प्रयोग शस्त्रों की सीमा निश्चित करने या उनको नियन्त्रित करने या उन्हें घटाने के अर्थ में होता है।

(2) शस्त्रीकरण से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होना—राष्ट्रों में शस्त्र-निर्माण की होड अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा भंग करती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ता है। विभिन्न राष्ट्रों में राष्ट्रीय हितों का टकराव अस्वाभाविक तथ्य नहीं है। इस टकराव में शस्त्रीकरण आग में घी का काम करता है और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रख्यात जानकार हैडली बुल ने कहा कि 'शस्त्रों की होड स्वयं ही तनाव की

[1] 'The instant availability of armaments makes it feasible or even tempting for statesmen to plunge into war' —Inis L. Claude, Jr, *Swords into Ploughshares*, (New York, 1971), 237

अभिव्यक्ति है।'[1] इसलिए निशस्त्रीकरण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ने से रोका जा सकता है।

(3) **शस्त्रीकरण पर असीमित खर्च से जन कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा**—शस्त्र उत्पादन में असीमित संसाधन व्यय किये जाते हैं। विश्व के छोटे-बड़े सभी राष्ट्र ऐसा करते हैं। अनेक बड़े देशों द्वारा अरबों डालर खर्च करके ऐसे परमाणु बम एवं प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण किया गया है, जिनका भविष्य में प्रयोग किये जाने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती। कुछ समय बाद ये शस्त्रास्त्र नष्ट कर दिये जायेंगे और नई खोज करके और महँगे शस्त्रों का निर्माण किया जायेगा। दूसरी तरफ अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय व्यापक रूप से भुखमरी, बेरोजगारी आदि जैसी गम्भीर समस्याओं से पीड़ित है। यदि शस्त्रीकरण पर किया जाने वाला अनाप-शनाप खर्च जन-कल्याणकारी कार्यों पर लगाया जाये तो उक्त मानवीय समस्याएँ सुलझायी जा सकती है। यह मानवता की महान सेवा होगी। इस प्रकार शस्त्रीकरण पर किया जाने वाला असीमित खर्च निशस्त्रीकरण का मार्ग अपनाकर बचाया जा सकता है और उसे जन-कल्याणकारी कार्यों पर खर्च किया जाना चाहिए। सेमूर मैलमैन ने शस्त्रों की होड़ के विकल्प के रूप में 'पीस रेस' अर्थात् शान्ति की होड़ का विचार सुझाया है। उसका कहना है कि हथियारों पर खर्च होने वाले संसाधन विश्व में औद्योगिकीकरण के विस्तार और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने पर लगाये जायें।[2] कमोबेश यही विचार एमिटाई एट्जियोनी ने भी सुझाया है। उनका कहना है कि 'अमरीका के लिए सोवियत संघ के साथ हो रहे 'युद्ध' में विजय पाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि वह अल्प विकसित देशों के विकास कार्यक्रमों में मदद देने में सोवियत संघ के साथ प्रतियोगिता करे।'[3] इस प्रकार यदि शस्त्रों पर होने वाला खर्च सृजनात्मक विकास कार्यक्रमों में लगाया जाये, तो निशस्त्रीकरण सम्पूर्ण मानव समाज की भलाई में महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है।

(4) **शस्त्रीकरण नैतिकता के खिलाफ**—शस्त्रीकरण युद्ध को जन्म देकर मानव समाज को विनाश की ओर ढकेलता है। इस कारण यह नैतिकता के खिलाफ है। कई धर्म गुरुओं, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तथा प्रबुद्ध लेखकों का तर्क है कि किसी भी अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन भी उतने ही विशुद्ध होने चाहिएँ। मसलन, यदि कोई राष्ट्र शत्रु देश से सुरक्षा के लिए शस्त्रों का उत्पादन करता है तो यह नैतिकता के खिलाफ है, क्योंकि ऐसा शस्त्रीकरण युद्ध को जन्म देता है। युद्ध रूपी अनुचित साधन से किसी भी अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति नैतिक रूप से न्यायोचित नहीं ठहरायी जा सकती।[4]

(5) **शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप**—शस्त्रीकरण दूसरे देशों द्वारा हस्तक्षेप का मार्ग भी प्रशस्त करता है। विश्व के छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों से शस्त्र तथा

[1] 'Arms race itself is a manifestation of inherent tension and hence disarmament can be brought only in the wake of a political agreement'—Hedley Bull, *The Control of the Arms Race*, (London, 1961), 7-8

[2] विस्तृत विश्लेषण के लिए देखें—Seymour Melman, *The Peace Race* (New York, 1962).

[3] देखें—Amitai Etzioni, *Winning Without War* (New York, 1964).

[4] नैतिक पहलू के विस्तृत विवेचन के लिए देखें—Victor Gollancz, *The Devil's Repertoire or Nuclear Bombing and the Life of Man* (London, 1958)

शस्त्रीय प्रौद्योगिकी का आयात करते हैं। आम तौर पर यह देखा गया है कि बड़े राष्ट्र शस्त्र-निर्यात और शस्त्र सहायता को राजनीतिक दबाव के साथ देते हैं, ताकि परोक्ष रूप से प्राप्तकर्ता-देश दाता-देश पर निर्भर रहें। यही नहीं, शस्त्र-निर्यात एवं शस्त्र सहायता के जरिये बड़े देश छोटे देशों की अर्थव्यवस्था में भी घुसपैठ करते हैं। मसलन अमरीका ने 'नाटो', 'सिएटो', 'सेन्टो' तथा सोवियत संघ ने 'वारसा पैक्ट' द्वारा इनके सदस्य-राष्ट्रों को शस्त्र निर्यात किये एवं शस्त्र सहायता दी। उन्होंने इसके जरिये उन्हें विज्ञान में लेकर उनकी अर्थव्यवस्था में घुसपैठ की। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में बाहरी घुसपैठ उसको दूसरों पर निर्भर बना देती है और यह कई बार राजनीतिक हस्तक्षेप का भी मार्ग प्रशस्त करती है। अतः तीसरी दुनिया के गरीब मुल्कों में बाह्य हस्तक्षेप रोकने के लिए आवश्यक है कि शस्त्रीकरण की नीति छोड़कर निशस्त्रीकरण के मार्ग को अपनाया जाये।

(6) शस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध होना—शस्त्रीकरण पर राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा खर्च होने से विशेषकर तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अफ्रीका, एशिया, लातीनी अमरीकी महाद्वीप के राष्ट्र द्वितीय विश्व युद्ध के बाद औपनिवेशिक दासता के चंगुल से मुक्त हुए थे। इस दासता के दौरान औपनिवेशिक शक्तियों ने उन पर राजनीतिक रूप से शासन ही नहीं किया बल्कि उनकी अर्थव्यवस्था को भी अपने नियन्त्रण में रखा। उन्होंने उनका असीमित आर्थिक शोषण किया। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय होने के बाद अब तीसरी दुनिया के देशों को अपनी अर्थव्यवस्था मजबूत बनाने पर सर्वाधिक जोर देना चाहिए। ऐसा स्वतन्त्र आर्थिक विकास के माध्यम से ही सम्भव है। जब इन गरीब राष्ट्रों द्वारा शस्त्रीकरण पर असीमित व्यय किया जायेगा, तो स्वाभाविक है कि आर्थिक विकास की उपेक्षा होगी। अतएव शस्त्रीकरण त्याग कर निशस्त्रीकरण नीति को अपनाया जाना तीसरी दुनिया के देशों के लिए *अत्यन्त लाभकारी है, क्योंकि इससे वे अपने संसाधन ज्यादा से ज्यादा आर्थिक* विकास में लगा सकेंगे।

निशस्त्रीकरण की आलोचना

निशस्त्रीकरण का मसला इतना अधिक जटिल है कि उसकी अनेक आधारों पर आलोचना की जा सकती है। प्रमुख तर्क निम्नांकित हैं

(1) आतंक के सन्तुलन (Balance of Terror) से युद्ध न होना—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रख्यात लेखक क्विन्सी राइट का कहना है कि 'निशस्त्रीकरण से सम्भवतः युद्ध अधिक होने की प्रवृत्ति पैदा होगी। वह आगे कहते हैं कि 'युद्ध की सम्भावना उस समय तक अधिक रहती है जब राज्यों के पास शस्त्र कम हों।'[1] क्विन्सी राइट के तर्कों को यह कहकर आगे बढ़ाया जा सकता है कि मान लो यदि दो राष्ट्रों में परस्पर झगड़ा है। यदि एक के पास हथियार कम या नहीं हैं और दूसरा राष्ट्र हथियारों से लैस है तो ऐसी अवस्था में दूसरा राष्ट्र पहले देश पर सैनिक आक्रमण करने से नहीं चूकेगा। दूसरी तरफ यदि दोनों राष्ट्रों के पास हथियार हैं तो वे भली-भाँति इस तथ्य से परिचित रहेंगे कि सैनिक संघर्ष दोनों के लिए आत्मघाती होगा। इससे दोनों ही बर्बाद हो जायेंगे। ऐसी स्थिति को 'आतंक का

[1] Quincy Wright, *A Study of War* (Chicago, 1965) 811

सन्तुलन' कहा जाता है। इसमें शत्रु-राष्ट्र एक-दूसरे की सैनिक ताकत से आतंकित होकर सैनिक आक्रमण का खतरा मोल नहीं लेते। वर्तमान में परमाणु हथियारों से लैस अमरीका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियाँ भी इसी 'आतंक के सन्तुलन' के कारण सीधे सैनिक संघर्ष का मार्ग नहीं अपना रही हैं। इस प्रकार निःशस्त्रीकरण से युद्ध भड़क सकता है, जबकि शस्त्रीकरण-जनित आतंक के सन्तुलन से युद्ध से बचा जा सकता है।

(2) अनेक क्षेत्रों में विकास का मार्ग अवरुद्ध होना—यदि निःशस्त्रीकरण हो जाता है तो अनेक क्षेत्रों जैसे विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी और औद्योगिकीकरण के क्षेत्र में विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। निःशस्त्रीकरण होने पर इन क्षेत्रों में नित नये आविष्कार की प्रतियोगिता शिथिल पड़ जायेगी। इन क्षेत्रों में विकास नहीं होने पर निःशस्त्रीकरण अपनाने वाले देश शस्त्रीकरण करने वाले राष्ट्रों से पिछड़ जायेंगे। इस प्रकार निःशस्त्रीकरण अनेक क्षेत्रों में विकास का मार्ग अवरुद्ध कर देता है।

(3) आर्थिक मन्दी उत्पन्न होना—निःशस्त्रीकरण की वकालत करने वाले लेखक तर्क देते हैं कि शस्त्रीकरण पर अपार खर्च अनावश्यक है। इसलिए निःशस्त्रीकरण का मार्ग अपनाकर उस विशाल धन को जन-कल्याणकारी कार्यों पर लगाया जाना चाहिए। जबकि इस मत के आलोचकों का कहना है कि निःशस्त्रीकरण से आर्थिक मन्दी (Recession) उत्पन्न होती है जो देश की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। वे तर्क देते हैं कि शस्त्र उत्पादन के साथ-साथ जहाँ खनिज पदार्थों का दोहन तथा ऊर्जा उत्पादन होता है वहीं दूसरी ओर शस्त्र-निर्माता देशों में लोगों को रोजगार उपलब्धि, शस्त्रों के निर्यात से मुनाफा और विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। अगर शस्त्र उत्पादन को एक खास सीमा तक जारी रखा जाये तो उसके साथ अनेक लाभकारी आर्थिक गतिविधियाँ बढ़ती हैं। इस प्रकार शस्त्र निर्माण को रोककर यदि निःशस्त्रीकरण का रास्ता अपनाया जायेगा तो नुकसानदायक आर्थिक मन्दी उत्पन्न हो जायेगी। निःशस्त्रीकरण से 'हथियार अर्थव्यवस्था' को 'निःशस्त्रीकरण अर्थव्यवस्था' में परिवर्तित करने की समस्या उठ खड़ी होगी।[1]

(4) निःशस्त्रीकरण स्वयं एक समस्या—अनेक विद्वानों ने शस्त्रीकरण त्याग कर निःशस्त्रीकरण पर बल दिया है किन्तु निःशस्त्रीकरण अपने आप में स्वयं एक समस्या है। कई बार शस्त्रास्त्र कम करने के समझौते हुए, किन्तु राष्ट्रों द्वारा इनका पालन हो रहा है या नहीं, इस बात की विश्वसनीयता सदैव प्रश्न चिन्ह बन कर रही है। निःशस्त्रीकरण समझौतों के बाद उनके कार्यान्वयन के समय 'निरीक्षण की समस्या' का सामना करना पड़ता है। समझौता करने वाले राष्ट्र इसके लिए जल्दी तैयार नहीं होते। यदि वे तैयार हो जाते हैं तो निरीक्षण का खर्चा भी असीमित होता है। श्लाइशर के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण व्यवस्था के लिए जो व्यय होगा, वह निःशस्त्रीकरण के कारण हुई बचत से कहीं अधिक ही होगा।'[2] इस प्रकार निःशस्त्रीकरण अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण व्यवस्था के सन्दर्भ में अपने आप स्वयं एक समस्या बन गया है। सेमूर मैलमेन ने काफी वर्षों पहले अन्दाजा लगाया था कि 'अकेले अमरीका में हथियार उत्पादन के परिवीक्षण (Monitoring) के

[1] इस समस्या के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के लिए देखें—B. N. Ganguli, *Economic Consequences of Disarmament* (London, 1963), 16–32.

[2] Charles P. Schleicher, *International Relations* (Delhi, 1963), 418.

लिए कम से कम 30 हजार व्यक्तियों की जरूरत होगी और विश्व स्तर पर अकेले इस काम के लिए एक लाख से ज्यादा लोगों की आवश्यकता होगी जिन पर लगभग एक अरब डालर वार्षिक खर्च आयेगा।'[1]

(5) अधिकांश निशस्त्रीकरण समझौते भेदभावपूर्ण—आज तक जो भी निशस्त्रीकरण समझौते हुए हैं, उनमे अधिकतर भेदभावपूर्ण (Discriminatory) हैं। इनमे विजयी या बड़े राष्ट्रों ने पराजित या छोटे राष्ट्रों पर अपनी महत्वाकाक्षाएँ एव भेदभावपूर्ण शर्तें, धमकी या अन्य प्रकार के गैर-नैतिक तरीके थोपे हैं। मसलन, प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी, बुलगारिया, आस्ट्रिया तथा हगरी जैसे कमजोर देशों पर बड़ी शक्तियों ने सैनिक रूप से उनको कमजोर बनाने के लिए गैर-नैतिक तरीकों से अपनी शर्तें थोपी। वर्तमान मे बड़ी शक्तियाँ परमाणु प्रसार रोक सन्धि (Non-Proliferation Treaty) के माध्यम से स्वय उनके द्वारा परमाणु बम बनाने पर किसी प्रतिबन्ध की बात नही करती, जबकि भारत जैसे शान्तिप्रिय देशों पर दबाव डाल रही हैं कि वह इस सन्धि पर हस्ताक्षर करके परमाणु विस्फोट न करने तथा बम न बनाने की बात मान ले। भारत का मानना है कि वह ऐसा तभी स्वीकार करेगा, जब बड़ी शक्तियाँ भी स्वय ये बातें मानने को तैयार हों। इस प्रकार भेदभावपूर्ण निशस्त्रीकरण समझौते शस्त्रास्त्रों की होड़ रोकने मे कामयाब नही हो सकते।

(6) निशस्त्रीकरण विश्व-शान्ति की गारन्टी नहीं दे सकता—यह तर्क एकपक्षीय है कि निशस्त्रीकरण से विश्व-शान्ति एव सुरक्षा स्थापित हो जायेगी। विश्व-शान्ति एव सुरक्षा निशस्त्रीकरण के अलावा अन्य अनेक बातों पर निर्भर करती है। जैसे राष्ट्रों मे आपसी विश्वास, आर्थिक जन-समृद्धि, स्वस्थ राजनीतिक परम्पराओं का विकास, दूरदर्शी राजनीतिक नेतृत्व इत्यादि। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि निशस्त्रीकरण विश्व-शान्ति एव सुरक्षा कायम करने की एक-मात्र नही, बल्कि अनेक मे से एक शर्त है। अतएव केवल निशस्त्रीकरण विश्व-शान्ति की कोई ठोस गारन्टी नही दे सकता।

(7) निशस्त्रीकरण वर्तमान जगत मे अव्यावहारिक एव अप्रासगिक—आधुनिक युग विज्ञान एव प्रौद्योगिकी का युग है। लोगों का 'काल्पनिक आदर्शवाद' मे नहीं, बल्कि 'यथार्थवाद' मे विश्वास है। इसी कारण किसी भी राष्ट्र का कोई भी राजनेता राष्ट्रीय सुरक्षा पहले चाहता है और जन-समृद्धि बाद मे। पर्याप्त राष्ट्रीय सुरक्षा के अभाव मे आर्थिक विकास सम्भव नहीं। 1962 मे साम्यवादी चीन द्वारा भारत पर अचानक बर्बर सैनिक हमले के बाद हमने भी यही सबक लिया। इसी राजनीतिक यथार्थ को महसूस करते हुए राष्ट्र निशस्त्रीकरण मे पर्याप्त रुचि नहीं दिखाते हैं। व इस थोथी नारेबाजी मे पडकर राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरे मे नही डालना चाहते। प्रसिद्ध विद्वान् एडम स्मिथ की भी धारणा है कि प्रतिरक्षा समृद्धि से कही अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार कई लोग निशस्त्रीकरण को वर्तमान जगत मे अव्यावहारिक व अप्रासगिक सा मानते हैं।

निशस्त्रीकरण के विभिन्न प्रयास
(Various Efforts for Disarmament)

निशस्त्रीकरण की अवधारणा काफी पुरानी है। 1648 मे वेस्टफेलिया सधि,

[1] Seymour Melman *Inspection For Disarmament* (New York, 1958)

1889 में पहला हेग शान्ति सम्मेलन, 1907 में दूसरा हेग शान्ति सम्मेलन आदि के द्वारा निशस्त्रीकरण के प्रयास हुए, किन्तु उनकी सफलता ज्यादा उल्लेखनीय नही रही। प्रथम विश्व युद्ध से हुई अपार धन एव जन की हानि से लोगो ने निशस्त्रीकरण की आवश्यकता एवं महत्व को महसूस करना शुरू किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद दो स्तरो पर निशस्त्रीकरण के प्रयास हुए—(अ) राष्ट्र सघ द्वारा किये गये प्रयास, और (ब) राष्ट्र संघ के बाहर किये गये प्रयास।

राष्ट्र संघ (League of Nations) द्वारा निशस्त्रीकरण प्रयास

प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र सघ की स्थापना की गयी। राष्ट्र संघ प्रसविदा के आठवें अनुच्छेद के दूसरे प्रावधान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'प्रत्येक राज्य की भौगोलिक व्यवस्था एव परिस्थितियो का लेखा रखकर परिषद् विभिन्न सरकारो द्वारा विचार और कार्यवाही के लिए शस्त्रास्त्रो की कमी की योजना बनाये।' राष्ट्र संघ द्वारा किये गये निशस्त्रीकरण प्रयासो का निम्नांकित तीन बिन्दुओ के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

(1) अस्थायी मिश्रित आयोग—1921 मे राष्ट्र सघ की परिषद् ने अस्थायी मिश्रित समिति (Temporary Mixed Commission) की स्थापना की। इसने मुख्य रूप से जो चार प्रयास किये, वे इस प्रकार हैं—(अ) इसने राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुसार स्थल सेना (Land Forces) निश्चित करने का एक प्रयास किया, किन्तु अन्ततः यह प्रस्ताव निष्फल रहा; (ब) इसने 1922 मे की गई वाशिंगटन सम्मेलन सन्धि के सिद्धान्तो को उस पर हस्ताक्षर न करने वाली शक्तियों पर भी लागू (extend) करने का प्रयास किया। यह प्रयास भी अन्ततः निष्फल रहा; (स) इसने आपसी सहायता सन्धि का मसौदा तैयार किया, जो शस्त्रास्त्र घटाने का एक प्रयास था, किन्तु यह विश्व राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत नही हो सका; और (द) इसने जेनेवा प्रोटोकाल द्वारा आक्रामक राज्यों के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव रखा। इसे भी स्वीकृति न मिल सकी। इस प्रकार अस्थायी आयोग के निशस्त्रीकरण प्रयास निष्फल रहे।

(2) तैयारी आयोग—राष्ट्र सघ द्वारा निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में अगला कदम 1925 मे एक प्रारम्भिक आयोग (Preparatory Commission) की स्थापना था। इसने दिसम्बर, 1930 में निशस्त्रीकरण की योजना का एक अस्थायी प्रारूप-प्रस्ताव (Dummy Draft Convention) पारित कराने में सफलता हासिल की। इसकी मुख्य व्यवस्थाएँ थी—बजट द्वारा स्थल युद्ध-सामग्री पर नियन्त्रण करना; अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि घटाना, सैनिको की संख्या बिना किसी भेदभाव के नियन्त्रित करना, रासायनिक एव कीटाणु युद्ध रोकना आदि। हालाकि फरवरी, 1932 मे होने वाले निशस्त्रीकरण सम्मेलन में इसका उपयोग नही किया गया, तथापि यह परिणाम अवश्य निकला कि निशस्त्रीकरण के बारे में वे मूलभूत मतभेद प्रकाश मे आ गये जिनका समर्थन सम्मेलन को करना पड़ता था।

(3) जेनेवा सम्मेलन—फरवरी, 1932 मे ब्रिटिश विदेश सचिव आर्थर हैंडरसन की अध्यक्षता में 'शस्त्रों की कटौती' (Reduction) और उन्हें सीमित करने (Limitation) के प्रारूप-प्रस्ताव पर विचार करने के लिए जेनेवा में एक सम्मेलन हुआ। इसमें 61 राष्ट्रों ने भाग लिया, जिनमे से पाँच देश राष्ट्र संघ के सदस्य नही

थे। सम्मेलन मे राष्ट्र सघ के अधीन एक ऐसे पुलिस वल के गठन की सिफारिश की गयी, जिसका बमवर्षकों पर एकाधिकार हो। आक्रामक देश को कठोरता से दण्ड देने एव पच निर्णय आवश्यक बनाने की बात कही गयी। अनसुलझे विवादो पर अन्तिम रूप से कानूनी निर्णय देने पर बल दिया गया। रासायनिक एव जैविक हथियारो की आक्रमणकारी प्रकृति के बारे मे सबसे अधिक सहमति हो सकी। किन्तु कुछ समय बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने ऐसा मोड लिया कि यह सम्मेलन असफल हो गया। 1933 मे जर्मनी ने सम्मेलन का बहिष्कार किया। मई, 1934 मे पुन निशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ। इस बार एक तरफ रूस और फ्रास तथा दूसरी ओर इग्लैण्ड, इटली तथा अमरीका के बीच मतभेद उभरे। रूस और फ्रास ने सुरक्षा पर बल दिया, जबकि इग्लैण्ड, इटली तथा अमरीका ने निशस्त्रीकरण पर। 11 जून, 1934 को यह सम्मेलन अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गया। इस प्रकार राष्ट्र सघ के निशस्त्रीकरण प्रयास असफल रहे। राष्ट्र सघ के निशस्त्रीकरण के प्रति दृष्टिकोण तथा उसके लिये किये गये प्रयासों के बारे मे लार्ड डेविस ने ठीक ही कहा है कि यह सब एक वर्ग को एक वृत्त मे फिट करने का उपहास्यास्पद प्रयत्न था।

राष्ट्र सघ के बाहर किये गये निशस्त्रीकरण प्रयास

एक तरफ जहाँ राष्ट्र सघ निशस्त्रीकरण के प्रयास कर रहा था वही दूसरी ओर कुछ राष्ट्र उसके दायरे के बाहर भी ऐसे प्रयास कर रहे थे।

(1) **वाशिगटन सम्मेलन**—1921–22 मे आयोजित वाशिंगटन सम्मेलन के अन्त मे एक सन्धि पर ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका, फ्रास, जापान तथा इटली ने हस्ताक्षर किये। इसको 'पाँच शक्तियो की सन्धि' के नाम से भी जाना जाता है। इसके द्वारा हस्ताक्षरकर्ता देशो की नौसैनिक होड दस वर्ष के लिए कम हो गयी। मगर लडाकू पनडुब्बियाँ (क्रूजर्स), ध्वसक पोत (डेस्ट्रोयर्स) तथा लडाकू जहाजो के बारे मे कोई समझौता नही हो पाया। इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि कुछ समय बाद बडी शक्तियों ने विभिन्न आधारो पर अपनी नौसैनिक शक्ति मे अधिक कटौती करने मे असमर्थता प्रकट की, जिससे यह सम्मेलन अपने घोषित उद्देश्यो को प्राप्त करने मे विफल रहा। फिर भी, इसने भविष्य मे ऐसे ही अन्य सम्मेलन के आयोजन का मार्ग अवश्य प्रशस्त किया।

(2) **1927 का जेनेवा सम्मेलन**—वाशिगटन सम्मेलन की असफलता के बाद अमरीका के राष्ट्रपति कूलीज (Coolidge) ने 1927 मे जेनेवा मे द्वितीय नौसैनिक सम्मेलन बुलाया। फ्रास ने इस सम्मेलन के आयोजन को पसन्द नही किया। इग्लैण्ड, जापान और अमरीका ने ही इसमे भाग लिया। इसमे तीनो राष्ट्रो के विख्यात नौसेनाध्यक्ष एव नौसेना विशेषज्ञ सम्मिलित हुए। मगर 'क्रूजर्स' के मुद्दे को लेकर जल्दी ही अमरीका और इग्लैण्ड मे गम्भीर मतभेद पैदा हो गये, जिससे यह सम्मेलन बिना किसी सफलता के समाप्त हो गया।

(3) **1930 की लन्दन नौसैनिक सन्धि**—1930 मे अमरीका, जापान, फ्रास, इटली, ब्रिटेन आदि राष्ट्रो का एक सम्मेलन लन्दन मे हुआ। इसमे 1927 के जेनेवा सम्मेलन मे उभरे मतभेदो को लन्दन नौसैनिक सन्धि पर हस्ताक्षर करके सुलझाया गया। इस पर अमरीका, ब्रिटेन तथा जापान ने ही हस्ताक्षर किये। फ्रास तथा

इटली ने इस पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। किन्तु बाद में हस्ताक्षरकर्ता देशों द्वारा इस सन्धि का पालन नहीं करने से निशस्त्रीकरण का यह प्रयास निष्फल रहा।

(4) 1935–36 का लन्दन नौसैनिक सम्मेलन—1935–36 में लन्दन में नौसैनिक सम्मेलन हुआ, जिसमें सभी महाशक्तियों ने भाग लिया। यह सम्मेलन प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में आयोजित हुआ। जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण और जर्मनी द्वारा वर्साय सन्धि का उल्लघन करके राइनलैण्ड पुनः सैन्यीकृत करने आदि से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा हुआ। अतएव इस सम्मेलन का असफल होना स्वाभाविक था।

(5) 1935 का आंग्ल-जर्मन नौसैनिक समझौता—जून, 1935 में ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ एक समझौता किया, जिसके तहत ब्रिटेन ने जर्मनी का यह दावा स्वीकार किया कि उसे अपने नौसैनिक शक्ति ब्रिटेन की नौसैनिक शक्ति के 35 प्रतिशत के बराबर करने दी जाये और सभी तरह के युद्धपोत बनाने दिये जायें। ब्रिटेन द्वारा यह सन्धि करने का प्रमुख कारण उसके विरुद्ध सम्भावित जर्मन आक्रमण से रक्षा करना था। इसके बाद द्वितीय विश्व युद्ध तक कोई महत्वपूर्ण निशस्त्रीकरण समझौता नहीं हुआ।

निशस्त्रीकरण प्रयासों की असफलता के कारण

प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र संघ द्वारा तथा उसके बाहर किये गये निशस्त्रीकरण प्रयासों की असफलता के अनेक कारण थे।

(अ) विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपने-अपने हितों पर बल देना—विभिन्न राष्ट्रों ने निशस्त्रीकरण समझौतों तथा उनके कार्यान्वयन के दौरान अपने-अपने हितों पर बल देने से इस क्षेत्र में सफलता हासिल नहीं हो सकी। उदाहरणार्थ, फ्रांस निशस्त्रीकरण के पहले सुरक्षा व्यवस्था का हामी था। वह अमरीका तथा ग्रेट-ब्रिटेन से यूरोपीय मोर्चों (Frontiers) की प्रतिरक्षा के बारे में दृढ़ वचन चाहता था। लन्दन नौसैनिक सम्मेलन में जापान अन्य नौसैनिक शक्तियों के साथ 'बराबरी' चाहता था, किन्तु जब अन्य शक्तियों ने उसकी बात नहीं मानी तो वह सम्मेलन से हट गया। यहाँ तक कि बाद में उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं नैतिकता का खुला उल्लंघन करते हुए मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ने वर्साय सन्धि के अपमान का बदला लेने के लिए शस्त्रीकरण किया और वह फौजी हमले पर उतर आया। इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपने-अपने हितों पर बल देने से निशस्त्रीकरण प्रयास असफल हो गये।

(ब) राष्ट्र संघ द्वारा दोषी देशों के विरुद्ध कार्रवाई में मौन रहना—जब जापान, इटली, जर्मनी आदि राष्ट्रों ने राष्ट्र संघ की प्रसंविदा तथा अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों (obligations) का उल्लंघन कर सैनिक आक्रमण का सहारा लिया, तब राष्ट्र संघ या तो चुपचाप देखता रहा या फिर उनके विरुद्ध कार्रवाई करने में असफल रहा। इससे निशस्त्रीकरण प्रयासों पर पानी फिर गया।

(स) सदस्य देशों की प्राथमिकताओं में अन्तर—निशस्त्रीकरण सम्मेलनों या मंचों में भाग लेने वाले देशों की प्राथमिकताओं में अन्तर या मतभेद होने से निशस्त्रीकरण के प्रयासों को भारी धक्का लगा। विशेष रूप से प्राथमिकताओं का यह मतभेद

इग्लैण्ड, फ्रास, अमरीका और जर्मनी के बीच था। एक तरफ फ्रास ने सुरक्षा के आधार पर जर्मनी के मुकाबले शस्त्रो मे श्रेष्ठता पर जोर दिया तो दूसरी ओर जर्मनी ने फ्रास के साथ समकक्षता की माग की। इस प्रकार निशस्त्रीकरण प्रयास धराशायी हो गये।

(द) आक्रामक और सुरक्षात्मक शस्त्रों मे भेद की कठिनाई—आक्रामक और सुरक्षात्मक शस्त्रो मे भेद न कर सकने ने भी निशस्त्रीकरण प्रयासो के मार्ग मे बाधा खडी कर दी। एक तरफ इग्लैण्ड ने पनडुब्बियो को आक्रामक शस्त्र माना, जबकि अन्य देशो ने इन्हे सुरक्षात्मक। इस शस्त्र विभेद की समस्या ने निशस्त्रीकरण समझौता वार्ताएँ आगे नही बढने दी। इससे निशस्त्रीकरण प्रयास निष्फल होना स्वाभाविक था।

(य) विभिन्न देशों मे तत्कालीन मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों की उपेक्षा—विभिन्न राष्ट्रो मे विद्यमान तत्कालीन मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों की उपेक्षा ने निशस्त्रीकरण के प्रयासो को सफल नहीं होने दिया। असल में निशस्त्रीकरण की सफलता के लिए राष्ट्रों मे आपसी अविश्वास एव भय की समाप्ति आवश्यक है। अर्थात् पहले 'मनोवैज्ञानिक निशस्त्रीकरण' जरूरी है, जिसकी उपेक्षा की गयी। इस प्रकार अधिकाश निशस्त्रीकरण *प्रयासो में असफलता ही हाथ लगी।*

स० रा० सघ एव निशस्त्रीकरण
(The U N and Disarmament)

द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के लिए एक बडी सीमा तक राष्ट्र सघ की असफलता जिम्मेदार थी। सर्वनाशक भ्रम ने एक बार फिर निशस्त्रीकरण की जरूरत को रेखांकित किया। परमाणु अस्त्रो के प्रयोग ने इस समस्या का एक महत्वपूर्ण पक्ष उजागर किया। स० रा० सघ ने अपनी स्थापना के साथ ही अपने चार्टर और प्रस्तावित कार्यक्रमो मे निशस्त्रीकरण को महत्वपूर्ण स्थान दिया। निशस्त्रीकरण की दिशा मे स० रा० सघ का योगदान उल्लेखनीय रहा है।

(1) परमाणु ऊर्जा आयोग—स० रा० सघ द्वारा निशस्त्रीकरण के क्षेत्र मे पहला प्रयास महासभा द्वारा 1946 मे एक प्रस्ताव पारित कर परमाणु ऊर्जा आयोग (Nuclear Energy Commission) की स्थापना था। इस आयोग को *शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिए परमाणु ऊर्जा के नियन्त्रण के बारे मे उपयोगी सुझाव देने* को कहा गया। इसने अपनी रपट मे परमाणु ऊर्जा के लिए एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण व्यवस्था की सिफारिश की। सोवियत सघ ने इसे मानने से इन्कार कर दिया। परिणामस्वरूप फरवरी, 1947 मे स० रा० सघ की सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पारित कर परम्परागत शस्त्रो सम्बन्धी आयोग की स्थापना की। इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जायेगा कि इन दोनो आयोगो को असफलता हाथ लगी, क्योकि उनके सुझावो और सिफारिशो पर अमरीका और सोवियत सघ में मतभेद बन रहे।

(2) निशस्त्रीकरण आयोग—अक्तूबर, 1950 और उसके बाद अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने स० रा० सघ मे सुझाव रखा कि परमाणु ऊर्जा आयोग तथा परम्परागत शस्त्र आयोग के कार्यों को मिला दिया जाये। अन्तत 11 जनवरी,

1952 को महासभा ने दोनों आयोग मिलाकर एक निशस्त्रीकरण आयोग (Disarmament Commission) की स्थापना की। इस आयोग के सदस्यों की संख्या 12 रखी गयी—5 सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य, छः अस्थायी सदस्य तथा कनाडा। इस आयोग ने शस्त्रास्त्रों एवं सैनिक दस्तों में कमी, निशस्त्रीकरण समझौते, शस्त्र सूची और सत्यापन आदि जैसे कई निशस्त्रीकरण प्रस्ताव पेश किए, किन्तु विश्व राष्ट्रों का उनके बारे में नकारात्मक रुख रहा। इस कारण यह आयोग भी निशस्त्रीकरण प्रयास में असफल ही रहा।

(3) शान्ति के लिए परमाणु योजना—दिसम्बर, 1953 में अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहावर ने 'शान्ति के लिए परमाणु' योजना (Atom for Peace Plan) का प्रस्ताव रखा। इसका प्रमुख उद्देश्य परमाणु ऊर्जा का शान्तिपूर्ण उपयोग था। इस योजना में परमाणु शक्तियों से इसका पालन करने को कहा गया, किन्तु सोवियत संघ द्वारा इसके विरोध के कारण अमरीकी राष्ट्रपति का यह प्रस्ताव निष्फल हो गया। सोवियत संघ का मानना था कि शान्ति के लिए परमाणु ऊर्जा योजना के पहले अस्त्रों के निषेध पर समझौता किया जाये।

(4) 1954–57 के दौरान निशस्त्रीकरण प्रयास—1954–57 के दौरान अनेक छिटपुट निशस्त्रीकरण प्रयास किये गये। सं० रा० संघ के निशस्त्रीकरण आयोग ने पाँच शक्तियों—अमरीका, सोवियत संघ, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा कनाडा को निशस्त्रीकरण की समस्याओं पर विचार के लिए एक उपसमिति नियुक्त की। एक जुलाई, 1955 में जेनेवा में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें सोवियत संघ, अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस ने भाग लिया। इसमें अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति आइजनहावर ने 'उन्मुक्त आकाश योजना' (Open Skies Plan) रखी। इसमें अमरीका और सोवियत संघ दोनों द्वारा अपने सैनिक बजट, उत्पादन, वर्तमान शक्ति एवं उसके विकास की सम्भावनाओं के बारे में एक-दूसरे को सूचना देने तथा परस्पर जांच एवं निरीक्षण करने की बातें कही गयी। दोनों देशों को एक-दूसरे के आकाश पर से निरीक्षण करने (फोटो लेने) के अधिकार का भी उल्लेख था। किन्तु तत्कालीन सोवियत प्रधानमन्त्री बुल्गानिन ने इसे अस्वीकृत करते हुए यह प्रस्ताव रखा कि निशस्त्रीकरण को कार्यान्वित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण अभिकरण की स्थापना की जाये, उसे जाँच एवं निरीक्षण का कार्य सौंपा जाये, सभी देशों से विदेशी सैनिक अड्डों को समाप्त किया जाये, परमाणु शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाये तथा परम्परागत शस्त्रों में निश्चित कटौती की जाये। इस प्रस्ताव को अन्य शक्तियों ने नामंजूर कर दिया।

मार्च, 1957 में पश्चिमी देशों ने एक और व्यापक निशस्त्रीकरण योजना रखी। इसे भी सोवियत संघ ने अस्वीकृत कर दिया। सं० रा० संघ महासभा के 12वें अधिवेशन में सोवियत संघ ने घोषणा की कि वह निशस्त्रीकरण आयोग तथा उसकी उप-समिति की आगे की वार्ता एवं परामर्श में भाग नहीं लेगा। इस प्रकार इन प्रयासों के लाभकारी परिणाम नहीं निकले।

(5) परमाणु प्रशिक्षण पर प्रतिबन्ध—जेनेवा सम्मेलन की असफलता के बावजूद परमाणु परीक्षण पर प्रतिबन्ध (Nuclear Test Ban) के बारे में वार्ता चलती रही। अक्तूबर, 1958 से 3 अप्रैल, 1961 तक चले जेनेवा सम्मेलन के बाद तीन विश्व शक्तियाँ—ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका और सोवियत संघ इस बात पर सहमत

हुई कि वाह्य अन्तरिक्ष, महासागर तथा भूमि में सभी प्रकार के परमाणु परीक्षण बन्द कर दिये जाने चाहिएं। इस प्रकार की सन्धि को अन्तर्राष्ट्रीय स्टाफ के सख्त नियन्त्रण एवं निरीक्षण (Control and Supervision) के अन्तर्गत लागू किया जाना था। किन्तु यह प्रयास सोवियत संघ के प्रतिकूल रुख के कारण असफल हो गया। उसने माँग की कि एक निष्पक्ष प्रशासक को तीन सदस्यों (एक तटस्थ देशों से, एक पश्चिमी खेमे से तथा एक सोवियत खेमे से) के आयोग से प्रतिस्थापित (Replace) किया जाये। इससे परमाणु परीक्षण पर प्रतिबन्ध के बारे में आगे का परामर्श रुक गया और इस बारे में किसी भी प्रकार का समझौता न हो सका।

(6) दस राष्ट्रों का निशस्त्रीकरण आयोग—1960 में जेनेवा में निशस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें दस राष्ट्रों ने भाग लिया। पश्चिमी खेमे से अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, फ्रांस एवं इटली तथा साम्यवादी खेमे से सोवियत संघ, युगोस्लाविया, पोलैण्ड, रूमानिया एवं बुल्गारिया सम्मेलन में उपस्थित थे। दोनों खेमों की ओर से परमाणु हथियारों पर रोक लगाने, राकेट नष्ट करने तथा सैनिक संख्या घटाने जैसे अनेक प्रकार के प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। किन्तु सम्मेलन का अन्त बहुत निराशापूर्ण वातावरण में हुआ, क्योंकि अन्तिम समय में सोवियत संघ ने अपने खेमे के अन्य देशों के साथ सम्मेलन से बहिर्गमन कर दिया।

(7) 18 राष्ट्रों का निशस्त्रीकरण सम्मेलन—1962 में एक बार पुनः निशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ। इसमें भाग लेने वाले 17 देश थे—अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, इटली, सोवियत संघ, रूमानिया, बुल्गारिया, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, ब्राजील, भारत, बर्मा, संयुक्त अरब अमीरात, मैक्सिको, इथियोपिया, स्वीडन तथा नाइजीरिया। हालांकि इसमें 17 राष्ट्रों ने भाग लिया, किन्तु इसे 18 राष्ट्रों का निशस्त्रीकरण सम्मेलन कहने का कारण यह है कि अट्ठारहवें देश फ्रांस ने इसका बहिष्कार किया। सम्मेलन में अमरीका ने प्रमुख परमाणु शस्त्रास्त्रों में 30 प्रतिशत कटौती का प्रस्ताव पेश किया। सोवियत संघ ने सामान्य और पूर्ण निशस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा, जिसके तहत तीन चरणों में सभी विदेशी सैनिक अड्डों तथा परमाणु अस्त्रों व आहुत-साधनों के उन्मूलन की व्यवस्था थी। तटस्थ देशों ने परमाणु विस्फोट पर रिपोर्ट देने के लिए वैज्ञानिकों के एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना का प्रस्ताव रखा। इस सम्मेलन के भी कोई लाभकारी नतीजे सामने नहीं आये।

(8) आंशिक परीक्षण रोक सन्धि (Partial Test Ban Treaty)—5 अगस्त, 1963 को अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा सोवियत संघ ने आंशिक परीक्षण रोक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जो निशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये अब तक के प्रयासों में सबसे महत्वपूर्ण कदम था। यह सन्धि होने के पीछे इसके लिए पूर्व में किये गये कई प्रयास उल्लेखनीय हैं। पहला, इस सन्धि के पहले सं० रा० संघ महासभा अपने प्रत्येक अधिवेशन में समस्त राज्यों द्वारा परमाणु परीक्षण से बाज आने के प्रस्ताव पारित करती रही थी। दूसरा, यह प्रस्ताव हरेक अधिवेशन में पारित कराने में गुट निरपेक्ष देशों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। निशस्त्रीकरण आयोग के आठ गुट निरपेक्ष देशों ने आंशिक परीक्षण रोक सन्धि होने में भी सक्रिय भूमिका अदा की। इन देशों ने परमाणु शक्तियों को 16 अप्रैल, 1962 को एक संयुक्त स्मरण पत्र दिया, जिसमें परमाणु परीक्षण रोकने के बारे में वार्ता करने के सुझाव दिये गये। बाद में सं० रा० संघ महासभा ने इस स्मरण पत्र का अनुमोदन किया।

आंशिक परीक्षण रोक सन्धि में निम्नांकित प्रमुख व्यवस्थाएँ थी :

(अ) सन्धि की भूमिका में अमरीका, सोवियत संघ और ग्रेट ब्रिटेन को मूल पक्ष कहा गया है तथा अपना प्रधान ध्येय यह घोषित किया गया है कि कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के लिए जल्दी से जल्दी परमाणु समझौता हो;

(ब) सन्धि की धारा एक के 'पैरेग्राफ' एक में कहा गया है कि सन्धि का प्रत्येक पक्षकार कोई भी परमाणु विस्फोट अपने अधिकार क्षेत्र या नियन्त्रणाधीन किसी भी जगह पर बन्द करने, रोकने और न करने के लिए वचनबद्ध है;

(स) सन्धि की धारा एक के 'पैरेग्राफ' दो में कहा गया है कि हरेक पक्ष का दायित्व है कि वह कोई भी परमाणु विस्फोट करने, उसे प्रोत्साहित करने, या किसी भी प्रकार उसके करने में भाग लेने से दूर रहेगा;

(द) सन्धि की धारा तीन के 'पैरेग्राफ' एक में कहा गया है कि कोई भी राज्य इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर सकता है। हस्ताक्षरकर्ता राज्य वे हैं, जो इसके लागू होने से पहले इस पर हस्ताक्षर कर सकते थे और धारा तीन के 'पैरेग्राफ' तीन के अनुसार इसका अनुसमर्थन कर सकते थे। परन्तु गैर-हस्ताक्षरकर्ता राज्य 'अधिमिलन' द्वारा ही सन्धि के पक्षकार बन सकते हैं; अनुसमर्थन द्वारा नहीं। पक्षकार बन जाने पर उनकी और हस्ताक्षरकर्ता राज्यों की स्थिति एक-सी हो जाती है और उन्हें सभी अधिकार और दायित्व मिल जाते हैं; और

(य) सन्धि की कोई काल सीमा नहीं है, किन्तु यदि कोई संविदाकारी यह समझे कि इस सन्धि से सम्बन्धित किन्हीं असाधारण घटनाओं से उसके देश के सर्वोच्च हितों को खतरा उत्पन्न हो गया है तो वह इससे अलग हो सकता है, जिसके निम्नांकित कारण हो सकते हैं :

(i) यह सन्देह कि परमाणु परीक्षण स्थगित रखने से दूसरे संविदाकारी पक्षों को सैनिक दृष्टि से लाभ हो रहा है;

(ii) किसी अन्य पक्षकार द्वारा सन्धि का अतिक्रमण; और

(iii) यह भय कि किसी ऐसे राज्य द्वारा किये गये परीक्षणों से शक्ति-सन्तुलन बिगड़ सकता है, जिसने सन्धि में 'अधिमिलन' से इन्कार कर दिया हो। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि सन्धि की धारा चार में कहा गया है कि अलग होने का अधिकार राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का परिणाम है, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों से हटने की समस्या पर दूरगामी प्रभाव पड़ सकता है।

(र) सन्धि की धारा दो में आंशिक परीक्षण रोक सन्धि में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इसमें यह व्यवस्था है कि कोई पक्षकार, जो संशोधन कराना चाहे, उसका पाठ निक्षेपधारी सरकारों अर्थात् 'मूल पक्षकारों' की सरकारों को पेश किया जायेगा। निक्षेपधारी सरकारें प्रस्तावित संशोधन सन्धि को सभी पक्षकारों में प्रसारित करेंगी। इसके बाद यदि दो-तिहाई या अधिक पक्षकार चाहेंगे तो निक्षेपधारी सरकारें एक सम्मेलन बुलायेंगी, जिसमें संशोधन पर विचार के लिए समस्त पक्षकारों को निमन्त्रित किया जायेगा।

आंशिक परीक्षण रोक सन्धि की आलोचना—आंशिक परीक्षण रोक सन्धि की अनेक आधारों पर आलोचना की जा सकती है, जिसमें से प्रमुख आधार निम्नांकित हैं :

(i) इस सन्धि में जमीन के अन्दर (भूमिगत) विस्फोट करने पर रोक

लगाने के बारे में स्पष्ट व्यवस्था का अभाव है;

(ii) संधि में परमाणु अस्त्रों की बिक्री पर रोक नहीं लगायी गयी है;

(iii) इसमें उल्लिखित संशोधन प्रावधान भी त्रुटिपूर्ण हैं। इस बारे में किसी प्रकार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि निक्षेपधारी सरकारें कितने समय के भीतर वह संशोधन पक्षकारों में प्रसारित करें और कितने समय में वे संशोधन पर विचार के लिए सम्मेलन बुलायें। यहां तक कि इस संधि में संशोधन के लिए सम्मेलन का स्थान भी निश्चित नहीं किया गया है, और

(iv) संधि में इसके प्रावधानों के अर्थ के बारे में मतभिन्नता की अवस्था में उसका हल ढूंढने के लिए किसी भी प्रकार के 'मानक अनुच्छेद' की व्यवस्था नहीं है।

(9) 1966 में जोनसन की सात-सूत्री योजना—1966 में अमरीकी राष्ट्रपति लिंडन जोनसन ने सात-सूत्री योजना का सुझाव दिया, जिसमें गैर-परमाणु देशों में परमाणु शस्त्रों के फैलाव को रोकने की बात कही गयी। इस योजना की अन्य बातें शान्तिपूर्ण परमाणु गतिविधियों का अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण, सुरक्षा-संगठन मजबूत बनाना तथा निरीक्षण व्यवस्था की स्थापना थीं। योजना में 'आक्रामक तथा सुरक्षात्मक' सामरिक वमवर्षकों तथा प्रक्षेपास्त्रों को, जो परमाणु शस्त्रों के वाहक हैं, यथावत रोक देने (Freeze) की भी बात कही गयी। साथ ही राष्ट्रों को सुझाव दिया गया कि वे महंगे हथियारों की प्रतियोगिता सीमित करें, जो आम तौर पर 'झूठी प्रतिष्ठा' के लिए प्राप्त किये जाते हैं। फिर भी इन बातों पर विचार के लिए जो सम्मेलन हुआ उसके परिणाम निराशाजनक थे। अन्त में यह सम्मेलन बिना किसी उपलब्धि के स्थगित हो गया।

परमाणु प्रसार रोक संधि

5 मार्च, 1968 की परमाणु प्रसार रोक संधि (Non-Proliferation Treaty)—दुनिया में हथियारों की होड़ सीमित करने तथा निरस्त्रीकरण के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने में इस संधि को महत्वपूर्ण सीमा-चिन्ह माना जा सकता है। नवम्बर, 1966 में सं० रा० संघ महासभा की राजनीतिक समिति ने परमाणु आयुधों के निर्माण एवं प्रसार पर रोक लगाने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। इसमें कहा गया कि परमाणु हथियार-विहीन राष्ट्र परमाणु अस्त्रों का निर्माण नहीं करें और परमाणु आयुध-सम्पन्न राष्ट्र इसका निर्माण बन्द करें। इसको संधि के मसविदे का रूप देने के लिए निरस्त्रीकरण आयोग को प्रस्तुत किया गया। इस आयोग द्वारा तैयार संधि का मसविदा महासभा ने 13 जून, 1968 को स्वीकार कर लिया तथा सदस्य देशों को इस पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया। अमरीका और सोवियत संघ जैसे महत्वपूर्ण देशों सहित 40 देशों का अनुमर्थन मिलने पर *इस संधि को 5 मार्च, 1970 को लागू कर दिया गया। इस संधि की प्रमुख व्यवस्थाएँ* निम्नांकित हैं

(अ) परमाणु हथियार-सम्पन्न राष्ट्र, परमाणु आयुध-विहीन देशों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे,

(ब) हस्ताक्षरकर्ता परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्र परमाणु हथियार बनाने का

कोई प्रयास नहीं करेंगे;

(स) हस्ताक्षरकर्ता देशों को असैनिक कार्यों के लिए परमाणु ऊर्जा के विकास की पूरी छूट रहेगी। अर्थात् वे परमाणु ऊर्जा का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए उपयोग कर सकेंगे; और

(द) परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था हो। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी को अधिकार दिया गया। साथ ही कहा गया कि गैर परमाणु राष्ट्रों द्वारा परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग के बारे में वे इस एजेन्सी के साथ समझौता कर ऐसा करें।

परमाणु प्रसार रोक संधि की आलोचना—इस संधि पर अब तक लगभग एक सौ देशों ने हस्ताक्षर कर दिये हैं। इसके बावजूद भारत, चीन, पाकिस्तान आदि सहित कई अन्य महत्वपूर्ण देशों ने अनेक आधार पर इसकी आलोचना कर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया है। संक्षेप में, इस संधि का विरोध करने वाले देशों ने निम्नांकित आधारों पर इसकी आलोचना की है।

(i) बड़ी शक्तियों द्वारा परमाणु एकाधिकार की साजिश—परमाणु प्रसार रोक संधि पर अन्य राष्ट्रों के हस्ताक्षर करवा कर विश्व की पांच परमाणु शक्तियाँ अपना परमाणु एकाधिकार कायम रखने की साजिश का खेल खेलना चाहती हैं। इस संधि में परमाणु शक्तियों द्वारा परमाणु हथियार बनाने पर नहीं, बल्कि अन्य देशों द्वारा परमाणु हथियार न बनाने और विस्फोट नहीं करने की व्यवस्था की गयी है। इस प्रकार बड़ी शक्तियाँ अन्य देशों को शक्तिशाली नहीं देखना चाहती।

(ii) फ्रांस और चीन द्वारा सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार—दुनिया की पाँच परमाणु एवं बड़ी शक्तियों में फ्रांस एवं चीन शामिल हैं। उन्होंने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। जब इन जैसे बड़े देशों ने इस सन्धि के प्रति उपेक्षा भाव दिखाया तो यह सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि विश्व के गैर-परमाणु देश क्यों नकारात्मक रुख अपनाने लगे। हालांकि चीन ने अगस्त, 1991 में कहा कि वह अब इस संधि पर हस्ताक्षर करने को तैयार है, किन्तु ऐसा लगता कि वह इसके साथ अपनी कतिपय शर्तें भी जोड़ेगा, जिससे इसका कोई विशेष महत्व नहीं रह जायेगा। यह चीन द्वारा हस्ताक्षर न करने के समान ही होगा।

(iii) इसे सामान्य या पूर्ण निशस्त्रीकरण सन्धि नहीं माना जा सकता—अनेक लोग इस सन्धि को निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम मानते हैं जो सही नहीं है। इसमें केवल परमाणु हथियारों पर रोक की ही व्यवस्था है, अन्य परम्परागत शस्त्रास्त्रों का उत्पादन रोकने या उन्हें सीमित करने के बारे में यह एकदम मौन है। इस कारण इसे सामान्य या पूर्ण निशस्त्रीकरण सन्धि कदापि नहीं माना जा सकता।

(iv) सन्धि भेदभाव पूर्ण—सन्धि पर अनेक देशों द्वारा हस्ताक्षर न करने का प्रमुख कारण उसकी भेदभाव पूर्ण व्यवस्थाएँ हैं। इसमें बड़ी शक्तियों द्वारा परमाणु शस्त्रों के उत्पादन, शस्त्र जमा करने (Stock piling) तथा उनके प्रयोग पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगायी गयी है। इसके विपरीत गैर-परमाणु देशों द्वारा ऐसे हथियार नहीं बनाने के सम्बन्ध में लम्बी-चौड़ी व्यवस्थाएँ की गयी हैं। इसे दोहरे मानदण्ड अपनाने वाली सन्धि ही कहा जा सकता है क्योंकि परमाणु और गैर-परमाणु देशों के बारे में इसकी व्यवस्थाएँ अलग-अलग हैं।

(v) सन्धि से परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग में बाधा—इस सन्धि में गैर-परमाणु राष्ट्रों से कहा गया है कि वे परमाणु विस्फोट न करें तथा इसके बदले परमाणु हथियार सम्पन्न राष्ट्र परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण प्रयोग के लिए तकनीकी जानकारी एवं मदद देंगे। अनेक तकनीकी बातों का बहाना बनाकर परमाणु शक्तियाँ इस सहायता के आश्वासन को पूरा करने से मुकर सकती हैं। इस प्रकार परमाणु ऊर्जा के अभाव में विकासशील देशों द्वारा विकास कार्यक्रमों को सम्पादित करने में अनेक प्रकार की बाधाएँ उठेंगी।[1]

साल्ट-एक व साल्ट-दो समझौता

साल्ट एक समझौता (Strategic Arms Limitation Treaty One or SALT-I)—सामरिक एवं विनाशकारी परमाणु आयुधों को सीमित करने के लिए साल्ट-एक समझौता अर्थात् सामरिक शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि पर अमरीका और सोवियत संघ ने हस्ताक्षर किये। इस समझौते के अन्तर्गत दो समझौते किये गये (अ) प्रक्षेपास्त्र विरोधी शस्त्रों को सीमित करने सम्बन्धी सन्धि (Treaty on the Limitation of Anti-Ballistic Missiles System), और (ब) सामरिक आक्रमक अस्त्रों के परिसीमन सम्बन्धी कुछ उपायों पर अन्तरिम समझौता।

पहला समझौता जहाँ अनिश्चित काल के लिए किया गया, वहीं दूसरा समझौता पाँच वर्ष के लिए। पहले समझौते के तहत अमरीका और सोवियत संघ के लिए प्रक्षेपास्त्रों को सुरक्षा प्रदान करने वाले स्थलों को दो तक सीमित कर दिया गया—एक, देशों की राजधानी की सुरक्षा के लिए और दूसरा, अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों (आई० सी० बी० एम०) की सुरक्षा के लिए। दूसरे समझौते के तहत पंचवर्षीय अन्तरिम सन्धि में, जो राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध होने पर किसी भी पक्ष द्वारा छः महीने के नोटिस पर रद्द की जा सकती है, निम्नांकित बातें तय की गईं—

(अ) 1 जुलाई, 1972 के बाद नये अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण नहीं किया जायेगा,

(ब) कोई भी पक्ष हल्के या पुराने किस्म के भू-प्रक्षेपास्त्र स्थलों को सुधार कर भारी अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग योग्य नहीं बनायेगा,

(स) दोनों पक्ष पनडुब्बियों के प्रक्षेपास्त्र, प्रक्षेपक तथा प्रक्षेपास्त्रयुक्त आधुनिक पनडुब्बियाँ नहीं बनायेंगे; हालांकि इसमें निर्माणाधीन पनडुब्बियों का काम पूरा करने की छूट रहेगी,

[1] इस सन्धि के बारे में सबसे सारगर्भित टिप्पणियाँ भारतीय रक्षा अध्ययन एवं विश्लेषण संस्थान के भूतपूर्व निदेशक के० सुब्रह्मण्यम (K. Subrahmanyam) ने की हैं। उन्होंने अपनी सम्पादित पुस्तक 'Nuclear Proliferation and International Security (Delhi, 1965), की भूमिका में लिखा है—कुछ भारतीय व्यक्तियों का तर्क यह है कि परमाणु प्रसार रोक सन्धि वाला विश्व इस सन्धि से वंचित विश्व से बेहतर है। ' इसी तरह के तर्कों के आधार पर यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि वर्तमान स्थिति और भी अच्छी है, जिसमें सन्धि तो है ही और इसके कुछ आलोचक भी हैं। हर कोई इस हास्यास्पद व्यवस्था का हिस्सा नहीं। यदि वस्तुनिष्ठ ढंग से क्षैतिज या ऊर्ध्व या स्थानीय परमाणु अस्त्र प्रसार न करने वाले परमाणु युद्ध के खतरे या आतंकवादियों के हाथ ऐसे हथियार लगने के जोखिम को साथ रखकर देखें तो नए राष्ट्रों द्वारा परमाणु अस्त्र हासिल करने का खतरा नगण्य लगता, पृ० 18–19।

(द) अन्तरिक्ष सन्धि की व्यवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए दोनों देशों द्वारा आक्रामक प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों का आधुनिकीकरण करने के लिए वैकल्पिक अस्त्र बनाने का अधिकार रहेगा; और

(य) सन्धि के परिपालन की जाँच के लिए हर राष्ट्र केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप ही विधियाँ अपनायेगा। दोनों पक्षों ने स्वीकार किया कि शस्त्रास्त्र निर्माण को गुप्त रखने के लिए जान-बूझकर ऐसी व्यवस्थाएँ नहीं करेंगे, जिनसे सन्धि की भावना को ठेस पहुँचे और दूसरे देश को निगरानी रखने में कठिनाई हो।[1]

वियना में साल्ट-दो समझौता—मई, 1979 में वियना (आस्ट्रिया) में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर और सोवियत शासक ब्रेझनेव ने साल्ट-दो समझौते (SALT-II Agreement) पर हस्ताक्षर किये। 1985 तक की अवधि वाले इस समझौते में निम्नांकित व्यवस्थाएँ थीं :

(अ) साल्ट-दो समझौते द्वारा सामरिक शस्त्रों, प्रक्षेपास्त्रों की संख्या और किस्मों पर एक सीमा लगा दी गयी। लेकिन इसके अन्तर्गत दोनों देशों को नए प्रक्षेपास्त्र तथा परमाणु शस्त्र बनाने की छूट थी। हरेक देश के पास अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों, सामरिक बम-वर्षक विमानों तथा पनडुब्बियों से छोड़ने वाले परमाणु प्रक्षेपास्त्रों की संख्या 1981 तक 2400 निश्चित कर दी गयी। 1981 के बाद यह संख्या घटाकर 2250 कर दी गयी, और

(ब) हथियारों की होड़ में और कमी के लिए सोवियत संघ और अमरीका अगले साल्ट-तीन समझौते (SALT-III Agreement) के लिए बातचीत करेंगे।

मध्यम दूरी मारक परमाणु प्रक्षेपास्त्र संधि
(Intermediate Range Nuclear Force Treaty or I.N.F. Treaty)

अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव ने 8 दिसम्बर, 1987 को जेनेवा में मध्यम दूरी मारक परमाणु प्रक्षेपास्त्र संधि पर हस्ताक्षर किये। संक्षेप में इसे आई० एन० एफ० संधि कहा गया। इसे निशस्त्रीकरण की दिशा में सबसे प्रगतिशील कदम और रचनात्मक पहल माना गया।

संधि में प्रमुख व्यवस्थाएँ—संधि के तहत अमरीका और सोवियत संघ ने 500 किमी० से 5000 किमी० की दूरी तक भूमि पर से मार करने वाले सभी परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करना स्वीकार किया। ये सभी परमाणु प्रक्षेपास्त्र मध्यम व कम दूरी तक मार करने की क्षमता रखते हैं। मास्को से 1050 किमी० दक्षिण पूर्व में कापुस्तिन यार स्थित सोवियत सैनिक अड्डे से एस० एस०–12 और एस० एस०–22 प्रक्षेपास्त्रों को पूर्व की ओर छोड़कर नष्ट करने की बात कही गई। उधर

[1] अनेक विद्वानों के साथ के० सुब्रह्मण्यम का भी यह मानना है कि साल्ट एक समझौता देतांत को धनि तेज करने वाला एक प्रमुख कदम था। उनका मानना है कि "इस समझौते को सम्पन्न करने में तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री हेनरी किसिंजर ने अप्रत्याशित और अभूतपूर्व लचीलापन दिखाया। उनके हिसाब में दो बातें रही जान पड़ती हैं। पहली बात तो यह थी कि चीन के साथ सम्बन्धों में सुधार के बाद किसिंजर ज्यादा आत्म-विश्वस्त थे। दूसरी बात, उन्हें लगता था कि एक बार समझौता हो जाने पर सोवियत संघ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में यथा-स्थिति बनाये रखने के बारे में सतत साझेदारी के लिए तैयार किया जा सकेगा।' देखें, के० सुब्रह्मण्यम की पूर्वोक्त पुस्तक में स्वयं उनका लेख *A Chaotic Doctrine*, 38–39.

अमरीका ने कैंप कैनावरल से पर्शिग–2 प्रक्षेपास्त्रों को अटलांटिक की ओर छोड़कर नष्ट करने का निश्चय किया। संधि में इस तरह के प्रक्षेपास्त्र तीन साल के भीतर नष्ट करने पर सहमति हुई।

परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को परीक्षण स्थल पर विशेष प्रकार से बनाये गये गड्ढों में जलाकर भी नष्ट किया जा सकता है, किन्तु इससे वायु प्रदूषण की आशंका अधिक है। अतः दोनों महाशक्तियों ने प्रक्षेपास्त्रों को एक विशेष दिशा में छोड़कर ही नष्ट करने का निश्चय किया। अमरीकी सीनेट और सुप्रीम सोवियत द्वारा आई० एन० एफ० संधि की पुष्टि (जून, 1988 में पुष्टि हो गयी) के तीन माह के भीतर निरीक्षक दल द्वारा उन सभी स्थलों के निरीक्षण की बात तय की गयी, जिनके नाम मूल संधि के साथ लगे सौ पृष्ठों में शामिल हैं।

आई० एन० एफ० संधि का मूल्यांकन—आई० एन० एफ० संधि की उपरोक्त व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि मध्यम और कम दूरी तक मार करने वाले सभी परमाणु प्रक्षेपास्त्र नष्ट कर दिये गये। संख्या के हिसाब से देखें तो यह कुल परमाणु प्रक्षेपास्त्रों का मात्र 4 प्रतिशत है, लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि यह पहला मौका था, जब परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को 'समूल नष्ट' करने पर सहमति हुई। इससे पूर्व अब तक सिर्फ उनके उत्पादन पर 'नियन्त्रण' की बात कही जाती थी। यह संधि इस दृष्टि से भी ऐतिहासिक कदम है कि दोनों महाशक्तियों ने लम्बी मार के परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने की दिशा में प्रयास किया।

इस संधि के आलोचक यह कह सकते हैं कि संधि पर हस्ताक्षर इसलिए सहज हुए कि राष्ट्रपति रीगन ईरानगेट की बदनामी के बाद इस माध्यम से अपना स्थान इतिहास में सुरक्षित कराना चाहते थे। इसी तरह गोर्बाच्योव देश में अपने 'सुधार कार्यक्रम' को सफल बनाने एवं तीव्र आर्थिक विकास के लिए सैनिक प्रतिस्पर्धा को रोककर शस्त्रास्त्र निर्माण के खर्च में कटौती करना चाहते थे। इस बात को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इस संधि से दोनों महाशक्तियों के बीच सामरिक सन्तुलन में कोई अन्तर नहीं पड़ा। मध्यम मार के परमाणु प्रक्षेपास्त्र यूरोपीय रणक्षेत्र में तैनात थे, जिसकी स्थिति को हेलसिंकी समझौते के बाद कतई संकटपूर्ण नहीं समझा जा सकता। कुल मिलाकर आई० एन० एफ० संधि निशस्त्रीकरण का ठोस प्रयत्न कम, इस बात का संकेत अधिक है कि महाशक्तियों ने आपसी सम्बन्धों में सुधार के लिए अपने-अपने शिविरानुचर/आश्रित देशों के सामरिक सुरक्षा हितों को गौण माना।

वाशिंगटन वार्ता, 1990

जून 1990 में अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव के बीच वाशिंगटन में शिखर वार्ता हुई, जिसके नतीजे काफी उत्साहवर्धक माने गये। दोनों नेता कुछ श्रेणियों के सामरिक परमाणु अस्त्रों में 50 प्रतिशत तक की कटौती पर सिद्धान्त रूप में सहमत हुए। वे यूरोप में तैनात पारम्परिक सेनाओं और हथियारों में कमी के काम में तेजी लाने के लिए भी तैयार हुए। इस सम्बन्ध में पूरी संधि पर दिसम्बर 1990 तक हस्ताक्षर करना तय हुआ, किन्तु अपरिहार्य परिस्थितियों के कारण इस 'स्टार्ट संधि' पर अगस्त, 1991 में ही हस्ताक्षर हो सके।

वाशिंगटन शिखर-वार्ता के दौरान अमरीका और सोवियत संघ के बीच परमाणु एवं रासायनिक हथियारों में कटौती तथा व्यापार-वृद्धि सम्बन्धी महत्वपूर्ण समझौते हुए। हालांकि कुछ टिप्पणीकारों का मानना है कि बदले अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में ये समझौते ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं थे, क्योंकि दोनों देश स्वयंमेव अपने रक्षा बजट पर खर्च लगातार कम करते जा रहे थे। दोनों देश हजारों टन विनाशकारी रासायनिक हथियार नष्ट करने और अपना शस्त्र भंडार पांच हजार टन तक घटाने पर सहमत हुए। इन्हें नष्ट करने का काम 1992 से शुरू होकर 2002 तक चलेगा। दोनों नए रासायनिक हथियारों का उत्पादन नहीं करेंगे।

दोनों नेताओं के बीच जर्मनी के एकीकरण और यूरोप में नई सुरक्षा व्यवस्था पर कोई सहमति कायम नहीं हो सकी। बुश चाहते थे कि एकीकृत जर्मनी 'नाटो' का सदस्य बने और 'नाटो' यूरोपीय सुरक्षा का केन्द्र बिन्दु रहे, जबकि गोर्बाच्योव ने दुनिया के समस्त सैनिक संगठनों को धीरे-धीरे भंग करने और यूरोपीय देशों की सुरक्षा तथा उनमें सहयोग बढ़ाने के लिए 35 देशों का सम्मेलन आयोजित करने का प्रस्ताव रखा। गोर्बाच्योव ने सुझाव दिया कि एकीकृत जर्मनी दोनों खेमों के बीच तटस्थ रहे या दोनों गठजोड़ों में सदस्यता हासिल करे या फिर 'नाटो' के राजनीतिक ढांचे में भले ही शामिल हो किन्तु उसकी सैनिक कमान से दूर रहे। किन्तु अमरीका को इनमें से कोई भी विकल्प मंजूर नहीं था, जिससे उनमें इस पर मतभेद बने रहे।

हमारी समझ में वाशिंगटन शिखर सम्मेलन को जरूरत से ज्यादा तूल दिया गया, क्योंकि इसमें एक पक्ष का नेतृत्व ऐसे व्यक्ति ने किया, जिसकी अपनी स्थिति निरापद नहीं थी। यह बैठक ठीक उस समय हुई, जब सोवियत संघ के बाल्टिक गणतंत्र जोर-शोर से आजादी का सवाल उठा रहे थे और गोर्बाच्योव अपनी 'पेरेस्त्रोयका' और 'ग्लासनोस्त' की नीतियों में अपेक्षित सफलता न मिलने के कारण आलोचना के शिकार बन रहे थे। अफगानिस्तान से 'घायल वापसी' के बाद सोवियत संघ अमरीका से टकराने की स्थिति में नहीं रह गया आंतरिक व बाह्य परिस्थितियों के दबाव में अपनाया गया 'रियायती राजनय' अमरीका-सोवियत सम्बन्धों में स्थायित्व नहीं ला सकता था।

'स्टार्ट' संधि
(Strategic Arms Reduction Treaty or START)

अमरीका और सोवियत संघ ने 31 जुलाई, 1991 को मास्को में लम्बी दूरी के हजारों नाभिकीय प्रक्षेपास्त्र खत्म करने के लिए सामरिक अस्त्र परिसीमन संधि 'स्टार्ट' पर हस्ताक्षर किये। परमाणु शस्त्रों की कटौती की दिशा में इस संधि को ऐतिहासिक महत्व का प्रचारित किया गया। 600 पृष्ठों के इस समझौते पर अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने जिन कलमों से दस्तखत किये वे 1987 की आई० एन० एफ० संधि के तहत नष्ट किये गये प्रक्षेपास्त्रों के टुकड़ों से बनी थीं। ऐसा इस संधि को नाटकीय तरीके से अत्यन्त महत्वपूर्ण झलकाने-दर्शाने के लिए किया गया।

असल में, स्टार्ट संधि दोनों महाशक्तियों के बीच नौ साल तक चली गम्भीर वार्ता का परिणाम है। इससे सोवियत संघ के परमाणु भंडार में 35 प्रतिशत और

अमरीकी सत्तर में 28 प्रतिशत की कटौती होगी। इससे दोनों देशों के परमाणु हथियारों की संख्या उतनी ही हो जायगी जितनी 1982 में वार्ता शुरू होने के समय थी।

इस कटौती के बाद अमरीका और सोवियत संघ में से हरेक के पास 6 000 सामरिक परमाणु हथियार बच रहेंगे। दोनों के सत्तर में अंतर-महाद्वीपीय और पनडुब्बी से छोड़े जाने वाले बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों तथा हवा से मार करने वाले क्रूज प्रक्षेपास्त्रों की संख्या 1 600 रह जायगी। इसके बावजूद अमरीका के पास नौ हजार और सोवियत संघ के पास सात हजार परमाणु हथियार बचे रहेंगे। इस संधि के मुताबिक अब दोनों में से प्रत्येक के पास सामरिक परमाणु अस्त्र प्रक्षेपक वाहकों (एस० एन० डी० वी० सी०) की संख्या 1600 से ज्यादा नहीं हो सकेगी।

संधि के तहत दोनों पक्ष एक-दूसरे के यहां जाकर मौके पर निरीक्षण कर सकेंगे। पुष्टि और जांच के लिए दोनों पक्ष एक संयुक्त आयोग बनायेंगे।

स्टार्ट संधि 15 साल तक वैध रहेगी। इस अवधि के समाप्त होने से पहले नई संधि करके इसे खत्म भी किया जा सकेगा। अगर 15 वर्ष के बाद दोनों पक्ष सहमत होंगे तो इसे अगले पांच वर्षों के लिए बढ़ाया भी जा सकेगा।

इस संधि को उस दिन से लागू माना जायगा जब अमरीकी सीनेट इसे दो तिहाई बहुमत से मंजूरी देगी। इस अभूतपूर्व निरस्त्रीकरण प्रक्रिया के तहत दोनों महाशक्तियां सात साल के भीतर तीन चरणों में परमाणु हथियारों में तय की गई कटौती करेंगी।

मगर इस संधि में समुद्र से छोड़े जाने वाले क्रूज प्रक्षेपास्त्रों को शामिल नहीं किया गया है। सोवियत संघ इन्हें भी संधि की परिधि में शामिल करने पर जोर देता रहा किन्तु अमरीका के लगातार मना करने पर उसने इसे छोड़ दिया। बदले में दोनों ने एक-दूसरे को 600 किलोमीटर से अधिक लम्बी दूरी के ऐसे परमाणु प्रक्षेपास्त्रों का ब्यौरा देना मंजूर कर लिया।

इस संधि को ऐतिहासिक शुरूआत की संज्ञा अवश्य दी जा सकती है किन्तु आज दोनों महाशक्तियों के पास जितनी अधिक विध्वंस क्षमता है उसकी तुलना में यह संधि कोई बड़ा परिवर्तन नहीं मानी जा सकती।

इस वर्ष की एक महत्वपूर्ण घटना यह थी कि अमरीका ने सोवियत संघ को व्यापारिक दृष्टि से सबसे अनुकूल राष्ट्र का दर्जा देने की घोषणा की जिससे दोनों के व्यापार सम्बन्धों में वृद्धि और सोवियत संघ को बड़े पैमाने पर अमरीकी ऋण एवं मदद मिलने की आशा बंधी।

निःशस्त्रीकरण के मार्ग में समस्याएँ एवं बाधाएं

निःशस्त्रीकरण के बारे में उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में अनेक प्रयास किये गये किन्तु आंशिक सफलता ही हाथ लगी। निःशस्त्रीकरण के मार्ग में आने वाली प्रमुख समस्याएं एवं बाधाएं निम्नांकित हैं

(अ) बड़ी शक्तियों की शस्त्रोन्मुख अर्थव्यवस्थाएं—दुनिया की चार बड़ी शक्तियां—अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस की अर्थव्यवस्थाएं शस्त्रोन्मुख हैं। ये देश अस्त्र-शस्त्रों का निर्यात करके प्रतिवर्ष अरबों डालर कमाते हैं। इनकी अर्थव्यवस्थाओं में शस्त्र उद्योग इतना मजबूत आधार स्तम्भ बन चुका है कि वे

उसे एकदम बदल भी नहीं सकते। इस प्रकार बड़ी शक्तियों की 'शस्त्राभिमुख अर्थव्यवस्थाएँ' निशस्त्रीकरण के मार्ग में एक महत्वपूर्ण बाधा के रूप में खड़ी हैं।

(व) संकीर्ण राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता—विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपने-अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति निर्धारण करना स्वाभाविक एवं उचित है। परन्तु, उनके द्वारा संकीर्ण राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता देने पर निशस्त्रीकरण अभियान को गहरी ठेस पहुँचती है। एक राष्ट्र द्वारा संकीर्ण राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता देने पर दूसरे राष्ट्र भी ऐसा ही करते हैं और निशस्त्रीकरण प्रयास असफल हो जाते हैं।

(स) शस्त्र लॉबी का दुष्प्रचार—बड़ी शक्तियों की शस्त्र लॉबियाँ (Arms Lobbies) निशस्त्रीकरण के विरुद्ध प्रचार करती रहती है। वे विभिन्न देशों में हमेशा यह प्रचार करवाती रहती हैं कि उनके शत्रु देश का सालाना प्रतिरक्षा बजट लगातार बढ़ता जा रहा है, ताकि नित नए शस्त्रों का आविष्कार एवं उत्पादन होता रहे और उन्हें मुनाफा मिलता रहे। किसी निशस्त्रीकरण समझौते के सम्पन्न होने पर वे उसकी आलोचना भी करती हैं। मसलन, मई 1979 में अमरीका और सोवियत संघ के बीच साल्ट-दो समझौता होने पर अमरीकी शस्त्र कम्पनियों की अनेक लॉबियों ने प्रचार किया कि साल्ट-दो समझौते से सोवियत संघ के मुकाबले अमरीका सैनिक रूप में कमजोर हो जायेगा। इस प्रकार इन शस्त्र लॉबियों के दुष्प्रचार से निशस्त्रीकरण अभियान की गति में अनेक प्रकार की रुकावटें उत्पन्न हो जाती हैं।

(द) एक-दूसरे पर श्रेष्ठता की स्थापना की महत्वाकांक्षा—राष्ट्रों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध श्रेष्ठता (superiority) और सुरक्षा स्थापित करने की महत्वाकांक्षा से शस्त्रीकरण की होड़ आरम्भ हो जाती है। एक देश द्वारा शस्त्रास्त्र बनाने पर दूसरा देश क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्धान्त (Action-Reaction Theory) के अनुसार स्वतः उसकी अपेक्षा अधिक अच्छे शस्त्र बनाने लगता है। मसलन, अमरीका और सोवियत संघ को ही लें, जो शस्त्रीकरण की होड़ में सबसे आगे रहे हैं। अमरीका ने कुछ प्रक्षेपास्त्र बनाये तो सोवियत संघ ने उसके जवाब में 'बेकफायर' बमवर्षक (Backfire Bombers)। दोनों महाशक्तियाँ अनेक किस्मों के घातक परमाणु हथियार बनाने में सक्रिय रही हैं। उनके पास इन हथियारों की एक झलक निम्नांकित उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

(1) भूतल से छोड़े जाने वाले प्रक्षेपास्त्र, जिनके कोने पर बम लगे होते हैं, जैसे अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र (Inter-Continental Ballastic Missiles) एवं मध्यम मार करने वाले प्रक्षेपास्त्र (Medium Range Ballastic Missiles);

(2) पानी के अन्दर से छोड़े जाने वाले प्रक्षेपास्त्रों जैसे (Submarine Launched Ballastic Missiles), और

(3) विमान स्थित प्रक्षेपास्त्र (Air-Borne Missiles), जो लड़ाकू विमानों से छोड़े जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्रों द्वारा एक-दूसरे पर श्रेष्ठता एवं सुरक्षा स्थापित करने की महत्वाकांक्षा ने नित नई-नई किस्मों के हथियारों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है। यह प्रवृत्ति निशस्त्रीकरण के मार्ग में एक महत्वपूर्ण बाधा सिद्ध हो रही है।

(य) निरीक्षण एवं सत्यापन की समस्या (Problem of Inspection and Verification)—निशस्त्रीकरण के मार्ग में एक प्रमुख बाधा निरीक्षण तथा सत्यापन

की है। निशस्त्रीकरण वार्ताओं मे प्राय इस बात पर गतिरोध उत्पन्न हो जाता है कि शस्त्रास्त्रों की कटौती और उनकी समाप्ति के लिए निरीक्षण और सत्यापन कर निशस्त्रीकरण के पूर्णत पालन के बारे मे यथार्थ का कैसे पता लगाया जाये ? किस गति से शस्त्र भण्डार समाप्त किये जायें ? कितने चरण मे उन्हे समाप्त किये जायें ? इन सबका निरीक्षण एव सत्यापन करने वाली सत्ता (Authority) कौन हो ? इसमें कौन से व्यक्ति होंगे ? आदि।

(र) मार्गेन्थो द्वारा बतायी गयी चार समस्याएँ—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विख्यात विद्वान् हस मार्गेन्थो ने निशस्त्रीकरण के मार्ग मे आने वाली जिन चार प्रमुख समस्याओं का उल्लेख किया है, वे निम्नांकित हैं

(i) विभिन्न राष्ट्रों के शस्त्रास्त्रों के बीच अनुपात कितना होगा ?

(ii) वह मापदण्ड क्या है, जिसके अनुसार इस अनुपात के तहत विभिन्न किस्मो एव गुणो के शस्त्र विभिन्न देशो के लिए निर्धारित किये जायेंगे ?

(iii) उक्त दो प्रश्नो के उत्तरो का हथियारो की सोची गयी कमी पर वास्तविक प्रभाव क्या पड़ेगा ?

(iv) निशस्त्रीकरण का अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?[1] मार्गेन्थो आगे कहते हैं कि किसी भी निशस्त्रीकरण प्रयास का मूल्यांकन उक्त चार प्रश्नो के सन्दर्भ मे किया जाना चाहिए। निशस्त्रीकरण की सफलता एव असफलता इन्ही पर निर्भर है। लेकिन ये बातें तय करना अत्यन्त मुश्किल ही नहीं, बल्कि लगभग असम्भव है।

भारत और निशस्त्रीकरण
(India and Disarmament)

समय-समय पर भारत की निशस्त्रीकरण नीति विभिन्न राष्ट्रों और विद्वान-विशेषज्ञो की अत्यधिक आलोचना का शिकार बनी है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसकी अजीब भू राजनीतिक स्थिति होने के साथ-साथ राष्ट्रीय हितो के विचार-धारा के साथ जटिल मल को आलोचक सही ढग से समझ नहीं पाये हैं। आजादी के बाद प्रारम्भिक वर्षों मे भारत सैनिक दृष्टि से ताकतवर देश नही था। इन वर्षों म अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो थोड़ा-बहुत प्रभाव भारत ने डालना चाहा, वह उसके द्वारा गुट निरपेक्षता अर्थात् महाशक्तियो और बड़ी शक्तियो की गुटबाजी से दूर रहने की नीति का पालन करने से पड़ा था। 1962 तक अफ्रो-एशियाई महाद्वीपो म कम ही देश स० रा० सघ के सदस्य बने थे, जिस कारण इस सगठन के अन्तर्गत होने वाले निशस्त्रीकरण प्रयासो मे भारत द्वारा बहुत सक्रिय भूमिका निभाना सम्भव नही था। मगर 1962 मे 18 देशो की निशस्त्रीकरण समिति मे भारत को सदस्य बनाया गया, क्योकि बड़े देश गुट-निरपेक्ष नीति की लोकप्रियता को देखते हुए आठ गुट-निरपेक्ष देशों को इस समिति मे सदस्य बनाना चाहते थे।

धीरे-धीरे निशस्त्रीकरण वार्ताओं मे भारत की भूमिका का महत्व बढ़ने लगा। अमरीका और सोवियत सघ के बीच मत-भिन्नता मे भारतीय गुट-निरपेक्ष नीति की प्रासंगिकता सिद्ध हुई। भारत ने बड़ी शक्तियो से अपील की कि उन्हे न तो युद्ध या

[1] हंस जे० मार्गेन्थो, 'राष्ट्रों के मध्य राजनीति' (चण्डीगढ़, 1976) पृ० 469

धमकी और न ही 'शीत युद्ध' के मुहावरों में बोलना चाहिए।[1] उसने निशस्त्रीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया।

भारत निशस्त्रीकरण का जोरदार पक्षधर क्यों ?

(अ) परमाणु शस्त्र आक्रामक—भारत द्वारा निशस्त्रीकरण का समर्थन करने का पहला कारण उसने परमाणु शस्त्रों को हमेशा सुरक्षात्मक नहीं, बल्कि आक्रामक और आत्मघाती माना है। उसने अपने विभिन्न प्रयासों में परम्परागत शस्त्रास्त्रों को भी कम करने पर सदैव जोर दिया है।

(ब) गरीब देशों की सहायता—भारत का मानना है कि शस्त्रीकरण पर किया जाने वाला असीमित खर्च यदि गरीब देशों को उनके विकास के लिए सहायता के रूप में दिया जाये तो यह अत्यन्त उपयोगी होगा। 1950 में इसी को भारत ने सं० रा० संघ मे एक प्रस्ताव रखकर शान्ति कोष की स्थापना की सिफारिश की थी।

(स) आन्तरिक विकास के लिए जरूरी—निशस्त्रीकरण भारत के आन्तरिक विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी है। नेहरू जी ने एक साक्षात्कार में कहा था कि शस्त्रीकरण पर हमारे ससाधन खर्च करने पर मुझे दुख होता है, जबकि सामाजिक-आर्थिक विकास के क्षेत्र से बहुत कुछ किया जाना शेष है। उन्होंने आगे कहा कि हमारी सामाजिक और आर्थिक स्थिति हमें निशस्त्रीकरण अपनाने को विवश करती है।[2]

(द) भारत विश्व शान्ति का पुजारी—भारत विश्व शान्ति एवं सुरक्षा का पुजारी है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भाव कायम करने की कामना रखता है। उसका मानना है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच के झगड़े हथियारों की लड़ाई से नहीं बल्कि शान्तिपूर्ण समाधान से हल किये जा सकते हैं।

भारत स० रा० संघ के अधीन हुई निशस्त्रीकरण वार्ताओं के स्वरूप से असन्तुष्ट रहा। मसलन, जेनेवा स्थित निशस्त्रीकरण समिति की अध्यक्षता महाशक्तियों को ही करने का अधिकार था। भारत लगातार यह तर्क देता रहा कि यह समिति स० रा० संघ के समस्त सदस्य राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। 1979 मे तत्कालीन भारतीय प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने सं० रा० संघ महासभा के विशेष अधिवेशन में बोलते हुए तीन बातें मुख्य रूप से कहीं—(अ) परमाणु अस्त्र नष्ट किये जायें; (ब) परम्परागत शस्त्रास्त्रों की होड़ रोकी जाये; और (स) निशस्त्रीकरण की गति तेज करने के लिए सं० रा० संघ की निशस्त्रीकरण समिति का ढाँचा बदला जाये। देसाई के इन प्रस्तावों से निम्नांकित ठोस प्रभाव पड़े—(अ) जेनेवा निशस्त्रीकरण समिति की सदस्य संख्या 18 से बढ़ाकर 33 कर दी गयी; (ब) निशस्त्रीकरण समिति की अध्यक्षता को बारी-बारी से सौंपने (Rotate) का निर्णय लिया गया; और (स) निशस्त्रीकरण समिति को स० रा० संघ में ऊँचे दर्जे का स्थान दिया गया। मसलन, निशस्त्रीकरण समिति के सचिव को सं० रा० संघ के उपसचिव के समकक्ष माना गया।

[1] Jawaharlal Nehru, *India's Foreign Policy* : 1946–61 (Delhi, 1961), 185.

[2] Narayan M. Gahate, *Disarmament in India's Foreign Policy*, 1947–1965, (Washington D. C., 1966), 4

भारतीय निशस्त्रीकरण नीति की आलोचना

ज्यों-ज्यों भारत मध्यम-स्तरीय विश्व शक्ति के रूप में उभरने लगा, त्यों-त्यों इसकी निशस्त्रीकरण नीति कटु आलोचना का निशाना बनने लगी। आलोचकों द्वारा कहा जाने लगा कि 1963 वाली आंशिक परीक्षण रोक सन्धि पर भारत ने हस्ताक्षर किये थे जो उसके निशस्त्रीकरण में पूर्ण विश्वास का सूचक थी, किन्तु 1968 वाली परमाणु प्रसार रोक सन्धि पर हस्ताक्षर करने से मना करना उसके निशस्त्रीकरण में विश्वास को सन्देहास्पद बना देता है। इस समय भारत स्थल सैनिकों की संख्या के हिसाब से विश्व में दूसरा और वायु सैनिकों के हिसाब से पाँचवाँ स्थान रखता है। परम्परागत शस्त्रास्त्रों के क्षेत्र में यह विकसित देशों के समतुल्य हो गया है। मई, 1974 में राजस्थान के पोखरन नामक स्थान पर परमाणु परीक्षण उसके शस्त्रीकरण के इरादों को जाहिर करता है। भारतीय निशस्त्रीकरण नीति के आलोचक इस प्रकार के अनेक तर्क देते हैं।

परमाणु प्रसार रोक सन्धि पर हस्ताक्षर न करने का कारण

भारत द्वारा इस सन्धि पर हस्ताक्षर न करने का अर्थ कदापि यह नहीं लिया जाना चाहिए कि वह निशस्त्रीकरण का विरोधी है। इस सन्धि में अनेक प्रकार के दोष होने के कारण उसने इस पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। प्रमुख कारण निम्नांकित हैं—

(क) **सन्धि भेदभावपूर्ण**—इस सन्धि में की गयी व्यवस्थाएँ बड़ी शक्तियों और छोटे राष्ट्रों में भेदभाव करती हैं। मसलन, इस सन्धि के द्वारा बड़ी शक्तियाँ अपने परमाणु संयन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के लिए खोलने को तैयार नहीं, जबकि छोटे राष्ट्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण अनिवार्य शर्त रखी गयी है। भारत का तर्क है कि सभी राष्ट्रों के लिए बिना भेदभाव के समान व्यवस्था हो।

(ख) **सन्धि परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण कार्यों के उपयोग में बाधक**—इस सन्धि पर हस्ताक्षरकर्ता देश द्वारा परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। सन्धि में कहा गया है कि हस्ताक्षरकर्ता देश परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग के बारे में वे अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी के साथ समझौता कर ही ऐसा करेंगे। इससे होगा यह कि बड़ी शक्तियाँ दबाव की कूटनीति अपनाकर या तकनीकी आधार का बहाना बनाकर अनेक प्रकार की बाधाएँ खड़ी कर देंगी, जिससे छोटे राष्ट्र परमाणु ऊर्जा का शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग नहीं कर सकेंगे। भारत इस आधार पर इसका विरोध करता है।

(ग) **चीन का आक्रामक रवैया जग-जाहिर**—1954 में 'पंचशील' समझौता करने वाला पड़ोसी देश साम्यवादी चीन 1962 में भारत के साथ सैनिक मुठभेड़ पर उतर आया। 1964 में उसने परमाणु बम बना लिया। यदा कदा वह भारत को धमकी देता रहता है। उसने वियतनाम पर 1979 में हमला बोल दिया। इन सब बातों को देखते हुए भारत को चीन के आक्रामक परमाणु रवैये से सावधान रहना पड़ता है, जिस कारण भारत परमाणु प्रसार रोक सन्धि पर कैसे हस्ताक्षर कर सकता है।

(घ) पाकिस्तान परमाणु बम बनाने में सक्रिय—पाकिस्तान काफी वर्षों से परमाणु बम बनाने का भरसक प्रयास कर रहा है। इसके लिए उसने पश्चिमी यूरोपीय देशों से परमाणु साज-समान की चोरी तथा तस्करी की। लीबिया एवं सऊदी अरब, इजराईल के खिलाफ लड़ने के लिए पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बनाने के प्रयास मे विशाल आर्थिक मदद देते रहे है। हालांकि वे उसे इजराईल के विरुद्ध इस्लामी बम की सज्ञा देते हैं, किन्तु पाकिस्तान इसे भारत के विरुद्ध प्रयोग करेगा क्योंकि वह भारत को पहले दर्जे का शत्रु मानता है, इजराईल को नहीं। ऐसी अवस्था मे भारत परमाणु प्रसार रोक सन्धि पर हस्ताक्षर कर सदैव के लिए अपने हाथ कैसे बंधवा सकता है?

(ङ) भारत एक शान्तिप्रिय देश है—भारत हमेशा शान्तिप्रिय देश रहा है। उसने निशस्त्रीकरण का सदैव समर्थन किया है। 1974 मे पोखरन में सफल परमाणु परीक्षण करने के बावजूद उसने परमाणु बम का निर्माण नही किया, जो उसके परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण कार्यों के प्रयोग का सूचक है। परमाणु प्रसार रोक सन्धि पर टिप्पणी करते हुए मेसन विलरिच (Mason Willrich) ने सही ही कहा है कि 'इस सन्धि का अर्थ है—परमाणु हथियारों पर अनिश्चित काल तक मौजूदा पाँच परमाणु देशों का एकाधिकारपूर्ण नियन्त्रण (exclusive control) रहना। इस सन्धि का मकसद किसी छठे देश को परमाणु हथियार सम्पन्न बनने से रोकना है। सन्धि मे यह बात भी निहित है कि परमाणु आयुध-विहीन राष्ट्र को किसी भी हमले से सुरक्षा के लिए एक या अधिक परमाणु हथियार सम्पन्न देशों पर अनिश्चित काल तक के लिए निर्भर रहना पड़ेगा।'[1] यही कारण है कि शान्तिपूर्ण राष्ट्र होने के बावजूद भारत ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर नही किये हैं। के० सुब्रह्मण्यम ने ठीक ही कहा है कि 'परमाणु निशस्त्रीकरण का प्रश्न औद्योगिक जगत की जनता के दिलो-दिमाग मे ही जीता जायेगा। इसके लिए यह जरूरी है कि परमाणु अस्त्र प्रसार पर रोक की अपेक्षा परमाणु अस्त्रों के विरुद्ध मुहिम छेड़ी जाये। दुनिया को यह बात समझनी होगी कि परमाणु अस्त्र युद्ध के नहीं, बल्कि आतंकवाद के उपकरण हैं। पिछले ढाई दशकों मे यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो चुकी है कि परमाणु अस्त्र प्रसार रोक सन्धि विषयक भारतीय मत तर्कसगत है और इसको मिलने वाला अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन क्रमशः बढता जा रहा है।

[1] The Non-Proliferation Treaty implies that nuclear weapons will remain under the exclusive control of the present five nuclear weapon states for the indefinite future. The treaty is intended to prohibit any Sixth State from acquiring nuclear weapons and to foreclose the possibility of *transferring* nuclear weapons to multilateral structure, even though no increase should occur in the number of powers in the global system having control of nuclear weapons. The treaty also inescapably implies that, in a world limited to five nuclear weapon States, non-nuclear States will have to rely for the indefinite future on one or more nuclear weapon States as guarantors of their security against aggression.'—Mason Willrich, *'Non-Proliferation Treaty : Framework for Nuclear Arms Control'* (Charlottesville, Va., 1969), 178

दसवाँ अध्याय

पश्चिमी एशिया की राजनीति

मिस्र से लेकर इराक तक फैला भू-भाग 'पश्चिम एशिया' के रूप से विख्यात है। वैसे यह परिभाषा बहुत सन्तोषजनक नहीं, क्योंकि लगभग इसी क्षेत्र के लिए अक्सर 'मध्य-पूर्व' का प्रयोग भी होता है। हाल में इसमें लीबिया और कभी-कभार अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी छोर पर स्थित अल्जीरिया को जोड़ दिया जाता है। इसी तरह 'अरब विश्व' का उल्लेख किया जाये तो इस परिभाषा में खाड़ी देशों (ओमान, संयुक्त अरब अमीरात, दुबई, यमन आदि) को जोड़ना आवश्यक हो जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद के वर्षों से ही इस क्षेत्र की ये अलग-अलग परिभाषाएँ—निकट-पूर्व, मध्य-पूर्व, पश्चिम एशिया और 'अरब विश्व' एक साथ प्रचलित हैं।

वस्तुतः यह असमंजस में डालने वाली बात नहीं, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लगभग सभी अध्येता इस बात को भली-भाँति जानते हैं कि इन सभी नामों का अर्थ ईरान से लेकर अल्जीरिया तक फैले उस क्षेत्र से है, जिसकी बहुसंख्यक आबादी अरब है और इस्लाम धर्मावलंबी है। यह भी सच है कि इन दो महाद्वीपों को समेटने वाले क्षेत्र की भौगोलिक व भू-राजनीतिक परिभाषा भी काफी अस्पष्ट है। एक ओर भू-मध्य सागर तो दूसरी ओर अरब सागर की जल राशि इस यूरोप तथा मुख्य एशियाई भू-भाग से अलग करती है। स्वेज नहर के निर्माण तक अफ्रीका और एशिया के बीच कोई प्राकृतिक या कृत्रिम व्यवधान भी नहीं था। इसी तरह स्वयं अफ्रीकी महाद्वीप में पश्चिम एशियाई भू-भाग को सहारा का मरुस्थल अफ्रीकी नीग्रो संस्कार वाले हिस्से से अलग करता है। धार्मिक समानता के बावजूद जातिगत अन्तर के कारण उनमें समानता से अधिक भेद स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, पश्चिम एशियाई देश एक सांस्कृतिक विश्व में भी भागीदार हैं। आज से नहीं, सैकड़ों वर्ष पहले से अरब लोग अपने नौसैनिक, व्यापारिक, उद्यम और वैज्ञानिक-तकनीकी उपलब्धियों के लिए विख्यात रहे हैं। यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि ईसा के जन्म के हजारों वर्ष पहले नील नदी के तट पर और दजला फरहद की घाटियों में उत्कृष्ट नागरिक सभ्यता का विकास हो चुका था। जब मध्ययुगीन यूरोप अंध-विश्वास की बेड़ियों में जकड़ा था, तब अरब सैनिक विजेता स्पेन तक को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने में सफल हुए। अधिकांश अरब देश इस ऐतिहासिक दौर में एक जैसे खानाबदोश कबायली रूप में संगठित थे। उनके आर्थिक विकास का स्वरूप भी कमोबेश एक जैसा रहा। इस तरह यह बात प्रमाणित होती है कि आदि काल से ही पश्चिम एशिया (मध्य पूर्व या चाहे किसी अन्य नाम से पुकारा जाये) अपनी अलग भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहचान बनाये हुए है।[1]

[1] अरब लोगों के प्रारम्भिक इतिहास, उनके राजनयिक महत्व और विश्व को उनके सांस्कृतिक योगदान के लिए देखें—Petter Mansfield, *The Arabs* (London, 1978)

पश्चिम एशियायी क्षेत्र का महत्व

यूरोपीय शक्तियाँ औपनिवेशिक काल के प्रारम्भिक दौर से ही इस क्षेत्र के राज्यों का भू-राजनीतिक महत्व भलीभाँति समझती रही हैं। नेपोलियन मिस्र में फ्रांस की जड़ें इसीलिए रोपना चाहता था कि ब्रिटेन एशिया में अन्यत्र अपना प्रसार निर्द्वन्द्व रूप से न कर सके। स्वेज-नहर के निर्माण के बाद इस क्षेत्र का सामरिक महत्व और भी बढ़ गया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी और रूस की रुचि साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्विता के कारण इस क्षेत्र में बढ़ी। बर्लिन-बगदाद रेल मार्ग का निर्माण और मोरक्को-अगादीर संकट इस प्रवृत्ति के प्रमाण हैं। पहले विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन की रुचि अरब राजनीतिक उतार-चढ़ाव में और गहरी हुई तथा राष्ट्र-राज्यों के निर्माण व सरक्षण के साथ ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियाँ अनिवार्यतः जुड़ गयीं। टी० ई० लारेंस (T. E. Laurence) जैसे दुस्साहसिकों की शौर्य गाथाएँ इसी युग की देन हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान फील्ड मार्शल रोमेल और मोण्टगोमरी की नाटकीय मुठभेड़ों ने भी इस क्षेत्र के सामरिक महत्व को रेखांकित किया।

यहाँ एक और महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलाया जाना जरूरी है। प्रथम विश्व युद्ध के ठीक बाद पश्चिम एशिया के रेगिस्तानी इलाकों में बड़े पैमाने पर उत्कृष्ट किस्म के तेल भंडारों का पता चला। विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण यूरोप के लगभग सभी राष्ट्र इन पर अपना कब्जा करने के लिए व्याकुल हो उठे। इनमें सम्भवतः सबसे दूरदर्शी राजनयिक ब्रिटिश प्रशासक सर ओलिफ केरो थे, जिन्होंने इन तेलकूपों को 'शक्ति का कूप भण्डार' नाम दिया और 'वेल्स आफ पावर' (Wells of Power) नामक एक पुस्तक भी लिखी।

अधिकतर अरब देश इस स्थिति में नहीं थे कि वे अपनी तेल सम्पदा का दोहन अपने बूते पर करते। कबायली वैमनस्य के कारण अनेक राजवंश अपने को निरापद रखने के लिए विदेशी औपनिवेशिक सहायता पर निर्भर थे। ऐसे में पश्चिमी तेल कम्पनियों की घुसपैठ का काम आसान हो गया। इन पश्चिमी स्वार्थों के हित में यह निहित था कि इस क्षेत्र को आदिम हालत में ही रखा जाये। प्रगति-परिवर्तन की दर तेज होने से उनकी अपनी स्थिति को खतरा पैदा हो सकता था। यदि आज पश्चिम एशिया की राजनीति का संस्कार सामन्ती, मध्ययुगीन और कबायली है तो इसके लिए पश्चिमी औपनिवेशिक नीतियाँ ही जिम्मेदार हैं। अधिकतर अरब देश कभी गुलाम नहीं रहे, परन्तु उनकी स्थिति संरक्षित (Protectorate) पर निर्भर इकाइयों की रही।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पश्चिम एशिया में निर्णायक मोड़

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दो ऐसी घटनाएँ हुई, जिन्होंने पश्चिम एशिया की राजनीति को अप्रत्याशित और निर्णायक मोड़ दिया। इनमें एक था इजराईल का गठन और दूसरा, शीत युद्ध का आविर्भाव। वस्तुतः ये दोनों घटनाएँ आपस में मिली हुई हैं और सन्निपात के कारण ज्यादा खतरनाक बन गयीं। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी में नाजी तानाशाही ने यहूदियों पर अमानवीय अत्याचार किये और इन यहूदियों के प्रति सहानुभूति का विश्वव्यापी ज्वार उठा। 19वीं शताब्दी के आखिरी चरण से ही यत्र-तत्र बिखरे हुए यहूदी अपनी मातृभूमि

फिलस्तीन लौटने की मांग उठाते रहते। परन्तु दो हजार वर्ष पुराने महानिष्क्रमण (Exodus) को अनकिया करना यथार्थवादी नही समझा जाता था। 1945 के बाद बदली परिस्थिति मे विजित और पराजित दोनों ही तरह के यूरोपीय लोग यहूदियों के प्रति अपराध-बोध से ग्रस्त थे और यहूदियों की मातृभूमि के पुनर्निर्माण के लिए तैयार हो गये। उस वक्त किसी को यह सोचने की फुर्सत नहीं थी कि दो हजार वर्षों से फिलस्तीन मे रहने वाले इन अरबो का क्या होगा? धर्म और जाति के आधार पर गठित इजराईल न केवल एक कृत्रिम-आरोपित राज्य था, बल्कि इसके नागरिक अनेक देशो से लाये गये थे। अपनी अस्मिता की तलाश मे उनको यही बात सबसे सहज लगी कि बाहरी अरब शत्रु को तलाश कर लिया जाये। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात तो यह हुई कि नाजी अत्याचारों के फलस्वरूप प्रतिशोध की जो भावना यहूदियों के मन में बलवती हुई थी, उसका शिकार निर्दोष फिलस्तीनियों और दरिद्र-दुर्बल अरबो को बनना पड़ा।[1]

शीत युद्ध ने अपने कुतर्कों द्वारा पश्चिम एशिया के चेहरे को और भी कुरूप बना दिया। तत्कालीन अमरीका को यह लगता था कि अनेक दुर्बल अरब राज्य अस्थिर हैं और समाजवादी रुझान के कारण खतरनाक। इनमे साम्यवाद का प्रसार आसानी से हो सकता है। इसी कारण इजराईल को भरपूर सैनिक व आर्थिक सहायता देने में अमरीका कभी हिचकिचाया नहीं। यह भी जोड़ने की जरूरत है कि अमरीका की आन्तरिक राजनीति मे यहूदी मतदाताओं का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके प्रभाव एव सक्रियता के कारण इजराईल का समर्थन अमरीका की विवशता बन गया। शीत युद्ध के प्रारम्भिक दौर मे 'नोर्दर्न टियर' (Northern Tier) वाली रणनीति के अनुसार अमरीका ने 'सेन्टो' के गठन का प्रयत्न किया, परन्तु इसकी निरर्थकता मिस्र तथा इराक मे तख्ता पलट के बाद सामने आ गयी। साथ ही अनेक अरब राष्ट्रों मे (जैसे सऊदी अरब) मे बड़े पैमाने पर अमरीकी पूँजी निवेश के कारण इनसे रिश्ते तोड़ना सम्भव न था। इन्हें फुसला-बहलाकर या डरा-धमका कर साथ रखना अमरीका के लिए आवश्यक था। कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ कि पश्चिम एशिया की राजनीति मे 1945 के बाद दो गहरी दरारें पड गयी। इनमे एक दरार इजराईल और अरब राष्ट्रों के बीच थी तो दूसरी अमरीका के पिछलग्गू अरब राज्यों तथा सोवियत सघ के पक्षधर अरबों के बीच। पश्चिम एशिया की राजनीति के तमाम उतार-चढाव इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान मे रखते हुए विश्लेषित किये जाने चाहिएँ।

अरब-इजराईल सघर्ष के कारण
(Causes of Arab-Israel Conflict)

अरब इजराईल सघर्ष के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं :

1. साम्प्रदायिक वैमनस्य—यह बड़ी विचित्र बात है कि अरब और यहूदी इजराईली, जो पिछले चार दशक से एक-दूसरे के खून के प्यासे बन हैं और बार बार सर्वनाशक ढग से रक्षक्षेत्र मे टकरा चुके हैं, वे एक ही नस्ल के हैं और इस बात को भुलाते हैं कि अरब-इजराईल सघर्ष का एक आयाम जातीय वैमनस्य वाला

[1] विस्तृत जानकारी के लिए देखें—Walter Laquer, *Confrontation : The Middle East and World Politics*, (London, 1974)

है। अरब और यहूदी 'सिमेटिक' नस्ल के हैं और ईसा के जन्म के पहले इनकी जीवन-यापन शैली, रहन-सहन व धार्मिक मान्यताएँ एक सी थी। लेकिन क्रमश: ईसाई धर्म के प्रसार तथा इस्लाम के अविर्भाव के कारण विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच की खाई ने उनकी जीवन-यापन शैली को इतने बुनियादी ढग से परिवर्तित किया कि एक ही वंश-जाति के लोग एक-दूसरे के लिए अपरिचित हो गये। इस्लाम और यहूदी धर्म दोनो ही कट्टर हैं। वे अपनी व्यवस्था के बाहर किसी और ईश्वर को नही पहचानते। सैद्धान्तिक रूप से सहिष्णुता की बात भले ही नाम-मात्र को कही जाये, किन्तु व्यवहार में ऐसा अपवादस्वरूप ही होता है। इसी कारण बाइबिल के पुराने 'टेस्टामेंट' में वर्णित पैगम्बरों, हजरत मूसा, इब्राहीम आदि की साझेदारी होने पर भी ईसाइयों और यहूदियों के बीच सदियों से न पाटी जा सकने वाली दरार रही है। इस्लाम के साथ तो यह अन्तर और भी गहरा है। फिलस्तीनी प्रदेश में ईसाई वर्चस्व बढ़ने के साथ हिब्रू लोगों का निष्क्रमण तेज हुआ। इधर-उधर तितर-बितर होने के बाद अपनी अस्मिता अक्षत रखने के लिए उन्हें धार्मिक कट्टरता का सहारा लेना पड़ा। उनके मन में निरन्तर यह भावना बनी रही कि उन्हें बेघर किया गया है और एक न एक दिन वे वापस अपनी जन्मभूमि में लौट जायेंगे—जियोन पर्वत की तलहटी में स्थित फिलस्तीन में।

यहूदी लोगों का फिलस्तीन के बाहर 'प्रवास' लगभग दो हजार वर्ष लम्बा रहा। इस बीच धर्म युद्धों के दौर में यह प्रदेश ईसाईयों और मुसलमानों के बीच धार्मिक महत्व का बन गया। अत जब 1945–46 मे इस स्थान में यहूदियों को फिर से बसाया गया, तो अनेक मुसलमानों और कुछ ईसाइयो को इस बात से असन्तोष हुआ। उन्हे लगा कि उनके धार्मिक स्थानों की पवित्रता कट्टर यहूदियो द्वारा नष्ट कर दी जायेगी। अरब-इजराईल संघर्ष की कटुता-कट्टरता और हिंसा को बढ़ाने के लिए यह धार्मिक-साम्प्रदायिक कारण मुख्य रूप से उत्तरदायी है। अधिकांश अरब राष्ट्रों मे, जहाँ साक्षरता का विस्तार अधिक नही और सामाजिक विषमता व्याप्त है, धर्म के नाम पर ही एकता और दिशा प्राप्त की जा सकती है। द्वितीय विश्व युद्ध के काल से ही अरब देशों के लिए इजराईल के साथ मुठभेड़ 'जिहाद' का नया संस्करण है। इसी तरह इजराईल का निर्माण धर्म के आधार पर ही किया गया। यहूदी धर्म तथा संस्कृति के बीच विभाजन रेखा बहुत अस्पष्ट है। यहूदियों के सामूहिक अवचेतन मे यह अनुभूति गहरी दबी है कि बार-बार आक्रमणकारी उनके प्राचीन मन्दिरों को तोड़ने के लिए दुस्साहसिक अत्याचार करते रहे और उन्हें शरणार्थी बनाते रहे। छापामारी के बाद ही वे अपने मंसूबे (इजराईल की स्थापना) प्राप्त कर सके और आज भी अपनी रक्षा शस्त्र से ही कर सकते हैं। इस धार्मिक-साम्प्रदायिक स्वर के कारण अरब-इजराईल संघर्ष का तर्कसंगत विश्लेषण करना अक्सर कठिन हो जाता है, क्योंकि धर्म एवं आस्था के प्रश्न भावावेश, आवेग और अन्ध-विश्वास से जुड़े रहते हैं, विवेक और बुद्धि से नहीं। हम अपने वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को अरब देशों और इजराइलियों पर प्रत्यारोपित नहीं कर सकते और न पश्चिम एशिया में मजहब की राजनीति को अनदेखा कर सकते हैं।

2. **सामाजिक व आर्थिक कारण**—प्रसिद्ध यहूदी इतिहासकार इसाक डोयशर का कहना था की यहूदी लोग सीमान्ती होते हैं। ऐसे सीमान्ती शरणार्थी व्यक्ति या समूह के लिए हमेशा यह विवशता होती है कि वे अपने उद्यम, कौशल, प्रत्युत्पन्नमति,

अध्यवसाय आदि से जीविकोपार्जन करें और अपने ऊपर होने वाले शोषण-उत्पीडन के दुष्परिणामो-कुप्रभावो को कम कर सहनीय बना सकें। यहूदी शरणार्थियो का दो हजार वर्ष लम्बा इतिहास इस तर्क को सगत सिद्ध करता है। न केवल इधर-उधर भटकने वाले यहूदी बचे रहे, बल्कि उन्होंने अपनी पहचान सुरक्षित रखी एव सगीत, कला, विज्ञान, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व पूंजी निवेश के क्षेत्र मे अद्भुत मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया। इन क्षेत्रो मे उनकी उपलब्धियाँ उल्लेखनीय रहीं। विडम्बना तो यह है कि इस सफलता ने 20वी सदी मे अरबो के साथ वैमनस्य को बढावा ही दिया। फिलस्तीन प्रदेश प्रथम विश्व युद्ध तक तुर्की साम्राज्य का हिस्सा था। 1920 मे उसे मेंडेट क्षेत्र घोषित कर दिया गया और वह ब्रिटेन के नियन्त्रण मे आया। 1925 की बेलफूर घोषणा के अनुसार इसके बाद क्रमश यहूदी दूसरे देशों से लाकर यहाँ बसाये जाने लगे। 1920 मे कुल आबादी मे यहूदियो का 16 प्रतिशत हिस्सा था और 1947 तक यह बढकर 24 प्रतिशत हो गया। स्थानीय अरब इनकी तुलना मे अपेक्षाकृत कम शिक्षित और कम परिश्रमी थे। उन्हे लगता रहा कि ये बाहरी घुसपैठिये धीरे-धीरे उन्हे बेघर कर देंगे और सभी लाभप्रद उद्योग-धन्धे हथिया लेंगे। एक सीमा तक हुआ भी यही।

3. इजराईल की स्थापना—यो तो बेलफूर घोषणा ने यहूदियो के लिए एक राष्ट्रीय निवास (National Home) की व्यवस्था सुझायी थी और मेंडेट काल मे इस दिशा मे कुछ प्रगति भी हुई थी, किन्तु अरब राष्ट्र यह मानने को तैयार नही थे कि उनकी भूमि मे कोई कृत्रिम राज्य जबरन बनाया जायेगा। अरबो की भूमि यहूदियो को हस्तान्तरित करने ने साम्प्रदायिक वैर को आर्थिक हितो के घातक टकराव मे बदल दिया था। फिर भी थोडी आशा बची थी कि सयुक्त राष्ट्र सघ के तत्वावधान मे परामर्श द्वारा सर्वसम्मति से कोई व्यवस्था हो सकती है। अनेक प्रयत्नों के बाद भी ऐसा सम्भव नही हुआ। अन्तत 14 मई, 1948 को ब्रिटेन ने फिलस्तीन मे मेंडेट समाप्ति की घोषणा की और इसके साथ ही यहूदी राज्य 'इजराईल' की स्थापना कर दी गयी। बेहद नाटकीय ढग से अमरीका ने पाँच मिनट के भीतर इस नये राज्य को मान्यता दे दी। शीघ्र ही सोवियत सघ ने भी इसे मान्यता दे दी। दोनों महाशक्तियों के अलावा ब्रिटेन और फ्राम द्वारा सहायता का आश्वासन पाने के बाद इजराईल अपनी सुरक्षा के लिए हथियार उठाने को तत्पर हुआ। वह न केवल अरब देशो के सयुक्त आक्रमण को झेलने मे सफल हुआ, बल्कि उसने आक्रमणकारियो के बहुत बडे भू-भाग को भी अपने अधिकार मे ले लिया। शुरू मे इजराईल का क्षेत्रफल कुल 14,100 वर्ग किमी० था परन्तु इस युद्ध के बाद उसने इसे 20,700 वर्ग किमी० तक बढा लिया। पश्चिमी गेलीली, सिनाई तथा पश्चिमी नेगेव का बडा हिस्सा इजराईल मे जुड गया। जेरूसलम नगर का बडा हिस्सा तथा गाजा पट्टी के कुछ हिस्से पर इजराईल का अधिकार हो गया। अरबो की इस हार ने विश्व भर मे उनका भयकर जातीय एव राष्ट्रीय अपमान कर दिया। इसके बाद अरबो मे अपने राष्ट्रीय गौरव और जातीय अहकार की पुनर्स्थापना के लिए प्रतिशोध की भावना भविष्य मे युद्ध का एक और कारण बनी।

4. भू-राजनीतिक कारण—प्रथम अरब-इजराईल युद्ध के बाद इस वैमनस्य मे एक भू-राजनीतिक प्रतिस्पर्धा (Geo-Political Rivalry) भी जुड गयी। मिस्र ने गाजा पट्टी (Gaza Strip) के हिस्से पर कब्जा कर लिया (अन्यत्र हार के

बावजूद) जो आक्वा की खाडी के रास्ते इजराईल को भू-मध्य सागर से जोडती थी। इजराईल के लिए यह सामरिक महत्व की पट्टी थी। इसी तरह सिनाई और गोलान पहाड़ियों पर कब्जा करने के बाद इजराईल, सीरिया तथा जोर्डन के लिए जानलेवा खतरा बन गया। इसके बाद क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे अरब-इजराईल युद्धों ने संघर्ष के नये-नये बीज बोये। 1956 में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद पश्चिमी राष्ट्रों ने उत्तेजित होकर मिस्र पर हमला किया और इजराईल को फिर इस बात का मौका मिला कि वह कुछ अरब क्षेत्र पर कब्जा कर ले। अरबों को अपमान का एक घूंट तो पीना ही पडा, किन्तु साथ ही यह संकट भी उजागर हो गया कि स्वेज जल-मार्ग पर आवागमन अबाध रहना इजराईली कृपा पर निर्भर है। स्वेज जल-मार्ग का सामरिक महत्व न केवल अरब राष्ट्रों, बल्कि सभी पश्चिमी देशों के लिए भी है। स्वेज नहर के नाटकीय ढंग से राष्ट्रीयकरण के बाद अनेक पश्चिमी राष्ट्रों को यह लगना स्वाभाविक था कि अस्थिर अरब सरकारों की अपेक्षा कुशल-सफल इजराईल ही उनके हितों के संवर्धन में सहायक सिद्ध हो सकता है। बढ़े पश्चिमी समर्थन ने इजराईल की उग्र आक्रामकता को बढ़ावा दिया।

इसी तरह 1967 में आक्वा की खाडी की नाकेबन्दी (अल अक्सा मस्जिद जलाने के बाद) के साथ मिस्र ने इजराईल को एक तरह से आक्रमण के लिए आमन्त्रित किया। इस बार अरबों को और भी करारी हार का मुंह देखना पडा। इजराईल ने बहुत बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लिया और लाखों फिलस्तीनी लोग शरणार्थी बन गये। इस सैनिक संघर्ष के दौरान यह प्रमाणित हो गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ के कोई भी प्रस्ताव इस क्षेत्र में युद्ध विराम को बरकरार रखने और शान्ति लौटाने के लिए सीमित क्षमता वाले है। अरबों के लिए प्रतिशोध और भी अधिक महत्वपूर्ण बन गया तो इजराइलियों का अहंकार और दुस्साहस भी बढ गये। इन दोनों ही बातों ने पश्चिम एशिया में संकट बढ़ाया।

5. **शीत युद्ध**—पश्चिम एशिया का संकट शीत युद्ध के कारण भी गहरा हुआ। भले ही आरम्भ में सोवियत संघ ने इजराईल को मान्यता दी, किन्तु आगे चलकर विशेषकर स्वेज प्रसंग के बाद से सोवियत संघ ने अरब राष्ट्रों का पक्ष लेना आरम्भ किया। स्वेज नहर में पश्चिमी देशों के हस्तक्षेप के बाद युद्ध विराम तब ही सम्पन्न हुआ, जब सोवियत संघ ने परमाणु अस्त्रों के प्रयोग की धमकी दी। इसी तरह यह बात भी स्पष्ट देखी जा सकती है कि इजराईल संयुक्त राष्ट्र संघ की तथा सुरक्षा परिषद के प्रस्तावों की इतनी आसानी से अवहेलना इसलिए करता रहा है कि उसे अमरीकी वीटो का समर्थन-विश्वास प्राप्त है। 1956 का युद्ध हो या 1967 का इजराइली वायु सेना का अद्भुत प्रदर्शन, वह तब तक सम्भव नहीं था, जब तक अमरीकी शस्त्रास्त्र और बडे पैमाने पर सुलभ नहीं कराये जाते। इसके जवाब में सोवियत संघ ने मिस्र, इराक और सीरिया की हथियारबन्दी की तथा 1967 के बाद मिस्र को जमीन से आसमान पर वार कर सकने वाले परिष्कृत प्रक्षेपास्त्र सुलभ कराये। शीत युद्ध के तर्क और दबाव के अनुसार लिये गये इन फैसलों ने पश्चिम एशिया में प्रतिद्वन्द्वियों को परस्पर मुठभेड़ के लिए बढ़ाया।

महाशक्तियों के लिए पश्चिम एशिया का सामरिक महत्व दो तरह से था। अमरीका और रूस दोनों अपनी तेल-जरूरतें अपने संसाधनों से पूरी कर सकते थे। परन्तु दोनों पश्चिमी यूरोप, जापान तथा गुट निरपेक्ष देशों तक पहुँचने वाले तेल पर

अपना अधिकार व प्रभाव बनाये रखना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त अमरीका यह प्रचारित करता रहा कि नास्तिक साम्यवादियों के विस्तार को रोकने के लिए धर्म-भीरु इस्लामी राजतन्त्र के पाये मजबूत करना जरूरी है। इसके विपक्ष में सोवियत तर्क यह था कि मध्ययुगीन अन्ध-विश्वास और सामन्ती सामाजिक विषमता से तब तक मुक्ति नहीं पायी जा सकती, जब तक कि प्रगतिशील समाजवादी विचार-धारा का प्रसार इस क्षेत्र में नहीं होता। इसी विचित्र तर्क प्रणाली के आधार पर इजराईल का समर्थन करने के साथ-साथ अमरीका सऊदी अरब, मोरक्को और जोर्डन जैसी जगहों में राजवंश को सैनिक साज-सामान बेचता रहा है। पश्चिम एशिया के देशों में बड़े पैमाने पर महँगे हथियारों और लड़ाकू विमानों आदि की खरीद पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों में सैनिक औद्योगिक प्रतिष्ठान को लाभप्रद ढंग से व्यस्त रखती है। इसका अच्छा वर्णन ऐंथनी सेम्पसन (Anthony Sampson) ने अपनी पुस्तक 'दि आर्म्स बाजार' (लंदन, 1977) में किया है। स्पष्ट है कि जब तक पश्चिम एशिया में तनाव बना रहता है, तब तक मौत के इन सौदागरों का काम सहज रहेगा। इस प्रकार शीत युद्ध ने अरब-इजराईल संघर्ष में 'आग में घी' डालने वाली उक्ति चरितार्थ की।

चार युद्ध और उनके प्रभाव
(Four Wars and their Impact)

1948 का पहला युद्ध : अरब देशों में उथल-पुथल—इजराईल की स्थापना के साथ 1948 में पहले अरब-इजराईल युद्ध का सूत्रपात हुआ। इसकी परिणति तक दो बातें स्पष्ट हो गयीं। अरब राष्ट्र इजराईल के मुकाबले सैनिक दृष्टि से अक्षम और दुर्बल हैं तथा संयुक्त राष्ट्र संघ इस क्षेत्र में युद्ध विराम लागू करने के अलावा और कुछ नहीं कर सकता। अमरीकी पक्षधरता के कारण शीत युद्ध का इस क्षेत्र में प्रवेश हुआ तथा इस युद्ध में असफलता के बाद अनेक अरब राष्ट्रों में राजनीतिक व सामाजिक उथल पुथल आरम्भ हो गयी। उदाहरणार्थ, मिस्र में शाह फारूक के खिलाफ तख्तापलट की पृष्ठभूमि इस हार के बाद ही बनी। इसके अतिरिक्त इजराईल ने अरबों की भूमि पर जबरदस्ती कब्जा किया और बड़े पैमाने पर फिलस्तीनियों को बेघर किया। भविष्य में विवाद के और मुद्दे पैदा हुए।

1956 का दूसरा युद्ध : अरबों की हार के बावजूद जीत—हालांकि 1956 के स्वेज संघर्ष में अरबों को एक बार फिर हार का मुंह देखना पड़ा, परन्तु इस मुठभेड़ के कुछ लाभप्रद परिणाम भी सामने आये। नासिर के जीवट और साहस ने अरबों में नई प्रेरणा व उत्साह का संचार किया तथा पान-अरब (Pan-Arab) भावना का उदय हुआ। समाजवादी राष्ट्रवादी हों या राजशाही कबायली, इसके बाद से सभी अरब देशों को अपने सामूहिक हितों का अहसास हुआ। इस घटना के बाद सोवियत संघ ने अरबों को अपना वैचारिक समर्थन देना आरम्भ किया और भारत जैसे प्रमुख गुट-निरपेक्ष देशों ने इजराईल का अन्तर्राष्ट्रीय बहिष्कार करना शुरू किया। कुल मिलाकर अरब देशों के लिए स्वेज युद्ध हारकर भी जीत सिद्ध हुआ। यह भी कहा जा सकता है कि अन्त में यह स्थिति अरबों के लिए घातक सिद्ध हुई। जितनी सहजता से स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण सम्पन्न हो गया, उसने अरबों को यह मानने का मौका नहीं दिया कि उनकी रणनीति इसीलिए कारगर हो सकी थी कि इस बार उनका

कोई सीधा टकराव अमरीका से नही था। मिस्र के साथ युद्ध के मैदान में फ्रास और ब्रिटेन उतरे थे, जो थके हुए दूसरे दर्जे के राष्ट्र थे।

1967 का तीसरा युद्ध : फिलस्तीनी आतंकवाद का जन्म—1967 की मुठभेड सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझी जा सकती है। इसमें हारने के बाद मिस्र मे नासिर के नेतृत्व की नीव खोखली हो गयी और इस तीसरी लगातार हार के बाद असतुष्ट अरब यह सोचने को विवश हुए कि पारम्परिक सैनिक-सामरिक तरीको से वे इजराईल से पार नही पा सकते। इसके अलावा इस बार इजराईल ने इतने बडे अरब भू-भाग पर जबरन अधिकार कर लिया कि लाखों फिलस्तीनी शरणार्थी के

अरब-इजराईल सघर्ष को दर्शाना मानचित्र

रूप में पशुवत जीवन यापन के लिए मजबूर हुए। इस परिस्थिति में फिलस्तीनी शरणार्थियों में हिंसक व अराजकतावादी भावनाओं का उफान स्वाभाविक था। फिलस्तीन मुक्ति संगठन की आतंकवादी गतिविधियों का आविर्भाव इसी के साथ हुआ। आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को आतंकवाद की जिस चुनौती का सामना करना पड रहा है, उसका जन्म 1967 के अरब-इजराईल संघर्ष के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। इस युद्ध के बाद सुरक्षा परिषद् ने प्रस्ताव संख्या 242 को पारित किया और इसको क्रियान्वित करने में असमर्थ रहने के कारण एक बार फिर सं० रा० संघ की निरर्थकता प्रमाणित हुई।

1973 का चौथा युद्ध : तेल संकट से कई देश त्रस्त—1973 का 'योमकीपर' संग्राम कई मामलों में पहले तीन युद्धों से फर्क था। भले ही अन्त में इजराईल एक बार फिर अरबों पर हावी हो सका, किन्तु आरम्भ में अप्रत्याशित व अति नाटकीय जीत के द्वारा अरबों ने यह प्रमाणित कर दिया कि इजराइली अपराजय नहीं है। उन्हें हराया जा सकता है। इसके अतिरिक्त युद्ध विराम के बाद अरब देशों ने तेल को एक अस्त्र के रूप में काम में लाने की घोषणा की और इजराईल के समर्थक पश्चिम राष्ट्रों व अमरीका को ऊर्जा संकट के धक्के ने असमंजस में डाल दिया।

1973 के बाद मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने इजराईल के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण का दौर (सुलह नहीं) आरम्भ किया और अमरीका की सहायता-प्रेरणा से जोर्डन, मोरक्को और सऊदी अरब के शासक इस प्रक्रिया में जुड़ गये। यदि 1973 में इजराईल को अरबों ने अपने अप्रत्याशित हमले से भौंचक्का न कर दिया होता तो इस तरह का राजनयिक घटनाक्रम सोचा तक नहीं जा सकता था। यदि पहले तीन युद्ध क्षेत्रीय महत्व के थे तो चौथा अरब-इजराईल युद्ध वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का सिद्ध हुआ। 1973 के बाद पश्चिम एशिया में अमरीका की स्थिति मजबूत हुई। वाल्टर लकर के अनुसार '1973 के युद्ध के बाद अमरीका ने पश्चिम एशिया में अपने आपको विलक्षण स्थिति में पाया और अरब देशों की हालत निवेदक की सी थी। प्रमुख अरब देशों ने महसूस किया कि इजराईल के ऊपर अमरीका ही ठोस ढंग से दबाव डाल सकता है।'[1]

पश्चिम एशिया में महा-शक्तियों की प्रतिस्पर्धा
(Super Power Rivalry in West Asia)

पश्चिम एशिया में पूरे औपनिवेशिक काल में ब्रिटेन का वर्चस्व बना रहा। इसके अनेक कारण थे। ब्रिटिश नौसेना विश्व में सबसे अधिक शक्तिशाली थी और तटवर्ती बन्दरगाहों पर किसी प्रतिस्पर्धी को अधिकार स्थापित करने से सहज ही रोक सकती थी। इसके साथ ही एक छोर पर मिस्र तो दूसरे छोर पर भारत के माध्यम से पूरे पश्चिम-एशिया में नजर-निगरानी रखी जा सकती थी। हाँ, इतना

[1] 'At the end of 1973 war, America found itself in the unaccustomed position of being wooed by the leading Arab countries, who had realised effective pressure could be brought to bear on Israel only by Washington'. —Walter Laquer, *op cit*, 229

जरूर था कि मोरक्को और अल्जीरिया में फ्रांसीसी प्रभुत्व था तथा बीच-बीच मे उदीयमान जर्मनी की रुचि बगदाद के रास्ते से मास्को पहुँचने की होती थी। टी० ई० लारेन्स, औलिफ केरो, ग्लव पाशा और किनगर जैसे लोग ब्रिटेन मे पश्चिम एशिया विशेषज्ञ समझे जाते थे। अन्य यूरोपीय शक्तियो की तुलना मे कबाइली अरबों के बारे में अंग्रेजो की जानकारी अधिक विशद् थी। फ्रांस, हालैंड और बेल्जियम, हिन्द चीन, इण्डोनेशिया एव सहारा मरुभूमि के दक्षिण में स्थित अफ्रीकी भू-भाग मे ही व्यस्त थे। एक कारण यह भी था कि रेगिस्तान मे तेल पाये जाने के पहले इस क्षेत्र के साथ लाभप्रद व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने की कोई सम्भावना नही थी। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ ही यह स्थिति नाटकीय ढग से बदल गयी।

तेल के बड़े पैमाने पर पता लगने तथा इसकी उत्खनन व शोधन प्रणाली विकसित होने के साथ-साथ कुछ और आविष्कारो ने इसके सामरिक महत्व को क्रान्तिकारी ढग से बढ़ा दिया। मोटर-गाड़ियो की लोकप्रियता, विमानो का आविष्कार, जलपोतो और रेलगाड़ियो के लिए डीजल का प्रयोग ऐसे ही परिवर्तन थे। इस घटनाक्रम ने पश्चिम एशिया को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सक्रिय सभी शक्तियो के लिए आकर्षक बना दिया। साथ ही तेल शोधन के लिए बड़े पैमाने पर लगायी गयी पश्चिमी खासकर अमरीकी और ब्रिटिश पूँजी ने शेखो की रियासतो में औपनिवेशिक शक्तियों के साथ साझेदारी वाले नए न्यस्त स्वार्थो की सृष्टि की। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रो को कमजोर बनाने के लिए धुरी राष्ट्रो के गठबन्धन ने अनेक ऐसे ठिकानो को अपना निशाना बनाया।

अपने निजी सकीर्ण स्वार्थो की पूर्ति के लिए ब्रिटेन ने अवसरानुसार कभी एक तो कभी दूसरे कबाइली पक्ष का समर्थन किया। उसने नए राजवंशो की स्थापना की (जैसे जोर्डन में हाशमी और ईरान मे पहलवी) और अपने राष्ट्रीय हित को देखते हुए इनके राज्यो की कृत्रिम सीमा रेखा खीची। इस तरह भविष्य मे सर्वनाशक सघर्ष का बीजारोपण किया गया। स्थिति तभी तक निरापद रह सकती थी, जब तक ब्रिटेन सर्वशक्तिशाली महाप्रभु के रूप मे प्रतिष्ठित था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद औपनिवेशिक शक्ति के रूप मे ब्रिटेन का क्षय होने के साथ असन्तोष और आक्रोश को मुखर करने वाली उथल-पुथल आरम्भ हो गयी और ब्रिटेन का स्थान अमरीका ने ले लिया।

पश्चिमी एशिया और अमरीका—इस क्षेत्र मे ब्रिटेन के पारम्परिक हितो का उत्तराधिकारी बनने के अतिरिक्त अमरीका की रुचि के नितान्त निजी कारण भी है। अमरीकी जनता का एक बडा हिस्सा यहूदियो का है। यहूदी समृद्ध है और सुशिक्षित-मुखर भी। अनेक यहूदी अमरीकी राष्ट्रपतियो के प्रभावशाली सलाहकार रहे है। इजराईल की स्थापना के बाद उन्होंने अमरीका की पश्चिम एशिया नीति को निरन्तर प्रभावित किया है। इजराईल का सैन्यीकरण 1975 तक तेल कम्पनियो के हितो के साथ लगभग अनायास ही सन्तुलित किया जाता रहा।

शीत युद्ध के दौरान अमरीका की राजनयिक व सामरिक रणनीति सोवियत सघ की घेराबन्दी पर आधारित थी। इसका कोई टकराव इजराईल-समर्थन या अरब राज्यो में तेल पर अमरीकी अधिपत्य बनाये रखने मे नही था। अमरीका की यह मान्यता रही है कि कट्टर धार्मिक रुझान वाले अरब देश नास्तिक साम्यवादियों का

मुकाबला करने में बेहतर सन्धि-मित्र साबित हो सकते हैं। इसीलिए अमरीका की प्रगति-परिवर्तन में कोई रुचि नहीं रही है। इसके अतिरिक्त तेल ऊर्जा में स्वयं आत्म-निर्भर होने के बावजूद अमरीका की आकांक्षा यही है कि पश्चिमी एशिया का तेल उसके विपक्षियों के हाथ न लगने पाये और यह तेल उसके यूरोपीय मित्र राष्ट्र तथा जापान को सुलभ होता रहे। इसी सामरिक लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए 1973 के तेल संकट के बाद अमरीका ने इजराईल और अरब राष्ट्रों में सुलह कराने में पहल की और हेनरी किसिंजर के 'शटल राजनय' (Shuttle Diplomacy) के बाद कैम्प डेविड समझौते (1978) का मार्ग प्रशस्त किया। पश्चिम एशिया के अमीर तेल उत्पादक राष्ट्र अमरीका के लिए एक और तरह से भी महत्वपूर्ण हैं। पेट्रो-डालरों के अपने विपुल भण्डार का निवेश अमरीकी कम्पनियों व बैंकों में हुआ है। इसका बड़ा लाभ अमरीकी शस्त्र उत्पादकों को हुआ है।

पश्चिम एशिया और सोवियत संघ—इस क्षेत्र में सोवियत संघ की रुचि और नीतियाँ अमरीकी क्रियाकलाप की प्रतिक्रिया के रूप में संचालित होती रही हैं। स्वयं रूस तेल संसाधनों के मामले में आत्म-निर्भर है, किन्तु अमरीका की तरह उसका लक्ष्य भी यही है कि पश्चिम एशिया का तेल उसके प्रतिद्वन्द्वियों के हाथ न लगे और उसके मित्रों तक सीमित रहे। जिस प्रकार अमरीका का प्रयत्न शीत युद्ध के तर्क के दबाव में इस क्षेत्र में यथास्थिति बनाये रखने वाला रहा, उसी तरह सोवियत प्रयत्न 'परिवर्तनकामी नीति नियोजन' का रहा। राजशाही के विरुद्ध जन-मुक्ति संग्रामों को समर्थन देना प्राथमिक महत्व का समझा गया। स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण से लेकर मिस्र से सोवियत सलाहकारों के निकाले जाने तक निश्चय ही सोवियत संघ ने इस दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल कीं। इसे भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि कैम्प डेविड समझौते के बाद महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ की भूमिका का निरन्तर अवमूल्यन हुआ। इसके अलावा पारम्परिक रूप से सोवियत संघ इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि उसके नौसैनिक बेड़े के लिए वर्ष भर 'उष्ण जल मार्ग' सुलभ रहें। वैसे कुछ विद्वानों का यह मानना है कि अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के इस दौर में औपनिवेशिक युग के इस हौव्वे को बनाए रखना और इसके आधार पर सोवियत संघ की पश्चिम एशिया नीति का विश्लेषण करना व्यर्थ है। सोवियत संघ को इस बात से भी नुकसान हुआ है कि उसने फिलस्तीन मुक्ति संगठन के जिन सदस्यों पर बड़ा दाँव लगाया, उनका महत्व निरन्तर घटता गया।

अमरीका और सोवियत संघ दोनों को ही इस क्षेत्र में एक और अटपटी समस्या का सामना करना पड़ा, जिसने अक्सर उनकी नीतियों को गड्डमड्ड कर दिया। लीबिया में 'क्रान्तिकारी' व सनकी कर्नल गद्दाफी के उदय के बाद अराजकतावादी आतंकवाद ने दोनों महाशक्तियों खासकर अमरीका को ज्यादा परेशान रखा। ईरान में बंधकों वाले प्रसंग और खाड़ी युद्ध ने इस गुत्थी को और भी पेचीदा बनाया।

महाशक्तियों के अतिरिक्त अन्य बड़ी शक्तियों को भी तेल संकट के बाद पश्चिम एशिया के बारे में अपनी नीति बदलने को बाध्य होना पड़ा। इसका सबसे अच्छा उदाहरण जापान है, जो अमरीका का सन्धि-मित्र और पक्षधर होने के बावजूद अपना इजराईल-विरोध मुखर करने को प्रेरित हुआ।

फिलस्तीन मुक्ति सगठन
(Palestine Liberation Organization or P.L.O.)

1967 के अरब-इजराईल युद्ध के बाद पश्चिम एशिया के राजनीतिक मच पर फिलस्तीनी लोग बहुत तेजी से उभरे। एक तरह से फिलस्तीनियों का भविष्य इस क्षेत्र के तनाव और सकट के साथ आरम्भ मे जुडा हुआ है। इजराईल की स्थापना के साथ यही लोग बेघर हुए थे। 1967 के बाद इनकी स्थिति ससार मे सबसे त्रस्त-उत्पीडित शरणार्थियो की हो गयी, जिन्हे न केवल इजराईली आक्रमण, बल्कि सहोदर अरबो के अत्याचारो का भी निरन्तर सामना करना पडा। फिलस्तीनियों की समस्या यदि सिर्फ मानवीय ही बनी रहती तो सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनेता इसे अनदेखा कर देते। परन्तु आतकवादी छापामारी का सहारा लेकर फिलस्तीन मुक्ति सगठन के सदस्यो तथा अन्य उग्रवादी तत्वों ने महाशक्तियो के सत्ता समीकरणों को गडबडा दिया। अन्य अरबो की तुलना मे अपने आधुनिक प्रगतिशील सस्कार और गुट निरपेक्ष अन्तर्राष्ट्रीय नजरिये के कारण विकासशील अफ्रो-एशियाई जगत मे फिलस्तीनी तेजी से लोकप्रिय हुए। 1980 तक पश्चिम एशिया के संकट समाधान मे किसी भी राज्य की अपेक्षा इस 'राज्य-विहीन राष्ट्र' (फिलस्तीन) की भूमिका निर्णायक समझी जाने लगी। पिछले दस वर्षो मे लेबनान के गृह युद्ध के कारण फिलस्तीन मुक्ति सगठन का राजनयिक अवमूल्यन अवश्य हुआ, परन्तु आज भी इन्हे चुका हुआ नही समझा जा सकता। पश्चिम एशिया की समस्या का सबसे महत्वपूर्ण आयाम फिलस्तीनी लोग ही है। इनकी सहमति के बिना इस सकट का कोई समाधान नही ढूँढा जा सकता।

फिलस्तीनियों की मौजूदा आबादी—सयुक्त राष्ट्र सघ के आँकडो के अनुसार फिलस्तीनियो की आबादी वर्तमान मे लगभग 45 लाख है। मूल रूप से ये उस क्षेत्र के निवासी हैं, जहाँ इजराईल है और उसने इनकी जमीन पर कब्जा कर रखा है। इनमे से करीब 5·50 लाख फिलस्तीनी इजराइली नागरिक है। करीब 12 लाख फिलस्तीनी इजराईल अधिकृत क्षेत्र पश्चिमी तट और गाजा पट्टी मे रहते है। करीब 19 लाख फिलस्तीनी शरणार्थी स० रा० सघ की राहत एव निर्माण एजेन्सी मे पजीकृत है।

संकट की शुरुआत—फिलस्तीनियो के अनुसार उनके सकट की शुरुआत तब हुई, जब 1925 मे तत्कालीन ब्रिटिश विदेश मन्त्री लार्ड आर्थर बेलफोर और एक प्रमुख यहूदी नेता एडमड डि रोयस्चिल्ड ने बेलफोर घोषणा पर हस्ताक्षर किये। इस घोषणा मे फिलस्तीनी भूमि पर यहूदी राज्य बनाने और उसके लिए ब्रिटिश समर्थन देने की बात कही गयी। फिलस्तीनियों के लिए यह घोषणा विनाशकारी थी। 1920 मे राष्ट्र सघ ने ब्रिटेन को फिलस्तीन पर शासन करने के लिए 'मेन्डेट' दिया। जब द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुआ, तो यहूदी शरणार्थी यूरोप से भागकर फिलस्तीन मे आ गये। 1948 में स० रा० सघ ने ब्रिटिश शासन समाप्त कर फिलस्तीन का विभाजन करने का फैसला किया। अरब देशो और फिलस्तीन के प्रति सहानुभूति रखने वाले भारत जैसे अनेक देशो ने स० रा० सघ मे इस विभाजन योजना के विपक्ष मे मत दिया, लेकिन यहूदियो ने ब्रिटिश व अमरीकी समर्थन के बलबूते पर इजराईल बना ही डाला। फिलस्तीनियो ने इजराईल के खिलाफ 1948,

1967, 1973 और 1982 मे चार युद्ध लडे, लेकिन अब वे दबी जुबान से मानते हैं कि उक्त विभाजन योजना को न मानना उनकी भारी भूल थी, क्योंकि इस योजना से कम से कम उनके पास रहने को 'अपना राज्य' तो होता। आज उन्हे शरणार्थी के रूप मे भटकना पड रहा है।

फिलस्तीन मुक्ति सगठन की स्थापना—बहरहाल, फिलस्तीन मुक्ति सगठन (पी० एल० ओ०) की स्थापना 1964 मे की गई। इसमे कुल नौ फिलस्तीनी गुट शामिल हुए। यासिर अराफात इसमें अपने गुट 'अल फतह' के साथ 1968 में शामिल हुए। जून 1968 मे सगठन की नेशनल काग्रेस बनायी गयी, जिसमे फिलस्तीनी नेशनल चार्टर पारित किया गया। चार्टर मे कहा गया कि फिलस्तीन राज्य की स्थापना सशस्त्र सघर्ष के जरिये ही की जा सकती है। असल मे, यह नेशनल काग्रेस ससद जैसी है, जिसमे विभिन्न फिलस्तीनी गुट अपने-अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। नेशनल काग्रेस कार्यकारिणी समिति का चुनाव करती है, जो मन्त्रिमडल के रूप मे कार्य करती है। नेशनल काग्रेस मे अराफात के गुट 'अल फतह' के ज्यादा प्रतिनिधि हैं, जिस कारण अराफात 1968 मे ही पी० एल० ओ० के अध्यक्ष बनाये गये और तभी से इसी पद पर बने हुए हैं। उन्ही के कुशल नेतृत्व के कारण इस सगठन को विशाल विश्व जनमत का समर्थन एव सम्मान प्राप्त हुआ है। इसी कारण वह कई वर्षों तक पी० एल० ओ० के निर्विवाद नेता माने जाते रहे हैं।

कालान्तर मे अराफात के गुट 'अल फतह' मे जो विद्रोह 1983 मे हुआ, उसने उनकी कमजोर स्थिति को स्पष्ट कर दिया। स्थिति यहाँ तक बिगडी कि लेबनान स्थित बेका घाटी मे अराफात समर्थको और विरोधियो मे जमकर मुठभेडें हुईं जिनमें कई फिलस्तीनी हताहत हुए। यही नही, फिलस्तीनियो के समर्थक सीरिया ने अराफात का छ घण्टे में देश छोडने को कहा और उन्हे 'अस्वीकार्य व्यक्ति' (Persona non-grata) घोषित कर दिया। लीबिया भी अराफात का खुला विरोध कर रहा था।

फिलस्तीन आन्दोलन व अरब राष्ट्र—यों इजराईल के साथ युद्ध मे मिस्र, सीरिया और जार्डन ने फिलस्तीनियो का काफी साथ दिया और नुकसान भी सहन किया मगर फिलस्तीनी लोग जग के मोर्चे पर सदैव अग्रिम पक्ति मे रहकर भारी सख्या मे मरते और घायल होते रहे हैं, जबकि सऊदी अरब और कुवैत जैसे राष्ट्रो न वित्तीय मदद ही की है। उन्होंने सैनिक सहायता कभी नही दी। ट्यूनीशिया, लीबिया, अल्जीरिया और मोरक्को भी फिलस्तीनियो के साथ रहने की घोषणाएँ करते रह है, लेकिन वे कभी भी युद्ध मे शामिल नही हुए। अर्थात् जो अरब राष्ट्र भौगोलिक दृष्टि से इजराईल से जितने अधिक दूर स्थित हैं, वे इजराईल की उतनी ही अधिक आलोचना करते रह हैं। ऐसे मौखिक समर्थन से फिलस्तीनियो को लाभ कम एव नुकसान अधिक पहुँचा है।

मिस्र के कर्नल नासिर ने जरूर इजराईल से लोहा लेने का प्रयास किया। उसके बाद राष्ट्रपति अनवर सादात ने भी यह नीति जारी रखी, लेकिन सोवियत सघ से सम्बन्ध बिगडने के कारण वह अमरीका के साथ हो गये। उन्होंने 1978 मे अमरीकी देख-रेख मे इजराईल के साथ 'कैम्प डेविड समझौता' कर अपना सिनाई क्षेत्र वापस ले लिया, जो मिस्र ने 1967 के युद्ध मे खोया था। हालाकि इसमे मिस्र अरब समुदाय मे अकेला पड गया, लेकिन कैम्प डेविड समझौते मे फिलस्तीनी

आन्दोलन को गहरा धक्का लगा, क्योंकि मिस्र फिलस्तीनियों की सुरक्षा के लिए पहले छाते की तरह काम करता रहा था। सादात की मृत्यु के बाद राष्ट्रपति हुस्नी मुबारक के सत्ता में आने पर कोई नीतिगत परिवर्तन नहीं हुआ।

मिस्र के बाद सीरिया ही सबसे अधिक सशक्त अरब राष्ट्र रह गया, जो इजराईल के खिलाफ फिलस्तीनियों को ठोस मदद दे सकता है। सीरिया का गोलान पहाड़ियों वाला क्षेत्र इजराईल ने अपने कब्जे में कर रखा है। सीरियाई राष्ट्रपति हफीज असद पश्चिमी एशियाई राजनीति में अपनी 'चौधराहट' जमाने के महत्वकांक्षी रहे, जिस कारण सीरिया इजराईल के खिलाफ लड़ने की बारबार घोषणाएँ करता रहा है। सोवियत संघ सीरिया के माध्यम से पश्चिम एशिया में अपना प्रभाव क्षेत्र कायम करना चाहता है, जिस कारण सोवियत संघ ने सीरिया को उसकी महत्वाकांक्षा के लिये प्रोत्साहित भी किया है। लीबिया भी सोवियत शह पर इस कार्य में लगा रहा। परिणामस्वरूप अरब राष्ट्रों में प्रमुख रूप से दो खेमे बन गये—उग्रपंथी और उदारपंथी। उग्रपंथी सीरिया, लीबिया आदि और उदारपंथी सऊदी अरब, जोर्डन, कुवैत आदि ने पी० एल० ओ० की राजनीति को प्रभावित किया। परिणामस्वरूप पी० एल० ओ० के विभिन्न गुट भी सत्ता-संघर्ष में शामिल हो गये और उग्रपंथी और मध्यमार्गी नीति की पैरवी करने लगे।

लेबनान युद्ध ने फिलस्तीनी आन्दोलन को भारी धक्का पहुँचाया। उग्रपंथी फिलस्तीनियों, सीरिया और लीबिया का मत था कि इस युद्ध में अन्तिम क्षण तक लड़ा जाये, क्योंकि इजराइली सैनिक अब 'अजेय' नहीं रहे हैं। लेकिन अराफात एवं उनके गुट 'अल फतह' के अधिकतर सदस्य मध्यमार्गी नीति अपनाने पर जोर देते रहे। वे सशस्त्र संघर्ष के साथ-साथ राजनयिक वार्ता के जरिये संकट-समाधान की वकालत करते रहे। इस कारण उग्रपंथी नीति के हिमायती लोग अराफात के विरुद्ध हो गये और 'अल फतह' के कुछ सदस्यों ने भी उनके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। विरोधियों का आरोप था कि अराफात अब यह महसूस करने लगे हैं कि अमरीकी सहयोग से ही फिलस्तीन समस्या का हल सम्भव है। वह अमरीका से गोपनीय वार्ता करते रहे हैं। इसी कारण उन्होंने रीगन शान्ति योजना में दिलचस्पी दिखायी।

रीगन शान्ति योजना में कहा गया था कि जोर्डन के अधीन पश्चिमी तट और गाजा पट्टी क्षेत्र में फिलस्तीन राज्य बनाया जाये। जोर्डन ने कुछ शर्तों के साथ इस प्रस्ताव को मान लेने के संकेत दिये, जबकि सीरिया ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। लगता है कि सीरिया ने यह महसूस किया कि मिस्र ने कैम्प डेविड समझौते के जरिये खोया हुआ अपना सिनाई क्षेत्र प्राप्त कर लिया और जोर्डन रीगन शान्ति योजना से अपने पश्चिमी तट और गाजा पट्टी क्षेत्र प्राप्त कर लेगा। किन्तु सीरिया का गोलान पहाड़ियों वाला क्षेत्र इजराइली कब्जे में ही रहेगा। अर्थात् उसके हाथ कुछ नहीं लगेगा। अतएव सीरिया, लीबिया और सोवियत संघ अन्दरूनी तौर पर नहीं चाहते थे कि अराफात समय से पूर्व शान्ति समझौता कर लें और इससे उनकी सामरिक महत्वकांक्षाओं और हितों पर चोट लगे।

स्वतन्त्र फिलस्तीन राज्य की घोषणा—फिलस्तीन मुक्ति संगठन ने 16 नवम्बर, 1988 को वेस्ट बैंक और गाजा पट्टी की भूमि पर स्वतन्त्र फिलस्तीन राज्य की घोषणा की। पी० एल० ओ० के अध्यक्ष यासिर अराफात ने यह घोषणा करते हुए

संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा-परिषद के उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के हल के लिए आतंकवाद का सहारा लेने और बल प्रयोग की भर्त्सना की गयी। भारत सहित कई देशों ने स्वतन्त्र फिलस्तीन राज्य को मान्यता प्रदान कर दी। बाद में अराफात राष्ट्रपति निर्वाचित किये गये। इजराईल व अमरीका ने पी० एल० ओ० के उक्त कदम की निन्दा की। हालांकि अमरीका ने स्वतन्त्र फिलस्तीन राज्य को मान्यता नहीं दी, किन्तु बाद में अमरीका अपने अधिकारियों के स्तर पर स्वतन्त्र फिलस्तीन राज्य के प्रतिनिधियों से बातचीत के लिए राजी हो गया, जो उसकी नीति में बदलाव का सूचक था।

पी० एल० ओ० में फूट—पी० एल० ओ० और अन्य फिलस्तीनी गुटों में व्याप्त फूट ने फिलस्तीनियों के हितों को सर्वाधिक नुकसान पहुँचाया है। अन्य गुटों में 'Popular Front for the Liberation of the Palestine General Command' लीबिया समर्थित है। 'Democratic Front for the Liberation of Palestine' इराक के नजदीक रही है। ऐसे में यदि अराफात का प्रभाव कम होता है तो पी० एल० ओ० में जार्ज हबाश और अबू मूसा जैसे उग्रवादियों का वर्चस्व बढ़ता, जो पश्चिम एशियाई राजनीति में सीरिया, लीबिया और सोवियत संघ का दबदबा बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त करता। लेकिन अराफात ने पी० एल० ओ० का नेतृत्व सँभालने में विलक्षण योग्यता का परिचय दिया। अराफात की सबसे बड़ी उपलब्धि पी० एल० ओ० को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दिलाना थी।

फिलस्तीन आन्दोलन का भविष्य

पिछले लगभग ढाई दशकों में फिलस्तीन मुक्ति संगठन के जीवन में कई उतार-चढ़ाव आये हैं। पहले इसका स्वरूप राजनीतिक चेतना एवं सामरिक एकता जगाने वाला रहा तो बाद में आतंकवादी छापामारी के दौर में इसने महत्वपूर्ण सैनिक भूमिका निभायी। इस महत्वपूर्ण बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि फिलस्तीनियों ने हिंसा का अराजकतावादी उपयोग नहीं किया। उनका उद्देश्य बल-प्रयोग द्वारा राजनयिक संवाद का मार्ग ही प्रशस्त करना था। दुर्भाग्यवश अरबों की आपसी फूट और अमरीकियों की अदूरदर्शिता के कारण फिलस्तीन मुक्ति संगठन को प्रत्याशित प्रतिष्ठा नहीं मिल पायी और पश्चिम एशिया की राजनीति में अपेक्षित रचनात्मक भूमिका निभाने में वह असमर्थ रहा। एक ओर फिलस्तीनियों को धर्म निरपेक्ष और समाजवादी रुझान वाला मानकर पारम्परिक अरब शासक उन्हें अपना शत्रु समझते हैं तो दूसरी ओर अमरीका उन्हें सिर्फ 'अपराधी आतंकवादी' मानता रहा है। इनकी क्षमता से आशंकित इजराईल बर्बर ढंग से फिलस्तीनी शरणार्थियों के मानवाधिकारों का हनन करता रहा है। लेबनान संकट में बिगाड़ के साथ अल सबरा तथा शतिला के शरणार्थी शिविरों के सर्वनाश से यह बात पता चलती है। 1982 में लेबनान में इजराइली हमले के बाद फिलस्तीनी सैनिक शक्ति की रीढ़ टूट गयी और तभी से इनका राजनयिक महत्व भी तेजी से कम हुआ। आज स्थिति यह है कि कभी पश्चिम एशिया की राजनीति में नई रचनात्मक शुरुआत कर सकने वाले सबसे महत्वपूर्ण घटक फिलस्तीनी आज इस शतरंजी बिसात पर खुद एक मोहरे में बदल चुके हैं।[1]

[1] Mehmood Hussain, *The Palestine Liberation Organization* (Delhi, 1975)

लेबनान संकट
(Lebanon Crisis)

शीत युद्ध के दौर मे लेबनान शायद सबसे अधिक विस्फोटक संकट स्थल रहा है।[1] फिलस्तीनी मुक्ति सैनिक हो या अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-स्थापक दस्ता, इजराइली हस्तक्षेपकारी सैनिक हो या साम्प्रदायिक आतंकवादी, इन सबके बीच रक्तपात वाली रस्साकशी पिछले कई वर्षों से निरन्तर चलती रही है। ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगा कि सन् 1960 वाले दशक के उत्तरार्द्ध में जो स्थिति दक्षिण वियतनामी क्षेत्र की थी, वही लेबनान की रही है—एक ऐसा वंशनाशक (genocidal) गृह युद्ध, जिसने एक छोटे खुशहाल देश को तबाह कर दिया। लेबनान समस्या को ठीक से समझने के लिए ऐतिहासिक घटनाक्रम का पुनरावलोकन आवश्यक है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का जो पुनर्गठन किया, उसके अन्तर्गत सीरिया के अधिपत्य मे अब तक रहे पाँच तुर्क जिलो को अलग कर स्वतन्त्र राज्य का दर्जा दिये जाने के साथ लेबनान का जन्म 1920 मे हुआ। इसके बाद से 1943 तक उस पर फ्रास की निगरानी बनी रही। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर फासीसी सेनाएँ यहाँ से लौट गयी और बाद के लगभग दस वर्षों तक शान्ति बनी रही। भूमध्यसागर के तटवर्ती लेबनान की भौगोलिक स्थिति इस दौरान भू-राजनीतिक दृष्टि से कम और पर्यटन व्यवसाय की दृष्टि से कही अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई और बेरूत का विकास अरबों के लिए ही नही, यूरोपीय देशो के लिए भी एक क्रीडास्थल के रूप में हो सका। पर सीरिया ने लेबनान की स्वतन्त्रता को कभी भी पूर्णत: स्वीकार नही किया और सीरिया मे क्रान्तिकारी राजनीतिक परिवर्तनो के साथ लेबनान की स्थिति भी अस्थिर हुई। सीरिया की प्रेरणा और समर्थन से 1958 मे लेबनान में सैनिक क्रान्ति हुई और तत्कालीन शीत युद्ध के तर्क के अनुसार अमरीकी सेनाओ ने सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए वहाँ हस्तक्षेप किया। बाहरी बडी शक्ति के इस हस्तक्षेप ने इस बात की जमीन तैयार की कि स्थानीय असन्तुष्ट तत्व अपने हित मे इस परिस्थिति का लाभ उठा सकें। गृह युद्ध के बीज इसी समय बोये गये। यह स्वाभाविक था कि अमरीकियों के प्रवेश के साथ सोवियत सघ की रुचि भी इस भू-भाग मे बढी। यह भी याद रखने लायक बात है कि इससे ठीक पहले 1956 में असफल आग्ल-फ्रासीसी सैनिक हस्तक्षेप ने अरब-यहूदी सघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय महत्व दिला दिया था और मध्य पूर्व में वही भी किसी परिवर्तन का शीत युद्धकालीन सामरिक महत्व उजागर किया था। स्वेज सकट (1956) के पहले पश्चिम एशियाई सकट मे बाकी देशों की रुचि नगण्य थी। नासिर और नेहरू की घनिष्ठता ने इस क्षेत्र की उथल-पुथल मे गुट निरपेक्ष देशो की रुचि बढायी थी।

[1] 'लेबनान में इजराईली आक्रमण (1982) के फलस्वरूप अमरीका के लिए यह सम्भव हुआ कि वह इजराईल और एक अन्य अरब देश के बीच 'समझौता' करा सके।'' सीरिया को छोड़कर बाकी सारे अरब ससार पर अमरीकी व इजराईली वर्चस्व कारगर ढग से थोपा जा चुका है और ऐसा नहीं जान पडता कि अगले कुछ वर्षों तक इसे चुनौती दी जा सकेगी।' इस सिलसिले में विस्तार के लिए देखें—Christopher S. Raj, *West Asia*, in K. Subrahmanyam (ed), *The Second Cold War*, (Delhi, 1983)

लेबनान की जनसंख्या ईसाइयों और मुसलमानों में लगभग बराबर-बराबर बँटी है। दोनों ही अरब वंशज हैं और उनके बीच की खाई सिर्फ धार्मिक है। इसके अलावा ईसाई एक विशिष्ट 'मेरोनाइट' सम्प्रदाय के हैं, जिनके कोई निकट या घनिष्ठ सम्बन्ध-आत्मीयता किसी प्रमुख यूरोपीय-अमरीकी ईसाई चर्च या सम्प्रदाय से नहीं। ये मेरोनाइट लेबनानी पढ़े लिखे हैं और आर्थिक दृष्टि से अपने मुसलमान भाईयों से कहीं अधिक सम्पन्न भी। जनतान्त्रिक शासन प्रणाली के विकास के साथ देश के राजनीतिक जीवन में इनकी भूमिका बढ़ती रही है और कई बार लेबनानी कट्टर मुसलमान नेता इस सन्तुलन के विरुद्ध अपना असन्तोष मुखर करते रहे हैं। हिंसक टकराव से बचने के लिए जो रास्ता 1943 के राष्ट्रीय समझौते में ढूंढा गया, वह यह था कि राष्ट्रीय जीवन में सभी सार्वजनिक पदों को विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों में जनसंख्या के अनुपात के अनुसार बाँटा जाये। मसलन, यह परम्परा रही है कि राष्ट्रपति ईसाई और प्रधान मन्त्री मुसलमान होता है।

लेबनान संकट से सबंधित स्थान

लेबनान में साम्प्रदायिकता का जहर सिर्फ ईसाइयों और मुसलमानों को एक-दूसरे का शत्रु बनाने वाला ही नहीं, मुसलमानों को भी विभिन्न धड़ों में बाँटने वाला रहा है। मुसलमान शिया और सुन्नी सम्प्रदायों में तो बँटे हुए हैं ही, इनके अलावा पहाड़ी इलाकों में रहने वाले 'द्रूजे' कबायली मुसलमान होने पर भी इन दोनों से बिल्कुल फर्क है। उनकी स्वायत्तता की माँग गुत्थी को और भी पेचीदा बनाती है। अरब-इजराइली सैनिक मुठभेड़ों के बाद जोर्डन से बड़ी तादाद में निकाले जाने के बाद अनेक फिलस्तीनी शरणार्थी लेबनान में बस गये। इनके आगमन के साथ साम्प्रदायिक तनाव जोरों से बढ़ा। थोड़े में ही सरलीकरण करने

के साथ ऐसा कहा जा सकता है कि सीरिया, जो अब तक लेबनान मे मेरोनाइट ईसाइयों का समर्थक रहा था, वह अब फिलस्तीनियो का पक्षधर बन गया। इसके साथ ही फिलस्तीनी छापामार गतिविधियों के कारण लेबनान को इजराईल के जवाबी हमलो का निशाना बनना पडा। राष्ट्रपति गमाइल की हत्या के बाद मेरोनाइट ईसाइयों को ऐसा लगने लगा कि शान्ति व सुव्यवस्था की पुनर्स्थापना, एव देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए इजराइलियों के साथ सहकार न सही, सवाद जरूरी है। एक प्रकार का व्यावहारिक राजनयिक समीकरण बिठा सकना सम्भव हुआ।

बाहरी शरणार्थियो के आगमन और अमरीका के परोक्ष गठजोड़ ने साम्प्रदायिक वैमनस्य को इस कदर भडकाया कि 1975 मे हिंसा के विस्फोट मे 60 हजार से भी अधिक जानें गयी और अरबो डालर की सम्पत्ति का नाश हुआ। लेबनान की अस्थिरता-कमजोरी को देखते हुए इजराइलियों को यह लालच हुआ कि शायद सीधे हस्तक्षेप से वे फिलस्तीनी कांटे को एक ही बार मे निकाल कर दूर कर सकते है और मध्य पूर्व के रणक्षेत्र मे अपनी स्थिति सुदृढ कर सकते है। लगभग इसी तरह का लालच सीरिया के राष्ट्रपति असद को हुआ। उन्होने न केवल मुस्लिम मिलिशिया को अपना भरपूर समर्थन दिया बल्कि सीरियाई जमीन से लगे लेबनानी प्रदेश मे अपनी सैनिक टुकडियाँ भी तैनात की। सीरियाई वायुसेना ने बेरूत के हवाई इलाके पर विध्वसकारी हमले भी किये।

इजराइली-सीरियाई गोलाबारी तथा साम्प्रदायिक आतकवादियो के एक-दूसरे के ऊपर खूनी हमलो ने बेरूत को एक श्मशान भूमि मे बदल दिया। शायद यह स्थिति इसी तरह चलती रहती, एक दुखद पर स्थानीय त्रासदी, यदि जून 1982 में इजराईल ने जोखिम बढाने वाली सैनिक पहल न की होती। इजराईल का आरोप था कि लेबनान का उपयोग फिलस्तीनी आतकवादी एक शरण-स्थल के रूप मे कर रहे थे और वहाँ के सैनिक अड्डो से निर्दोष इजराइली नागरिको को अपनी हिंसा का शिकार बना रहे थे। इजराईल इस तरह की जन-धन की क्षति उठाने के लिए कतई तैयार नही था और सिर्फ तीन दिन के तेज अभियान के बाद इजराइली टुकडियाँ बेरूत तक पहुँच गयी। बेका घाटी से सीरियाई मिसाइल अड्डे नष्ट कर दिये गये और फिलस्तीनी नेता यासिर अराफात को अपने समर्थको के साथ 1983 मे लेबनान से कूच करना पड़ा। इस इजराइली सैनिक अभियान के दौरान बर्बर नरसहार किया गया। इस क्रूरता के दो उदाहरण शाबरा और शटिला की शरणार्थी बस्तियो मे औरतो और बच्चों की निर्मम हत्या है। इस हत्याकाण्ड ने, जिसका कोई सैनिक महत्व नही था, सिर्फ प्रतिशोध के शोलो को दहकाया। इजराइलियो के लेबनान से लौट आने के बाद भी आज लेबनान मे मुसलमान और ईसाई एक-दूसरे के साथ इस हिसाब को बराबर करने मे लगे है कि आक्रमणकारी सैनिकों के साथ सहकार करने वालो को क्या सजा दी जाये। इसके साथ ही एक और बात जोड़ी जानी जरूरी है कि लेबनान में इजराइली कार्रवाई ने फिलस्तीनी काँटे को भले ही निकाल दिया हो, आतकवाद के मूल का कोई समाधान प्रस्तुत नही किया। अनेक भाड़े के आतंकवादी जो किसी भी राजनीतिक विचारधारा से प्रेरित नही, विभिन्न सम्प्रदायों को अपनी सेवाएँ देते रहे हैं और अपनी विश्वव्यापी गतिविधियो का मुख्य केन्द्र लेबनान को बनाये हुए है। इन पर अंकुश लगाने के लिए कोई भी

अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न सफल नही हो सका । कुछ वर्ष पहले अन्तर्राष्ट्रीय दस्ते के सदस्य अनेक फ्रासीसी सैनिकों की हत्या के बाद फ्रास ने इस तरह की गतिविधि मे रुचि लेना बन्द कर दिया । इसी तरह दर्जनो अमरीकी मेरिन कमाडो की हत्या के बाद अमरीकियो ने भी यह बात जान ली है कि बाहरी 'तटस्थ' सैनिक टुकडियो को तैनात करने से लबनानी गृह युद्ध शान्त नही हो सकता और न ही युद्ध विराम बरकरार रखा जा सकता है ।

एक परेशानी यह भी है कि लेबनान मे नियुक्त अन्तर्राष्ट्रीय राहत सस्थाओं के कर्मचारियो, विभिन्न देशो के राजनयिको के अपहरण और उनकी हत्या का सकट आतकवादी क्रियाकलाप के कारण निरन्तर बना रहता है। अमरीका जैसी महाशक्ति और अन्य बडी शक्तियाँ इस बात के लिए विवश हैं कि व्यक्तिगत या सामूहिक अपहरण के बाद अपने नागरिको की रक्षा या मुक्ति के लिए वे सक्रिय और सफल दिखें अन्यथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक दबाव लेबनान सम्बन्धी उनकी नीति को असह्य रूप से अलोकप्रिय बना सकते हैं। इस बात को अमरीकी पत्रकारो तथा मिशनरियो के सन्दर्भ मे भलीभाँति परखा जा सकता है। इनमे से कुछ अपहृत व्यक्ति सालो से बदी हैं पर तब भी इलेक्ट्रोनिक प्रचार-तन्त्र के जादू के कारण मतदाता के सामने इनकी याद सजी रहे और अन्तर्राष्ट्रीय शतरज के ये दुर्भाग्यग्रस्त मोहरे बडा महत्व रखते हैं। हाल के दिनो मे लबनान जब-जब भी चर्चित रहा है, विश्लेषक उन गैर-सरकारी राजनयिक पहलो और मध्यस्थताओ को लेकर ही व्यस्त रहे हैं, जिन्होंने इन आतकवादियो के साथ सम्पर्क साधकर सवाद शुरू किया है। आर्चबिशप आफ कैंटरबरी के विशेष सहायक एन्ड्रयू वेट ने इस तरह के परामर्श मे खासी विशेषता हासिल कर ली है ।

निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि लेबनान का सकट निकट भविष्य मे दूर होने वाला नही। बुनियादी बात तो यह है कि साम्प्रदायिक वैरियो को बाहरी पक्षधर मिल चुके हैं और पिछले चार दशको से हत्याकाण्ड-नरसहार ने पारिवारिक वशगत प्रतिशोध के बीज व्यापक रूप से बो दिये हैं। इसके अलावा लेबनान मे विशेषकर राजधानी बेरूत मे पूरी जवान पीढी अराजकता और हिंसा के वातावरण मे वयस्क हुई है। इसलिए अकारण हिंसा, अपराधपूर्ण सामाजिक आचरण, दैनिक जीवन की अस्थिरता स्वाभाविक है। पारिवारिक या सामाजिक सामूहिक सहकारी जीवन से इसका कोई परिचय नही। आतकवाद का चेहरा आसानी से पहचाना जा सकने वाला नही। एक आतकवादी इकाई घातक कैंसर की उस कोशिका की तरह है जिसे नष्ट किया जा सकता है, पर जिसके द्वारा फैलाया प्राणनाशक विष जब पकड मे आता है तो बहुत देर हो चुकी होती है। लेबनान के सन्दर्भ मे कोई बहुत भोला व्यक्ति ही आशावादी हो सकता है। इजराइली सैनिक हस्तक्षेप से पहले *इस बात की आशा बची थी कि शायद 1943 वाले राष्ट्रीय समझौते के किसी* सशोधित-परिष्कृत सस्करण को यदि सभी पक्ष ईमानदारी से लागू करने को तैयार हो जायें तो शायद शान्ति और खुशहाली इस अभागे देश मे वापस लौटाये जा सकते हैं। आज इसकी कोई सम्भावना शेष नहीं। आज दिनो का टकराव सिर्फ ईसाईयो मुसलमानों, शियाओ, सुन्नियों और द्रूजो के बीच नही, दशको से चले आ रहे गृह युद्ध ने अनेक छुटपुट न्यस्त स्वार्थों को जन्म दिया है। ये छुटपुट भले ही हो, पर कट्टर और बर्बर हैं। लेबनान समस्या के समाधान मे सयुक्त राष्ट्र सघ, गुट निरपेक्ष

आन्दोलन और अरब बिरादरी की असमर्थता पहले ही उद्घाटित हो चुकी है। लेबनान की हालत में किसी बेहतरी की उम्मीद तब तक नहीं की जा सकती, जब तक पश्चिम एशिया की वृहत्तर समस्या का हल ढूँढ नहीं लिया जाता। लेबनान का संकट आज सिर्फ उसका अपना संकट नहीं, बल्कि फिलस्तीनी समस्या, सीरियाई आचरण की जटिलता, इजराइली आक्रमण, आतंकवादी असामाजिकता का सन्निपात है। ऐसे जानलेवा ज्वर का निदान एवं उपचार सरल नहीं है।

ईरान-इराक युद्ध
(Iran-Iraq War)

ईरान व इराक के बीच लगभग आठ वर्ष तक युद्ध चलने के बाद 1988 में युद्ध विराम हो गया किन्तु इस बात के कोई आसार नजर नहीं आते थे कि निकट भविष्य में उनके बीच मौजूदा जटिल समस्या का समाधान हो सकेगा। इस विनाशकारी युद्ध में ईरान के ढाई लाख और इराक के एक लाख सैनिक एवं नागरिक हताहत हुए। सम्पत्ति का नुकसान अरबों डालर आँका गया। दोनों देशों की उत्पादकता और उनके आर्थिक विकास पर इस खाड़ी युद्ध का घातक प्रभाव पड़ा। सैनिक विस्फोट के पहले ईरान में तेल का दैनिक उत्पादन 16 लाख बैरल प्रतिदिन था, किन्तु बाद में यह घटकर सिर्फ 10 लाख बैरल रह गया। इसी तरह इराक के महत्वकांक्षी सड़क, पुल, भवन-निर्माण कार्यक्रम लगभग ठप्प से हो गये। ईरान की कुल आबादी 4·80 करोड़ है, जिसमें से दस लाख सैनिक हैं। इनका मुकाबला करने के लिए इराक ने भी अपनी कुल डेढ़ करोड़ आबादी में से इतना ही बड़ा हिस्सा मोर्चे पर तैनात कर दिया। दोनों देशों ने इतने ज्यादा संसाधन, व्यक्तिगत साख और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दाँव पर लगा दिये कि कोई भी पक्ष हार मानने को तैयार नहीं था। अन्ततः अगस्त, 1988 में संयुक्त राष्ट्र संघ की पहल पर दोनों देशों में युद्ध विराम सम्भव हो पाया।

ईरान और इराक में ऐतिहासिक व पारम्परिक मतभेद—ईरान और इराक के बीच युद्ध की पृष्ठभूमि में उनके ऐतिहासिक और परम्परागत मतभेद हैं। इराक, जिसे पहले मेसोपोटामिया के नाम से जाना जाता था, अपने सामरिक महत्व के कारण विश्व शक्तियों के आकर्षण का सदैव केन्द्र रहा है। 4 लाख 38 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाला यह देश 1958 में राजशाही के पतन के बाद एक लम्बे समय तक सैनिक तानाशाहों की गिरफ्त में रहा। 1979 में स्वास्थ्य खराब होने के कारण जनरल अहमद हसन अलबकर ने देश का नेतृत्व 42 वर्षीय सद्दाम हुसैन को सौंपा। सद्दाम हुसैन ने 22 जून, 1980 को इराक की 250 सदस्यीय असेम्बली के चुनाव कराकर देश के इतिहास में पहली बार यहाँ के नागरिकों को अपने मताधिकार के प्रयोग का अवसर प्रदान किया। पश्चिमी एशिया के देशों में सऊदी अरब के बाद तेल उत्पादक देशों में इराक का स्थान दूसरा आता है। 1979 में वह 30·43 लाख बैरल प्रतिदिन तेल उत्पादन करता रहा था। इस प्रकार वह अपने राजस्व का तीन-चौथाई भाग (36 अरब डालर) तेल का निर्यात करके प्राप्त करता रहा था।

दूसरी ओर 16 लाख 48 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाला ईरान आदि काल से फारसी सभ्यता का केन्द्र रहा है। इस शताब्दी के मध्य तक ईरान

विश्व शक्तियों की छीना-झपटी के बीच अपनी नियति की खोज करता रहा, किन्तु भूतपूर्व शाह रजा पहलवी ने पश्चिमी शक्तियों से मिलकर एक ओर जहाँ एक आधुनिक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में ईरान को खड़ा करने में सफलता प्राप्त की, वहीं दूसरी ओर अपने परम्परागत शत्रु इराक की गतिविधियों पर अंकुश लगाने में उन्हें अद्भुत सफलता मिली। इराक की शक्ति को सीमित करने में शाह को पश्चिमी देशों का पूर्ण सहयोग एवं समर्थन प्राप्त था। इस सबके बावजूद 1978 में शाह के पतन और कट्टरपंथी इस्लामी नेता अयातुल्लाह खुमैनी के नेतृत्व में उठी इस्लामी क्रान्ति की लहर ने जहाँ पश्चिमी शक्तियों के स्वप्नों को चकनाचूर कर दिया, वहीं आन्तरिक अस्थिरता ने ईरान के भविष्य को अनिश्चय के दौर में डाल दिया।

संघर्ष के कारण—इराक और ईरान के बीच संघर्ष का कारण 17 सितम्बर, 1980 को इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन द्वारा उस समझौते को रद्द घोषित कर देना था, जो उन्होंने 1975 में ईरान के शाह से किया था। इस संघर्ष को समझने के लिए 1975 के उक्त समझौते का खुलासा करना आवश्यक है। इराक के उत्तर-पूर्वी प्रदेश कुर्दिस्तान में अधिक संख्या में बसे 'शिया' मतावलम्बियों को ईरान सदैव ही बगदाद के विरुद्ध प्रयुक्त करता रहा है। 1974-75 में कुर्दिस्तान के भयंकर विद्रोह ने बगदाद की सरकार को डाँवाडोल कर दिया था। जैसाकि बाद में स्वयं राष्ट्रपति सद्दाम ने स्वीकार किया कि उस विद्रोह को दबाने में इराकी सेना के कम से कम 16 हजार सैनिक हताहत हुए। जाहिर है कि इस विद्रोह के पीछे शाह और सी० आई० ए० का हाथ था। इस विद्रोह से त्रस्त बगदाद सरकार शाह के सम्मुख घुटने टेक देने को बाध्य हुई थी और उसका नतीजा उक्त समझौते के रूप में सामने आया था।

शत-अल-अरब किसका—1975 के समझौते के तहत शाह ने एक ओर कुर्द विद्रोहियों को समर्थन न देने का वचन दिया, वहीं इराक ने शत-अल-अरब नामक सामरिक महत्व के लगभग 100 मील चौड़े जलमार्ग को ईरान के साथ आधा बाँट देने की पेशकश स्वीकार कर ली। वैसे 1913 में इराक और ईरान के बीच हुए समझौते के अन्तर्गत शत-अल-अरब इराक का हो गया था, किन्तु 1975 के समझौते के द्वारा ईरान को खाड़ी में अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफलता मिल गयी। जिन अपमानजनक परिस्थितियों में और शर्तों पर इराक को 1975 का समझौता करना पड़ा था, उससे जाहिर था कि मौका पड़ने पर इराक, ईरान से इस अपमान का बदला लेगा। शायद यही कारण है कि इराक ने युद्ध की शुरुआत के पूर्व समस्त शत-अल-अरब पर अपना दावा घोषित किया था। स्पष्ट है कि उस दावे को पूरा करने की दृष्टि से ही वर्तमान संघर्ष छेड़ा गया।

शत-अल-अरब भू-सामरिक दृष्टि से न केवल खाड़ी देशों की प्रतिद्वन्द्विता में निर्णायक साबित होगा, वरन पश्चिम के तेल आयातक देशों की नकेल को हाथ में रखने के लिए भी इस पर अधिकार कारगर और लाभदायक है। यह इस बात से स्पष्ट है कि ईरान का प्रमुख तेल उत्पादक प्रान्त खुजस्तान या समुद्री तट शत-अल-अरब पर ही है। इराक के युद्ध-उद्देश्यों के पीछे न केवल शत-अल-अरब पर पुनः अधिकार करना शामिल था, वरन खुजेस्तान को घेर लेने की प्रक्रिया भी जुड़ी हुई थी। खुजेस्तान में इराक को वही लाभ प्राप्त है जो कुर्दिस्तान में ईरान को है। अर्थात् खुजेस्तान की अधिकांश आबादी सुन्नी मतावलम्बी अरबों की है, जो सदैव

तेहरान के शिया शासकों द्वारा शोषित होते रहे है। इस दृष्टि से सद्दाम हुसैन ने शायद ठीक ही सोचा हो कि खुजेस्तान को निशाना बनाकर वह न केवल अधिकांश अरब राष्ट्रों की सहानुभूति हासिल कर लेंगे, वरन ईरान के समस्त गैर-फारसी गैर-शिया लोगों का समर्थन प्राप्त कर खुमैनी की डगमगाती सत्ता के विरुद्ध आन्तरिक विस्फोट की आग को हवा देने मे भी सफल होगा।

नेतृत्व की महत्वकांक्षा—इराक का अपनी सोवियत-परस्त नीति से शनैः शनैः हटकर कुछ-कुछ पश्चिम परस्त और कुछ गुट-निरपेक्ष नीति को अख्तियार कर लेना कम महत्वपूर्ण घटना नहीं कही जा सकती। यों भी इराक पश्चिमी राष्ट्रों की तेल-आवश्यकताओ की दो-तिहाई पूर्ति करता रहा है। पश्चिमी राष्ट्र 1972 की सोवियत-इराक मैत्री के बावजूद इराक को खोया हुआ देश नही मानते रहे थे। इसके पक्ष में 1980 के दशक मे इराक द्वारा फ्रांस, इटली और ब्राजील जैसे पश्चिमी खेमे के देशों से परमाणु साज-सामान, यूरेनियम और तकनीकी जानकारी हासिल कर लेने के उदाहरण दिये जा सकते हैं। दूसरे, इराक ने सोवियत सघ का कई मामलो मे डटकर विरोध किया। इराक द्वारा दक्षिण यमन, इथियोपिया और अफगानिस्तान के मसलो पर सोवियत सघ का विरोध करने पर वह पश्चिम देशों के और करीब आ गया। इन नीतियो से स्पष्ट है कि इराक पश्चिम एशिया में एक शक्ति केन्द्र और पश्चिमी राष्ट्रो के लिए एक 'लगर' का काम करने के लिए युद्ध की शुरुआत से पूर्व स्वयं को प्रस्तुत कर चुका था।

पश्चिमी खेमे की तटस्थता—दूसरी ओर शाह के पतन के बाद खुमैनी का धर्मान्ध और बदले की भावना से ग्रस्त ईरान दिशा-भ्रमित हो चुका था। जाहिर है कि पश्चिमी राष्ट्र ईरान की घटनाओ से भयभीत अवश्य थे, किन्तु दूरगामी आशका से वे हाथ पर हाथ धर कर बैठने के अलावा और कुछ भी नही कर सकते थे। ईरान द्वारा अमरीकी दूतावास के कर्मचारियों को बधक बना लिये जाने की घटना ने अमरीका और उसके मित्र देशो को कार्रवाई के लिए बाध्य कर दिया। यो ईरान विरोधी कार्रवाई आर्थिक प्रतिबन्धों तक सीमित रही, लेकिन अब गौर करने पर पता चलता है कि अप्रैल, 1980 में ही तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति के रक्षा सलाहकार ब्रेजेंजिस्की ने यह घोषित कर दिया था कि यदि भविष्य मे इराक और ईरान के बीच सघर्ष स्थानीय संघर्ष न रह सका, तो अमरीका को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। कूटनीतिक पर्यवेक्षको ने ब्रेजेंजिस्की की उक्त घोषणा का सीधा-साधा अर्थ यह लगाया कि अमरीका इराक को ईरान से निपटने के लिए हरी झण्डी दिखा रहा है। यों भी अप्रैल, 1980 से ही सद्दाम हुसैन ने ईरान के साथ निर्णायक संघर्ष का इरादा दबे स्वरो मे जाहिर करना शुरू कर दिया था।

फारसी नस्लवाद—जून, 1980 के इराकी चुनावो के बाद राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन ने ईरान के विरुद्ध सांस्कृतिक सघर्ष की रूपरेखा बनायी। इसमें उन्होंने खुमैनी की इस्लामी क्रान्ति को 'फारसी नस्लवाद' और 'अरबों के विरुद्ध दबी हुई घुटन' की संज्ञा दी। वैसे इसके पूर्व ही खुमैनी ने सद्दाम हुसैन के विरुद्ध जिहाद छेड़ते हुए यह घोषित कर दिया था कि वह अमरीकी एजेन्ट है। साथ ही उन्होने इराक में रहने वाले शियाओ को सद्दाम हुसैन का तख्ता उलटने का आदेश दिया। ईरान में सद्दाम हुसैन का तख्ता उलटने के उद्देश्य से एक 'इस्लामी क्रान्तिकारी सेना' का विधिवत गठन कर लिया गया। यह आसानी से अन्दाजा लगाया जा सकता है

कि इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन पर खुमैनी के ईरान की ऐसी बचकानी हरकतों का क्या असर हुआ होगा, खासकर तब जबकि वह इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि उनके देश की कोई 50 प्रतिशत जनसंख्या शिया मतावलम्बी है और वह ईरान के शासकों के आदेशों से अधिक प्रभावित होती है, बनिस्बत बगदाद सरकार के आदेशों के।

एक म्यान में दो तलवारें—युद्ध के पूर्व ही इराक और ईरान के बीच जीवन और मृत्यु का संघर्ष परिपक्व हो चुका था। कुछ-कुछ स्थिति ऐसी आ गयी थी कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती थी और न रहनी थीं। इसी पृष्ठभूमि में यह समझ लेना जरूरी है कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र की अनुकूल स्थिति ने राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन के हौसले काफी बुलन्द कर दिये थे। जहाँ कैम्प डेविड समझौते के बाद अरब जगत पर मिस्र का दबदबा समाप्त हो गया, वहीं ईरान के शाह के पतन और सऊदी अरब की आन्तरिक गड़बड़ी ने न केवल पश्चिम एशिया, वरन् समस्त इस्लामी जगत में नेतृत्व की रिक्तता पैदा कर दी। ऐसी स्थिति में सद्दाम हुसैन जैसा महत्वकांक्षी और अपेक्षाकृत युवा व्यक्ति निस्सदेह मुस्लिम जगत पर अपना नेतृत्व स्थापित करने की दृष्टि से फायदा क्यों न उठाता? सद्दाम हुसैन जानते थे कि ईरान की सेना के अधिकांश योग्य सेनाधिकारी खुमैनी की व्यक्तिगत रंजिश के शिकार हो चुके थे। ईरान का कोई दोस्त नहीं था तथा अमरीका और पश्चिमी राष्ट्र उसके शत्रु थे। आर्थिक दृष्टि से ईरान की स्थिति यह थी कि जहाँ 1974 में वह 60 लाख बैरल प्रतिदिन के हिसाब से कच्चे तेल का उत्पादन कर रहा था, वहाँ 1979 में केवल 30 लाख बैरल प्रतिदिन तक घट कर आ गया।

अरबों की चुप्पी—ऐसी परिस्थितियों में सद्दाम हुसैन ने सर्वप्रथम अरब राष्ट्रों में खुमैनी के विरुद्ध धार्मिक असन्तोष पैदा करना आरम्भ किया। जोर्डन के शाह हुसैन ने सर्वप्रथम ईरान के विरुद्ध इराक का समर्थन किया। जब सद्दाम हुसैन ने सऊदी अरब, कतार, उत्तरी यमन और खाड़ी के अन्य देशों से शिया-साम्राज्यवाद के विरुद्ध सहायता की अपील की तो उनका सहानुभूतिपूर्ण रुख देखने में आया। इराक के लिए इतना काफी था। इधर पश्चिमी राष्ट्रों की ओर से सद्दाम हुसैन यों भी निश्चिन्त थे। अपनी योजना की सफलता में कोई कसर न रखने की दृष्टि से उन्होंने एक तुरुप चाल और चली। सम्पूर्ण संघर्ष की शुरुआत के एक दिन पूर्व अपने एक विशिष्ट दूत को मास्को भेजकर उन्होंने सोवियत संघ को न केवल इराकी पक्ष से अवगत करा दिया, वरन कहते हैं कि 1972 की सोवियत-इराक सन्धि के तहत हथियारों की माँग भी की। यों भी खुमैनी का कट्टरपंथी ईरान, सोवियत व्यूह रचना में कहीं भी फिट नहीं हो सकता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इराक ने सामरिक महत्व के ठिकानों में अपने मोहरे फिट करने के बाद ईरान में युद्ध करने का निर्णायक कदम उठाया।

ईरान-इराक युद्ध लम्बा खिंचने के कारण—जिस समय ईरान-इराक युद्ध छिड़ा, उस समय अनेक समर विद्या विशारदों का मानना था कि कुछेक हफ्तों में यह संघर्ष समाप्त हो जायगा। अधिकतर लोगों का मानना था कि इराक इस मुठभेड़ में विजयी प्रकट होगा। ऐसा सोचने के अनेक कारण थे। 1979 में ईरान में शाह के बाद अयातुल्ला खुमैनी के नेतृत्व में कट्टरवादी, पुरातनपंथी, मध्ययुगीन व धार्मिक शासकों का बोलबाला था और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन

में मथकर उथल-पुथल चल रही थी। तेल का उत्पादन गड़बड़ा गया था। ईरान के वैदेशिक सम्बन्धों में अनिश्चय की स्थिति और सेना में प्रशिक्षित-अनुभवी शाह के विश्वासपात्र अफसरों के निष्कासन-दण्डित किये जाने के बाद ईरान को सैनिक क्षमता को काफी नुकसान पहुँचा था। ऐसा भी सोचा जाता था शाह के आतंकवादी-अत्याचारी प्रशासन से मुक्त होने पर ईरानियों की प्रसन्नता क्षण-भंगुर रही। खुमैनी के कट्टर समर्थकों ने ईरानियों की जान कम मुसीबत में नहीं डाल रखी थी और इस्लामी शासकों के विरुद्ध क्षोभ और आक्रोश व्यापक रूप से सुगबुगा रहा था, जिसका विस्फोट कभी भी तख्तापलट के रूप में हो सकता था। अमरीकी बंधकों के प्रसंग के सन्दर्भ में यह अटकलें भी लगायी गयीं कि अमरीका जैसी महाशक्ति अपने हितों की रक्षा के लिए ईरानी घटनाक्रम में हस्तक्षेप कर सकती है। इस्लामी क्रान्तिकारिता के ज्वार से सोवियत संघ भी शंकित था। संक्षेप में 1980–81 के दौर में ईरान चारों ओर से घिरा हुआ था और उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं लगती थी।

इसके विपरीत इराकी सरकार अपेक्षाकृत 'प्रगतिशील' समझी जाती थी—अपनी धर्मनिरपेक्षता, समाजवादी रुझान और तकनीकी उपलब्धियों के कारण।

ईरान-इराक संघर्ष से सम्बन्धित मुद्दे

जहाँ एक ओर इराक को सोवियत संघ का 'समर्थन' प्राप्त था, वहीं अमरीकियों को ईरानियों की तुलना में इराकी अधिक काम आते थे। युद्ध छिड़ने तक तेल से इराक की कमाई काफी थी। इराक तेल निर्यात में हुई आमदनी का उपयोग अपने परमाणु कार्यक्रम के विकास या फ्रांस जैसे देशों से 'एक्समो सेट' जैसे प्रक्षेपास्त्रों की खरीद के लिए कर रहा था।

इस समय युद्ध के निर्णय का सीधा सम्बन्ध खुमैनी और सद्दाम हुसैन के अस्तित्व से था। पारम्परिक, जातीय, भू-राजनीतिक, आर्थिक तथा आन्तरिक राजनीतिक दबाव के कारण पराजित नेतृत्व बचे रहने की कोई भी सम्भावना नहीं थी। पिछले कुछ वर्षों के अनुभव से यह बात एक बार फिर स्पष्ट हुई कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मामले में भविष्यवाणी करना कभी भी निरापद नहीं होता। ईरान-इराक युद्ध का कलन्डर यह बात भी उजागर करता है कि नए शीत युद्ध के इस चरण में *सामरिक लक्ष्य और शक्ति समीकरण कितने नाटकीय ढंग से तथा* कितने आमूल चूल बदल चुके हैं। तेजी से युद्ध जीत सकने में इराक की विफलता ने उसके अनेक सहयोगी राष्ट्रों को ईरान की ओर आकृष्ट किया। इसका एक उदाहरण राष्ट्रपति रीगन के भूतपूर्व राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार मेकफर्लेन के गोपनीय राजनय से पता चलता है। कल तक ईरान रीगन को अमरीका का 'शैतान' कहता था और बधकों के बाद के प्रकरण में अमरीका की नजर में ईरानी सरकार 'अराजकतावादी-आतंकवादियों का जमघट' थी। किन्तु बाद में ईरान और अमरीका एक-दूसरे के साथ शस्त्र व्यापार के लिए तैयार हो गये। इसी तरह जनवादी चीन ईरान और इराक दोनों पक्षों को सैनिक साज-सामान की बिक्री कर मुनाफा कमाता रहा। इस लम्बी रस्साकशी के दौरान दोनों पक्षों पर युद्ध-अपराध सम्बन्धी जिनेवा 'कन्वेंशन' के उल्लंघन एवं मानवाधिकार हनन के आक्षेप लगाये जाते रहे। ईरान युद्ध के मोर्चों पर 13–14 वर्ष के किशोरों को कुर्बान करते रहने के लिए विवश हुआ तो इराक ने रासायनिक अस्त्रों और जहरीली गैस का प्रयोग करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखायी। इन सबसे यह बात उजागर होती है कि ईरान-इराक युद्ध (शीत युद्ध की दृष्टि से) की एक बहुत बड़ी उपयोगिता 'शस्त्रास्त्रों की प्रयोगशाला' के रूप में थी।

शीत युद्ध के पहले चरण (1945 से 1962 तक) में अमरीका के सैनिक-औद्योगिक प्रतिष्ठान (Military Industrial Complex) का उल्लेख किया जाता था। आज इस तरह के सामरिक महत्त्व वाले मुनाफाखोर प्रतिष्ठान सार्वजनिक या *निजी क्षेत्र में हर जगह देखे जा सकते हैं—समाजवादी देशों में भी।*[1] महाशक्तियों के ही नहीं, बल्कि अन्य बड़ी शक्तियों के भी हित में यह है कि अपनी सीमा से दूर दराज किसी रणक्षेत्र में दूसरे की सामरिक जरूरतें पूरी करने के बहाने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मन्दी, बढ़ती बेरोजगारी आदि का मुकाबला किया जाये।

[1] के० सुब्रह्मण्यम द्वारा सम्पादित पुस्तक '*The Second Cold War*' (दिल्ली 1983) में क्रिस्टोफर एस० राज ने स्पष्ट लिखा है कि 'सोवियत संघ ने ईरान इराक युद्ध शुरू होने के बाद भी इराक को हथियारों की सप्लाई नहीं रोकी। ऐसा जान पड़ता है कि उसका इरादा यही था कि किसी भी पक्ष को निर्णायक जीत न मिले। जिस समय यह सहायता दी गयी, सोवियत संघ और इराक के बीच सम्बन्ध अच्छे भी नहीं थे।

ईरान-इराक युद्ध का आर्थिक पक्ष—इस युद्ध का आर्थिक पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नही। ईरान और इराक दोनो प्रमुख तेल उत्पादक देश है। भले ही आज तेल उत्पादक निर्यातक देशो के संगठन 'ओपेक' में वैसा 'एका' नही रह गया, जैसा 1973 मे देखने को मिला था। फिर भी, तेल की कमाई और इसके खर्च की चिन्ता हमेशा अमरीकियो तथा पश्चिमी दुनिया के अन्य देशो को रही है। उनकी अपनी खुशहाली और आम उपभोक्ता का जीवन-यापन स्तर कही न कही इससे जुड़ा हुआ है। जब तक यह युद्ध जारी रहा, तब तक न केवल ईरान व इराक के तेल उत्पादन को बल्कि अन्य तेल उत्पादक राष्ट्रो की गतिविधियो को भी परोक्ष रूप से प्रभावित किया जा सकता था।

सऊदी अरब के तत्कालीन तेल मन्त्री शेख अली यमनी ने जब यह प्रस्ताव रखा कि 'ओपेक' के सदस्य देश तेल उत्पादन मे कटौती करें तो ईरानी सरकार ने यह स्पष्ट करने मे देर नही की कि वह इसे युद्ध की कार्रवाई समझेगा। जाहिर है कि यमनी का उद्देश्य उत्पादन घटाकर कीमतें बढ़ाना था, परन्तु ईरान के लिए तेल उत्पादन घटाना असम्भव था, क्योकि तेल निर्यात ही उसके युद्ध प्रयास में जान डालता था। अन्ततः यमनी को ओपेक की एकता के लिए अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा।

इसी उदाहरण से समस्या के एक और पहलू का पता चलता है। यह पूछा जा सकता है कि आखिर सऊदी अरब क्यो ईरानी भावनाओ का आदर करता है? वह स्वयं बड़ा तेल उत्पादक है। यथार्थ यह है कि अरब ससार में ही नही, पूरे पश्चिम एशिया में ईरान और इराक औरो के सामने भविष्य की दो वैकल्पिक रूपरेखाएँ प्रस्तुत करते हैं। सऊदी अरब के लिए इनमे से किसी एक को चुनना कठिन है। वह न तो समाजवादी सैनिक तानाशाही को आकर्षक समझता है और न ही धार्मिक कठमुल्लेपन को, जिसके तेवर विश्वव्यापी क्रान्तिकारिता के है। इसी तरह बढ़े-घटे तेल उत्पादन या खाड़ी युद्ध के उतार-चढ़ाव का प्रभाव जापान, पश्चिमी यूरोप आदि पर पड़े बिना नही रह सकता। ईरान से सोवियत संघ को दी जाने वाली गैस का भी कम आर्थिक व सामरिक महत्व नहीं। ईरान-इराक के बीच बाहरी शक्तियो की पक्षधरता निश्चय ही औरो के साथ इनके सम्बन्धो मे प्रतिबिम्बित होने लगी थी।

अगस्त, 1988 में संयुक्त राष्ट्र संघ की पहल पर अन्ततः ईरान व इराक के बीच में युद्ध विराम कराने में सफलता मिली, लेकिन दोनों देशो में तनाव खत्म होने के आसार नजर नही आये, जिससे सम्पूर्ण अरब जगत की राजनीति प्रभावित रही।

खाड़ी युद्ध, 1991
(The Gulf War)

कुवैत पर इराकी कब्जा

ईरान-इराक युद्ध की आग अभी शान्त हुई थी कि खाड़ी मे दूसरा विस्फोट हो गया। इराक ने पड़ोसी कुवैत पर हमला कर दिया और नये संकट को जन्म दिया। समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए किये गये सारे प्रयत्न निष्फल रहे

और अतत स० रा० सघ के तत्वावधान मे अमरीका और मित्र राष्ट्रो की सेनाओ को हमलावर इराक को अनुशासित करना पडा। इस खाडी युद्ध ने सम-सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नाटकीय ढग से नया मोड दिया। सोवियत सघ जैसा देश इराक के साथ विशेष मैत्री सन्धि के बावजूद इस मसले मे कोई प्रभावी एव सार्थक भूमिका नही निभा पाया।

प्रमुख घटनाएँ—कुवैत के मसले को लेकर इराक और अमरीका के नेतृत्व मे बहुराष्ट्रीय सेना के बीच हुए इस भयकर युद्ध और अनत इराक की पराजय से सम्बन्धित सभी पहलुओ के विश्लेषण के पहले तिथिक्रम के अनुसार प्रमुख घटनाओ का उल्लेख जरूरी है। 18 जुलाई, 1990 को इराक ने कुवैत पर अपने कुओं से तेल चोरी करने और इराकी सीमा पर सैनिक ठिकानो की स्थापना का आरोप लगाया। 24 जुलाई, 1990 को करीब एक लाख इराकी सैनिको ने कुवैत को घेर लिया। 2 अगस्त, 1990 को इराक ने कुवैत पर हमला बोल दिया। इसकी प्रतिक्रिया मे स० रा० सघ ने एक प्रस्ताव (सख्या 660) पारित कर इराक को कुवैत से हटने को कहा। 3 अगस्त, 1990 को अरब लीग के सदस्य-देशो, अमरीका और सोवियत सघ के साथ-साथ अनेक देशो ने इराकी हमले की तीव्र भर्त्सना की 6 अगस्त, 1990 को सऊदी अरब ने मित्र देशो को इराक के खिलाफ सुरक्षा के लिए आमन्त्रित किया। स० रा० सघ ने एक प्रस्ताव (सख्या 661) पारित कर इराक के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की घोषणा की। 8 अगस्त, 1990 को इराक ने कुवैत का अपने देश मे विधिवत विलय कर लिया। 12 अगस्त, 1990 को इराक ने कुछ शर्तों के साथ यह कहा कि यदि इजराईल अरबो की हडपी हुई भूमि खाली कर देता है तो वह भी कुवैत से हट जायेगा। 28 अगस्त, 1990 को इराक ने कुवैत को अपना 19वाँ प्रान्त घोषित कर दिया। 9 अक्तूबर, 1990 को युद्ध की भयकर स्थिति को देखते हुए कच्चे तेल के दाम अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे 40 डालर प्रति बैरल की ऊँचाई छू गये। 29 नवम्बर, 1990 को स० रा० सघ ने एक प्रस्ताव (सख्या 678) पारित कर मित्र देशो को इस बात के लिए प्राधिकृत किया कि यदि इराक 15 जनवरी, 1991 तक कुवैत से नही हटता है तो वे स० रा० सघ के प्रस्ताव पर क्रियान्वयन के लिए 'सभी आवश्यक कदम उठा सकते हैं।' 10 जनवरी, 1991 को स० रा० सघ के महासचिव कुइयार शान्तिवार्ता के लिए बगदाद गये, किन्तु खाली हाथ लौटे। 12 जनवरी, 1991 को अमरीकी ससद ने बुश प्रशासन को कुवैत की मुक्ति के लिए इराक के खिलाफ बल प्रयोग का अधिकार दिया। जब 15 जनवरी, 1991 की अर्द्ध रात्रि की समय सीमा तक इराक कुवैत से नही हटा तो 16 जनवरी, 1991 को अमरीका के नेतृत्व मे बहुराष्ट्रीय सेनाओ ने 'आपरेशन डेजर्ट स्टोर्म' शुरू कर इराक पर सैनिक हमला बोल दिया। 17 जनवरी, 1991 से इराक ने इजराईल पर स्कड प्रक्षेपास्त्र दागकर अरब देशो का समर्थन हासिल करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह नाकाम रहा। 19 जनवरी, 1991 से अमरीका ने इराक पर 'पैट्रियोट' प्रक्षेपास्त्र से हमला प्रारम्भ किया। 25 जनवरी, 1991 से इराक ने समुद्र मे बडे पैमाने पर तेल उन्डेला जिसस पर्यावरण के समक्ष गम्भीर खतरा पैदा होन की आशका पैदा हुई। 6 फरवरी, 1991 को इराक ने मिस्र, फ्रांस, इटली, सऊदी अरब, ब्रिटेन और अमरीका से राजनयिक सम्बन्ध तोड लिये। इस दौरान अमरीका ने इराक पर हवाई बमबारी तेज कर दी, जिससे इराक मे जन-धन

की भारी हानि होने लगी। 15 फरवरी, 1991 को इराक ने कुवैत से हटने की सशर्त घोषणा की। 18 फरवरी, 1991 को मास्को में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव व इराकी विदेश मन्त्री अजीज की भेंट एवं शान्ति योजना की घोषणा हुई। 22 फरवरी, 1991 को इराक ने सोवियत शान्ति योजना ठुकरा दी। उधर अमरीकी राष्ट्रपति बुश ने माग की कि 23 फरवरी से इराक कुवैत से हटना शुरू कर दे। 22–25 फरवरी, 1991 को इराक ने अपने कुवैती ठिकानों और तेल प्रतिष्ठानों को नष्ट करना शुरू कर दिया। 25 फरवरी, 1991 को अमरीका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने इराक के खिलाफ जमीनी हमला शुरू कर दिया, जिसके लिए इराक कई दिनों से ललकार रहा था। 26 फरवरी, 1991 को लगातार पिटने के बावजूद इराकी राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन ने 'जीत' की घोषणा की और कुवैत से इराकी सैनिकों की वापसी शुरू हो गई। 26–27 फरवरी, 1991 को कुवैत शहर मुक्त हो गया और इराकी सेना की पराजय जग-जाहिर हो गयी। 27 फरवरी, 1991 को इराकी सरकार ने कुवैत पर स० रा० संघ के प्रस्ताव को बिना शर्त मंजूर कर लिया। 28 फरवरी, 1991 को बहुराष्ट्रीय सेना ने अपनी सैनिक कार्रवाई स्थगित कर दी। तत्पश्चात् इराक में सद्दाम हुसैन के खिलाफ कई प्रदर्शन हुए और कुर्दों ने विद्रोह भी किया।

खाड़ी युद्ध के कारण

कई विद्वानों का मानना है कि खाड़ी युद्ध के विस्फोट का प्रमुख कारण बगदाद के 'कसाई तानाशाह' सद्दाम हुसैन की बेलगाम महत्वाकांक्षाएँ और इराक का आक्रामक विस्तारवाद था। पश्चिम एशिया में इराक अपने को दजला फरात की घाटियों की प्रागैतिक सभ्यता का वारिस मानता है और आधुनिक काल में धर्म-निरपेक्ष तथा प्रगतिशील सामाजिक ताकतों का मुखर अधिवक्ता भी। सद्दाम हुसैन के सत्तारूढ़ होने के बाद इराक अपने को अरब राष्ट्रों के नेता के रूप में प्रस्तुत करता रहा है। मिस्र में नासर की मृत्यु और अनवर सादात की हत्या के बाद यह प्रवृत्ति और भी जोर पकड़ती गयी। पिछले कुछ वर्षों में इराक फिलस्तीनियों का प्रमुख संरक्षक और सहायक रहा है। यों शीत युद्ध के दौर में इराक को मिलने वाली सैनिक सहायता का प्रमुख क्षेत्र सोवियत संघ था, परन्तु जब से इराक ने अयातुल्ला खुमैनी के कठमुल्ले नेतृत्व वाले ईरान का मुकाबला करने के लिए अपनी कमर कसी, तब से वह अमरीका एवं पश्चिमी देशों का स्नेह-भाजन भी बन गया।

इस विषय में दो राय नहीं हो सकती कि इराक खाड़ी युद्ध के पहले पश्चिम एशियाई क्षेत्र में प्रमुख सैनिक शक्ति के रूप में पहचाना जाता था—एक ऐसा राष्ट्र, जो परमाणु सामर्थ्य हासिल करने की दहलीज पर खड़ा था। उसके पास खतरनाक प्रक्षेपास्त्र क्षमता थी और यह अटकल लगायी जाती थी कि उसके पास रासायनिक एवं जीवाणु आयुधों का विशाल भण्डार है। इसके साथ-साथ इराक तेल उत्पादक राष्ट्रों में विशेष स्थान रखता है और उसकी उच्च महत्वाकांक्षाओं वाली बात समझ में आती है।

तब भी, गौरवपूर्ण अतीत हो या निरंकुश तानाशाही, इसको आक्रामक विस्तारवाद का पर्याय नहीं समझा जा सकता। यह खोजबीन जरूरी है कि वे कौन-से बुनियादी कारण थे, जिन्होंने इराक को कुवैत पर हमले के लिए प्रेरित किया।

1 ईरान-इराक युद्ध के बाद इराक पर अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज का बोझ—आठ वर्षों तक ईरान-इराक मे चले महासमर (1980 से 1988 तक) ने इराक की अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया। तेल निर्यात से अर्जित उसकी पूँजी का एक बहुत बड़ा हिस्सा विदेशों से हथियारों के आयात पर खर्च हो गया था। इराक के जन हितकारी विकासात्मक कार्य ठप्प थे और उसके लिए यह जरूरी हो गया था कि वह कर्ज चुकाने के लिए विशाल धनराशि जुटाये। वास्तव में, कुवैत के साथ विवाद का आरम्भ ही इस बात के साथ हुआ कि इराक द्वारा ईरान के साथ लड़े गये युद्ध के खर्च को पूरा करने मे कुवैत हाथ बँटाये। इसी विवाद के साथ दो-तीन और पहलू जुडे हुए हैं।

2 तेल कूपों और तेल कीमतों से सम्बन्धित विवाद—1988 मे ईरान के साथ युद्ध विराम के बाद इराक की यह अभिलाषा स्वाभाविक थी कि तेल की कीमतें चढी रहें, ताकि वह जल्दी से जल्दी ज्यादा मुनाफा कमाकर कर्ज का बोझ कम कर सके। इसके लिए यह जरूरी था कि सभी तेल उत्पादक राष्ट्र सहमत सीमा के भीतर ही तेल उत्पादन करें और तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें गिरने न पायें। मगर कुवैत अपने आचरण से यह प्रकट कर रहा था कि उसे इस तरह की कोई बंदिश मञ्जूर नही। इसके अलावा इराक म इस बात को लेकर भी आक्रोश बना रहा कि कुवैत के सबसे लाभप्रद तेल कूपो पर इराक अपने स्वामित्व का दावा करता है। एक राष्ट्र राज्य के रूप मे कुवैत का उदय ब्रिटिश नीति के फलस्वरूप 1950 वाले दशक मे हुआ। इससे पहले यह भू-भाग ऐतिहासिक इराक का प्रान्त ही था।

3 इराक में आन्तरिक असन्तोष—ईरान-इराक युद्ध के बाद इराक मे व्यापक जन-आक्रोश व्याप्त था। जब ईरान और इराक मे सैनिक मुठभेड आरम्भ हुई थी तो लोगो का यह मानना था कि इराक बहुत जल्दी ईरान को शिकस्त दे देगा। परन्तु ऐसा कुछ नही हुआ और इराकी जनता को राष्ट्र प्रेम के नाम पर तरह-तरह की बहुत बडी कुर्बानियाँ देनी पडी। शान्ति की पुन स्थापना के बाद सद्दाम हुसेन के लिए यह परमावश्यक हो गया कि वह अपनी जनता का ध्यान आन्तरिक समस्याओं से हटाकर किसी और दिशा मे मोडे। इराक मे कुर्दों की समस्या एव शासक बिरादरी मे आन्तरिक जानलेवा वैर विकट सकट का रूप ग्रहण कर चुके थे। इराक द्वारा अमरीका को चुनौती देने के लिए खम ठोकना-हुकारना इसीलिए जरूरी हुआ। परन्तु ऐसा नही कि खाडी युद्ध के लिए सिर्फ इराक ही जिम्मेदार था। इराक को युद्ध की कगार तक ले जाना और उसमे धकेलना अमरीका के कुटिल राजनय के कारण सम्भव हुआ।

4 अमरीका का कुटिल राजनय—पश्चिम एशिया मे अमरीका के सरक्षित इजराईल का अस्तित्व तब तक निरापद नही समझा जा सकता, जब तक कि इराक की सैनिक क्षमता को पूरी तरह ध्वस्त नही कर दिया जाये। फिलस्तीनियो की रीढ तोडने के लिए इराकियो को मटियामेट करना जरूरी था। अतीत मे इराकी परमाणु सयन्त्र पर इजराइली बमबारी के बाद भी यह मसूबा पूरा नही हो सका। किन्तु इस बार अमरीका ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुटिल राजनय का जाल फैलाया। जहाँ एक ओर उसने सऊदी अरब जैसे देश को इस खौफ से परेशान रखा कि जो हाल आज कुवैत का है, कल उसका भी हो सकता है। दूसरी ओर उसने निहायत ही मासूम अदा से साथ स० रा० सघ के चार्टर की रक्षा की दुहाई

दी। साथ ही, अमरीका ने इराक को इस भ्रम में उलझाये रखा कि समस्या के हल के लिए संवाद जारी है और आखिरी क्षण तक सैनिक मुठभेड को टाला जा सकता है। अमरीकी राजनय की कुटिलता अप्रत्याशित रूप से सफल हुई, जिसके लिए सिर्फ अमरीकी कौशल ही नही बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य भी जिम्मेदार रहा।

5. तनावग्रस्त सोवियत संघ—पेरेस्त्रोयका और ग्लासनोस्त वाले दौर में गोर्बाच्योव का सोवियत संघ अपनी आन्तरिक समस्याओं मे बहुत बुरी तरह उलझ गया। मध्य एशियाई गणराज्यों में बगावत का संयोग जन-जातीय और इस्लामी असन्तोष के साथ हुआ। यूरोप के एकीकरण ने भी साम्यवादियो पर भारी दबाव डाला। सोवियत संघ ने एक तरह से स्वेच्छा से पश्चिम एशियाई रण छोड़ दिया। अब मंच पर एक ही महाशक्ति अमरीका बची रही और इराक के सामने अकेले खड़े रहने के सिवाय कोई विकल्प नही था। युद्ध से बचने का कोई राजनयिक मार्ग सुझाने वाला नही बचा, न ही कोई ऐसा शक्ति-सन्तुलन था जो शक्ति को बरकरार रखता।

6. गुट निरपेक्ष आन्दोलन की अक्षमता—इराक के ध्वंस के लिए गुट निरपेक्ष आन्दोलन की अक्षमता एक बड़ी सीमा तक उत्तरदायी रही। भारत जैसे अनेक गुट निरपेक्ष आन्दोलन के प्रमुख सदस्य अपनी आन्तरिक राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक कठिनाइयों और आपसी विवादों मे ऐसे फसे थे कि वे खाड़ी युद्ध में मध्यस्थता की बात सोच भी नही सकते थे। तथापि इस मुद्दे को अनावश्यक तूल देने की जरूरत नहीं, क्योंकि सोवियत संघ के समर्थन और सहायता के बिना गुट निरपेक्ष जमावड़ा अमरीका की सैनिक क्षमता के सामने ज्यादा देर तक टिक नही सकता था। वैसे भी गुट निरपेक्ष आन्दोलन की नपुंसकता ईरान-इराक युद्ध के दौरान भी जगजाहिर हो चुकी थी।

खाड़ी युद्ध के प्रभाव

इस युद्ध के प्रभाव सम-सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर बहुआयामी ढंग से पड़े। सबसे पहले तो यह बात सिद्ध हुई कि अब संसार में सिर्फ एक ही महाशक्ति रह गयी है। अमरीका के वर्चस्व को चुनौती देने वाला कोई प्रतिद्वन्द्वी नही बचा, जबकि पारम्परिक रूप से यह भूमिका सोवियत संघ निभाता रहा था। आणविक अस्त्रों के आविष्कार के बाद आतंक के सन्तुलन ने शक्ति सन्तुलन का स्थान ले लिया था और तनाव शैथिल्य के बाद क्षेत्रीय समस्याओं के निपटारे के बारे में दोनों महाशक्तियों के सामरिक हितों का संयोग अनेक जगह देखने को मिला था। परन्तु, खाड़ी युद्ध में यह बात साफ झलकी कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह दौर समाप्त हो चुका है। खाड़ी युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़े प्रमुख प्रभाव निम्नलिखित हैं—

1. सोवियत संघ का अवमूल्यन—खाड़ी युद्ध का एक प्रमुख प्रभाव सोवियत संघ के भारी अवमूल्यन के रूप में सामने आया। गोर्बाच्योव ने जब सोवियत व्यवस्था के सुधार और नव-निर्माण के लिए पेरेस्त्रोयका और ग्लास्नोस्त का मार्ग चुना तो उन्होंने यह जोखिम जान-बूझकर उठाया कि भविष्य में आगे बढ़ने के लिए उन्हें वर्तमान में एक कदम पीछे हटना पड़ सकता है। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के कट्टरपंथी नेता उनकी आलोचना यह कहकर करते रहे कि सुलह का मार्ग चुनना

सोवियत संघ की कमजोरी समझा जा सकता है। इसका लाभ अमरीका अधिक आक्रामक तेवर अपना कर उठा सकता है। दुर्भाग्यवश, सोवियत सन्दर्भ में तब तक निराशावादी भविष्यवाणियाँ ही सच साबित होती रही हैं। पश्चिमी पूंजी और तकनीकी को आमन्त्रण देने के लिए गोर्बाच्योव ने यह भी जरूरी समझा कि पूर्वी यूरोप में असहमति या असन्तोष को मुखर होने दे, जर्मनी से लाल सेना को वापस बुला लें और यूरोपीय एकीकरण में बाधक न बनें। परन्तु, इस सबके बावजूद सोवियत संघ में न तो आर्थिक विकास की दर तेज की जा सकी और न ही मध्य एशियाई सोवियत गणराज्यों में विप्लव के विस्फोट को नियन्त्रित रखा जा सका। कुल मिलाकर, सोवियत संघ आन्तरिक चुनौतियों से जूझने में इतना व्यस्त रहा कि खाड़ी युद्ध के बाद वह न तो इस अन्तर्राष्ट्रीय संकट का समुचित मूल्यांकन कर सका और न ही इसके अनुकूल सामरिक व राजनयिक नीति का संचालन।

2. आधुनिक शस्त्रास्त्रों का चमत्कारी प्रयोग—आधुनिक शस्त्रास्त्रों का चमत्कारी प्रयोग खाड़ी युद्ध की एक प्रमुख विशेषता थी। जब अमरीका ने आक्रमणकारी इराक को दण्डित करने के लिए सैनिक कदम उठाये, तब स्वयं अमरीका में कई लोगों ने यह आशंका व्यक्त की कि वियतनाम का दुःस्वप्न फिर से यथार्थ में बदलने वाला है। कुछ लोगों का यह भी मानना था कि जब जमीनी लड़ाई के दौरान रेगिस्तान में अमरीकी सैनिक हताहत होंगे तो अमरीकी जनमत प्रतिकूल होने के कारण इस युद्ध को लम्बे समय तक जारी रखना उसके लिए सम्भव नहीं रह जायेगा। इराक के पक्षधर अफ्रो-एशियाई और इस्लामी देशों ने यह सन्देह भी प्रकट किया कि वियतनाम की त्रासदी अब एक पीढ़ी पुरानी हो गई है। आज का अमरीकी सैनिक पश्चिम एशियाई रेगिस्तान की गर्मी झेलने और वहाँ लड़ने लायक नहीं रह गया है। अमरीकी सैनिक आधुनिकतम इलैक्ट्रोनिक उपकरणों से लैस थे, जिनके बारे में यह अटकल लगायी गयी कि इनका प्रदर्शन और परीक्षण अभी तक किसी रणक्षेत्र में नहीं हुआ है। कहीं ऐसा न हो कि वास्तविक युद्ध में यह सब खर्चीले खिलौने ही साबित हों। सबसे पहले तो यह सवाल उठाया गया है कि क्या धार्मिक और राजनीतिक विचारधारा से समृद्ध इराकी सैनिकों का मुकाबला वेतन भोगी अमरीकी सैनिक कर भी सकते हैं? जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि इराक के परमाणु, रासायनिक और जीवाणु हथियारों का भी बड़ा हल्ला था, जो अमरीकी विजय के बारे में सन्देह पैदा कर रहे थे।

मगर, अमरीका ने नाममात्र का नुकसान उठाकर ही इराक को परास्त और ध्वस्त कर सारे विश्व को विस्मित कर दिया। पहले तो यह लगा कि इराक सम्भवतः अपने लाव-लश्कर को किसी बड़े नाटकीय जवाबी हमले के लिए सुरक्षित रख रहा है। परन्तु जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि वह अमरीका के सामने टिक नहीं सकता। सोवियत संघ से हासिल किये गये स्कड प्रक्षेपास्त्र सीली हुई आतिशबाजी के समान ही निकले। उधर, अमरीका ने वीडियो-खेलों की तरह घर बैठे इराकी सेना को तबाह कर दिया। जिस सर्वनाशि तामझाम के कारण स्टार वार्स परियोजना की बदनामी हुई थी, उसकी अब चमत्कारी सफलता देखने को मिली। कुल मिलाकर इस क्षेत्र में भी अमरीकियों की तुलना में सोवियत संघ की कार्यकुशलता और तकनीक का पिछड़ापन ही देखने को मिला। न केवल यह वीडियो-युद्ध खाड़ी के लिए निर्णायक सिद्ध हुआ, बल्कि इससे बाकी दुनिया को भावी चेतावनी मिल गयी कि

अमरीका अपने सैनिकों की जान बचाते हुए दूसरों का पैसा खर्च करवा कर कितनी दूर तक कितनी खतरनाक मार कर सकता है।

(3) **संयुक्त राष्ट्र संघ की निष्क्रियता**—संयुक्त राष्ट्र संघ की निष्क्रियता ने ही अमरीका की विश्वव्यापी कोतवाली को संभव बनाया। विडम्बना तो यह है कि सैनिक गतिविधियाँ शुरू करने के पहले अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के प्रावधानों का पूरा लाभ अपने राष्ट्रीय हित के पोषण-सरक्षण के लिए उठाया। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों में भारत जैसे इराक के मित्र-राष्ट्रों के लिए भी यह संभव नहीं था कि वे खुल्लमखुल्ला आक्रमणकारी इराक का समर्थन करते। दुर्भाग्यवश, आरंभ से ही हठी और अहंकारी सद्दाम हुसैन के तेवर 'चोरी और सीनाजोरी' वाले रहे। उसने स्वयं इस बात का कोई प्रयत्न नहीं किया कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ की व्यवस्था का लाभ अपने हित में उठा सके। यहाँ इस बात को फिर दोहराना जरूरी है कि सोवियत संघ के राजनयिक अवमूल्यन ने भी संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में आम तौर पर मुखर रहने वाले अफ्रो-एशियाई देश भी असहाय ही बने रहे—कुछ आतंकित तो अन्य आशंकित। दोनों ही हालात में इनका राजनयिक आचरण पक्षाघातग्रस्त-सा था।

अमरीका ने बड़े राजनयिक कौशल या धूर्तता के साथ उस प्रस्ताव का मसौदा तैयार किया, जिसके अनुसार यदि इराक बिना शर्त कुवैत से नहीं हटता है तो उसे मित्र राष्ट्रों की सैनिक कार्रवाई का सामना करना था। अनेक विद्वानों का मानना है कि आर्थिक प्रतिबन्धों या तीसरे पक्ष की मध्यस्थता को ईमानदारी से आजमाया ही नहीं गया। फिर, यदि आक्रमण समाप्त करने और अन्तर्राष्ट्रीय शांति की पुनर्स्थापना के लिए 'सैनिक उपकरण' का प्रयोग करना अनिवार्य ही हो गया था तो यह अभियान संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में होना चाहिये था, अमरीकी छत्र-छाया में नहीं।

(4) **तेल संकट**—खाड़ी युद्ध के कारण विकासशील देशों को 1973 के बाद फिर से तेल संकट का अहसास हुआ। इस युद्ध के बाद न सिर्फ तेल के दाम बढ़े बल्कि कुछ दिनों के लिए यह बाजार से गायब ही हो गया। इराक ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के दौरान जो देश उसका साथ नहीं देंगे, वे युद्ध के बाद उससे सहानुभूति या सहायता की उम्मीद नहीं कर सकते। इस कारण भी बहुत सारे अफ्रो-एशियाई देश असमंजस में पड़े रहे और उन्होंने जानबूझ कर अपनी नीति स्पष्ट नहीं की।

(5) **पश्चिम एशिया में पर्यावरण के लिए अप्रत्याशित संकट**—इस युद्ध के दौरान अभूतपूर्व बम वर्षा और तेल कूपों में आग के कारण खाड़ी क्षेत्र का पर्यावरण बुरी तरह प्रदूषित हो गया। तेल शोधक कारखानों से तेल के समुद्र में बहने से सागर तक और सागरवासी जीव-जन्तु संकटग्रस्त हो गये। यह विषय सिर्फ पर्यावरण प्रेमियों की चिन्ता का नहीं था। खाड़ी का रेगिस्तानी इलाका पेयजल तक के लिए आत्मनिर्भर नहीं है और यहाँ का वातावरण तापमान की वृद्धि, कुछ अंश भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। इस युद्ध जनित प्रदूषण को दूर करने के लिए अब बड़े पैमाने पर खर्च आवश्यक हो गया। इससे भी इराक और कुवैत के विकास कार्यक्रम प्रभावित हुए।

(6) **मिथकों का अन्त**—इस खाड़ी युद्ध से जिन बहुत-सारे मिथकों का बचे

रहना असंभव हो गया, वे निम्नांकित हैं

(i) बाहरी-विदेशी-परधर्मी आक्रमणकारी के विरुद्ध सभी अरब एक हो जाते हैं,

(ii) इराक धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी और आधुनिक राष्ट्र है,

(iii) जमीनी लड़ाई प्रक्षेपास्त्रों की नवीनतम पीढ़ी के सामने अपनी अहमियत रखती है और बड़े पैमाने पर सैनिकों का जमाव या छापामारी दूर सचालित परिष्कृत टैक्नोलोजी का मुकाबला कर सकती है। इस प्रकार, इराक के उच्छृंखल उत्तेजित आचरण के बारे में तमाम शंकाएँ निर्मूल साबित हुई। इजराईल का नीति निर्धारण व्यस्क ढंग से सम्पादित हुआ और अपने संयम द्वारा इजराइलियों ने अरबों का अमरीका-विरोधी संयुक्त मोर्चा संगठित नहीं होने दिया। फिलस्तीनी अपनी गणना में बुरी तरह चूके और जो कुछ सद्भावना उन्होंने यूरोप और अमरीका में अर्जित की थी, इस एक ही जुए में गँवा डाली।

(7) **दक्षिण एशियायी भूभाग पर प्रभाव**—खाड़ी युद्ध से यह बात पता चली कि भारत के लिए इस इलाके में विदेशी मुद्रा का अर्जन निकट भविष्य में संभव नहीं। इराक और कुवैत एक साथ खर्च करने में अक्षम हुए हैं। जहाँ एक ओर इराक के ऊपर युद्ध के हर्जे-खर्चे का बोझ पड़ गया तो दूसरी ओर कुवैत इस बात के लिए विवश है कि आभार प्रकट करने के लिए पुनर्निर्माण, उद्योगों की स्थापना आदि के सबसे लाभप्रद ठेके मित्र राष्ट्रों को दे। हाँ, पाकिस्तान ने जरूर इस सैनिक मुठभेड़ के दौरान अज्ञात ही सही, अमरीका के साथ अपना मतभेद प्रकट होने दिया। सऊदी अरब जैसे देशों के लिए लंबे समय तक अपनी भूमि पर विदेशी सेना की उपस्थिति असह्य थी। ऐसी स्थिति में इस युद्ध ने पाकिस्तान व अरब देशों के बीच नई सामरिक समस्याओं का उद्घाटन किया। कुल मिलाकर, पश्चिम एशिया में धार्मिक कट्टरता प्रकारान्तर से प्रोत्साहित हुई है और इसे दक्षिण एशियाई संदर्भ में अपने पक्ष में भुनाने के बारे में पाकिस्तान प्रयत्नशील हो सकता था। कुल मिलाकर, इस मुठभेड़ में ईरान की प्रतिष्ठा बढ़ी।

(8) **अन्य प्रभाव**—इस पूरे प्रसंग में संयुक्त राष्ट्र संघ और गुट निरपेक्ष आन्दोलन दोनों की ही भूमिका नगण्य रही। यों पिछले दशक में ये दोनों नामोल्लेख के लिए शेष रहे हैं। खाड़ी युद्ध में भारतीय राजनय बिल्कुल पंगु बना रहा। न तो गुट निरपेक्ष आन्दोलन के संदर्भ में कोई पहल की जा सकी और न ही संयुक्त राष्ट्र संघ का सदुपयोग किया जा सका। इस युद्ध का एक अन्य सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि जिस जोर-शोर से खाड़ी युद्ध के आरम्भ में इराक को अमरीका के मुकाबले तीसरी व विकासशील दुनिया के प्रतिनिधि के रूप में पेश किया गया, इस कारण इराक की हार भी इस पूरी बिरादरी-जमात के लिए सामूहिक शर्म का कारण बनी, जिससे उबरने में काफी समय लगेगा।

यथास्थिति में बड़े परिवर्तन की आशा नहीं—उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि खाड़ी युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था आमूल-चूल रूप में बदल गई है। बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि पश्चिम एशिया के तेल भण्डार पर अमरीकी आधिपत्य एकछत्र है। जुझारू अरब अन्तिवादिता का दम भरने वाले सीरिया, लीबिया, फिलस्तीनियों की हालत आखिरी दाव हारे जुआरी सी हो चुकी है। ये पिटी हुई गोटियाँ हैं। जोर्डन के शाह और मिस्र तो पहले ही अमरीका के

सहयोगी बन चुके थे। इस्लामी पवित्र स्थानों का संरक्षक और अरबों में सबसे बड़ा धन कुबेर सऊदी अरब है, जो अपने अस्तित्व और समृद्धि की रक्षा के लिए बाहरी पश्चिमी शक्तियों पर बुरी तरह निर्भर है। ऐसी हालत में इस क्षेत्र में यथास्थिति में किसी बड़े परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती।

यहाँ यह भी जोड़ने की जरूरत है कि इस संघर्ष के बाद अमरीका और इजराईल दोनों ही फिलस्तीन समस्या को संवाद के माध्यम से सुलझाने के लिए तत्पर हो चुके हैं। यह वार्ता अमरीका, अरब राष्ट्रों और इजराईल में मैड्रिड में नवम्बर 1991 में शुरू हुई। इराक में सद्दाम हुसैन का गद्दी पर बने रहना अल्प-संख्यक कुर्दों के लिए वधनाशक सिद्ध हो सकता है। यदि खाड़ी युद्ध ने उनके मन में यह आशा नहीं जगायी होती कि सद्दाम का तख्ता पलटा जा सकता है तो कुर्दों ने आत्मघाती विद्रोह का मार्ग नहीं चुना होता।

पश्चिम एशिया का भविष्य

इस बात के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते कि निकट भविष्य में पश्चिम एशिया में शान्ति स्थापित होगी। फिलस्तीनी शरणार्थियों की समस्या, लेबनान का गृह-युद्ध, अराजकतावादी आतंकवाद, कट्टरपंथी इस्लाम का ज्वार आदि इस क्षेत्र की अपनी समस्याएँ भी कम जटिल नहीं हैं। सऊदी अरब में सामाजिक परिवर्तन, समतापूर्ण समाज की स्थापना तथा आधुनिकीकरण से पैदा होने वाले तनाव अनदेखे नहीं किये जा सकते। प्रचुर तेल भण्डार होने के कारण महाशक्तियों और बड़ी शक्तियों की रुचि इस क्षेत्र में बनी रहेगी। ऐसा नहीं लगता कि इस क्षेत्र के अनेक राष्ट्रों में अर्थ-व्यवस्था, राजनीति और समाज में 'सहज सन्तुलन' देखने को मिलेगा। कबायली वैमनस्य और निरंकुश शासकों की उच्छृंखलता इस क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर असन्तुलनकारी प्रभाव ही डालेंगे।[1]

[1] इन विविध आयामों के विषय में प्रमाणिक और रोचक जानकारी के लिए देखें—Robert G. Dorius, John W. Amos-II and Rolf H. Magnus (ed.), *Gulf Security into the 1980's : Perceptual and Strategic Dimensions* (California, 1984), and M. S. Agwani (ed.), *The Gulf in Transition* (Delhi, 1987).

ग्यारहवाँ अध्याय

विदेश नीति : सैद्धान्तिक विश्लेषण

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय इकाइयाँ राष्ट्र-राज्य होती हैं। एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध निर्वाह में जिस नीति का अनुसरण करता है, उसे विदेश नीति कहते हैं। अर्थात् विदेश नीति का स्पष्ट अन्तर राष्ट्र की आन्तरिक प्रशासनिक नीति से किया जाता है। परन्तु इस तरह का अन्तर विदेश नीति के विधिवत् वैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषण के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। यह भी कहा जाता है कि किसी देश की विदेश नीति उसके राष्ट्रीय हितों के संरक्षण-संवर्धन का काम करती है। इससे यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि राष्ट्र की आन्तरिक नीतियाँ राष्ट्रीय हित से सम्बन्धित नहीं हैं। वस्तुतः राष्ट्र के समस्त क्रियाकलाप राष्ट्र-हित-केन्द्रित होते हैं। इस प्रकार आन्तरिक नीति और विदेश नीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध सीधा, जटिल एवं घनिष्ठ होता है।

विदेश नीति की परिभाषा
(Concept of Foreign Policy)

शिशिर गुप्त जैसे प्रखर विदेश नीति विश्लेषकों का मानना है कि 'विदेश नीति किसी भी देश की आन्तरिक नीतियों का अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्षेपण (Projection) होती है।' यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यह प्रक्षेपण क्यों आवश्यक होता है? इसको समझने के लिए अन्तर-सम्बन्ध सिद्धान्त (Linkage Theory) प्रतिपादित करने वाले जेम्स रोसनो तथा जोजफ फ्रेंकल जैसे टिप्पणीकारों के विचारों पर दृष्टि-पात आवश्यक है।

इन विद्वानों का मत है कि आन्तरिक राजनीतिक घटनाक्रम बाहरी वातावरण अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से अनुकूलित होता है। इसीलिए किसी भी आन्तरिक नीति को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए समुचित विदेश नीति निर्धारण तथा कारगर राजनय अनिवार्य है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अपने एक भाषण में नेहरू जी ने बहुत सही ढंग से इस बात को उजागर किया। उनके इस भाषण का शीर्षक था—'अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम हम पर बरबस प्रभाव डालता है' (World affairs impinge on us)। हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। विदेश नीति की सार्थक परिभाषा यही है—'निर्धारित आन्तरिक नीतियों के सफल क्रियान्वयन के लिए कुशलतापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को अपने अनुकूल बनाने की रणनीति।' यह स्मरणीय है कि मनोनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए क्रिया-प्रतिक्रिया वाले आचरण को विदेश नीति नहीं माना जा सकता। 'नीति का दर्जा प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र-हित संवर्धन के लिए वांछित लक्ष्य रेखांकित किये जायें।

तदुपरान्त उपलब्ध तथा सम्भावित संसाधनों को देखते हुए साध्य-साधन समीकरण बैठाया जाये एवं निर्धारित लक्ष्य प्राप्ति के लिए लाभ-लागत (Cost-Benefit) और अवसर-लागत (Opportunity Cost) के अनुसार एक से अधिक विकल्प विश्लेषित किये जायें।' दूरदर्शी नीति नियोजन अपने आप के काफी नहीं, बल्कि इस नीति का सफल सम्पादन (राजनय) समग्र विदेश नीति का ही हिस्सा है। महाकाव्य महाभारत के दूत वाक्यम प्रकरण में श्रीकृष्ण ने कौरवों के दरबार में जाते वक्त अपने अभियान का वर्णन करते हुए विदेश नीति के इन सभी पक्षों पर अच्छा प्रकाश डाला है। श्रीकृष्ण ने कहा—'मेरा पहला उद्देश्य अपनी न्यायोचित माग को मनवाना है। यदि ऐसा सम्भव न हो तो बल प्रयोग (युद्ध) द्वारा अपने हितों की रक्षा का प्रयत्न सफल बनाने व विपक्ष को कमजोर करने के लिए मित्रों की संख्या बढ़ाना तथा जो मित्र नहीं हैं, उन्हें कम से कम तटस्थ रखना है।' कौटिल्य और मेकियाविली जैसे अति यथार्थवादी चिन्तकों ने 'मण्डल सिद्धान्त' के विविध रूपान्तरणों द्वारा विदेश नीति सम्बन्धी कुछ 'शाश्वत सत्य' उजागर करने का प्रयत्न किया है। इनमें कुछ प्रमुख 'शाश्वत सत्य' इस प्रकार हैं—सीमान्त का साझा करने वाला पड़ौसी शत्रु ही होता है तथा शत्रु का शत्रु सहजता से मित्र बनाया जा सकता है।

इस तरह की सूक्तियों के अनुसार विदेश नीति निर्धारण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक होता रहा। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री पामरस्टन का मानना था कि किसी देश के न तो शाश्वत मित्र होते हैं और न ही स्थायी शत्रु होते है—होते है 'सिर्फ राष्ट्रीय-हित।' इस परिकल्पना के अनुसार विदेश नीति घुमा-फिराकर शक्ति सन्तुलन की कसौटी पर कसी जाने वाली स्वार्थी अवसरवादिता भर रहती है। सत्ता का संघर्ष व शक्ति सन्तुलन, गुप्त सन्धियों तथा वैवाहिक सम्बन्धों की खोखली नींव पर टिके रहते हैं। इसका जोखिम प्रथम विश्व युद्ध के विस्फोट से स्पष्ट हो गया। तभी से विद्वान् लेखक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए विदेश नीति विश्लेषण के वैज्ञानिक तर्कसंगत तरीके ढूँढते रहे।

नीति नियोजक तथा नीति निर्धारक
(Policy Planners and Policy Makers)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अमरीकी समाजशास्त्रियों के शोध के फलस्वरूप विदेश नीति विश्लेषण की दो प्रमुख धाराएँ प्रकट हुईं—(i) उदाहरण परीक्षण (Case Study) तथा (ii) तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study)।

एक पद्धति (approach) विदेश नीति से सम्बन्धित किसी भी निर्णय विशेष के साकार होने को सबसे महत्त्वपूर्ण समझती है। स्नाइडर ने यह पद्धति सुझायी और परिष्कृत की। इसे 'डिसिजन मेकिंग एनालिसिस' (*Decision Making Analysis*) के नाम से जाना जाता है।[1] मोटे तौर पर इसे व्यक्ति-केन्द्रित कहा जा सकता है। इसके अनुसार सबसे पहली जरूरत इस बात की होती है कि उन निर्णायक व्यक्तियों की पहचाना जाये जो विदेश नीति के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण फैसले लेते हैं। इसके बाद इन व्यक्तियों के प्रशिक्षण, अनुभव और इनकी योग्यता-प्रतिभा का सम्बन्ध उनके रुझान, पूर्वाग्रह, दृष्टिकोण आदि से जोड़ा जाये। इस तरह के विश्लेषण

[1] Richard C. Snyder, H. W. Bruck and Burton Sapin, *Decision Making as an Approach to the Study of International Politics*, (Princeton, 1954)

में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, वर्ग स्वार्थ व राष्ट्र हित का टकराव और समायोजन महत्वपूर्ण बन जाते हैं। व्यक्ति विशेष का विश्व दर्शन यथार्थपरक है या भ्रान्त, इसका परीक्षण भी आवश्यक होता है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस तरह के सवाल उठाये जाते हैं कि वैदेशिक मामलों में किसी विशेष फैसले, विकल्प और पहल को किसने सुझाया था तथा इस सुझाव का रूपान्तरण किस प्रकार हुआ और कब यह ऐसा निर्णय बना जिसे बदला न जा सकता हो। एक तरह से प्रमुख अभिनेता वाले पारम्परिक विश्लेषण से ही विदेश नीति विश्लेषण की यह पद्धति प्रेरित है। हाँ, इतना परिष्कार अवश्य किया गया है कि अब अदृश्य नीति निर्धारकों (जैसे नौकरशाह) को पहचानने का प्रयत्न किया जाने लगा है।

व्यक्ति बनाम संस्थाएँ
(Individual *vs* Institutions)

विदेश नीति विश्लेषण की दूसरी पद्धति प्रणाली विश्लेषण (System Analysis) की है। यह व्यक्ति केन्द्रित न होकर व्यवस्थापरक होती है। इसके प्रणेता मॉर्टन काप्लान हैं। उनके मतानुसार विदेश नीति निर्धारण में व्यक्ति की भूमिका गौण रहती है। व्यवस्था (System) और संस्थागत संरचना (Institutional Framework) के अन्तर्निहित तत्व इतने प्रभावशाली होते हैं कि किसी भी निर्णय का स्वरूप वे ही तय करते हैं। तथाकथित नीति निर्धारकों का विश्व दर्शन, उनकी उपलब्ध जानकारी, आधारभूत मूल्य, विकल्पों के मूल्यांकन की पद्धति-सम्भावना सब कुछ व्यवस्था पर निर्भर होते हैं। अतः उनका सुझाव है कि हमारा प्रयत्न व्यवस्था की संरचना में परीक्षण व विश्लेषण पर केन्द्रित होना चाहिये। इस तरह के विद्वानों का यह भी मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था के साथ अन्तर-क्रियारत (Inter-active) रहती है तथा हर व्यवस्था में अनेक उप-व्यवस्थाएँ (Sub-systems) समाविष्ट रहते हैं।[1]

आजकल अधिकतर विदेश नीति विश्लेषक विदेश नीति के अध्ययन के लिए 'डिसिजन मेकिंग' तथा 'सिस्टम एनालिसिस' (Decision Making and System Analysis) को सन्तुलित करते हुए यह काम सम्पन्न करते हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि व्यक्ति और प्रणाली में से किसी एक की उपेक्षा करने पर यथास्थिति का पता नहीं चलता। साथ ही विदेश नीति के विविध घटकों के अन्तर-सम्बन्धों को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। इसीलिए विदेश नीति के विधिवत् अध्ययन के लिए परम्परा और परिवर्तन, व्यक्ति और विदेश विभाग, साध्य तथा साधन सभी का तालमेल बिठाना परमावश्यक है। इस प्रणाली से तर्कसंगत निष्कर्ष तभी निकाले जा सकते हैं, जब हमारा परिप्रेक्ष्य तुलनात्मक हो, क्योंकि कोई भी विदेश नीति शून्य में निष्पादित नहीं होती।

विदेश नीति के बुनियादी तत्व
(Basic Elements of Foreign Policy)

हान्स मोर्गेन्थो जैसे विद्वानों का मानना है कि समस्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध शक्ति संघर्ष का प्रतिबिम्बित करते हैं। शक्ति सिद्धान्त के आधार पर ही विदेश

[1] Morton A. Kaplan, *System and Process in International Politics*

नीति का विश्लेषण किया जाना चाहिये।[1] इस बात में मतभेद की गुंजाइश नहीं, परन्तु कठिनाई यह है कि शक्ति को किस प्रकार परिमापित किया जाये? बर्ट्रेंड रसल जैसे दार्शनिकों ने सुझाया है कि शक्ति का अर्थ है—'किसी दूसरे व्यक्ति, समूह, यन्त्र-उपकरण आदि के क्रिया-कलाप को अपनी इच्छानुसार प्रभावित कर सकना।' यह परिभाषा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी सटीक बैठती है। इस तरह शक्ति, सत्ता, बल, क्षमता, सामर्थ्य, प्रभुत्व इस सन्दर्भ में उपयोगी और अक्सर लचीले ढंग से प्रयुक्त की जाने वाली अवधारणाएँ हैं।

तथापि हमारी अड़चन इतना भर जान लेने से समाप्त नहीं होती। दूसरों को प्रभावित करने वाली शक्ति या क्षमता सैनिक भी हो सकती है और आर्थिक भी। कई बार हम सांस्कृतिक प्रभाव से ही मनोवांछित लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा भी सम्भव है कि विदेश नीति नियोजन व सम्पादन में इन तीनों तत्वों का सन्तुलित समन्वय देखने को मिले। बहरहाल, विदेश नीति के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इस शक्ति घटक की जाँच-परख यथार्थवादी विद्वानों द्वारा सबसे महत्वपूर्ण समझी जाती है।

यथार्थवादी शक्ति सिद्धान्त के समर्थकों की तरह इसके आलोचक भी कम मुखर नहीं। भारतीय विद्वान जयन्तनुज बंद्योपाध्याय ने मोर्गेन्थो के यथार्थवादी सम्प्रदाय की तीखी आलोचना की है। उनके अनुसार 'अमूर्त विचार स्थूल शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और इनका प्रभाव विदेश नीति पर स्पष्ट देखा जा सकता है। समुचित सार्थक विचार शक्ति साधना को सफल बनाते हैं और भ्रष्ट व भ्रमित विचार निश्चित रूप से असफलता तक पहुँचाते हैं।' यह दृष्टिकोण आदर्शवादी है, परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह अवास्तविक है। स्वयं मार्क्स और लेनिन जैसे क्रान्तिकारियों के विचारों में और उनके क्रियाकलापों-उपलब्धियों से इस स्थापना की पुष्टि होती है। यह पुरानी बहस यूनानी दार्शनिक प्लेटो के जमाने से चली आ रही है और संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र तक में यह बात स्वीकार की गयी है कि युद्धों का जन्म मनुष्य के मस्तिष्क में होता है और इनका उन्मूलन भी वहीं किया जा सकता है। इसके पहले भी वुडरो विल्सन ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्तों में भय से मुक्ति की बात की थी। समसामयिक राजनीति में माओवादी क्रान्तिकारिता तथा लीबिया व ईरान के कट्टरपंथी आचरण से यह बात रेखांकित होती है कि विदेश नीति के सैद्धान्तिक वैचारिक पक्ष को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

विशेषकर साम्यवादी देशों के सन्दर्भ में यह बहस काफी महत्वपूर्ण हो जाती है कि उनकी विदेश नीति यथार्थ के आधार पर संचालित होती है या सैद्धान्तिक स्थापनाओं के अनुसार। यह सुझाना तर्कसंगत है कि अनेक बार सिद्धान्त या विचारधारा शक्ति संघर्ष के ऊपर पड़े आवरण ही होते हैं। यह भी सच है कि शक्ति की साधना किसी न किसी विचारधारा द्वारा परिमापित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है। इसलिए शक्ति और विचारधारा दोनों ऐसे बुनियादी तत्व हैं, जिन पर किसी भी देश की विदेश नीति के अध्ययन के वक्त ध्यान केन्द्रित करना परमावश्यक है।

[1] Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations* (New York, 1954).

परम्परा व मूल्य
(Tradition and Values)

शक्ति एव सिद्धान्त के साथ जुडा हुआ पक्ष परम्परा और मूल्यो का है। किसी भी राष्ट्र का जातीय सस्कार उसके भौगोलिक और ऐतिहासिक अनुभव से अनुकूलित होता है। परम्परा के आधार पर समाज मे कुछ ऐसे मूल्य प्रतिष्ठापित होते हैं, जो राजनीतिक नीति निर्धारण की दिशा निश्चित करते हैं। कुछ उदाहरणो से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जायेगी। फ्रासीसी क्रान्ति के वर्षों से फ्रास की महत्वाकाक्षा विश्वव्यापी विदेश नीति सचालन की रही। अपना सास्कृतिक प्रभाव क्षेत्र फैलाने तथा राष्ट्रीय गौरव को अक्षत रखने का लक्ष्य नेपोलियन से लेकर देगोल तक एक समान देखा जा सकता है। इसी तरह बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता के साथ अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारिता को प्रोत्साहन देना सोवियत राष्ट्र हित का अभिन्न हिस्सा बन गया था। बाद मे स्टालिन काल मे भले ही व्यावहारिक स्तर पर इस नीति में महत्वपूर्ण सशोधन आवश्यक हुए, तथापि मूल्य के रूप म इसकी स्थिति बरकरार रही। परन्तु अब सोवियत सघ बिखर रहा है। राज्य के स्तर पर पुराने साम्यवादी मूल्य समाप्त हो गए हैं। इस बात को वहाँ की विदेश नीति मे देखा जा सकता है। इसी तरह भारतीय विदेश नीति निर्धारण के परिप्रेक्ष्य मे बुद्ध एव अशोक की अहिंसा, मध्ययुगीन समन्वय, सह-अस्तित्व का परिष्कार निखार जवाहर लाल नेहरू के विश्व दर्शन मे झलकता है। परन्तु रूस के बिखराव से भारतीय विदेश नीति के मूल्य भी बदले जा रहे हैं। इसी प्रकार राष्ट्र मण्डल के अनेक देशो के साथ आज भी ब्रिटेन के जो 'विशेष सम्बन्ध' (भले ही हाल के वर्षों मे इनका तेजी से अवमूल्यन हुआ है) हैं, वे साम्राज्य के रूप मे ही तर्कसगत सिद्ध होते हैं। जापान आज भले ही सामन्ती सैनिक साम्राज्य न रह गया हो, परन्तु आर्थिक महाशक्ति के रूप मे उसके आचरण मे पारम्परिक मूल्य तथा शैली स्पष्ट दिखायी देते है। इसी तरह अनेक विद्वानो ने माओवादी चीन का साम्य प्राचीन चीनी साम्राज्य मे ढूंढा। जाहिर है कि विदेश नीति के अध्ययन के समय शक्ति सन्तुलन व विचारधारा के साथ-साथ परम्परा तथा प्रतिष्ठापित मूल्यो पर दृष्टिपात करना जरूरी है। नीति निर्धारको का विश्व दर्शन इन्ही पर आधारित होता है। इसी के अनुसार वे अपने राष्ट्र की विदेश नीति के लक्ष्य तथा उद्देश्य तय करते हैं।

आन्तरिक घटक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य
(Domestic Determinants and International Context)

उपरोक्त अमूर्तनों (abstractions) के अतिरिक्त विदेश नीति निर्धारण के क्षेत्र मे ऐसे अनेक आन्तरिक घटक होते है, जो उसके स्वरूप को निर्धारित करते हैं। इनका परीक्षण वस्तुनिष्ठ ढग से सम्भव है और इन्हे किसी भी देश की विदेश-नीति का मूल्य-निर्धारक कहा जा सकता है। ये आन्तरिक घटक हैं . (i) भौगोलिक स्थिति एव भू-राजनीतिक महत्व, (ii) जनसख्या, (iii) आर्थिक क्षमता तथा प्राकृतिक ससाधन, (iv) नेतृत्व कौशल तथा (v) राजनीतिक विकास का स्तर। यहाँ इन सभी का अपेक्षाकृत विस्तार से विश्लेषण उपयोगी होगा।

1 भौगोलिक स्थिति एव भू-राजनीतिक महत्व (Geographical Situation and Geo-Political Importance)—किसी भी देश की विदेश नीति पर उसकी

भौगोलिक स्थिति, आकार तथा स्वरूप का निर्णायक प्रभाव पड़ता है। जिस देश की भौगोलिक सीमाएँ दो महासागरों को छूती हैं या जिसके भू-भाग का विस्तार दो महाद्वीपों में बिखरा हुआ है, विपुल आकार उस देश को न केवल बाहरी हमलों से निरापद बनाता है, बल्कि प्राकृतिक संसाधनों के मामले में उसे इतना आत्म-निर्भर बना देता है कि एक खास तरह का आत्म-विश्वास और स्वाधीनता उसके आचरण में झलकते हैं। इतने बड़े आकार, जनसंख्या, भाषायी व सांस्कृतिक विविधता के कारण इनका राजनीतिक और सामाजिक संगठन बहुलवादी होता है। स्पष्ट है कि पड़ोस के छोटे देशों के साथ उनके सम्बन्ध बराबरी के नहीं हो सकते। अक्सर ऐसे देशों की विदेश नीति के तेवर प्रभुतावादी एवं विस्तारवादी रहते हैं। आगे दिये गये उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि कैसे भौगोलिक परिस्थितियाँ देश का भू-राजनीतिक महत्व तय करती हैं और कालक्रम में यह ऐतिहासिक अनुभव का शायद सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाती हैं। सामूहिक जातीय चेतना, समृद्धि और दरिद्रता बड़ी सीमा तक इस यथार्थ पर टिके रहते हैं।

अटलांटिक और प्रशांत महासागर परकोटे की खाई की तरह अमरीकी 'हृदयस्थल' (Heartland) की रक्षा करते हैं। 19वीं शताब्दी के पहले चरण से ही अमरीकी नेता इस बात का एलान करते रहे हैं कि मुनरो सिद्धान्त के अनुसार अमरीकी महाद्वीपों में किसी बाहरी शक्ति का प्रवेश या हस्तक्षेप में सहन नहीं कर सकते। इसी तरह नेपोलियन के काल से हिटलर के आक्रमणों तक सोवियत संघ बारम्बार यह प्रमाणित करता रहा है कि मात्र बल प्रयोग से उस पर काबू नहीं पाया जा सकता। देश की 'गहराई' (Depth) इतनी ज्यादा है कि आक्रमणकारी जीतने के पहले ही थक जाता है। अमरीका के कनाडा या दक्षिण अमरीका के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं कि सामरिक, सीमांत और सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र में साझेदारी के कारण महाशक्ति के राष्ट्रीय हित पड़ोसियों के भी राष्ट्रीय हित सामूहिक रूप से स्वयमेव बन जाते हैं।

इस तरह अनेक भूमिबद्ध राज्य (land-locked states) हैं—जैसे नेपाल, अफगानिस्तान, लाओस, आस्ट्रिया, मंगोलिया इत्यादि। सागर तक पहुँच न होने के कारण ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सक्रिय भाग लेने से वंचित रहे हैं और परोक्ष रूप से ज्ञान-विज्ञान की प्रगतिशील धारा से भी अछूते रहे हैं। इन देशों की मानसिकता में कस्बाती प्रादेशिक छाप साफ देखी जा सकती है। ये देश अपने ऐसे पड़ोसियों पर निर्भर रहते हैं, जिनके माध्यम से ये सागर तक पहुँचते हैं।

परन्तु ऐसा मानना गलत होगा कि भौगोलिक स्थिति ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। बहुत बड़े विस्तार और बड़ी जनसंख्या के बावजूद अभी हाल तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन ने वैसी भूमिका नहीं निभायी, जैसी अमरीका ने। चीन के अन्तर्राष्ट्रीय आचरण में अहंकारी-साम्राज्यवादी भाव ही देखने को मिलता रहा। बड़े भू-भाग की अखण्डता बनाये रखना और उस पर अपना आधिपत्य कायम रखने की चुनौती ही चीन की केन्द्रीय सत्ता के लिए विकट बनी रही। आकार और स्वरूप के साथ-साथ स्थिति के संयोग से ही राजनीतिक महत्व निर्धारित होता है। औद्योगिक व औपनिवेशिक विस्तार के युग में यूरोपीय मुख्य धारा से अलग-थलग होने के कारण चीन पिछड़ गया और साम्यवादियों के सत्ता ग्रहण करने पर उसकी वैदेशिक मामलों में स्थिति बड़ी शक्ति वाली नहीं रही।

बड़े राज्यों के अतिरिक्त अनेक ऐसे छोटे व मध्यवर्ती (Buffer) राज्य होते हैं, जो दो प्रतिद्वन्द्वियों को टकराने से रोकते हैं और कुशल राजनय के द्वारा अपनी स्वायत्तता बचाने में सफल होते हैं। मसलन, थाइलैण्ड, नेपाल और स्विट्जरलैण्ड। 1979 तक अफगानिस्तान की स्थिति भी ऐसे ही बफर राज्य की रही। दक्षिण अमरीकी महाद्वीप में चिली का विचित्र आकार आन्तरिक राजनीति में इतने विकट दबाव डालता है कि एक तरह से आन्तरिक नीति विदेश नीति का परिशिष्ट बन जाती है। राष्ट्रपति अयाद का पतन जिस घटनाक्रम के अनुसार हुआ, उसमें यही प्रमाणित होता है।

द्वीपों और द्वीप समूहों (Islands and Archipelagos) की भू-राजनीतिक स्थिति भूमिबद्ध राज्यों से बिल्कुल फर्क होती है। इनको सागर अनेक देशों से जोड़कर विविध प्रकार के प्रभावों के लिए 'खोलता' है। सदियों से औपनिवेशिक शक्तियों की नौसैनिक शक्ति पर निर्भरता के कारण इनका विशेष सामरिक महत्व रहा है। हाल में परमाणु पनडुब्बियों पर आधारित अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों वाली रणनीति तथा इलेक्ट्रोनिक सचार सम्पर्क प्रणालियों की प्राथमिकताओं ने नगण्य बिन्दु मात्र लगभग निर्जन द्वीपों का महत्व कई गुना बढ़ा दिया है। डिएगो गार्सिया, वाना, ऊलु तथा सोलोमन द्वीप इसके उदाहरण हैं। भले ही ऐसे द्वीप अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति का नियोजन-निर्वाह करने में असमर्थ हों परन्तु, मोहरों के रूप में इनका प्रयोग करने की सम्भावना ने महाशक्तियों तक की विदेश नीतियों को खतरनाक ढंग से अस्थिर किया है।

2. जनसंख्या (Population)—विदेश नीति के सन्दर्भ में जनसंख्या के मामले में अति सरलीकरण से बचने की जरूरत है। भारत और चीन बड़ी जनसंख्या के कारण स्वमेव महाशक्ति नहीं बन सकते, क्योंकि बहुत बड़ी जनसंख्या सीमित प्राकृतिक संसाधनों पर असह्य बोझ डालती है। इसके विपरीत 19वीं और 20वीं शताब्दी के अधिकांश वर्षों में जब ब्रिटेन साम्राज्यवादी शक्ति रहा, तब उसकी आबादी बहुत कम थी। जनता की संख्या उतनी महत्वपूर्ण नहीं, जितना कि उसमें व्याप्त शिक्षा और कौशल का स्तर। फिर भी यह कहा जा सकता है कि आज बहुत छोटी जनसंख्या वाला देश सिर्फ बुद्धिबल या कुटिलता धूर्तता के आधार पर अपने से कई गुने बड़े राज्य पर कब्जा नहीं कर सकता। आदर्श स्थिति अमरीका और पुराने सोवियत संघ की थी, जहाँ जनसंख्या, भू भाग और उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का एक समुचित सन्तुलन देखने को मिलता रहा। जनसंख्या के बारे में एक और बात उल्लेखनीय है। यदि आबादी समरूप (homogenous) हो तो जनसंख्या वैदेशिक मामलों में अधिक सार्थक भूमिका निभा सकती है। यदि आबादी के कुछ घटक अल्पसंख्यक असंतुष्ट साम्प्रदायिक भेदभाव से ग्रस्त होते हैं तो इनका प्रभाव विघटनकारी ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में विदेशी हस्तक्षेप और तोड़-फोड़ व भराट के कारण विदेशी नीति सहज ही असन्तुलित हो जाती है। भारत के उत्तर पूर्वी सीमान्त पर नागा व मिजो समस्याएँ, उत्तर पश्चिम में खालिस्तानी आतंकवाद की चुनौती और श्रीलंका में तमिल उग्रपंथियों की समस्या इस तथ्य को दर्शाती हैं। पश्चिम एशिया के देशों में विदेश नीति का प्रमुख तत्व जातीय व साम्प्रदायिक ही है।

3 आर्थिक क्षमता व प्राकृतिक संसाधन (Economic Potential and

Natural Resources)—राष्ट्रीय हित की परिभाषा और उसका विश्लेषण देश की आर्थिक क्षमता तथा उसके प्राकृतिक संसाधनों के आकलन के बिना नहीं किया जा सकता। कोई भी देश कितनी बड़ी सेना का भार वहन कर सकता है और उसकी जनता का जीवन-यापन स्तर किस तरह का हो सकता है, यह उसकी आर्थिक क्षमता पर निर्भर करता है। अमरीका शुरु से महाशक्ति समझा जाता रहा है, जिसका एक प्रमुख कारण यह है कि वह आर्थिक दृष्टि से न केवल आत्मनिर्भर रहा है बल्कि अपने आश्रितों व शिविरानुचरों की जरूरतें पूरी करने की सामर्थ्य भी रखता रहा है। यहाँ तक कि एक समय महाशक्ति समझा जाने वाला इसके विपरीत दूसरे छोर पर जापान जैसे देश हैं, जिनकी आर्थिक क्षमता और समृद्धि लगभग हर तरह के कच्चे माल और ऊर्जा समाधनों के आयात पर पूरी तरह निर्भर है। कुछ ऐसी ही विडम्बनापूर्ण स्थिति पश्चिम एशिया के अरब राष्ट्रों की है जो तेल निर्यातक होने के कारण दूसरों के आर्थिक विकास को तो संकट में डाल सकते हैं, पर स्वयं अपनी जरूरत की खाद्य सामग्री, आवश्यक उपकरण आदि के लिए परावलम्बी हैं। औपनिवेशिक काल में इस परम्परा का सूत्रपात हुआ कि औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील शक्ति ने बलपूर्वक अपनी जरूरत के अनुसार दूसरों के प्राकृतिक संसाधनों और श्रम शक्ति का शोषण आरम्भ कर दिया। आज भले ही उपनिवेशवाद का अन्त हो चुका है, किन्तु परोपजीवी आर्थिक विकास तथा विषमतापूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, नव उपनिवेशवाद के आधार है। लगभग हर देश की विदेश-नीति आर्थिक सहायता-राजनय को महत्वपूर्ण उपकरण समझती है। आर्थिक पक्ष राष्ट्रों के उभयपक्षीय सम्बन्धों में ही नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और बहुराष्ट्रीय समागमों में भी बेहद महत्वपूर्ण समझा जाता है।

पारम्परिक रूप से भले ही राष्ट्र हित को सामरिक हितों का पर्याय समझा जाता रहा हो, किन्तु आधुनिक दौर में विशेषकर दूसरे महायुद्ध के बाद सामरिक साधन, आर्थिक हितों की रक्षा के लिए ही एकत्र किये जाते हैं। हैरी मेकडोफ की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि एज ऑफ इम्पीरियलिज्म' (The Age of Imperialism) में अमरीकी विदेश-नीति के आर्थिक आधार पर स्पष्ट विवेचन किया गया है। ब्रिज़ेजिन्सकी जैसे विद्वानों ने 'समर्थों की बिरादरी' (Gathering of the Affluent) व 'क्लब आफ रोम' (Club of Rome) के माध्यम से यह प्रस्तावित किया कि विपन्न देशों की हालत में सुधार का ठेका पहली खुशहाल दुनिया के बाशिंदों ने नहीं ले रखा है। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय राज्यों की भूमिका उनकी आर्थिक हैसियत के साथ ही जोड़ी जानी चाहिए। अमरीका ने हाल के वर्षों में 'यूनेस्को' के बारे में जो रुख अपनाया, उसमें भी यही बात झलकती है।

आजादी के ठीक बाद के वर्षों में अपने विशाल आकार और बड़ी जनसंख्या के बावजूद भारत को अपमान और तिरस्कार का सामना करना पड़ा क्योंकि खाद्यान्नों के आयात के लिए वह अमरीका पर निर्भर था। 1951–52 का गेहूँ-ऋण तथा 1960 के दशक का पी० एल०-480 कार्यक्रम इसी के उदाहरण हैं। आज भले ही भारत खाद्यान्नों के मामले में आत्म-निर्भर बन चुका है, किन्तु जटिल टैक्नोलोजी के हस्तान्तरण—स्वदेशीकरण की चुनौती अक्सर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत को बाधक के रूप में पेश करती है। निश्चय ही राजनयिक परामर्श में इससे हमारा पक्ष दुर्बल होता है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि वैज्ञानिक आविष्कारों तथा टैक्नोलोजी के परिष्कार के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अवमूल्यन हुआ है। परन्तु यह बात अंशतः ही ठीक है। सच यह है कि रबड़ और टीन के अनुकल्प (Substitute) ढूंढ लिये गये हैं और इनके परिणामस्वरूप मलयेशिया की आमदनी पर असर पड़ा है। यह भी कहा जा सकता है कि मलयेशिया का सामरिक महत्व घटा है। फिर भी इस निष्कर्ष तक पहुँचने की जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए कि सभी प्राकृतिक उत्पाद एक ही बटखरे से तोले जा सकते हैं। निश्चय ही खोपरा, चाय, कॉफी आदि के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार भाव उत्पादकों के लिए चिन्ता का विषय हो सकते हैं, परन्तु बड़ी शक्तियों के गणित में इनकी तुलना तेल से नहीं की जा सकती। इस तरह कुछ ऐसे संसाधन हैं, जिनके उपलब्ध भण्डार बहुत सीमित हैं—जैसे क्रोमियम, मोलीब्डिनम तथा यूरेनियम, जिनके स्वामी देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मनमाना आचरण कर सकते हैं। दक्षिण अफ्रीका की पाशविक नीतियों का पश्चिमी शक्तियों द्वारा अनदेखा किया जाना इसी आधार पर समझा जा सकता है।

इसी प्रकार आर्थिक क्षमता जहाँ एक ओर उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों पर टिकी रहती है और किसी भी राज्य को 'महत्वपूर्ण' बनाती है, वहीं दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास से ऐसे अनेक उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं, जो यह प्रमाणित करते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों की कमी दूर करने के लिए कटिबद्ध राज्य विस्तारवादी और नव-उपनिवेशवादी नीति अपनाते हैं। इसके अलावा प्राकृतिक संसाधनों का समुचित दोहन बिना यथोचित तकनीक के नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक व तकनीकी विकास के लिए समृद्धि का न्यूनतम स्तर अनिवार्य है। उपलब्ध प्राकृतिक संसाधन और वांछित तकनीकी कौशल का समीकरण बैठाने के लिए विदेश नीति और राजनय में निरन्तर उद्यत रहना पड़ता है। इस क्षेत्र में लाभ-लागत का अनुमान लगाने और उपलब्ध विकल्पों में सबसे सार्थक विकल्प को चुनने की चुनौती विदेश नीति के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्नों में एक है। आर्थिक क्षमता, भौगोलिक स्थिति एवं जनसंख्या के साथ-साथ यह नेतृत्व कौशल और राजनीतिक विकास के स्तर से भी जुड़ी हुई है।

4, नेतृत्व कौशल (Quality of Leadership)—विदेश नीति नियोजन और सम्पादन के क्षेत्र में सबसे स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाला तत्व नेतृत्व कौशल है। इस गुण को बहुत सरलता से किसी एक व्यक्ति में मूर्तिमान देखा जा सकता है। इसीलिए इसका विश्लेषण करना आसान माना जाता है। राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, विदेशमन्त्री, किसी विशेष राजदूत या सलाहकार के माध्यम से विदेश नीति के लक्ष्य पहचाने जा सकते हैं। उस व्यक्ति विशेष के क्रियाकलाप राजनयिक कौशल की कसौटी पर कसे जा सकते हैं। इसके लिए बहुत लम्बी-चौड़ी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। कुछ चुनिन्दा उदाहरणों से ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अपने खोये हुए राष्ट्रीय गौरव की पुनर्स्थापना के लिए फ्रांस के प्रयत्न चार्ल्स दगोल के बिना अकल्पनीय ही रहते। इसी तरह शीत युद्धकालीन अमरीकी विदेश नीति की रूपरेखा को तराशना डलेस के बिना सम्भव नहीं था। बीसवीं पार्टी कांग्रेस के बाद सोवियत विदेश नीति को दिशा में मोड़ने का काम ख्रुश्चेव ने साधा जो भारी चुनौतीपूर्ण था। चीन में साम्यवादी सरकार के गठन के बाद माओ और चाऊ-एन-लाई की जुगलबन्दी के बिना अन्तर्राष्ट्रीय मंच

पर जनवादी चीन की प्रतिष्ठा असम्भव ही थी। ऐसा नहीं कि सारे उदाहरण सफलतावादी ही रहे हैं।

नेतृत्व कौशल का अभाव सुविचारित विदेश नीति को भी असफलता के कगार तक पहुँचा देता है। क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट के दौरान ख्रुश्चेव का आचरण, कैनेडी और जोनसन के काल में वियतनामी दलदल में अमरीका का धँसना और स्वेज सकट मे एथनी ईडन का आत्मघात दूसरी तरह के उदाहरण पेश करते हैं। हेनरी किसिंजर का क्रियाकलाप तथा पहले भारतीय प्रधानमन्त्री नेहरू जी का अनुभव कुल मिलाकर सफलता और असफलता का एक सन्तुलित लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं।

5. राजनीतिक विकास का स्तर (Level of Political Development)—राजनीतिक विकास के स्तर को व्यक्तिगत नेतृत्व कौशल से अलग नहीं देखा जा सकता। जिस देश मे राजनीतिक विकास का स्तर जितना ऊँचा होगा, उसे व्यक्तिगत प्रतिभा पर निर्भर रहने की उतनी ही कम जरूरत होती है। ऐसी स्थिति में सरकारें अधिक उत्तरदायी होती है और नेताओं का स्वरूप चमत्कारी-करिश्माती कम, प्रबन्धक वाला अधिक होता है। भले ही यथार्थ मे आदर्श स्थिति कहीं भी देखने को नहीं मिलती, तब भी यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी जनतन्त्र वाले खुले समाजो मे वैदेशिक मामलो मे विकल्पो से सम्बन्धित खुली बहस, गलत निष्कर्षों आलोचना आदि विदेश नीति निर्धारकों पर अंकुश का काम करते है और सम्बन्धित महत्वपूर्ण व्यक्तियो को कुशल नेतृत्व प्रदर्शन के लिए तत्पर-सतर्क रखते है। मध्य अमरीका में रीगन के हस्तक्षेप की आलोचना और ईरान गेट का रहस्योद्घाटन इसी परम्परा मे रखे जाने चाहिएँ।

विश्व दर्शन : लक्ष्य तथा उद्देश्य
(World View : Aims and Objectives)

जैसाकि पहले कहा गया है कि किसी भी देश के विदेश नीति निर्धारकों का विश्व दर्शन देश-विदेश की भू-राजनीतिक स्थिति तथा उसके ऐतिहासिक अनुभव से अनुकूलित होता है। यह एक तरह का संस्कार भर है। यह विदेश नीति की आधार शिला अवश्य है, परन्तु इसे विदेश नीति का पर्याय कतई नहीं समझा जा सकता। विश्व दर्शन राष्ट्रीय अभिलाषाओं को अस्फुट रूप से मुखर करता है। यह मोटे तौर पर राजनयिक कर्म की दिशा तय करता है। परन्तु इतने भर से राष्ट्रीय हित संवर्धन-संरक्षण का काम पूरा नहीं हो सकता। सफल विदेश नीति नियोजन के लिए यह जरूरी है कि इस मूलतः अमूर्त परिप्रेक्ष्य को उपलब्ध संसाधनों के साथ जोड़कर भविष्य की गतिविधियों का कार्यक्रम तय किया जाये। प्रसिद्ध विदेश नीति विश्लेषक जेम्स रोसनो के अनुसार विदेश नीति के सम्बन्ध मे उद्देश्य तथा लक्ष्य दोनों महत्वपूर्ण हैं और सार्थक अन्तर-दृष्टि प्राप्त करने के लिए इन दोनों के अन्तर-सम्बन्ध और फर्क को समझना परमावश्यक है। अंग्रेजी शब्द 'Objectives' (उद्देश्य) व Goals' (लक्ष्य) से यह बात स्पष्ट होती है।[1] मोटे तौर पर उद्देश्य दीर्घकालिक होते है तथा लक्ष्य अपेक्षाकृत निकट भविष्य के सन्दर्भ में परिभाषित किये जाते है।

[1] James N. Rosenau, *International Politics and Foreign Policy : A Reader in Research and Theory* (New York, 1961).

फिर भी यह समझना गलत होगा कि इनमे कोई द्वन्द्व या अन्तर-विरोध है। सतही दृष्टिपात से भले ही ऐसा प्रतीत हो, वस्तुत ये एक-दूसरे के पूरक ही हैं। इस सिलसिले मे दो महत्वपूर्ण बातें याद रखने की हैं। एक तो यह कि विदेश नीति के लक्ष्य एव उद्देश्य किसी देश की आन्तरिक नीति का विरोध वाले नहीं हो सकते। दूसरे, यह अनिवार्य नही कि किसी देश की विदेश नीति के लक्ष्य एव उद्देश्य शाश्वत और अपरिवर्तनीय ही होते हो। समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य मे ब्रिटिश राजनयिक पामरस्टन की यह उक्ति निश्चय ही भ्रान्तिपूर्ण है कि 'किसी देश के मित्र या शत्रु नही, वरन् उसके राष्ट्रीय हित शाश्वत होते हैं।' विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों मे लगभग सभी प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियो की विदेश-नीतियो के अध्ययन से यह सत्य उद्घाटित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम मे ऐतिहासिक परिवर्तनो के साथ या आन्तरिक उथल-पुथल के साथ-साथ सामाजिक या आर्थिक राष्ट्रीय हित भी पुनर्परिभाषित होते रहते हैं।

विदेश नीति का सैद्धान्तिक अध्ययन या सार्थक विश्लेषण करते वक्त उपर्युक्त सभी बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

बारहवाँ अध्याय

अमरीका की विदेश नीति

यदि विश्व भर के सभी देशो की विदेश नीतियो में सर्वाधिक महत्वपूर्ण का चुनाव करने को कहा जाये तो अमरीकी विदेश नीति ही चुनी जायेगी। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही विद्वानो ने यह बात स्वीकार कर ली कि इस 'नई दुनिया' (अमरीका) का अपना विशेष महत्व है, जो पुरानी दुनिया (यूरोप) के शक्ति-सन्तुलन को निर्णायक ढंग से प्रभावित कर सकता है। अपार प्राकृतिक सम्पदा से समृद्ध अमरीकी भू-भाग दो महासागरो द्वारा सुरक्षित है। प्रवासी निवासियो के उद्यम और टैक्नोलोजी के परिष्कार के संयोग से अमरीका का आविर्भाव द्वितीय महायुद्ध के बाद पहली महाशक्ति के रूप मे हुआ। भले ही बाद में सोवियत संघ ने भी महाशक्ति का दर्जा प्राप्त कर लिया, परन्तु पहली महाशक्ति का दर्जा आज भी अमरीका को दिया जाता है। एक ओर सोवियत संघ के साथ अन्तर-क्रिया के परिणामस्वरूप अमरीकी विदेश नीति ने शीत युद्ध को प्रभावित किया तो दूसरी ओर चीन के साथ बैर या मैत्री, इनमें से किसी एक विकल्प के चुनाव के माध्यम से अमरीका ने पिछले दशको मे न जाने कितने और देशो की विदेश नीतियाँ निर्धारित की।

अमरीकी विदेश नीति : कुछ बुनियादी बातें
(U. S. Foreign Policy : Some Basic Factors)

अमरीकी विदेश नीति के महत्व एवं इसकी विशेषताओं समझने के लिए कुछ बुनियादी बातो को याद रखना उपयोगी होगा। आरम्भ से ही अमरीकी विदेश नीति का एक प्रमुख स्वर दूसरो को नेतृत्व देने वाला रहा है। अमरीकी क्रान्ति के समय इसकी प्रेरणा उपनिवेशवाद-विरोधी थी तो अब्राहम लिंकन के शासन काल में दासता के उन्मूलन अभियान ने इसे आदर्शवाद का जामा पहनाया। चूंकि अमरीका के स्वाधीनता संग्राम ने फ्रांसीसी क्रान्ति के नायको की प्रेरणा दी थी और उसके संविधान के आमुख में बुनियादी मानवाधिकारो की घोषणा की गयी थी, इसलिए अमरीकी राजनयिको को हमेशा यह लगता रहा कि वे दूसरों को मार्ग दिखा सकते हैं। इस धारणा को बिल्कुल निर्मूल भी नही कहा जा सकता। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब यूरोप के अधिकाश देश एशिया और अफ्रीका की लूट-खसोट में लगे थे और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का दौर तेज था, तब अमरीका जनतान्त्रिक परम्पराओं का निर्वाह कर रहा था। अमरीका ने कभी किसी अन्य देश को गुलामी की बेड़ियों मे जकड़कर उपनिवेश नहीं बनाया, जबकि ब्रिटेन, हॉलैण्ड, फ्रांस आदि ऐसा करते रहे थे।

यहाँ इन सब बातो की विस्तृत चर्चा इसलिए जरूरी है कि यह बात उजागर की जा सके कि अमरीकी विदेश नीति मे विचारधारा और सैद्धान्तिक पक्ष कितने

महत्वपूर्ण हैं। अमरीका के सस्थापकों, जो मूलत प्रोटेस्टेंट ईसाई थे, रोमन कैथोलिक-उत्पीडन के शिकार रहे थे। नये मुल्क मे नई जडें जमाने के बाद उनके आचरण और चिन्तन मे एक खास तरह की कट्टरपथी छिद्रान्वेषी (Puritan) प्रवृत्ति झलकती रही है।

अमरीकी राजनेता सिर्फ मोह या अहकारवश ही दुनिया भर मे जनतन्त्र की अगुवाई का ठेका नही लेते। यह सम्भव है कि वास्तव मे उन्हे लगता हो कि यह उन्ही का उत्तरदायित्व है। गणराज्य की स्थापना करने वाले अमरीकी पहले लोग थे। उनका यह सोचना तर्कसगत है कि अमरीका ने जनतन्त्र के आधुनिक सस्करण का उत्पादन व निर्यात किया। अमरीकी औपनिवेशिक दासता का जुआ उतार फेंकने वाले ये पहले लोग थे। कुछ ऐसी ही बात अमरीकी जीवन-यापन शैली पर भी लागू होती है। सीमान्ती कृषक, 'पायनियर्स' व 'काऊ बोएज' का सस्कार हो या बाद मे 'लाइन असेम्बली' वाली फैक्ट्री का दैत्याकार विकास, अमरीका मे ही देहात और नगरो मे जडता को तोडने वाले जनतान्त्रिक आधुनिकीकरण का सूत्रपात हुआ। अमरीका स्वय अपने अनुभव मे यह सीख चुका है कि पूँजी, विचार और तकनीक के अबाध व्यापार से किस तरह लाभान्वित हुआ जा सकता है। यदि वह दूसरो को भी अपना आजमाया नुस्खा सुझाये तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

इन वैचारिक व सैद्धान्तिक अवधारणो का एक तीसरा पक्ष भी है। अमरीका आज ससार का सबसे खुशहाल देश है। इस खुशहाली की नीव प्राकृतिक ससाधनो के निरन्तर और कुशल दोहन पर टिकी हुई है। अमरीका मे आज औद्योगिकोत्तर समाज (Post-Industrial Society) प्रतिबिम्बित होता है, जिसका अनुकरण करने के लिए विकासशील ही नही, बल्कि अन्य पश्चिमी समृद्ध देश भी लालायित रहते हैं। इस जीवन-यापन शैली को बनाने व बचाये रखने के लिए सभी अमरीकी सरकारें (चाह वे रिपब्लिकन हों या डेमोक्रेटिक) कृत सकल्प रहती हैं और रहेंगी। इस अहसास की पुख्ता जमीन पर मुक्त व्यापार की तमाम दूसरी दलीलें टिकी हैं। आर्थिक सहायता हो या सास्कृतिक आदान-प्रदान, अमरीकी विदेश नीति का पहला उद्देश्य यह रहता है कि वह दूसरे देशो को अपनी छवि मे ढाल सके। इस प्रयत्न के असफल होने पर वह 'अन्तर्राष्ट्रीय पुलिसमेन' (International Policeman) का वेश धारण कर लेता है ताकि राष्ट्र हित को 'बुद्धि' से नही तो 'बल' द्वारा सुरक्षित रखा जाये।

इस व्यापक परिपेक्ष्य मे व्यक्ति तथा सस्थाएँ प्रकट एव परोक्ष रूप से अपनी भूमिकाएँ निभाते हैं। अमरीकी प्रणाली मे इस पूरे ताम-झाम को 'नियन्त्रण एव सन्तुलन' (Checks and Balances) कहा गया है। अभीष्ट तथा प्रस्तावित कुछ भी रहा हो, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दशको का अनुभव यही दर्शाता है कि यह वर्णन पूर्ण रूप मे यथार्थपरक नही है। अमूर्त औद्योगिक-सैनिक तन्त्र हो या अमरीकी गुप्तचर सस्था सी० आई० ए०, अमरीकी विदेश नीति नियोजन एव निष्पादन मे इनकी गैर सावैधानिक भूमिका (सविधानेतर) अक्सर सवैधानिक प्रावधानों से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होती रही है। साथ ही यह बात कम महत्वपूर्ण नही कि राष्ट्रपति या उसके महत्वपूर्ण सलाहकार के व्यक्तिगत रुझान के कारण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम के प्रति अमरीकी रुख-रवैया हस्तक्षेपकारी रहता है या एकान्त प्रेमी ? इन सभी टिप्पणियों को ठीक से समझने के लिए प्रमुख अमरीकी राष्ट्रपतियों के कार्यकाल मे अमरीकी

विदेश नीति की चुनिन्दा घटनाओं का विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण आवश्यक है।[1]

विदेश नीति-निर्धारण का तन्त्र
(Mechanism of US Foreign Policy-Making)

अमरीकी विदेश नीति नियोजन, निर्धारण और इसके क्रियान्वयन के तन्त्र में राष्ट्रपति, विदेश सचिव, राष्ट्रपति के सुरक्षा सलाहकार व्यक्तिगत रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनके अतिरिक्त अमरीकी विदेश मन्त्रालय (State Department) और रक्षा मन्त्रालय (Pentagon) की नौकरशाही तथा सीनेट के सदस्य (विशेषकर इसकी विदेश नीति विषयक उपसमितियां) काफी प्रभावशाली सिद्ध होते रहे हैं। अमरीकी विदेश नीति का नियोजन व सम्पादन सिर्फ कार्यपालिका और विधायिका तक ही सीमित नहीं रहता। खासकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में अमरीकी जनमत ने विदेश नीति की दिशा को कई बार निर्णायक मोड़ दिया है। अमरीकी राजनीति में 'लॉबिइंग' (Lobbying) की पुरानी परम्परा है। अर्थात् कोई भी व्यक्ति या समूह, जो किसी एक पक्ष का समर्थन करता हो, वह मझले दर्जे के नौकरशाह विशेषज्ञों से लेकर राष्ट्रपति तक का निर्णय अपने अनुकूल बनवाने का प्रयत्न करता है। इसे कोई भी गलत या अनैतिक नहीं समझता। अमरीका के यहूदी नागरिकों का इज़राईल के पक्ष में आचरण इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। इस प्रक्रिया के कारण अमरीकी विदेश नीति के सन्दर्भ में प्रेस व दूरदर्शन की भूमिका दुनिया के किसी भी और देश की अपेक्षा महत्वपूर्ण बन जाती है। आज भले ही तीसरी दुनिया के अनेक विकासशील देशों में व्यापक जन सम्पर्क के अमरीकी साधन सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के उपकरण समझे जाते हों, परन्तु स्वयं अमरीका के निजी सन्दर्भ में इन्हें सार्थक व स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का साधन बताया जाता रहा है। मसलन, वियतनाम युद्ध के दौरान टेलीविजन पर अमरीकी सैनिकों की कुर्बानी के हृदय विदारक चित्रण ने ही अमरीकी विश्वविद्यालय के परिसरों में युद्ध विरोधी जनाक्रोश का लावा फैलाया। भूतपूर्व राष्ट्रपति रीगन के अन्तरिक्ष युद्ध कार्यक्रम (Star Wars) के विरुद्ध जनमत बना तो इसका श्रेय एक सीमा तक 'दि डे आफ्टर' जैसी फिल्मों को दिया जा सकता है।

इन सभी घटकों में अमरीकी राष्ट्रपति की केन्द्रीय भूमिका है। अनेक विद्वानों का मानना है कि अमरीकी राष्ट्रपति अन्तर्राष्ट्रीय नीति निर्धारकों की बिरादरी में सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति है। वह अमरीकी मतदाताओं द्वारा सीधे निर्वाचित होता है। वह एक बार पद ग्रहण कर लेने के बाद आसानी से निकाला नहीं जा सकता। भले ही नियन्त्रण व सन्तुलन (Checks and Balances) की व्यवस्था उस पर अंकुश लगाने का प्रयत्न करती है, परन्तु व्यवहार में उसे निरंकुश शासक ही कहा जा सकता है। जिस तरह सोवियत नेता को कम्युनिस्ट

[1] अमरीकी विदेश नीति से सम्बद्ध लगभग सभी महारथियों-दिग्गजों ने 'अमरीकी सपने' या 'अमरीकी अनुभव' को विदेश नीति निर्धारण और क्रियान्वयन के लिए निर्णायक महत्व का समझा है। अमरीकी विदेश नीति को अच्छी तरह से समझने के लिए निम्नांकित लेखकों की पुस्तकें काफी उपयोगी हैं—George F. Kennan, *American Diplomacy*, 1900–1950. (Chicago, 1951), *Memoirs*, 1925–1950, (London, 1968), and *Memoirs*, 1950–1963, (London, 1963); Henry Kissinger, *The White House Years*, (Boston, 1979) and *Years of Upheavel*, (Boston, 1982).

पार्टी और सेना के प्रभावशाली तबकों के स्वार्थों का निरन्तर सन्तुलन करना पड़ता है, वैसी कोई विवशता अमरीकी राष्ट्रपति की नहीं होती। पिछले 50 वर्ष के तीन-चार चुनिंदा उदाहरणों से यह बात बिलकुल साफ हो जायेगी। प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने अपने प्रसिद्ध चौदह सिद्धान्तों की घोषणा की। इस भूमिका के बाद उन्होंने नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्न किये। भले ही अमरीकी सीनेट ने राष्ट्र संघ (League of Nations) विषयक उनके किसी भी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया परन्तु विल्सन के मसीहाई तेवर आज तक अमरीकी विदेश नीति में झलकते रहे हैं। इसी तरह एक बार आन्तरिक राजनीति में अपने 'न्यू डील' कार्यक्रम द्वारा स्थिरता और खुशहाली लौटा देने के बाद फ्रैंकलिन डिलानो रूजवेल्ट ने अपने राजनय के लिए किसी सलाहकार की जरूरत नहीं समझी। भले ही यह कहा जा सकता है कि रूजवेल्ट एक अस्वाभाविक परिस्थिति में बार-बार अमरीका के राष्ट्रपति बने। उनके कार्यकाल के दो निर्वाचित सत्र महायुद्ध युगीन थे और यह स्वाभाविक था कि स्टालिन और चर्चिल जैसों के साथ समतापूर्ण व्यवहार के लिए वैहिचक दृढ़ व्यक्तित्व की ही आवश्यकता थी, आदि। पर्ल हार्बर से लेकर हिरोशिमा तक और तेहरान, याल्टा, पोट्सडेम आदि में रूजवेल्ट की गतिविधियों ने निश्चय ही सीनेट व विदेश मन्त्रालय का अवमूल्यन किया और विदेश नीति के क्षेत्र में राष्ट्रपति के अधिकार क्षेत्र को अनायास ही असरदार ढंग से फैलाया।

रूजवेल्ट के उत्तराधिकारी ट्रूमैन और आइजनहावर उनकी तुलना में अन्तर्मुखी व्यक्ति थे। युद्ध के बाद के वर्षों में ये दो नेता अपेक्षाकृत निष्क्रिय नीति के पक्षधर थे। ये दोनों नेता यूरोप के पुनर्निर्माण के लिए 'सहकारी अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका' सुझा रहे थे, परन्तु, शीत युद्ध के आविर्भाव ने ऐसा नहीं होने दिया। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में विशेष रुचि न रखने पर भी इन दोनों राष्ट्रपतियों ने साम्यवादी सोवियत संघ के विरोध-प्रतिरोध की रणनीति तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। ट्रूमैन सिद्धान्त और आइजनहावर सिद्धान्त क्रमशः प्रभाव रोकना (Containment) और पीछे ढकेलना (Roll Back) की अवधारणाओं से जुड़े थे। वे एक तरह से दक्षिण अमरीकी सन्दर्भ में परिभाषित किये गये मुनरो सिद्धान्त के परिमार्जित अन्तर्राष्ट्रीय संस्करण थे। 1970 के दशक के मध्य में गुआम द्वीप में निक्सन द्वारा अपने सिद्धान्त (Nixon Doctrine) का प्रतिपादन करने तक अमरीकी विदेश नीति में बुनियादी परिवर्तन करने वाली 'राष्ट्रपति की पहलों' की परम्परा साफ परिलक्षित होती है।

जॉन एफ० कैनेडी का कार्यकाल इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक ओर 'बे आफ पिग्स' (Bay of Pigs) प्रकरण के अपरिपक्व नौसिखिये अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी की कमजोरी उजागर होती है तो दूसरी ओर बर्लिन दीवार पर दिया गया उनका भाषण और क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट के अवसर पर उनकी दृढ़ संकल्प शक्ति राष्ट्रपति के विशेषाधिकारों और विशिष्ट भूमिका के लाभ भी उद्घाटित करती है। कैनेडी और उनके उत्तराधिकारी जानसन का कार्यकाल वियतनाम और हिन्द चीन की त्रासदी के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा रहा। वियतनाम युद्ध सम्बन्धी अमरीकी विदेश नीति निर्धारण का विस्तृत विश्लेषण डेविड हेलबर्स्टाम ने अपनी पुस्तक 'दि बेस्ट एण्ड ब्राइटेस्ट' में बखूबी किया है।[1] इस सामग्री का सार संक्षेप

[1] David Halberstam *The Best and the Brightest*, New York, 1972.

अन्यत्र विदेशी सलाहकारो के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जा रहा है, तथापि इस सिलसिले में एक महत्वपूर्ण तथ्य रेखांकित करने की जरूरत है। सलाहकार चाहे कितने ही महत्वपूर्ण और अधिक संख्या में क्यो न हो, सुझाये गये विकल्पो मे से किसी एक को चुनने का अधिकार सिर्फ अमरीकी राष्ट्रपति का ही है। इसलिए अनेक अमरीकी राष्ट्रपति अपनी मेज पर यह तख्ती लगाये रखते हैं कि 'दी बक स्टॉप्स हियर' अर्थात् अब यह काम किसी और पर टाला नही जा सकता।

निक्सन, कार्टर और रीगन के कार्यकाल से भी यही बात पुष्ट होती है। चीन के साथ सम्बन्धो का सामान्यीकरण हो या ईरान द्वारा बन्धक बनाये गये राजनयिकों को छल-बल से छुड़ाने की योजना, अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति समीकरणो को पुनर्व्यवस्थित करने वाली कार्रवाई की जिम्मेदारी अमरीकी राष्ट्रपति की ही है। निकारागुआ मे कोन्ट्रा छापामारो को सहायता व समर्थन देना हो या परमाणु निःशस्त्रीकरण को ध्वस्त कर देने वाली स्टार वार्स परियोजना, तत्कालीन राष्ट्रपति रीगन स्वयं इस नीति के विधाता कहे जा सकते हैं। वियतनाम और निकारागुआ दोनो प्रसगो मे यह बात अच्छी तरह उभरती है कि भले ही सीनेट, समाचार-पत्र आदि राष्ट्रपति को अनुशासित करते रहते हैं, फिर भी मजबूत राष्ट्रपति द्वारा मनमानी किये जाने के कई बहाने और असवैधानिक रास्ते हैं। इसका उदाहरण ईरान गेट काड मे कर्नल ओलीनोर्थ तथा मेकफार्लेन एवं एडमिरल पोइट डेक्सटर की गवाही है।[1]

विदेश सचिव, विदेश मन्त्रालय तथा राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार
(Secretary of State, State Department and National Security Adviser)

अमरीकी विदेश नीति निर्धारण मे राष्ट्रपति के बाद दूसरा सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति विदेश सचिव अर्थात् विदेश मंत्री होता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के तत्काल बाद ट्रूमैन और आइजनहावर के राष्ट्रपति काल मे जॉन फोस्टर डलेस ने जो भूमिका निभायी, उससे इसी स्थापना की पुष्टि होती है। शीत युद्ध के आविर्भाव मे डलेस का योगदान अनदेखा नही किया जा सकता। यह डलेस की ही स्थापना थी कि 'जो हमारे साथ नही, वह हमारे विरुद्ध है और हमारा शत्रु है।' यदि डलेस जैसा व्यक्ति 1950 के दशक के पूर्वार्द्ध मे अमरीकी विदेश सचिव न होता तो सीनेटर मैकार्थी जैसे साम्यवाद-विरोधियो को खुली छूट नही मिलती और न ही 'फेडरल ब्यूरो आफ इन्वेस्टीगेशन' के प्रमुख एडगर हूवर गुप्तचर विरोधक अभियान (Counter-Intelligence Move) इतने बडे पैमाने पर चला पाते। कम लोग जानते हैं कि डलेस के कार्यकाल मे सी० आई० ए० के मुखिया उनके भाई एलन डलेस रहे थे। सिएटो व सेन्टो जैसे सैनिक सधि-सगठनो की स्थापना डलेस की प्रेरणा से ही हुई। शीत युद्धकालीन सास्कृतिक प्रचार एव वहम का सचालन भी इस पूरे दशक में अमरीकी राष्ट्रपति ने नहीं, वरन् विदेश सचिव ने किया। जेनेवा सम्मेलन में चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई को मान हानि हो या सयुक्त राष्ट्र सघ मे गुट निरपेक्ष भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले कृष्ण मेनन की अवहेलना, ये सभी निर्णय डलेस द्वारा व्यक्तिगत रूप से लिये गये।

[1] अमरीकी संविधान में सत्ता एव उत्तरदायित्व के वितरण की चाहे जो भी व्यवस्था की गयी हो, किन्तु यथार्थ में सुविधानुसार इस सैद्धान्तिक प्रणाली में व्यवहारिक संशोधन किया जाता है।

इस पूरे अन्तराल में डलेस की सक्रियता का एक और कारण रहा। ट्रूमैन और आइजनहावर दोनों ऐसे राष्ट्रपति थे, जिनकी विशेषज्ञता विदेश नीति के मामले में नहीं थी। जब आइजनहावर को यह पता चला कि डलेस असाध्य कैंसर से पीड़ित हैं तो उन्होंने उनके अन्तिम दिन सुखद बनाने के लिए वैदेशिक मामलों में उन्हें खुली छूट दे दी। स्वेज प्रकरण के दौरान अमरीकी असमंजस और अनिश्चित नीति को इसी तर्क के आधार पर विश्लेषित किया जाता है।

कैनेडी और जोनसन के राष्ट्रपति काल में विदेश सचिव रोजर्स और डीन रस्क, डलेस सरीखी भूमिका नहीं निभा सके, क्योंकि राष्ट्रपति स्वयं प्रमुख नीति-निर्धारक बन चुके थे। इसके अतिरिक्त वियतनाम युद्ध के दौरान विदेश मन्त्रालय की अपेक्षा पेंटागन (अर्थात् रक्षा-मन्त्रालय) का राजनयिक महत्व कई गुना बढ़ चुका था। निक्सन के शासन काल में भले ही हेनरी किसिंजर का प्रभामण्डल चौंधियाने वाला रहा, परन्तु इसका बुनियादी कारण उनका विदेश सचिव होना नहीं था। बल्कि यह कहना अधिक तर्कसंगत होगा कि राष्ट्रपति के सुरक्षा सलाहकार के रूप में किसिंजर ने इतनी प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी कि विदेश सचिव का पद देकर उन्हें पुरस्कृत किया गया। रीगन के प्रशासन में एलेक्जेंडर हेग को जिन परिस्थितियों में पद त्याग करना पड़ा उससे यही पता चलता है कि अमरीकी विदेश नीति में विदेश सचिव की भूमिका तभी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है जब राष्ट्रपति के साथ उसके सम्बन्धों का समीकरण सन्तुलित हो या जब उसका अपना व्यक्तित्व एवं कृतित्व राष्ट्रपति से अधिक नाटकीय ढंग से प्रभावशाली हो।

विदेश सचिव का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रपति का सुरक्षा सलाहकार होता है। मेक जार्ज बंडी, हेनरी किसिंजर और ब्रेजेंजिस्की अपने व्यवहार में यह प्रमाणित करते रहे कि किसी भी विदेश सचिव से उनका महत्व एवं वजन ज्यादा है। अमरीकी राष्ट्रपति का सुरक्षा सलाहकार राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का केन्द्रीय सदस्य होता है और उसकी विदेश मन्त्रालय द्वारा सुझाये गये विकल्पों के अतिरिक्त सी० आई० ए० की गुप्त सामरिक पड़ताल तथा रक्षा-मन्त्रालय की जानकारियों तक पहुँच होती है। उसके ऊपर अपने विभाग की नौकरशाही का कोई दबाव नहीं होता। अत. विदेश सचिव की तुलना में वह कहीं अधिक स्वाधीन होता है। हेनरी किसिंजर और ब्रेजेंजिस्की दोनों ने इस बात को उद्घाटित किया कि यदि ऐसा व्यक्ति जन-सम्पर्क में कुशल हो तो प्रचार साधनों पर काबू पाकर विदेश सचिव और विदेश मन्त्रालय को दरकिनार कर अपनी इच्छानुसार विदेश नीति का संचालन कर सकता है। जब अमरीकी व्यवस्था में राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार का पद अलग से तय नहीं था, तब भी कुलेट एवं हेरी हॉपकिन्स जैसे व्यक्ति राष्ट्रपति के विशेष विश्वासपात्र होने के कारण महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे।

पूरे वियतनाम युद्ध के दौरान यह बात भी स्पष्ट हुई कि विदेश सचिव और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार के अलावा भी अन्य योग्य व्यक्ति विदेश नीति निर्धारण और राजनय की प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं। रक्षा सचिव रोबर्ट मेकनमारा इसका सबसे अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट के समय रोबर्ट कैनेडी मात्र एटॉर्नी जनरल थे और उनका उत्तरदायित्व गृह मन्त्री सरीखा था। फिर भी अपने भाई जान एफ० कैनेडी का विश्वासपात्र होने के कारण इस प्रसंग में उनका योगदान सबसे महत्वपूर्ण रहा था।

मगर, इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि विदेश सचिव, राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार या केबिनेट के अन्य सदस्य ही अमरीकी विदेश नीति निर्धारण और क्रियान्वयन मे महत्वपूर्ण घटक होते है। ये सारे पद राजनीतिक कारणों से प्रदान किये जाते है और कमोबेश अस्थायी होते है। 'डिप्टी सेक्रेटरी', 'असिस्टेंट सेक्रेटरी' और 'अडर सेक्रेटरी' जैसे पद पेशेवर राजनयिको के लिए सुरक्षित होते हैं और इन पीठासीन अधिकारियों की विशेषज्ञता का अवमूल्यन नही किया जाना चाहिए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण जार्ज एफ० केनन प्रस्तुत करते है, जिन्होने विदेश सेवा मे रहते हुए 'Containment' (प्रभाव रोकना) के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अमरीकी विदेश नीति को कई दशको तक प्रभावित किया। इसी तरह कभी भी अमरीकी विदेश सेवा के साथ सम्बद्ध न रहने और राजनीति मे सक्रिय न रहने पर भी एडगर स्नो जैसे पत्रकारो ने चीन के साथ अमरीकी सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया।[1] वियतनाम युद्ध के दौरान वोल्टर क्रोकाइट, मेरी मेकार्थी, बर्नार्ड फॉल, डेविड हेवरस्टोम जैसे पत्रकारो की विदेश नीति मे भूमिका को अनदेखा नही किया जा सकता।

विदेश नीति और सी० आई० ए० की गतिविधियाँ
(Foreign Policy and Activities of C.I A.)

पिछले पाँच-छः वर्षों मे ऐसे अनेक रहस्योद्घाटन हुए है, जिन्होने यह बात रेखांकित की है कि अमरीकी विदेश नीति-निर्धारण एव संचालन मे संवैधानिक प्रावधानो से कही अधिक महत्वपूर्ण असवैधानिक गतिविधियाँ और गुप्तचर संस्थाओं के षड्यन्त्र रहे हैं। यो 'वे आफ पिग्स' के प्रसग से इस बात का पता चल गया कि कैनेडी जैसे युवा आदर्शवादी राष्ट्रपति को गलत सूचनाएँ और विश्लेषण देकर पथ-भ्रष्ट किया जा सकता है। इस रहस्योद्घाटन करने वाली पुस्तको में फिलिप एजी की 'C.I.A. : Inside the Company' तथा विक्टर मार्चेटी की 'C.I.A. and the Cult of Intelligence' प्रमुख है। इन लेखको ने तफसील मे यह ब्यौरे पेश किये है कि किस प्रकार सी० आई० ए० (Central Intelligence Agency) की भूमिका अमरीकी राजनीति मे महत्वपूर्ण हो गयी है।

वस्तुतः सी० आई० ए० द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान संगठित ओ० एस० एस० (Office of Strategic Services) का उत्तराधिकारी सगठन है, जिसका संचालन कर्नल विलियन ओ० डोनावन करते थे। इसकी जिम्मेदारी शत्रु से खुफिया सूचनाएँ एकत्र करना तथा शत्रु क्षेत्र मे तोड-फोड़ की कार्रवाई करना शामिल था। द्वितीय विश्व युद्ध के आविर्भाव के बाद यह स्वाभाविक था कि विचारधारा के टकराव के कारण इसकी गतिविधियों मे दुष्प्रचार (Propaganda) और प्रचार (Publicity) भी जुड गये। सास्कृतिक व आर्थिक राजनयिक गुप्तचरी के लिए सांस्कृतिक व आर्थिक आदान-प्रदान के नाम पर सलाहकार-विशेषज्ञ बनकर बहुत आसानी से औपचारिक ढग से जुड सकते हैं। सभी बड़ी शक्तियों के आचरण में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह सत्य प्रतिबिम्बित होता है। मसलन दूतावासों मे नियुक्त शिक्षा व संस्कृति सलाहकार गैर-सरकारी संस्थाओं में घुसपैठ कर सी० आई० ए० का काम

[1] देखें, Edgar Snow, *Red China Today : The Other Side of the River* (London, 1974), और *Red Star over China* (London, 1972)

कर सकता है। पाल श्राइसबर्ग का नाम इसी सिलसिले मे लिया जाता है।

सी० आई० ए० अपने आप मे एक असवैधानिक सगठन नही है। इसकी स्थापना एक विधि-सम्मत चार्टर द्वारा हुई है। यदि लोग इसके प्रति विशेष रूप से शकित रहते हैं तो सिर्फ इस कारण कि अक्सर यह अपने सीमा क्षेत्र का अतिक्रमण करता है। इसकी तोड-फोड वाली षड्यन्त्रकारी गतिविधियाँ आर्थिक और सास्कृतिक राजनय की आवाज के पीछे छुपायी नही जा सकती। सी० आई० ए० के पास जितने विपुल आर्थिक एव सैनिक साधन सुलभ हैं, उतने ससार के अनेक छोटे-मोटे राज्यो तक को भी सुलभ नही होते। सी० आई० ए० जनतान्त्रिक परम्परा-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के बहाने असन्तुष्ट विपक्षियो को प्रोत्साहित कर किसी भी नवोदित राष्ट्र मे अस्थिरता पैदा कर सकता है। वह परोक्ष रूप से बिचौलियो के माध्यम से हथियार पहुँचाकर सीमान्त पर कबाइलियों मे घातक बगावत पैदा कर सकता है। यह खुफिया सगठन कभी कभार आवश्यकता पडने पर लोकप्रिय अमरीका-विरोधी या 'स्वाधीन नेता' को हत्या द्वारा राह से हटा देता है। तख्तापलट और विप्लव सी० आई० ए० के प्रिय अस्त्र रहे।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद एलन डलेस सी० आई० ए० के प्रमुख थे, जो विदेश सचिव जोन फोस्टर डलेस के भाई थे। ऐसी स्थिति मे सी० आई० ए० तथा विदेश विभाग की गतिविधियो मे समायोजन सहज था। सीनेटर मेकार्थी ने शीत युद्ध की जिस घेराबन्दी वाली मानसिकता को जन्म दिया, उसमे सी० आई० ए० को देश की सुरक्षा का प्रमुख प्रहरी समझा गया। इन 'देश प्रेमियो' की दुस्साहसिकता को असवैधानिक कहने वाला व्यक्ति देशद्रोही करार दिया जा सकता था। ईरान मे मुसद्दिक का तख्तापलट, पूर्वी यूरोप मे 'रेडियो फ्री यूरोप' की स्थापना, तिब्बत में खपा विद्रोहियो को प्रोत्साहन और 'लाओस-बर्मा-थाइलैण्ड' के सुनहरे त्रिकोण मे अफीम की तस्करी, इन सभी मे सी० आई० ए० का गहरा हाथ रहा। क्यूबा के शासक फिदेल कास्त्रो की हत्या के असफल षड्यन्त्र से लेकर चिली मे राष्ट्रपति अयादे के उन्मूलन तक सी० आई० ए० की रणनीति एक तरह से निरकुश, स्वाधीन व वैकल्पिक विदेश नीति के रूप मे सचालित होती रही। हिन्द-चीन युद्ध के दौरान इसका सबसे त्रासद रूप सामने आया, जब सी० आई० ए० ने सरकार को ठकुरसुहाती सूचनाएँ देकर खुश करने के लालच मे लाखों अमरीकियों को इस जान-लेवा दलदल मे फँसा दिया।

1960 वाले दशक के मध्य मे अमरीकी राजनीति मे नव वामपथ का जो आत्मालोचक ज्वार (Self Criticism) उठा, उसने सी० आई० ए० के प्रति स्वय अमरीकी नागरिको का आक्रोश मुखर किया। डेनियल एलसबर्ग जैसे जिम्मेदार वैज्ञानिको ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर इस गुप्तचर सस्था के षड्यन्त्रकारी काम मे हिस्सा लेने से इन्कार कर दिया। इन्ही वर्षो मे 'पेंटागन पेपर्स' का प्रकाशन और सिहानुक की जीवनी 'माई वार विथ दी सी० आई० ए०' ने सी० आई० ए० की ओर लोगो का ध्यान केन्द्रित किया।[1]

स्वय भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ मे भी सी० आई० ए० की भूमिका काफी कुख्यात रही है। भले ही इस बात को कभी भी शत-प्रतिशत प्रमाणित नहीं

[1] देखिये—'*Pentagon Papers*', Published by New York Times (1971) और Norodom Sihanouk, '*My War with the C I A*' (London, 1974)

किया जा सके, फिर भी यह बात चर्चित रही कि राष्ट्रपति अय्यूब खान सी० आई० ए० के वेतन भोगी रहे थे। इसी प्रकार इन्दिरा गांधी के अपदस्थ होने के बाद बड़े परिष्कार के साथ यह रहस्योद्घाटन किया गया कि उनके मन्त्रिमण्डल में सी० आई० ए० का एक 'वेतनभोगी भेदिया' था। बाद में तत्कालीन प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने इसी बात को लेकर एक अमरीकी पत्रकार पर करोड़ों रु० की मानहानि का दावा ठोक दिया था। इस सिलसिले में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे आक्षेप सच्चे हों या झूठे, लेकिन इनके उल्लेख मात्र से शंका और अस्थिरता पैदा होती है, जो विकासशील देश के राजनीतिक वातावरण को दूषित करती है। इससे सम्बन्धित देश की गुट निरपेक्षता का प्रभाव संकुचित होता है और अपने महाप्रभु आश्रयदाता देश पर निर्भर होने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

इसके अतिरिक्त सी० आई० ए० पड़ौसी देशों में एक-दूसरे के प्रति सन्देह पैदा कर अमरीकी शस्त्र व्यापार को प्रोत्साहित करता रहा है। यदि अमरीका पाकिस्तान को एफ०-16 विमान बेचता है तो इसके साथ ही भारतीय समाचार पत्रों में जोर शोर से इस विमान की चमत्कारिक क्षमता के बारे में विशेषज्ञों के विचार प्रकाशित होते हैं। अततः भारत को भी मुकाबले के लिए इसी जोड़ का कोई विमान खरीदना पड़ता है।

यही नहीं, सी० आई० ए० का हौवा ही ऐसा है कि शुद्ध वैज्ञानिक और अन्वेषी कार्यक्रम भी निरापद नहीं रह पाते। इस सिलसिले में भारतीय अनुभव के दो उदाहरण देना यथेष्ट होगा। बोम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी के तत्वावधान में मच्छरों के वेक्टर नियन्त्रण कार्यक्रम को सी० आई० ए० की भागीदारी के कारण बीच में ही रोकना पड़ा। नंदा देवी पर्वत शिखर पर परमाणु उपकरण के आरोपण में पर्यावरण प्रदूषण का संकट चर्चित रह चुका है। इसके पहले भी सी० आई० ए० मानसिक विक्षिप्ति पैदा करने वाले एल० एस० डी० जैसे रसायनों के शोध के साथ भ्रष्ट रूप से जुड़ा रहा था।

इस प्रकार तमाम बदनामी के बावजूद अमरीकी विदेश नीति के क्षेत्र में सी० आई० ए० का महत्व घटा नहीं, बल्कि निरन्तर बढ़ा ही है। सी० आई० ए० के एक भूतपूर्व अध्यक्ष जार्ज बुश चीन में अमरीका के राजदूत बने, फिर अमरीका के उपराष्ट्रपति और बाद में राष्ट्रपति भी। एक अन्य अध्यक्ष विलियम केसी ईरान-कोन्ट्रा प्रकरण में केन्द्रीय भूमिका निभा चुके थे। कोई भी गुप्तचर संस्था किसी अन्य सरकारी विभाग की तरह अपने खर्च का हिसाब सार्वजनिक रूप से देने को बाध्य नहीं की जा सकती और न ही संसद और समाचार पत्र उसके दैनंदिन गतिविधियों की निगरानी कर सकते हैं। यही सी० आई० ए० की शक्ति का असली रहस्य है। इसे कभी-कभी अमरीका की 'समानान्तर अदृश्य सरकार' कहा जाता है। अमरीकी राष्ट्रपति का विशेष सुरक्षा सलाहकार हो या सेनाध्यक्ष या विदेश सचिव, ये सभी विदेश नीति नियोजन के लिए सी० आई० ए० की सेवाओं पर निर्भर रहते हैं। इस कारण, अमरीकी विदेश नीति निर्धारण में इसकी भूमिका भविष्य में भी महत्वपूर्ण बनी रहेगी। यह जोड़ने की भी जरूरत है कि सी० आई० ए० की असफलताएँ भले ही समाचार पत्रों की सुर्खियाँ बनती रही हैं, फिर भी इसकी सफलताएँ चाहे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हों, जन साधारण के लिए अज्ञात ही रहेंगी।

अमरीकी विदेश नीति व सैनिक-औद्योगिक तन्त्र
(US Foreign Policy and Military-Industrial Complex)

किसी भी देश की विदेश नीति उसके राष्ट्रीय हितों से संचालित होती है। बहुधा इस विश्लेषण की चेष्टा नहीं की जाती कि ये राष्ट्रीय हित क्या हैं और इन्हें कौन परिभाषित करता है? बहुत हुआ तो यह कह दिया जाता है कि राष्ट्रीय हित सामरिक, आर्थिक और सांस्कृतिक होते हैं और परस्पर गुँथे हुए भी। नैविल मैक्सवेल ने अपनी चर्चित पुस्तक 'भारत का चीन युद्ध' (India's China War) में यह सटीक टिप्पणी की है कि वस्तुतः राष्ट्रीय हित शासक वर्ग के न्यस्त स्वार्थ होते हैं जिन्हें प्रवर वर्ग (Elite) राष्ट्रीय हित बनाकर पेश करता है। अमरीका के सन्दर्भ में यह यथार्थ और भी जटिल है। इसीलिए 'सैनिक-औद्योगिक तन्त्र' की परिकल्पना वस्तुनिष्ठ अध्ययन में भी उपयोगी सिद्ध होती है।

विडम्बना तो यह है कि इस शब्दावली (सैनिक-औद्योगिक तन्त्र) का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहावर स्वयं इसी तन्त्र की उपज थे। उन्होंने अपने भाषण में यह इशारा किया कि जो लोग गद्दियों पर बैठे नजर आते हैं, वे वस्तुतः अमरीका के असली शासक नहीं हैं। असली सत्ता-सूत्र तो परदे के पीछे खड़े लोग सम्भालते हैं, जो 'सैनिक-औद्योगिक तन्त्र के प्रतिनिधि' होते हैं। शीत युद्ध के काल में राष्ट्रपति आइजनहावर की यह स्वीकारोक्ति बहुत चर्चित हुई और मार्क्सवादी आलोचकों ने इसका उपयोग अमरीका के आक्रमक-साम्राज्यवादी चेहरे का पर्दाफाश करने के लिए किया। वास्तव में बड़ी औद्योगिक हस्तियों का प्रभाव अमरीकी विदेश नीति पर ही नहीं, बल्कि समग्र राजनीति पर काफी असरदार रहा है।

19वीं शताब्दी में जब अमरीकी महाद्वीप में रेल मार्गों का जाल फैलाया गया, तेल-कूपों का दोहन शुरू हुआ और इस्पात मिलों की कार्यकुशलता बढ़ाने के साथ मोटर उद्योग की नींव रखी गयी तो औद्योगिकीकरण और नगरीकरण के नए कीर्तिमान स्थापित किये गये। अमरीका के जिन दुस्साहसी पूँजीपतियों ने छल-बल से इन क्षेत्रों में अपना एकाधिपत्य स्थापित किया, वे स्वभावतः महत्त्वपूर्ण राजनीतिक हस्ती भी बन गये। इनमें कारनेगी, रोकफेलर, फोर्ड आदि प्रमुख हैं। ऐसे 'भारी उद्योग' सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं। अतः सेना मुख्यालय, विदेश मन्त्रालय और यहाँ तक कि राष्ट्रपति भी इन घरानों के साथ घनिष्ठ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए तत्पर रहते थे।

उद्योगों का सेना से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रथम विश्व युद्ध के दौरान स्थापित हुआ। अमरीका इस महायुद्ध में बहुत देर तक तटस्थ रहा और उसे आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र में युद्ध की कोई विशेष क्षति नहीं उठानी पड़ी। यही बात कमोबेश दूसरे महायुद्ध पर भी लागू होती है। जितनी देर तक युद्ध चलता रहा, तब तक सैनिक साज सामान की आपूर्ति के जरिये अमरीकी उद्योग धन्धों की लाभ-वृद्धि होती रही। इस प्रकार अमरीकी संस्थानों ने सैनिक साज सामान के उत्पादन में खास विशेषज्ञता प्राप्त कर ली।

इसके साथ एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अमरीकी आर्थिक जीवन में औद्योगिक घरानों का स्थान क्रमशः देत्याकार निर्व्यक्तिक निगमों (Impersonal

Corporations) ने लिया। फोर्ड, रोकफेलर, कारनेगी, डुपोंट आदि पारिवारिक नाम आज प्रतिष्ठित शीर्ष चिन्ह या अलकरण भर रह गये हैं। जनरल इलेक्ट्रिकल्स, जनरल मोटर्स, मेकडोनाल्ड, बोइंग, नोर्थकोर, आई० बी० एम०, ए० टी० टी० आदि कम्पनियाँ दैत्याकार निर्व्यक्तिक निगमों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। इनमें से अनेक कम्पनियों ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बहुराष्ट्रीय निगमों का रूप ले लिया और इनकी आर्थिक क्षमता में वृद्धि के साथ-साथ उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा में भी अपार वृद्धि देखी जा सकती है। इन्होंने अपने व्यावसायिक हितों के दर्पण में अमरीका के राष्ट्रीय हितों को परिभाषित करने की प्रक्रिया का सूत्रपात किया।

यहाँ दो-तीन अन्य बातों की ओर ध्यान दिलाया जाना जरूरी है। कई कम्पनियों के नामों से ऐसा लग सकता है कि सामरिक विषयों से उनका क्या वास्ता? जैसे इन्टरनेशनल बिजनेस मशीन या अमरीकन टेलीफोन एण्ड टेलीग्राफ कम्पनी। इनमें से अनेक की प्रमुख गतिविधि विशेषकर शोध एवं विकास के क्षेत्र में सेना से मिलने वाले अरबों डालर के ठेकों पर आधारित होती है। इसके अलावा इन कम्पनियों के स्वामित्व में या इनके सहयोग में काम करने वाले अन्य निगम-कम्पनियाँ खुल्लमखुल्ला सैनिक उत्पादन से जुड़े रहते हैं। चिली में ए० टी० टी० और पश्चिम एशिया में टेक्साम्पो, कालटेक्स एवं मोबिल जैसी कम्पनियों के हित और क्रियाकलाप अमरीकी राष्ट्र हित के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। जैसाकि एन्थनी सेम्सन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि आर्म्स बाजार' में दर्शाया है कि शस्त्र व्यापार की अपनी गति और तर्क होते हैं।[1] एक बार उत्पादन आरम्भ होने के बाद लाभांश को बरकरार रखने के लिए इसका निरन्तर विस्तार आवश्यक है। जब तक शीत युद्ध जारी था, तब तक नये-नये लड़ाकू विमानों, प्रक्षेपास्त्रों आदि की निर्माण-प्रक्रिया अबाध रूप से चलती रही। इनके परीक्षण के लिए तीसरी दुनिया के रण-क्षेत्रों को प्रयोगशाला के रूप में इस्तेमाल किया जाता रहा। कभी-कभार सैनिक-औद्योगिक तन्त्र ने ईरान के शाह जैसे अति महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के अहंकार की दुर्बलता का लाभ भी उठाया। सार यह है कि इस सैनिक-औद्योगिक तन्त्र का निहित स्वार्थ यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव घटने न पाये और अमरीकी विदेश नीति के तेवर मुठभेड़ वाले बने रहें।

एक और विचित्र बात है। जहाँ एक ओर सैनिक-औद्योगिक तन्त्र सरकारी ठेकों पर आश्रित है, वहीं विश्वविद्यालयों तथा अकादमिक संस्थानों की शोध परियोजनाएँ इसके अनुदानों पर टिकी हुई हैं। 'दि इम्पीरियल ब्रेन ट्रस्ट' नामक पुस्तक में इस बात का अच्छा खुलासा पेश किया गया है कि कैसे 'फोरेन रिलेशंस कौंसिल', 'फोर्ड फाउण्डेशन' और 'रोकफेलर सेंटर' जैसी संस्थाएँ इस तन्त्र की 'कठपुतली संस्थाएँ' हैं।[2] अमरीकी राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के बारे में मजेदार बात यह है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति विशेषज्ञ, सलाहकार व परामर्शदाता के रूप में कभी निजी निगमों के तो कभी सरकार के हिस्सा बन जाते हैं। रोबर्ट मेक्नमारा, हेनरी किसिंजर, मेक जार्ज बंडी आदि सभी इसी श्रेणी-बिरादरी के लोग रहे हैं।

[1] Anthony Sampson, *The Arms Bazar* (London, 1977).
[2] H. Laurance and William Minter, '*The Imperial Brain Trust*'. (New York, 1977)

अमरीकी सैनिक-औद्योगिक तन्त्र की आतंककारी छाया उसके सन्धि-मित्र देशों पर भी पड़ती रही है और इसने पश्चिम यूरोप के साथ उसके सम्बन्धों को कलुषित किया है। अमरीकी बहुराष्ट्रीय निगम आक्रमक ढंग से अपने क्रियाकलाप यूरोप में फैलाते रहे हैं। जनरल मोटर्स, आई० बी० एम०, जनरल इलेक्ट्रिक आदि ने बड़े पैमाने पर यूरोपीय देशों के प्रतिष्ठित उद्योगों का स्वामित्व अपने हाथ में ले लिया है। इससे चिन्तित होकर जे० जे० श्रीबर जैसे लोगों ने अमरीकी चुनौती की बात करना आरम्भ किया था। शस्त्रों के व्यापार को लेकर भी अमरीका व पश्चिम यूरोपीय देशों के बीच प्रतिस्पर्धा और मनमुटाव बढ़े। जब नागरिक विमानन की दुनिया में अमरीकी कम्पनियों का वर्चस्व था और इनसे टकराने की क्षमता किसी एक यूरोपीय कम्पनी की नहीं थी, तब फ्रांस और इंग्लैंड ने अपनी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता भुलाकर ध्वनि की गति से तेज उड़ने वाले कॉनकॉर्ड विमान के लिए सहयोगी बनना स्वीकार किया था। अनेक राष्ट्रप्रेमी यूरोपीयनों को यह लगता रहा है कि अमरीकी बहुराष्ट्रीय निगम उनकी सम्प्रभुता का हनन करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अमरीका की सामरिक नीति उनको सिर्फ शिविरानुचर बनाकर उनकी स्वाधीनता का अवमूल्यन करती है। ब्रिटेन द्वारा परमाणु अस्त्रों के मामले में आत्म निर्भरता तथा इसी तरह की उपलब्धि का फ्रांसीसी हठ यही दर्शाते हैं। हाल के वर्षों में शक्तिशाली रॉकेट के द्वारा अन्तरिक्ष में उपग्रह फेंकने की सामर्थ्य ऐसी ही एक चुनौती बन गयी, जिसका सामना कर यूरोपीय राष्ट्र अमरीकी महाशक्ति के सामने अपने को बौना महसूस न करें। फ्रांस का आरियेन रॉकेट कार्यक्रम यही दर्शाता है।

जब फ्रांस में देगोल का प्रभुत्व था, तब उन्होंने अपने राष्ट्र हित में और फ्रांसीसी उद्योगपतियों के हित-लाभ को ध्यान में रखते हुए माओवादी चीन के साथ व्यापार आरम्भ कर दिया। इससे अमरीकी सैनिक-औद्योगिक तन्त्र का खिन्न होना स्वाभाविक था और निरन्तर यह प्रयत्न किया गया कि देगोल को तुनक मिजाज सनकी सिद्ध किया जा सके। कुछ वर्षों पहले जब मानवाधिकारों के उल्लंघन को लेकर अमरीका ने सोवियत संघ पर व्यापार प्रतिबन्ध लगाने की घोषणा की, तब भी फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय देशों ने साइबेरिया लायी जाने वाली गैस पाइपलाइन के क्रियान्वयन में कोई गतिरोध नहीं आने दिया। इस प्रकार अमरीकी सैनिक-औद्योगिक तन्त्र और यूरोपीय राष्ट्रवाद के बीच एक बार फिर टकराव देखने को मिला।

यूरोप के जनमानस ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद महाशक्तियों द्वारा थोपी गई व्यवस्था एवं यूरोप के विभाजन को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया है। विली ब्रांट की 'ओस्त पोलिटिक' का विकास तथा 'यूरो कम्यूनिज्म' का आविर्भाव प्रकारान्तर से यूरोपीय एकीकरण और इस महाद्वीप की खोई हुई गरिमा को लौटाने के प्रयत्न ही थे।

परन्तु, उपरोक्त सर्वेक्षण से यह समझना गलत होगा कि अमरीकी सैनिक-औद्योगिक तन्त्र का पश्चिम यूरोप में सर्वत्र विरोध ही हो रहा है। हालांकि 'नाटो' जैसे सैनिक संगठन का क्षय आरम्भ हो गया है, परन्तु आज भी यूरोपीय शासक वर्ग घनिष्ठ रूप से अमरीकी सैनिक-औद्योगिक तन्त्र से सम्बन्धित है। यह बात अन्तरिक्ष

युद्ध कार्यक्रम मे ब्रिटिश तथा फ्रासीसी सरकारो की सहज साझेदारी से भली-भांति प्रमाणित होती है और जॉन मेजर (ब्रिटेन) और हेल्मुट कोल (प० जर्मनी) जैसे नेताओं की विदेश नीति विषयक मान्यताओ से भी। यह याद रखने लायक है कि इन देशो के अमरीकी-विरोधी विपक्षी नेताओं को मतदाताओ का समर्थन नाममात्र का ही प्राप्त है। पश्चिम यूरोप के शासको तथा अमरीका के हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करने मे अमरीकी साम्राज्यवाद का सास्कृतिक अभियान उपयोगी रहा।

अमरीकी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद
(U.S. Cultural Imperialism)

तीसरी दुनिया के विकासशील देश बहुधा 'कोको कोला साम्राज्यवाद' को लेकर चिन्तित रहे। उनको इस बात से सन्तोष था कि यूरोप के समृद्ध-सम्पन्न देश भी इसी आतंक से ग्रस्त रहे। विशेषकर फ्रास और जर्मनी के सुसस्कृत बुद्धिजीवी इस बात की ओर घ्यान दिलाते रहे कि नव-धनाढ्य अमरीकी अपने असभ्य तौर तरीके यूरोप की सभ्य जनता पर थोपते रहे थे। उनको इस बात से शिकायत रही कि अमरीकी यूरोप के प्रतिभाशाली बुद्धिजीवियों-कलाकारो को मुंहमागी कीमत देकर 'खरीद' लेते है। यह स्थिति कलाकृतियो पर भी लागू होती है। यूरोपीय सग्रहालय अमरीकी व्यक्तिगत ग्राहको का 'मुकाबला' करने मे असमर्थ रहे है। इस तरह का असन्तोष होने के बावजूद इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि अधिकाश यूरोपियन इस बात को स्वीकार करते है कि वे और अमरीकावासी एक ही 'मूल' के हैं और आज भी 'एक ही तरह के व्यक्ति' है—अर्थात् गोरे ईसाई और पूंजीवादी, शेष ससार से भिन्न। यह सच है कि इग्लैण्ड के अलावा यूरोप का कोई भी अन्य देश अंग्रेजी भाषा नही, परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद (इसके पहले भी) यूरोप से अमरीका मे इतने बड़े पैमाने पर आव्रजन हुआ कि जर्मन, हिस्पानी (स्पेन), इटालियन और पोलिश मूल के अमरीकी नागरिक बराबर अमरीका के साथ यूरोप का नाता जीवित रखे रहे। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पश्चिम जर्मनी मे अमरीकी उपस्थिति और 'नाटो' संगठन ने इस रिश्ते को पुष्ट किया। अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी ने प्रतीकात्मक ढग और नाटकीयता के साथ इस भावना को अपने बर्लिन-प्रवास के दौरान उद्घोषित किया था, जब उन्होंने कहा था कि 'मैं भी एक बर्लिनवासी हूँ।'

एक ओर रेमो आरों जैसे यूरोपीय विद्वान दक्षिणपंथी अमरीकियो को तार्किक समर्थन देते रहे, वही ब्रेजेजिन्स्की और किसिंजर जैसे यूरोपीय मूल के अमरीकी अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की अपनी रूपरेखाओं (क्लब आफ रोम या ट्राई कोन्टीनेंटल जैसी) मे भविष्य में नई और पुरानी दुनिया के हितो का अनिवार्य संयोग रेखांकित करते रहे। 'यूनेस्को' के मामले मे यह बात भलीभांति प्रमाणित हो गयी कि अमरीका और अधिकाश यूरोपीय देश आज भी सूचना और ज्ञान के अबाध प्रसार के बहाने अपने साँचे मे ही बाकी विश्व को ढालना चाहते है। इस तरह साम्राज्यवाद का सास्कृतिक उपकरण अमरीकी विदेश नीति के लिए चरम महत्वपूर्ण सैनिक-औद्योगिक तन्त्र का ही एक और स्तम्भ समझा जाना चाहिए।

अमरीकी विदेश नीति के सामने सबसे बड़ी चुनौती महाशक्ति के रूप में अपनी विश्वसनीयता बनाये रखने की है।[1] सिर्फ इतना भर नहीं है कि भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति रीगन निकारागुआ के मामले में झूठ बोलते हुए पाये गये या कि ईरान काण्ड में उन पर एतबार नहीं किया जा सका। इसके पहले भी अनेक बार अमरीकी राष्ट्रपति मिथ्याभाषी या अपना वचन निभाने में असमर्थ प्रमाणित होते रहे हैं। ईरान में अमरीकी बन्धकों को छुड़ाने में कार्टर का दुस्साहसिक अभियान असफल रहा और लीबिया जैसे उग्र-आक्रामक छोटे से शत्रु पर काबू पाने में यह महाशक्ति अक्षम रही। इससे पहले भी हिन्द चीन में वियतनाम युद्ध के दौरान कैनेडी और जॉनसन के वक्तव्यों व घोषणाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध हो चुकी थी। निक्सन ने जिस नाटकीय ढंग से चीन के साथ अपने सम्बन्ध सुधारे, उसने ताइवान तथा जापान जैसे देशों में सन्धि मित्र के रूप में अमरीका की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिये। वियतनाम से अमरीका की वापसी और ईरान के शहनशाह के अन्तिम वर्षों में तथा मार्कोस की संकट की घड़ी में उसको सहायता देने से इन्कार करना भी अमरीका की प्रतिष्ठा में बट्टा लगाते रहे। अफ्रीका में अंगोला व मोज़ाम्बिक का घटनाक्रम तथा दक्षिण अमरीका में फाकलैण्ड युद्ध प्रकरण यही दर्शाते हैं कि अमरीकी विदेश नीति उसके मित्र राष्ट्रों के लिए सुनिश्चित तथा सुनियोजित नहीं थी। अनेक विद्वानों ने इस ओर भी ध्यान दिलाया है कि दक्षिण अफ्रीका और इजराईल के साथ अमरीकी विवशता को देखते हुए यही मिसाल याद आती है कि 'कुत्ता अपनी दुम को नहीं, बल्कि दुम उसे नचा रही।'

विश्वसनीयता का यह प्रश्न इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि आज अमरीका निर्विवाद रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'नम्बर एक' शक्ति हो गयी है, उसी तरह जिस तरह द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर थी। तब मार्शल योजना के जरिए यूरोप और जापान के आर्थिक पुनर्निर्माण में अमरीका की निर्णायक भूमिका थी और विदेशी सहायता का विदेश नीति के प्रमुख अस्त्र के रूप में उपयोग किया जा सकता था। आज जापान और जर्मनी के साथ अमरीकी विदेश व्यापार शोचनीय ढंग से असन्तुलित है। जब विकासशील देश नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश में जुटे हैं तो अमरीका उनकी राह में सबसे बड़े रोड़े के रूप में दृष्टिगोचर होता है। अन्तर्राष्ट्रीय सूचना व्यवस्था हो या समुद्री कानून का विनिमय, अमरीकी राजनय के सामने एक बहुत बड़ी चुनौती यह है कि वह वहुसंख्यक राष्ट्रों को यह भरोसा दिला सके कि सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय हित में उसकी भी साझेदारी है।

[1] लगभग सभी राष्ट्रपति और उनके विशेषज्ञ-सलाहकार इसी दबाव के तले नीति निर्धारण करते हैं और राजनय में सक्रिय होते हैं। इस सिलसिले में विस्तृत अध्ययन विश्लेषण के लिए निम्नांकित पुस्तकें देखें—Z Brzezinski, *Political Power U S A versus U S S R* (New York 1964) Henry Kissinger, *White House Years* (Boston 1979) and *Years of Upheavel* (Boston 1982) Richard Nixon *The Memoirs of Richard Nixon* (New York, 1978), Jimmy Carter *Keeping Faith Memoirs of a President* (London, 1982) Alexander M Haig Jr, *Caveat Realism Reagan and Foreign Policy* (London 1984) and C Theodore Sorenson, *The Kennedy Legacy* (New York, 1965)

जिस समय रीगन ने सत्ता ग्रहण की, उन्होंने अमरीकी मतदाताओं को वचन दिया था कि वह अमरीका का खोया हुआ गौरवपूर्ण स्थान उसे अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर वापस दिलायेंगे। कार्टरयुगीन नरमी के बाद रीगन के अहंकारी तेवर बड़े आकर्षक लगे, परन्तु उनके कार्यकाल की समाप्ति तक अमरीकी जनमानस एक बार फिर 'हस्तक्षेप से एकान्त की ओर' मुड़ने लगा। इसका एक बड़ा कारण यह है कि ईरान व कोन्ट्रा काण्ड में कर्नल नॉर्थ की भूमिका ने यह बात अच्छी तरह रेखांकित की है कि 'रेम्बो' (शीत युद्धकालीन काल्पनिक अमरीकी हीरो) सरीखी फिल्मी दुस्साहसिकता बड़ी आसानी से राष्ट्र हित के संरक्षण के नाम पर अमरीका को सर्वनाश के कगार तक पहुँचा सकती है। ग्रेनेडा, लीबिया और अब खाड़ी युद्ध में धौंस-धमकी और बल प्रयोग से दबाने का प्रयत्न अमरीकी राजनय की सीमाओं को ही स्पष्ट करते हैं।

जार्ज बुश 1989 में राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के बाद बड़े उत्साह के साथ चीन-यात्रा पर निकले, लेकिन कोई ठोस उपलब्धि हासिल नहीं हुई। इन विकल्पों की सीमाएँ और समस्याएँ छिपाना या कम कर बताना सहज नहीं। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के बाद पाकिस्तान के साथ अमरीका के सम्बन्धों में बिगाड़ कम हुआ, परन्तु पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम को लेकर तनाव फिर से बढ़ने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद और इस्लामी कट्टरता का ज्वार किसी भी अन्य देश की अपेक्षा अमरीका के लिए सबसे पहले सामरिक चुनौती बनते हैं।

राष्ट्रपति बुश के कार्यकाल में अमरीकी विदेश नीति का दायरा अप्रत्याशित रूप से विस्तृत हुआ है। किसी को भी यह अंदाज नहीं था कि यूरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया इतनी तेजी से सम्पन्न होगी और सोवियत संघ की आन्तरिक राजनीतिक व आर्थिक स्थिति में अत्यन्त तेजी से बिगाड़ होगा। कुवैत के मसले पर छिड़े खाड़ी युद्ध ने इस बात को उद्घाटित किया कि सोवियत संघ महाशक्ति रह ही नहीं गया है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अमरीकी महत्वाकांक्षाओं को चुनौती दे सकने की बात तो छोड़िये, कभी-कभार उसे सन्तुलित करने की सामर्थ्य भी सोवियत संघ की नहीं रह गयी है। विदेशी ऋण और टैक्नोलोजी के आयात की सोवियत जरूरतें इतनी विकट हैं कि लगभग हर विषय पर अमरीका के साथ सहमति प्रकट करना गोर्बाच्योव के लिए अनिवार्यता भी बन गई है। यह कहा जा सकता है कि इस बदली विश्व व्यवस्था में अमरीका सहित विभिन्न राष्ट्रों के आचरण के बारे में अभी अटकलें ही लगायी जा सकती हैं। क्या एक छत्र राजनयिक आधिपत्य करने के बाद अमरीका अपनी गरिमा बनाये रखेगा? वह संयत रहेगा या उसका व्यवहार उच्छृंखल-अहंकारी होगा? इसके साथ ही यह बात जोड़ी जा सकती है कि निकट भविष्य में अमरीकी विदेश नीति के चिन्ता के प्रमुख केन्द्र विश्वव्यापी न होकर क्षेत्रीय रहेंगे। मध्य अमरीका और दक्षिण अमरीका के राज्यों से संयुक्त राज्य अमरीका में मादक द्रव्यों की तस्करी अमरीकी सरकार का बड़ा सिरदर्द बनी है। जनरल नोरियेगा के अपहरण के बाद से यह प्राथमिकता साफ दिखती रही है। कहने का अर्थ यह है कि दूर-दराज के दोस्तों-दुश्मनों के बारे में बेफिक्र होकर अमरीका अब कुछ समय तक अपने आंगन या घर-पिछवाड़े को ही बुहारता रहेगा।

इस घटनाक्रम से अछूता रहा। ये सभी बातें सोवियत विदेश नीति के अध्ययन-विश्लेषण के लिए उत्तराधिकार प्रभाव के रूप में महत्वपूर्ण हैं। संक्षेप में, अपने आकार, शक्ति-सामर्थ्य, सम्भावना एवं ऐतिहासिक अनुभव के कारण यदि सोवियत संघ अपने को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक बड़ी और निर्णायक हस्ती समझता रहा तो वह समझ में आने वाली बात है। इसके अतिरिक्त यूरोपीय राजनीति एवं संस्कृति की मुख्य धारा से कटे रहने के कारण सोवियत संघ के नेताओं एवं जनता में एक अलगाव की मानसिकता देखी जा सकती है। आर्थिक व तकनीकी उद्यम के क्षेत्र में पश्चिमी पड़ोसी देशों की अपेक्षा पिछड़े रहने के कारण राष्ट्रीय अहंकार की अभिव्यक्ति के लिए जारयुगीन शासकों की तरह साम्यवादी नेताओं के पास सामरिक-सैनिक उपकरण ही बचे रहे। आज स्थिति चाहे जिस कारण उभरी हो, किन्तु रूसियों के माथे पर साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी होने का कलंक नहीं लगाया जा सकता। इसका लाभ उनके राजनय को निरन्तर मिलता रहा। जैसे पूर्वी यूरोप के अनेक देशों—पोलैण्ड, हंगरी, चैकोस्लोवाकिया की स्थिति वर्षों तक उपनिवेश जैसी न सही, उपग्रह जैसी रही, पर इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि ये राष्ट्र 'कृत्रिम' रूप से निर्मित हैं और बड़ी यूरोपीय शक्तियों के पारस्परिक प्रभाव क्षेत्रों के बारम्बार विभाजन से सामने आये। स्वयं इनके बाहरी दुनिया से सम्बन्ध सीमित रहे और सोवियत संघ की स्लाव बिरादरी से इनका नाता कहीं अधिक घनिष्ठ रहा।

जारशाही के दिनों में रूसी विदेश नीति की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं—जब जार शक्तिशाली हो तो बहिर्मुखी (Extrovert) अन्यथा अपने में सिकुड़ने-सिमटने वाली अन्तर्मुखी (Introvert) प्रवृत्ति। ये दोनों ही लक्षण समय-समय पर सोवियत संघ के आचरण में भी परिलक्षित होते रहे हैं। जारकालीन रूसी विदेश नीति के बारे में एक और टिप्पणी जरूरी है। इस सारे दौर में प्रमुख यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्ति ब्रिटेन के साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता चलती रही। इसका एक प्रमुख पक्ष उष्ण सागर (Warm Waters) तक सोवियत नौसेना के लिए मार्ग अबाध करना था। साथ ही सोवियत संघ, तिब्बत और अफगानिस्तान जैसे 'बफर' प्रदेशों में सामरिक महत्व के दर्रों-पठारों में अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए सदैव लालायित रहा।[1]

बोल्शेविक क्रान्ति और रूसी विदेश नीति में परिवर्तन
(Bolshevik Revolution and Change in Russian Foreign Policy)

1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सिद्धान्त और आचरण दोनों ही दृष्टि से सोवियत विदेश नीति में नाटकीय और आमूल-चूल परिवर्तन हुए। जिस समय यह क्रान्ति सम्पन्न हुई, उस समय प्रथम विश्व युद्ध जारी था। इस सन्दर्भ में ही सोवियत विदेश नीति के नियोजन-क्रियान्वयन में सिद्धान्त एवं यथार्थवाद के बीच समझौतों या विचारधारा तथा राष्ट्रीय हित के सन्तुलन-समायोजन का मनन-विश्लेषण किया जाना चाहिए।

[1] क्रान्ति के पहले रूसी विदेश नीति का अच्छा विश्लेषण राजनयिक इतिहासकारों द्वारा किया जा चुका है। इसके बारे में ब्यौरे के लिए देखें—David Thompson, *Europe Since Napoleon* (London, 1976).

विश्व भर के वामपंथियों मार्क्सवादियों और सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व की जिम्मेदारी सोवियत संघ की है। चीन ने अपनी दुस्साहस के बाद गृह युद्ध ने सोवियत भूमिका तथा अन्य औपनिवेशिक समाजों में साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध स्वतन्त्रता सेनानियों को सहायता देकर सोवियत संघ ने अपने विपक्षियों को और भी आशंकित किया। भारत से अनेक क्रान्तिकारी बरास्ता अफगानिस्तान सोवियत संघ में पहुँचे और वहाँ भले ही उन्हें स्पष्ट या प्रत्याशित सहायता न मिली हो किन्तु सोवियत संघ के पास ब्रिटिश सरकार को चिढ़ाने या उत्तेजित करने के लिए छेड़खानी की सम्भावना बची रही।

स्तालिन रिबनट्रोप सन्धि (1936) के द्वारा सोवियत संघ ने नाजियों के उत्थान के दौर में अपने को निरापद रखने के लिए जर्मनी के साथ एक ऐसी सन्धि की जिसे कितना ही घुमा फिराकर देखें अवसरवादी ही मानना पड़ेगा। यह स्थिति देर तक नहीं चल सकी। नाजी जर्मनी ने 1942 में सोवियत संघ पर आक्रमण किया तो स्तालिन को यह मानने पर विवश होना पड़ा कि अब महायुद्ध का स्वरूप राष्ट्र प्रेमी देशभक्त (Patriotic) बन चुका है। इसके बाद ही अमरीका और ब्रिटेन के साथ मित्र राष्ट्रों की साझेदारी सम्भव हुई।

द्वितीय विश्व युद्ध के घटनाक्रम का सोवियत विदेश नीति पर दो तरह से प्रभाव पड़ा। नाजी चुनौती का सामना करते हुए सोवियत संघ ने बड़े पैमाने पर जन धन की क्षति उठायी। सोवियत नेताओं के मन में यह शिकायत (जो बड़ी सीमा तक जायज थी) बची रही कि मित्र राष्ट्रों ने संकट की घड़ी में उनकी अपेक्षित सामरिक सहायता नहीं की। मित्र राष्ट्रों ने जिन दूसरे मोर्चे को खोलने का वचन दिया उसमें अनावश्यक देर लगायी गयी और लैण्ड लीज (Lend Lease) सहयोग को भी ईमानदारी के साथ लागू नहीं किया गया। स्तालिन के मन में यह शक पैदा होना वाजिब था कि नाजी जर्मनी से भिड़ाकर सोवियत संघ की साम्यवादी सरकार को कमजोर करना मित्र राष्ट्रों का एकमात्र उद्देश्य है। ऐसी स्थिति में 1945 के बाद कटुता पैदा होना लाजमी था जिसने शीत युद्ध के संकट को बढ़ाया। इसके अतिरिक्त याल्टा पोट्सडम तेहरान आदि में आयोजित युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय शिखर सम्मेलनों ने युद्धोत्तर विश्व के भविष्य निर्धारण में विजेताओं की जो विशेषाधिकार भूमिका तय की उसने स्तालिन के मन में इस अहंकारी धारणा की पुष्टि की कि अब सोवियत संघ को स्वयं को दूसरे दर्जे की शक्ति मानने की कोई जरूरत नहीं है। अटलांटिक चार्टर के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के जिस प्रारूप को प्रस्तावित किया गया उसमें भी सोवियत संघ को वीटो सम्पन्न विशिष्ट स्थिति दी गयी थी।

1923 से 1945 के बीच की सोवियत विदेश नीति का एक और रोचक पहलू उल्लेखनीय है। सोवियत संघ ने आवश्यकतानुसार अपने हित साधन के लिए पारम्परिक राजनय का अवलम्बन किया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण लम्बे अरसे तक भारतीय का सोवियत विश्व साथी बना रहना है। रूस जार पहनने सियार पाल और फराह से बदकी बोलकर बाल मानसिक पारम्परिक राजनय के पक्षधर राजनयिक थे। इसी तरह विरोध और सहकार की अनूठी प्रक्रिया का सम्भव द्वितीय महायुद्ध की सामरिक विवशताओं के कारण सम्भव हुआ। इसी ने आगे चलकर तनाव-शैथिल्य के युग में प्रतिस्पर्धी सहकार (Adversary Partnership)

बनी रही।[2]

स्टालिनकालीन विदेश नीति : राष्ट्र हित बनाम विचारधारा (1923-53) (National Interest *vs* Ideology : The Stalin Era)

स्टालिन काल की सोवियत विदेश नीति को मोटे तौर पर दो काल खण्डों में बाँटा जा सकता है। इनमें से पहला कालखण्ड 1923 से 1945 तक का है जिसे अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से द्वितीय विश्व युद्ध के काल में सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका के रूप में देखा जा सकता है। दूसरा कालखण्ड, शीत युद्ध के उद्भव 1945 से 1953 तक का है।[3] इन दोनों कालखण्डों के बारे में एक बात समान रूप से लागू होती है। स्टालिन अपने को लेनिन का एकमात्र जायज उत्तराधिकारी समझते थे और उनके राजनयिक विश्लेषण में एक खास तरह की सैद्धान्तिक कट्टरता देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त उनके काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व विदेश नीति के क्षेत्र में शक्ति के यथार्थ (Reality of Power) को ही सर्वोपरि समझा जाता रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान एक बार जब इटली में पोप और वेटिकन की चर्चा हो रही थी और पोप के सांस्कृतिक व धार्मिक महत्व को आंका जा रहा था तो स्टालिन ने अपने सन्धि-मित्रों से दो टूक पूछा था—'आखिर पोप के पास 'पल्टन' कितनी है?'

स्टालिन के पास लेनिन के समान विश्लेषणात्मक मेधा नहीं थी और न ही व्यापक इतिहास दर्शन। इस कारण सोवियत संघ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को परिष्कृत या जटिल ढंग से पारिभाषित करने की क्षमता स्टालिन में नहीं थी। फिर भी ऐसा नहीं था कि सोवियत विदेश नीति का अवमूल्यन हुआ हो। इसाक डोयशर जैसे विद्वानों का मानना है कि स्टालिन स्वयं को सिर्फ लेनिन का ही नहीं, बल्कि पुराने महान् जारों का उत्तराधिकारी भी समझते थे और सोवियत संघ की भौगोलिक अखण्डता को अक्षत रखने तथा उसकी सामरिक शक्ति को बढ़ाने के लिए निरन्तर कृत-संकल्प रहे।

स्टालिन अपने को मार्क्सवादी और लेनिनवादी मानते थे। उन्होंने अपने क्रान्तिकारी अनुभव के आधार पर देश का व्यापक रूपान्तरण किया। विपक्षियों के दमन, आन्तरिक उत्पीड़न आदि से हमारा यहाँ कोई वास्ता नहीं। परन्तु इस सर्वेक्षण से हम जिस बात पर जोर देना चाहते हैं, वह यह है कि 1923 से 1952-53 तक के तीस वर्षों में स्टालिन के अधीन सोवियत संघ की एक अलग स्पष्ट पहचान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बनी, जो पारम्परिक पूँजीवादी शक्तियों के लिए विरोधी वाली थी। जार्ज केनन जैसे प्रखर विश्लेषकों का तो यहाँ तक मानना है कि पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियाँ 'स्टालिन के सोवियत संघ' को शत्रु के रूप में ही देखती थी। केनन और आन्द्रे फोतेन दोनों का यह मानना है कि वस्तुतः शीत युद्ध का आरम्भ 1945 में नहीं, 1917 में हो चुका था।

यह सच है कि लेनिन की मृत्यु और त्रोतस्की के अपदस्थ होने के बाद सोवियत विदेश नीति के अन्तर्राष्ट्रीय तेवर क्षीण हुए। परन्तु, स्टालिन ने आन्तरिक आर्थिक विकास की चुनौतियों से जूझते हुए कभी भी इस दावे को त्यागा नहीं कि

[2] देखें—Progress Publishers, *Soviet Foreign Policy* (Moscow, 1981).

[3] इस काल की प्रमुख घटनाओं के विस्तृत विश्लेषण के लिए शीत युद्ध वाला अध्याय देखें।

ख्रुश्चेवकालीन विदेश नीति बदलते लक्ष्य एव नए साधन
(1955 से 1964 तक)
(Changing objectives and New means the Khruschev Era)

जब 5 मार्च, 1953 को स्टालिन की मृत्यु हुई, तब यह अटकल लगायी जाने लगी कि अब सोवियत विदेश नीति की क्या दिशा होगी ? स्टालिन की कितनी भी निन्दा की जाये, परन्तु यह बात नही झुठलायी जा सकती कि अपने जीवन काल मे वह सोवियन सघ को एक महाशक्ति के रूप मे स्थापित कर चुके थे। हर मामले मे विशेषकर उपभोक्ता सामग्री के क्षेत्र मे, अमरीका की बराबरी न की जा सकती हो, किन्तु दानो देशो के बीच सैनिक व सामरिक दृष्टि से जोड बराबर का था। सोवियत सघ ने न केवल 'आणविक अस्त्र' हासिल कर लिये, बल्कि परमाणु अस्त्रो के निर्माण मे भी यथेष्ट प्रगति कर ली थी। दोनों महाशक्तियो के बीच 'शक्ति के पारस्परिक सतुलन' की जगह 'आतक का सन्तुलन' स्थापित हो चुका था। ग्रीस, बर्लिन कोरिया, आदि सकट-स्थलो मे स्टालिन यह स्पष्ट कर चुके थे कि वह धौंस-धमकी म आने वाले नही। पर्यवेक्षक उत्सुकता से इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थ कि स्टालिन का उत्तराधिकारी क्या उतना ही जीवट और मनोबल वाला होगा ?

स्टालिन की मृत्यु के बाद पहले दो वर्षों (1953–54) तक विदेश नीति के सन्दर्भ मे स्थिति कुछ अस्पष्ट-सी रही। इस दौरान ख्रुश्चेव, मेलेन्कोफ एव बुल्गानिन के बीच एक त्रिकोणीय सघर्ष चला, परन्तु इसका लाभ पश्चिमी देश नही उठा सके, क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध निर्वाह मे सोवियत सघ के सामूहिक-सहकारी नेतृत्व मे कोई दरार नही पडी थी। अन्तत ख्रुश्चेव प्रमुख नेता क रूप मे उभरे।

ख्रुश्चेवकालीन सोवियत विदेश नीति (1955–64) के बारे म दो बातें लगभग बराबर महत्व की हैं। इनमे एक सैद्धातिक और दूसरी व्यक्तित्व-सम्बन्धी है। अपनी स्थिति निरापद बनाने क साथ ही ख्रुश्चेव ने 'विस्टालिनीकरण' की प्रक्रिया आरम्भ कर दी। उन्होने यह दो टूक घोषणा की कि आणविक अस्त्रो के सर्वनाशक सकट को देखते हुए मानव जाति क लिए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का मार्ग ही एकमात्र विकल्प बचा रह जाता है। इससे निकलने वाला स्वाभाविक निष्कर्ष यह था कि अमरीका के साथ परस्पर विश्वास बढाने वाला सवाद आरम्भ किया जा सकता है। स्वय ख्रुश्चेव का व्यक्तित्व भदेस, मजाकिया, अनौपचारिक और बहिर्मुखी था। स्टालिन की तुलना मे ख्रुश्चेव कही अधिक सहृदय और मानवीय नजर आते थ। उनके इन व्यक्तिगत गुणो या दुबलताओ न विदश नीति के क्षेत्र म महत्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका निभायी। जब तत्कालीन अमरीकी उपराष्ट्रपति निक्सन ने सोवियत-यात्रा की तो ख्रुश्चेव क साथ 'अनियोजित परामश' ने दतात प्रक्रिया को काफी तज गति प्रदान की।

लेकिन यह सोचना गलत होगा कि शीत युद्ध क पाल को पिघलाने का काम अकल ख्रुश्चव न किया। निश्चय ही अनक एस वस्तुनिष्ठ एव एतिहासिक कारण थ, जिन्हान इस देतात प्रक्रिया को अनिवार्य बना दिया। स्टालिन क चगुल स मुक्त सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की 'नता मडली' यह साचने लगी कि आर्थिक विकास के क्षेत्र म अमरीका की बराबरी करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तनाव घटाना आवश्यक है। यदि इस समय सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी क सहयागियो का समथन ख्रुश्चव को

को आसान बनाया।

एक बात और। स्तालिन इतने लम्बे समय (तीन दशक) तक सोवियत संघ का एक छत्र निरंकुश अधिपति रहा कि वैदेशिक मामलों में उसके नीति-निर्धारण और 'दूरदर्शी ज्ञान' को चुनौती देने वाला कोई प्रतिद्वन्द्वी उभर नहीं सका। विदेश मन्त्रालय के बुद्धिजीवी और पार्टी के विशेषज्ञ अपनी जान बचाने के लिए स्तालिन के सुझाव की मुक्त कंठ से प्रशंसा को ही अपना एकमात्र उत्तरदायित्व समझते रहे। किसी के अनुमोदन की कोई आवश्यकता स्तालिन को कभी नहीं रही। इस कारण स्तालिन-काल में नीति-निर्धारक संस्थाओं और प्रक्रियाओं का घातक अवमूल्यन हुआ। स्तालिन की मृत्यु के बाद भी यथास्थिति को लौटाना-सामान्य करना संभव नहीं था, क्योंकि आन्तरिक सत्ता संघर्ष में स्तालिन के उत्तराधिकार का कोई भी प्रत्याशी सुलह की पहल कर अपने को कमजोर या देशद्रोही प्रकट नहीं करना चाहता था। 1953 में स्तालिन के निधन के बाद तीन-चार वर्ष बीतने पर ही 20वीं पार्टी कांग्रेस के अवसर पर 'विस्टालिनीकरण' (De-Stalinisation) की बात सोची जा सकी।

अनेक बार यह बात कही जाती है कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में स्तालिन मानसिक रूप से रोग-ग्रस्त और कुंठित थे तथा सोवियत संघ को 'लौह आवरण' के पीछे धकेल कर रूसियों को खुद ही अपने देश में बंदी बनाने की गलती उन्होंने की थी। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल का लौह आवरण के बारे में फुल्टन का भाषण बड़ा प्रसिद्ध है, तथापि यदि सम-सामयिक नाटकीयता से अलग कर इसका वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया जाये तो इस बात की उपेक्षा नहीं जा सकती कि इस विभाजन के लिए सोवियत संघ नहीं, बल्कि अमरीका अधिक जिम्मेदार था। शीत युद्ध की मानसिकता के प्रसार एवं मुठभेड़ की मुद्रा को लोकप्रिय बनाने के लिए स्तालिन की अपेक्षा अमरीकी विदेश मन्त्री डलेस कहीं अधिक उत्तरदायी थे।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद अमरीकी संगठन ओ० एस० एस० का रूपान्तरण गुप्तचर संस्था सी० आई० ए० में कर दिया गया और जर्मनी तथा पूर्वी यूरोप में सोवियत लाल सेना की उपस्थिति को नकारने के लिए षड्यन्त्रकारी गुप्तचरी एवं घुसपैठ का सूत्रपात किया गया। 1949 में चीन में साम्यवादियों द्वारा सत्ता ग्रहण करने के बाद अमरीका को यह लगा कि उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और भी संकटमय हुई है।

अमरीका ने यूरोप के युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिये जो मार्शल परियोजना प्रस्तावित की, उसके तहत भी सोवियत संघ के लाभान्वित होने का कोई अवसर न था। इन सबसे महत्वपूर्ण एक बात और भी थी। जापान के विरुद्ध परमाणु अस्त्रों के प्रयोग के बाद अमरीकी सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह इस नये अस्त्र पर अपना एकाधिकार बनाये रखेगी। ऐसी स्थिति में यदि स्तालिन ने अपने देश को घिरा हुआ महसूस किया और पश्चिमी शक्तियों के प्रति अपना रुख कड़ा रखा तो यह समझ में आने वाली बात है।[1]

[1] स्तालिन-कालीन सोवियत विदेश नीति के उपर्युक्त सर्वेक्षण के लिए अनेक सरल एवं प्रामाणिक पुस्तकों-वृत्तांतों का उपयोग किया गया है, जिनमें प्रमुख हैं—Issac Deutscher, '*Stalin*' (New York, 1949); '*Russia, China and the West*' (London, 1970); Andre Fontaine, '*History of the Cold War: From the Korean War to the Present*' (New York, 1970).

खतरनाक ढंग से स्थायी बनाने के लिए बर्लिन दीवार की चिनाई सोवियत नेताओं के ही इशारे पर हुई। अमरीका के गुप्तचर विमान यू-2 को गिराकर एक शिखर सम्मेलन की सम्भावनाओं को उन्हें व्यर्थ ही ध्वस्त किया। कांगो संकट के दौरान ख्रुश्चेव ने यह बात स्पष्ट कर दी कि यदि सं० रा० संघ का रवैया इसी तरह पक्षपातपूर्ण रहा तो उसे रूस से किसी भी तरह के आर्थिक व नैतिक समर्थन की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसी दौरान ख्रुश्चेव ने सं० रा० संघ के प्रशासन के लिए अनूठी 'त्रोयका' व्यवस्था सुझायी और बहुत देर तक अपनी आक्रामक आलोचना से इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को निष्क्रिय और अक्षम बना दिया।

अपने प्रतिद्वन्द्वियों के उन्मूलन तथा आलोचकों को 'मूक' करने के बाद ख्रुश्चेव के राजनयिक आचरण में दुस्साहसिकता का अंश बढ़ने लगा। किस तरह परमाणु युग के लिए जरूरी परिष्कृत सामरिक समझ के अभाव में विश्व सर्वनाश के कगार पर पहुँच सकता है, यह बात क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट के अवसर पर स्पष्ट हुई। अंततः क्यूबा संकट के समय की आत्मघाती गैर-जिम्मेदारी और रूस-चीन विग्रह को नियन्त्रित करने में असमर्थता के कारण ख्रुश्चेव को अक्टूबर, 1964 में पद त्यागना पड़ा। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि ख्रुश्चेवकालीन सोवियत विदेश नीति असफल रही या उससे सोवियत राष्ट्रीय हितों का साधन नहीं हुआ।

यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि अन्तरिक्ष में सोवियत उपग्रह स्पूतनिक को भेजकर ख्रुश्चेव ने दुनिया के सामने यह बात प्रमाणित कर दी कि सोवियत संघ राकेट विज्ञान के मामले में अमरीका से कहीं आगे है। इस उपलब्धि ने सोवियत जनता का मनोबल तो बढ़ाया ही, तीसरी दुनिया की नजरों में भी इस महाशक्ति की छवि रातों-रात तेजस्वी बना दी। इसके बाद शीत युद्धकालीन प्रचार अभियान में अमरीकी प्रभाव निरन्तर घटता गया। यह सच है कि क्यूबाई संकट के बाद ख्रुश्चेव की राजनयिक सूझ पर प्रश्न चिन्ह लग गये, तथापि स्टालिन युग की घेराबन्दी वाली मानसिकता से अपने देश को मुक्त कराने में उनका सराहनीय योगदान रहा। इस बात का भी अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि ख्रुश्चेव की शासनावधि एक तरह से 'संक्रमण काल' थी। स्टालिन का लम्बा प्रशासन साम्यवादी प्रणाली में एक तरह का 'अप्राकृतिक व्यवधान' था। द्वितीय विश्व युद्ध ने इस और भी ज्यादा अटपटा बना दिया। सोवियत विदेश नीति में आदर्श एवं यथार्थ, राष्ट्र हित एवं विचारधारा का द्वन्द्व, इन तीन दशकों से निरन्तर चलता रहा था। ऐसा सोचना तर्कसंगत नहीं कि ख्रुश्चेव एक दशक में ही इन सारी उलझी गुत्थियों को सुलझा लेते। उन्होंने स्थिति को सामान्य बनाने की प्रक्रिया का सूत्रपात किया। भले ही ख्रुश्चेव पर अति-सरलीकरण का आरोप लगाया जा सकता हो, किन्तु उनकी सदाशयता पर सन्देह करना अनुचित है। यह बात नहीं भुलायी जा सकती कि हिन्द चीन का संकट हो या पश्चिम एशिया का मामला या फिर परमाणु शस्त्रीकरण व परीक्षण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि, ख्रुश्चेव ने संकट के कगार पर खड़े रहते हुए राजनयिक सन्तुलन बनाये रखने के उद्यम में कोई कसर नहीं छोड़ी।[1]

[1] ख्रुश्चेवकालीन विदेश नीति के लिए—Issac Deutscher, *Russia, China and the West* (London, 1970), K. Anatoliev, *Modern Diplomacy* (Moscow, 1972), and Arther M. Schlesinger, Jr., *A Thousand Days* (Boston, 1965)

प्राप्त नही होता तो उन्होंने इस दिशा मे कोई सार्थक पहल नही की होती। ख्रुश्चेव ने यह दूरदर्शिता भी दर्शायी कि उन्होंने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के पक्ष मे अन्तर्राष्ट्रीय जनमत बनाने के लिए तीसरी दुनिया के अफ्रो-एशियाई देशो को आरम्भ से अपने साथ किया। स्तालिन अपने जीवन काल मे गुट निरपेक्ष देशो को सन्देह की दृष्टि से देखते रहे थे। सोवियत विश्वकोश मे नेहरू और गाधी की निन्दा-आलोचना तक की गयी थी। इसके विपरीत ख्रुश्चेव ने भारत के प्रति बेहिचक मैत्री का हाथ बढाया। यह कदम सिर्फ शब्दाडम्बर तक सीमित नही रहा, बल्कि बडे पैमाने पर आर्थिक व तकनीकी सहायता (भिलाई, बोकारो आदि) तथा कश्मीर के मामले में भारत के समर्थन तक विस्तृत हुआ। इसी तरह मिस्र मे नासिर की 'प्रगतिशीलता' को मैत्रीपूर्ण प्रोत्साहन देकर ख्रुश्चेव ने सोवियत सघ के नये बदले हुये उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद विरोधी स्वरूप का प्रचार किया। इस तरह जमीन तैयार करने के बाद ख्रुश्चेव ने अमरीका के साथ सवाद आरम्भ करने की पेशकश अधिक विश्वसनीय बनायी।

तथापि ख्रुश्चेव ने ऐसा कोई कदम नही उठाया, जिससे प्रतिपक्षी देश को सोवियत सघ की दुर्बलता का सकेत मिल सके। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर बल देते हुए ख्रुश्चेव ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रभाव क्षेत्र का एक वह हिस्सा (पूर्वी यूरोप के 'उपग्रह देशों' वाला हिस्सा) भी है, जिसमे सोवियत सघ किसी की दखलदाजी बर्दाश्त नही करेगा। हगरी और पोलैंड मे पार्टी व सरकार के विरुद्ध जनाक्रोश का बर्बर दमन सोवियत सघ की इच्छानुसार ही हुआ। इतना ही नहीं, वारसा सन्धि सगठन के सदस्य देशो द्वारा नाटो, सिएटो और सैंटो की परियोजनाओ व क्रियाकलापों का बेहिचक डटकर मुकाबला निरन्तर किया जाता रहा।

1956 में बीसवी पार्टी कांग्रेस के बाद सोवियत विदेश नीति में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन सोवियत सघ तथा चीन के बीच विवाद का सतह पर आना था।[1] इसके अनेक जटिल-सश्लिष्ट कारण थे। चीन के माओ तथा कुछ अन्य कट्टर साम्यवादी नेताओं का मानना था कि 'विस्तालिनीकरण' की प्रक्रिया बिना साम्यवादी खेमे मे आपसी परामर्श के नही की जानी चाहिए थी। इससे एक तरह से बहुध्रुवीकरण (Multi-polarisation) की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ। सोवियत-चीन विग्रह ने अमरीका व रूस के बीच परस्पर विरोध को प्रतिस्पर्धी सहकार (Adversary Partnership) मे बदलने की प्रेरणा दी। यह उल्लेखनीय है कि इस समय तक चीन के पास आणविक अस्त्र नही थे और चीनी नेताओ को लगा कि सोवियत नेता अपने राष्ट्रीय हित के सामने समाजवादी खेमे के सामूहिक हितों की बलि देने को तैयार थे। बाद के कुछ वर्षों मे माओ ने तीन विश्व (Three Worlds) वाली जो स्थापना प्रस्तुत की और लिन पियाओ ने विश्व के शहरों को गावो द्वारा घेरने की जो छापामार रणनीति सुझायी, वे भी ख्रुश्चेव की विदेश नीति सम्बन्धी परिवर्तनो से अनिवार्यतः जुड़ी थी।

ख्रुश्चेव की विदेश नीति का एक और पक्ष उल्लेखनीय है। जहाँ एक ओर रूसी नेता समझदारी-सुलह की बात करते थे, वहीं कभी-कभार अप्रत्याशित ढग से उनका रुख-रवैया अड़ियल टट्टू वाला हो जाता था। कुछ चुनिन्दा उदाहरणो मे यह बात स्पष्ट हो जायेगी। पश्चिमी और पूर्वी यूरोप के विभाजन की ओर भी

[1] रूस, चीन विवाद का विस्तृत विश्लेषण पुस्तक मे अन्यत्र किया गया है।

अधिकांश देशों के साथ सोवियत संघ के व्यापक और घनिष्ठ आर्थिक एवं तकनीकी सहकार को मजबूत आधार मिला था, तो कुछ अन्य देशों के साथ ये सम्बन्ध सामरिक हितों के संयोग पर नियोजित होते थे। ऐसा कहा जा सकता है कि ब्रेझनेव के काल में सोवियत विदेश नीति नयेपन के लिए नहीं, बल्कि 'प्रवृत्तियों की परिणति' के लिए उल्लेखनीय समझी जानी चाहिए।

ब्रेझनेव की सबसे बड़ी उपलब्धि 'देतान्त' और साल्ट-एक समझौते पर हस्ताक्षर मानी जाती है। आगे चलकर इन 'समझौतों' (Compromises) के आधार पर हेलसिंकी समझौता सम्भव हुआ। स्पष्ट है कि इनमें से कुछ भी ब्रेझनेव की अपनी मौलिक सूझ या प्रयत्न पर आधारित नहीं था। वियतनाम युद्ध से त्रस्त और अपने सहयोगी राष्ट्रों से असन्तुष्ट अमरीका, चीन रूस विवाद का लाभ उठाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को कम संकटग्रस्त बनाना चाहता था। इन महत्वपूर्ण राजनयिक परिवर्तनों के लिए बौद्धिक परिवेश वातावरण अमरीका में ही तैयार किया गया था।

जॉन कैनेथ गॉलब्रेथ ने 'समृद्ध समाज' (The Affluent Society) पुस्तक में सयोग सिद्धान्त (Convergence Thesis) का प्रतिपादन किया है। इसमें कहा गया है कि औद्योगिकीकरण तथा तकनीकी प्रगति की एक सीमा के बाद सभी व्यवस्थाओं का स्वरूप एक जैसा हो जाता है, चाहे वे समाजवादी हों या पूँजीवादी पार्टी और नौकरशाही में एक 'टैक्नोक्रेट' महत्वपूर्ण पदों पर पहुँचते हैं, जिनका नजरिया एक-सा होता है। इसी तरह प्रसिद्ध 'क्रेमलिन शास्त्री' इसाक डोयशर ने सुझाया है कि बोल्शेविक क्रान्ति के 50 वर्ष बाद सोवियत जनता अब और त्याग बलिदान के लिए प्रस्तुत नहीं तथा वह युद्ध की मानसिकता त्यागने के लिए अपने नेताओं पर दबाव डालने लगी थी। अनेक प्रसिद्ध सोवियत कलाकार, खिलाड़ी व लेखक स्वतन्त्रता की तलाश में पश्चिमी देशों में शरणार्थी बन गये और सोवियत व्यवस्था के भी रोगग्रस्त होने के लक्षण दिखायी देने लगे। जहाँ एक ओर पूँजीवादी पश्चिम ने निरंकुश प्रतिद्वन्द्विता का मार्ग त्याग कर जन-कल्याणकारी मुद्रा अपनायी, वहीं सोवियत संघ ने व्यक्तिगत उद्यम को प्रोत्साहित करने के लिए लाभ, बोनस आदि का मार्ग अपनाया। इसके बाद अमरीका और सोवियत संघ द्वारा एक-दूसरे को विरोधी के रूप में देखना या शत्रु के रूप में प्रचारित करना कठिन हो गया। इस बात को भी अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि इन्हीं वर्षों में उग्र माओवादी सांस्कृतिक क्रान्ति के ज्वार के कारण विश्व भर में छापामारी रणनीति पर आधारित जन मुक्ति संघर्ष चल रहे थे। रूस चीन विवाद के चलते सोवियत संघ ने इनको समर्थन नहीं दिया। इनमें से अनेक गृह युद्धों में निशाना सोवियत संघ पर आश्रित शासक थे। इसने भी अमरीका और सोवियत संघ के बीच 'सहकार' सहज बनाया।

इस सर्वेक्षण से यह नहीं समझना चाहिए कि ब्रेझनेव के शासन काल में सोवियत विदेश नीति के मार्ग में कोई अड़चन नहीं आयी या कि अमरीका के साथ संवाद अनवरत चलता रहा। ऊपर कही गयी अधिकांश बातें ब्रेझनेव युग के पूर्वार्द्ध पर ही सटीक रूप से लागू होती हैं। उत्तरार्द्ध में एक खास तरह की यथास्थिति पोषक जड़ता और प्रमाद (आलस्य) को जन्म देने वाला अहंकार ब्रेझनेव के राजनयिक आचरण में देखा जा सकता है। इसने कई जगह मुठभेड़ के लिए उत्तेजक दुस्साहसिक क्रिया-कलाप को जन्म दिया। इसकी पहली मिसाल 1968 में ढूँढी जा

ब्रेझनेवकालीन विदेश नीति : देतान्त का यथार्थ (1964-1982)
(Reality of Detente : The Brezhnev Era)

जिस तरह स्टालिन की मृत्यु के बाद कुछ वर्षों तक शासन पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में ख्रुश्चेव को कुछ समय लगा था और अन्तराल के कुछ वर्षों मे सोवियत विदेश नीति मे कोई विशेष या मौलिक परिवर्तन नही किया गया, उसी तरह ख्रुश्चेव को अपदस्थ करने के बाद ब्रेझनेव ने भी संयम से काम लिया। ब्रेझनेव न तो स्टालिन की तरह निर्मम अनुशासक थे और न ही उनका व्यक्तित्व ख्रुश्चेव की तरह मनोरंजक-आकर्षक था। स्टालिन के बारे में और कुछ भी कहा जाये, परन्तु वह बोल्शेविक क्रान्ति के अधिकारियों की पहली पीढ़ी के सदस्य थे और लेनिन के 'अन्यतम सहयोगी' होने के कारण सैद्धान्तिक विश्लेषण का महत्व समझते थे। स्टालिन काल मे सोवियत विदेश नीति के किसी भी पहलू का निर्धारण-नियोजन मार्क्सवादी व लेनिनवादी स्थापनाओ और परिकल्पनाओं के सन्दर्भ मे ही किया जाता था। स्टालिन की अपनी बौद्धिक क्षमता कितनी ही सीमित क्यो न रही हो, किन्तु उन्होने सैद्धान्तिक कट्टरता के हठ को कभी नही छोड़ा। बीसवी पार्टी कांग्रेस के बाद ख्रुश्चेव ने विस्टालिनीकरण की जो प्रक्रिया आरम्भ की, वह भी सैद्धान्तिक संशोधनवाद (Ideological Revisionism) ही थी। जब ब्रेझनेव सोवियत संघ के भाग्य-विधाता बने, तब तक यह स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी थी कि मूल, संशोधित या परिष्कृत सैद्धान्तिक स्थापनाएँ क्या है? इनको लेकर आन्तरिक या वैदेशिक मामलों मे विकल्पो के चुनाव के विषय मे बहस करने की गुंजाइश नही बची थी।

ब्रेझनेव काल मे सोवियत संघ किसी भी तरह की हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित नही रह गया था। भले ही उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन व जीवन-यापन के स्तर की तुलना कर अमरीकी अपनी पीठ थपथपाते रहे, किन्तु रूसियो को इससे कोई परेशानी नही हुई, क्योकि वे वियतनामी दलदल मे फँसे अमरीकी हाथी की दुर्दशा देखकर सन्तुष्ट हो सकते थे। 1960 के दशक मे कई ऐसे लक्षण प्रकट हुए, जिनसे लगता था कि अमरीकी समाज रोगग्रस्त है और अमरीकी व्यवस्था चरमराने लगी है। अमरीका के कई शहरो में अश्वेत साम्प्रदायिक हिंसा का विस्फोट और बढ़ती अपराध-वृत्ति, नशाखोरी, छात्र असन्तोष आदि इसके उदाहरण थे।

यह सच है कि सोवियत-चीन विग्रह के कारण साम्यवादी खेमे मे दरारें पड़ गयी थी, परन्तु ऐसा नही था कि इसका फायदा अमरीका को हुआ हो। पश्चिमी पूँजीवादी शिविर मे भी अमरीकी नेतृत्व के प्रति असन्तोष स्पष्ट था। प्रारम्भ मे इसको मुखर करने वाले फ्रांस के राष्ट्रपति देगॉल थे। परन्तु यूरोपीय एकता का भाव बढ़ने के साथ आडेनावर, विली ब्राट (पश्चिमी जर्मनी) जैसे लोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनय मे महत्वपूर्ण बन गये। द्विध्रुवीय (Bi-polar) विश्व के बहु-ध्रुवीय (Multi-polar) जगत में परिवर्तित होने का जिक्र अन्यत्र किया जा चुका है। यहाँ इसके उल्लेख का अभिप्राय: इतना भर है कि यह स्पष्ट किया जा सके कि स्टालिन और ख्रुश्चेव की तुलना मे ब्रेझनेव का काम कितना आसान था।

इसी तरह तीसरी दुनिया के अफ्रो-एशियाई देशो के साथ सोवियत संघ के सम्बन्धों की नीव ख्रुश्चेव के काल मे सन्तोषप्रद ढंग से रखी जा चुकी थी। इनमें से

ब्रेझनेव के बाद सम-सामयिक सोवियत विदेश नीति : परम्परा और परिवर्तन (1982 से आज तक)
(Contemporary Soviet Foreign Policy after Brezhnev)

आधुनिक सोवियत संघ के इतिहास मे स्टालिन के बाद ब्रेझनेव ने ही इतने लम्बे समय तक शासन किया। देश की आन्तरिक और विदेश नीतियो पर उनकी गहरी छाप छूटना स्वाभाविक था। विडम्बना तो यह है कि विस्टालिनीकरण के दौर मे जिस व्यक्ति-पूजा और उत्पीडक-अमानवीय नौकरशाही की बेडियाँ तोडने की कोशिश की गयी, वह ब्रेझनेव के काल मे फिर से बलवान हो गयी। ब्रेझनेव के जीवन काल के अन्तिम वर्षों मे सोवियत व्यवस्था पर लाल फीताशाही, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और जडता व शिथिलता के आरोप निरन्तर लगाये जाते रहे। इसी कारण विद्वान यह अटकल लगाने लगे कि क्या ब्रेझनेव की मृत्यु के बाद भी स्टालिन युग के अन्त की तरह सोवियत विदेश नीति नाटकीय मोड़ लेगी ? जिन परिस्थितियो मे ब्रेझनेव के उत्तराधिकारी का 'निर्वाचन' हुआ, उससे भी ऐसी आशा प्रबल हुई। नवम्बर, 1982 मे ब्रेझनेव की मृत्यु के बाद यूरी आद्रोपोव ने सोवियत सघ के शासन की बागडोर सँभाली।

यूरी आद्रोपोव सोवियत गुप्तचर सेवा के० जी० बी० के शीर्षस्थ अफसर रह चुके थे, और भ्रष्टाचार के कट्टर विरोधी के रूप मे जाने जाते थे। सत्ता ग्रहण करने के साथ ही उन्होने ब्रेझनेव के भ्रष्ट रिश्तेदारो की धरपकड आरम्भ कर दी और पार्टी के सदस्यो को यह सदेश दिया कि वे जनसाधारण के शासक नही, बल्कि सेवक हैं। स्वय आद्रोपोव को अग्रेजी का अच्छा ज्ञान था और पश्चिमी यानि अमरीकी खुली जीवन यापन शैली के प्रति उनका झुकाव भी चर्चा का विषय बना। अभी पश्चिमी विद्वान यही आंकने मे लगे थे कि आद्रोपोव किस मिट्टी के बने है और अपने सामने की चुनौतियो से कैसे जूझेंगे, उनके गम्भीर रूप से रोगग्रस्त होने के समाचार प्रमाणिक स्रोतो से मिले। लगभग सवा वर्ष के शासन-काल मे अन्तिम सात-आठ माह तक आद्रोपोव अदृश्य ही रहे। पहले जिसे वाइरस ज्वर कहा जाता था, वह अन्तत. गुर्दों का बेकाम होना सिद्ध हुआ और बिना किसी महत्वपूर्ण योगदान के आद्रोपोव ने इस दुनिया से विदा ली।

यहाँ सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत खुलेपन और गुप्तचरी की अपनी विशेषज्ञता के कारण आद्रोपोव व्यर्थ ही त्रस्त या चिन्तित नही रहे और न ही उन्होने कोई दुस्साहसिक कदम उठाया। उनके कार्यकाल मे सोवियत सघ ने एक कोरियाई नागरिक विमान को मार गिराया। इससे थोडा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव जरूर पैदा हुआ, परन्तु दो महाशक्तियो के बीच सीधे टकराव की स्थिति नहीं आयी। आद्रोपोव ने लीबिया के साथ सवाद आरम्भ कर और सीरिया के साथ सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न कर इस क्षेत्र मे ब्रेझनेव युग की दुर्बलता को दूर करने का प्रयत्न किया।

9 फरवरी, 1984 मे आद्रोपोव के निधन के बाद चेरनेन्को सोवियत राष्ट्रपति बने। मगर वह भी एक वर्ष तक ही जिन्दा रहे। आद्रोपोव व चेरनेन्को के अत्यन्त छोटे शासन-काल के कारण इन्हे 'अदृश्य राष्ट्रपति' या 'सक्रमणकालीन नेता' की

सकती है, जब सोवियत सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप किया और पूर्वी यूरोप के उपग्रह राज्यों की सीमित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बाद के वर्षों में पोलैण्ड का घटनाक्रम इस बात को उजागर करता है कि ब्रेझनेव के सामने देतान्त की सीमाएँ स्पष्ट थी। आंद्रेई सखारोव की नजरबन्दी और मास्को से उनका निष्कासन हो या पोलैण्ड के 'सोलिडेरिटी' संगठन का दमन, ब्रेझनेव हेलसिंकी समझौते का अर्थ बहुत विस्तार से लागू नहीं करते थे। बाद के वर्षों में सोवियत संघ ने न केवल शिविरानुचर देशों, बल्कि महत्वपूर्ण पड़ौसी गुट निरपेक्ष राष्ट्रों की आन्तरिक स्थिति में हस्तक्षेप का लोभ संवरण नहीं किया। दिसम्बर, 1979 में अफगानिस्तान की त्रासदी इसी से जन्मी।

ब्रेझनेव के काल में हिन्द महासागर में सोवियत नौसैनिक उपस्थिति बढ़ी और छोटे-छोटे अन्तरालों के बावजूद परिष्कृत परमाणु परीक्षणों की शृंखला जारी रही। बीच-बीच में सामूहिक एशियाई सुरक्षा योजना की चर्चा कर ब्रेझनेव अपनी महत्वाकांक्षा मुखर करते रहे। इस योजना में सोवियत संघ की अगुवाई स्वीकार करते हुए ईरान से लेकर दक्षिणी प्रशान्त प्रदेश के द्वीप समूह को एक छतरी के नीचे आने का आमन्त्रण दिया था। भले ही यह स्पष्ट नहीं किया गया कि यह योजना सैनिक संगठन से किस तरह और कितनी भिन्न होगी या इसका आर्थिक व सांस्कृतिक पक्ष काम कर रहे क्षेत्रीय संगठनों के पूरक होंगे या प्रतिद्वन्द्वी, किन्तु इस सुझाव ने अमरीकियों को चौकन्ना कर दिया। भारत और इण्डोनेशिया की ओर से प्रत्याशित प्रतिक्रिया के अभाव में इस विषय में ज्यादा प्रगति नहीं हो सकी। ब्रेझनेव ने कम्पूचिया में 'वियतनामी हस्तक्षेप' को (जनवरी, 1979) सैनिक तथा राजनयिक समर्थन देकर इस क्षेत्र में राजनयिक सन्तुलन बदलने का प्रयत्न किया और यह दर्शाया कि सोवियत संघ को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर 'शक्ति निक्षेप' (Projection of Power) में कोई हिचकिचाहट नहीं।

ब्रेझनेव के अधीन सोवियत संघ को सिर्फ पश्चिम एशियाई क्षेत्र में पीछे हटना पड़ा। मिस्र ने सादात के जीवन-काल में ही सोवियत सलाहकारों को वापस स्वदेश भिजवा दिया था और कैम्प डेविड वार्ताओं के दौरान पश्चिम एशियाई संकट के समाधान में सोवियत संघ की भागीदारी की निरर्थकता दर्शाने में अमरीका सफल हुआ। ईरान में शाह के पतन और अमरीकी बन्धकों वाले संकट का कोई लाभ सोवियत संघ नहीं उठा सका। शायद इनका एक बड़ा कारण यह था कि अपने जीवन के अन्तिम दो-तीन वर्षों में ब्रेझनेव गम्भीर रूप से रोगग्रस्त थे और वैदेशिक मामलों में तेजी से बदलते घटनाक्रम से समुचित ढंग से जूझने में असमर्थ थे।[1]

[1] ब्रेझनेवकालीन सोवियत विदेश नीति को भली-भाँति समझने के लिए उनके प्रमुख विपक्षियों के संस्मरण अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें प्रमुख हैं—Henry Kissinger, *White House Years* (Boston, 1979); *Years of Upheaval* (Boston, 1982); Richard Nixon, *The Memories of Richard Nixon* (New York, 1978), Jimmy Carter, *Keeping Faith : Memoirs of a President* (London, 1982); Alexander M. Haig Jr, *Caveat : Realism, Reagan and Foreign Policy* (London, 1984). वियतनाम प्रकरण के विस्तृत, वस्तुनिष्ठ और मर्मस्पर्शी विश्लेषण और सोवियत विदेश नीति के गढ़ों को समझने के लिए देखें—David Halberstam, *The Best and the Brighest* (New York, 1972), सोवियत पक्ष के अध्ययन के लिए देखें—Progress Publishers, *Soviet Foreign Policy, 1945–60*, Vol 2 (Moscow, 1981).

रक्षा की है। बहुत महानुभूति रखने वाला समालोचक यह कह सकता है कि गोर्बाच्योव का प्रयत्न बदले आतंरिक और अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे सोवियत राष्ट्रीय हितो को पुनर्परिभाषित करने का रहा है।

क्रेमलिन मे असफल तख्तापलट एव सोवियत विदेश नीति

गोर्बाच्योव को अपदस्थ करने के उद्देश्य से एक असफल तख्तापलट का षडयत्र कट्टरपथी सोवियत कम्युनिस्टो ने 19 अगस्त, 1991 को रचा। मगर उनके मसूबे व्यापक जन असतोष तथा बोरिस येल्तसिन की दिलेरी के कारण सफल नही हो सके और गोर्बाच्योव वापस मास्को लौट आये। पर यह नही कहा जा सकता कि यथा-स्थिति तख्तापलट के पहले जैसी हो गई है। इस घटनाक्रम का प्रभाव सोवियत सघ की आतरिक राजनीति, विदेश नीति, अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर पडे बिना नही रह सकता।

सबसे पहली बात सोवियत सघ की आतरिक राजनीति मे शक्ति समीकरणो के बदलने की है। आज दुनिया भर की नजरें गोर्बाच्योव पर नही, बल्कि येल्तसिन पर टिकी हैं। कई गणराज्यो मे कम्युनिस्ट पार्टी को अवैध घोषित कर दिया गया है, और कई मे इसकी गतिविधियो पर रोक लगा दी गई है, जिससे इसकी अन्त्येष्टि दूर नही। बहुत वर्ष पहले ही सर्वहारा वर्ग की हितैषी होने की दावेदारी सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी खो चुकी थी। श्रमिक सगठनो और पार्टी के हितो का टकराव भी सामने आने लगा था। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की पहचान एक विशेषाधिकार सम्पन्न क्लब क रूप मे बन गई थी। यह पार्टी सर्वहारा का तो छोडिये, अपनी जान बचाने के लिए सेना और के० जी० बी० पर निर्भर हो गई थी। केन्द्रीय नियोजन की घोर असफलता ने उत्पादन को ठप्प कर दिया था और सोवियत समाज अभाव-ग्रस्त था। सीमावर्ती गणराज्यो मे जनजातीय असतोष विस्फोटक ढग से मुखर हो रहा था। महाशक्ति के रूप मे सोवियत सघ का क्षय गोर्बाच्योव की नीतियो के कारण नहीं, बल्कि इन ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के कारण हुआ है। गोर्बाच्योव की नीतिया इनके जोरदार दबाव मे ही निर्धारित की गई है। यदि पूर्वी यूरोप के उपग्रह राज्य आज उत्साह के साथ पश्चिमी यूरोप के साथ जुडने को उतावले हो रहे हैं तो यह गोर्बाच्योव की कमजोरी के कारण नही, बल्कि सोवियत सघ की कमजोरी के कारण है।

आज स्थिति यह है कि अधिकाश सोवियत गणराज्य अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर चुके हैं। यह सोचना तर्क सगत है कि आने वाले वर्षों मे सोवियत सघ रूसी गणराज्य का पर्याय बना रह जायेगा। परमाणु प्रक्षेपास्त्रो के सोवियत भू-भाग म वितरण को लेकर हल्का अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा हो सकता है, परन्तु ऐसा नही कि जिसका समाधान न ढूंढा जा सके। रूसियो की नई पीढी यह सोचती है कि महाशक्ति बनने की नासमझ महत्वकाक्षा ने ही सोवियत सघ को आर्थिक रूप से क्षयग्रस्त किया है और नाजायज तानाशाही को बढावा दिया है। खुशहाली के लिए आर्थिक नियोजन को बदलना होगा। अगस्त, 1991 मे सोवियत सघ मे तख्तापलट व उसके बाद क सकट के दौरान अमरीकी और पश्चिमी देशो की प्रतिक्रिया मे यह बात झलकती है कि सोवियत सघ को एक महत्वपूर्ण इकाई तो माना जायगा, परन्तु निर्णायक घटक या बराबरी की महाशक्ति नहीं।

सज़ा दी गयी है। 10 मार्च, 1985 को चेरनेन्को की मृत्यु के बाद सोवियत संघ की बागडोर सँभाली --गोर्बाच्योव ने। उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि वह खुलेपन व भ्रष्टाचार-विरोध की नीति बरकरार रखेंगे। गोर्बाच्योव ने अनूठे आत्म विश्वास के साथ सोवियत व्यवस्था के सभी जिम्मेदार पद सँभाल लिये और वैहिचक 'ग्लासनोस्त' (खुलेपन से राजनीतिक व्यवहार) व 'पेरेस्त्रोयका' (पुनर्रचना) का प्रचार किया। निश्चय ही, उन्होंने अपनी विश्वसनीयता बनाये रखने के लिए बड़ा जोखिम उठाया। उन्होंने आन्द्रेई सखारोव जैसे प्रखर आलोचक को रिहा करने का खतरा उठाया और स्वयं एकपक्षीय ढंग से परमाणु परीक्षणों का त्याग किया।

इसके साथ-साथ गोर्बाच्योव ने सोवियत संघ की नई आधुनिक छवि का जोर-शोर से प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने अपनी खूबसूरत पत्नी रईसा के साथ कई अन्तर्राष्ट्रीय यात्राएँ की और वस्तुनिष्ठ ढंग से अपने देश की कमजोरियों का विश्लेषण आरम्भ किया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने बिना सोचे-समझे अमरीका की हिमायत आरम्भ की। गोर्बाच्योव अमरीकी राष्ट्रपति रीगन की अन्तरिक्ष युद्ध परियोजना की जबरदस्त आलोचना करते रहे। उन्होंने जेनेवा में शिखर सम्मेलन के वक्त यह बात भलीभाँति प्रमाणित की कि वह जरूरत पड़ने पर अद्भुत कौशल के साथ ऐसी पहल कर सकते हैं, जिससे प्रतिपक्षी किंकर्त्तव्यविमूढ़ रह जायें। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय जन सम्पर्क अभियान में इस साम्यवादी नेता ने पेशेवर रीगन को कहीं पीछे छोड़ दिया।

जब गोर्बाच्योव ने सत्ता ग्रहण कर 'पेरेस्त्रोयका' व 'ग्लासनोस्त' वाली पहल की थी तो लंदन से प्रकाशित होने वाली साप्ताहिक पत्रिका 'इकोनोमिस्ट' ने एक रोचक व विचारोत्तेजक टिप्पणी की थी। इस सम्पादकीय अग्रलेख का लुब्बोलुबाब यह था कि गोर्बाच्योव की सफलता में ही उनकी असफलता के बीज छिपे हुए हैं। खुलेपन और सुधारों में यह जोखिम था कि सोवियत साम्राज्य का विघटन टाला नहीं जा सकता। पिछले दो-तीन साल का घटनाक्रम सोवियत संघ को बेरहमी से इस परिणति की ओर ले जाता रहा है। सोवियत गणराज्यों की बगावत, निरंतर बिगड़ती आर्थिक स्थिति, यूरोप के कायाकल्प और पूर्वी जर्मनी से सोवियत सेना की वापसी ने सोवियत संघ की अंतर्राष्ट्रीय पहचान को बिलकुल बदल दिया है। इसके अनेक दर्दनाक उदाहरण पिछले दिनों देखने को मिले। पहले रूमानिया, फिर पूर्वी जर्मनी और हाल में खाड़ी युद्ध में संकट के दौरान इराक के संधि-मित्र होने के बावजूद उसकी (इराक की) सहायता करने में निपट असमर्थता के कारण सोवियत संघ का अपमानजनक अवमूल्यन हुआ।

आज अटकलें यह नहीं लगायी जाती की गोर्बाच्योव कितने दिन गद्दी पर बने रहेंगे, बल्कि इस बात का विश्लेषण जारी है कि सोवियत संघ का वर्तमान भू-राजनीतिक रूप और स्वरूप कितने दिन तक बरकरार रहेगा? मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और साम्यवादी व्यवस्था की असफलता-अप्रासंगिकता ने सोवियत संघ के भविष्य के बारे में कई प्रश्न जड़ दिये हैं। विडम्बना यह है कि जहां इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय तनाव घटाने में गोर्बाच्योव की भूमिका अभूतपूर्व रही है, वहीं यह बात निर्विवाद नहीं कि गोर्बाच्योव के राजनयिक प्रयासों में आन्तरिक सुधारों ने सोवियत जीवन में बेहतरी को निरापद बनाया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि गोर्बाच्योव की विदेश नीति ने पारम्परिक सोवियत हितों की

राष्ट्रीय अहंकार और विदेशियों के प्रति तिरस्कार के अतिरिक्त चीनी विदेश नीति की दो और प्रमुख विशेषताएँ हैं। एक, ऐतिहासिक युग में चीनी सैनिक शक्ति के वृहत्तम विस्तार को चीनी अपनी भौगोलिक सीमा के रूप में परिभाषित करते हैं और इस खोई हुई जमीन को वापस पाना उनकी विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य है। इसी कारण सोवियत संघ और भारत के साथ चीन के सीमा विवाद विस्फोटक बने हैं। इसके साथ जुड़ा दूसरा पहलू विदेशों में रहने वाले चीनी वंशजों (प्रवासी चीनी) का है। इन्हें चीन अपना नागरिक मानता है और इनके हित रक्षण की जिम्मेदारी स्वीकार करता है। मलयेशिया, इण्डोनेशिया, बर्मा जैसे देशों के साथ चीनी सम्बन्धों में तनाव इसके कारण घटता-बढ़ता रहा है। इसके अलावा औपनिवेशिक काल में हांगकांग, मकाऊ जैसे स्थानों को चीन ने गँवाया था। उन पर अपना अधिकार फिर से करने की इच्छा भी जनवादी चीन में बलवती रही है।

इस तरह की, परन्तु कई मामलों में दूसरे भिन्न समस्या ताइवान की है। जब चीनी भूमि पर साम्यवादियों ने कब्जा कर लिया तो चाग काई शेक ने पलायन कर ताइवान में शरण ली थी। यहाँ समस्या सिर्फ खोये भू-भाग को वापस हासिल करने की नहीं, बल्कि प्रतिद्वन्द्वी की चुनौती को नकार कर अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करने की भी थी। लगभग पहले दस वर्षों तक (1949 से 1957–58 तक) ताइवान जनवादी चीन के लिए सैनिक जोखिम बना रहा। क्वेमोए और मात्सू की माओवादी ने एक बार विश्व को आणविक युद्ध के कगार तक पहुँचा दिया था।

इस बात पर भी जोर दिया जाना आवश्यक है कि क्रान्तिकारी चीन ने अपने वैदेशिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पारम्परिक साधनों के अभाव में नये राजनयिक उपकरणों का इस्तेमाल आरम्भ किया। अपने अनुभव से सन्तुष्ट चीनियों ने अफ्रो-एशिया के वंचित-उत्पीड़ित समाजों में छापामार रणनीति पर आधारित जन-मुक्ति समर, तथा आर्थिक विकास और सामाजिक पुनर्निर्माण के माओवादी विकल्प का प्रचार किया। यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि जहाँ मार्क्सवादी-लेनिनवादी स्थापनाएँ औद्योगिक मजदूरों के क्रियाकलाप पर टिकी हैं। माओ का चिन्तन एशियाई देशों कृषकों पर केन्द्रित होने के कारण अधिक सटीक जान पड़ता था। 'आदर्श' और 'व्यवहार' का सन्तुलन बिठाते हुए माओ ने सोवियत क्रान्ति की सफलता के बाद के दौर की तरह औपचारिक राजनय के स्थान पर जनवादी, लोकप्रिय और गैर-सरकारी सम्पर्कों का सहारा लिया। 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' वाला दौर इसी का उदाहरण है।

चीन की विदेश नीति का अध्ययन करते समय 20वीं शताब्दी में सोवियत विदेश नीति का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। दोनों जगह एक पुराने साम्राज्य का रूपान्तरण एक क्रान्तिकारी व्यवस्था में हुआ, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि उन देशों के राष्ट्रीय हित बिल्कुल बदल गये। सैद्धान्तिक कट्टरता और राष्ट्र हित, परम्परा एवं परिवर्तन के सन्तुलन के साथ-साथ व्यक्ति विशेष की विचारधारा का विदेश नीति से सम्बन्धित समस्या पर प्रभाव दोनों जगह समान रूप से देखने को मिलता है। इसके अलावा एक और समानता है। अक्सर यह कहा जाता है कि सोवियत संघ और चीन अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी के बागी सदस्य हैं जिनका आचरण अपवाद-स्वरूप ही होता है। यदि वस्तुनिष्ठ ढंग से देखें तो यह बात मानने

चौदहवाँ अध्याय

साम्यवादी चीन की विदेश नीति

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सबसे महत्वपूर्ण विषयों में एक जनवादी चीन की विदेश नीति रही है। चीन संसार की सबसे बड़ी आबादी वाला देश है। प्राचीनतम सभ्यताओं में एक सभ्यता इस क्षेत्र में जन्मी और विकसित हुई है। सदियों तक एक बड़ी शक्ति के रूप में चीनी साम्राज्य का प्रभाव क्षेत्र रहा है। सुदूर पूर्व में कोरिया व जापान से लेकर पश्चिम में मध्य एशिया (Central Asia) की आधुनिक सोवियत संघ की सरहद तक, उत्तर में मंगोलिया से लेकर दक्षिण में दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीप समूहों तक चीनी प्रभुत्व घटता-बढ़ता रहा है। यह सच है कि 19वीं शताब्दी तक यूरोपीय औपनिवेशिक विस्तार के दौर में चीनी शक्ति का ह्रास हो चुका था और चीनी समाज कुरीतियों-कुप्रथाओं से रोग-ग्रस्त था। तब भी अन्य एशियाई देशों की तरह विराट भौगोलिक विस्तार के कारण उसे पूरी तरह कभी गुलाम नहीं बनाया जा सका। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मानहानि और तिरस्कार के बावजूद उसकी एक हस्ती बची रही। इसी कारण, चीनी विदेश नीति का अहंकारी राष्ट्र प्रेम, विदेशियों के प्रति तिरस्कार तथा अपने को विश्व राजनीति का केन्द्र समझने वाला स्वर बचा रहा।

बीसवीं शताब्दी में पहले दशक से ही चीन में क्रान्तिकारी हलचल आरम्भ हुई। यह घटनाक्रम साम्यवादियों के प्रभावशाली होने के काफी समय पहले आरम्भ हो गया। सन यात सेन की कुमिनतांग पार्टी की स्थापना, 1911 की क्रान्ति आदि इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। गणराज्य की स्थापना के बाद गृह युद्ध का चरण आरम्भ हुआ, जिसकी परिणति जापानी सैन्यवाद-विस्तारवाद से प्रेरित मंचूरियाई हस्तक्षेप में हुई। इन ऐतिहासिक तथ्यों को दोहराने का उद्देश्य यह है कि यह बात स्पष्ट हो सके कि चीनी राजनीति में व्यापक क्रान्तिकारी उथल-पुथल, अस्थिरता और हिंसक परिवर्तन कोई नई चीज नहीं। चीनी सरकारें, वे चाहे साम्राज्यवादी हों, गणतन्त्रीय या साम्यवादी, इन सबका तालमेल चीन के वैदेशिक सम्बन्धों के निर्वाह के साथ लगभग अनायास बिठाती रही हैं। माइकिल हन्ट ने चीनी विदेश नीति के ऐतिहासिक उत्तराधिकार के बारे में लिखा है कि चीन के वैदेशिक सम्बन्धों की एक नहीं, बल्कि अनेक परम्पराएँ (वर्तमान नामक इन सभी के समान रूप से उत्तराधिकारी बने) हैं। 'इनमें बर्बर बल प्रयोग का स्वरूप मिलता है और गुप्त सन्धि-समझौतों का भी; व्यापारिक व सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अनुभव का उल्लेख भी; दूसरों पर अपना प्रभुत्व थोपने की चेष्टा है तो विजेता के समक्ष समर्पण व उसके साथ सहकार की तत्परता भी।'[1]

[1] Michael Hunt, *Chinese Foreign Relations in Historical Perspective*, in Hary Harding's, *Chinese Foreign Relations in 1980's* (New Heaven, 1984), 10

बात को अच्छी तरह समझते थे कि परमाणु अस्त्रों को हासिल करने के बाद वे स्वयं को भले ही भयादोहन (ब्लैक मेल) से बचा सकते हों, पर इनके प्रयोग की कोई सम्भावना नहीं। इस कारण उन्होंने सामरिक उपयोग के लिए माओवाद का प्रचार कर छापामार बगावत के द्वारा बल प्रयोग का राजनय अपनाया। भारत के उत्तर-पूर्वी सीमान्त पर नागा-मिजो विद्रोह और बर्मा में साम्यवादी टुकड़ियों की बगावत इसी के उदाहरण हैं। इस प्रकार, आन्तरिक सत्ता परिवर्तन के साथ-साथ कुशल राजनय तथा बल प्रयोग में हिचकिचा कर चीन ने अपने को समर्थ शक्ति के रूप में प्रतिस्थापित कर लिया।

चीन को विदेश नीति के उद्देश्य
(Objectives of Chinese Foreign Policy)

अन्य सभी राष्ट्रों की तरह चीनी विदेश नीति का प्राथमिक उद्देश्य अपनी भौगोलिक अखण्डता की रक्षा करना और आन्तरिक मामलों में अपनी स्वायत्तता बनाये रखना है।[1] ऐतिहासिक अनुभव के कारण निश्चय ही इन उद्देश्यों का थोड़ा-बहुत रूपान्तरण 1949 के बाद देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में चीनी सम्राट बाहरी आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा विराट दीवार (The Great Wall of China) के निर्माण भर से कर सकते थे। यथेष्ट टैक्नोलोजी के अभाव में दुर्गम और विस्तृत भू-भाग पर किसी विदेशी शक्ति का स्थायी हस्तक्षेप नहीं हो सकता था। 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में पीकिंग में विदेशी राजदूतावासों के घेराव ने इसी बात को स्पष्ट किया।

1949 तक यह स्थिति बदल चुकी थी। वायुयानों और प्रक्षेपास्त्रों के प्रसार के बाद चीन का आकार भर उसे निरापद रखने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त शीत युद्ध के आरम्भिक वर्षों में सीमान्त को कुतरने वाली तोड़फोड़ (subversion) की रणनीति का विकास हुआ। चीनी विदेश नीति-निर्धारकों के लिए दो लक्ष्य स्पष्ट थे—(i) विवादग्रस्त सीमान्तों पर अपना आधिपत्य निर्विवाद रूप से प्रमाणित करें, और (ii) अपने मर्मस्थल को सैनिक गठबन्धनों की महायता से प्रक्षेपास्त्रों की मार से बाहर रखें। उल्लेखनीय है कि 1945 से 1960 तक परमाणु प्रक्षेपास्त्रों की मारक दूरी 2500 से 3000 किलोमीटर तक सीमित थी।

पहले यह कहा जा चुका है कि चीनी नेताओं का अन्तर्राष्ट्रीय आचरण उग्र राष्ट्र प्रेम और अहंकार झलकाता रहा है। एक सीमा तक यह बात निराधार भी नहीं। कागज, बारूद, चीनी मिट्टी, छापाखाना आदि के आविष्कार के अतिरिक्त संगीत व कला में अपनी हजारों वर्ष पुरानी परिष्कृत उपलब्धियों के कारण चीन अपने पड़ोसियों और सभी विदेशियों को असभ्य तथा बर्बर समझते रहे हैं। जापान, कोरिया, और वियतनाम को अपने ढाँचे में ढालने के उनके प्रयत्न हजारों साल पुराने हैं। प्रवासी चीनियों की इस अभियान में महत्वपूर्ण भूमिका समझी गयी है। 1949 में राजनीतिक एकीकरण के बाद चीन सरकार ने दूसरों को सभ्य बनाने और उन्हें अपने साँचे में ढालने के काम को काफी गम्भीरता से लिया। यह ध्यान रखने की जरूरत है कि 20वीं सदी के मध्य में पारम्परिक चीनी संस्कृति या जीवन-धारण

[1] देखें—Michael Yahuda, *Towards the End of the Isolationism China's Foreign Policy after Mao* (London, 1983), 81–82.

आती है कि अधिकांश समय इन दोनों के सामने बाहरी शक्तियों से संकट बना रहा है और जनता तथा नेतृत्व की मानसिकता संकट से घिरी हुई रही है।

चीन ने हमेशा अपने को न केवल एक बड़ी शक्ति माना है, बल्कि अपनी छवि सबसे महत्वपूर्ण महाशक्ति वाली रखी है। वस्तुतः चीन की अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का प्रश्न बुनियादी रूप से इस बात से जुड़ा था कि ताइवान को विस्थापित कर वह स० रा० संघ में सुरक्षा परिषद के निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकने वाली शक्ति के रूप में अपना स्थान ले ले। अध्यक्ष माओ की 'तीन विश्वों' (Three Worlds) की परिकल्पना की मूल प्रेरणा भी यही थी कि तीसरे विश्व के स्वाभाविक नेता के रूप में जनवादी चीन, सोवियत संघ और अमरीका के समकक्ष, उनके प्रतिरोधी के रूप में अपना स्थान ले ले।

विश्व राजनीति में चीन का महत्व
(Importance of China in World Politics)

औपनिवेशिक काल में चीन की आन्तरिक दुर्बलता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी भूमिका लगभग नगण्य थी। इसका पूरा दोष चीनी असमर्थता पर नहीं डाला जा सकता। इन वर्षों में औद्योगिकीकरण और साम्राज्यवाद के सन्निपात से यूरोपीय ताकतों को चुनौती दे सकना किसी और के लिए सहज नहीं था। बाद में, जब जापान ने चीन को दबाना आरम्भ किया तो उसकी सफलता का रहस्य भी पश्चिमी तौर-तरीके का आधुनिकीकरण था।

1945–49 के अन्तराल ने इस स्थिति को नाटकीय ढंग से बदल दिया। द्वितीय विश्व युद्ध में पराजित होने के बाद जापान कम से कम एक दशक के लिए चीन के सन्दर्भ में निष्क्रिय हो गया। दूसरी ओर साम्यवादियों की शक्ति में वृद्धि के साथ दशकों बाद चीन का राजनीतिक एकीकरण सम्पन्न हुआ तथा उसका राष्ट्रीय गौरव पुनः लौट सका। माओ के नेतृत्व वाली साम्यवादी सरकार ने कड़े अनुशासन को लागू किया और भ्रष्टाचार का उन्मूलन आरम्भ किया। विचारधारा में साम्य के कारण सोवियत संघ के साथ उसका सामरिक गठबन्धन हो सका और अफ्रो-एशियाई भाईचारे के आधार पर उपनिवेशवाद-विरोधी रवैया अपनाकर चीन ने अपने पक्ष में व्यापक जनमत तैयार किया। इन राजनयिक उपलब्धियों के कारण सैनिक और आर्थिक संसाधनों के अभाव में भी सत्ता ग्रहण करने के बाद चार-पाँच वर्ष में बाड़ुंग सम्मेलन (1955) तक चीन अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभर चुका था।

चीन के अपनी शक्ति का आधार मजबूत करने के लिए इन तात्कालिक क्रियाकलापों के अतिरिक्त एक दूरदर्शी कार्यक्रम अपनाया। शीत युद्ध के पहले चरण में सोवियत समर्थन के कारण उसकी सामरिक स्थिति भले ही निरापद रह सकी, किन्तु चीनी नेता इस बात को भलीभाँति समझते थे कि वैदेशिक मामलों में अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए उन्हें परमाणु शस्त्रों के क्षेत्र में आत्म निर्भर होना पड़ेगा। जब सोवियत संघ ने इस मामले में उदासीनता दर्शायी तो आर्थिक विकास की बलि देकर भी चीनियों ने 1964 में परमाणु बम की क्षमता हासिल कर ली।

परमाणु बिरादरी में बलपूर्वक प्रवेश कर चीन ने अपनी सामर्थ्य, महत्वाकांक्षा तथा मनोबल को एक साथ प्रमाणित किया। परन्तु माओ तथा चाऊ एन लाई इस

भूचाल आ जायेगा।' स्वयं अध्यक्ष माओ ने चीन युद्ध के चरम बिन्दु पर कहा था कि 'परमाणु अस्त्रों से हम नहीं डरते। अमरीका सिर्फ एक कागजी शेर है। यदि सर्वनाशक परमाणु युद्ध छिड़ना भी है तो बचे हुए लाल व्यक्तियों (चीनी साम्यवादियों) की संख्या रणक्षेत्र में बिछी लाशों से अधिक रहेगी।' कम आबादी वाला कोई देश ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता। कोरियाई युद्ध, भारत तथा वियतनाम के साथ सीमा संघर्ष में भी यह बात प्रकट हुई कि किसी सैनिक मुठभेड़ में बेशुमार कुर्बानी देने के लिए चीनी इस जनसंख्या के आत्म-विश्वास से ही अपना जीवट बनाये रखते हैं।

(2) आक्रामक विचारधारा व छापामार रणनीति—पिछले कई दशकों से विराट आकार व विपुल जनसंख्या के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय महाशक्तियों या बड़ी शक्तियों की तुलना में चीन की आर्थिक एवं सामरिक स्थिति दुर्बल रही है। यह असन्तुलन दूर करने के लिए चीन सरकार ने एक विशिष्ट रणनीति का दो धार वाली तलवार की तरह इस्तेमाल किया। एक ओर वह यथा-स्थिति को अस्थिर करने वाली उग्र क्रान्तिकारी स्थापनाएँ पेश कर अपने विरोधियों-विपक्षियों के शिविर में असहमत-असन्तुष्ट तत्त्वों को भड़काती-उकसाती रही और दूसरी ओर इनको शरण देकर, सैनिक तथा आर्थिक सहायता पहुँचाकर हिंसक छापामारी का प्रोत्साहन करती रही। यह सिर्फ चीनी पाखण्ड या षड्यन्त्र नहीं बल्कि वह अपने मुक्ति अभियान में 'गुरिल्ला' युद्ध की उपयोगिता को देखकर ऐसा करता रहा है। भारत में उत्तर-पूर्वी सीमान्त, बर्मा, थाईलैंण्ड व उत्तरी प्रदेश में मंगोल मूलज आदिवासियों की सशस्त्र बगावत चीनी प्रेरणा-प्रोत्साहन से चलती रही है और इन देशों के साथ चीन के राजनयिक सम्बन्धों में एक महत्वपूर्ण घटक रही है। माओ के निधन के वर्षों बाद इथियोपिया से लेकर फिलीपीन्स तक माओवादी हिंसक दस्ते कार्यरत रहे हैं।

(3) सुरक्षा परिषद में वीटो शक्ति—सदियों से चीन अपनी ही बनायी चहारदीवारी के भीतर सिमटा रहा है और भौगोलिक दूरी तथा तकनीकी साधनों के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम (जिसका मुख्य मंच यूरोप रहा) में गौण सदस्य रहा है। आन्तरिक दुर्बलता, फूट, गृह युद्ध और औपनिवेशिक ताकतों का प्रभाव इस अक्षमता को रेखांकित करते रहे। मगर 1949 के बाद यह स्थिति एकाएक बदल गयी। भले ही चीन की मान्यता का प्रश्न लम्बे समय तक विवादास्पद बना रहा, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अन्य राष्ट्रों द्वारा चीन का समर्थन एक महत्वपूर्ण विषय और राजनयिक लक्ष्य बन गया। इसकी परिणति 1971 में हुई, जब चीन ने निषेधाधिकार (वीटो) सम्पन्न सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य के रूप में अपना स्थान ग्रहण किया। इसके बाद चीन अद्भुत कौशल के साथ इस राजनयिक शक्ति को अपने पक्ष में भुनाता रहा है। बंगला देश हो या पाकिस्तान, या कम्पुचिया में पोल-पोट का गिरोह, ये सभी बिना चीनी पक्षधरता के संयुक्त राष्ट्र संघ में उपेक्षित ही रहते। चीन-अमरीका गठजोड़ के बाद इसका प्रभाव और भी बढ़ गया।

(4) आर्थिक सहायता—यद्यपि चीन स्वयं एक विकासशील देश है और उसकी स्थिति अमरीका या अन्य पश्चिमी देशों की तरह समृद्धि का बँटवारा कर सकने वाली नहीं। मगर यह सोचना गलत होगा कि उसके पास अपनी विदेश नीति के क्रियान्वयन के लिए कोई आर्थिक उपकरण नहीं है। चीन के अन्तर्राष्ट्रीय

शैली के प्रत्यारोपण की बात नहीं सोची जा सकती थी। मार्क्सवाद-लेनिनवाद के चीनी-संस्करण-माओवाद के निर्यात के द्वारा पुराने उद्देश्यों को नये ढंग से प्राप्त किये जाने का प्रयत्न 1949 से 1974–75 तक जारी रखा गया। आज भले ही अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में चीनी पथ अलग से नहीं पहचाना जा सकता, परन्तु इस निष्कर्ष तक पहुँचने की जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए कि चीनी विदेश नीति का यह मिशन भुला दिया गया है। हाँ, प्रकट रूप से इस पर आज जोर नहीं दिया जाता।

चीन का राष्ट्रीय स्वभाव तथा वैदेशिक आचरण औरों के साथ समानता वाला नहीं रहा है। चीन या तो अपने से अधिक शक्तिशाली देश के सामने झुकता रहा है या दूसरों से अपना प्रभुत्व मनवाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। 1949 के बाद चीनी विदेश नीति की जो रूपरेखा स्पष्ट होती है, उसमें साम्यवादी जगत तथा अफ्रो-एशियाई बिरादरी के नेतृत्व को हथियाने के लिए चीनी क्रियाकलाप इसको रेखांकित करते हैं। सोवियत संघ के साथ वैमनस्य, अफ्रो-एशियाई संगठन की स्थापना तथा भारत एवं वियतनाम को 'दण्डित' करने वाले चीन के सैनिक अभियानों से भी से भी इसी बात का पता चलता है।

1975 के बाद जब चीन में देंग सियाओ पिंग और उनके अनुचरों ने अधिक व्यावहारिक यथार्थवादी मार्ग चुना तो कुछ लोगों ने यह सुझाया कि चीनी विदेश नीति के उद्देश्य महत्त्वपूर्ण ढंग से बदल गये हैं। इस सिलसिले में चार आधुनिकीकरणों (कृषि, रक्षा, उद्योग और विज्ञान व टैक्नोलोजी) की बात की जाती रही है। सतही दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है कि चीनी आचरण में परिवर्तन हो रहा है। जैसे विदेशी टैक्नोलोजी और पूँजी का आयात, मुक्त व्यापार के सिद्धान्तों, लाभ-लागत, प्रतिस्पर्धा की उपयोगिता स्वीकार करना आदि। परन्तु अधिक गहरा विश्लेषण करने से यह बात छिपी नहीं रहती कि चार आधुनिकीकरणों को चुनने की रणनीति चीन को शक्तिशाली, आत्म-निर्भर और स्वाधीन बनाने वाले पुराने परिचित लक्ष्यों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। रूस के साथ विवाद या अमरीका के साथ सम्बन्धों का सामान्यीकरण, दोनों तरह की राजनीतिक पहलों के लिए परम्परा का दबाव परिवर्तन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ है। आज भले ही चीन में स्वयं माओवाद पहले जैसी प्रतिष्ठित स्थिति में नहीं है, किन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं कि आगामी वर्षों में चीनी नेतागण अफ्रो-एशियाई जनता के सामने अमरीका और रूस से अलग अपना सुझाया कोई नया विकल्प नहीं रखेंगे।

चीन की विदेश नीति के साधन

अब यहाँ चीनी विदेश नीति के साधनों का जिक्र करना उचित होगा। उसके प्रमुख साधन निम्नांकित हैं—

(1) विराट आकार व विपुल जनसंख्या—चीनी विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सबसे बड़ा उपलब्ध साधन चीन का विराट आकार और इसकी विपुल जनसंख्या है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर कितनी ही बड़ी उथल-पुथल क्यों न मचे तथा चीन में माओवादी सरकार हो या माओ-विरोधी, इस देश को अनदेखा नहीं किया जा सकता। लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले नेपोलियन ने कहा था—'चीनी दैत्य अभी सो रहा है। जब करवट लेकर जागेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में

पहलू उभर कर सामने आया है। चुनिन्दा भरोसे के मित्रों को हथियारों की सप्लाई कर चीन ने अपना असर बढ़ाया है। ईरान, पाकिस्तान, अफगान मुजाहिदीन एवं नाना विद्रोही इस सूची में प्रमुख हैं।

(5) कुशल व लचीला राजनय—कुशल राजनय से हमारा अभिप्राय सिर्फ व्यक्तिगत राजनयिक कौशल नहीं है। एक राज्य के रूप में चीन ने अनूठे लचीलेपन का परिचय दिया है। रोस टेरिल जैसे विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि चीन तीन स्तरों पर अपना राजनय सम्पादित करता है। चीनी सरकार एक ओर औपचारिक स्तर पर बिल्कुल सही ढंग से दूसरी सरकारों के साथ अपने सम्बन्धों का निर्वाह करती है। परन्तु इसके साथ-साथ साम्यवादी पार्टी की एकता और अन्तर्राष्ट्रीयता की दुहाई देकर पार्टी अपने स्तर पर अपने तरह से सम्पर्क बनाये रखती है। यह जरूरी नहीं कि दोनों रणनीतियों में साम्य हो। हालांकि 1962 के बाद भारत के साथ दौत्य सम्बन्धों में विघ्न पड़ गया और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन भी हुआ। परन्तु चीनी साम्यवादी पार्टी का विभिन्न भारतीय नक्सल टोलियों को समर्थन मिलता रहा। इसी तरह की स्थिति बर्मा, इण्डोनेशिया, ईरान आदि अनेक देशों के साथ रही। तीसरे स्तर पर बिल्कुल ही गैर सरकारी जनता के आपसी सम्बन्धों पर चीनी राजनय सम्पादित होता है। चीनी यह तर्क देते रहते हैं कि इस पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं रहता। जहाँ चीनी अपने सामाजिक-राजनीतिक संरचना के कारण इन तीनों स्तरों पर एक साथ चलाये जा रहे ऊपर से परस्पर विरोधी लगने वाले राजनयिक अभियानों का समायोजन कर सकते हैं, वहाँ औरों के लिए ऐसा करना कठिन होता है।

चीन अपने राजनय में तमाम क्रान्तिकारी स्थापनाओं के बावजूद आवश्यकता पड़ने पर पारस्परिक गुप्त राजनय का वैकल्पिक अवलम्बन कर सकता है। वियतनाम में शान्ति की पुनर्स्थापना के पहले भी वारसा (पोलैण्ड) में अमरीकियों के साथ सम्पन्न गुप्त वार्ताओं की लम्बी शृंखला ने यह बात भलीभाँति प्रकट कर दी। इस दूसरे ध्रुव पर महान सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान अनुत्तरदायी, अराजकतावादी, भयादोहन वाले क्रियाकलाप को रखा जा सकता है, जिसमें चीनियों ने दावा किया था कि पारम्परिक औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक प्रणाली में उनकी साझेदारी नहीं हो सकती। वस्तुतः चीनी राजनयिक आचरण विचारधारा से कहीं अधिक अति यथार्थपरक अवसरवादिता को झलकाता है। अध्यक्ष माओ का चिन्तन दर्शन, जिसमें 'दो कदम आगे बढ़ने के लिए एक कदम पीछे हटने' की बात कही गयी है और अन्तर्विरोधों का वर्गीकरण किया गया है, आवश्यकतानुसार समझौतों या सुलह को सहूलियत से देखता है।

जहाँ तक चीनी विदेश नीति के उपकरणों-साधनों का प्रश्न है, यह आसानी से देखा जा सकता है कि इनका संवर्धन एवं परिष्कार माओ तथा उनके उत्तराधिकारियों ने अपने आपसी मतभेदों-संघर्षों के बावजूद असाधारण सफलता से किया है। आकार और जनसंख्या का लाभ चीन को पारम्परिक उत्तराधिकार में मिला है तथा राजनीतिक एकीकरण और अनुशासन साम्यवाद की देन है। इनका संयोग हुआ है—परमाणु क्षमता हासिल करने तथा आत्म-निर्भर आर्थिक विकास की नींव रखने से सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता इस कायाकल्प के साथ जुड़ी हुई है, परन्तु उसने चीन की क्षमता-सामर्थ्य को कई गुना बढ़ा दिया है। संयोगवश ही सही,

आर्थिक सहायता कार्यक्रम का विस्तृत विश्लेषण प० जर्मनी के वारटोक नामक विद्वान् ने किया है। उन्होंने इस मजेदार बात की ओर ध्यान दिलाया है कि जब चीन स्वयं सोवियत संघ में अपने तकनीकी-इंजीनियरिंग परियोजनाओं के लिए बड़े पैमाने पर सहायता प्राप्त कर रहा था, तब भी अपनी जरूरतों में कटौती कर सामरिक दृष्टि से उपयोगी या महत्वपूर्ण पड़ोसियों को अनुदान देने को चीनी नेताओं ने प्राथमिकता दी थी। इसके दो प्रमुख उदाहरण हैं। चीन ने नेपाल में भारत के प्रभाव को कम करने के लिए काठमाडू-कोदारी राजमार्ग के निर्माण में योगदान दिया और चीनी विशेषज्ञ इस बात के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहे कि उनके भेजे सलाहकार, सहयोगी-श्रमिकों के रूप में सामने आयें, जिनकी तुलना औपनिवेशिक मिजाज वाले भारतीय अधिकारियों से की जा सके। इस बात का उल्लेख यहाँ इसलिए आवश्यक है कि इससे पता चलता है कि किस प्रकार चीनी नेता दूरदर्शी ढंग से अपने आर्थिक राजनय में आवश्यक सांस्कृतिक पुट देते रहे हैं। दूसरा उदाहरण श्रीलंका का है। 1970 वाले दशक के प्रारम्भिक वर्षों में जब चीनी खाद्यान्न संकट और अनाज झेल रहे थे, तब स्वयं उन्होंने श्रीलंका को चावल का निर्यात किया। चावल का परिमाण उतना महत्वपूर्ण नहीं था, जितना कि इसका अवसरानुकूल नाटकीय प्रतीकात्मक प्रयोग।

चीन का आर्थिक राजनय पड़ोस में एशिया तक ही सीमित नहीं रहा है। 1960 वाले दशक में जब चाऊ-एन-लाई अपने अफ्रीकी-सफारी (यात्रा) पर निकले, तो क्रान्ति के निर्यात के लिए बड़े उत्साह के साथ अफ्रीका में संयुक्त उद्यम के उद्घाटन की घोषणा की गयी। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण तंजान-चीन रेलमार्ग परियोजना (तंजानिया में) थी। आगे चलकर भले ही इसके क्रियान्वयन में अड़चनें आयी, लेकिन इससे उसका महत्व कम नहीं होता। मुख्य मुद्दा यह है कि जिस समय विदेशी सहायता विदेश नीति के क्षेत्र में पुरअसर समझी जा रही थी, उस समय चीन अपने राष्ट्र हित में इसका प्रयोग करने में किसी से पीछे नहीं था। माओ युग में इसको तर्कसंगत सिद्ध करने के लिए विचारधारा का मुलम्मा जरूर चढ़ाया जाता रहा।

चीनी आर्थिक राजनय के विषय में दो बातें विशेष रूप से रेखांकित करने की हैं। आरम्भिक सोवियत अनुभव के बाद चीन स्वयं अपने आपको पूंजी और टैक्नोलोजी के आयात से मुक्त रखने का प्रयत्न करता रहा है। जहाँ दाता के रूप में दूसरों को प्रभावित करने की उसकी क्षमता बड़ी है, वहीं उसने याचक की मुद्रा कभी सहन नहीं की और उसकी अपनी विदेश नीति असामान्य रूप से स्वाधीन रही है। दूसरी बात, चीन आरम्भ से ही अपने आपको विकासशील तीसरी दुनिया का हिस्सा घोषित करता रहा है और उसके क्रान्तिकारी तेवर उपनिवेशवाद व साम्राज्य-वाद के प्रखर विरोध के रहे हैं। इस कारण चीन के साथ आर्थिक-तकनीकी सहकार उन देशों के लिए विशेष रूप से सहज और आकर्षक रहा है, जिन्हें शेष विश्व हिंसक जन-मुक्ति संग्राम में सफलता के कारण खतरनाक अछूत समझता रहा। चीनी नेता निरन्तर इस बात पर बल देते रहे हैं कि उनके सुझाये तकनीकी समाधान, पूंजी या यान्त्रिक कौशल पर नहीं, श्रम-शक्ति और मौलिक आविष्कारों पर आधारित हैं। अतः अफ्रो-एशियाई देशों के लिए ये अधिक सक्षम हैं।

हाल के वर्षों में विदेश नीति के आर्थिक उपकरण का एक और विशेषीकृत

रखा कि सयुक्त राष्ट्र सघ मे चीन को उसका न्यायोचित स्थान दिलाया जाये। यहाँ दो-तीन महत्वपूर्ण बातो की ओर ध्यान दिलाया जाना जरूरी है। 1949–50 मे अफ्रीका और एशिया म स्वाधीन देशो की सख्या बहुत कम थी। दक्षिण-पूर्व एशिया मे मलयेशिया, सिंगापुर तथा हिन्द चीन के देश पराधीन थे और अल्जीरिया एव अफ्रीकी महाद्वीप के अन्य देश गुलामी का बोझ ढो रहे थे। इन परिस्थितियो मे चीन को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दिलाने के लिए भारतीय राजनय की सक्रियता ने बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस विषय मे भारत का वस्तुनिष्ठ, सैद्धान्तिक आचरण इस बात से प्रमाणित होता है कि 1957 से 1962 तक चीन के साथ उभयपक्षीय सम्बन्धो मे निरन्तर बिगाड के बावजूद भारत ने इस विषय मे चीन का समर्थन नहीं छोडा।

चीन की अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का एक और पहलू है। मान्यता की वैधानिकता से अधिक महत्वपूर्ण बात वास्तविक प्रतिष्ठा की है। इस प्रतिष्ठा को प्रभाव मे रूपान्तरित किया गया है। इस सिलसिले म भी भारत द्वारा चीन की तरफदारी प्रभावशाली रही। तिब्बत सम्बन्धी पचशील समझौते (1954) पर हस्ताक्षर हो या बाडुग मे आयोजित अफ्रो-एशियाई सम्मेलन (1955) मे चीन को आमन्त्रण, भारत के सद्प्रयत्नो से चीन की अन्तर्राष्ट्रीय छवि निखारी गयी। नेहरू और कृष्णा मेनन हमेशा इस बात पर जोर देते रहे कि नया चीन साम्यवादी और जुझारू भले हो हो, उसे हिंसक, आक्रामक और विस्तारवादी समझना गलत है। यदि उसे अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी और सयुक्त राष्ट्र सघ मे उसका न्यायोचित स्थान मिल जायेगा तो वह सन्तुष्ट हो जायेगा तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए अस्थिरता या सकट पैदा करने वाला नहीं होगा। 'हिन्दी चीनी, भाई भाई' और बाडुग वाले दौर मे इस बात के अनेक प्रमाण जुटाये जा सकते थे कि चीन की नई सरकार व्यावहारिक है और उसके साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है। इन वर्षों मे चीन ने अप्रत्याशित धीरज का परिचय दिया और अमरीका द्वारा बारम्बार तिरस्कृत, अपमानित होने पर भी सयम नही खाया। इसका अच्छा उदाहरण हिन्द चीन के मामले मे आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय जेनेवा सम्मेलन है, जिसमे डलेस ने सुलह के लिए बढाया चाऊ एन लाई का हाथ ठुकरा दिया। इन वर्षो मे अमरीका मे सीनेटर मेकार्थी का उग्र साम्यवाद-विरोधी उफान पूरे जोरो पर था और साम्यवादियो के साथ किसी भी तरह के सवाद को आरम्भ करना घोर देश-द्रोह की श्रेणी मे रखा जा सकता था। इस दौरान अमरीकी विदेश विभाग के अनेक समझदार और दूरदर्शी अफसरो को अपनी ईमानदारी का मोल चुकाना पडा। जिस किसी ने चीन के साथ रचनात्मक सहकार का रुख अपनाया उसे 'साम्यवादी एजेंट' के रूप मे बदनाम किया गया। विदेश सेवा के अधिकारियो के अतिरिक्त पत्रकारो, प्राध्यापको को भी चीन की पक्षधरता के कारण दण्डित किया गया। विडम्बना तो यह है कि चीन के मित्रो का दमन (persecution) सोवियत सघ के मित्रो की अपेक्षा कई गुना ज्यादा हुआ। यह स्थिति 1950 के दशक मे निरन्तर बनी रही।

1960 वाले दशक मे चीन द्वारा परमाणु अस्त्र हासिल करने के बाद अमरीका के लिए यह असम्भव हो गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप मे चीन की उपेक्षा करे। सोवियत-चीन विग्रह के बाद यह भी स्पष्ट हो गया कि सोवियत सघ के साथ तनाव-शैथिल्य मे स्वयमेव चीन के साथ भी अमरीका के सम्बन्धो का सामान्यीकरण

'देतात' के अन्त, विश्व के बहुध्रुवीकरण तथा नये शीत युद्ध के आविर्भाव ने चीनी विदेश नीति के नियोजकों-निर्धारकों को इन विविध उपकरणों के इच्छानुसार प्रयोग का अवसर दिया है।

चीन की मान्यता का प्रश्न
(Question of China's Recognition)

चीन में साम्यवादियों द्वारा सत्ता ग्रहण करने के साथ अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करने के प्रश्न ने प्राथमिकता ग्रहण की। जिन परिस्थितियों में चीनी साम्यवादियों ने च्याग काई शेक को अपदस्थ किया, वे गृह युद्ध वाली थीं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी परिस्थिति में यह बात बेहद महत्वपूर्ण मानी जाती है कि नई सरकार को कौन-कौन अन्य राज्य मान्यता देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में संदिग्ध स्थितियों में 'वास्तविक मान्यता' (de facto) तथा 'कानूनी मान्यता' (de jure) में अन्तर है। चीन के सन्दर्भ में यह गुत्थी और भी जटिल इस कारण हो गयी कि च्यांग काई शेक का पूरी तरह सफाया नहीं किया जा सका। चीनी मुख्य भाग (मेनलैण्ड चाइना) में पराजित होने के बाद वह अपने निकटतम सहयोगियों को साथ लेकर ताइवान द्वीप में जा बसे। उन्होंने चीन की असली सरकार होने का दावा बरकरार रखा। स्पष्ट है कि यह किसी प्रवासी या निर्वासित सरकार को नये सिरे से मान्यता देने का प्रश्न नहीं था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान च्यांग काई शेक सोवियत संघ समेत सभी मित्र-राष्ट्रों के सन्धि-मित्र रहे थे और जापान की पराजय के बाद सुदूर पूर्व में विजय के बाद वाली बन्दर बांट में उनका अपना हिस्सा चाहना स्वाभाविक था।

युद्ध के वर्षों में ही अटलांटिक चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन किया गया तथा वीटो सम्पन्न सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों में एक स्थान चीन के लिए सुरक्षित रखा गया। इस तरह साम्यवादी चीनी सरकार को दी जाने वाली मान्यता का सवाल न सिर्फ उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति से जुड़ा था, बल्कि इसी पर यह दारोमदार भी टिका था कि सुरक्षा परिषद में चीनी वीटो का प्रयोग किस तरह किया जायेगा ?

दुर्भाग्यवश चीन की मान्यता का प्रश्न शीत युद्ध की रस्साकशी से जुड़ गया। सोवियत संघ ने तत्काल साम्यवादी चीन को मान्यता दे दी। अमरीकियों को लगने लगा कि साम्यवादी चीन के आविर्भाव के साथ सुदूर पूर्व में शक्ति-सन्तुलन उनके विपक्ष में बदल रहा है। सत्ता सूत्र सम्भालने के साथ नई चीनी सरकार की घोषणाएँ और उसका आचरण पश्चिमी ताकतों के लिए चिन्ताजनक था। माओ और उनके सहयोगियों ने तिब्बत को मुक्त कराने का अभियान 1950 में आरम्भ किया और चीन में रह रहे उच्छृंखल विदेशी राजनयिकों के विशेषाधिकारों में कटौती करनी शुरू कर दी। इससे अमरीका ही नहीं, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया आदि का सतर्क होना स्वाभाविक था। अगर पश्चिमी नजरिये से देखें तो कोरियाई प्राय:द्वीप में 39वीं समानान्तर रेखा को पार कर चीनी लाल सेना का अतिक्रमण अमरीका के साथ अघोषित युद्ध का सूत्रपात कर चुका था।

जहाँ पश्चिमी देशों ने चीन को मान्यता देने में हिचकिचाहट दिखायी, वहीं नवोदित अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों ने पुनर्जागृत चीन का सहर्ष स्वागत किया। चीन को मान्यता देने वाला पहला राज्य बर्मा था और भारत ने इस अभियान को तेज

माओ के बाद चीनी विदेश नीति निरन्तरता एवं परिवर्तन
(Chinese Foreign Policy after Mao)

अधिकतर विद्वान अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चीनी विदेश नीति को माओकालीन विदेश नीति और माओ के बाद की विदेश नीति में बाटते है। इसके कई तर्कसंगत कारण हैं। माओ के जीवन काल में उनके व्यक्तित्व का प्रभाव और उनके जीवन दर्शन की अमिट छाप चीनी विदेश नीति के निर्धारण पर पड़ती रही है। वह 'महान खेवनहार' के नाम से जाने जाते थे। अपनी जीवन सध्या में उनकी स्थिति देवपुत्र (Sun of Heaven) वाले पारम्परिक चीनी सम्राटो जैसी हो गई थी। यह सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में व्यक्ति विशेष की भूमिका से जुड़ा हुआ प्रश्न नही है। माओ सिर्फ मार्क्सवादी नही थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अपने विश्लेषण में मार्क्स और लेनिन की विरासत में मौलिक भी बहुत कुछ जोड़ा था। उदाहरणार्थ, 'विरोधी और विरोध रहित अन्तर्द्वन्द्व' (Antagonistic and Non-antagonistic Contradictions) की स्थापना के इसी आधार पर 'सैद्धान्तिक शुद्धि' और लाभप्रद अवसरवादिता' में वह जीवन भर तालमेल बिठाते रहे। चीनी विदेश नीति का नियोजन कभी दि जायंट लीप फारवर्ड' (The Giant Leap Forward) के आधार पर किया जाता था तो कभी 'लेट हन्ड्रेड फ्लावर्स ब्लूम' (Let hundred flowers bloom) की घोषणा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का आह्वान करती। आर्थिक विकास के मामले में माओत्से तुग स्वावलम्बी आत्म-निर्भरता के पक्षधर थे। हालांकि माओ के चिंतन के बारे में सरलीकरण के खतरे से बचने की जरूरत है परन्तु यह उल्लेख किया जाना भी अनिवार्य है कि 'राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नाल से पैदा होती है' या *'एक दिन ससार के सारे गाँव समृद्ध शहरो को घेर लेंगे और उन्हें घुटने टेकने को विवश करेंगे'*, जैसी उनकी क्रान्तिकारी स्थापनाओ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भारी असर डाला।

इसके विपरीत माओ के उत्तराधिकारी देंग सियाओ पिंग की छवि सशोधनवादी (Revisionist), 'अपेक्षाकृत व्यावहारिक' (Practical) और यथार्थवादी' (Realist) पेश की जाती है। उन्होंने न तो कभी विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सैद्धान्तिक पक्ष को अति महत्वपूर्ण बतलाया और न ही कभी आधुनिकीकरण और विकास के लिए विदेशी सहायता स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट दिखायी। चार आधुनिकीकरणो (रक्षा, कृषि, उद्योग और विज्ञान व टैक्नोलोजी) का उनका महत्वाकाक्षी कार्यक्रम विदेशी टैक्नोलोजी और पूँजी के आयात पर टिका हुआ है। उन्होंने सत्ता ग्रहण करने के साथ ही लाल रक्षकों एव अति उत्साही आक्रामक तेवर वाले पार्टी कार्यकर्ताओ पर अंकुश लगाया और चीनी राजनय की जिम्मेदारी एक बार फिर पेशेवर अधिकारियों के हाथ में सौंप दी। यह भी जोड़ा जा सकता है कि सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य के रूप में चीन का राजनयिक आचरण इस पद की प्रतिष्ठा के अनुकूल ही रहा है—अर्थात् यथास्थिति का पोषण। अगर ज्यादा गहराई में न जायें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि माओ के बाद के युग में चीनी विदेश नीति में बुनियादी परिवर्तन हुआ है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि क्रान्तिकारी उफान का स्थान व्यावहारिक दूरदर्शिता ने ले लिया है। परन्तु गहराई में जाये बिना काम नहीं चलेगा और तब बिल्कुल ही दूसरे नतीजे

हो जाये, यह आवश्यक नहीं। वियतनाम युद्ध में अमरीकी स्थिति पतली होने के कारण अमरीकियों के लिए यह भी असम्भव हो गया कि चीन के साथ सवाद से वे कतराते रहें। वस्तुस्थिति स्वीकार करने के बाद वैधानिक मान्यता देने में देर नहीं की जा सकती थी।

इस समय तक अमरीका के अनेक सन्धि-मित्रों तथा शिविरानुचरों ने अपने राष्ट्रीय हितों के दबाव में चीन के साथ अपने सम्बन्ध सामान्य कर लिये थे। इनमें फ्रांस, ब्रिटेन और प० जर्मनी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जापान भी इस ओर अग्रसर होने लगा था। तनाव शैथिल्य की सीमाएँ दृष्टिगोचर होने के साथ अमरीका भी नीति-परिवर्तन के लिए उद्यत हुआ। इस सन्दर्भ में पाकिस्तान ने, विशेषकर तत्कालीन विदेश मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने अपने गुप्त राजनय द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। हेनरी किसिंजर ने 'दी व्हाइट हाउस इयर्स' नामक अपने संस्मरणों में इस राजनय का विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया है। इस बात का भी अच्छा असर पड़ा कि तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन विदेश नीति विशेषज्ञ थे और उस समय उनकी आन्तरिक स्थिति इतनी निरापद थी कि वह इस तरह कि रचनात्मक पहल की जोखिम उठा सकते थे। फरवरी, 1972 में निक्सन ने चीन-यात्रा की और माओ तथा चाऊ एन लाई के साथ परामर्श किया। यह सब जन सचार साधनों में लोकप्रिय मनोरंजन और विस्तृत विश्लेषण के विषय रहे। पिंग पोंग राजनय हो या एडगर स्नो जैसे पत्रकारों का योगदान, ये सभी इसी बात को दर्शाते हैं कि इस समय तक वातावरण चीन के पक्ष में ढल चुका था और उसको स० रा० संघ में स्थान दिलाना और अधिक टाला नहीं जा सकता था।

अमरीका ने चीन के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया आरम्भ होने के बाद भी तत्काल राजदूतों का आदान-प्रदान नहीं किया और विशेष दूत की व्यवस्था से ही सतोष किया। मगर अमरीका ने यह स्पष्ट करने में देर नहीं लगायी कि वह वास्तव में जनवादी चीन को मान्यता दे चुका है। अमरीका द्वारा 'नए' माओवादी चीन को मान्यता दिये जाने का संयोग सं० रा० संघ की सुरक्षा परिषद में चीन के प्रवेश (अक्तूबर, 1971) के साथ हुआ। इससे यह बात भलीभांति प्रमाणित हो जाती है कि चीन की मान्यता का प्रश्न विवादास्पद सिर्फ इसलिये बना था कि अमरीका मान्यता देने को तैयार न था। अमरीकी मान्यता मिल जाने के बाद वीटो के प्रयोग की सम्भावना के साथ चीन का प्रभुत्व बढ़ा और माओ के बाद चार महान आधुनिकीकरणों की बात सोची जा सकी। 1971-72 में ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थियों के लिए 'दो चीनों' का सवाल निरर्थक हो गया। इसके बाद भले ही चीन को महाशक्ति के रूप में बराबरी का दर्जा न मिला हो, किन्तु किसी भी अन्य बड़ी शक्ति से अधिक प्राथमिकता मिल चुकी है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चीन की अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का प्रश्न मूलतः अमरीका-चीन सम्बन्धों का एक पहलू था और इसका अध्ययन इस विषय से हटकर नहीं किया जा सकता। अमरीका द्वारा मान्यता दिये जाने के बाद भी कुछ अन्य पड़ोसी देशों के साथ 'पूर्ण मान्यता' के अभाव में चीन के सम्बन्ध आज तक असहज बने हुए हैं। इनमें मलयेशिया व इण्डोनेशिया प्रमुख हैं। कुछ तनाव पोल-पोट की प्रवासी सरकार के कारण कपुचिया एवं वियतनाम के साथ भी है। अतः ऐसा सोचना तर्कसगत है कि आगामी कुछ वर्षों में मान्यता का प्रश्न चीनी राजनय के लिए महत्वपूर्ण बना रहेगा।

केन्द्र'। सभी विदेशी वहशी समझे जाते थे। अनेक विद्वानों ने चीनी विदेश नीति को केन्द्रीय राज्य होने की कुंठा (Middle Kingdom Complex) से ग्रस्त, देश-प्रेमांध (Chauvinist) तथा विदेश भयाघात (Zenophobic) समझा है। देंग सियाओ पिंग के पहले के सभी प्रशासनों के राजनयिक सम्बन्धों में ये तत्व आसानी से पहचाने जा सकते हैं। अब तक भले ही देंग सियाओ पिंग की विदेश नीति में इनका कर्कश स्वरूप प्रकट नहीं हुआ है, फिर भी भारत और वियतनाम के साथ चीन के सम्बन्धों में पुराने आचरण की अनुगूंजें आज सुनी जा सकती है।

(2) विचारधारा व राष्ट्र हित का अन्तर-द्वन्द्व नहीं—चीन की विदेश नीति में सोवियत संघ की तरह विचारधारा और राष्ट्र-हित का अन्तर द्वन्द्व नहीं झलकता क्योंकि सत्तारूढ़ सरकारें आवश्यकतानुसार सैद्धान्तिक परिकल्पनाओं-अवधारणाओं को संशोधित-परिमार्जित करती रही हैं। असल में, माओ की दार्शनिकता और देंग सियाओ पिंग की व्यावहारिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

(3) सर्वोच्च नेता के व्यक्तित्व की अमिट छाप—चीन की विदेश नीति की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि भू-राजनीतिक स्थिति और ऐतिहासिक परम्परा की अपेक्षा सर्वोच्च नेता के व्यक्तित्व की गहरी छाप विदेश नीति नियोजन और उसके संचालन पर पड़ती रही है। साथ ही संसार के किसी भी दूसरे देश की *अपेक्षा चीन अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सैनिक उपकरणों और* बल प्रयोग के अवलम्बन को तैयार रहा है।

(4) छद्म पैंतरेबाजी—जैसाकि रोस टेरिल ने लिखा है कि चीनी विदेश नीति के नियोजन और सम्पादन के विश्लेषण के लिए एक वाद्य वृंद (orchestra) के रूपक का सहारा लिया जा सकता है, जिसमें कभी तो रणघोष के अन्दाज में जोरदार ढोल-नगाड़े बजाये जाते हैं, और कभी मधुर मिलन यामिनी (romantic tryst) के लिए उपयुक्त अकेली बाँसुरी का कोमल-सुमधुर प्रयोग किया जाता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि चीन के अलावा कोई ऐसा दूसरा देश नहीं, जो इतनी सहजता के साथ टकराव से शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के ध्रुव तक लौट *सकता है। चीनी विदेश नीति की इस विशेषता के लिए बहुत बड़ी सीमा तक* उसकी आन्तरिक राजनीतिक व्यवस्था जिम्मेदार है, जिसमें आत्मालोचन (self-criticism) की पद्धति का सहारा लेकर अतीत की गलतियों के लिए पूर्ववर्ती शासकों-नेताओं को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। परन्तु आज संसार के अनेक देश चीन के साथ राजनयिक सम्बन्धों के संचालन का इतना अनुभव प्राप्त कर चुके हैं कि वे चीन के छद्म पैंतरा और वास्तविक स्थिति में अन्तर कर सकते हैं। माओ के युग में चीनी विदेश नीति कई बार अनूठी एवं 'क्रान्तिकारी' लगती थी, परन्तु आज ये 'विशेषताएँ' उतनी अस्वाभाविक नहीं जान पड़ती। खासकर सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता की प्राप्ति के बाद चीन का आचरण किसी भी दूसरी यथा-*स्थिति पोषक बड़ी शक्ति की तरह प्रत्याशित (predictable) रहा है।* अमरीका और रूस की तरह चीनी विदेश नीति में भी उसकी भौगोलिक स्थिति एवं उसके ऐतिहासिक अनुभव के प्रभाव देखे जा सकते हैं, परन्तु ऐसा कुछ नहीं, जिसे विदेश नीति के तुलनात्मक अध्ययन के विद्यार्थी अटपटा महसूस करें।

सामने आयेंगे।

माओ की बहुप्रचारित क्रान्तिकारिता का आवरण हटाने का प्रयत्न करें तो यह बात स्पष्ट होते ज्यादा देर नही लगेगी कि चीन के राष्ट्रीय हित के संवर्धन-सरक्षण के लिए माओ की व्यावहारिकता देंग सियाओ पिंग से किसी भी तरह कम नही रही। इसे प्रमाणित करने के लिए दो-चार उदाहरण देना काफी होगा। उसूरी नदी के तट पर 1969 में सोवियत संघ और चीन के बीच सैनिक मुठभेड भले ही हुई हो, मगर रेखांकित किये जाने लायक बात यह है कि दोनों देशों के बीच 1960 में ही मतभेदों का सिलसिला शुरू हो जाने के बाद चीन ने इतना संयम बरता कि ऐसे अवसर और न आयें। इसी तरह यह बात याद रखने लायक है कि अपने प्रमुख शत्रु अमरीका के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात माओ ने अपने जीवन काल में ही कर दिया था। जहाँ तक देंग सियाओ पिंग का प्रश्न है, समाजवादी शासन प्रणाली के अनुरूप सर्वोच्च नेता को बने-बने रहने के लिए अपनी निर्द्वन्द्व छवि प्रस्तुत करनी पडती है। परन्तु देंग सियाओ पिंग माओ सरीखे करिश्माती व्यक्तित्व के स्वामी नही हैं और न ही उनका कोई मौलिक विश्व दर्शन है। देंग सियाओ पिंग की चार आधुनिकीकरणों वाली विदेश नीति की व्याख्या माओ की 'विरोधी एवं विरोध-रहित अतर्द्वंद्व' वाली स्थापना और 'दि जायंट लीप फारवर्ड' की महत्वाकांक्षा के आधार पर बखूबी की जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन का राजनयिक आचरण भी माओ के जीवन काल में तय किया जा चुका था। स० रा० संघ में या अन्यत्र कई राजनयिकों की पदावनति, स्थानान्तरण आदि से पश्चिमी चीन विशेषज्ञों ने चीन की विदेश नीति में परिवर्तनों के बारे में अटकलें लगायी है। परन्तु, इस तरह की घटनाओं का मूल कारण चीनी पार्टी में सत्ता संघर्ष एवं आन्तरिक नीति के सम्बन्ध में विवाद-मतांतर अधिक रहे है।

देंग सियाओ पिंग ने वियतनाम को 'सबक' सिखाने के लिए जो सैनिक अभियान साधा, उसके दौरान उन्होंने स्वयं इसकी तुलना 1962 में माओ के कार्य-काल में भारत को सिखाये गये 'सबक' से की थी। इसी तरह परमाणु शस्त्रास्त्रों के मामले में चीनी विदेश नीति में माओ युग से आज तक कोई भी परिवर्तन नहीं दिखाई देता। यह ठीक है कि देंग सिआओ पिंग बार-बार 'तीन विश्वों' की अव-धारणा प्रस्तुत नही करते परन्तु चीन का राजनयिक आचरण इस मामले में शक की कोई गुंजाइश नही रखता कि महाशक्तियों की वास्तविकता और तीसरी दुनिया के विकास की चुनौतियों के बारे में देंग सियाओ पिंग का सोच माओ के चिन्तन से बुनियादी तौर पर फर्क है।

चीनी विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ
(Salient Features of Chinese Foreign Policy)

चीन की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(1) **केन्द्रीय राज्य होने की कुंठा से ग्रस्त**—चीनी सम्राटों के काल से परिभाषित पारस्परिक चीन की भौगोलिक सीमा को सभी चीनी सरकारें निर्विवाद मानती है। मान्चू, कुमितांग, मार्क्सवादी तथा माओ की परवर्ती सभी चीनी सरकारों में जातीय अहंकार और विदेशियों के प्रति सन्देह का भाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। पहले चीनी सम्राट अपने को 'देवपुत्र' मानते थे और चीन को 'सभ्यता का

19वीं शताब्दी में जब अन्य पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियाँ चीन की 'बंदरबाँट' में लगी हुई थी, तब इस शोषण-उत्पीडन में अमरीका का योगदान नहीं रहा था। इस दौर में अनेक अमरीकी मिशनरियों ने चीन में ईसाई धर्म का प्रचार कार्य किया। चीन के माचू वंश के अन्तिम वर्षों के बारे में उनके द्वारा जुटायी जानकारी काफी प्रामाणिक थी। 19वीं सदी, विशेषकर गृह-युद्ध के बाद का काल, अमरीका में 'पूँजीवाद के प्रसार का युग' था। विदेशों में लोग यह समझने लगे कि वे व्यक्तिगत समृद्धि की प्राप्ति अमरीका में कर सकते है, जहाँ उन्नति के अबाध अवसर थे। ऐसा सोचने वाले अनेक चीनी अमरीका पहुँचे। इतनी बडी सख्या में कि आज भी न्यूयार्क और सान फ्रांसिस्को जैसे शहरों में 'चायना टाउन' के नाम से प्रसिद्ध इनकी बस्तियाँ महत्वपूर्ण है। अनेक समृद्ध चीनी अमरीका में पढने-लिखने पहुँचते थे। इनकी सख्या भले ही बहुत ज्यादा न रही हो, परन्तु उनका प्रभाव कम नहीं आँका जा सकता। बाद में इनमें से अनेक के लाभप्रद व्यापारिक सम्बन्ध अमरीकियों के साथ स्थापित हो सकते थे। सन यात सेन, चाग काई शेक के निकट सम्बन्धी सूग परिवार की स्थिति ऐसी ही थी।

जब साम्यवादियों ने छापामार युद्ध आरम्भ किया, तब अनेक अमरीकी पत्रकार इस घटना का आँखों देखा हाल बखानने के लिए चीन पहुँचे और दक्षिण-पूर्व एशियाई रण-क्षेत्र में तथा जापान पर काबू पाने के सन्दर्भ में चीन की सामरिक उपयोगिता अमरीका के लिए उजागर हुई। पर्ल बक के उपन्यासों, थियोडोर ट्पेर के रिपोर्ताजों और एडगर स्नो की चुस्त पत्रकारिता से इसी बात का पता चलता है।

1949 में चीन में साम्यवादी सरकार के गठन के बाद शीत-युद्ध के काल में दूरदृष्टि का घोर अभाव दिखाते हुए अमरीका ने चीन को अपना शत्रु मानना आरम्भ कर दिया और उसे मान्यता देने से इकार कर दिया। तिब्बत की मुक्ति और कोरिया युद्ध के बाद अमरीका चीन सम्बन्ध और भी तनावग्रस्त हुए। उनके बीच सम्बन्धों का सामान्यीकरण तनाव-शैथिल्य (अमरीका व रूस के बीच) की प्रक्रिया के काफी आगे बढ जाने के बहुत बाद 1971 में शुरू हुआ।

कट्टर शत्रुता—आज अमरीका व चीन आपसी सम्बन्ध मजबूत करने के लिए बेताब नजर आते है, मगर पहले वे एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमरीका और सोवियत सघ विश्व महाशक्ति के रूप में उभरे और दोनों ने अन्य राष्ट्रों को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में लेना चाहा। अमरीका ने जहाँ पूँजीवादी देशों के सघ का नेतृत्व किया, वहीं सोवियत सघ ने साम्यवादी देशों की बागडोर अपने हाथ में ली। 1949 में जब चीन में साम्यवादी सरकार कायम हुई तो वह सोवियत खेमे में शामिल हुआ और उसे अपने चहुँमुखी विकास के लिए सोवियत सघ से भारी मात्रा में मदद भी मिली। उधर चीन से अलग हुए ताइवान को अमरीकी आशीर्वाद प्राप्त था, जिसकी बदौलत वह सयुक्त राष्ट्र सघ जैसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का सदस्य बनने के अलावा सुरक्षा-परिषद का स्थायी सदस्य भी बन बैठा। चीन जहाँ एक ओर अमरीका को पूँजीवादी, साम्राज्यवादी एव नव-उपनिवेशवादी की सज्ञा देकर उसकी नीतियों का विरोध करता रहा, वहीं दूसरी ओर अमरीका ने एशिया में साम्यवाद का विस्तार रोकने के लिए चीन की घेराबन्दी करना आरम्भ किया। अमरीका ने अनेक एशियाई देशों के साथ मिलकर 'सेन्टो' व 'सिएटो' नामक सैनिक सगठन बनाये और इन देशों में साम्यवाद का विस्तार रोकने

चीनी विदेश नीति का भविष्य
(Future of Chinese Foreign Policy)

चीन में साम्यवादी सरकार का गठन हुए चार दशक समाप्त हो गये हैं। इस दौर के उतार-चढ़ाव को देखते हुए यह अनुमान लगाने का प्रयत्न किया जा सकता है कि भविष्य में चीनी विदेश नीति की क्या दिशा रहेगी? जैसाकि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि चीन की विदेश नीति में राष्ट्र-हित के आधार पर सिद्धान्त और यथार्थ के बीच सन्तुलन-समीकरण बरकरार रहेगा। चीन ने अमरीका के साथ सम्बन्ध सुधार के बाद, सोवियत संघ के साथ राजनयिक सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया आरम्भ की थी। 1987 में मंगोलिया में सोवियत विदेश मन्त्री ने इस बात के स्पष्ट संकेत दिये कि रूस चीन के साथ तनाव घटाने के लिए तैयार है। इसी प्रकार जब गोर्बाच्योव ने दक्षिण-पश्चिम-प्रशान्त क्षेत्र में स्थिरता बनाये रखने के लिए एक योजना प्रस्तावित की, जिसके प्रबन्ध के लिए अमरीका, जापान और आस्ट्रेलिया के साथ-साथ चीन को भी आमन्त्रित किया। भारत-पाक और भारत-चीन विवाद के सन्दर्भ में भी बाद की सोवियत घोषणाएँ यही मत अभिव्यक्त करती रहीं कि भविष्य में उनका रवैया मित्रों में फर्क करने वाला नहीं रहेगा। इस सबके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आगामी वर्षों में चीन एशिया के राजनीतिक रंगमंच पर प्रमुख हस्ती के रूप में प्रतिष्ठित और स्वीकृत हो जाने के बाद अपेक्षाकृत अधिक संयत और यथा-स्थिति पोषक आचरण करेगा। इस सिलसिले में एक महत्वपूर्ण बात का जिक्र जरूरी है। परमाणु प्रक्षेपास्त्र सम्पन्न होने के बाद भी समुचित नौसैनिक शक्ति के अभाव में चीन अपनी प्रभुता का प्रक्षेपण करने में अमरीका की तुलना में दुर्बल है। निश्चय ही आगामी वर्षों में वह यह असमर्थता दूर करने की पूरी कोशिश करेगा।

इसके अतिरिक्त दो-चार ऐसी अन्य बातें हैं, जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। अब तक अमरीका-चीन सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया की सीमाएँ-सम्भावनाएँ स्पष्ट हो चुकी हैं। चीन ने चार महान् आधुनिकीकरणों के सिलसिले में जिस मुक्त व्यापार और मुनाफाखोरी की नीति को अपनाया, उसके चीनी सामाजिक व्यवस्था पर स्पष्ट कुप्रभाव दीखने लगे हैं। राजनीतिक प्रणाली पर इसके दबाव बहुत लम्बे समय तक रोके नहीं जा सकते। 1987 के पूर्वार्द्ध में छात्र एवं बौद्धिक वर्ग के व्यापक असन्तोष-आक्रोश और इनको अनुशासित करने के सरकारी प्रयत्नों से यह बात भली-भाँति प्रमाणित होती है। इस बात को भी नहीं भुलाया जा सकता कि देंग सियाओ पिंग वयोवृद्ध व्यक्ति हैं। यह सम्भावना नगण्य नहीं कि उनके बाद उनकी व्यावहारिक नीतियों का पुनर्मूल्यांकन आरम्भ कर दिया जाये, जिसके तहत विदेश नीति के सन्दर्भ में व्यापक फेर-बदल हो सकता है। तब भी ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं कि भविष्य में चीन फिर से माओकालीन एकान्तवादी या जुझारू रूप ग्रहण करेगा।

चीन-अमरीका सम्बन्ध
(Sino-U.S. Relations)

अमरीका और चीन के बीच सम्बन्ध हमेशा से वैमनस्यपूर्ण नहीं रहे हैं।

कर सकता था।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए जनवरी, 1979 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने चीन के साथ पूर्ण स्तर के कूटनीतिक सम्बन्ध कायम करने की घोषणा कर दी। अमरीका ने ताइवान के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध और आपसी सुरक्षा सन्धि तोडने के अलावा उसे (ताइवान) साम्यवादी चीन का कानूनी तौर पर एक अंग मान लिया। परन्तु अमरीका ने ताइवान-समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान और भविष्य में उसके साथ आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध कायम रखने की बात कही। इसी बढ़ती निकटता के कारण अमरीका व चीन ने अफगानिस्तान, कम्पुचिया आदि अनेक मसलों पर समान रुख अपनाया। इस बीच दोनों देशों में अनेक प्रतिनिधि मण्डलों का आदान-प्रदान हुआ और सहयोग-समझौते हुए।

जनवरी, 1981 में जब रोनाल्ड रीगन ने सोवियत संघ के साथ कड़ा रुख अपनाने की घोषणा के साथ अमरीकी राष्ट्रपति का कार्यभार ग्रहण किया तो चीनी नेता काफी खुश नजर आये, क्योंकि उनका अनुमान था कि वे रीगन के इस रुख से अमरीका के साथ कूटनीतिक लाभ उठाने में अधिक समर्थ होंगे, वहीं दूसरी ओर अमरीका से निकटता की तुरुप दिखाकर सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध सुधार में सौदेबाजी की स्थिति भी मजबूत कर सकेंगे। मगर न तो रीगन ने चीन के प्रति अधिक उत्साह दिखाया और न ही सोवियत संघ ने। अगस्त, 1982 में अमरीका और चीन ने संयुक्त विज्ञप्ती में घोषणा की कि 'चीन शान्तिपूर्ण तरीकों से ताइवान का अपने देश में विलय करेगा, जबकि अमरीका ताइवान को धीरे-धीरे हथियार देना बन्द कर देगा।' मगर जुलाई, 1983 में अमरीका ने ताइवान को 50 30 करोड डालर के हथियार बेचने की घोषणा की, जिसकी चीनी नेताओं ने कटु आलोचना की। अमरीका ने अपनी सफाई में कहा कि मुद्रा स्फीति बढ़ जाने के कारण ये हथियार विशाल राशि के लगते हैं।

बढ़ते व्यापार सम्बन्ध—अमरीका और चीन के रिश्तों में इस ठहराव के बावजूद सम्बन्ध सुधार के लिए कूटनीतिक भागदौड़ जारी रही और आर्थिक सम्बन्ध भी मजबूत हुए। 1983 में तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री जार्ज शुल्ज, वाणिज्य मन्त्री मालकोम बालड्रिज और रक्षा मन्त्री कैस्पर वेनबर्गर चीन यात्रा पर गये। जनवरी, 1984 में चीनी प्रधानमन्त्री झाओ जियांग ने अमरीका की नौ दिवसीय यात्रा की। जहाँ तक आर्थिक सम्बन्धों का सवाल है, दोनों देशों के बीच 1971 में 9 60 करोड डालर का व्यापार हुआ था, जो 1983 में बढ़कर 4 3 अरब डालर हो गया, हालांकि 1988 में 14 अरब डालर का रिकार्ड व्यापार हुआ। चीन में अमरीका का प्रत्यक्ष पूँजी निवेश 500 मिलियन डालर है, जो चीन में किसी भी अन्य देश का सर्वाधिक विदेशी पूँजी निवेश है। बीजिंग में 120 अमरीकी कम्पनियों के प्रतिनिधि केन्टन तथा शंघाई में नियुक्त है। 1978 में लगभग 10 हजार अमरीकी पर्यटक चीन गये, जबकि 1983 में यह संख्या बढ़कर डेढ़ लाख हो गयी। चीन के 10-12 हजार छात्र व शिक्षक अमरीका में अध्ययन और अध्यापन में लगे हुए हैं। चीन के 23 में से 13 विदेश व्यापार कार्यालय अमरीका में है।

रीगन की अप्रैल, 1983 की चीन की छह दिवसीय यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच एक परमाणु समझौता हुआ, जिसके तहत अमरीकी कम्पनियाँ चीन में परमाणु रिएक्टर बनायेंगी। इसके अलावा दोनों देशों में आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक

के हेतु उन्हें विशाल मात्रा में सैनिक व आर्थिक मदद दी। अमरीका सुरक्षा-परिषद में 'वीटो' (निषेधाधिकार) के बूते पर चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनने से भी रोकता रहा। इस प्रकार अमरीका व चीन एक-दूसरे के विरोधी रहे।

बदली परिस्थितियों में मेल-मिलाप—लेकिन छठें दशक के अन्तिम वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक बुनियादी परिवर्तन होने शुरू हो गये। एक तरफ अमरीका व सोवियत संघ में शीत-युद्ध की धधकती ज्वाला की गर्मी कम होने लगी तो दूसरी ओर सोवियत संघ व चीन में वैचारिक मतभेद एवं राष्ट्रीय हितों के टकराव का सिलसिला शुरू हुआ। अब तक चीन ने अपनी सामरिक शक्ति और आर्थिक विकास के बल पर साबित कर दिया था कि वह भी विश्व की एक बड़ी शक्ति है। चीन को यह खतरा सताने लगा कि सोवियत संघ के साथ उसके वैचारिक और सीमा सम्बन्धी मतभेद कहीं सैनिक मुठभेड़ का रूप न ले लें। वह अमरीका एवं सोवियत संघ में तनाव-शैथिल्य के प्रति भी चिन्तित था, क्योंकि इससे वह अपने आपको अलग-थलग पाने लगा। अतएव उसने अमरीका से सम्बन्ध कायम कर सोवियत खतरे को कम करने का निर्णय लिया। इससे वह एशिया में तैनात अमरीकी सैनिकों के खतरे से भी मुक्त हो सकता था। दूसरी ओर अमरीका भी विश्व में बढ़ते सोवियत प्रभाव को रोकना चाहता था, लेकिन साथ ही वह चीन से सम्बन्ध सुधार रूपी तुरुप का इस्तेमाल कर सोवियत संघ के साथ साल्ट समझौते (सामरिक शस्त्र कटौती सम्बन्धी) और अन्य मसलों पर अपनी सौदेबाजी की स्थिति भी मजबूत करना चाहता था। इसके अलावा जापान तथा पश्चिम यूरोपीय देशों के साथ व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा तेज होने के कारण अमरीकी उत्पादों के निर्यात पर काफी प्रतिकूल असर पड़ा था, जिस कारण अमरीका को किसी नए बड़े बाजार की जरूरत थी। चीन इस दृष्टि से उसके लिए फायदेमन्द बाजार साबित हो सकता था। इस प्रकार अमरीका एवं चीन ने इन्हीं बदली परिस्थितियों में एक-दूसरे का हाथ थामा।

अमरीका की त्रिकोणीय कूटनीति—जुलाई, 1971 में तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री हेनरी किसिंजर नाटकीय अन्दाज में चीन गये। फरवरी, 1972 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने चीन-यात्रा की, जिससे सोवियत संघ के ही नहीं, बल्कि अमरीका के मित्र-देशों के भी कान खड़े हो गये। अमरीका ने यहीं से अपनी 'त्रिकोणीय कूटनीति' का सिलसिला शुरू किया, जिसके तहत उसने अपने व सोवियत संघ के अलावा चीन को भी शक्ति का एक प्रमुख तीसरा केन्द्र माना। अमरीका व चीन में आर्थिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध कायम हुए।[1] इधर जनवरी, 1976 में चाऊ एन लाई तथा सितम्बर, 1976 में माओत्से तुंग के निधन के बाद चीन में नया नेतृत्व उभरा, जिसने नई नीतियों की घोषणा की। देंग सियाओ पिंग के नेतृत्व में चीन ने कृषि, रक्षा, उद्योग एवं विज्ञान व टैक्नोलोजी नामक चार क्षेत्रों में आधुनिकीकरण करने के कार्यक्रम को चलाया। चीनी नेताओं ने इस सिल-सिले में पश्चिमी देशों और खासकर अमरीकी पूँजी और टैक्नोलोजी में अत्यधिक दिलचस्पी दिखाई। अमरीका ने भी इसके प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की, क्योंकि वह चीन से सम्बन्ध सुधार कर राजनीतिक व आर्थिक दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त

[1] इस पूरे दौर के ब्यौरेवार विश्लेषण के लिए देखें—Henry Kissinger, *White House Years* (Boston, 1979), James Reston, *Report on China*, in the 'New York Times'.

अपने आधीन किया। सुदूर पूर्व एशिया के इतिहास में चीन और जापान का द्वन्द्व पारस्परिक शक्ति संघर्ष का रूप वर्षों पहले ले चुका था।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के पहले चरण में इन दोनों देशों की आन्तरिक राजनीति में बुनियादी महत्व का घटनाक्रम सम्पन्न हुआ, जिसने दोनों के सम्बन्धों को आमूल चूल ढंग से बदल डाला। एक ओर मांचू साम्राज्य की अवसान वेला में चीन पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियों के सामने पस्त पड़ा था तथा अफीम के नशे और सामाजिक कुरीतियों द्वारा खोखला किया हुआ था तो दूसरी ओर अमरीकी कमोडोर पेरी से मुठभेड़ के बाद मेजीकालीन जापान आधुनिकीकरण का मार्ग चुन चुका था। उसने अपने द्वार पश्चिम के लिए खोल दिये थे। औद्योगिकीकरण में जापान ने बहुत तेजी से प्रगति की और 1905 में एक बड़ी यूरोपीय शक्ति रूस को युद्ध में पराजित किया। 1922 में वाशिंगटन में नौसैनिक सम्मेलन तक अमरीकी तथा अन्य यूरोपीय बड़ी शक्तियों ने भी जापान का बराबरी का दर्जा दे दिया।

दो विश्व युद्धों के अन्तराल में जापानी शक्ति निरन्तर बढ़ती रही। मंचूरिया तथा कोरिया में जापानी विस्तारवादी-साम्राज्यवादी सैनिक हस्तक्षेप का निराकरण करने में राष्ट्र संघ (League of Nations) तथा अन्य बड़े राष्ट्र बिल्कुल असमर्थ रहे। इसके अतिरिक्त द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब जापान ने दक्षिण पूर्व एशिया में अपने पैर जमाये तो इसकी सबसे बड़ी और दुःखद कीमत प्रवासी चीनियों को चुकानी पड़ी। जापानियों के नस्लवादी तेवर तथा चीनियों के प्रति उनका दुर्भाव इन वर्षों में बहुत वीभत्स रूप से उभर कर सामने आया।

स्थिति में नाटकीय परिवर्तन—यह सारा ऐतिहासिक पुनरावलोकन बेहद आवश्यक है क्योंकि इसके बिना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की स्थिति का मूल्यांकन विश्लेषण सार्थक ढंग से नहीं किया जा सकता। जापान की पराजय के बाद सुदूर पूर्व में स्थिति एक बार फिर नाटकीय ढंग से बदली। चीन मित्र राष्ट्रों के साथ लड़ा था और उसकी यह अपेक्षा स्वाभाविक थी कि अब सुदूर पूर्व में उसका एकछत्र आधिपत्य होगा परन्तु कई कारणों से ऐसा नहीं हो सका। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ ही मित्र राष्ट्रों के संगठन में फूट पड़ गयी और शीत युद्ध का आविर्भाव हुआ। सुदूर-पूर्व के भू राजनीतिक महत्व को समझते हुए सोवियत संघ अमरीका के मित्र पिट्ठू च्याग काई शेक के भरोसे चीन की व्यवस्था नहीं छोड़ना चाहता था। स्वयं चीन की आन्तरिक स्थिति डावांडोल थी। साम्यवादियों की छापामारी सफल होने को ही थी और चीन के बहुत बड़े भाग पर किसी भी एक पक्ष का निर्द्वन्द्व अधिकार नहीं था। जापान में अमरीकी सेनाध्यक्ष जनरल मैकआर्थर का मानना था कि पराजित जापान को अपमानित करने और दुर्बल बनाने के परिणाम अमरीका और पश्चिमी दुनिया के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए उन्होंने जापान की भौगोलिक अखण्डता को अक्षत रखने एवं युद्धोत्तर आर्थिक पुनर्निर्माण में सहायता देने का बीड़ा उठाया।

1949 में चीन में साम्यवादियों ने सत्ता ग्रहण की और उग्र माओवादी मुद्रा ने सुदूर-पूर्व में शक्ति-संतुलन को एक बार फिर संकटग्रस्त कर दिया। 1949 से 1964–65 तक के वर्षों में दो महत्वपूर्ण और अप्रत्याशित बातें सामने आयीं। माओ के चीन ने सैनिक और राजनयिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अपने लिए

व प्रौद्योगिकी सम्बन्ध और मजबूत करने का फैसला किया गया। फरवरी, 1989 मे अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने चीन-यात्रा की, जिस दौरान दोनो देशों के बीच सभी क्षेत्रो में सम्बन्ध और घनिष्ठ बनाने की जरूरत पर बल दिया गया।

मतभेदों के बावजूद आत्मीय सम्बन्ध—इसके बावजूद अमरीका और चीन के बीच महत्वपूर्ण विषयों पर आज भी मतभेद बने हुए है। हालांकि अमरीका ने चीन को पूर्ण मान्यता दे दी है, परन्तु उसने ताइवान को सहायता देना बन्द नही किया है। इसी तरह दो कोरियाओं के एकीकरण के बारे मे चीन और अमरीका का सोच एक-सा नही रहा। फिर भी इन दोनो ही मसलो मे ऐसा नही कि अमरीका और चीन अपने सम्बन्धो मे कोई बिगाड आने देगें। इससे अधिक असन्तोष इस विषय को लेकर है कि आर्थिक आदान-प्रदान के क्षेत्र मे किसी भी पक्ष को उतना लाभ नहीं हुआ, जितना अपेक्षित था। अमरीकियो ने आरम्भ मे चीन के बाजार के आकार को मुनाफे की गारन्टी मान लिया था। चीनियों की क्रय क्षमता के बारे मे सोचने की फुर्सत उन्हे नही थी। दूसरी ओर चीन इस बात से खिन्न है कि सैनिक-सामरिक महत्व की टैक्नोलोजी के निर्यात के बारे मे अमरीका का सकोच बना हुआ है। चीन की क्षेत्रीय महत्वाकाक्षा और उसके द्वारा अमरीकी नीति की आलोचना (जैसे खाडी युद्ध और परमाणु निशस्त्रीकरण के मामलो पर) दोनो देशो के बीच मौजूदा मतभेदो को उजागर करते रहे हैं, परन्तु इनका निर्णायक प्रभाव अमरीका-चीन सम्बन्धो पर पड़ने की सम्भावना नही है। असल मे, इन दो महत्वपूर्ण राष्ट्रो ने इतिहास से सबक लेते हुए यह बात समझ ली है कि उन्हे एक-दूसरे के साथ यथार्थवादी और व्यावहारिक ढग से रहना पडेगा। भले ही वे इसे 'शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व' कहने मे हिचकते हो, परन्तु वास्तविकता यह कि इनके आपसी सम्बन्ध अपने सन्धि-मित्रों की अपेक्षा अधिक आत्मीय और घनिष्ठ है।

चीन-जापान सम्बन्ध
(Sino-Japanese Relations)

चीन और जापान के बीच आपसी सम्बन्ध सहस्त्रों वर्षों से मित्रता और शत्रुता का एक अदभुत सम्मिश्रण दर्शाते है। दोनों देशो के निवासी मंगोल वशज हैं और बौद्ध धर्म के अनुयायी रहे है। जापानी सभ्यता की शाख चीनी वृक्ष के तने से फूटी है और भौगोलिक सामीप्य के कारण एक देश की घटनाओ का प्रभाव दूसरे देश पर पड़े बिना नही रह सकता।

समानताएँ व विभिन्नताएँ एक साथ—दोनो देशो के बीच अनेक समान तत्व है, जो उनमें सहकार एव मैत्री को पुष्ट करते हैं। परन्तु इतने ही महत्वपूर्ण घटक वे भी है, जो उन्हे एक-दूसरे से अलग करते हैं। चीन मे बौद्ध धर्म के साथ-साथ कन्फ्यूशियस और लाओत्से के दर्शन का प्रभाव सामाजिक संगठनो और राजनीतिक चिंतन पर आज तक देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त चीनियो को सदैव इस बात का अहसास रहता है कि जापानियो को उन्होने ही सभ्य बनाया। दूसरी ओर जापान मे साम्राज्यवादी-सामन्ती युग मे जिस सामुराई व्यवस्था का विकास हुआ, उसने अन्ध राष्ट्र प्रेम और विस्तारवाद को प्रोत्साहित किया। अपने उत्कर्ष काल मे जापान स्वय एक विकासशील औद्योगिक शक्ति के रूप मे प्रकट हुआ। विभिन्न जापानी सम्राटो ने अपनी महत्वकाक्षाएँ साकार करने के लिए कोरिया, मचूरिया आदि को

रोका न होता तो बहुत सम्भव है कि कम से कम प्रायद्वीपीय दक्षिण-पूर्व एशिया चीन का प्रान्त बनकर रह जाता। यो चीन के ऐतिहासिक ग्रन्थ दक्षिण-पूर्व एशिया को चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत कर देने वाले प्रदेशों में वर्णित करते आये है।

चीन की साम्यवादी क्रान्ति और दक्षिण-पूर्व एशिया के यूरोपीय व अमरीकी शासकों के पलायन के बाद इस क्षेत्र को चीन ने अपना प्रमुत्व क्षेत्र बनाने की कोशिश की। 1948 के बाद इण्डोनेशिया, मलाया, फिलीपीन और वियतनाम में साम्यवादी क्रान्तियों का एक दौर चला। इन देशो मे जो साम्यवादी दल स्थापित हुए, वे चीन को अपना नेता घोषित रूप से मानते रहे हैं। यह और बात है कि वियतनाम को छोड़कर किसी अन्य देश मे साम्यवादी क्रान्ति सफल नही हो सकी। वियतनाम की क्रान्ति की सफलता के पीछे भी हो ची मिन्ह का नेतृत्व और वियतनामियो के अभूतपूर्व बलिदान रहे थे, न कि चीन द्वारा दी गयी मदद।

1955 मे इण्डोनेशिया के बाडुग नगर मे हुए अफ्रो-एशियाई देशो के सम्मेलन मे चीन को किसी अन्तर्राष्ट्रीय जमघट मे शायद पहली बार प्रतिनिधित्व दिया गया था। चीन के तत्कालीन प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई इस सम्मेलन मे एक लोकप्रिय और दूरदृष्टा कूटनीतिज्ञ के रूप मे उभर कर सामने आये। असल मे साम्यवादी चीन की विदेश नीति का निर्धारण 1950 वाले दशक के आरम्भ से ही चाऊ-एन-लाई के पास आ गया था। भारत और एशिया के अन्य देशो से मिलकर चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे तेजी से अपने पाँव जमाने शुरू किये। बाडुग सम्मेलन के बाद दक्षिण-पूर्व एशिया की राजधानियो मे बहुत शीघ्र चाऊ-एन-लाई नेहरू जी से कही अधिक लोकप्रिय विदेशी नेता के रूप में माने जाने लगे। तभी इण्डोनेशिया के रंगीले राष्ट्रपति सुकार्णो के साथ उनकी दोस्ती बढी, जो बढती ही गयी। इण्डोनेशिया चीन के लिए महत्वपूर्ण बन गया।

बुनियादी समस्याएँ—इस सबके बावजूद चीन और दक्षिण एशिया के देशो के बीच कुछ मूलभूत समस्याएँ बरकरार रही। इन समस्याओ मे सबसे खतरनाक प्रवासी चीनियो की समस्या समझी जाती रही है जिसका कोई सन्तोषजनक समाधान आज तक सामने नही आ पाया है। योरोपीय उपनिवेशीकरण के लम्बे समय मे हजारो की संख्या मे चीनी नागरिक देश छोड़कर समुद्री रास्ते से मलयेशिया, इण्डोनेशिया, फिलीपीन और वियतनाम के दक्षिणी हिस्से मे बसते रहे थे। बर्मा, थाइलैण्ड, लाओस और वियतनाम के उत्तरी भाग मे स्थल मार्ग से भी अनेक चीनी आकर बसे। शनैः शनैः इन प्रवासी चीनियों ने दक्षिण-पूर्व एशिया के देशो के अर्थतन्त्र पर कब्जा जमाना शुरू किया। यहाँ तक कि दक्षिण-पूर्व एशिया की अर्थ-व्यवस्था प्रवासी चीनियो की आर्थिक स्थिति की पर्यायवाची बनकर रह गयी। इसी बिन्दु पर आकर प्रवासी चीनियो और स्थानीय नागरिको के बीच टकराहट शुरू हुई जो आज भी जारी है।

प्रवासी चीनियो के अलावा साम्यवादी चीन द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया के स्थानीय साम्यवादी दलो को नैतिक और भौतिक समर्थन दिये जाने से चीन के इन देशो की सरकारो के मध्य सम्बन्धो मे अड़चन आने लगी। बर्मा, थाईलैण्ड, मलयेशिया, इण्डोनेशिया और फिलीपीन के साम्यवादी दलो को चीन निरन्तर समर्थन देता रहा। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीन ने दक्षिण-पूर्व एशिया के साम्यवादी दलों से इन देशो मे क्रान्ति करने की माग की थी। इसी दौरान

महत्वपूर्ण भूमिका हासिल कर ली तो जापान का उदय एक आर्थिक महाशक्ति के रूप में हुआ। एक ओर जापान परमाणु शक्ति-सम्पन्न चीन के आक्रामक इरादों के बारे में नये सिरे से सोचने को विवश हुआ तो दूसरी ओर महायुद्ध के 25 वर्ष बाद सैनिक और आर्थिक शक्ति से सम्पन्न 'मंगोल गठजोड़' के बारे में पश्चिमी राष्ट्र और सोवियत संघ आशंकित होने लगे।

तब से अब तक अन्यत्र घटित दो और राजनयिक घटनाओं ने विद्वानों को चीन-जापान सम्बन्धों के बारे में सोचने के लिए विवश किया है। तनाव-शैथिल्य के प्रारम्भिक दौर में, विशेषकर सोवियत-चीन विग्रह के बाद, चीन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अकेला पड़ने वाली हुई थी। 1969 से जिस सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, उसने चीन के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में ऐसी उथल-पुथल आरम्भ की जिससे चीन के भविष्य के बारे में अनेक प्रश्न चिन्ह खड़े हो गये। बाद के वर्षों में चीन-अमरीका सम्बन्धों में सुधार एवं सामान्यीकरण से जापानियों का परेशान होना स्वाभाविक था। जापानी नेतागण निक्सन की चीन-यात्रा का उल्लेख 'निक्सन-सोकु' (निक्सन-शोक) के रूप में करते रहे। कुछ विश्लेषकों का यह भी मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय तेल संकट के दौरान जापानी इस चेतावनी को भी आत्मसात कर चुके थे कि उनकी समृद्धि की नींव कितनी कमजोर है और पश्चिमी कृपा पर टिकी है। अपनी स्थिति को निरापद रखने के लिए उन्हें स्वयं ही अपने पड़ोस को सम्भालना होगा।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व निभाने को मजबूर—इस प्रकार स्पष्ट है कि चीन के साथ जापान के सम्बन्धों के दो पक्ष हैं। एक, पारम्परिक-ऐतिहासिक, जो इन दोनों देशों के बीच उभयपक्षीय सम्बन्धों की सांस्कृतिक व मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दूसरा पक्ष, सम-सामयिक यथार्थ का है, जिसमें सैद्धान्तिक विचारधारा का टकराव, सामरिक परिप्रेक्ष्य का अन्तर एवं महाशक्तियों के आपसी सम्बन्धों के बदलते समीकरणों के प्रतिबिम्ब एक साथ देखे जा सकते हैं। इसके बावजूद रोचक तथ्य यह है कि भले ही तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहे हों, लेकिन चीन-जापान सम्बन्धों का स्वरूप पिछले दशक में लगभग यथावत रहा है। चीन-अमरीका सम्बन्धों के सामान्यीकरण के बाद जापान-चीन टकराव की सम्भावना घटी है और दोनों के बीच व्यापार में क्रमशः वृद्धि हुई है। आज न तो चीन और न ही जापान एक-दूसरे की उपेक्षा-अवहेलना कर सकते हैं या एक-दूसरे पर अपना औपनिवेशिक अधिपत्य स्थापित करने की बात सोच सकते हैं। चीन और जापान एक-दूसरे के साथ असहज ही सही, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व निभाने के लिए मजबूर हैं।

चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया
(China and Southeast Asia)

ऐतिहासिक परिवेश में देखा जाये तो दक्षिण-पूर्व एशिया चीन के विस्तारवादी मन्सूबे का सदैव ही धरातल रहा है। इसकी वजह शायद इस क्षेत्र की चीन से जुड़ी हुई भौगोलिक स्थिति है। ईस्वी सन के प्रारम्भ से ही चीन ने दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी संस्कृति और सैनिक दबदबे का योजनाबद्ध विस्तार आरम्भ कर दिया था। यदि वियतनाम के स्वतन्त्रता-प्रेमी लोगों ने चीनी प्रवाहों को दृढ़ता से

आरम्भ कर दिया। यही नहीं, अमरीकी पराजय के बाद 'आसियान' देशों ने चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने की कलाबाजी में एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की होड़ लगायी। वैसे 1974 में मलयेशिया चीन के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर चुका था, किन्तु थाईलैण्ड और फिलीपीन्स हिन्द-चीन में अमरीकी पराजय के प्रभाव के अन्तर्गत ही चीन को अपना नया आका घोषित करने को बाध्य हुए। इण्डोनेशिया इस दौड़ भाग से पृथक रहा। आज भी वह चीन से दौत्य सम्बन्ध पुनर्जीवित नहीं करना चाहता, क्योंकि सुहार्तो-सरकार का मानना है कि प्रवासी चीनियों की समस्या और इण्डोनेशिया की साम्यवादी पार्टी को चीनी समर्थन और मदद उनके सम्बन्धों के लिए गम्भीर समस्याएँ है। सिंगापुर प्रकट रूप में यही कहता आ रहा है कि जब तक इण्डोनेशिया चीन के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, तब तक वह भी ऐसा नहीं करेगा। या सिंगापुर और चीन के मध्य कूटनीतिक सम्बन्ध न होते हुए भी सम्पर्क के दायरे इतने घनिष्ठ हैं कि सिंगापुर को अकसर 'तृतीय चीन' की सज्ञा दी जाती रही है। किन्तु वियतनाम के एकीकरण से चीन बौखला उठा। इधर जनवरी, 1976 में चाऊ-एन-लाई और सितम्बर, 1976 में माओत्से तुंग की मृत्यु के बाद चीन आन्तरिक सत्ता संघर्ष में उलझकर रह गया। तथापि अमरीका के साथ उसके निरन्तर सुधरते सम्बन्धों ने दक्षिण-पूर्व एशिया में चीन के पुनः प्रतिष्ठित होने में काफी मदद दी। राष्ट्रपति कार्टर ने चीन और अमरीका के मध्य पूर्ण कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित (1979) करके आसियान देशों में चीन को महत्वपूर्ण कूटनीतिक भूमिका अदा करने का मार्ग प्रशस्त किया। पाँचों आसियान देश साम्यवाद-विरोधी और अमरीका-परस्त हैं। जब अमरीका और चीन अपने प्रमुख शत्रु सोवियत संघ के विरुद्ध एकजुट हो गए तो आसियान देशों ने चीन को मित्र रूप में स्वीकार करने में कोई आनाकानी नहीं की। चीन-अमरीकी सम्बन्धों की इस नयी पैंतरेबाजी ने सोवियत संघ को जहाँ आसियान देशों से दूर कर दिया, वहीं हिन्द-चीन में सोवियत-चीन संघर्ष अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। यहीं से वियतनाम और सोवियत संघ में घनिष्ठ सम्बन्धों का वर्तमान युग आरम्भ हुआ।

चीन वियतनाम संघर्ष—नवम्बर, 1978 में सोवियत वियतनाम मैत्री सन्धि का जन्म हुआ। वियतनाम चीन के इरादों को शायद भली-भाँति भाँप चुका था और वह चीन द्वारा प्रत्यक्ष आक्रमण के खतरे को महसूस करने लगा था। इस सन्धि से चीन इतना अधिक नाराज हुआ कि उसने वियतनाम को दक्षिण-पूर्व एशिया में सोवियत संघ का पिट्ठू घोषित कर दिया। यही नहीं, उसने आसियान देशों को आगाह किया कि वियतनाम सोवियत संघ के बहकावे में आकर समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया में अपना साम्राज्य स्थापित करने के इरादे रखता है। चीन की कूटनीतिक कला-बाजियों को निरस्त करते हुए वियतनाम ने पोल पोट के विरुद्ध कम्पुचिया की जनता में आन्तरिक असन्तोष का लाभ उठाते हुए जनवरी, 1979 में पोल पोट सरकार के नाम पन्द्रह से बिस्तर गोल कर दिए। यह सही है कि कम्पुचिया की हुग सामरिन सरकार वियतनामी सेना की सहायता से सत्ता में आयी, किन्तु इससे कम्पुचिया की जनता ने भारी राहत महसूस की। चीन इस कारवाई पर चुप बैठने वाला नहीं था। फलस्वरूप फरवरी, 1979 में उसने वियतनाम को सबक सिखाने' के घोषित इरादे के साथ बड़े पैमाने पर वियतनाम पर आक्रमण कर दिया।

नये युग का सूत्रपात—चीन की इस सैनिक कारवाई ने दक्षिण पूर्व एशिया

दक्षिण-पूर्व एशिया के गैर-साम्यवादी देशों के साथ चीन के सम्बन्ध बदतर स्थिति मे पहुँचे। 1965 में इण्डोनेशिया की साम्यवादी पार्टी ने क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियाने की असफल कोशिश की। इस घटना के बाद वहाँ सत्ता साम्यवाद-विरोधी सेना के पास आ गयी और चीन के मित्र राष्ट्रपति सुकार्णो का पतन हो गया।

बाद मे भयकर दमन चक्र के अन्तर्गत साम्यवादियो को समाप्त किया गया। लेकिन कुछ साम्यवादी नेता बीजिंग जाकर शरण ले चुके थे। चीन ने उन्हे इण्डोनेशिया की साम्यवादी पार्टी का प्रतिनिधि मानते हुए सम्पूर्ण सुविधाएँ प्रदान की। यही नही, चीन अपनी भूमि मे बर्मा, थाईलैण्ड, मलेशिया, सिंगापुर और इण्डोनेशिया की जनता मे साम्यवाद और साम्यवादी क्रान्ति के सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए रेडियो स्टेशन भी चलाता रहा। ये रेडियो स्टेशन चीन के जन-प्रचार साधनो द्वारा इन देशों के राष्ट्रीय रेडियो स्टेशनो के समकक्ष माने गए। कुल मिलाकर, चीन की नीति दक्षिण-पूर्व एशियाई देशो मे समानान्तर सरकारें स्थापित करने की रही थी जिसमे स्थानीय साम्यवादी पार्टियाँ एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थी।

चीन की नीति मे बदलाव—1970 वाले दशक मे दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रति चीन की नीतियो मे महत्वपूर्ण बदलाव आये। ये बदलाव जहाँ एक ओर सांस्कृतिक क्रान्ति की समाप्ति से जुड़े हुए थे तो दूसरी ओर इनका सम्बन्ध रूस-चीन विवाद और चीन की पश्चिमी राष्ट्रों से सम्बन्ध सुधारने की नई कूटनीति से भी था। 1971 मे संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन जाने के बाद चीन ने तेजी से अमरीका के साथ मित्रता बढ़ाना शुरू किया। 1972 मे राष्ट्रपति निक्सन की चीन-यात्रा के परिणाम के रूप मे ही शायद चीन वियतनाम के स्वतन्त्रता संघर्ष और राष्ट्रीय आकांक्षाओं को ताक मे रखकर वियतनाम समस्या का हल ढूँढ़ने में अमरीका की मदद करने के लिए राजी हो गया। फलस्वरूप 1973 में पेरिस मे वियतनाम को लेकर जो समझौता हुआ, उससे जहाँ वियतनाम की एकता के सिद्धान्त को चोट पहुँचायी गयी, वहीं वियतनाम को चीन इस हद तक नाराज कर बैठा कि उसका परिणाम उसे भुगतना पड़ रहा है।

किन्तु इसके पूर्व 1970 में कम्पुचिया मे सिंहनुक के पतन और लोन नोल के सत्ताधीश हो जाने के पीछे रही अमरीकी चालो से भी चीन अधिक परेशान नही हुआ था। यों सिंहनुक को बीजिंग मे बाकायदा एक राष्ट्राध्यक्ष के रूप में प्रवास-सुविधाएँ प्रदान की गयी, किन्तु वास्तविक शक्ति-संचयन के मामले मे चीन अपने अनुयायियों, जिनका नेतृत्व पोल पोट, इग सारी और खई सम्फान करते थे, को आगे बढ़ाता रहा। यहाँ चीन की चाल शायद यह रही थी कि वह अमरीकियो के पलायन के बाद अपने इन गुरगों को कम्पुचिया मे सत्ताधीश करना चाहता था। इस प्रकार, चीन सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण इस छोटे से देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके वियतनाम और आसियान देशो को समान रूप से डंडे दिखाने की स्थिति मे आ जाना चाहता था।

1975 को चीन की योजनाओं की सफलता का वर्ष कहा जा सकता है। इस वर्ष अप्रैल मे अमरीकी कम्पुचिया और दक्षिण वियतनाम मे पराजित होकर भाग खड़े हो गये। बिना वक्त गवाये पोल पोट के चीन-समर्थक गुरिल्लों ने कम्पुचिया पर कब्जा कर लिया और दक्षिण वियतनामी भू-भाग मे वियतनामियों को परेशान करना

अपनी ओर आकर्पित करने मे चीनी राजनयिको को विशेष कठिनाई नही हुई। इसका सबसे अच्छा उदाहरण इण्डोनेशिया है। 1965 मे असफल तख्ता पलट (गेस्टापू) के बाद जावा मे प्रवासी चीनियों का भीषण नरसहार हुआ। इस रक्तपात के बाद किसी ने यह कल्पना तक नही की कि 'मलय मूल के लोग' कभी 'मगोलो' के साथ सह-अस्तित्व की बात सोचेंगे भी। आरम्भ मे आसियान को चीन-विरोधी और नस्लवादी सगठन समझा गया। सिंगापुर के प्रधानमन्त्री ली क्वान यू ने यह शका मुखर भी की थी। लेकिन बाद मे इसी सिंगापुर के जरिये इण्डोनेशिया ने चीन के साथ बडे पैमाने पर इतना लाभप्रद व्यापार किया कि चीन के साथ पुन दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर सीधे सामान्य सम्बन्धो की स्थापना की बात सोची जाने लगी।

अमरीका की महत्वपूर्ण भूमिका—इसी तरह बर्मा, मलयेशिया तथा फिलीपीन चीन-प्रेरित छापामार विद्रोह का कष्ट वर्षों तक झेलते रहे। आज ये देश चीन के बडे बाजार के लालच मे पीछे नही रहना चाहते। ये चीनी नेताओ द्वारा मौखिक आश्वासन दिये जाने भर से यह मान लेने को तैयार हैं कि चीन ने अपनी पुरानी आक्रामक-विस्तारवादी नीति हमेशा के लिए त्याग दी है। इस पूरे प्रसग मे अमरीका ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, जिसने दक्षिण-पूर्व एशियाई नेताओ को यह सोचने को विवश किया कि उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा को असली खतरा सोवियत घुसपैठ और उसके बढते प्रभाव से है। परन्तु इस विषय मे चीन से निश्चिन्त होना घातक सिद्ध हो सकता है। चीन दक्षिण-पूर्व एशिया को पारम्परिक रूप से अपना प्रभाव क्षेत्र मानता है और यह सोचने का कोई कारण नही कि चीनियो का हृदय परिवर्तन हुआ है। फर्क सिर्फ इतना है कि अमरीका ने चीन से सम्बन्ध सुधार के बाद यह दावा स्वीकार कर लिया है और इसीलिए कोई टकराव दृष्टिगोचर नहीं होता।

चीन और अफ्रीका
(China and Africa)

अक्सर यह सोचा जाता है कि बडी शक्तियो की जमात मे जा बैठने के पहले चीन की महत्वाकाक्षा सिर्फ क्षेत्रीय थी। वह अपने पडौस मे भारत, नेपाल तथा दक्षिण-पूर्व एशिया मे अपना प्रभाव क्षेत्र जमाना चाहता था। अफ्रीका और लातीनी अमरीका के देशो मे उसकी कोई रुचि नही थी। परन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। चीन ने शुरु से ही अफ्रीकी देशो के साथ निजी सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न जारी रखे।

अफ्रीकी देशों से सम्बन्ध बढ़ाने के चीनी प्रभाव—बाडुग का पहला प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय सम्मलन (1955) था, जिसम चाऊ एन लाई न मिस्र के नासिर जैसे महत्वपूर्ण नेताओ से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किय और अफ्रीकी देशो को यह जताया कि चीन भी भारत की तरह रगभेद और उपनिवेशवाद का विरोधी है। शीघ्र ही चीन की स्थिति भारत स बेहतर हो गयी क्योकि अधिकाश अफ्रीकी देश सशस्त्र मुक्ति सघर्ष का मार्ग चुन चुके थ और उन्ह अपन सन्दर्भ मे भारत का अपेक्षा चीनी विकल्प अधिक उपयुक्त प्रतीत होता था।

सोवियत सघ के तत्वावधान मे जब साम्यवादी खेमे मे अफ्रो-एशियायी एकता सगठन (Afro-Asian Solidarity Organization) की स्थापना की तो इसका लाभ भी चीन को हुआ। बाद मे जब सोवियत-चीन विवाद बढा तो 1965 मे चीन

को राजनीति मे एक नए युग का सूत्रपात किया। इसके पूर्व भी चीन दक्षिण-पूर्व एशिया और खासकर आसियान देशो मे वियतनाम के विरुद्ध अपनी कूटनीतिक गतिविधियाँ बढाता रहा था। 1978 में चीन के नए शक्ति-सम्राट देंग सियाओ पिंग ने थाइलैण्ड, मलयेशिया और सिंगापुर का दौरा करके यह प्रकट किया कि वियतनामी खतरे के विरुद्ध चीन आसियान देशों की मदद करने को कृत-सकल्प है। वियतनाम पर आक्रमण करके चीन ने अपने इस सकल्प की पुष्टि कर दी। फलस्वरूप आसियान देशो मे उसकी स्थिति निश्चित रूप से मजबूत हुई। किन्तु वियतनाम को सबक सिखाने में वह पूर्णतया नाकामयाब रहा। हैग सामरिन सरकार और अधिक सुदृढ हो गयी। उसे भारत जैसे गुट निरपेक्ष देशो से मान्यता भी प्राप्त हुई। अतएव कहा जा सकता है कि वियतनाम की शक्ति को क्षीण करने मे या उस पर अपनी इच्छा थोपने मे चीन नितात असफल रहा। फिर भी वियतनाम पर चीन के आक्रमण से जहाँ एक ओर चीन का महत्व वियतनाम को सन्तुलित रखने की दृष्टि से आसियान देशों ने स्वीकार किया, वही आसियान देश वियतनाम की शक्ति से भी वाकिफ हो गए। इण्डोनेशिया तथा मलयेशिया जैसे आसियान देश चीनी खतरे को दूर रखने के लिए एक शक्तिशाली वियतनाम का अस्तित्व अनिवार्य मानते है।

1980 के मध्य मे दक्षिण-पूर्व एशिया मे थाईलैंण्ड की सरहद पर थाईलैण्ड और वियतनाम के सैनिको के बीच एक छोटा-सा सघर्ष हुआ। इसका कारण थाईलैण्ड और चीन द्वारा कम्पुचिया के शरणार्थियो को पुन: कम्पुचिया मे ढकेलने की योजना था। वास्तव मे, शरणार्थियो के रूप मे पोल पोट के गुरिल्लाओ को कम्पुचिया भेजा जा रहा था। इसे रोकने के लिए कम्पुचिया ने वियतनाम की मदद से सैनिक कार्रवाई की। इस कार्रवाई ने आसियान देशों को वियतनाम के विरुद्ध कठोर रुख अपनाने के लिए प्रेरित किया। इसमें चीन के खास मित्र थाईलैंण्ड और सिंगापुर ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इधर पोल-पोट को कम्पुचिया मे पुन: स्थापित करने की अनेक योजनाओं की असफलता और विश्व जनमत द्वारा पोल पोट के खूनी हथकन्डों का जबरदस्त विरोध होने के कारण चीन पोल पोट के बजाय कोई तीसरा विकल्प स्वीकार करने को राजी हो गया।

अब तक का इतिहास यह प्रकट करता है कि दक्षिण-पूर्व एशिया विश्व शक्तियो के टकराव का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। सोवियत सघ, अमरीका और चीन इस क्षेत्र मे अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र रखते रहे। आसियान देशों द्वारा इस क्षेत्र को शान्ति, स्वतन्त्रता और तटस्थता का क्षेत्र घोषित करने के इरादे विश्व शक्तियो के हितों की टकराहट के कारण नाकाम होते रहे। चीन लगातार दक्षिण-पूर्व एशिया मे अपना प्रभाव क्षेत्र विस्तृत करने में लगा रहा है। देखना यह है कि वियतनाम उसके इस इरादे को रोक पाने मे कहाँ तक सफल होता है?

1972–73 के बाद चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच सम्बन्ध नाटकीय ढग से बदले। एक ओर उसका वियतनाम व कम्पुचिया जैसी साम्यवादी सरकारो के साथ तनाव बढा और युद्ध का विस्फोट हुआ, वही पूँजीवादी व्यवस्था की ओर झुके आसियान बिरादरी के देशों के साथ सम्बन्धों मे अप्रत्याशित सुधार हुआ। इसका एक कारण यह रहा कि आसियान देशो ने माओ के उत्तराधिकारी देंग सियाओं पिंग और उनके सहयोगियों को अधिक व्यावहारिक, उदार व लचीला माना। दूसरे, अमरीका के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण के बाद उसके शिविरानुचरों को

किया और चीन ने सुडान को 80 लाख डालर का ऋण दिया। इस प्रकार अन्य देशो के साथ चीन के व्यापारिक सम्बन्ध बढे। तजानिया तान जाम रेलवे निर्माण मे 15 हजार चीनी कार्यरत रहे और चीन को इससे काफी फायदा मिला। चीन ने ऐसी आर्थिक गतिविधियो के द्वारा अफीकी देशो में अच्छी खासी कूटनीतिक फसल काटी। अनेक अफ्रीकी देशो के नेताओ ने 1973–74 के दौरान बीजिंग यात्रा की जिससे चीन-अफ्रीका सम्बन्ध प्रगाढ हुए।

चीन की अफ्रीका मे घटती रुचि—माओ की मृत्यु (1976) के बाद चीन मे सत्ता परिवतन की चुनौती ने विदेश नीति के सामरिक महत्व वाले पहलुओ को ही सामने रहने दिया। अमरीका के साथ सम्बन्ध सुधार और सोवियत सघ के साथ शत्रुता का निर्वाह इस श्रेणी मे आते थे, अफ्रीका नही। इसके अलावा सुरक्षा परिषद मे स्थायी सदस्यता पाने के बाद चीन स्वय एक तरह से यथास्थिति का पोषक नही तो कम से कम प्रबन्धक बन गया। उसके तेवर पहले जैसे क्रान्तिकारी नही रहे। परिणामस्वरूप अफ्रीका मे उसकी रुचि कम हुई। 1979 मे अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप और लगभग इसी समय कम्पुचिया मे वियतनामी हस्तक्षेप ने चीन के पडौस मे शक्ति सन्तुलन उसके विपक्ष में परिवर्तित कर दिया। इसका प्रभाव यह पडा कि चीन की राजनयिक गणना मे अफ्रीका का 'अवमूल्यन' हुआ। ऐसा नही लगता कि निकट भविष्य मे इस स्थिति मे कोई खास परिवर्तन होगा।[1]

नाटकीय परिवर्तन की आशा नहीं—एक आश्चर्यजनक बात यह है कि एकान्तवास वाला तेवर अपनाने के बाद भी चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सामरिक महत्व मे कोई कमी नही है। थ्यन आनमन चौक की दुखद घटना के बाद अमरीका ने यह सकेत दिया कि चीन के साथ इन बदले हालातो (मानवाधिकार हनन) मे व्यापार व वाणिज्य सम्बन्धो मे वृद्धि के बारे मे फिर से सोचना पड सकता है। परन्तु अतत ऐसा कुछ हुआ नही। सोवियत सघ आन्तरिक सकट से ग्रस्त है और भारत अपनी आतरिक समस्याओ के दलदल मे इतनी बुरी तरह फँसा है कि वह चीन के सन्दर्भ मे प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा किसी भी तरह के सतुलन की बात सोच ही नही सकता। तेल सकट हो या अफ्रीका मे नस्लवादी घेराबन्दी का अन्त चीन के राजनयिक चेहरे पर किसी भी परिवर्तन की शिकन नजर नही आती। चीन के शीर्षस्थ नेता देंग सियाओ पिंग 85 वर्ष पार कर चुके हैं और उन्होंने औपचारिक रूप से अवकाश ग्रहण कर लिया है। परन्तु पर्दे के पीछे से उनका प्रभाव साफ महसूस किया जा सकता है। उत्तराधिकारियो के बारे मे कोई कुछ भी स्पष्ट रूप से नही कह सकता। बहरहाल चीनी विदेश नीति के बारे मे पुराने अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य मे किसी नाटकीय परिवर्तन या उत्साहवर्धक पहल की आशा करना व्यर्थ है।

[1] विस्तार के लिए देखे—Bruce D Larkin, *China and Africa, 1949–70*, (London 1971)

ने इसके समानान्तर गुट निरपेक्ष आन्दोलन के रूप में अफ्रो-एशियायी एकता सगठन के गठन का प्रयास किया। चीन ने मुक्ति मोर्चों और प्रावधानिक सरकारों को मान्यता देने मे कभी देर नही लगायी। इनको दी जाने वाली चीनी सहायता का परिमाण भले ही कम रहता था, परन्तु नाटकीय घोषणा और 'प्रतीक के प्रचार' का पूरा लाभ चीन बखूबी उठाता रहा। अनुकूल वातावरण तैयार करने के बाद चीन ने 1960 वाले दशक में जनवादी लोक सगठनों के माध्यम से अफ्रीकी महाद्वीप मे अपना प्रभाव बढ़ाया। इसी दौरान चीनी आर्थिक कूटनीति का अभियान तेज हुआ और एक बहु-प्रचारित अफ्रीकन-सफारी (यात्रा) के द्वारा चाऊ एन लाई ने अपने व्यक्तित्व के आकर्षण को भी राष्ट्र हित साधने में लगाया। ये वे वर्ष थे, जब माओवादी विचारधारा का आकर्षण विश्व भर मे फैल रहा था। घाना, माली, सोमालिया, तजानिया आदि देशो में चीन को एक प्रमुख वैदेशिक शक्ति के रूप मे मान्यता मिल चुकी थी। 1962 के युद्ध में भारत को पराजित कर चीन ने यह दिखा दिया कि तीसरी दुनिया के नवोदित राष्ट्रों के नेतृत्व के लिए उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रहा।

चीन के प्रति अफ्रीकी देशो में नाराजगी—1965-66 के बाद अफ्रीकी महाद्वीप में चीन के प्रभाव मे क्रमश ह्रास हुआ। अफ्रीका मे चीन की विध्वसक गतिविधियो से उसके प्रति नाराजगी फैली। अफ्रीकी देशो मे स्थित चीनी दूतावासों द्वारा उन देशों के आन्तरिक मामलो मे दखलदाजी करने से कुछ देशो ने चीन के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिये। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि विध्वसक गतिविधियो तथा पाँच देशो द्वारा कूटनीतिक सम्बन्ध तोडने के बावजूद अफ्रीकी देशों मे चीन की एक बड़ी शक्ति के रूप मे धाक जम गयी। चीन की बडी शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठा के प्रमुख कारणों मे उसके द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति सग्रामों का समर्थन, पश्चिमी साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध, महाशक्तियों के आधिपत्य का विरोध तथा अनेक अफ्रीकी देशों को आर्थिक, सैनिक एव तकनीकी सहायता देना विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं। चीन ने अफ्रीका को इतना अधिक महत्व दिया कि उनकी विदेशी सहायता का बहुत बडा भाग अफ्रीका के ही हिस्से में जाता था। विदेशी सहायता के साथ-साथ चीन ने अफ्रीकी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी बढ़ाये।

आर्थिक सम्बन्धों मे वृद्धि—1966-69 की सास्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीन ने विदेशी राजधानियों से अपने अधिकांश राजदूत स्वदेश बुला लिये। इस कार्रवाई से उसने अनेक साम्यवादी और गैर-साम्यवादी दोनों प्रकार के देशों को विरोधी बना लिया, किन्तु इससे अफ्रीकी देशों के साथ उसके सम्बन्धों पर कोई खास बुरा असर नहीं पडा। 1969 मे चीनी राजदूत पुनः विश्व राजधानियो मे लौट आये और 1970 तक अफ्रीका में 15 चीनी कूटनीतिक मिशन सक्रिय हो गये। 1972 में चीन ने अनेक अफ्रीकी देशों के साथ नागरिक विमानन समझौते करने की इच्छा प्रकट की। 1971 मे संयुक्त राष्ट्र सघ मे चीन को सदस्यता मिलने के बाद अनेक अफ्रीकी देशों ने उसके साथ जल्दी ही कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर डाले। व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्धो के विस्तार मे प्रमुख रूप से मिस्र, सुडान, अल्जीरिया, इथियोपिया, जाम्बिया तथा तजानिया लाभ उठाते रहे हैं। उदाहरणार्थ, चीन ने सुडान के साथ 70 लाख डालर का आपसी व्यापार समझौता

देशो के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सकी। भले ही इण्डोनेशिया जैसा देश सिर्फ औपचारिक रूप से भारत से पहले आजाद हो चुका था, किन्तु गृह युद्ध में सघर्परत होने के कारण उसकी सार्थक अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका निभाने की स्थिति नही थी। चीन मे भयकर उथल-पुथल मची थी और जापान युद्ध के सर्वनाश के बाद पुनर्निर्माण का राष्ट्रीय अभियान शुरू करने जा रहा था। इन सब घटनाओ के सयोग से नेहरूकालीन भारत को आजादी के तत्काल बाद के वर्षों मे अपनी विदेश नीति को प्रभावशाली ढग से पश करने का अवसर मिला। इन सभी कारणों के सयोग म भारतीय विदेश नीति का अध्ययन आजादी के समय से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थियो क लिए आकर्षक और महत्वपूण विषय रहा है।

भारतीय विदेश नीति ऐतिहासिक परम्परा
(India's Foreign Policy Historical Tradition)

भारतीय सभ्यता का इतिहास हजारो वर्ष पुराना है। एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप म भारत की पहचान भी कम पुरानी नही है। पुराणो और मिथको मे भारत का हिमालय से लेकर समुद्र-पर्यन्त उस क्षेत्र को परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है, जो एक चक्रवर्ती सम्राट के शासन के योग्य भू-भाग समझा जाता था। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' मे यथार्थवादी निर्देशो से यह बात पुष्ट की कि इस तरह का चिन्तन कोरी कल्पना नही था। इस ग्रन्थ मे यह सलाह दी गयी है कि विजिगीषु (विजय का अभिलाषी) राजा को पडोसी राज्यो के साथ किस प्रकार के सम्बन्ध रखने चाहिएँ। मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन अर्थात् शत्रु क शत्रु के साथ मित्रता की हिदायत इसी ग्रन्थ म दी गई है।[1]

इसके अतिरिक्त महाभारत के शान्ति पर्व तथा अन्य सूत्रा-स्मृतियो मे अनेक ऐसी सारगर्भित टिप्पणियाँ मिलती हैं, जिनस पता चलता है कि प्राचीन काल मे भारतीय विद्वानो व प्रशासको न विदेश नीति और राजनय का कितना महत्वपूर्ण समझा था। प्रसिद्ध भारतीय राजनयिक एव इतिहासकार सरदार क० एम० पणिक्कर ने इसी सन्दर्भ मे महाभारत के दूत वाक्यम् प्रसग का उल्लेख किया है। यह समझना भ्रान्तिपूर्ण है कि यह सब विश्लेषण सैद्धान्तिक स्तर पर ही चलता था। व्यवहार और अनुभव क क्षेत्र म भी भारत नौसीखिया नही रहा। कौटिल्य के शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार म सेल्यूकस निकटोर नामक क्षत्रप द्वारा भेजा गया राजदूत मास्थनीज था। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार न राजदूतो का आदान प्रदान किया। सम्राट अशोक द्वारा सिहली द्वीप (श्रीलका) तथा दक्षिण पूर्व एशिया म भेजे गये विशेष दूतो का उपयोग धर्म विजय क लिए उपयोगी सिद्ध हुआ था। बाद के वर्षों मे कुषाणो, गुप्तों तथा हर्षवर्द्धन क काल म धार्मिक व सास्कृतिक शिष्टमण्डलो की आवाजाही चलती रही। इन सब ऐतिहासिक पुनरीक्षण का अभीष्ट यह प्रमाणित करना है कि विदेश नीति नियोजन और राजनयिक सम्पर्कों की भारतीय परम्परा उतनी ही पुरानी है जितनी चीन या यूरोप के प्राचीनतम देशो की। इसम यूरोपीय औपनिवेशिक शक्ति क आने क बाद ही व्यवधान पडा। परन्तु भारत की तुलना उन राष्ट्रो के साथ कतई नहीं की जा सकती, जिनका बाहरी दुनिया म परिचय साम्राज्यवाद

[1] Kautilya's *Arthashastra* Translated by R. Shamasastry (Mysore 1961).

पन्द्रहवाँ अध्याय

भारतीय विदेश नीति

भारत संसार मे सबसे बडी आबादी वाला दूसरा देश है। इसकी ऐतिहासिक परम्परा की जडें हजारो वर्ष पुरानी है और अनेक निकटवर्ती-सलग्न पड़ोसी राष्ट्र 'भारतीय क्षेत्र' के अन्तर्गत ही अपनी अलग पहचान बनाये रखने का प्रयत्न कर सकते है। नेपाल, भूटान, पाकिस्तान, बगला देश और श्रीलका सम्प्रभु राष्ट्र है और इनके अपने अलग राष्ट्रीय हित स्पष्ट हैं। परन्तु इनमे से कोई भी देश भारतीय विदेश नीति के उतार-चढाव की उपेक्षा नही कर सकता। इसी कारण कोई भी महाशक्ति, चाहे वह अमरीका हो या सोवियत संघ, लगभग एक अरब आबादी वाले दक्षिण एशियाई उपमहाद्वीप मे राजनयिक दृष्टि मे भारत की प्रमुख भूमिका की उपेक्षा नही कर सकती। भारत का महत्व सिर्फ जनसख्या को लेकर ही नही, बल्कि औद्योगिक राष्ट्रों की गिनती मे उसका दसवाँ स्थान है और वैज्ञानिक व तकनीकी समाधनो के भण्डार के रूप मे वह तीसरे स्थान पर है। भारत की इस तकनीकी व वैज्ञानिक क्षमता की उपेक्षा नही की जा सकती। भारत की भू-राजनीतिक स्थिति भी कुछ ऐसी है कि उसका अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक महत्व बहुत बढ जाता है। स्वय नेहरू जी ने एक बार कहा था कि 'भारत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चौराहे पर स्थित है। उसके एक ओर पश्चिम एशिया तो दूसरी तरफ दक्षिण-पूर्व एशिया के अति महत्वपूर्ण सामरिक क्षेत्र है जिनका प्रवेश द्वार भारत को बनाया जा सकता है। उत्तर मे चीन और दक्षिण मे हिन्द महासागर भारत को और अधिक महत्वपूर्ण देश बना देते है।'

इन सब स्थूल बातो के अतिरिक्त विचारधारा का पक्ष कम महत्वपूर्ण नही। नेहरू जी द्वारा सुझायी गयी गुट निरपेक्षता की अवधारणा को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे सबसे महत्वपूर्ण, मौलिक व रचनात्मक पहल समझा जा सकता है। जिस समय भारत आजाद हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर उसकी स्थिति अनूठी थी। भारत के गरीब होने पर भी स्वाभिमान के साथ नेहरू जी ने स्वाधीन विदेश नीति का मार्ग चुना और किसी भी बड़ी शक्ति का 'पिछलग्गू' बनना स्वीकार नही किया। उन्होने जल्दी ही आजाद होने वाले छोटे-बड़े अफ्रो-एशियाई देशो की अभिलाषा महत्वाकाक्षा को मुखर किया। इस रचनात्मक पहल का एक और पहलू था—निर्मम यथार्थवादी विकल्प (Real Political Alternative) का विकल्प ठुकराकर आदर्शवादी विकल्प सुझाना। नेहरू जी जोर देकर यह बात दोहराते थे 'आज का आदर्शवाद आने वाले कल का यथार्थवाद ही है।' भारतीय विदेश नीति के अध्ययन का महत्व इसलिए और भी बढ जाता है कि वह किसी एक बडे देश के साथ नही जुड़ी थी, बल्कि विचारधारा और रणनीति के क्षेत्र मे रचनात्मक पहल करने के साथ-साथ वह तीसरी दुनिया के बहुत सारे

अधिकारों से लैस वरिष्ठ दूतों के रूप में की गई। इन्हें 'एजेंट जनरल' कहा जाता था। अमरीका में जफरुल्ला खान और गिरजा शंकर वाजपेयी और चीन में के० पी० एम० मेनन ने यह उत्तरदायित्व सँभाला। इनके अलावा ब्रिटिश साम्राज्य के जिन हिस्सों में भारतीय मूल के नागरिकों का बाहुल्य था, वहाँ वाणिज्य दूतों के समकक्ष भारतीय उच्चायुक्तों की नियुक्ति की गयी। श्रीलंका, पूर्वी अफ्रीका तथा इंग्लैंड में इस तरह के राजनयिक पद थे। इस तथ्य को भी थोड़ा विस्तार से याद दिलाना इसलिए आवश्यक है कि इन विदेशज्ञ अधिकारियों में अनेक 1947 के बाद नेहरू जी के सहयोगी व सलाहकार बने और कुछ ने महत्वपूर्ण मामलों में नेहरू के चिंतन को प्रभावित किया। ऐसा नहीं कि ये लोग देश प्रेमी नहीं थे, परन्तु यह अनदेखा नहीं किया जा सकता कि उनका विश्व-दर्शन औपनिवेशिक साँचे में ढला था, और उनका राजनयिक संस्कार भारतीय वैदेशिक सम्बन्धों की ऐतिहासिक परम्परा में नहीं बल्कि पश्चिमी दीक्षा से अधिक प्रभावित था।[1]

भारतीय विदेश नीति की ऐतिहासिक परम्परा और उसके उत्तराधिकार की चर्चा करते समय अक्सर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के योगदान और खासकर नेहरू जी के मौलिक यशस्वी कृतित्व की बात उठायी जाती है। इसका विस्तृत विश्लेषण आगे किया जा रहा है, परन्तु यहाँ उन अन्य महानुभावों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन आवश्यक है, जिन्होंने भारतीय कांग्रेस के अलग रहते हुए भी सीमित साधनों से तमाम कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए अद्भुत राजनयिक कौशल द्वारा विदेशों में भारत की आजादी की लड़ाई जारी रखी। इनमें राजा महेन्द्र प्रताप एवं वीर सावरकर के अलावा लाला लाजपत राय और लाला हरदयाल के अनुयायी, गदर पार्टी के तमाम लोग शामिल हैं, जिन्होंने अमरीका, फ्रांस तथा सोवियत संघ में उल्लेखनीय राजनयिक काम किया। इनके अतिरिक्त वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय और मानवेन्द्र नाथ राय जैसे लोग भी थे, जो अपने साम्यवादी रुझान के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रेमी बने। कुल मिलाकर इन लोगों ने बीसवीं सदी में भारतीय विश्व-दर्शन को प्रभावित किया। इनमें वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय को तो प्रत्यक्ष रूप से नेहरू जी का प्रेरक-उत्प्रेरक कहा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ टाकुर की स्थिति और भी अनूठी है। राजनीति से सीधे न जुड़ते हुए भी उन्होंने अपने मानवतावादी रुझान के कारण दूर दराज के तमाम देशों के साथ समन्वयवादी सांस्कृतिक आदान-प्रदान का सूत्रपात किया। इसका लाभ आगे चलकर एशियाई भ्रातृभाव व विश्व-बंधुत्व की भावना को पुष्ट करने में नेहरू जी को मिला।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और विदेश नीति
(Indian National Congress and Foreign Policy)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यमवर्गीय भद्र लोगों द्वारा की गयी थी। यह स्वाभाविक था कि ऐसे लोगों की रुचि और जानकारी वैदेशिक मामलों में सामान्य से ज्यादा थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन (1892) में ही इस बात का विरोध किया गया था कि भारतीय सैनिकों का प्रयोग उपनिवेशवादी प्रशासन अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बर्मा और अफगानिस्तान में कर रहे थे। परन्तु, कुल मिलाकर अपने प्रारम्भिक वर्षों

[1] देखें— K. P. S. Menon *Many Worlds* (London 1965)

के युग मे परदेसियों के माध्यम से पराधीन उपनिवेशों के रूप में हुआ।[1]

स्वतन्त्र भारत न तो हीनता की दृष्टि से ग्रस्त था और न ही किसी प्रकार के अपराध बोध से। हजारों वर्षों से भारत के वैदेशिक सम्बन्ध शान्तिपूर्ण, समता वाले एवं सहकार की भावना से ओत-प्रोत रहे हैं। यह मात्र संयोग या अवसरवादिता नहीं कि नेहरू जी ने स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति की आधार शिला अशोक और बुद्ध के शाश्वत सिद्धान्तों एवं दर्शन पर रखी। इस सिलसिले में यह बात याद रखने लायक है कि जब भारत ने बाहरी विश्व से अपना नाता तोड़ा एवं अपने खिड़की-दरवाजे बन्द किये, तभी भारतीय कूप मंडूक बन गये और भारतीय राजनयिक क्षमता का ह्रास आरम्भ हो गया। अरब यात्री अलबरूनी ने अपने यात्रा वृत्तान्त मे यह बात बहुत अच्छी तरह से उद्घाटित की है।

ऐसा नहीं कि भारतीय विदेश नीति की ऐतिहासिक परम्परा सिर्फ हजारों वर्ष पहले ही ढूंढी जा सकती है। मुगलों के बाद केन्द्रीय सत्ता के इधर-उधर छितर जाने पर भी विदेशों के साथ प्रमुख भारतीय राजनयिक हस्तियों के सम्बन्धों का सिलसिला चलता रहा। मराठों और टीपू सुल्तान ने अंग्रेजों से लोहा लेते वक्त फ्रांसीसियों से सहायता व समर्थन पाने का प्रयत्न किया, तो राजा राम मोहन राय जैसा व्यक्ति मुगल सम्राट की पैरवी करने के लिए विलायत तक पहुँचा। 1858 के बाद ही यह स्थिति पैदा हुई, जब भारतीयों को इस सम्प्रभु अधिकार से वंचित किया गया और ब्रिटेन में लन्दन स्थित इण्डिया आफिस ने भारतीय रियासतों और ब्रिटिश शासनाधीन भारत के वैदेशिक सम्बन्धों का बीड़ा उठाया। तब भी भारत की स्थिति अन्य उपनिवेशों से भिन्न थी। भारत के आकार और सामरिक महत्व को देखते हुए यह संभव नहीं था कि उसके बारे में विदेश नीति सम्बन्धी सारे निर्णय लन्दन में लिये जायें। ब्रिटिश सम्राट का भारत में नियुक्त प्रतिनिधि गवर्नर जनरल नहीं, बल्कि वायसराय कहलाता था। उसका अधिकार क्षेत्र काफी विस्तृत था। अनेक विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि भारतीय हितों को लेकर इण्डिया आफिस, ब्रिटिश विदेश विभाग और वायसराय के बीच एक त्रिकोणीय रस्साकशी चलती रहती थी। अफगानिस्तान और तिब्बत के सन्दर्भ में रूसी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को देखते हुए भारतीय अंग्रेज अधिकारियों को काफी स्वायत्तता स्वयमेव मिल जाती थी।[2]

प्रथम विश्व युद्ध मे भारतीय सैनिकों की सार्थक भागीदारी के बाद भारत की विशेष स्थिति और भी मजबूत हुई। जब राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना हुई तो भारत को स्वतन्त्र रूप से इसका सदस्य बनाया गया। इसी तरह जब द्वितीय विश्व युद्ध की सामरिक जरूरतों के अनुसार भारत के औपनिवेशिक प्रशासकों को अपने मित्र देशों के साथ रणनीति के बेहतर समायोजन की जरूरत महसूस हुई तो अमरीका और चीन मे भारतीयों की नियुक्ति लगभग 'पूर्ण राजदूत' के

[1] भारत मे वैदेशिक सम्बन्धों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे समझने के लिए देखें—A. L. Basham, *Wonder that was India* (London, 1969) and D. P. Singhal, *India and the World Civilization* (Calcutta, 1972).

[2] अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी मे भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों की उपयोगी जानकारी के लिए देखें—Bimal Prasad, *'Origins of Indian Foreign Policy: The Indian National Congress and World Affairs'* (Calcutta, 1962).

मुद्धि बनी रही और उन्होंने साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी शोषण से औरों को भी मुक्त करने का बीडा उठाया। त्रोतस्की के नेतृत्व में कोमिनतार्न की महत्वपूर्ण भूमिका थी। मानवेन्द्र नाथ राय और वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय सरीखे भारतीयों ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से समाजवाद के अन्तर्राष्ट्रीयकरण के प्रकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। साम्राज्यवाद और समाजवाद के बीच जन्मजात वैर है। लेनिन की प्रसिद्ध उक्ति है— पूंजीवाद का चरमोत्कर्ष साम्राज्यवाद है अत साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्षरत स्वतन्त्रता सेनानियों को हर सम्भव सहायता देना सोवियत संघ की भावनात्मक ही नहीं, बल्कि सामरिक जरूरत भी थी।'

इन दोनों महत्वपूर्ण घटनाओं के पहले रूस पर जापान की विजय ने इस यथार्थ को रेखांकित किया कि आवश्यक मनोबल और वांछित आधुनिकीकरण के बाद 'निकृष्ट' समझी जाने वाली एशियाई जनता भी बडी शक्तियों में से किसी एक को ध्वस्त कर सकती है। चीन में राष्ट्रवादी क्रान्ति ने भी यही प्रमाणित किया कि इस ऐतिहासिक राष्ट्र का आलस्य और नशे की लत अब और अधिक समय तक उसे बीमार नहीं रख सकते। निश्चय ही इन दोनों घटनाओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं को प्रभावित किया।[1] गदर पार्टी के कार्यकर्ताओं और सावरकर जैसे लोगों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। कहने का अभिप्राय यह है कि कुल मिलाकर, गांधी और नेहरू के आविर्भाव तक भारत के सन्दर्भ में आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां तेजी से बदल रही थीं। और वैदेशिक मामलों में रुचि न लेना असम्भव-सा हो गया था। यूरोप और एशिया में इतनी जोरदार सामाजिक व राजनीतिक उथल पुथल मची थी, जिसे किसी समझदार-संवेदनशील व्यक्ति द्वारा अनदेखा करना सम्भव नहीं था। विलायत के एक स्कूल में पढ रहे किशोर जवाहर लाल नेहरू ने अपने पिता को लिखे एक पत्र में बहुत उत्साह के साथ आयरलैण्ड के प्रवास के दौरान आयरलैण्डवासियों के राष्ट्र प्रेम और उनके स्वतन्त्रता संग्राम के बारे में अर्जित जानकारी उद्धृत की। नेहरू जी के योगदान का अवमूल्यन किये बिना यह बात स्वीकार की जा सकती है कि बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों के समाप्त होते होते उपनिवेशवाद विरोध विश्वव्यापी बन चुका था। किसी भी देश का स्वाधीनता संघर्ष किसी न किसी बडी शक्ति के लिए (जो औपनिवेशिक शक्ति की प्रतिद्वन्द्वी हो) विदेश नीति का प्रश्न भी बन जाता था। अनेक महत्वपूर्ण निर्वासित प्रवासी स्वाधीनता सेनानी ऐसी जगह शरण लेते थे। सोवियत संघ ने ऐसे तत्वों को विधिवत् दीक्षित कर पथ प्रदर्शक का काम करना चाहा। इसके लिए जो रणनीति अपनायी गयी, वह शत्रु के विरुद्ध संयुक्त मोर्चे वाली और पूंजीवादी देशों में वामपंथी-समाजवादी रुझान के बुद्धिजीवियों व पत्रकारों को अपने पक्ष में इस्तेमाल करने वाली थी। बरनार्ड शा, एच० जी० वेल्स, बर्ट्रेंड रसेल और एल० एन० लन, ई० पी० टोमसन जैसे लोगों के नाम इस सिलसिले में खास तौर पर उल्लेखनीय हैं।

1927 में ब्रुसेल्स में 'साम्राज्यवाद विरोधी लीग' की पहली अन्तर्राष्ट्रीय बैठक हुई। इसके एक सत्र का सभापतित्व नेहरू जी ने किया। इस बैठक को एक मील का पत्थर समझा जाता है और इसके माध्यम से यह दर्शाने का प्रयत्न किया जाता है कि किस प्रकार नेहरू जी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में रुचि रखने वाले अकेले व्यक्ति

[1] एशियाई राष्ट्रवाद के उदय और इसके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभावों पर विश्लेषण के लिए देखें—K. M. Panikkar *Asia and the Western Dominance* (London 1967)

मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस व्यापक जनाधार वाली कोई क्रांतिकारी संस्था नहीं थी। इसका तथा इसके नेताओं का रुख-रवैया सुधारवादी और समझौतावादी था। अत. आने वाले वर्षों मे भले ही इसने विदेश नीति विषयक कई प्रस्ताव पारित किये, परन्तु उनका महत्व सीमित ही रहा। लेकिन इसकी यह एक महत्वपूर्ण दूरदर्शिता थी कि इस संस्था ने आरम्भ से ही भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को एशियाई-अफ्रीकी भाईचारे और साम्राज्य-विरोध के साथ जोडकर देखना शुरू किया।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे रुचि अधिक स्पष्ट रूप से दर्शाना और ब्रिटिश विदेश नीति के प्रति असहमति का स्वर मुखर करना वास्तव मे भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी के आविर्भाव के साथ ही आरम्भ हुआ। खिलाफत आन्दोलन के दौरान विदेश नीति के मसलो (धर्म के आधार पर ही सही) के साथ भारत की आम जनता को जोड़ा गया। इस बार फिर अरब-एशियाई एकता तथा उपनिवेशवाद विरोधी स्वर पुष्ट हुआ। महात्मा गांधी का दक्षिण अफ्रीका मे अनुभव उन्हें नस्लवादी बर्बरता का असली चेहरा दिखा चुका था। उनके लेखन, भाषणों आदि मे रंगभेद व नस्लवाद विरोध भी विदेश नीति मे रुचि लेने वालो के लिए महत्वपूर्ण बन गये।

लगभग इसी समय दो ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं, जिन्होंने इस विषय को क्रान्तिकारी ढंग से प्रभावित किया। एक थी—1914 मे प्रथम विश्व युद्ध का विस्फोट और दूसरा था—1917 मे सोवियत संघ मे बोल्शेविक पार्टी द्वारा सत्ता ग्रहण करना। कुछ विद्वानों का यह मानना भी तर्कसंगत है कि इसमे दो बाते और जोड़ी जानी चाहियें—1905 मे जारशाही रूस की जापान के हाथों पराजय और 1911 मे चीन मे सफल राष्ट्रवादी क्रान्ति। इन सब ऐतिहासिक घटनाओं का पुनरीक्षण इसलिए आवश्यक है क्योंकि स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक वर्षों मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विदेश नीति का अध्ययन करते वक्त अक्सर नेहरू जी जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों के करिश्माती योगदान का मूल्यांकन करते हुए निर्णायक व ऐतिहासिक धाराओं की उपेक्षा की जाती रही है।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान बड़े पैमाने पर भारतीय सैनिकों को यूरोपीय तथा अन्य अफ्रो-एशियाई मोर्चों पर लड़ने का मौका मिला। इस अनुभव ने उनके सामने यह कटु सत्य उद्घाटित किया कि औपनिवेशिक शासकों के लिए 'भारतीय जान' की कीमत बलि के बकरों जितनी ही है। इसके अलावा उन्हें यह समझने का मौका मिला कि उन्हें गुलाम बनाने वाले गोरे राष्ट्र खुद अपनी आजादी की कितनी बड़ी कीमत चुकाने को तैयार हैं। राजनीतिक चेतना से सम्पन्न बुद्धिजीवियों के लिए इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन नहीं था कि साम्राज्यवादी प्रभुत्व उपनिवेशवाद की किसी विशेषता पर नहीं, बल्कि भाड़े के देशी टट्टुओं पर ही टिका है। इसी तरह सोवियत क्रान्ति की सफलता ने यह बात भलीभाँति झलका दी कि शासन भले ही कितना उत्पीड़क और सैनिक शक्ति-सम्पन्न क्यों न दीखता हो, परन्तु दिलेर-दुर्जन दिखने वाला प्रतिद्वन्द्वी उसका तख्ता पलट सकता है। इसके अतिरिक्त लेनिन और ट्रोत्स्की जैसे बोल्शेविक नेताओं की मूल प्रेरणा मार्क्सवादी विचारधारा थी, जिसमे संसार भर के सर्वहाराओं को एक होने के लिए आह्वान किया गया था। कम से कम सफलता प्राप्ति के तत्काल बाद के वर्षों मे बोल्शेविकों की वैचारिक

[1] इस सिलसिले मे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा प्रकाशित दस्तावेजो का संकलन उपयोगी है—N. V Raj Kumar (ed.), *Indians Outside India* (Delhi, 1951)

मेनन ने नेहरू जी को अपनी जन-सम्पर्क प्रतिभा से प्रभावित किया परन्तु वह स्वयं भी नेहरू जी के सम्मोहक आकर्षण से नहीं बचे रह सके। 1935–36 की यात्राओं के दौरान विलायत में ही नहीं, बल्कि यूरोप में अन्यत्र भी कृष्ण मेनन ने ही नेहरू के पत्रकार सम्मेलनों, उनकी भेंट वार्ताओं आदि का आयोजन किया। कृष्णा मेनन के आग्रह पर ही नेहरू जी ने गृह-युद्धग्रस्त स्पेन का दौरा किया और जापानी आक्रमणकारियों से जूझते हुए चीन के साथ सहानुभूति प्रकट की। यह उल्लेखनीय है कि इन मामलों में सिर्फ शाब्दिक समर्थन प्रकट कर ही नेहरू जी सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे। कम से कम चीन के सन्दर्भ में देश भर से चन्दा एकत्र कर डा० कोटनीस के नेतृत्व में एक चिकित्सा मिशन चीन भेजा गया और इस परोपकार का लाभ समय बीत जाने के बाद भी भारत को मिला। इन्हीं वर्षों में नेहरू जी ने दक्षिण पूर्व एशियाई देशों का भी दौरा किया और प्रवासी भारतीयों के मामले में अपनी रुचि दर्शायी। इन यात्राओं के अतिरिक्त अपने कारावास के दौरान नेहरू जी को विधिवत पढ़ने लिखने का अवसर मिला और उपनिवेशवाद के तुलनात्मक अध्ययन ने उन्हें भारत के भविष्य के बारे में और देशों के सन्दर्भ में सोचने की प्रेरणा दी। कारावास में नेहरू जी की लिखी पुस्तकों—पिता के पत्र पुत्री के नाम (Letters to the Daughter), विश्व इतिहास की झलक (Glimpses of World History), भारत की कहानी (Discovery of India) और उनके विस्तृत पत्राचार से इस बात की पुष्टि होती है।[1]

उपर्युक्त वर्णन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में वैदेशिक मामलों में रुचि लेने वाले नेहरू जी अकेले व्यक्ति थे। 1936 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन के साथ साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में विदेश विभाग का भी गठन किया गया। नेहरू जी के अतिरिक्त राम मनोहर लोहिया, जय प्रकाश नारायण व आचार्य नरेन्द्र देव इसके सक्रिय सदस्य थे। इनमें लोहिया की पढ़ाई-लिखाई जर्मनी में हुई थी तो जयप्रकाश नारायण वर्षों अमरीका में रह चुके थे। बाहरी दुनिया के बारे में उनकी जानकारी नेहरू जी से कम नहीं थी। बल्कि यह कहा जा सकता है कि नेहरू जी की तरह अंग्रेजीपरस्त और अंग्रेज प्रेमी न होने के कारण उनका दिमाग इस मामले में ज्यादा खुला था। मीनू मसानी ने अपनी पुस्तक 'Bliss was it in that Dawn' में इस बात पर स्पष्ट टिप्पणी की है कि इनमें से कोई भी व्यक्ति भारत के वैदेशिक सम्बन्धों के मामले में नेहरू जी के फतवों को आँख मूँदकर नहीं स्वीकार करता था। लोहिया और जयप्रकाश सोवियत संघ के प्रति उस तरह मोहाविष्ट कभी नहीं रहे जिस तरह नेहरू जी। बाद के वर्षों में नेहरू जी को भले ही अकेले ही स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति निर्माण का श्रेय दिया जाय परन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं कि 1947 के पहले भी उनकी ऐसी ही महत्वपूर्ण भूमिका रही। मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे व्यक्ति अपने विशिष्ट परिवेश के कारण अरब जगत के बारे में एक खास तरह की विशेषज्ञता रखते थे।

नेहरू के विश्व दर्शन को सीधा टकराव सुभाष चन्द्र बोस के विश्व-दर्शन से

[1] यह वर्णन निम्नांकित लेखकों द्वारा रचित नेहरू जी की जीवनियों पर आधारित है—B R Nanda *The Nehrus Moti Lal and Jawaharlal* (London 1965)· B N Pandey *Nehru* (London 1976) और S Gopal *Jawaharlal Nehru A Biography* (Delhi 1976)

से और कितने कौशल से भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने में वे सफल हुए। यदि गहराई से छानबीन की जाये तो यह बात छिपी नही रह सकती कि इस मामले मे पहल नेहरू जी ने ही की थी, बल्कि सोवियत संघ मे कोमिनतार्न मे सक्रिय अफ्रो-एशियाई तत्वो ने ब्रुसेल्स सम्मेलन के लिए जमीन तैयार की थी। 1927 मे ब्रुसेल्स सम्मेलन की नीव वस्तुत: लगभग एक वर्ष पहले बाकुनगर मे आयोजित एक सम्मेलन मे रखी जा चुकी थी। सम्मेलन-स्थल के रूप मे ब्रुसेल्स का चुनाव सिर्फ इसलिए किया गया था कि रूस मे इस सम्मेलन का आयोजन किये जाने पर इसे समाजवादी षड्यन्त्र के रूप में बदनाम करना आसान होता। अन्तर्राष्ट्रीय परिपेक्ष्य के बारे मे नेहरू जी का 'मार्ग दर्शन' वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय निरन्तर करते रहे। उन्हे लगता था कि नेहरू जी के प्रगतिशील तेवरो को वे अपनी इच्छानुसार ढाल सकेंगे। बाद मे जब महात्मा गांधी के प्रभाव में नेहरू जी ने कठपुतला बनना अस्वीकार कर दिया तो बडे भावावेश के साथ वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने अपनी निराशा व्यक्त की। ब्रुसेल्स सम्मेलन के बारे मे इन सब बातों की पुष्टि नेहरू जी आत्मकथा और 'कुछ पुरानी चिट्ठियां' (A Bunch of Old Letters) में संकलित पत्रो से होती है।

सोवियत संघ और साम्यवादियो के साथ मोह भंग होने के बाद कुछ समय के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे नेहरू जी की रुचि कम हुई। दोबारा इस ओर उनका ध्यान तब गया, जब अपनी पत्नी कमला नेहरू के इलाज के लिए उन्हे स्विट्जरलैण्ड जाना पड़ा। नेहरू जैसा व्यक्ति अस्पताल के गलियारों में खाली नही बैठा रह सकता था। उन्होंने समय काटने के लिए जेनेवा मे होने वाले वैदेशिक मामलों से सम्बन्धित व्याख्यानों-गोष्ठियो मे भाग लेना शुरू किया और अवसर मिलने पर यूरोप के विभिन्न देशो का भ्रमण किया। इन्ही दिनों उनकी मुलाकात यूरोपीय चिन्तक रोमा रोला से हुई और चेकोस्लोवाकिया के प्रखर राष्ट्रवादियो से भी। जैसाकि नेहरू जी के जीवनीकार बी० एन० पाण्डे ने लिखा है—'यह एक सौभाग्यपूर्ण संयोग था, जब दो विश्व युद्धों के बीच के अन्तराल मे यूरोप की नियति बदल रही थी, उस समय नेहरू जी इसके प्रत्यक्षदर्शी रह सके। इसने उन्हें पारम्परिक शक्ति-सन्तुलन का यथार्थ आत्मसात करने का तो अवसर दिया ही, उनके चिन्तन को फासीवाद-नाजीवाद बनाम जनतन्त्र की बहस के बारे में भी साफ किया, इस समय तक नेहरू जी भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में प्रवेश कर रहे नौसिखिये, आदर्शवादी एवं भोले-भाले रूमानी व्यक्ति नही रह गये थे। उन्होने किसान आन्दोलन के नेतृत्व द्वारा अपनी अलग निजी पहचान बना ली थी। पश्चिमी देशों में उनकी शिक्षा और उनकी मुखरता के कारण उन्हे भारतीय स्वाधीनता संग्राम की मुख्य धारा का प्रवक्ता स्वीकार किये जाने लगा था। इस प्रभा मण्डल के निर्माण मे वामपंथी रुझान के अंग्रेज बुद्धिजीवियों अगाथा हैरिसन और ई० पी० टॉमसन जैसे लोगों का महत्वपूर्ण योगदान था। नेहरू जी की आत्मकथा के प्रकाशन के बाद उनकी अन्तर्राष्ट्रीय लोकप्रियता में असाधारण वृद्धि हुई।

इस आत्मकथा के प्रकाशन मे नेहरू जी को कृष्णा मेनन से बड़ी सहायता मिली। कृष्ण मेनन पहले से इंग्लैण्ड मे इण्डिया लीग का संचालन कर रहे थे और लेबर पार्टी के साथ सम्बन्ध सुधार कर भारतीय स्वाधीनता संग्राम के विषय मे विद्यार्थियों व पत्रकारो के बीच जनमत तैयार करने का काम कर रहे थे। कृष्णा

सकते है ।[1] ऐसा नही था कि ये सब बातें नेहरू जी के व्यक्तिगत आदर्शवादी रुझान से प्रेरित थीं और उनका कोई सम्बन्ध भारत के राष्ट्रीय हित से नही था। जैसाकि नेहरू जी अक्सर कहा करते थे कि वर्तमान का आदर्शवाद भविष्य का यथार्थवाद होता है। ये सभी सिद्धान्त आपस मे गुँथे हुए थे और अद्भुत ढग से दूरदर्शी थे। भारतीय विदेश नीति के प्रमुख सिद्धान्तो का विश्लेषण निम्नांकित बिन्दुओ के तहत किया जा सकता है—

1 विश्व शान्ति (World Peace)—विश्व शान्ति मे नेहरू की आस्था सिर्फ इसलिए नही थी कि वह बुद्ध और अशोक के देश मे जन्मे थे या अहिंसक महात्मा गाधी के पट्ट शिष्य थे। नेहरू मे व्यक्तिगत साहस की कोई कमी नही थी। उनके जीवन के अनेक प्रकरण उन्हे दुस्साहिक ही बताते है। विश्व शान्ति के प्रति उनका आकर्षण उस व्यक्तिगत अनुभव से उपजा था जिसमे उन्होने यूरोप के समृद्ध-सम्पन्न देशो को युद्ध की आग मे झुलसते और बर्बाद होते देखा था। जिस समय भारत आजाद हुआ, उस समय सारा विश्व द्वितीय महायुद्ध के ध्वस का बोझ उठा रहा था। नेहरू जी इस बात को भलीभाँति समझते थे कि यदि विश्व शान्ति अक्षत नही रखी जा सकी तो अफ्रीका और एशिया के अनगिनत देशो को आजाद होने का मौका नही मिलेगा। जब तक बडी शक्तियाँ सघर्षरत रहगी, उन्हे सामरिक दृष्टि से साम्राज्यवादी रणनीति के अनुसार अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र बनाने ही होंगे। इन प्रभाव क्षेत्रो के अन्तर्गत आने वाले छोटे राष्ट्र-विपन्न समाज ऐसी हालत मे स्वाधीनता की कल्पना भी नहीं कर सकते। नेहरू जी ने यह बात बहुत पहले आत्मसात कर ली थी कि विकास और विनाश के बीच गहरा अन्तर-सम्बन्ध है। जब तक विश्व पर युद्ध के बादल मँडराते रहेंगे, तब तक विकासशील-नवोदित राष्ट्रो के लिए राष्ट्र-निर्माण के ससाधन सुलभ नही हो सकते। नेहरू यूरोप मे महायुद्ध तथा अफ्रो-एशियाई देशो म गृह युद्ध के अपने निजी अनुभवो से यह बात भलीभाँति समझते थे कि युद्ध का दबाव अन्य सभी सामाजिक प्राथमिकताओं को पीछे धकेल देता है। वह मनुष्य के पाशविक पक्ष को उकसाता-उभारता है तथा अधिनायकवाद को बढावा देता है। फासीवाद-नाजीवाद का उदय प्रथम विश्व युद्ध के मलबे के बिना सम्भव नही था। परमाणु अस्त्रो के आविष्कार ने नेहरू जी के शान्तिवादी चिन्तन को और भी पुष्ट किया। भारत की स्वाधीनता को सार्थक बनाने तथा विकास की गति तेज रखने के लिए लिए विश्व शान्ति अनिवार्य थी। इसीलिए नेहरू जी ने अपने विदेश नीति नियोजन मे विश्व शान्ति को प्राथमिकता दी।

2. गुट-निरपेक्षता (Non-alignment)—गुट-निरपेक्षता की अवधारणा विश्व शान्ति की स्थापना के लिए एक महत्वपूर्ण पहल थी। द्वितीय महायुद्ध के बाद युद्ध-विराम तो हो गया परन्तु शान्ति नही लौटी। मित्र राष्ट्रो मे फूट पड गयी और शीत युद्ध का आविर्भाव हुआ। परमाणु अस्त्रो के आविष्कार के बाद पारम्परिक शक्ति-सन्तुलन का स्थान आतक के सन्तुलन ने ले लिया। इस विषय पर विशद टिप्पणी अन्यत्र की गयी है। यहाँ सिर्फ इतना रेखांकित करना यथेष्ट रहेगा कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बेहद तनावपूर्ण और जोखिम भरी हो

[1] देखें—A. Appadorai and M S Rajan (ed) *India's Foreign Policy and Relations*, (Delhi, 1985) तथा A Appadorai, *Domestic Roots of Indian Foreign Policy*, 1947–1972, (Delhi, 1981)

था। सुभाष भी विलायत मे पढे थे और तेजस्वी-करिश्माती व्यक्तित्व के धनी थे। वह नेहरू जी की तरह दो विश्व युद्धों के बीच के अन्तराल में यूरोप का विस्तृत दौरा कर चुके थे। ऐतिहासिक साहित्य का अध्ययन करने और उसके आधार पर भारत के भविष्य के बारे मे निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति भी उनमें नेहरू जी जैसी थी। फर्क सिर्फ इतना था कि सुभाष चन्द्र बोस उन्ही परिस्थितियों और सामग्री का अध्ययन कर नेहरू के बिल्कुल विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचे थे। सुभाष का मानना था कि ब्रिटेन एक ह्रासोन्मुख शक्ति है। अतः भारत ब्रिटेन के शत्रुओं को सहायता देकर ही उनको अपना मित्र प्रमाणित कर सकता है और इस तरह अपने स्वाधीनता संग्राम की गति तेज कर सकता है। अक्सर सुभाष चन्द्र बोस पर फासीवादी-नाजीवादी होने का आरोप लगाया जाता है, परन्तु यह बिल्कुल निर्मूल है। स्वयं गांधी जी ने यह बात बेहिचक स्वीकार की थी कि सुभाष के देशप्रेम पर कोई भी अंगुली नहीं उठा सकता। इसी तरह यह भी एक अति सरलीकरण है कि नेहरू जी के विदेश नीति विषयक सुझाव आदर्शवादी थे और सुभाष चन्द्र बोस के अति यथार्थवादी। वस्तुतः 1939 मे जब क्षितिज पर युद्ध के बादल मंडरा रहे थे तो कोई भी यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता था कि सैनिक मुठभेड़ मे कौन-सा पक्ष विजयी होगा। 1943 तक पलड़ा धुरी राष्ट्रों के पक्ष में झुका रहा। इन्ही दिनों सुभाष ने आजाद हिन्द फौज का गठन किया और दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक राष्ट्रों को गुलामी के जुए से छुड़ाने (प्रतीकात्मक ढंग से ही सही) में भारतीय योगदान उद्घाटित किया।

1939 मे जब द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटिश पक्ष को समर्थन देने का सवाल उठा तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी मे टकराव असल मे नेहरू जी और सुभाषचन्द्र बोस के द्वन्द्व का ही रूपान्तर व विस्तार था। 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद सभी प्रमुख भारतीय नेता बन्दी बना लिये गये और इनकी रिहाई युद्ध की अवसान वेला मे शिमला सम्मेलन (1945) के लिए ही हुई। परन्तु इसमे यह नहीं समझना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस निष्क्रिय हो गयी थी। विमान दुर्घटना मे अपनी अकाल मृत्यु तक सुभाषचन्द्र बोस ने स्वाधीन भारत की अन्तर्राष्ट्रीय महत्वकांक्षा को जीवित रखा। इसके अलावा 1943 के सान फ्रांसिस्को सम्मेलन मे गैर-सरकारी प्रतिनिधि के रूप मे श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित ने भाग लिया और सरकारी प्रतिनिधियों को प्रभावहीन बना दिया। जेल में बन्दी होने के बावजूद नेहरू जी का अपने मित्रों के साथ पत्राचार जारी रहा और वह चांग काई शेक तथा रूजवेल्ट जैसे सहानुभूति रखने वाले शीर्षस्थ विदेशी नेताओं के माध्यम से राजनय अनवरत रख सके। इस अनुभव ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय विदेश नीति निर्धारण-नियोजन में भारी योगदान दिया।

भारतीय विदेश नीति के नीति निर्धारक तत्व व सिद्धान्त
(Basic Principles of Indian Foreign Policy)

विश्व शान्ति, गुट निरपेक्षता, निःशस्त्रीकरण का समर्थन, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद व नस्लवाद का विरोध, अफ्रो-एशियाई एकता का आह्वान और संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तो में आस्था भारतीय विदेश नीति की नींव के पत्थर समझे जा

निशस्त्रीकरण के प्रति आकर्षण किसी दुर्बलता से नही उपजा था । न्यायसगत विषय पर आत्मरक्षा के लिए शस्त्र प्रयोग से नेहरू जी को कोई हिचकिचाहट नही होती थी। गोवा, कश्मीर और चीन के प्रसग इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

4 साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद व रगभेद का विरोध (Opposition to Imperialism, Colonialism and Apartheid)—विश्व-शान्ति, गुट निरपेक्षता व निशस्त्रीकरण की पक्षधरता के बावजूद नेहरू द्वारा निर्धारित भारतीय विदेश नीति के सिद्धान्तो मे साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद व नस्लवाद का कट्टर विरोध शामिल था। सतही दृष्टि से इसमे भले ही विरोधाभास जान पडे, लेकिन वास्तव मे ऐसा नही था। नेहरू जी ने यह बात बहुत पहले स्पष्ट कर दी थी कि विश्व शान्ति को सबसे बडा सकट साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एव नस्लवाद से है। नेहरू जी का ऐतिहासिक अध्ययन और राजनीतिक अनुभव उन्हे यह बात भी भली-भाँति आत्मसात करवा चुका था कि नस्लवाद और उपनिवेशवाद बिना साम्राज्यवादी समर्थन के टिक नही रह सकते। भारतीय अनुभव के कारण नेहरू जी वास्तव मे इस सघर्ष का शान्तिपूर्ण परामर्श द्वारा समाधान चाहते थे परन्तु आवश्यकता पडने पर सशस्त्र जन-मुक्ति सग्राम को भारतीय समर्थन देने मे उन्हे सकोच नही होना था।

5. एफ्रो-एशियाई एकता (Afro-Asian Solidarity)—नेहरू जी ने यह बात बहुत पहले अच्छी तरह गाँठ बाँध ली थी कि ससार के सभी विपन्न और वचित राष्ट्रो और समाजो के हित एक समान हैं। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद व नस्लवाद का विरोध हो या गुट निरपेक्षवाद आन्दोलन के सचालन द्वारा विश्व शान्ति और निशस्त्रीकरण को आगे बढाने का सवाल, इसके लिए अफ्रो-एशियाई एकता की पुष्टि परमावश्यक थी। इस प्रकार नेहरू द्वारा अफ्रो-एशियाई भाईचारे की बात उठाना कोरा भावावेश नही, बल्कि एक तर्कसगत कदम था।

6 सयुक्त राष्ट्र सघ मे आस्था (Faith in the U. N)—इसी तरह सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति नेहरू जी का आकर्षण किसी आदर्शवाद नादानी से प्रेरित नही था। बल्कि उपर्युक्त 'अन्तर-सम्बन्धित सिद्धान्तो' के व्यवहार मे रूपान्तरण की सम्भावना के कारण उपजा था। नेहरू जी निहायत यथार्थवादी ढग से जानते थे कि वीटो के कारण दो महाशक्तियो के बीच जिच की स्थिति पैदा हो जाने से स० रा० सघ मे भारत जैसे गुट निरपेक्ष देश को रचनात्मक भूमिका निभाने का मौका मिल सकता है और सदस्य देशो की जमात मे अफ्रो-एशियाई देशो की वृद्धि होने के साथ इस मच का उपयोग विश्व शान्ति की स्थापना, निशस्त्रीकरण के प्रसार और साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद व नस्लवाद के विरुद्ध सघर्ष के लिए बखूबी किया जा सकता है।

भारतीय विदेश नीति . विभिन्न चरण

भारतीय विदेश नीति मे निरन्तरता और परिवर्तन की दोनो धाराएँ साथ-साथ चलती रही है। आजादी के बाद भारत ने जहाँ उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व रगभेद और बडी शक्तियो की गुटबाजी का कडा विरोध किया, वही 1962 के बाद भारतीय विदेश नीति की प्राथमिकताएँ और जोर कुछ अन्य मसलो पर केन्द्रित हो गया। कुछ और वर्षों बाद नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश, समुद्री कानून सम्मेलन, उत्तर-दक्षिण सवाद, दक्षिण-दक्षिण सवाद और परमाणु निशस्त्रीकरण जैसे

गयी थी। नेहरू जी ने बेहद समझदारी के साथ नवोदित राष्ट्रों के सामने गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने का सुझाव रखा। जाहिर है कि गुट-निरपेक्षता का अर्थ निष्क्रिय उदासीनता, तटस्थता या अवसरवादिता नहीं था। अपनी स्वाधीनता को मुखर कर स्व-विवेक के अनुसार अपने राष्ट्र हित के अनुकूल विकल्प चुनना असली गुट-निरपेक्षता थी। इस नीति पर डटे रहना कट्टरपन नहीं, बल्कि साहस का काम था।

नेहरू जी ने यह बात आरम्भ में ही स्पष्ट कर दी कि उनका इरादा अपने देश को महाशक्तियों के दगल से अलग बचाकर रखने का है और क्रमश: शान्ति के क्षेत्र के विस्तार का। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि भारत की कोई भी महत्वाकांक्षा तीसरे खेमे के गठन और उसके मुखिया के रूप में उभरने की नहीं है। नेहरू जी यह बात अच्छी तरह समझते थे कि गुट-निरपेक्षता त्यागने का अर्थ किसी न किसी महाशक्ति का शिविरानुचर बनना ही हो सकता है और ऐसा करना कठिनाई से अर्जित आजादी को गँवाना होता है। नेहरू जी ने कभी यह समझने-समझाने की नादानी नहीं की कि गुट निरपेक्षता का अर्थ निष्क्रिय रहना है। इसके अतिरिक्त गुट-निरपेक्षता के कारण भारत जैसा नवोदित राष्ट्र दोनों खेमों से आर्थिक सहायता ग्रहण कर सकता था। आरम्भ में भले ही तत्कालीन सोवियत शासक स्टालिन और अमरीकी विदेश सचिव डलेस ने गुट निरपेक्षता को उपहास का विषय समझा, किन्तु कोरिया और हिन्द चीन के अनुभव के बाद उनके द्वारा भारत की ईमानदारी पर प्रश्न-चिन्ह लगाना सम्भव नहीं रहा। नेहरू जी ने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के बहाने, मिस्र, कम्पुचिया, इण्डोनेशिया और युगोस्लाविया जैसे देशों से सम्बन्ध घनिष्ठ कर अफ्रो-एशियाई भाईचारे और विश्व बन्धुत्व के भाव को पुष्ट किया। जब साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के विरुद्ध मुहिम छेड़ना जरूरी समझा गया तब गुट निरपेक्षता का मन्त्र बेहद उपयोगी सिद्ध हुआ। इसीलिए शिशिर गुप्त जैसे विद्वानों ने टिप्पणी की है कि शायद गुट निरपेक्षता को भारतीय विदेश नीति का एक प्रमुख सिद्धान्त कहने की अपेक्षा इसे विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनायी गयी रणनीति कहना समीचीन है।

3. निःशस्त्रीकरण (Disarmament)—जिस तरह गुट निरपेक्षता विश्व शान्ति से जुड़ी हुई थी, उसी तरह निःशस्त्रीकरण का मुद्दा गुट निरपेक्षता से गुँथा हुआ था। जब तक शस्त्रास्त्रों की अन्धी दौड़ जारी थी, तब तक विश्व शान्ति को निरापद नहीं समझा जा सकता था। शस्त्रीकरण की प्रक्रिया अनिवार्यत: युद्ध की मानसिकता को पुष्ट करती थी, जिसमें सैनिक सगठन, शत्रु की घेराबन्दी, जोर-आजमाइश आदि से बचना कठिन था। परमाणु अस्त्रों के आविष्कार ने शस्त्रीकरण की समस्या के और भी खतरनाक आयाम उद्घाटित किये थे। कई लोगों का यह भी मानना है कि नेहरू जी के लिए विश्व शान्ति और निःशस्त्रीकरण अलग-अलग मुद्दे नहीं थे। नेहरू जी ने हर उपलब्ध अन्तर्राष्ट्रीय मंच से निःशस्त्रीकरण का सन्देश प्रसारित किया। इसके खातिर वह अपने आत्मीय मित्रों से टकराने में भी कभी कतराये नहीं। गुट निरपेक्ष देशों के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन (1961) में सुकार्णो के साथ उनकी मुठभेड़ निःशस्त्रीकरण बनाम नव-उपनिवेशवाद को लेकर ही हुई थी। कुछ अन्य विद्वानों का यह भी मानना है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में नेहरू जी की आस्था इसीलिए गहरी थी, क्योंकि वह समझते थे कि बिना व्यावहारिक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के सम्प्रभु राष्ट्र स्वेच्छा से शस्त्र त्याग नहीं करने वाले। नेहरू जी का

शान्तिपूर्ण समाधान की प्रस्तावना के बिना यह अस्तित्व की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। पचशील योजना मे यह बात अन्तर्निहित थी कि इसका अभिगम सिर्फ प्रतिरक्षात्मक नही बल्कि रचनात्मक भी है। पचशील समझौते मे साझीदार पक्षो के लिए लाभप्रद उभयपक्षीय सहकार के लक्ष्य तय करना नेहरू जी की दूरदर्शिता थी।

पचशील के बारे म विदेशी और भारतीय विद्वानो के मत स्पष्टत दो ध्रुवो के बीच झूलते है। कुछ विद्वानो का मानना है कि पचशील की बात उठाना नेहरू जी की दुर्बलताजनित विवशता थी। सैनिक शक्ति और आर्थिक ससाधनो के अभाव मे वह और कुछ कर भी नही सकते थे। जयन्तनुज बन्द्योपाध्याय जैसे कुछेक विद्वान अपवाद हैं जो मानते हैं कि नेहरू जी ने जान बूझकर यह जोखिमभरा कदम उठाया, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नई दिशा दी जा सके। दूसरी ओर लोन कावकि और नेविल मेक्सवेल सरीखे लेखक हैं जिनकी समझ मे पचशील एक धूर्ततापूर्ण पाखण्ड था, जिसका एकमात्र उद्देश्य भारत को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाने के लिए कुछ मोहलत जुटाना था। वैसे, इन दोनो बातो म कोई बुनियादी अन्तर विरोध नही है। आर्थिक और सैनिक उपकरणो के अभाव म यदि बाडुग सम्मेलन (1955) के अवसर पर नेहरू जी ने भारत को अदभुत प्रतिष्ठा दिला दी थी तो उसके आधार मे पचशील की सफलता ही थी।

बाडुग सम्मेलन के बारे मे मजेदार बात यह है कि अफ्रो-एशियाई देशो क इस जमघट का आयोजन भारत के सुझाव पर नही किया गया था। कोलम्बो परियोजना मे शामिल पश्चिमी खेमे के पक्षधर राष्ट्रो ने इसकी पहल की, परन्तु नेहरू जी और कृष्णा मेनन ने समझदारी दिखाते हुए इसे नवोदित राष्ट्रो की स्वाधीनता और गुट निरपेक्षता का प्रतीक बना दिया। आज कई दशक बाद बाडुग सम्मेलन की सीमाओ और असफलताओं का छिद्रान्वेषण सहज है। परन्तु नेहरू जी ने शीत युद्ध के मक्टा स जूझते हुए जिस तरह सैनिक गठबधनो को निरस्त करने का प्रयास किया वह प्रशसनीय था। ऐसा सोचना ठीक नही कि नेहरू जी ने सिर्फ शब्दाडम्बर या वक्तृता से तीसरी दुनिया का नेतृत्व हथियाने क लिए एसा किया। बाडुग सम्मेलन के आयोजन के पहले कारिया म अपनी निष्पक्ष मध्यस्थता और हिंद चीन मे युद्ध विराम के लिए सक्रियता स भारत ने अपनी पात्रता प्रमाणित कर दी थी। नासिर, सुकार्णो आदि क साथ व्यक्तिगत स्तर पर सार्थक सवाद का सूत्रपात भी बाडुग सम्मेलन से ही सम्भव बना।

बाडुग सम्मेलन का एक और दृष्टि स अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है। इस सम्मेलन मे हिस्सेदारी क बाद ही चीन की साम्यवादी सरकार का मानवीय पक्ष अन्य देशो क सामने आया और उसको वांछित स्वीकृति मिल सकी। इस सम्मेलन म अपनाये गये प्रस्तावो का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट होती है कि पचशील समझौते की तरह इस बार भी नेहरू जी ने आदर्श और यथार्थ का सतुलन बैठाने की कोशिश की थी। उनका प्रमुख प्रयत्न यही था कि अधिकाधिक अफ्रो-एशियाई देशो का ब्रिटिश ससदीय प्रणाली स प्रेरित मना-सम्मेलनीय राजनय म शामिल किया जा सक ताकि भविष्य मे उठन वाले विवादो क शान्तिपूर्ण समाधान की सम्भावना बची रहे। बाडुग सम्मेलन की उपलब्धि यही थी कि दोनो महाशक्ति को यह बात स्पष्ट समझायी जा सकी कि अफ्रो-एशियाई देशो का उनसे कोई जन्मजात वैर सैद्धान्तिक

मसले विश्व राजनीति में छा गये। जाहिर है कि भारत इनके प्रति मौन नहीं रह सकता था। इनके अतिरिक्त पड़ोसी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध भी अनेक बार काफी तनावग्रस्त हुए। इन सभी बातों का अध्ययन विभिन्न भारतीय प्रधान मन्त्रियों के शासन काल के दौरान अपनायी गई विदेश नीति के विश्लेषण से करना उचित होगा।

नेहरूकालीन विदेश नीति : सिद्धान्त व व्यवहार का टकराव (Foreign Policy during Nehru Era)

नेहरू की विदेश नीति के प्रमुख सिद्धान्त स्वाधीनता संग्राम के दिनों में ही सुनिश्चित हो गये थे। व्यावहारिक रूप में इनको औपचारिक ढंग से पंचशील के नाम से परिभाषित किया गया। भले ही भारत व चीन के बीच पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर अप्रैल, 1954 में किये गये, परन्तु 1947 से लेकर 1954 तक भारत के अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाकलाप इसी आधार पर संचालित व समायोजित होते रहे।

पंचशील के पाँच सिद्धान्त निम्नलिखित है—

(i) सभी राष्ट्र एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता व सम्प्रभुता का सम्मान करें;

(ii) कोई राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण न करे और दूसरों की राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण न करे;

(iii) कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे;

(iv) प्रत्येक राज्य एक-दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करे तथा पारस्परिक हित में सहयोग प्रदान करे (अर्थात् न कोई देश बड़ा है और न ही छोटा);

(v) सभी राष्ट्र शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास करें तथा इसी सिद्धान्त के आधार पर एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रहें और अपनी पृथक् सत्ता एवं स्वतन्त्रता बनाये रखें।

कुछ विद्वानों का मानना है कि 'पंचशील योजना' नेहरू जी की आदर्शवादी रूमानियत का उदाहरण भर थी, और कुछ नहीं। परन्तु यह बात अनदेखी नहीं की जानी चाहिए कि पंचशील की राजनयिक रणनीति भारतीय राष्ट्रीय हितों की यथार्थवादी कसौटी पर खरी उतरती है। भारत का विभाजन आजादी के साथ हो गया और पाकिस्तानी रजाकारों ने कश्मीर को हथियाने के लालच में भारतीय सीमा का अतिक्रमण किया। यह अघोषित युद्ध लगभग दो वर्ष तक चलता रहा। 1947 में सारा भारतीय भू-भाग एक साथ स्वतन्त्र नहीं हुआ। रजवाड़ों की स्थिति संदिग्ध थी और गोवा, दमन, दीव, चन्द्र नगर व पाण्डिचेरी जैसे इलाके अंग्रेजों से इतर दूसरी औपनिवेशिक शक्तियों के आधिपत्य में थे।

इसके शीघ्र बाद एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। 1949 में चीन में साम्यवादियों ने सरकार का गठन किया और 1950 में तिब्बत को मुक्त कराने का प्रयास शुरू किया। इसके साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन काल में सीमांकित किया गया सारा हिमालयी सीमान्त विवादास्पद बन गया। ऐसी परिस्थिति में यदि नेहरू जी ने नवोदित राष्ट्रों की सम्प्रभुता की रक्षा, भौगोलिक सीमाओं के सम्मान और आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप से बचने के पक्ष में अन्तर्राष्ट्रीय जनमत तैयार करने की चेष्टा की तो इसे आदर्शवादी कतई नहीं समझा जा सकता। समस्याओं के

शास्त्रीकालीन विदेश-नीति
(Foreign Policy during Shastri Era)

1964 मे नेहरू जी की मृत्यु के बाद लाल बहादुर शास्त्री ने देश की बागडोर सँभाली। शास्त्री जी का व्यक्तित्व अपने पूर्ववर्ती प्रधानमन्त्री नेहरू जी से इतना भिन्न था कि कई लोगो के मन मे यह शक पैदा होना स्वाभाविक था कि विदेश-नीति नियोजन और निर्धारण के मामले मे शास्त्री जी असमर्थ रहेगे। न तो उनकी शिक्षा-दीक्षा विदेश मे हुई थी और न ही प्रधानमन्त्री बनने के पहले उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे कोई विशेष रुचि दर्शायी थी। इसी कारण जब शास्त्रीकालीन भारतीय विदेश-नीति का विश्लेषण किया जाता है तो नेहरू-युगीन विदेश-नीति के साथ उसका फर्क दर्शाने का लोभ सवरण कम ही लोग कर पाते हैं। शास्त्रीकालीन विदेश-नीति के सन्दर्भ मे अक्सर यह कहा जाता है कि उन्होने निरर्थक आदर्शवाद को सार्थक यथार्थवाद से विस्थापित किया और शान्ति प्रेमी होने के बावजूद राष्ट्र-हित के सरक्षण-सवर्धन के लिए सैनिक उपकरणो की उपयोगिता स्वीकार की। उनके कार्य-काल का विशेष अध्ययन करने वाले प्रोफेसर एल० पी० सिंह का मानना है कि 'भले ही *उन्होने भारतीय विदेश-नीति के क्षितिज सकुचित किये, किन्तु उन्हे कुल मिलाकर* मौलिक सूझ से वचित नही समझा जा सकता और न ही उनके योगदान को नगण्य माना जा सकता।'

शास्त्री युग की भारतीय विदेश नीति मे दो प्रमुख स्मारक बिन्दु हैं—(i) पाकिस्तान के साथ सैनिक मुठभेड के बाद ताशकन्द समझौता, और (ii) श्रीलका की प्रधानमन्त्री श्रीमती सिरीमाओ भण्डारनायक के साथ परामर्श के बाद नागरिकता-विहीन प्रवासी तमिलो के बारे मे शान्तिपूर्ण समाधान। जहाँ एक ओर कच्छ के रण मे और उसके बाद पाकिस्तान के साथ युद्ध मे शास्त्री जी ने यह स्पष्ट किया कि वह शान्ति प्रिय और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के नाम पर भारतीय राष्ट्रीय हित की बलि देने को तैयार नही है, वही श्रीलका के साथ समझौते से उन्होने अन्य छोटे पडोसी देशो को इस बारे मे आश्वस्त किया कि भारत का कोई इरादा बल प्रयोग द्वारा उन पर हावी होने का नही था। मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो की स्थापना के लिए वह रियायतें देने को प्रस्तुत थे। नेहरू जी की तरह अपनी अन्तर्राष्ट्रीय छवि या अहं को बरकरार रखने की कोई समस्या शास्त्री जी के सामने नहीं थी।

शास्त्री जी की विदेश नीति के बारे मे दो-तीन और बातें उल्लेखनीय है। एक तो उन्होने प्रधानमन्त्री सचिवालय का गठन कर अपने सलाहकारो की एक नई टोली जुटायी। इससे विदेश मन्त्रालय के अवमूल्यन की प्रक्रिया चाहे-अनचाहे शुरू हुई। इसके अतिरिक्त परमाणु नीति के मामले मे शास्त्री जी ने यह निर्णय लिया कि सामरिक विकल्प को त्यागा न जाये।

ताशकन्द सम्मेलन मे दिल का दौरा पडने से शास्त्री जी की मृत्यु हो गयी। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन, राष्ट्रमण्डलीय राजनय, अफ्रो-एशियाई भाईचारे आदि के क्षेत्र मे निजी छाप छोडने का कोई अवसर उन्हे नहीं मिला। यह भी स्मरणीय है कि

Modern India (Bombay, 1971), J Bandyopadhyaya, *Making of India's Foreign Policy* (Calcutta, 1970), और Surjit Man Singh, *India's Search for Power Indira Gandhi's Foreign Policy, 1966–82* (Delhi, 1984)

विचारधारा या नस्ल के आधार पर नही है। पाकिस्तान और सीलोन (अब श्रीलंका) के साथ भारतीय प्रतिनिधियों की नोक-झोंक भले ही होती रही, परन्तु बाडुंग में ही उस अफ्रो-एशियाई गुट का गठन हुआ, जिसने सयुक्त राष्ट्र सघ मे इनकी हस्ती को महत्वपूर्ण बनाया। बाडुंग भावना के बिना गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का वेगवान बनना कठिन होता।

परन्तु इस सबसे यह समझना उचित नही कि नेहरू जी की विदेश-नीति तर्क-संगत और दूरदर्शी होने के कारण सभी प्रकार की दुर्बलताओं से मुक्त थी। नेहरू जी सदैव इस बात को अनदेखा करते रहे कि अधिकतर अफ्रो-एशियाई नेताओं का स्वभाव और सस्कार उनसे भिन्न है और यह जरूरी नही कि वे हमेशा बदली परिस्थिति में भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषयक उनकी सभी स्थापनाओं को लाभप्रद-उपयोगी उपदेश के रूप में ग्रहण करते रहे। बाडुंग सम्मेलन के सस्मरण लिखते वक्त नासिर और चाऊ एन लाई दोनों ने यह स्वीकार किया है कि नेहरू जी हमेशा इस तरह आचरण करते थे जैसे वह उनके बड़े भाई या पथ-प्रदर्शक हो। दोनों नेताओं को यह बात अपमानजनक लगती रही थी। इस बात से इकार नही किया जा सकता कि नेहरू जी की विदेश-नीति और राजनय व्यक्ति-केन्द्रित थे और व्यक्तिगत समीकरण बदलने पर विदेश-नीति और राजनय बहुत सीमित प्रभाव वाले रह जाते थे। बेलग्रेड सम्मेलन में सुकार्णो और नेहरू जी के बीच टकराव के बाद पुरानी सुखद स्थिति कभी लौटायी नही जा सकी।

नेहरू जी की एक और कमजोरी थी। वह अपनी पसन्द-नापसन्द को छिपाकर नही रख सकते थे। उनकी आस्था समाजवादी जनतन्त्र में थी। वह राजशाही, सामन्तवाद तथा सैनिक शासन को प्रतिक्रियावादी समझते थे। नेपाल तथा पाकिस्तान के साथ उनका व्यवहार इसी कारण कभी सहज नही हो सका। श्रीलका के प्रधान-मन्त्री जोन कोटलेवाला ने एक बार यह सटीक टिप्पणी की थी कि 'भारत जैसा बड़ा राष्ट्र गुट-निरपेक्षता की विलासिता भोग सकता है परन्तु छोटे राष्ट्रों के सामने यह सुविधापूर्ण मार्ग उपलब्ध नही।' आचरण में व्यावहारिक होने के बावजूद घोषणाओं के स्तर पर सैद्धान्तिक शुद्धि का दुराग्रह नेहरू जी की विश्वसनीयता और भारतीय विदेश-नीति का प्रभाव कम करता रहा। समस्याओं के शान्तिपूर्ण निपटारे की बात करते वक्त नेहरू जी कश्मीर मे जनमत सग्रह के अपने आश्वासन को निरन्तर टालते रहने के लिए बाध्य हुए। वह गोवा की मुक्ति के लिए बल-प्रयोग के बाद कथनी और करनी में दोहरे मानदण्डो के लिए भी बदनाम हुए। इसी तरह भारत-चीन सम्बन्धों की गलतफहमी एक बड़ी सीमा तक इस बात से पैदा हुई कि जहाँ नेहरू जी एक ओर स्वय को स्वतन्त्र भारत के प्रगतिशील प्रधानमन्त्री के रूप में पेश करते थे, वही देश की भौगोलिक सीमा के बारे में औपनिवेशिक उत्तराधिकार को अक्षत रखने के लिए वह वचनबद्ध थे। नेहरूकालीन भारतीय विदेश-नीति की सबसे बड़ी विशेषता यही पुराने और नये व परम्परा और परिवर्तन का अन्तर्द्वन्द्व थी। महाशक्तियों और पड़ोसियों के साथ 1947 से 1964 तक भारत के राजनयिक सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव में इसका तनाव स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है।[1]

[1] भारतीय विदेश-नीति के आधारभूत सिद्धान्तों का उपरोक्त सार सक्षेप व यथार्थवाद बनाम आदर्शवाद के द्वन्द्व का विश्लेषण भारतीय विदेश नीति के प्रामाणिक सन्दर्भ ग्रथों पर आधारित है। इनमें से निम्नांकित ग्रथ उल्लेखनीय हैं—Charles H. Heimsath, *Diplomatic History of*

नहीं किया जाना चाहिए कि उन्होंने कठिनतम आन्तरिक चुनौतियों से जूझते हुए भारत को अन्तर्राष्ट्रीय राजनय का केन्द्र-बिन्दु बनाये रखने में सफलता प्राप्त की। 1966 से 1969–70 तक कांग्रेस पार्टी में उनकी अपनी स्थिति निरापद नहीं थी और भारत विकट आर्थिक समस्याओं से जूझ रहा था। रुपये का अवमूल्यन, प्रिवीपर्स की समाप्ति, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, कांग्रेस का विभाजन, बिहार में अकाल का सामना आदि चुनौतियाँ उन्हें अपने कार्यकाल के पहले चरण में पूरी तरह व्यस्त रखे रहीं। बंगला देश प्रकरण में पराक्रमी प्रदर्शन और 1971 के चुनाव में अभूतपूर्व सफलता के बाद थोड़े ही समय के लिए उन्हें वैदेशिक मामलों में एकाग्रचित्त होने का अवसर मिला। 1972 में शिमला समझौता सम्पन्न हुआ तो 1973–75 में *जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में उनके राजनीतिक अस्तित्व को चुनौती देने वाला* व्यापक जन-आन्दोलन शुरू हुआ। इसकी परिणति जून, 1975 में आपातकाल की घोषणा और अन्ततः मार्च, 1977 के संसदीय आम चुनाव में श्रीमती गांधी की हार में हुई।[1]

जनता सरकार की विदेश नीति : निरन्तरता और परिवर्तन
(Janta Government's Foreign Policy)

मार्च, 1977 में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी ने शासन की बागडोर सम्भाली। जिन परिस्थितियों में जनता सरकार का गठन हुआ, उसमें श्रीमती गांधी ही नहीं, बल्कि नेहरू वंश के प्रति रोष-आक्रोश का स्वर तेज था। आपातकाल की तानाशाही की दुःस्वप्न जैसी स्मृति जनता के मन में थी। जनता सरकार के नेता श्रीमती इन्दिरा गांधी की सभी नीतियों को बदलने के लिए व्यग्र थे। फिर भी नए विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कार्यभार सम्भालने के बाद यह घोषणा की कि वह नेहरू की विदेश नीति के अनुसार ही आचरण करेंगे। कहने को भले ही उन्होंने 'खालिस गुट-निरपेक्षता' (Genuine Non-alignment) की बात की परन्तु इसका प्रमुख अभिप्राय यह दर्शाना था कि इन्दिरा गांधी ही अपने पिता के मार्ग से विचलित हुई थीं। पड़ौसी देशों के साथ सम्बन्धों के क्षेत्र में जरूरत से ज्यादा रियायती व नरम रुख अपनाना जनता सरकार के लिए शायद इसलिए जरूरी हुआ कि उसके विदेश मन्त्री वाजपेयी की अब तक छवि 'आक्रामक हिन्दू राष्ट्रवादी' वाली थी। जनता सरकार का गठन विभिन्न वैचारिक रुझानों वाले राजनीतिक दलों को मिलाकर हुआ था। इसी कारण किसी स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य या सैद्धान्तिक अभिगम की अपेक्षा उनसे नहीं की जा सकती थी। यह स्वाभाविक था कि नौकरशाही का महत्व विदेश नीति नियोजन के क्षेत्र में बढ़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में जनता सरकार के वरिष्ठ सदस्यों की अनुभवहीनता भी भारत के लिए हानिप्रद सिद्ध हुई। तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर की भारत-यात्रा (1978) के दौरान मोरारजी देसाई के साथ उनकी गलतफहमी और जनता सरकार (चरण सिंह के नेतृत्व में) के दूसरे विदेश मन्त्री श्याम नन्दन मिश्र की विदेश यात्राएँ इसका उदाहरण हैं। जहाँ एक ओर गृह मन्त्री चरण सिंह इसे

[1] इन्दिरा गांधीकालीन विदेश नीति के विशद अध्ययन के लिये देखें—Indira Gandhi, *India and the World (Foreign Affairs, New York, October, 1972)*

1964–66 में भारत भयंकर दुर्भिक्ष से ग्रस्त था और अपमानजनक ढंग से विदेशों से खाद्यान्न के आयात पर निर्भर था। ऐसी परिस्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर भारत की भूमिका कतई प्रमुख नहीं हो सकती थी। इसे शास्त्री जी की एक बड़ी उपलब्धी समझा जाना चाहिए कि 1962 के घाव को भरने का काम उन्होंने अपने छोटे से कार्यकाल में बखूबी किया।[1]

इन्दिरा गांधी-कालीन विदेश नीति : बदला परिप्रेक्ष्य
(Foreign Policy during Indira Gandhi Era)

जनवरी, 1966 में शास्त्री जी के निधन के बाद इन्दिरा गांधी प्रधानमन्त्री बनी। जिस तरह की भ्रान्तियाँ शास्त्री जी के बारे में फैली है, उसी तरह तर्कहीन अति सरलीकरण इन्दिरा गांधी की विदेश नीति और राजनय के बारे मे भी प्रचलित है। पत्रकारों और जीवनीकारों की कृपा से श्रीमती गांधी की छवि लौह महिला और रणचण्डी वाली प्रसिद्ध हुई है। लोगों के मन में आज भी या तो 1971 के बंगला देश मुक्ति अभियान की याद ताजा है या मई, 1974 में पोखरन मे परमाणु विस्फोट और जून, 1975 में आपातकाल की घोषणा की। यदि चुन-चुन कर ऐसे उदाहरण पेश किये जायें तो श्रीमती गांधी को अति यथार्थवादी प्रमाणित करना कठिन नहीं होगा। इसी तरह के प्रयत्न श्रीमती गांधी के अन्तर्मुखी स्वभाव, उनके पारिवारिक एकाकीपन और मानसिक असुरक्षा के भाव को उनके अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के साथ जोड़ने के लिए किये जाते हैं। ऐसा नहीं कि यह विश्लेषण सिर्फ श्रीमती गांधी के आलोचक-विरोधी ही करते रहे हैं, बल्कि श्रीमती गांधी के साथ सहानुभूति रखने वाले विद्वान भी इस भ्रांति के शिकार हुए है। उदाहरणार्थ, इन्दिरा गांधी की विदेश नीति का विस्तार से विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली लेखिका सुरजीत मानसिंह की पुस्तक का शीर्षक ही 'India's Search for Power' अर्थात् 'भारत शक्ति की तलाश में' है। यदि अध्येता सतर्कता न बरतें तो इस निष्कर्ष तक अनायास पहुँचा जा सकता है कि श्रीमती गांधी ने ही सर्वप्रथम पारम्परिक शक्ति-सन्तुलन के आधार पर राष्ट्र हित के हित सम्पादन का काम किया। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि कश्मीर, पाकिस्तान, गोवा आदि के सन्दर्भ में नेहरू और शास्त्री का आचरण भी आदर्शवादी नहीं समझा जा सकता।

श्रीमती गांधी के सन्दर्भ में यह टिप्पणी अधिक सार्थक लगती है कि उनकी विदेश नीति का अमूर्त वैचारिक पक्ष कहीं अधिक मुखर था। तीसरी दुनिया का खाद्यान्न संकट हो या पर्यावरण के संरक्षण का प्रश्न, श्रीमती गांधी का उद्‌बोधन-आह्वान सिर्फ भारतीय जनता के लिए ही नहीं, बल्कि समग्र विश्व के लिए होता था। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि पड़ोसी देशों और परमाणु नीति के सन्दर्भ में वह उसी दिशा मे आगे बढ़ी, जिस पर शास्त्री जी कदम उठा चुके थे। श्रीमती गांधी को अपनी घोषणाओं-वक्तव्यों में क्रान्तिकारी प्रगतिशील मुद्रा ग्रहण करना अच्छा लगता था, परन्तु व्यवहार में उन्होंने नेहरू जी की सुझायी गुट-निरपेक्ष नीति में किंचित मात्र परिवर्तन या संशोधन की जरूरत नहीं समझी।

श्रीमती गांधी की विदेश नीति का अध्ययन करते वक्त इस बात को अनदेखा

[1] शास्त्रीकालीन विदेश नीति के ब्यौरेवार वस्तुनिष्ठ अध्ययन-विश्लेषण के लिए देखें—*L. P. Singh, India's Foreign Policy : The Shastri Period* (Delhi, 1980)

दगों के बीच देश की अखण्डता को बचाये रखना ही सबसे बड़ी उपलब्धि समझा गया और उनके कार्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों मे विदेश नीति के क्षेत्र में उनसे किसी पहल की उम्मीद नहीं की गयी। तथापि राजीव गांधी ने यह स्पष्ट करने मे देर नही लगायी कि आर्थिक जीवन मे उदार नीतियाँ अपनाने के बावजूद भारत की गुट निरपेक्षता में कोई परिवर्तन नहीं होगा। उन्होंने आन्तरिक समस्याओं से जूझते हुए भी विश्वव्यापी भ्रमण किया और सक्रिय राजनय का प्रभा-मण्डल बनाये रखा। उनकी आलोचना इस बात को लेकर की गयी कि 'राजीवकालीन विदेश नीति मे सौन्दर्य प्रसाधन तो था, स्वास्थ्य नहीं, गति थी तो दिशा नही।

इस बात को बिल्कुल निराधार भी नहीं कहा जा सकता। राजीव गांधी के कार्यकाल में विदेश मन्त्री कई बार बदले गए तथा विदेश सचिव (ए० पी० वेंकटेश्वरन) को निकाला जाना काफी विवादस्पद बना। राजीव ने भले ही अनेक लम्बी विदेश यात्राएँ की किन्तु नीति-सम्बन्धी कोई ठोस सुझाव या दिशा-निर्देश देने म वह अक्षम रहे। इस विषय मे उन्होंने अपनी किसी प्रतिभा का परिचय नही दिया।

राजीव गांधी के शासन काल मे उदार आर्थिक नीतियाँ अपनाकर तथा कुछ अन्य कदम उठाकर अमरीका के साथ भारत के सम्बन्धों मे सुधार की कोशिश की गई, किन्तु कोई सफलता हाथ नहीं लगी। पाक को अमरीकी शस्त्र व आर्थिक मदद के मामले मे अमरीका के रुख मे कोई परिवर्तन नहीं आया। हाँ, श्री गांधी सोवियत संघ के साथ भारत के पारस्परिक घनिष्ठ रिश्तो के निर्वाह मे अवश्य कामयाब रहे। फ्रास, जर्मनी और अन्य यूरोपीय राष्ट्रो के साथ सहयोग सम्बन्ध बनाने में मामूली सफलता अर्जित हुई। सब कई देशो मे खर्चीले भारत महोत्सव धूमधाम से आयोजित किये गये, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि भारतीय सांस्कृतिक राजनय ने विदेशी नागरिकों या सरकारो पर अपनी कोई छाप छोड़ी।

श्री गांधी को पडोसी देशो के साथ सम्बन्ध सुधार म कोई उल्लेखनीय सफलता नही मिली। 1987 म हुए राजीव-जयवर्द्धन समझौते के तहत श्रीलंका मे भारतीय शांति सेना भेजी गई, जिसका नकारात्मक असर ही पड़ा और सिंहली नेताओं ने शांति सेना की वापसी की माग कर भारत को पसोपेश में डाला। श्रीलंका, पाकिस्तान, नेपाल और बगला देश मे भारत को सशंकित नजरों से देखा गया।

श्री गांधी अपने शासन काल के अन्तिम दिनो में आतरिक राजनीति मे काफी उलझते गये और बोफोर्स व अन्य मुद्दो ने उनके प्रति जनता म भारी असंतोष पैदा किया। ऐसे म श्री गांधी के लिए विदेश नीति सबंधी मसलो पर पहले जैसे उत्साह से ध्यान देना सम्भव नहीं रह गया। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि काफी उत्साह के बावजूद श्री गांधी भारतीय विदेश नीति के मोर्चे पर अपनी कोई छाप नहीं छोड पाये।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार की विदेश नीति
(Foreign Policy of National Front Government)

यो तो भारतीय विदेश नीति के बारे मे यह बात शुरु से कही जाती रही है कि वह सर्वदलीय है, राष्ट्रीय हित के सदंभ म पक्ष-विपक्ष का प्रश्न ही नही उठता; फिर भी नवबर, 1989 म लोक सभा के चुनावों मे कांग्रेस की हार और राष्ट्रीय

गौरव का विषय समझते थे कि उन्हें दीन-दुनिया की कोई खबर नहीं रहती, वही उन्हें बिना किसी प्रमाण के अपने मन्त्रिमण्डल के एक सहयोगी को विदेशी गुप्तचर बताने में कोई सकोच नहीं हुआ। इसी तरह प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई शान्ति प्रेमी थे परन्तु इतने नहीं कि सिद्धान्तों के लिए वह राष्ट्र के सामरिक हित बलि कर देते। परमाणु नीति के मामले में एकपक्षीय घोषणाएँ या पाकिस्तान में भुट्टो की कानूनी हत्या की भर्त्सना न करना उनकी निरपेक्षता ही प्रकट करते हैं।

अनेक बार जनता सरकार की विदेश नीति का अध्ययन-विश्लेषण करते वक्त परिवर्तन और निरन्तरता की बात कही जाती है। यह कहना अधिक सटीक होगा कि ढाई वर्ष का यह समय एक तरह का व्यवधान था। यह एक ऐसा अन्तराल था जिसमें सुचिन्तित विदेश नीति के दर्शन नहीं होते। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम के प्रति अपनी इच्छानुसार व्यक्ति विशेष को *प्रत्यावर्तित क्रियाएँ (reflex action)* ही देखने को मिलती रहीं।[1]

श्रीमती इन्दिरा गांधी की वापसी और विदेश नीति

1980 के आम चुनाव में श्रीमती इन्दिरा गांधी की अत्यन्त नाटकीय ढग से अभूतपूर्व विजय हुई। परन्तु जहाँ से व्यवधान पड़ा था, वहीं से छूटा काम आगे बढ़ाने का प्रश्न नहीं उठता था। जनता सरकार के कार्यकाल में श्रीमती इन्दिरा गाधी को अपने अनेक मित्रों को परखने का अवसर मिला। इसके अतिरिक्त अपनी वापसी के बाद उनके मन में निश्चय ही इस बात का अहसास गहरा हुआ कि नियति ने उन्हें कुछ ऐतिहासिक उपलब्धियों के लिए चुना है। इस दूसरे कार्यकाल के विषय में यह कहा जा सकता है कि एक साथ मोहभग के बाद श्रीमती इन्दिरा गाधी की विदेश नीति में अति यथार्थवादी और आदर्शवादी महत्वकांक्षाओं का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। *सयोगवश ही सही, मार्च 1983 में* गुट निरपेक्ष आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने के साथ श्रीमती इन्दिरा गाधी अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं की पहली वरिष्ठ श्रेणी में आ गयीं। भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और राजनयिक प्रभाव में उनके जीवन-पर्यन्त कोई क्षय नहीं हुआ।[2]

राजीव गाधी और विदेश नीति : नई चुनौतियाँ
(Rajiv Gandhi and Foreign Policy)

अक्तूबर, 1984 में श्रीमती इन्दिरा गाधी की हत्या के बाद उनके पुत्र राजीव गाधी ने सत्ता की बागडोर सम्भाली। राष्ट्रीय सकट की इस घड़ी में उन्हें स्वदेश और विदेश में अपार सहानुभूति मिली। आतंकवादी हिंसा और साम्प्रदायिक

[1] विस्तृत विश्लेषण के लिए देखिये—Bimal Prasad (ed), *India's Foreign Policy : Studies in Continuity and Change* (Delhi, 1979); और S. C. Gangal, *Foreign Policy : A Documentary Study of India's Foreign Policy since the installation of the Janta Government* (Delhi, 1980)

[2] श्रीमती इन्दिरा गांधी के शासनकाल में भारतीय विदेश नीति का सबसे अच्छा अध्ययन सुरजीत मानसिंह ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में किया है। श्रीमती इन्दिरा गाधी की विदेश नीति के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष को समझने के लिए उनके भाषणों-लेखों का सकलन देखें—Indira Gandhi, *Peoples and Problems*, (Delhi, 1983).

गाँधी ने उन्हें सोवियत संघ में भारत का राजदूत नियुक्त किया था, जो उनके वामपंथी रुचि-रुझान के कारण की गयी राजनीतिक नियुक्ती थी। श्रीमती गाँधी के पतन के बाद भी गुजराल ने, राजनयिक परम्परा के प्रतिकूल पद त्याग की कोई जरूरत नहीं समझी। गुजराल भारत के विभाजन के समय आने वाले पंजाबी शरणार्थी हैं और पाकिस्तान में उनकी गहरी रुचि है। वैदेशिक मामलों में उनकी रुचि और विशेषज्ञता का रहस्य यही था। उनके पास सुचिंतित विश्व दर्शन का अभाव है। उनके बारे में इतने विस्तार से टिप्पणी इसलिए जरूरी है, क्योंकि ऐसा लगता है कि विश्वनाथ प्रताप सिंह ने विदेश नीति की जागीर अपने पूरे कार्यकाल के लिए उन्हीं के नाम लिख दी। एक पत्रकार सम्मेलन में विदेश नीति सम्बन्धी एक प्रश्न पूछे जाने पर श्री सिंह ने निहायत मासूमियत के साथ प्रश्नकर्ता को विदेश मन्त्री से यह सवाल पूछने की सलाह दी थी। इसी तरह अपने एक साक्षात्कार में गुजराल यह घोषणा कर चुके थे कि तब और अब में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि भारतीय विदेश नीति अब विदेश मन्त्रालय में अर्थात् उनके द्वारा बनायी जाती है।

तुनुक-मिजाजी में विश्वनाथ प्रताप सिंह (राजा साहब) राजीव गाँधी से कम नहीं थे। जिस तरह श्री गाँधी ने तत्कालीन भारतीय विदेश सचिव वेंकटेश्वरन की छुट्टी की थी, उससे बहुत-कुछ न सीखते हुए ही श्री सिंह ने एम० के० सिंह से छुटकारा पा लिया। जिस तरह की पहल की उम्मीद नये प्रधान मन्त्री से की गयी उसमें वह अक्षम रहे। घुमा-फिराकर हम उसी यथार्थ तक पहुँचते हैं कि भारत की वैदेशिक मामलों में सबसे बड़ी चुनौती पाकिस्तान वाली है और पाकिस्तान भारत की आंतरिक राजनीति में साम्प्रदायिकता की समस्या से अभिन्न रूप से जुड़ा है। पंजाब हो या कश्मीर, तब तक विदेश नीति का निर्धारण सही ढंग से नहीं हो सकता, जब तक हम इस बात को यथार्थवादी ढंग से स्वीकार नहीं करते। विश्वनाथ प्रताप सिंह की अड़चन यह रही कि एक ओर उनकी सरकार को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए भारतीय जनता पार्टी के समर्थन की आवश्यकता थी तो दूसरी ओर चन्द्रशेखर जैसे विक्षुब्ध असन्तुष्ट सहयोगी उन पर ऐसा दबाव बनाये रहे कि वह (श्री सिंह) हर दिन आठों पहर अपनी सरकार की धर्म-निरपेक्षता के प्रमाण प्रकाशित करते रहें। इन परिस्थितियों में विश्वनाथ प्रताप सिंह ने समझदारी इसी बात में देखी कि चुप्पी साधी जाये और अपने भाव को अस्पष्ट ही रखा जाये। इस विचित्र रणनीति से थोड़ी मोहलत भर मिल सकती थी, मुसीबत से स्थायी मुक्ति नहीं।

यह भी अत्यन्त विचित्र स्थिति थी कि वि० प्र० सिंह मंत्रिमंडल के सदस्य जार्ज फर्नांडिस या पार्टी के सामान्य सदस्य जो अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम पर अपने विचार व्यक्त करते थे, बहस में हिस्सा लेते थे, कभी-कभार आपस में टकराते भी थे, परन्तु प्रधान मन्त्री न तो कोई शंका-समाधान करते थे और न कोई दिशा-निर्देश देते थे। किसी वाक्पटु व्यक्ति ने टिप्पणी की थी कि 'उन (श्री सिंह) के लिए सबसे पराया विदेश शायद हरियाणा था और अपदस्थ करने से पहले अपने उप-प्रधान मन्त्री देवीलाल की पारिवारिक महत्वकांक्षाओं से देश के राष्ट्रीय हितों की रक्षा में ही उनका सारा समय बीत जाता था।'

श्रीलंका से शान्ति सेना को वापस बुलाने और नेपाल में जनतन्त्र की आंशिक सफलता के बाद भी 'दक्षेस' (SAARC) क्षेत्र में किसी सार्थक संवाद की शुरुआत नहीं

मोर्चा सरकार द्वारा सत्ता सँभालने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समीकरणों के बारे में सोच-विचार स्वाभाविक था। इस बार भारतीय मतदाता ने इतने क्रांतिकारी ढग से पलटा खाया कि यह विश्लेषण आरंभ हो गया कि राजीव गांधी और कांग्रेस को अपदस्थ करने वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार क्या वैदेशिक मामलों मे निरतरता बनाये रखेगी?

देश की विदेश नीति मे आमूल-चूल परिवर्तन के पक्ष मे दो-तीन प्रभावशाली तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे। राजीव गाधी के सत्ता काल मे भारतीय विदेश नीति का स्वरूप निश्चय ही वह नही रह गया था, जो नेहरू और श्रीमती इन्दिरा गाधी के दौर मे था। बात सिर्फ इतनी भर नही थी कि राजीव गाधी मे वैसी विशेषज्ञता या महत्वकाक्षा नही थी, जैसी नेहरू और श्रीमती गाधी में। उन्होंने जिन परिस्थितियो मे सत्ता की बागडोर सभाली, उसमे आतरिक शाति और सुव्यवस्था की स्थिति पर भी ध्यान केन्द्रित रखना परमावश्यक था। संयोगवश, आतकवाद का उफान और हिंसात्मक विस्फोट, चाहे कश्मीर में हो या पजाब में, पाकिस्तान के राजनीतिक घटनाक्रम से जुड गये। दूसरे शब्दो मे, भारतीय विदेश नीति के क्षितिज पडौस तक सकुचित हो गये। इसी तरह श्रीलका मे साम्प्रदायिक गृह युद्ध के उतार-चढाव पर राजीव गाधी का कोई 'वश' नही था। परन्तु, एक बार सैनिक हस्तक्षेप का निर्णय लेने के बाद इस सामरिक दलदल मे फसना उनकी दुखद नियति बन गयी। *अपनी विवशता के लिए एक बहुत बडी सीमा तक राजीव गाधी* खुद ही जिम्मेदार रहे। जहाँ गुट निरपेक्ष सम्मेलन या महाशक्तियों के साथ भारत के सम्बन्धो के सुचारु रूप से सम्पादन मे उनके आकर्षक व्यक्तित्व ने निश्चय ही उनका काम सहज बनाया, वही तुनकमिजाजी तथा चाटुकारों के जमघट ने उन्हे वरिष्ठ अनुभवी सलाहकारो से वचित रखा। कुल परिणाम यही रहा कि 21वी सदी का स्वागत करने की उनकी महत्वाकांक्षा मणि शकर अय्यर सरीखों की दयनीय फिकरेबाजी से धूल-धूसरित हो गयी।

इस परिपेक्ष्य में नये प्रधान मन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिह से जनसाधारण को यह अपेक्षा थी कि भारत की विदेश नीति, जो अपनी पारम्परिक राह से भटक भी हो रही थी, पुनः और शीघ्र व्यवस्थित होगी। यह सोचना गलत नही था कि राजीव गाधी की अदूरदर्शिता, अहकार, आदि की दलीलें देकर भारतीय विदेश नीति की बहुत सारी गलतियो को सुधारा जा सकेगा। सियाचिन हो या श्रीलका, नेपाल हो या अन्यत्र, इसका लाभ उठाया जा सकता था। यह अनुमान भी लगाया गया कि भारतीय राजनय अब व्यक्ति-केन्द्रित नही होगा और विदेश नीति का नियोजन अधिक खुलेपन के साथ होगा। दुर्भाग्यवश, इनमे से रचनात्मक परिवर्तन की कोई भी आशा पूरी नहीं हुई।

इसका सबसे बडा कारण यह है कि विश्वनाथ प्रताप सिह की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार सही मायनों मे राष्ट्रीय सरकार नहीं थी। केन्द्रीय मत्रिमडल के विभागो का वितरण मोर्चे के घटक सदस्यों की शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार किया गया। विडंबना यह कि इस घर-बँटवारे मे विदेश नीति को सबसे कम महत्व दिया गया। एक ऐसे व्यक्ति को विदेश मंत्रालय का कार्य-भार सौंपा गया, जो राजनीतिक लिहाज से हल्के वजन का था। इतना ही नही, नये विदेश मन्त्री इन्द्र कुमार गुजराल पर अवसरवादिता का आरोप भी लगाया जाता रहा था। भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमती

के साथ सम्बन्धों मे भावावेश रहित या आत्मग्लानि से मुक्त परिवर्तन के संकेत मिलने लगे थे। दुर्भाग्यवश, इस दशा मे कोई प्रगति होती, उसके पहले ही चन्द्र शेखर को पदत्याग करना पडा।

बहुमत खोने के सकट की तलवार उनके सिर पर हर घडी लटकी रही। चन्द्र शेखर सरकार का सत्तारूढ रहना काग्रेस (ई) पर आधारित था और इस कारण वैदेशिक मामलो मे दिशा-परिवर्तन की गुजाइश कम थी। विश्वनाथ प्रताप सिंह के कार्यकाल मे पूर्व प्रधानमन्त्री राजीव गाधी को यह सुखद आदत पड गयी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर वह अपनी भूमिका पूर्ववत् निभा सकते है। गुट निरपेक्ष आन्दोलन हो या खाडी मे सकट या फिर नामीबिया का स्वाधीनता समारोह, भारत के प्रतिनिधि के रूप में पहचान और पूछ राजीव गाधी की ही रही। यह स्वाभाविक ही था कि देश की आन्तरिक राजनीति मे समर्थन का भरोसा बनाये रखने के लिए चन्द्र शेखर ने इस क्षेत्र को राजीव के लिए ही एक तरह से छोड दिया था।

यहाँ इस बात पर जोर देने की जरूरत है कि ऐसा कर चन्द्र शेखर अपनी जिम्मेदारी से कतरा रहे थे। यह सुझाना तर्कसगत है कि वे इस कटु यथार्थ को पहचानते थे कि तेजी से बदले अन्तर्राष्ट्रीय परिपेक्ष्य मे भारत की भूमिका का अवमूल्यन हुआ है। विशेषकर जब सोवियत सघ स्वय घोर आर्थिक सकट से ग्रस्त है, उसके मध्य एशियाई गणराज्य बगावत का बिगुल बजा चुके हैं और अमरीका ही भूमण्डल पर अकेली महाशक्ति बचा है, तब भारतीय राजनय का प्रतीकात्मक महत्व ही हो सकता है। ऐसे मे जान पडता है कि उन्होंने अपनी शक्ति और समय को आन्तरिक राजनीति पर केन्द्रित करने को ही ठीक समझा।

1991 में इराक द्वारा कुवैत पर कब्जा और तदनन्तर अमरीका द्वारा इराक मे सैनिक हस्तक्षेप ने दुनिया भर को हिलाकर रख दिया था। एक ओर विकासशील देशो पर पैट्रोल सकट के नये काले बादल मडराने लगे थे तो दूसरी ओर अफ्रो-एशियाई एकता या अरब एकता की नपुसकता भी जग-जाहिर हो गई। इराक, कुवैत आदि मे बहुत बडी सख्या मे भारतीय प्रवासी रहते थे। उनके द्वारा अर्जित और स्वदेश भेजी जाने वाली विदेशी मुद्रा भारत के लिए सामरिक महत्व की थी। इस युद्ध ने विदेशी मुद्रा के भण्डार को तहस-नहस कर दिया। इसके अतिरिक्त भविष्य के लिए भी समृद्धि का यह स्रोत सूख गया। हमले के हर्जाने या हस्तक्षेप के खर्चे की भरपाई के लिए इराक को जो आर्थिक दण्ड मिला, उसका लाभ अनुशासक-आक्रामक अमरीका और मित्र राष्ट्रो को ही हुआ। जाहिर है कि इस क्रान्तिकारी चुनौती के दूरगामी समाधान का अन्वेषण चन्द्र शेखर सरकार नही कर सकती थी। पर, यह स्वीकार करने मे किसी को भी हिचक नही होनी चाहिए कि युद्ध क्षेत्र मे फँसे प्रवासी भारतीयो को और उनको वापस लाने के काम मे तत्कालीन सरकार ने काफी चुस्ती और कार्यकुशलता दर्शायी।

इसी सन्दर्भ मे एक और बात विवादास्पद बनी। युद्ध के दौरान कुछ अमरीकी लडाकू विमानो को भारतीय हवाई अड्डो पर उतरने और इधन भरने की सुविधा मुहैया कराई गई। शेखर के इस 'फैसले' की काग्रेस ने कटु भर्त्सना और आलोचना की। चन्द्र शेखर ने यह बात जगजाहिर करने मे देर नही लगाई कि अमरीकी विमानो को यह सुविधा राजीव गाधी, विश्वनाथ प्रताप सिंह के कार्यकाल मे दी गई 'अनुमति' के अन्तर्गत ही 'रुटीन' रूप मे मिली थी। उन्होने यह भी

हो सकी। सोवित सघ मे मध्य एशियाई गणराज्यों की बगावत हो या यूरोप में जर्मनी का एकीकरण, अफ्रीका मे नेल्सन मडेला की रिहाई हो या चीन मे असन्तोष की सुगबुगाहट, किसी भी क्षेत्र या मुद्दे पर नये सन्दर्भ में भारतीय हितों को परिभाषित करने का कोई प्रयत्न नही किया गया।

कुल मिलाकर, वी० पी० सिंह की छवि कमजोर-भावुक, निपट भोले और अहकारी व्यक्ति के रूप मे ही उभरी, जो पर्दे के पीछे के जोड़-तोड़ में ज्यादा सिद्धहस्त है और वह आदर्शवादी शब्दाडम्बर से अपने को मुक्त नहीं रख सकते। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि इस असफल रूमानी हिन्दी कवि को वाशिंगटन, मास्को, बीजिंग या इस्लामाबाद मे से किसी ने गम्भीरता से नही लिया। वह रटे-रटाये कुछ मुहावरो को दोहराने के अलावा कुछ नही कर सके। हां, इस पूरे दौर में विदेश सचिव मुचकुंद दुबे काफी सक्रिय और व्यस्त रहे और उन्ही का व्यक्तिगत राजनय भारत की अन्तर्राष्ट्रीय उपस्थिति का पर्याय बन गया।

चन्द्र शेखर सरकार की विदेश नीति
(Foreign Policy of Chandra Shekhar Govt.)

अपनी सनक में देवीलाल को काबू में रखने के लिए विश्वनाथ प्रताप सिंह ने मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करने वाला ब्रह्मास्त्र छोडा, जो उनकी सरकार के लिए आत्मघातक सिद्ध हुआ। अप्रत्याशित और नाटकीय ढग से बूढे युवा तुर्क चन्द्रशेखर प्रधानमन्त्री बने। उनके साथ अपने विश्वासपात्र समर्थक 50-60 लोकसभा सासद ही थे। ऐसी स्थिति मे यह उम्मीद करना कि वे भारतीय विदेश नीति को नई दिशा या गति दे सकते थे, कहना उनके साथ नाइन्साफी होगी। उन्होंने आरम्भ मे ही यह बात दो टूक शब्दों में कह दी थी कि वह अपना पहला कर्तव्य और सबसे बड़ा उत्तरदायित्व देश के क्षत-विक्षत शरीर पर मलहम लगाना समझते है।

विश्वनाथ प्रताप सिंह के विपरीत चन्द्र शेखर इन्दिरा गाधी से लेकर लोकनायक जयप्रकाश नारायण के अग्रणी सहयोगी के रूप मे उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। पुराने समाजवादी होने के नाते अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन के साथ वह जुड़े रहे और इसी कारण उनका अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के बारे मे एक अलग नजरिया रहा है। अमरीका, रूस तथा ब्रिटेन के अलावा भी और देशो के नवाबों की अहमियत उन्हे नजर आती रही। पर, इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि दुनिया भर के नेता उन्हें घिसा-घिसाया शातिर नेता समझते थे—एक ऐसा व्यावहारिक-यथार्थवादी नेता, जिसके साथ सार्थक परामर्श की बात सोची जा सकती है। इसके अलावा पड़ोसी देश नेपाल के शीर्षस्थ नेताओं के साथ चन्द्र शेखर के अभिन्न और आत्मीय सम्बन्धो का लाभ भारत को मिल सका। नेपाल में जनतन्त्र की पुनर्स्थापना के लिए प्रधानमन्त्री बनने के पहले ही चन्द्र शेखर बेहिचक अपना समर्थन दे चुके थे। प्रधानमन्त्री बनने के बाद भी उन्होंने कोई सकोच नहीं दिखाया। नेपाल में चुनाव के दौरान भले ही कुछ विपक्षी दलो ने भारतीय प्रधानमन्त्री की भूमिका की आलोचना की किन्तु इस बारे से दो राय नही हो सकती कि पिछले वर्षों के उभयपक्षीय तनाव और मनोमालिन्य को दूर करने में चन्द्र शेखर के निजी राजनय ने रचनात्मक योगदान दिया। इसी तरह पाकिस्तान और श्रीलंका

मौजूद हैं। इसके आधारभूत सिद्धान्तों में कोई बदलाव नहीं आया है, भले ही आवश्यकतानुसार इनमें से किसी एक का महत्व अधिक रेखांकित किया गया है। भारतीय विदेश नीति की शाश्वत समस्याएँ पाकिस्तान, चीन और अमरीका तथा पड़ोसी देशों (श्रीलंका, बंगला देश) के साथ सम्बन्ध आज भी प्राथमिकता बने हुए हैं। भारत-सोवियत मैत्री, पश्चिम एशिया व दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय हित एवं आर्थिक तथा सांस्कृतिक राजनय आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना 1947 में थे। भारतीय विदेश नीति में परिवर्तन की अपेक्षा निरन्तरता की धारा अधिक प्रबल रही है।

भारत और महाशक्तियाँ
(India and Super Powers)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ का महाशक्तियों के रूप में उदय हुआ। ये ऐसे राज्य थे, जो सिर्फ पारम्परिक बड़ी शक्तियाँ नहीं थे, बल्कि इनके सैनिक बल, आर्थिक क्षमता, तकनीकी सम्भावनाओं आदि की कोई तुलना और किसी बड़ी शक्ति के साथ नहीं की जा सकती थी। यह बात जल्दी ही स्पष्ट हो गयी की महाशक्तियों की दृष्टि में उनके अपने राष्ट्रीय हित विश्वव्यापी हैं और वे इनकी रक्षा तथा संवर्धन के लिए विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में अपना नीति-निर्धारण एवं राजनय का संचालन करती है। इन महाशक्तियों की नीतियाँ सुदृढ़ और एक-दूसरे के अस्तित्व को चुनौती देने वाली परस्पर विरोधी विचारधारा पर टिकी थीं। स्पष्ट था कि इनके साथ दूसरे राष्ट्रों के सम्बन्ध सिर्फ उभयपक्षीय नहीं रह सकते थे। भारत के महाशक्तियों के साथ सम्बन्धों का सर्वेक्षण-विश्लेषण करते समय यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए। वस्तुत भारत-अमरीका या भारत-रूस सम्बन्धों पर दूसरी महाशक्ति के साथ उसके सम्बन्धों की छाया अनिवार्यत पड़ती रही है। भारत की गुट निरपेक्ष नीति के कारण शीत युद्ध के प्रारम्भिक चरण में इन दोनों के ही साथ भारत के सम्बन्ध असहज रहे। परन्तु इस नतीजे पर पहुँचने की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए कि महाशक्तियों के साथ 'असलग्नता' या सम-सामीप्य बनाये रखने की कोई विवशता भारत को है।

भारत-अमरीका सम्बन्ध
(Indo-US Relations)

भारत और अमरीका दोनों लोकतान्त्रिक देश हैं और मानवीय स्वतन्त्रता, विश्व शान्ति आदि के पोषक भी। इन बुनियादी समानताओं के बावजूद उनके बीच समय-समय पर ऐसे अनेक तनाव बिन्दु उभरे, जिस कारण उनमें घनिष्ठ मैत्री सम्बन्धों की स्थापना का मार्ग कभी प्रशस्त नहीं हो पाया। पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्र सहायता, पी० एल०—480 समझौता, यूरेनियम की सप्लाई रोकना, बंगला देश मुक्ति अभियान के दौरान अमरीका द्वारा पाकिस्तान का पक्ष लेना, हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने, परमाणु प्रसार रोक सन्धि, कम्पुचिया व अफगान संकट आदि ऐसे अनेक मसले हैं, जिन्होंने दोनों देशों के बीच सम्बन्धों को कटु बना डाला। दोनों देशों के नेतागण शुरू से ही सम्बन्ध सुधार की दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं, किन्तु उन्हें इसमें आंशिक सफलता ही मिली।

स्पष्ट किया कि इन विमानों से कोई युद्ध सामग्री नही ले जायी जा रही थी। बहरहाल, कुल मिलाकर इस घटना को तिल का ताड़ ही कहा जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि भारतीय गुट निरपेक्षता का अन्त इसी से हुआ।

नरसिंह राव सरकार और भारतीय विदेश नीति
(Indian Foreign Policy after June 1991)

जून, 1991 से आयोजित लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (इ) को स्पष्ट बहुमत नही मिल पाया, किन्तु सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरने के कारण उसी ने सरकार बनाई। नरसिंह राव के प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के बाद उन्हें विदेश नीति के मोर्चे पर कोई महत्वपूर्ण राजनयिक कौशल दिखाने का समय नही मिला। राव सरकार के समक्ष जहाँ एक ओर गहरा आर्थिक सकट मुँह बाएँ खड़ा था, वहीं दूसरी ओर कश्मीर और पंजाब में आतकवाद की समस्या और उग्रतर हो गई, जिससे उसका सारा ध्यान इन्ही मसलों की ओर बँटा रहा। भारत के वैदेशिक सम्बन्धों में राव सरकार से ज्यादा अपेक्षा भी नही की जा सकती थी, क्योंकि सोवियत सघ के महाशक्ति के रूप में क्षय और अन्य परिवर्तनों ने उसके सामने विकल्पों को काफी सीमित बना दिया। राव ने जर्मनी की यात्रा कर विदेशी पूँजी आकर्षित करने का प्रयास किया, किन्तु कोई खास सफलता हाथ नही लगी। अक्टूबर, 1991 में हरारे में आयोजित राष्ट्र मण्डल सम्मेलन में आतकवाद के विरोध और बाल कल्याण पर भारतीय प्रस्तावों को पारित करवाना भी महज नारेबाजी की संज्ञा दी जा सकती है, ठोस राजनयिक उपलब्धि नही। कारण यह कि इन मसलों पर अमल के लिए कारगर कदम नहीं उठाये गये।

सबसे बड़ा विचारणीय प्रश्न यह है कि मित्र सोवियत सघ के ह्रास, तीसरी दुनिया की एकता के क्षय, अमरीका के बढ़ते वर्चस्व और यूरोपीय शक्ति के उदय के बाद भारत के लिए क्या विकल्प शेष रहता है? भारत में बढ़ते आतंकवाद, अलगाववाद और साम्प्रदायिकता के विघटनकारी सूत्र पड़ोसी देशों तक ढूँढे जा सकते हैं और लाख चाहने पर भी भारत निकट भविष्य में इनसे छुटकारा नही पा सकता।

नरसिंह राव प्रधानमन्त्री हों या कोई अन्य व्यक्ति, उसे भारतीय विदेश नीति का सम्पादन-संचालन इस कटु यथार्थ को ध्यान में रखकर ही करना होगा कि 'वर्तमान भारत' और 'वर्तमान विश्व' 1947 या 1971 वाले नही हैं। देश का मुद्रा भण्डार रीता है, सैनिक विकल्प की अक्षमता श्रीलंका में उजागर हो चुकी है और सांस्कृतिक अस्त्र का प्रयोग भी व्यर्थ हो चुका है। ऐसे में 'तेते पैर पसारिये, जेती लाबी सौर' वाली कहावत के अनुसार आचरण करना ही बुद्धिमत्ता है।

नेहरू जी से लेकर नरसिंह राव सरकार की विदेश नीति सबधी उपरोक्त सर्वेक्षण का प्रमुख उद्देश्य यह दर्शाना है कि भारतीय विदेश नीति अन्य प्रमुख शक्तियों की विदेश नीतियों की तरह भूगोल और इतिहास से प्रभावित होती है तथा बदलते अतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार संशोधित होती रही है परन्तु इसका बुनियादी नेहरूवादी ढाँचा बदला नहीं है। नेहरूकालीन विदेश नीति में आदर्शवाद और यथार्थवाद का सन्तुलन था और आज भी यह दोनों तत्व भारतीय विदेश नीति में

भारत की एक बड़ी समस्या आर्थिक विकास की थी। उसे बड़े पैमाने पर विदेशी पूंजी और तकनीक की जरूरत थी। जिस समय अमरीका खुले हाथों से युद्ध में ध्वस्त यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए मार्शल योजना की प्रस्तावना कर रहा था, उस वक्त दारुण अकाल से जूझते भारत को किसी भी तरह की राहत पहुँचाने के लिए वह कोई उत्साह नहीं दिखा रहा था। 1951 में खाद्यान्न ऋण पाने के लिए जब भारतीय राजदूत श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित ने अमरीका के सामने हाथ पसारे तो उन्हें बुरी तरह अपमानित-तिरस्कृत होना पड़ा।

कोरिया हो या स्वेज संकट, हिन्द चीन हो या बर्लिन में तनाव, 1950 से 1954–55 के बीच हर महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम में भारत और अमरीका एक-दूसरे से विरुद्ध खड़े दिखायी दिये। पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर के बाद भारत स्वयं को चीन के मित्र-हितैषी के रूप में पेश कर रहा था और स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ के साथ नेहरू सरकार के सम्बन्ध सहज और मधुर हुए। अमरीका के लिए ये बातें सह्य नहीं थी।

1954 में जब अमरीका ने पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता दी और उसे अपने सैनिक संगठनों का सदस्य बनाया तो उसका पक्षपात स्पष्ट हो गया। दक्षिण एशियाई क्षेत्र में इस तरह का कृत्रिम सन्तुलन स्थापित करना भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण कार्रवाई ही समझी जा सकती थी। डलेस की मृत्यु के बाद कई जिम्मेदार भारतीयों के मन में इस तरह की भ्रान्ति उत्पन्न हुई कि जब अमरीका में डेमोक्रेटिक पार्टी सत्तारूढ़ होगी या भारत के ये स्नेही, मित्र (अर्थात् डेमोक्रेटिक पार्टी के सदस्य) प्रभावशाली बनेंगे तो इस तनावपूर्ण स्थिति में फेरबदल होगा। चेस्टर बाल्स जैसे समझदार अमरीकी राजनयिक की भारत में राजदूत के रूप में नियुक्ति ने इस धारणा को पुष्ट किया। परन्तु बहुत शीघ्र यह बात सामने आ गयी कि भारत-अमरीका सम्बन्धों में व्यक्ति इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं, जितने कि मुद्दे। 1950 के दशक में अमरीका ने भारत को बड़े पैमाने पर खाद्यान्न मदद देना मंजूर किया। यह एक तरह से पाकिस्तान को दी जा रही अमरीकी सैनिक सहायता के मुआवजे के रूप में था। यह भी सोचा जा सकता है कि इस अवधि में नेहरू जी का अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव चरमोत्कर्ष पर था और अमरीका के लिए तीसरी दुनिया के इस प्रवक्ता की अवहेलना करना कठिन था। परन्तु यह सुखद अन्तराल बहुत लम्बा नहीं रहा।

अमरीकी सहायता निःसंकोच ग्रहण करने के बाद नेहरू जी अमरीकी नीतियों और आचरण का आँख मूंदकर समर्थन करने को तैयार नहीं थे। साथ ही साथ भारत में पंचवर्षीय योजनाओं की शिथिल प्रगति से अमरीका यह सोचने को विवश हुआ कि भारत पेंदे में छेद वाली एक ऐसी बाल्टी है, जिसमें चाहे कितनी भी अनुदान रूपी जलराशि डाली जाये, कुछ लाभ नहीं होगा। आइजनहावर के उत्तराधिकारी राष्ट्रपति कैनेडी नेहरू जी के बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने अपने मित्र और गुरू प्रख्यात अर्थशास्त्री जॉन कनेथ गेलब्रेथ को विशेष विश्वासपात्र समझकर भारत में राजदूत नियुक्त किया। परन्तु जब कैनेडी की मुलाकात नेहरू जी से हुई तो कैनेडी बहुत निराश हुए। गेलब्रेथ ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि 'कैनेडी को नेहरू जी दंभी, अहंकारी, उबाऊ किस्म के बूढ़े ही लगे।' यहाँ इस बात पर फिर जोर देने की जरूरत है कि भारत-अमरीका सम्बन्धों में गतिहीनता सिर्फ शीर्षस्थ नेताओं के

स्वाधीनता के पहले भारत-अमरीका सम्बन्ध—भारत की आजादी के पहले दोनों देशों के बीच सम्बन्ध काफी मधुर और सद्भावनापूर्ण रहे है। अमरीका स्वयं कभी औपनिवेशिक शक्ति नहीं रहा और उसने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ाई लड़कर अपनी एक स्वतन्त्र राष्ट्र राज्य के रूप मे पहचान बनायी। अमरीकी क्रान्ति के साथ जुड़े हुए हैं—मानवाधिकारों का घोषणा-पत्र और न्यूयार्क में स्थापित स्वाधीनता की मूर्ति, जो विश्व भर मे उत्पीड़ितो-शोषितो को मुक्ति संघर्ष के लिए प्रेरित करते रहे हैं। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के साथ जुड़े लोग भी इसके अपवाद नहीं, अर्थात् भारतीय स्वतन्त्रता सेनानी इससे अछूते नहीं रहे।

बीसवीं शताब्दी के पहले दशक मे प्रसिद्ध आर्यसमाजी लाला हरदयाल तथा गदर पार्टी के अनेक कार्यकर्ताओं ने अमरीका मे अंग्रेजो के विरुद्ध संघर्ष के लिए समर्थन व सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस सिलसिले मे उन्हें जिस तरह की सहानुभूतिपूर्ण मेजबानी मिली, उसका बाद के वर्षों मे भारत-अमरीकी सम्बन्धों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डिलानो रूजवेल्ट ने मित्र राष्ट्रों के पक्ष को प्रबल करने के लिए ही सही, भारत को आजादी दिये जाने का समर्थन किया और भारतीयों के मन मे मित्र के रूप मे अपनी जगह बनायी। अमरीका का जनतन्त्र, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, आविष्कारों का अदम्य उत्साह और समतापूर्ण सामाजिक जीवन अन्य देशो की तरह भारत के नेताओं को भी मुग्ध करते रहे है। भले ही नेहरू को अमरीका का कोई आत्मीय ज्ञान नहीं था, तथापि जयप्रकाश नारायण जैसे अनेक सहयोगी विद्यार्थी जीवन में अपनी युवावस्था के अनेक वर्ष अमरीका मे बिता चुके थे। 1930 और 1940 के दशक में जब महात्मा गाँधी अंग्रेजो की जेलो मे कैद थे तो उनको विश्वविख्यात बनाने मे लुई फिशर जैसे अमरीकी पत्रकारों और मारग्रेट बुर्क व्हाइट जैसे फोटोग्राफरो ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

डलेस की शीत युद्धकालीन नीतियाँ व भारत का मोहभंग—1949 मे जब नेहरू जी पहली बार अमरीका की यात्रा पर गये तो उन्होंने अपने दौरे को 'खोज-यात्रा' (Voyage of Discovery) का नाम दिया। तब उनके मन मे यह आशा बची थी कि अमरीका और भारत दोनों बड़े जनतान्त्रिक देश हैं और भविष्य मे अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर इन दोनों के बीच 'सहकार' सम्भव होगा। किन्तु अतीत की सुखद स्मृतियाँ, जिनके साथ विवेकानन्द, थोरो, ईमरसन और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम जुड़े थे, दोनों देशों के राष्ट्रीय हितो के समायोजन मे ज्यादा काम नहीं आ सकी। शीत युद्ध के आविर्भाव के साथ तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री डलेस ने यह बात साफ कर दी कि जो भी देश अपने को गुट निरपेक्ष कहता है, अमरीका उसे अपना शत्रु मानेगा। शान्तिप्रिय नेहरू जी निशस्त्रीकरण के पक्षधर थे और सैनिक संगठनों के कट्टर विरोधी। इसके अतिरिक्त नेहरू जी द्वारा रंगभेद, नस्लवाद और उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ाई मे अफ्रो-एशियाई जगत के नेतृत्व के कारण भी भारत-अमरीका वैमनस्य गहरा हुआ। नेहरू जी के लिए यह समझना कठिन था कि जनतन्त्र का हिमायती अमरीका क्यो और कैसे शीत युद्ध-जनित दबावों के कारण 'घटिया तानाशाहों' का समर्थन कर रहा था। उसी तरह अमरीका को यह बात सालती थी कि नेहरू जी जैसे स्वतन्त्रता प्रेमी शीत युद्ध के दौर में गुट निरपेक्षता के नाम पर 'तटस्थ' बने रहते थे।

पोतो मे इस अन्न की ढुलाई होगी, उसका 50 प्रतिशत किराया विदेशी मुद्रा मे चुकाना होगा। इसके अतिरिक्त इस खाद्यान्न की कीमत के रूप मे एक अपार धन राशि (Counterpart Funds) भारत मे जमा हो गयी। भले ही यह मुद्रा रुपयो मे थी, किन्तु पी० एल०—480 समझौते के अनुसार अमरीकी सरकार इसे अपनी इच्छानुसार किसी भी भारतीय विकास कार्यक्रम पर खर्च कर सकती थी। 1963-64 से 1966-67 तक अनेक महत्वाकांक्षी योजनाओ का खर्च इस पी० एल०-480 मुद्रा भण्डार से किया गया। वामपथी रुझान के अनेक भारतीय अर्थशास्त्रियो का मानना है कि इस व्यवस्था ने अमरीकियो को भारतीय आर्थिक जीवन और सास्कृतिक जगत मे षड्यन्त्रकारी घुसपैठ की छूट दी। बडे पैमाने पर अमरीकी विचारधारा को प्रोत्साहित करने वाली पाठ्य पुस्तको की छपाई, गोष्ठियो आदि के आयोजन ने इस धारणा को पुष्ट किया। स्वय श्रीमती इन्दिरा गाधी ने अपने को प्रगतिशील समाजवादी सिद्ध करने के लिए अपनी पार्टी के युवा तुर्कों (Young Turks) का प्रयोग अमरीकी विरोधी प्रचार के लिए किया। 1965-66 के दौर मे शशि भूषण जैसे लोग सर्वत्र सी० आई० ए० का हाथ देखते थे और पीलू मोदी जैसे सयत व्यक्ति को ससद मे एक बार अपने विरोधियो को चुप करने के लिए एक बिल्ला लगाकर घूमने के लिए मजबूर होना पडा, जिस पर लिखा था—'मैं सी० आई० ए० एजेन्ट हूँ।'

यदि अमरीकी राष्ट्रपति जोनसन को इस बात पर गुस्सा आता था कि भारत दक्षिण-पूर्व एशिया म अमरीका के बढते हस्तक्षेप का कटु आलोचक है तो इन्दिरा गाधी की सरकार इस बात पर वाजिब आपत्ति करती थी कि 1965-66 मे कुछ ही समय के लिए रोक लगाने के बाद अमरीका ने भारत के विरुद्ध फिर से पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना आरम्भ कर दिया। श्रीमती गाधी इन वर्षों म दक्षिणपथी और अमरीका के पक्षधर 'सिण्डीकेट क क्षत्रपो' से लड रही थी। वह एक अल्पसख्यक पार्टी की ससद मे नेता थी। सरकार बचाय रखन वाल बहुमत के लिए उन्ह भारतीय साम्यवादी पार्टी क समर्थन की जरूरत थी और इसी कारण अमरीका को चुनौती दते रहना एक तरह से उनकी विवशता बन गयी थी। इन वर्षों मे ऐस अनेक उदाहरण जुटाये जा सकते हैं, जिन्होंने भारत-अमरीका सम्बन्धो मे तनाव बढाया। इनम से प्रमुख हैं—भारत म अमरीकी सास्कृतिक केन्द्रो की गतिविधियो क विस्तार पर रोक, दिनेश सिंह के विदेश मन्त्री काल मे उत्तर वियतनामी नेता मदाम बिन्ह को भारत म आमन्त्रित किये जाने पर अमरीकी रोष तथा भारत द्वारा अमरीका के वैरी क्यूबा से व्यापारिक सम्बन्ध बढाने पर अमरीकी खद।

इन दिनो पाकिस्तान मे अय्यूब खान का शासन था, जो 'अमरीका के विशेष मित्र' थे। उनके युवा और तेज विदेश मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो न नेहरू जी की मृत्यु के बाद भारत की कठिनाइयो का पूरा फायदा उठाया। उन्होंने राष्ट्रमण्डल और सयुक्त राष्ट्र सघ मे सोवियत सघ के मित्र गुट निरपेक्ष भारत के विरुद्ध कटु प्रचार कर अमरीका के सैनिक-औद्योगिक प्रतिष्ठान से जुडे लोगो को अपने पक्ष मे कर लिया।

इन वर्षों म यदि अमरीका और भारत के सबन्ध टूटे नहीं तो उसका सीधा सम्बन्ध अमरीका वियतनाम युद्ध क उतार-चढाव से है। सोवियत-चीन मुठभेड़ के

आपसी सम्पर्कों के अभाव से नहीं आयी थी। इस समय तक अमरीका का दक्षिण-पूर्व एशियाई मामलों में सैनिक हस्तक्षेप बढ़ने लगा था और भारत की सोवियत संघ के साथ मैत्री घनिष्ठ होने लगी थी। जहाँ एक ओर चीन के साथ सम्बन्धों मे तनाव बढ़ने के कारण भारत के लिए अमरीका महत्वपूर्ण बना, वहीं क्यूबाई मिसाइल संकट (1962) के बाद अमरीका का सोवियत संघ के साथ 'होट लाइन' के माध्यम से संवाद का सूत्रपात होने से भारत की गुट निरपेक्ष मध्यस्थ-सन्देशवाहक के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका का अवमूल्यन हुआ। कांगो संकट मे भारतीय नीति संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में अमरीका की हित साधक रही, परन्तु ऐसा संयोगवश ही हुआ। भारत सरकार की सहानुभूति और समर्थन अफ्रीका मे एवं अन्यत्र सभी जगह उन प्रगतिशील व साम्राज्यवाद विरोधी तत्वों को प्राप्त था, जिन्हें अमरीका अदना शत्रु समझता था।

1961 में गोवा मे सैनिक बल प्रयोग ने नेहरू जी को अमरीका की नजर मे पाखण्डी सिद्ध किया तो 1962 मे चीन के साथ सैनिक मुठभेड़ के दौरान भारत को दी गयी सहायता की कीमत वसूल करने के अमरीकी प्रयत्नों ने भारत को खिन्न किया। जैसे-जैसे भारत की निर्भरता अमरीकी खाद्यान्नों के आयात पर बढ़ती गयी, वैसे-वैसे अमरीका के मन मे भारत की स्वाधीनता पर अंकुश लगाने का लालच बढ़ता गया। 1964 मे नेहरू जी की मृत्यु तक भारत-अमरीका सम्बन्ध एक नाजुक असामान्य स्थिति तक पहुँच चुके थे। अधिकांश अमरीकी नेता और जनता ऋणी भारत को कृतघ्न समझते थे तो बहुसंख्यक भारतीयों के मन मे अमरीका की छवि कुटिल-कृपण की थी। कश्मीर और पाकिस्तान के प्रसंग मे अमरीका भारत के शत्रु का पक्षधर था तो भारत अमरीकी नीतियों के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जनमत तैयार करवाने मे सबसे आगे रहता था। 1965 मे सत्ता ग्रहण करने के बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारत की विदेश नीति की रूपरेखा स्पष्ट करने वाले अपने एक लेख मे इन सभी बातों को निस्संकोच स्वीकार किया।[1]

श्रीमती इन्दिरा गांधी के काल में भारत-अमरीका सम्बन्ध (1965–1977)—जिस समय श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधानमन्त्री बनी, उस समय भारत-अमरीका सम्बन्ध काफी अमधुर हो चुके थे। इसके आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों कारण थे। भारत के साथ रचनात्मक पहल चाहने वाले अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या हो चुकी थी और उनका स्थान जोनसन ने ले लिया। जोनसन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे विशेष रुचि नहीं थी और न ही उनमे बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जटिल यथार्थ का परिष्कृत विश्लेषण करने की क्षमता थी। अति यथार्थवादी शक्ति-सन्तुलन के पारम्परिक ढंग को समझने वाले जोनसन को यह बात हमेशा क्षोभ और आक्रोशदायक लगती थी कि भारत जनतन्त्र का हिमायती होने के बावजूद हर क्षेत्र में अमरीका का विरोध क्यों करता था। दुर्भाग्यवश इसी दौर मे अमरीका को वियतनाम युद्ध की दलदल मे बुरी तरह फँसना पड़ा और उसकी मित्र व समर्थक देशों से अपेक्षाएँ बढ़ती गयी। इन्हीं दिनों पी० एल० 480 खाद्यान्न आयात कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत की अमरीका पर निर्भरता निरन्तर बढ़ी। आरम्भ मे कहा गया कि इस अमरीकी सहायता के लिए भारत को विदेशी मुद्रा मे कुछ भी भुगतान नहीं करना पड़ेगा। परन्तु बाद मे यह बात स्पष्ट हुई कि जिन अमरीकी

[1] देखिये, चार्ल्स एच० हिमसेथ व सुरजीत मानसिंह की पूर्वोक्त पुस्तकें।

मार्च, 1977 में मोरारजी देसाई भारतीय प्रधानमन्त्री बने तो अनेक लोगों को लगा कि भारत अमरीका सम्बन्ध नाटकीय ढंग से सुधरेंगे। देसाई के गृहमन्त्री चौधरी चरणसिंह, विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी दक्षिणपंथी थे और जार्ज फर्नांडीस, मधु लिमये आदि का समाजवाद साम्यवादियों की अपेक्षा पश्चिमी जनतान्त्रिक समाजवाद का निकट सम्बन्धी था। इसके अतिरिक्त आपात काल में अमरीकियों ने इन्दिरा गांधी के विरोधियों (अर्थात् जनता पार्टी नेताओं को) शरण और प्रोत्साहन दिया था। सुब्रह्मण्यम स्वामी संसद में उपस्थित होकर नाटकीय ढंग से अदृश्य होने का पराक्रम अमरीकी सहायता के बिना नहीं कर सकते थे। विद्यार्थी जीवन में जयप्रकाश नारायण के अमरीका प्रवास का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अटल बिहारी वाजपेयी आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर चुके थे कि उनका प्रयत्न भारत की गुट निरपेक्षता को खरा-खालिस (Genuine Non-alignment) बनाने वाला होगा। अर्थात् यह अपेक्षा अनुचित नहीं थी कि सोवियत संघ के साथ भारत के विशेष सम्बन्धों पर पुनर्विचार किया जायेगा। अटल बिहारी वाजपेयी ने यह उत्साह भी दर्शाया कि वह भारत के पड़ोसी पाकिस्तान एवं चीन के साथ सम्बन्धों को सहज-सामान्य बनाना चाहते हैं। इस राजनयिक अभियान के श्रीगणेश के बाद अमरीका के साथ भारत के सम्बन्धों में सुधार की बात सोची जा सकती थी। इस धारणा की पुष्टि अमरीका में भारतीय राजदूत के रूप में प्रख्यात दक्षिणपंथी वकील नानी पालखीवाला की नियुक्ति से हुई। इस सबके बावजूद यदि भारत अमरीका सम्बन्धों में प्रत्याशित सुधार नहीं हो सका तो इसके कारणों पर विधिवत् विचार करना आवश्यक है।

सबसे पहली बात तो यह है कि सत्ता ग्रहण करने के बाद जनता सरकार को यह स्वीकार करने को विवश होना पड़ा कि भारत-सोवियत सम्बन्धों में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की तत्काल गुंजाइश नहीं। चीन और पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण में भी भारत को निराशा ही हाथ लगी। वाजपेयी जी की चीन यात्रा (फरवरी, 1979) के दौरान चीन ने वियतनाम पर आक्रमण किया और अपमानजनक ढंग से 1962 के भारत चीन संघर्ष की याद ताजा की। इसी तरह पाकिस्तान में भुट्टो को फांसी की सजा देकर जनरल जिया उल हक ने इस भ्रान्ति को निर्मूल सिद्ध कर दिया कि उनका कोई इरादा अपने देश में जनतन्त्र की पुनर्स्थापना का है। भारत ने नेपाल और बंगला देश के साथ जिस तरह के समझौते किये उनसे भी अमरीका को यही संकेत मिला कि जनता सरकार में राजनयिक कौशल का अभाव है। अमरीका को यह लगा कि भारत को रियायतें देने के बजाय उस पर दबाव डालकर अपने राष्ट्रीय हित को साधना बेहतर है। इसीलिए अमरीका ने परमाणु टैक्नोलाजी के हस्तान्तरण के मामले में भारत के साथ बेहद रुखाई का व्यवहार किया। राष्ट्रपति कार्टर की भारत यात्रा (1978) के दौरान दो पीढ़ियों, व्यक्तित्वों और जीवन दर्शनों का टकराव भी उभर कर सामने आया। मोरारजी देसाई पुराने गांधीवादी, कट्टर सदाचार समर्थक पीढ़ी के प्रतिनिधि थे। अमरीका की जरूरत न उनको नजर आती थी और न ही चरणसिंह को। उन्हीं के मन्त्रिमण्डल के एक वरिष्ठ सदस्य हेमवती नन्दन बहुगुणा प्रकट रूप से सोवियत संघ के पक्षधर थे। एक अन्य प्रभावशाली मन्त्री उद्योग मन्त्री जार्ज फर्नांडीस वर्षों से अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विरुद्ध मुहिम चलाते आ रहे थे और अपने कार्यकाल में

बाद बढ़े अन्तर्राष्ट्रीय तनाव से अमरीका भारत को दुत्कारने का जोखिम नही उठा सकता था। इस बात का श्रेय श्रीमती गांधी को दिया जाना चाहिए कि उन्होंने परिस्थितियों का पूरा लाभ उठाया। यह स्थिति कमोबेश 1969 से लेकर 1971 तक बरकरार रही। बंगला देश मुक्ति संग्राम और पाकिस्तान के विघटन वाले प्रसंग ने भारत और अमरीका के बीच अन्तर्द्वन्द्व खतरनाक ढंग से उभारे। इनका विस्तृत विश्लेषण अन्यत्र किया गया है। अतः यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नही। परन्तु इस निष्कर्ष को रेखांकित किया जाना जरूरी है कि दक्षिण एशियाई सन्दर्भ में अपने निजी सामरिक दबावों के कारण अमरीका ने अपने मित्र के रूप में पाकिस्तान को चुन लिया। इसके बाद भारत के साथ सम्बन्धों का असहज होना स्वाभाविक ही था। यह सच है कि अमरीका ने बड़े पैमाने पर भारत को आर्थिक सहायता दी है परन्तु वह जिस तरह की कृतज्ञता और स्वामी भक्ति की आशा कोरिया, ताइवान व सिंगापुर से कर सकता है, वैसी अपेक्षा भारत में नहीं की जा सकती। बंगला देश मुक्ति अभियान के दौरान हेनरी किसिंजर और निक्सन ने खुले आम भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के पक्ष में झुकाव वाली नीति की घोषणा की और बंगाल की खाड़ी में युद्धपोत (सातवाँ बेड़ा) भेजकर भारत के भयादोहन (ब्लैकमेल) का असफल प्रयत्न किया। इसके परिणामस्वरूप भारत-अमरीका टकराव उनमें सम्बन्ध विच्छेद की सीमा तक पहुँच गया। 1971 के बाद भले ही यह कहा जाता रहा कि अमरीका भारत के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण का इच्छुक है, किन्तु बंगला देश को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दिलाने के प्रश्न पर अमरीका के षड्यन्त्रकारी क्रियाकलाप ने भारत को आशंकित रखा। 1973 में जब टी. एन. कौल को अमरीका में भारतीय राजदूत नियुक्त किया गया, तब जाकर दोनों देशों में 'वयस्क सम्बन्धों' (mature relations) की बात गम्भीरता से उठायी गयी। सम्बन्धों में वयस्कता की बात करने का यह अर्थ था कि दोनों देश यह स्वीकार करते है कि उनके राष्ट्रीय हितों में टकराव है और विश्व दृष्टि में भी। फिर भी मतभेदों को छिपाये बिना उनके बीच सहकार के क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। परन्तु सदाशयता का यह दौर ज्यादा समय तक टिका नहीं। जब 1973–75 में श्रीमती गांधी के कुशासन के विरुद्ध जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो अमरीका में जयप्रकाश नारायण की लोकप्रियता को देखते हुए इन्दिरा गांधी के लिए यह आक्षेप लगाना सहज हुआ कि अमरीकी सरकार भारत को अस्थिर करने का प्रयत्न कर रही है। इसके कुछ पहले भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में आदिवासियों की बगावत और बंगाल में उग्र वामपंथी क्रान्तिकारी हिंसा के विस्फोट के विश्लेषण में अमरीकी विद्वानों की रुचि ने अनेक भारतीय नागरिकों को सतर्क किया। 1975 में आपातकाल की घोषणा ने भारत में जनतन्त्र को मानवाधिकार हनन के प्रश्न से जोड़ दिया और अमरीकी सिनेटर एडवर्ड कैनेडी जैसे पारम्परिक मित्र भी इन्दिरा गांधी के कटु आलोचक बन गये। अमरीका में टी. एन. कौल के रूखे आचरण ने भी भारत की छवि को नुकसान पहुँचाया। 1977 में इन्दिरा गांधी के अपदस्थ होने के बाद एक बार फिर आशा की किरण पैदा हुई कि अब शायद भारत-अमरीका सम्बन्धों में सुधार हो सकेगा।[3]

जनता सरकार के काल में भारत-अमरीका सम्बन्ध (1977–1979)— जब

[3] देखें—सुरजीत मानसिंह की पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० 64 से 128 तक।

सांस्कृतिक आयाम की सीमाएँ—भारत-अमरीका सम्बन्धों के सांस्कृतिक आयामों और इनकी सम्भावनाओं का चाहे कितने ही जोर शोर से प्रचार किया जाये, इसकी सीमाएँ स्पष्ट हैं। तंदूरी मुर्ग, महेश योगी व रवि शंकर के सितार से अमरीकी पर्यटकों को भले आकर्षित किया जा सके, किन्तु अमरीकी सरकार की नीतियों को प्रभावित करना कठिन रहेगा। भारत की उत्सव-धर्मी राजनीति (सन्दर्भ भारत महोत्सव का आयोजन) से कुछ हासिल होने वाला नहीं। अमरीका में खालिस्तानी आतंकवादियों को दिये जा रहे शस्त्र-प्रशिक्षण से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है। सरकारी प्रचार-तन्त्र यह दोहराते नहीं थकता कि आज अमरीका में भारतीय मूल के पाँच लाख नागरिक हैं जो काफी समृद्ध हैं और जिनमें से अनेक प्रभावशाली हैं। भारत के राष्ट्रीय हित में इन नागरिकों के इस्तेमाल की बात सुझाना मूर्खतापूर्ण है। इनमें से अधिकांश नागरिक व्यक्तिगत और पारिवारिक लाभ से ही प्रेरित हैं। ये लोग अपनी मातृभूमि के विकास या उसके हितों की रक्षा के लिए अमरीका की नजरों में संदिग्ध नहीं बनना चाहते। भारत की गरीबी व जड़ता से 'त्रस्त' इन पलायन करने वाले भारतीय मूल के लोगों से अपेक्षा रखना व्यर्थ है। भविष्य में भी अमरीका के साथ सम्बन्धों को व्यस्क व स्थिर आधार पर तभी रखा जा सकेगा, जब हम राजनीतिक व सामाजिक जीवन में अनुपस्थित साम्य को छोड़कर मतभेदों के यथार्थ को मद्दे नजर रखकर नीति निर्धारण करेंगे।

भारत सोवियत संघ सम्बन्ध
(Indo Soviet Relations)

भारत और सोवियत संघ (रूस) एक दूसरे के पड़ोसी देश अवश्य हैं, किन्तु विचारधारा, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था आदि की दृष्टि से काफी भिन्न हैं। भारत की आजादी के बाद प्रारम्भिक वर्षों में भारत व रूस के बीच सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं थे, किन्तु 1954 में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ की आन्तरिक राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में ऐसे निर्णायक मोड़ आये कि दोनों देश एक-दूसरे के काफी नजदीक आते गये। कश्मीर के मसले पर सोवियत संघ द्वारा भारत को समर्थन देने में दोनों देशों के बीच मैत्री सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ, जिसका चरमोत्कर्ष बंगला देश युद्ध के पूर्व अगस्त, 1971 में सम्पन्न भारत-सोवियत मैत्री एवं सहयोग सन्धि के रूप में देखने को मिला। दोनों देश बरसों तक विश्व राजनीति के अनेक मसलों पर समान राय रखते रहे और उनके बीच मैत्री सम्बन्ध कायम रहे।

स्वाधीनता के पूर्व भारत-सोवियत सम्बन्ध—भारत और सोवियत संघ का एक-दूसरे के साथ परिचय बहुत आत्मीय न होने पर भी सदियों पुराना है। कश्मीर में भारतीय सीमान्त से सोवियत भू भाग लगभग 15–20 किलोमीटर दूर है और अविभाजित भारत में उत्तर पश्चिमी प्रदेश सोवियत दक्षिणी एशियाई गणराज्यों की 'पहुँच (reach) में थे। सोवियत संघ की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा एशियाई है और *भाषा, धर्म व संस्कार की दृष्टि से हिन्दुस्तानी उपमहाद्वीप (रूसी शब्दावली)* में रहने वालों के रिश्तेदार हैं। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में इस क्षेत्र में औपनिवेशिक शक्ति ब्रिटेन का प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण सोवियत संघ स्वाभाविक रूप से भारत के स्वाधीनता सैनिकों के लिए निरापद स्थली रहा। बाल्शेविक क्रान्ति (1917) के

उन्होंने भारत में इन्टरनेशनल बिजनेस मशीन्स (I. B. M.) और कोका कोला कम्पनी पर इतने कठोर प्रतिबन्ध लगाये कि इन दोनों कम्पनियों को भारत से अपना कारोबार समेटने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह नहीं कि जार्ज फर्नांडीस पूँजीवाद विरोध थे, वरन् वह अमरीका के बनिस्बत अपने जर्मन तथा अन्य पश्चिमी यूरोपीय साथियों के साथ जनतांत्रिक समाजवादी साझेदारी के पक्षधर थे। इन सब बातों से अमरीका का खिन्न होना स्वाभाविक था।

दूसरी ओर इन वर्षों में अमरीकी राष्ट्रपति के वैदेशिक मामलों के प्रमुख सलाहकार ब्रेजेजिन्स्की थे। उनकी 'Tri Continental' परियोजना में भारत जैसी 'घटिया दरिद्र शक्ति' के लिए कोई स्थान नहीं था। डेमोक्रेटिक पार्टी का सदस्य होने के बावजूद वह गर्म मिजाज के शीत योद्धा थे। ईरान और अफगानिस्तान के घटना-क्रम के जरिये उन्हीं की आक्रामक नीतियों ने नये शीत युद्ध का सूत्रपात किया। कार्टर प्रशासन ने ही पाकिस्तान को 3·2 अरब डालर की सैनिक सहायता देकर भारत को इस नए शीत युद्ध की लपटों से झुलसाना आरम्भ किया। इस सबका प्रभाव भारत-अमरीका सम्बन्धों पर पड़ना स्वाभाविक था। बहरहाल, जनता सरकार के शीघ्र गिर जाने से इस अन्तराल का कोई विशेष महत्वपूर्ण प्रभाव भारत-अमरीका सम्बन्धों पर नहीं पड़ा।[1]

भारत-अमरीका सम्बन्ध (1980 से अब तक)—श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा जनवरी, 1980 में पुन. सरकार बनाने पर भारत-अमरीका सम्बन्धों में सुधार के लिए अनेक प्रयत्न किये गये। वयस्क रिश्तों की पुन. बात की गयी परन्तु बुनियादी सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण राष्ट्रीय हितों का सामंजस्य कठिन ही बना रहा। अमरीका द्वारा पाकिस्तान के प्रति पक्षपातपूर्ण आचरण और पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक सहायता तो बीमारी के सिर्फ लक्षण हैं, असली रोग अमरीका द्वारा भारत की गुट निरपेक्षता-स्वाधीनता को स्वीकार न करना रहा। इसी कारण अमरीका की किसी भी राजनयिक व सामरिक रणनीति में भारत को सहयोगी नहीं, बल्कि विरोधी समझा जाता रहा। भारत दुनिया के अन्य साम्यवादी व समाजवादी देशों की तुलना में भले ही अधिक जनतांत्रिक और स्वतन्त्र दिखायी देता हो किन्तु अमरीका की दृष्टि में केन्द्रीकृत नियोजित विकास कार्यक्रम और मिश्रित अर्थव्यवस्था भारत को सोवियत छाप वाला ही सिद्ध करते रहे। इन बुनियादी मतभेदों के रहते भविष्य में भी अमरीका के साथ भारत की नीतियों का तालमेल बिठाना कैसे सहज होता। 1984 में राजीव गांधी द्वारा भारत की बागडोर सम्भालने के बाद भी भारत-अमरीका सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ।

जून, 1989 में अमरीका ने सुपर–301 के तहत भारत के खिलाफ लगाये जाने वाले आर्थिक प्रतिबन्धों की धमकी ने भारत-अमरीका सम्बन्धों में एक कटु तनाव को जन्म दिया, किन्तु जुलाई, 1990 में अमरीका ने आश्वासन दिया कि उरुग्वे चक्र की वार्ता तक वह भारत के खिलाफ कार्रवाई नहीं करेगा। जून, 1991 में नरसिंह राव सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद भारत ने अर्थव्यवस्था को और उदार बनाया, जिससे यह कटु तनाव लगभग समाप्त हो गया, किन्तु पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्र सप्लाई तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर दोनों देशों के बीच मतभेद जारी हैं।

[1] देखें: Baldev Raj Nayar, *American Geo-Politics and India* (Delhi, 1976).

को हिंसक बगावत की प्रेरणा उस कलकत्ता सम्मेलन मे मिली थी, जिसका आयोजन सोवियत सघ ने करवाया था। अन्य शब्दो मे, सत्ता ग्रहण करने और सरकार बनाने के बाद नेहरू जी यह समझने लगे थे कि सोवियत सघ ने जिस तत्र का निर्माण औपनिवेशिक शक्ति को खोखला करने के लिए किया था, उसका बखूबी प्रयोग वह नवोदित सरकारो पर अकुश लगाने के लिए भी कर सकता है। दूसरी ओर सोवियत पक्ष को इस बात से बेहद सतोष था कि अपने को क्रान्तिकारी और प्रगतिशील कहकर पेश करने वाले नेहरू, हर निर्णायक लडाई मे समझौता-परस्त और अनिश्चय मे रहने वाले एक 'दुर्बल' व्यक्ति सिद्ध होते जा रहे थे। जिस समय चीन मे माओ के नेतृत्व मे साम्यवादी पार्टी विजय की ओर अग्रसर थी, उस समय नेहरू च्याग काई शेक के साथ व्यक्तिगत पारिवारिक मित्रता का प्रदर्शन कर रहे थे। इसी तरह 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' मे बने रहने के भारत के फैसले ने भी रूस की दृष्टि मे भारत की आजादी पर प्रश्न चिह्न लगा दिये। सोवियत सघ मे श्रीमती पडित के बाद भारतीय राजदूत के रूप मे सर्वपल्ली राधाकृष्णन को भेजा गया, जो अध्यात्मवादी दार्शनिक थे और अग्रेजो द्वारा 'सर' की उपाधि से सम्मानित किये जा चुके थे। सक्षेप मे, वह भी रूसियो को अपने मिजाज के या विशेष काम के आदमी नही लगे।

यदि भूतपूर्व भारतीय राजनयिक के० पी० एस० मेनन की आत्मकथा के सस्मरणो पर विश्वास करें तो मानना पडेगा कि अकेले उन्ही के भगीरथ प्रयत्नो से स्टालिन का हृदय परिवर्तन हो सका और भारत-सोवियत सम्बन्ध सुधार की प्रक्रिया आरम्भ हुई। वास्तविकता यह है कि शीत युद्ध में तेजी के साथ स्टालिन के सामने गुट-निरपेक्षता के बावजूद भारत जैसी सम्भावनाओ वाली शक्ति का महत्व झलकने लगा था। कोरिया युद्ध म निष्पक्ष मध्यस्थता द्वारा नेहरू जी ने अपनी ईमानदारी प्रमाणित कर दी थी। 1950 से 1963 के दौरान यह बात भी अच्छी तरह प्रमाणित हो चुकी थी कि भारत ने भले ही ब्रिटेन से नाता न तोडा हो, किन्तु स्वतन्त्र भारत के द्वार पश्चिमी पूँजी के लिए अबाध नही थे। नेहरू जी की सरकार यह स्पष्ट कर चुकी थी कि रूसी नमूने के केन्द्रीकृत नियोजित विकास के प्रति उनकी आस्था है और आर्थिक उत्पादन के निर्णायक महत्व वाले क्षेत्रो मे सरकारी नियन्त्रण व एकाधिकार बना रहेगा। 1951 मे दक्षिणपथी समझे जाने वाले सरदार पटेल की प्रेरणा से रियासतो-रजवाडो का उन्मूलन किया गया और 'भारतीय राज्य' के एकीकरण की कल्पना साकार हुई। इस सारे घटनाक्रम से भारत के प्रति सोवियत रुख म परिवर्तन होना स्वाभाविक था। परन्तु तब भी इसमे बदलाव स्टालिन के जीवन काल म नही आया। स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत सघ मे एक सामूहिक नेतृत्व (भले ही थोडे से समय के लिए) उभरा। इसी दौर मे ख्रुश्चेव तथा बुल्गानिन ने भारत की यात्रा की।

इस समय तक साम्यवादी व समाजवादी देशो के प्रति भारतीय रुझान स्पष्ट हो चुका था। अमरीकी विदेश मन्त्री डलस द्वारा भारत की कटु आलोचना ने भारत की छवि प्रगतिशील बनायी। भारत और सोवियत सघ को पास लाने मे वैदेशिक मामलो मे नेहरू जी के प्रमुख सलाहकार कृष्णा मेनन और उनके विदेशी वामपथी मित्रो ने भी महत्वपूर्ण योगदान किया। बदले अन्तर्राष्ट्रीय और स्वदेशी यथार्थ की नाटकीय अभिव्यक्ति करते हुए ख्रुश्चेव ने अपनी भारत यात्रा के दौरान यह घोषणा की कि कश्मीर विवाद मे सोवियत सघ भारत का साथ देगा। सोवियत सघ भारत

बाद सोवियत संघ विचारधारा के स्तर पर भी पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरोध में भारतीय राष्ट्रवादियों की सहायता व समर्थन देता रहा। इन सब कारणों से भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेताओं और आम जनता के मन में सोवियत संघ के प्रति सद्भाव का बड़ा भण्डार रहा। इसका प्रभाव आजादी के बाद भारत-रूस सम्बन्धों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

अक्सर यह कहा जाता है कि सोवियत संघ के प्रति नेहरू जी का गहरा आकर्षण था और इससे भारतीय नीति प्रभावित हुई। यह सच है कि नेहरू जी ने 1920 के दशक में भारतीय राजनीति में सक्रिय होने के साथ ही सोवियत संघ का दौरा किया और उन्होंने 'सोवियत प्रयोग' को भारत में लागू करने के लिए उत्साह दर्शाया था। नेहरू जी अपनी किशोर व युवा अवस्था में जब इंग्लैंड में रह रहे थे, तब वह 'फेबियन' समाजवादियों के सम्पर्क में आये थे और मार्क्सवादी-लेनिनवादी रूस को यह साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी लड़ाई के दौर में महत्त्वपूर्ण साथी मानते थे। सोवियत संघ ने भी त्रोतस्की आदि की प्रेरणा से कोमिनतर्न (कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल) के जरिये अफ्रो-एशियाई उत्पीड़ित जनता को जुझारू ढंग से संगठित करने का प्रयत्न किया। रूस की ही प्रेरणा से साम्राज्यवाद विरोधी लीग ने ब्रुसेल्स में 1927 में उस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें नेहरू जी ने सोत्साह भाग लिया। द्वितीय विश्व युद्ध की पूर्व सन्ध्या में नेहरू के नाजी और फासीवाद विरोधी तेवर सोवियत संघ को अपने हित साधक लगे, क्योंकि नाजी और फासीवादी तानाशाह मूलतः साम्यवाद-विरोधी थे।

स्टालिन काल में भारत-रूस सम्बन्ध—इसके बावजूद 1947 में भारत को सोवियत संघ से अपेक्षित स्नेह और मैत्री नहीं मिली। तत्कालीन सर्वोच्च सोवियत नेता स्टालिन भावनाओं में बहने वाले व्यक्ति नहीं थे। वह शक्ति-संतुलन के साथ-साथ सैद्धान्तिक समीकरणों को भी साधने का प्रयत्न करते थे। उनकी समझ में अहिंसक गांधी के सुधारवादी शिष्य नेहरू अंग्रेज-परस्त थे और उनका 'जनतान्त्रिक समाजवाद' साम्यवादी-समाजवाद की परिकल्पना से बिल्कुल भिन्न था। फिर जब नेहरू जी ने गुट-निरपेक्षता की अपनी अवधारणा स्पष्ट की तो भारत-रूस सम्बन्धों को घनिष्ठ बना सकने की रही-सही आशा धूमिल हो गयी। उस समय प्रकाशित सोवियत विश्व कोश में गांधी और नेहरू के लिए 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पिछलग्गुए-श्वान' (Running Dogs of British Imperialism) जैसे विशेषणों का प्रयोग किया गया था।

आज कई भारतीय इस बात से बेहद खिन्न होते हैं कि जिस वक्त भारतीय प्रधानमन्त्री नेहरू जी अपनी सगी बहन श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित को सोवियत संघ में स्वतन्त्र भारत का पहला राजदूत बनाकर आपसी सम्बन्धों को आत्मीयता का पुट देना चाह रहे थे, उस वक्त सोवियत संघ से ऐसा तिरस्कार झेलना पड़ रहा था। परन्तु यदि वस्तुनिष्ठ ढंग से देखें तो सोवियत आचरण एक हद तक तर्कसंगत जान पड़ता है। सोवियत नेताओं की दृष्टि में श्रीमती पंडित की राजदूत के रूप में नियुक्ति भाई-भतीजावाद का लक्षण थी। इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि उस समय नेहरू जी भारत में अपने साम्यवादी विपक्षियों का दमन कर रहे थे। तेलंगाना में साम्यवादी विद्रोह का दमन किया गया। भारत सरकार ने अपने वक्तव्यों में यह आक्षेप भी लगाया कि भारतीय साम्यवादियों

संघ के मिस्र हस्तक्षेप (1956) का समर्थन करने में असमर्थ रहा। बाद में कांगो में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में सम्पन्न शान्ति रक्षक कार्रवाई को सोवियत संघ ने न केवल गैर जरूरी बल्कि षड्यन्त्रकारी समझा। कांगो संकट के दौरान सैनिक और राजनयिक दोनों ही पक्षों में भारत की महत्वपूर्ण भागीदारी थी। वैसे यह कहना अधिक उचित होगा कि भारत व रूस के बीच मतभेद नहीं, बल्कि मतान्तर रहे। यदि ये मतान्तर कठिनाई का कारण नहीं बने तो इसके मूल में एक बड़ी बात यह थी कि संयोगवश भारत और सोवियत संघ दोनों का ही चीन के साथ विग्रह लगभग एक साथ आरम्भ हुआ। 1956 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस के बाद विस्तालिनीकरण की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई, उसने सोवियत-चीन विवाद सामने आया। 1962 तक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि रूस ने 'भाई' (चीन) की अपेक्षा मित्र (भारत) का साथ निभाने का निर्णय लिया। भारत-चीन सैनिक मुठभेड़ के बाद भारत ने बड़े पैमाने पर सोवियत संघ से सामरिक साज-सामान का आयात किया। इन्हीं वर्षों में अमरीका ने अपने शीतयुद्धजनित दबाव के कारण पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता दी। भारत के लिए इस असन्तुलन को सोवियत माध्यम से दूर करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं रह गया था।

नेहरू जी की मृत्यु (1964) तक इस स्थिति में काफी परिवर्तन आ चुका था। क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट (1962) के बाद दोनों महाशक्तियाँ सीधे टकराव की जरूरत समझने लगी थीं। युवा अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी ने शुरू में यह दर्शाया कि रचनात्मक पहल के प्रयत्न को वह समर्थन नहीं समझते। इसी कारण कैनेडी तथा ख्रुश्चेव के बीच सम्पर्कों से उस प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ, जिसकी परिणति 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में 'देतांत' के रूप में हुई। दो महाशक्तियों के निकट आने के परिणामस्वरूप भारत का ही नहीं, बल्कि सभी गुट-निरपेक्ष देशों का अवमूल्यन हुआ। यह बात 1965 की भारत-पाक सैनिक मुठभेड़ में बिल्कुल स्पष्ट हो गयी। सोवियत संघ ने दोनों युद्धरत राष्ट्रों के बीच पूर्णतः तटस्थ भूमिका निभायी और ताशकन्द समझौते में अपनी मध्यस्थता के दौरान भी अमरीकी हितों का ध्यान रखा।

यह असहज स्थिति कमोबेश 1969 तक बनी रही। इसके कई कारण थे। आरम्भिक वर्षों में श्रीमती इन्दिरा गांधी एक ऐसी पार्टी का नेतृत्व कर रही थीं जिसे संसद में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था। सत्ता में बने रहने के लिए भारतीय साम्यवादी पार्टियों का समर्थन जुटाना श्रीमती इन्दिरा गांधी की विवशता थी। सोवियत नेता इस बात को भली-भाँति समझते थे। यह स्वाभाविक भी था कि वे इस स्थिति का लाभ उठाने का प्रयत्न करते। 1968 में जब ख्रुश्चेव के उत्तराधिकारी ब्रेझनेव ने दुस्साहसिक तरीके से चेकोस्लोवाकिया में सैनिक हस्तक्षेप किया और सीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो श्रीमती इन्दिरा गांधी के मन्त्रिमण्डल के प्रमुख सदस्य अशोक मेहता ने इस घटनाक्रम की भर्त्सना करते हुए मन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। इन्हीं दिनों ब्रेझनेव ने सहकारी ढंग से समस्त एशिया के लिए एक सामूहिक सुरक्षा योजना प्रस्तुत की। इसे लेकर भी कई भारतीय आशंकित हुए। जहाँ एक ओर ये सब बातें ब्रेझनेव के बढ़ते हुए आत्म-विश्वास का लक्षण थीं, वहीं इसके लिए यह बात भी जिम्मेदार थी कि 1964 से 1968 के

के आर्थिक विकास के लिए बड़े पैमाने पर आर्थिक व तकनीकी सहायता देगा। असल में रूस का यह बदला हुआ रवैया भारत के हार्दिक आतिथ्य के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन नहीं, बल्कि तीसरी दुनिया के करोड़ो अफ्रो-एशियाइयों के दिलो-दिमाग जीतकर शीत युद्ध में अमरीका को पस्त-परास्त करने वाली सुनियोजित रणनीति का एक हिस्सा था।

ख्रुश्चेव काल में भारत-सोवियत सम्बन्ध (1954 से 1964 तक)—ख्रुश्चेव ने सत्ता के सारे सूत्र अपने हाथ में एकत्र करने के साथ ही शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व वाले राजनय का प्रतिपादन किया जिसके अन्तर्गत गैर-समाजवादी देशों के साथ भी विशेष मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध सम्भव थे। जहाँ तक भारत का प्रश्न था, अब तक पश्चिमी जगत के साथ उसका मोह भंग हो चुका था। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता ग्रहण करने के बावजूद नेहरू सरकार ब्रिटेन से अपेक्षित आर्थिक व तकनीकी सहायता जुटाने में असमर्थ रही थी। विशेषकर इस्पात संयन्त्र हासिल करने और खाद्यान्नों के सिलसिले में उसे अमरीका से तिरस्कृत होना पड़ा था। सोवियत नेताओं ने भारत को सूचित किया कि वे इस्पात, कोयला तथा विद्युत, प्राण-रक्षक दवाइयों, सैनिक साज सामान के क्षेत्र में भारत के साथ खुले हाथों से सहयोग करने को तैयार है।

इसके बाद भारत-सोवियत सम्बन्धों में निरन्तर घनिष्टता स्थापित होती गयी। जब नेहरू जी ने सोवियत नेताओं के निमन्त्रण पर रूस का जवाबी दौरा किया तो रूसियों ने उनका इतनी गर्मजोशी से स्वागत किया कि नेहरू जी अतीत की सारी रुखाई और उपेक्षा भूल गये। बात सिर्फ एक व्यक्ति के मुग्ध होने की नहीं थी। ख्रुश्चेव शायद विश्व के सामने एक मानवीय चेहरा पेश कर रहे थे, जो स्तालिन की तुलना में कहीं अधिक आकर्षक था। इसी समय भारतीय साम्यवादियों ने भी नेहरू जी की प्रगतिशील सरकार को बेहिचक समर्थन देना आरम्भ कर दिया। भारतीय साम्यवादी पार्टी की अमृतसर कांग्रेस (1955) में यह बात तय की गयी कि पार्टी सशस्त्र क्रान्ति का रास्ता छोड़कर अब संसदीय प्रणाली से सत्ता ग्रहण करने का प्रयत्न करेगी। सोवियत संघ के लिए नेहरू जी को प्रगतिशील मानना इसलिए भी आसान हुआ कि 1950 वाले दशक में आजाद भारत में औद्योगिकीकरण, सुनियोजित विकास, बड़े पैमाने पर भूमि सुधार के कार्यक्रम आदि उत्साह से चलाये जा रहे थे और अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भारतीय विदेश नीति के तेवर जुझारू ढंग से उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद विरोधी तथा निरस्त्रीकरण के पोषक थे। हिन्द चीन की समस्या हो या अफ्रीका में रंगभेद के विरुद्ध लड़ाई, भारतीय नीतियों का *साम्य-संयोग अमरीका की तुलना में सोवियत संघ के साथ कहीं अधिक था।*[2]

भारत-सोवियत मतभेद—यह समझना गलत होगा कि 1954 से 1964 तक भारत व सोवियत संघ के बीच मतभेद उभरे ही नहीं। भारत पहले हंगरी में सोवियत

[1] भारत-सोवियत सम्बन्धों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए देखें – Devendra Kaushik, *Soviet Relations with India and Pakistan*, (Delhi, 1971), Girish Misra, *Contours of Indo-Soviet Economic Cooperation*, (Delhi, 1976), Arther Stein, *India and Soviet Union : The Nehru Era* (Chicago, 1969), Vijay Sen Budhraj *Soviet Russia and Hindustani Sub-Continent*, (Delhi, 1973) और J. P. Premdeo, *Indo-Soviet Relations* (Meerut, 1984)

सामजस्य व सहयोग 1977 तक अच्छी तरह स्पष्ट हो चुका था। इसी वक्त नए शीत युद्ध के आविर्भाव ने विडम्बनापूर्ण ढग से भारत और सोवियत सघ को फिर एक-दूसरे के पास ला दिया।[1]

नया शीत युद्ध और भारत-सोवियत सम्बन्ध—प्रधानमन्त्री बनने के वर्षों पहले मोरारजी देसाई अपने को स्पष्ट रूप से साम्यवाद विरोधी घोषित कर चुके थे। अत उनके शासन-काल में नेहरू जी या श्रीमती इन्दिरा गाधी के जैसे वामपथी रुझान की बात सोची नहीं जा सकती थी। वैसे भी जनता पार्टी के प्रेरणा-स्रोत लोकनायक जयप्रकाश नारायण 'पश्चिमी' जगत के पक्ष मे थे और जनता पार्टी के अन्य वरिष्ठ नेता चौधरी चरण सिंह, अटल बिहारी वाजपेयी आदि सोवियत सघ की अपेक्षा अमरीका की ओर झुकाव रखते थे। चरण सिंह की कोई विशेष रुचि अन्तर्राष्ट्रीय मामलो म नही थी, किन्तु उन्होंने अपने एक वरिष्ठ कबिनेट सहयोगी हेमवती नन्दन बहुगुणा को के० जी० बी० एजेंट कहकर दोनो देशो के सम्बन्धों को अपेक्षाकृत तनावग्रस्त किया। मोरारजी देसाई आदि के मन म इस बात को लेकर भी मालिन्य था कि जब ससार भर मे आपातकालीन तानाशाही की निन्दा हुई थी तब सोवियत सघ ने श्रीमती इन्दिरा गाधी को समर्थन दिया था।

सोवियत सघ ने इस कठिन दौर में दूरदर्शी राजनयिक सूझ का परिचय दिया। जब अटल बिहारी वाजपेयी आदि ने खालिस गुट निरपेक्षता (Genuine Non alignment) की बात की तो सोवियत नेता उत्तेजित नही हुए। उन्होंने देसाई का भी सोवियत सघ मे उतनी ही गर्मजोशी से स्वागत किया, जितना उनके पूर्ववर्ती भारतीय प्रधान मन्त्रियों का किया जाता रहा था। मोरारजी देसाई इससे नरम पडे हो या नहीं, लेकिन रूसी नेता भारतीय विदेश मन्त्री वाजपेयी को रिझाने में सफल हुए। सोवियत सघ को दो अप्रत्याशित कारणो से इस प्रयास म सहायता मिली—(1) कार्टर सरकार की अहकारी रुखाई और पाकिस्तान की पक्षधरता, तथा (2) चीन यात्रा के दौरान वाजपेयी की मानहानि। इसने भारत सरकार के सामने यह तथ्य उजागर किया कि आडे वक्त म काम आने वाली आजमायी दोस्ती सोवियत सघ के साथ टिकाऊ रहेगी। जनता सरकार द्वारा सोवियत सघ म नियुक्त राजदूत इन्द्र कुमार गुजराल (जो वास्तव म इन्दिरा गाधी द्वारा भेजे गय थे) वामपथी रुझान के व्यक्ति थे। उन्होंने स्वामीभक्तिपूर्ण तरीके से जनता सरकार के पक्ष में सोवियत मत निर्धारण म महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारत सोवियत आर्थिक सम्बन्ध—इस सन्दर्भ म सबसे महत्वपूर्ण बात यह रही कि 1977 तक भारत-सोवियत आर्थिक सम्बन्धो का ताना-बाना बहुत लाभप्रद ढग से इतना बुना जा चुका था कि व्यापक नीति परिवर्तन की गुजाइश ही नही बची थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सोवियत सघ भारत का सबसे बडा साझीदार था। इस व्यापार का माताना कारोबार दो हजार करोड रु० से ऊपर पहुँच गया। सोवियत सघ ने भिलाई और बोकारो इस्पात सयन्त्र स्थापित करवाने मे मदद की। मथुरा तेल शोधक कारखाना, हरिद्वार म प्राणरक्षक एन्टी बायोटिक औषधि निर्माणशाला की स्थापना भी सोवियत सघ के तकनीकी सहकार स ही सभव हुई।

सैनिक साज-समान के आयात एव उत्पादन के मामल म भारत की निर्भरता और भी नाजुक (critical) रही। आरम्भ से ही मिग लडाकू विमानो की 'असम्बली'

[1] देखिये—K. P S Menon, *Indian Soviet Treaty* (Delhi, 1971)

बीच अमरीकी खाद्यान्न आयात पर भारत की निर्भरता तेजी से बढी थी। अमरीकी दबाव के कारण भारत सरकार को रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा था। ऐसा सोचा जा सकता था कि यदि लगाम कसी नही गयी तो भारत क्रमशः दूसरे खेमे में फिसल जायेगा।

1969 के आते-आते एक बार स्थिति महत्वपूर्ण ढग से बदल गयी। इस बार भी आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों कारण प्रभावशाली और सयुक्त रूप से कारगर सिद्ध हुए। 1969 तक श्रीमती इन्दिरा गांधी अपने दक्षिणपंथी, पश्चिम के पक्षधर विपक्षियो व सिण्डीकेट के सदस्यो पर हावी हो चुकी थी। बैंक राष्ट्रीयकरण, प्रिवीपर्स के उन्मूलन आदि फैसलों से उनकी प्रगतिशील छवि पुष्ट हुई। इसके साथ ही उसूरी नदी के तट पर चीन के साथ हिंसक सैनिक झड़पो के बाद सोवियत नेता चीन के सन्दर्भ में भारत के साथ अपने हितो का संयोग फिर से देखने लगे थे। उधर हिन्द चीन के रणक्षेत्र में तेजी से बिगाड हो रहा था और अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण नियन्त्रण आयोग के सभापति के रूप मे भारत के राजनयिक महत्व का एक और अलग पहलू उद्घाटित हो रहा था। इसी कारण जब बंगला देश मुक्ति सघर्ष के दौरान भारत ने रूस से मैत्री व सहयोग सन्धि की पेशकश की तो इस अनुबन्ध पर आसानी से हस्ताक्षर हो सके।

भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि (9 अगस्त, 1971)—कई बार आलोचक यह आक्षेप लगाते है कि भारत ने इस सन्धि के बाद गुट निरपेक्षता त्याग दी। परन्तु सन्धि के अनुच्छेदो का विश्लेषण करने से यह बात निर्विवाद रूप से सामने आती है कि वस्तुतः इसने भारतीय गुट निरपेक्षता को अक्षत रखा। इस सन्धि के तहत आसन्न सकट की स्थिति मे दोनों पक्षों के लिए एक-दूसरे को सूचित करना और परामर्श के बाद कोई कदम उठाना तय किया गया। इस व्यवस्था को किसी भी तरह सैनिक सन्धि के समानार्थक नही समझा जा सकता। बंगला देश मुक्ति अभियान के दौरान भी इस सन्धि के प्रावधानों का सैनिक नही, बल्कि राजनयिक लाभ ही उठाया गया। वास्तव में, यह सन्धि भारत और सोवियत संघ के बीच विशेष सम्बन्धो के यथार्थ का तात्कालिक स्थिति मे मनोवैज्ञानिक लाभ उठाने का एक प्रयत्न थी। परवर्ती वर्षों का अनुभव इसी धारणा को पुष्ट करता है।

1971 के बाद 1975 तक भारत-सोवियत सम्बन्धों में निरन्तर सुधार होता रहा। दोनो देशों के बीच बडे पैमाने पर आर्थिक सहकार का विस्तार किया गया। भारत ने रूस से बड़े पैमाने पर सैनिक साज-सामान का आयात किया। इस दौर मे भी चीन-अमरीका सम्बन्धो मे सुधार ने भारत-सोवियत आत्मीयता की वृद्धि प्रोत्साहित की। 1975 में जब भारत मे आपातकाल की घोषणा के बाद श्रीमती इन्दिरा गाधी के 'असवैधानिक प्रशासन' की विश्व भर मे आलोचना हुई तो सोवियत सघ ने उनका सहर्ष सपरिवार आतिथ्य स्वीकार किया।

1977 मे जब श्रीमती इन्दिरा गाधी अपदस्थ हुई और उनका स्थान मोरारजी देसाई ने लिया तो ऐसी अटकलें लगायी गयी कि नई जनता सरकार अब शायद सोवियत सघ के प्रति अपना रवैया बदलेगी। परन्तु ऐसा नही हुआ। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत-सोवियत सम्बन्ध व्यक्तिगत आकर्षण और दलगत पूर्वाग्रहों पर नही, बल्कि हितो के सामंजस्य पर टिके हुए थे। इनका

सैनिक हस्तक्षेप किया। उसे जनवरी, 1979 मे चाहे-अनचाहे कम्पुचिया मे वियतनामी हस्तक्षेप को समर्थन देना पडा। इन दोनो प्रसगो मे सोवियत सघ अन्तर्राष्ट्रीय मच पर अकेला पड गया और समाजवादी खेमे के बाहर उसका साथ देने वाला एकमात्र गुट-निरपेक्ष राष्ट्र भारत सिद्ध हुआ। यहाँ इस बात को रेखाकित करना बेहद जरूरी है कि ऐसा किसी सुनियोजित नीति के कारण नही, बल्कि असमजस और दुनिया की स्थिति मे हुआ। जब सयुक्त राष्ट्र सघ मे अपनी स्थिति स्पष्ट करने की घडी आयी तो भारत के स्थायी प्रतिनिधि ब्रजेश मिश्र को नई दिल्ली के निर्देशो के अभाव मे अपने विवेक के अनुसार एक वक्तव्य देना पडा। अफगान सकट के सबसे महत्वपूर्ण क्षण मे मोरारजी देसाई का स्थान चौधरी चरण सिंह ले चुके थे और उनकी अपनी कुर्सी डावाडोल थी। श्रीमती इन्दिरा गाधी ने जनता सरकार के विरुद्ध अपने अभियान मे विदेश नीति के मुद्दो को महत्वपूर्ण समझा। निश्चय ही भारत की आन्तरिक राजनीति मे अस्थिरता ने राजनय के क्षेत्र मे परिवर्तन की अपेक्षा निरन्तरता को अधिक महत्वपूर्ण समझा गया और नये शीत युद्ध के आविर्भाव के साथ भारत-सोवियत हितो के साम्य को भी जगजाहिर किया। तब से भारतीय प्रवक्ता भले ही अपनी गुट-निरपेक्षता प्रमाणित करने के लिए बारम्बार यह घोषणा करते रहे कि भारत विदेशी सेनाओ की वापसी के पक्ष मे है लेकिन भारत को सोवियत सघ के 'समर्थन' के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे रक्षात्मक रुख (भले ही प्रच्छन्न रूप से) अपनाना पडा।

भारत-सोवियत सम्बन्धों का सास्कृतिक आयाम—पिछले लगभग 38 वर्षों मे भारत और सोवियत सघ दोनो का यह प्रयत्न रहा है कि आर्थिक व सामरिक परिप्रेक्ष्य मे साम्य को सास्कृतिक आदान-प्रदान का आकर्षक जामा पहनाया जाये। सोवियत सघ की यह कोशिश रही कि सास्कृतिक सम्पर्क सरकार और पार्टी के स्तर पर अलग-अलग चलाये जायें और 'जनाभिमुख राजनय' को लोकप्रिय ढग से सम्पादित किया जाये। रूसी क्लासिको के भारतीय भाषाओ मे किफायती प्रकाशन-वितरण की व्यवस्था हो या बोल्शेविक थियेटर मे 'शाकुन्तलम्' जैसे भारतीय महाकाव्यो के रूसी रूपान्तरणो की प्रस्तुति, दोनो इसी सुनियोजित सास्कृतिक अभियान के अग थे। यह भी उल्लेखनीय है कि भारत ने इस आदान-प्रदान मे विशेष पहल नहीं की बल्कि स्वय रूस ने साम्यवादी-मार्क्सवादी-वामपथी रुझान वाले सभी प्रगतिशील तत्वो के साथ उपयोगी मोर्चा बनाते हुए इस दिशा मे पहल की। यह सच है कि राजकपूर की 'अवारा' जैसी फिल्म सोवियत सघ मे बेहद लोकप्रिय हुई, परन्तु सरकारी समर्थन एव सहायता के बिना ऐसा होना सम्भव न था। 1960 वाले दशक मे सोवियत सघ मे पैट्रिस लुमुम्बा विश्वविद्यालय की स्थापना ही इस उद्देश्य से की गयी कि अफ्रीका व एशिया के तजस्वी एव सोवियत सघ से सहानुभूति रखने वाले छात्रो को इसके तत्वावधान मे छात्र-वृत्तियाँ दी जा सकें।

यह धारा वास्तव मे दूसरी तरफ भी बहने लगी। जितने बडे पैमाने पर सोवियत सघ मे 'भारत महोत्सव' का आयोजन किया गया, उससे यही पता चलता है कि भारत-रूस सम्बन्धो का सास्कृतिक पक्ष कम महत्वपूर्ण नही समझा जाता। तब भी इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि सोवियत सघ मे भारत महोत्सव का आयोजन अमरीका, ब्रिटेन, फ्रास मे करने के बाद किया गया और अब तक विदेशों मे भारत महोत्सवो का आयोजन करने वाले न्यस्त स्वार्थ इतने मजबूत

लाइसेंस युदा ढंग से हिन्दुस्तान एरोनोटिक्स के कारखाने में सोवियत मदद पर ही निर्भर रहो। लद्दाख के सीमान्त पर तैनात सिपाहियों तक हथियार व रसद पहुँचाने वाले मिग–16 व मिग–32 हेलीकोप्टर और ए० एन०–12 व ए० एन०–32 माल-वाहक जहाज भी भारत को सोवियत संघ ने ही सुलभ कराये। इसके अतिरिक्त पश्चिमी पाकिस्तानी मोर्चे पर प्राणरक्षक टी–50 टैंकों का उत्पादन भी इसी मित्र देश की सहायता से होता रहा है। भले ही परमाणु प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे सोवियत संघ ने भारत की अपेक्षाओं को हमेशा पूरा न किया हो, किन्तु भारत के मन में यह आशा बची रही कि और कुछ नही तो 'भारी पानी' हासिल करने मे सोवियत संघ भारत का मददगार साबित होगा।

जनता सरकार के आरम्भिक काल में भले ही यह बात कई बार उठायी गयी कि भारत को सैनिक साज सामान के आयात व उत्पादन के बारे मे किसी एक देश पर इतनी बुरी तरह निर्भर नही होना चाहिये। भारत ने स्वीडन, ब्रिटेन, फ्रांस आदि से क्रमश: विग्गन, जगुआर और मिराज जैसे परिष्कृत लडाकू विमान पाने का प्रयत्न भी किया। परन्तु पश्चिमी जगत में शस्त्र व्यापार सरकारी के नहीं बल्कि स्वतन्त्र उद्योगपतियों के हाथ मे है और अन्तर्राष्ट्रीय सौदे दलाली, मुनाफाखोरी आदि के साथ अनिवार्यत जुड जाते हैं। चूँकि सोवियत संघ के सन्दर्भ मे सारा कार्य-व्यापार सरकार के साथ सम्पन्न होता था, इसलिए इस तरह के किसी आक्षेप से मुक्त रहा जा सकता था। इसके अलावा जहाँ पश्चिमी देशो के साथ सारी खरीद फरोख्त दुलर्भ विदेशी मुद्रा मे होती थी, वहीं सोवियत संघ के साथ रुपये और रूबल के विनिमय तथा आदान-प्रदान (barter) की सुविधा रही।

वैसे अनेक विद्वानों का यह मानना है कि रुपया-रूबल विनिमय प्रणाली भारत के लिए कम शोषक नही। सोवियत संघ भारत में अर्जित रुपयों से या उनके आदान-प्रदान के माध्यम से वे ही चीजें खरीदता रहता था, जिनसे भारत विदेशी मुद्रा अर्जित करता है। *भारतीय विदेश व्यापार अध्ययन संस्थान* के विशेषज्ञ डा० *सुमित्रा* चिश्ती ने इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि सोवियत संघ ने भारतीय विदेश व्यापार को स्वाधीनता परोक्ष रूप से समाप्त कर दी। प्रकारान्तर से सोवियत संघ ही यह तय करता था कि किन देशो को भारत क्या चीज बेचे। सोवियत संघ भारत से बड़े पैमाने पर ऊनी व चमड़े के सामान, प्रसाधन सामग्री आदि की खरीद करता था। यदि वह एकाएक इस खरीद को स्थगित कर दे तो भारत के लिए इस तरह के उत्पाद के लिए दूसरा वैकल्पिक बाजार ढूँढना बहुत कठिन होता। भारत में इस तरह की सामग्री का उत्पादन सोवियत संघ के उपभोक्ता की रुचि और जरूरत के अनुसार किया जा रहा है। इससे उत्पादकों और विक्रेताओं को किसी प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ता और न ही किसी विशेष विज्ञापन का खर्च उठाना पड़ता। इसके अलावा एक और पेचीदगी थी। उन वर्षों में भारत-सोवियत व्यापार का स्वरूप बेहद असन्तुलित (भारत के पक्ष मे) बन गया। सोवियत संघ आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग भारत पर दवाब डालने के लिए कर सकता था।

बहरहाल, सोवियत संघ ने जनता शासन के काल में नई सरकार को किसी तरह के दवाब से नहीं, बल्कि सौहार्द से अपनी ओर खींचा। अभी भारत में जनता सरकार ही सत्तारूढ़ थी कि सोवियत संघ ने दिसम्बर, 1979 में अफगानिस्तान में

गणराज्यों को बगावत के बाद स्वाधीनता की घोषणा करने से या जातीय वैमनस्य के कारण आपस में सैनिक मुठभेड़ से रोकने के लिए बल प्रयोग तक करना पड़ा। सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था चरमरा गई और रूबल के अवमूल्यन से भुगतान करने में भारत को दिक्कत हुई। सोवियत संघ की मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणदाताओं और अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों के सामने भारत से भी ज्यादा दयनीय है। सोवियत संघ यह स्पष्ट कर चुका है कि भविष्य में उसका सारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार परिवर्तनीय विदेशी मुद्रा में ही होगा। इसका सबसे ज्यादा नुकसान भारत को ही उठाना पड़ेगा। साथ ही टैक्नालॉजी का आयात हो या विदेशी पूंजी को आमंत्रण सोवियत संघ के लिए अमरीका, एकीकृत यूरोप, जापान आदि कहीं अधिक महत्वपूर्ण साझेदार हैं। खाड़ी युद्ध के बाद महाशक्ति होने का दम बरकरार रखना सोवियत संघ के लिए सम्भव नहीं रह गया। अतएव भारत-सोवियत सम्बन्ध भी पहले जैसे नहीं रह सकते। सोवियत संघ से उपेक्षा और अवहेलना न सही उदासीनता भारत के हिस्से पड़ेगी।

भारत और उसके पड़ोसी देश
(India and Her Neighbours)

प्रसिद्ध भारतीय राजनीतिक चिन्तक एवं अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य की यह मान्यता थी कि किसी भी चक्रवर्ती शासक या विजिगीषु (विजय की अभिलाषा रखने वाला) के लिए पड़ोसी राज्य ही सबसे विकट समस्या उत्पन्न कर सकते हैं। कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त की नींव इसी शाश्वत सिद्धान्त पर रखी गयी थी। आधुनिक युग में भी किसी भी देश के वैदेशिक सम्बन्धों में पड़ोसी देशों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यदि पड़ोसी देश शत्रुवत हों तो राष्ट्रीय सुरक्षा संकटग्रस्त हो जाती है। यदि पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध मधुर हों तो राष्ट्रीय हित विस्तृत क्षितिज तलाश सकते हैं।

भारत और उसके पड़ोसी देशों के सम्बन्धों पर ये बातें अवश्य लागू होती हैं परन्तु इसके साथ कुछ ऐसे अनूठे तत्व भी हैं जिनको रेखांकित किया जाना जरूरी है। इस बात के ब्यौरे में जाने से पहले यह स्पष्ट करना उपयोगी होगा कि भारत के निकटस्थ किन देशों को हम भारत के पड़ोसी देश मानते हैं। देश के विभाजन से जन्मा पाकिस्तान और पाकिस्तान के विघटन से पैदा हुआ बंगला देश निश्चय ही इस श्रेणी में आते हैं। नेपाल, भूटान तथा श्रीलंका को पड़ोसी देश मानने में किसी को कोई हिचकिचाहट नहीं हो सकती। भौगोलिक दृष्टि से चीन, अफगानिस्तान, बर्मा, इण्डोनेशिया, मालदीव और मारीशस इसी श्रेणी में रखे जाने चाहिएं। इस प्रकरण में भारत के विभिन्न पड़ोसी देशों के साथ उभय-पक्षीय सम्बन्धों का विवेचन तिथिक्रम के साथ करने के अतिरिक्त तुलनात्मक विश्लेषण का प्रयत्न भी किया गया है। पाकिस्तान और चीन के साथ भारत के सम्बन्ध विशिष्ट और जटिल हैं तथा एक बहुत बड़ी सीमा तक महाशक्तियों के साथ हमारे सम्बन्धों से अनुप्राणित होते हैं। अतः इनको अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ परखा गया है। मालदीव के साथ सम्पर्क इतने बिखरे हुए और छिटपुट रहे हैं कि उनकी सिर्फ स्मृति भर तैयार करने का कोई उपयोगिता नहीं। इस स्थिति में नई राजनीतिक परिप्रेक्ष्य या क्षेत्रीय सहकार की प्रस्तावना के सन्दर्भ में इनका उल्लेख हो सकता है। अतः यहाँ पाकिस्तान, बंगला देश, चीन, नेपाल, म्यांमार और श्रीलंका के साथ भारत के सम्बन्धों का

हो चुके थे कि यह कहा जा सकता था कि इस सारे खर्चीले क्रियाकलाप का कोई सीधा सम्बन्ध शायद विदेश नीति के उद्देश्यों के साथ नहीं है। यह शका भी पैदा हुई कि सास्कृतिक राजनय के उभार में गोर्बाच्योव के खुलेपन (ग्लासनोस्त) की नीति शायद भारत की दूरदर्शी पहल से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थी। कुछ विद्वानों का यह भी मानना था कि भारत-सोवियत सम्बन्धों में सास्कृतिक आयाम विशेष महत्वपूर्ण नहीं, क्योंकि इसमें आम तौर पर जनता का वही तबका रुचि लेता रहा और सक्रिय रहा, जो पहले से सोवियत सघ का पक्षधर रहा।

भारत-सोवियत सम्बन्धों का भविष्य—भारत और सोवियत संघ में शीर्षस्थ सत्ताधारी नेताओं का बदलना एवं अपनी जड़ें मजबूत करना लगभग साथ-साथ हुआ। जिस तरह राजीव गाधी को लेकर भारत में नई आशा जग रही थी, उसी तरह सोवियत सघ में गोर्बाच्योव को लेकर उत्साहजनक वातावरण पैदा हो रहा था। ऐसे में यह अटपटी बात है कि भारत और सोवियत सघ के आपसी सम्बन्ध इतने घनिष्ठ और आत्मीय ढग से विकसित नहीं हुए, जितने होने चाहिये थे। इसका सबसे बड़ा कारण शायद यह रहा कि 1984 में सत्ता ग्रहण करने के ठीक बाद राजीव गाधी और उनके समर्थकों ने यह बात स्पष्ट कर दी कि भारतीय आर्थिक विकास की जड़ता तोड़ने के लिए वे उदार व लचीली आर्थिक नीतियों का अनुसरण करेंगे। जाहिर था कि इस सबसे सिर्फ पश्चिमी देशों को ही सन्तोष हो सकता था।

आरम्भ में सोवियत संघ का इस बात से शकित होना स्वाभाविक था कि शायद राजीव गाधी का रुझान उसकी अपेक्षा अमरीका की ओर अधिक रहेगा। वैसे शायद इस बात को अनावश्यक तूल दिया जाता रहा है, क्योंकि राजीव गाधी के भाई सजय गाधी उनसे कहीं अधिक दक्षिणपथी और साम्यवाद विरोधी थे परन्तु रूसी नेताओं को उनके साथ बातचीत करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। दूसरी अड़चन यह रही कि माओ के उत्तराधिकारी देंग सियाओ पिंग द्वारा चीन में व्यावहारिक एव सुधारवादी नीतियों के क्रियान्वयन से सोवियत सघ और चीन के बीच कटुता कम हुई तथा सामान्यीकरण की सम्भावना बढ़ी। इस बदली परिस्थिति में अनेक भारतीय विश्लेषक इस बात से चिन्तित रहे कि निकट भविष्य में सोवियत सघ के लिए भारत के साथ मैत्री सामरिक महत्व की नहीं रह जायेगी। अफगान सकट ने भी सोवियत सघ को पाकिस्तान के बारे के नये सिरे से सोचने के लिए विवश किया। सोवियत नेताओं के भाषणों एवं बयानों का बारीकी से विश्लेषण करने वालों का मानना है कि गोर्बाच्योव के शासन काल में रूस ने भारत के प्रति वेहिचक पक्षपात के स्थान पर इन दो देशों के बीच 'सम-सामीप्य का भाव' अपनाना आरम्भ किया। ये लोग यह भी सुझाते हैं कि भारत-सोवियत आर्थिक सम्बन्धों में जिस तरह के गतिरोध और तनाव अप्रत्याशित तथा अभूतपूर्व ढग से सामने आये हैं, उनसे भी यही सकेत मिलता है कि पहले जैसी आत्मीयता अब शेष नहीं रही। 1986 में मगोलिया में सोवियत विदेश मन्त्री की चीनी अधिकारियों से बातचीत और पाकिस्तान के साथ अप्रत्यक्ष राजनयिक सम्पर्क स्थापित करने के सोवियत प्रयत्नों ने भारत को सतर्क किया।

'दूसरे देतांत' के आविर्भाव के पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम में जैसे भूकम्प सा आ गया। सोवियत सघ में आन्तरिक स्थिति बहुत तेजी से बदली। गणराज्यों में व्यापक असन्तोष ने विस्फोटक आक्रोश का रूप ले लिया और अनेक स्थानों में इन

जी के व्यक्तिगत मित्र। उनकी लोकप्रियता मे कोई सन्देह करने की गुजाइश नही थी। उनकी राजनीतिक पार्टी नेशनल कान्फ्रेंस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सहयोगी थी। इसके विपरीत हिन्दू शासक राजा हरिसिंह ने भारत मे विलय के लिए कोई विशेष उत्सुकता नही दिखायी। जब पाकिस्तानी आक्रमण के कारण उनकी गद्दी और जान खतरे मे पडी, तभी उन्होने भारतीय सैनिक सरक्षण पाने के लिए विलय-सन्धि पर हस्ताक्षर किये।

वस्तुत कश्मीर की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति उसकी त्रासदी का कारण बनी। कुछ धूर्त ब्रिटिश औपनिवेशिक शासको के भडकाने से राजा हरिसिंह के मन मे यह भ्रान्ति घर कर गयी कि जो काम जूनागढ और हैदराबाद के शासक नही कर पाये, उसे वह साध लेंगे। चीन, पाकिस्तान और भारत के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ स्पष्ट रखकर वह कश्मीर को एशिया का स्विट्जरलैण्ड बनाना चाहते थे। बाद के वर्षों मे इसी तरह की भ्रान्ति के शिकार शेख अब्दुल्ला भी हुए। परन्तु भारत और पाकिस्तान के लिए इस महत्वाकाक्षा को पूरा होने देना सम्भव नही था। दोनो के लिए कश्मीर की भू-राजनीतिक स्थिति सामरिक महत्व की थी। 1948, 1965 तथा 1971 के युद्धो म यह बात अच्छी तरह उजागर हो चुकी थी।

इसके अतिरिक्त नेहरू क लिए कश्मीर का प्रश्न भारतीय धर्म निरपेक्षता की कसौटी बन गया। वह यह किसी भी हालत मे सहन नहीं कर सकते थे कि कश्मीरी मुसलमान भारत के धर्म निरपेक्ष स्वरूप म अविश्वास प्रकट करें। नेहरू जी को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होने कश्मीरवासियो को बलपूर्वक अपने पक्ष मे करने का कोई प्रयत्न नही किया। उन्होने विवाद के शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए स्वय ही इस प्रश्न को सयुक्त राष्ट्र सघ को सौपा और जनमत सग्रह का वचन दिया।

सिर्फ यही एक ऐसा मामला है, जिसमे नेहरू जी को आदर्शवादिता भारी पडी। सयुक्त राष्ट्र सघ शीत युद्ध से ग्रसित था। अमरीका ने अपने राष्ट्रीय हित साधने के लिए तत्काल पाकिस्तान की पक्षधरता आरम्भ कर दी। बाद मे नेहरू जी यह कहते रहे कि कश्मीरवासी बारबार आम चुनावो मे हिस्सा लेकर अपना मत भारत क पक्ष मे दे चुके हैं, तथापि पाकिस्तान उन पर वचन देकर मुकरने का आरोप लगाता रहा। ब्रिटेन, फ्रास और अमरीका की साठगाँठ यह रही कि सयुक्त राष्ट्र सघ के तत्वावधान मे अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षक मडली के बहाने भारत की सम्प्रभुता को सीमित करने वाली आपात सैनिक टुकडियाँ कश्मीर मे तैनात की जा सकें। भारत को अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखने के लिए असहमति का स्वर मुखर करना पडा। फिर भी, 1953 मे सुरक्षा परिषद् मे सोवियत सघ का दृढ समर्थन मिलने तक कश्मीर को लेकर भारत की राजनयिक स्थिति निरापद नही रह सकी।

पाकिस्तान क लिए यह स्थिति सन्तोषजनक थी। कश्मीर म युद्ध-विराम लागू होने तक लगभग 50 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर उसन अपना नाजायज कब्जा कर लिया और सात लाख आबादी वाले इस क्षेत्र को आजाद कश्मीर घोषित कर दिया। यह उल्लेखनीय है कि इस समय शीत युद्ध अपने चरमोत्कर्ष पर था और सोवियत सघ तथा चीन-तिब्बत पर निगरानी रखने के लिए अमरीका को इस क्षेत्र म सैनिक अड्डों की जरूरत थी। इसी कारण अमरीका जैसी महाशक्ति के हित म यह था कि कश्मीर के मामले मे भारत और पाकिस्तान क बीच शान्तिपूर्ण

विश्लेषण किया जा रहा है।

भारत-पाक सम्बन्ध
(Indo-Pakistan Relations)

भारत की स्वाधीनता और विभाजन के साथ ही बहुत बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक रक्तपात हुआ। इससे भारत और पाकिस्तान दोनों के बीच मतभेद और गहरा हो गया। जैसाकि अक्सर घर के बँटवारे में होता है, विभाजन के बाद भी विवाद के कई गम्भीर मुद्दे बचे रहे। जिस तरह पाकिस्तानी रजाकारों ने कश्मीर पर जबरन कब्जे की कोशिश की, उसकी परिणति युद्ध मे ही होनी थी। इस प्रकार आरम्भ से ही पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों का निर्वाह एक पेचीदा गुत्थी बन गया जिसके साम्प्रदायिक, सामरिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्ष आपस मे बुरी तरह गुँथे हुए हैं।

पाकिस्तान के सामने बड़ी समस्या यह रही कि वह स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में अपनी *अस्मिता प्रदर्शित करना चाहता है तो धार्मिक व कट्टरपंथी वाला भारत-*विरोध ही उसके लिए सबसे आसान रास्ता है। दोनों देशों के बीच विभाजन का कोई तर्कसंगत आधार नहीं। विडम्बना तो यह थी कि 1947 से 1971 तक स्वयं पाकिस्तान के दो हिस्से (पूर्वी पाकिस्तान व पश्चिमी पाकिस्तान) भाषा और संस्कृति की गहरी खाई के कारण अलग थे। इनके बीच की भौगोलिक दूरी राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को और भी दुरूह बनाती रही। इसी तरह भारत के सामने भी यह समस्या रही है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य की घोषणा करने भर से संकट निवारण नहीं हो जाता। जब तक साम्प्रदायिक असहिष्णुता लेशमात्र भी बची रहती है और छिटपुट साम्प्रदायिक दंगे होते रहते हैं, तब तक भारत मे रहने वाले करोड़ों मुसलमानों के लिए भी इस्लामी धर्म राज्य पाकिस्तान का आकर्षण अपने वतन के रूप मे बना रहेगा। इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय मुसलमानों का राष्ट्र प्रेम *खरा नहीं। इसका एकमात्र उद्देश्य यही संकेत करना है कि पाकिस्तान को भारत* में अल्पसंख्यकों, असन्तुष्टों, अशिक्षित व वंचित तबकों को उकसा-भड़काकर सामरिक संकट उत्पन्न करने की सहूलियत रहेगी। वस्तुतः विचारधारा का बुनियादी टकराव भारत और पाकिस्तान के बीच विभिन्न विवाद पैदा करता है और इन्हें अनावश्यक तूल देता है।

कश्मीर समस्या—भारत के धुर उत्तर मे स्थित अद्भुत सुन्दर प्रदेश कश्मीर रियासत की बहुसंख्यक जनसंख्या मुसलमान है परन्तु वहाँ शासन करने वाला राजवंश सदियों से हिन्दू रहा। इसके अतिरिक्त वहाँ अनेक आदिवासी जनजातियाँ बौद्ध धर्मानुयायी हैं। पूरी रियासत को बहुत आसानी से तीन स्पष्ट क्षेत्रों मे बाँटा जाता रहा है—जम्मू का हिन्दू-बहुल मैदानी इलाका, इस्लामी प्रभाव वाली कश्मीर घाटी और लद्दाख का बौद्ध प्रदेश। एक ओर सामरिक कठिनाई यह थी कि कश्मीर का (खासकर घाटी का) संचार और *यातायात साधनों द्वारा सीधा सम्बन्ध देश के उस* हिस्से से था, जो पाकिस्तान बना। परन्तु ऐसा सोचना गलत था कि मुस्लिम-बहुसंख्यक जनता पाकिस्तान में शामिल होना चाहती थी। स्वाधीनता संग्राम के दौरान राजवंश के उत्पीड़न के विरुद्ध शेख अब्दुल्ला ने व्यापक जन-आन्दोलन का नेतृत्व किया था। शेख अब्दुल्ला निर्विवाद रूप से धर्म-निरपेक्ष व्यक्ति थे तथा नेहरू

लिए ऐसा करना अपरिहार्य अनिवार्यता है, क्योंकि औपनिवेशिक शासन काल में अंग्रेजों ने अविभाजित पंजाब की खुशहाली के लिए नहरों का जो जाल बिछाया था वह देश के बँटवारे के बाद पूरा का पूरा पश्चिमी पंजाब में अर्थात् पाकिस्तान में ही चला गया। सलाल नदी जल परियोजना हो या फरक्का जलबंध, पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों में इनसे पेचदगी बढ़ी। फिर भी इस मामले में परामर्श द्वारा समस्या का समाधान अपेक्षाकृत सहज रहा है क्योंकि दोनों देशों की सरकारें यह बात भली-भाँति समझती रही कि विश्व बैंक या किसी अन्य बड़े स्रोत से बड़े पैमाने पर सिंचाई परियोजना के लिए अनुदान बिना इस विवाद का निपटारा सम्भव नहीं होगा। 1960 में सम्पन्न सिंधु जल सन्धि इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है। दुर्भाग्य का विषय यह है कि इस तरह के समझौतों को आधार बनाकर इसी तरह का कोई अन्य समझौता कर बड़ी शुरुआत करने की दूरदर्शिता किसी भी पक्ष ने नहीं दिखायी।

शरणार्थी समस्या—भारत और पाकिस्तान के आपसी सम्बन्धों में समय-समय पर अस्थायी ही नहीं परन्तु जोखिमभरी उत्तेजना भरने के लिए शरणार्थियों की समस्या प्रमुख कारण रही है। विभाजन के बाद भी करोड़ों की तादाद में मुसलमान भारत में बचे रहे और लाखों हिन्दू पाकिस्तानी भूमि में अपना जीवन-यापन करते रहे। विभाजन के साथ साम्प्रदायिक हिंसा का जितना बड़े पैमाने पर विस्फोट हुआ, उसने इन अल्पसंख्यकों की आशाओं को धूल धूसरित कर दिया। धर्म-निरपेक्ष भारत में, विशेषकर नेहरू जी के जीवन काल में अल्पसंख्यकों को सरकारी संरक्षण प्राप्त था और उनके अधिकारों के हनन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु पाकिस्तान में ऐसा नहीं था, विशेषकर पूर्वी बंगाल में रहने वाले हिन्दू अल्पसंख्यकों का जीवन क्रमशः दूभर होता गया। 1950 से 1953 के बीच लहरों के रूप में ऐसे शरणार्थियों का भारत में प्रवेश हुआ और उनकी लुटी पिटी दशा ने पश्चिम बंगाल में साम्प्रदायिक तनाव को जन्म दिया। इससे भारत-पाक सम्बन्धों में बिगाड़ आना स्वाभाविक था। इस समस्या पर नियन्त्रण पाने के लिए नेहरू जी और तत्कालीन पाकिस्तानी प्रधानमन्त्री लियाकत अली खान के बीच एक समझौता भी हुआ। परन्तु इसके प्रति पाकिस्तानी प्रतिबद्धता खरी न होने के कारण इसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। लियाकत अली खान की हत्या और पाकिस्तान में संसदीय जनतन्त्र के पतन के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच खाई और भी चौड़ी हो गयी।

पाकिस्तान का सैन्यीकरण—भारतीय राजनीति के अनेक आन्तरिक दबावों के कारण 1947 में पाकिस्तान के जन्म को टालना तो असंभव हो चुका था, परन्तु पाकिस्तान की स्थापना के साथ राष्ट्र निर्माण की चुनौती मुँह बाए खड़ी थी। पाकिस्तान एक कृत्रिम संरचना थी और इसके जन्म के साथ ही एसे आन्तरिक दबाव व्यवस्था पर पड़ रहे थे कि पाकिस्तान का अस्तित्व संकट में था। पंजाबियों, पठानों बलूचों, सिंधियों, बिहारियों, बंगालियों, दिल्ली वालों, उत्तर प्रदेश के निवासियों और दक्खिन से आने वाले मुसलमानों के बीच सिर्फ इस्लाम ही एकमात्र समानता थी। बल्कि इस्लाम के अनुसरण में भी इन लोगों की उपासना पद्धति में प्रादेशिक-क्षेत्रीय संस्कार इतना गहरा था कि एकता के बजाय दरारें ही ज्यादा नजर आती थीं। भारत से आने वाले शरणार्थियों को पंजाब के मूल निवासी, नीची

परामर्श की प्रगति न हो। इसी बहाने राष्ट्रमण्डल में मध्यस्थता के नाम पर ब्रिटेन भी अपने दोनों भूतपूर्व उपनिवेशों पर अपना सामरिक प्रभाव बनाये रखना चाहता था।

1950 और 1960 के दशक में जय प्रकाश नारायण जैसे नेता यह सुझाव देते रहे कि कश्मीर की वादी पाकिस्तान को देकर भी भारत-पाक सम्बन्धों में सुधार वाञ्छनीय है। किन्तु भारत-चीन सम्बन्ध में बिगाड के बाद भारत के लिए लद्दाखी सीमान्त को देश के और हिस्सों से अलग करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। साथ ही कालक्रम में शेख अब्दुल्ला का झुकाव कश्मीरी उपराष्ट्रीय आत्म-सम्मान की रक्षा के नाम पर पाकिस्तान और अमरीका की ओर बढने लगा। शेख अब्दुल्ला की रजामन्दी से न सही परन्तु उनकी जानकारी में कश्मीर में पाकिस्तान की घुसपैठ तेजी से बढने लगी और नेहरू जी को शेख अब्दुल्ला को नजरबन्द करने के लिए बाध्य होना पडा। इसके बाद पाकिस्तानी शासकों को यह कहने का मौका मिल गया कि भारत सिर्फ सैनिक शक्ति के बल पर कश्मीर पर अपना कब्जा बनाये रखना चाहता था।

1965 में पाकिस्तान ने भारत पर हमले की योजना इसी उद्देश्य से बनायी थी कि कश्मीर में बहुसख्यक मुस्लिम जनसख्या का समर्थन उसकी सेनाओं को प्राप्त होगा, परन्तु यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई। यह भी ध्यान रखने लायक बात है कि जिस समय नेहरू जी का निधन हुआ, कश्मीर विवाद के निपटारे के लिए नेहरू का गोपनीय व्यक्तिगत संदेश लेकर शेख अब्दुल्ला पाकिस्तानी राष्ट्रपति जनरल अयूब खान के पास गये थे। लगता है कि नेहरू जी की मृत्यु के साथ ही पाकिस्तानी शासकों ने इस विषय में शान्तिपूर्ण समाधान की आशा छोड़ दी। तब से आज तक कश्मीर समस्या के अन्तर्राष्ट्रीयकरण से पाकिस्तानी नेता भारत को सकोच में डालने का प्रयत्न करते रहे है, परन्तु हकीकत यह है कि आज दोनो पक्ष युद्ध विराम के बाद यथास्थिति को स्वीकार कर चुके हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि इसमे कोई परिवर्तन होने वाला नही। एक तरह से भारत-पाक सघर्ष में कश्मीर का अब सिर्फ प्रतीकात्मक महत्त्व रह गया है।

शरणार्थी सम्पत्ति समस्या—विभाजन के साथ लाखो की तादाद मे दोनों देशो के शरणार्थी सीमा पार गये। उनके द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति का मूल्याकन उसकी देखभाल, उसका हस्तान्तरण आदि जटिल एव विवादास्पद मुद्दे थे। केन्द्रीय निधि का बँटवारा और सचार के संसाधनो का समुचित वितरण औपचारिक रूप से तो इससे अलग थे परन्तु कटुता के कारण अभिन्न रूप से इसमे जुड़ गये। जहाँ सरदार पटेल जैसे नेता किसी भी तरह की रियायतें देने के पक्ष मे नही थे, वही लोहिया, जयप्रकाश और श्रीप्रकाश जैसे व्यक्ति भारत-पाक सम्बन्धो के सामान्यीकरण के लिए भारत सरकार को लचीला रुख अपनाने की राय देते रहे। इस समस्या का निपटारा कालक्रम मे चार-पाच साल बीतते स्वयमेव हो गया।

नदी जल विवाद—चूँकि भारत व पाकिस्तान एक ही भौगोलिक इकाई हैं, इसलिए देश के कृत्रिम राजनीतिक विभाजन ने प्राकृतिक समाधनों की साझेदारी को दुष्कर बना दिया। सिन्धु, झेलम, चिनाब आदि नदियाँ, जो पाकिस्तान के खेतों को सींचती है, भारत में ही बहकर आती हैं। यदि भारत इन पर बाध बनाता है तो पाकिस्तान तक पहुंचने वाली जल राशि में कटौती होना अवश्यम्भावी है। भारत के

अमरीका से सहायता का अनुरोध किया और अमरीका ने भारत पर पाकिस्तान के साथ कश्मीर तथा अन्य विवादों के निपटारे के लिए दबाव डाला।

पाकिस्तान में निर्वाचित सरकार (गुलाम मोहम्मद चौधरी) का सेना द्वारा तख्ता पलटने के बाद भारत-पाक सम्बन्ध और भी कटु एवं तनावपूर्ण हुए। जहाँ अपनी बगावत को न्यायसंगत बनाने के लिए अधिकारियों के लिए वैधानिकता का जामा ओढ़ना आवश्यक था और बाहरी संकट की तलाश एक अनिवार्यता थी, वहीं नेहरू जी जैसे भारतीय नेताओं के लिए ऐसे तानाशाहों के साथ संवाद की बात असम्भव नहीं, तो बेहद कठिन अवश्य थी। 1962 में चीन के हाथों भारत की हार के बाद पाकिस्तान का अहंकार निरन्तर बढ़ता गया और पाकिस्तानी नेता सोचने लगे कि नेहरू जी की मृत्यु के बाद भारत के विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो जायेगी। इससे वे भारत से मनचाही रियायतें-समझौते प्राप्त कर सकेंगे। नेहरू जी ने अपने जीवनकाल में अनेक बार सुलह की पहल की। परन्तु पाकिस्तान ने हर बार युद्ध-वर्जन सन्धि (No War Pact) का प्रस्ताव ठुकरा दिया। 1960 में जुल्फिकार अली भुट्टो विदेश मन्त्री बने। अपनी व्यक्तिगत राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के कारण उन्होंने भारत को ललकारने और उससे टकराने की रणनीति अपनायी। उन्हें भारत के शत्रु चीन के साथ पाकिस्तान के सम्बन्ध सुधारने में अभूतपूर्व सफलता मिली। 1965 तक पाकिस्तान की दुस्साहसिकता इस हद तक बढ़ गयी थी कि अयूब खान तथा भुट्टो ने संवाद नहीं, बल्कि सैनिक संघर्ष द्वारा 'दुर्बल भारत' को अपनी बात मनवाने के तेवर अपना लिये थे। कच्छ के रण का विवाद इसी से उपजा और इसी कारण 1965 के युद्ध का विस्फोट हुआ।[1]

1965 का युद्ध—1964 में नेहरू जी का निधन हुआ और इसके साथ भारत का आधुनिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। स्पष्टतः इसका प्रभाव भारत-पाक सम्बन्धों पर पड़ा। नेहरू जी सही मायनों में धर्म निरपेक्ष व्यक्ति थे और पाकिस्तान का इस्लामी स्वरूप उन्हें ज्यादा परेशान नहीं करता था। उन्होंने आजादी के समय देश का विभाजन स्वीकार अवश्य किया, किन्तु बटवारे से कोई कटुता या कलुष उनके मन में नहीं बचे थे। लियाकत अली आदि से उनकी मित्रता जीवन-पर्यन्त बनी रही। वह गुट निरपेक्ष अवश्य थे और पाकिस्तान के सैनिक-संगठनों में शामिल होने से खिन्न। परन्तु वह पाकिस्तान को भारत का अनिवार्यतः शत्रु नहीं समझते थे। ऐसी स्थिति में पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण की सम्भावना प्रबल रही। नेहरू जी की मृत्यु के बाद सत्ता के हस्तान्तरण का प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया और पाकिस्तानी शासकों को यह लगा कि वे भारत की इस अनिश्चित स्थिति का लाभ उठा सकते हैं। नेहरू जी के उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्त्री का व्यक्तित्व भी अक्सर लोगों को इस भ्रान्ति में डालता था कि वह दुर्बल या असमंजस में पड़े रहने वाले व्यक्ति हैं।

1965 का भारत-पाक संघर्ष इसी मानसिकता ने उपजाया, जिसके दो पहलू

[1] विस्तार के लिए देखें—Dinesh Chandra Jha, *Indo-Pak Relations* (Patna, 1972), G W Choudhary, *Pakistan's Relations with India* (Meerut, 1971), Russel Brians, *The Indo-Pakistan Conflict* (London, 1968), William J Barns, *India, Pakistan and the Great Powers* (New York, 1972)

दृष्टि से देखते थे। उन्हें लगता था कि ये दरिद्र लोग उनके जीवन स्तर को सिर्फ गिरा ही सकते है और इनकी नियति परोपजीवी बनकर रहना है। पठानों व पंजाबियो का संस्कार सैनिक-किसानो वाला था और वे पढे लिखे बाबूओ, कारकुनों, और वनियो को अपने से हेय समझते थे। साथ ही, उनके मन मे यह शका भी थी कि भारत से आने वाले ये मुसलमान जल्दी ही सरकार मे अपनी जड़ें जमा लेंगे। एक सीमा तक ऐसा हुआ भी। भारत से पाकिस्तान आने वाले शरणार्थी अपने को पंजाबियो व पठानो की तुलना मे सास्कृतिक दृष्टि से समृद्ध समझते थे और यह मानने को तैयार नही थे कि पाकिस्तान के निर्माण के बाद सिर्फ शरणार्थी होने के कारण वे दूसरे दर्जे के नागरिक है। इसके अलावा पाकिस्तान का यह दुर्भाग्य रहा कि कायदे आजम जिन्ना ज्यादा दिन तक नए राष्ट्र का दिशा निर्देश नही कर सके। बगाली तथा पंजाबी राजनीतिक नेताओ मे सकीर्ण स्वार्थी प्रतिस्पर्धा ने एक ऐसी रस्साकशी का रूप ले लिया जिसने दलगत राजनीति को जानलेवा दलदल में बदल दिया।

उस समय शीत युद्ध आरम्भ हो चुका था। यह स्थिति अमरीका के हित में थी। गुट निरपेक्ष भारत को अपनी ओर लाने मे असफल होने के बाद अमरीका का प्रयत्न यही रहा कि यह पाकिस्तान को अपना जमूरा बनाकर भारतीय उपमहाद्वीप मे अपने हित साधन के लिए एक कृत्रिम शक्ति-सन्तुलन स्थापित कर सके। पाकिस्तान की राजनीतिक अस्थिरता से अमरीका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अनेक अमरीकी विद्वानो ने इस दौरान यह व्याख्या की कि पाकिस्तान जैसे विकासशील समाज मे राष्ट्रीय एकता स्थापित करने और आधुनिकीकरण का काम सेना ही बखूबी कर सकती है। अनेक पाकिस्तानी सेनाध्यक्षो को अपनी ओर आकर्षित करने मे अमरीका सफल हुआ।

1954 मे पाकिस्तान अमरीकी सैनिक सगठन 'सिएटो' का सदस्य बना। इसके साथ पाकिस्तानी सैनिक अधिकारियो की राजनीतिक महत्वाकाक्षाएँ बढ़ी। यह बात तो स्पष्ट थी ही कि अमरीका का सन्धि-मित्र बन जाने के बाद पाकिस्तान को अमरीका से बड़े पैमाने पर सैनिक साज समान मिलेगा और परिणामस्वरूप सैनिक अधिकारियों की सुख-सुविधा और प्रभाव मे वृद्धि होगी। ऐसा सोचना गलत होगा कि अमरीका की ओर पाकिस्तान का झुकाव सिर्फ सैनिक अधिकारियो की लोलुपता के कारण हुआ। ऐसा समझा जा सकता है कि इनमे से कुछ सैनिक अधिकारी वास्तव मे राष्ट्र-प्रेमी थे, जो अपने नेताओ की उठा-पटक से ऊब चुके थे और भारत को पाकिस्तान की अखण्डता के लिए खतरा समझते थे। जो भी हो, पाकिस्तान के सैन्यीकरण के भारत-पाक सम्बन्धों पर बहुत दुखद प्रभाव पड़े। भले ही अमरीका का यह कहना था कि पाकिस्तान को सैनिक सहायता देते वक्त यह शर्त रखी गयी कि इन हथियारो का प्रयोग भारत के खिलाफ नही होगा। अनेक भारतीय विद्वानो ने सटीक टिप्पणी की कि 'ऐसी किसी बन्दूक का आज तक आविष्कार नही हुआ है, जो सिर्फ एक ही दिशा मे वार करती हो।' नेहरू जी इस बात से काफी खिन्न थे कि पाकिस्तान शीत युद्ध को भारत के आगन तक ले आया और अपने सन्धि-मित्र को खुश रखने के लिए अमरीका ने पाकिस्तान का अन्ध पक्षपात कश्मीर से लेकर नदी जल विवाद तय होने तक किया है। भारत के लिए सबसे अपमानजनक स्थिति वह थी, जब 1962 मे चीनी हमले के दौरान भारत ने

हथियारों से सज्जित पाक सेना को नाकों चने चबवा दिये। भारतीय नेट विमानों ने पाकिस्तानी सेबर विमानों को बुरी तरह ध्वस्त कर दिया। भारतीय सेनाएँ लाहौर शहर की परिधि पर बनी इच्छोगिल नहर तक जा पहुँची। इसी समय संयुक्त राष्ट्र संघ में पारित प्रस्तावों तथा राष्ट्रमण्डलीय (Commonwealth) मित्र राष्ट्रों के सद्प्रयत्नों से युद्ध-विराम हो गया। इस सैनिक मुठभेड़ ने कई प्रचलित मिथक तोड़ डाले। सबसे पहला यह कि चीन के हाथों हार के बाद भारत इतना खोखला हो गया है कि पाकिस्तान तक उसको हरा सकता है। दूसरा यह कि चीन भारत-पाक संघर्ष में पाकिस्तान की मदद सार्थक ढंग से कर सकता है। पाकिस्तान ने इण्डोनेशिया के साथ मिलकर यह साठगाँठ भी की थी कि अण्डमान निकोबार पर कब्जा किया जा सके। यह मंसूबा भी पूरा नहीं किया जा सका। इसके विपरीत रणक्षेत्र में सफलता के कारण भारत को 1962 की ग्लानि और मानहानि धोने का अवसर मिला। बाहरी आक्रमण का सामना करने के लिए सारा राष्ट्र एक हो गया और राष्ट्रीय एकीकरण का काम अपेक्षाकृत सहज हो सका। परन्तु इसका यह अर्थ कतई *नहीं लगाया जा सकता कि सैनिक मुठभेड़ का अन्त भारत के पक्ष में हुआ।* यथार्थ तो यह था कि दोनों पक्ष सैनिक साज-सामग्री के लिए बाहरी शक्तियों पर निर्भर थे और विशेषकर महाशक्तियों के मतैक्य के बाद लड़ते नहीं रह सकते थे। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ऐसी थी कि भले ही 'देतांत' का आरम्भ नहीं हुआ था, परन्तु रूस व अमरीका के बीच सार्थक संवाद आरम्भ हो चुका था। भारत-पाक सम्बन्धों के विश्लेषक डा० मोहम्मद अय्यूब ने इसे भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ में इनके हितों का संघर्ष नहीं, बल्कि संयोग का दौर कहा है। हितों के इस संयोग के कारण ही भारत और पाकिस्तान के बीच ताशकन्द समझौता सम्भव हुआ।

ताशकन्द समझौता—युद्ध विराम के बाद स्थाई शान्ति की तलाश ताशकन्द में जारी रही। आज भले ही भारत और पाकिस्तान के इतिहासकार इस सम्मेलन को आयोजित करने का श्रेय जनरल अय्यूब खां और लाल बहादुर शास्त्री की दूरदर्शिता को देते हों, परन्तु इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि तीसरे पक्ष की मध्यस्थता के बिना इन दो बैरी देशों को परामर्श की मेज तक नहीं लाया जा सकता था। भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति जोनसन ने एक पत्रकार से बातचीत के दौरान यह टिप्पणी की थी कि भले ही ताशकन्द में किसी को नजर नहीं आ रहा था, किन्तु वहाँ मैं भी उपस्थित था। वह प्रकारान्तर से इसी बात पर जोर दे रहे थे कि भारत-पाक सम्बन्धों के मामलों में उनमें और सोवियत नेता में मतैक्य था।

इस सबका अभिप्राय यह बिलकुल नहीं कि शास्त्री जी और अय्यूब खां पर महाशक्तियों ने दबाव डाला था कि उनकी अपनी भूमिका रचनात्मक या महत्वपूर्ण नहीं थी। परन्तु उस समय महाशक्तियों के योगदान के बिना भारत-पाक सम्बन्धों में किसी नई पहल की आशा नहीं की जा सकती थी। ताशकन्द समझौते (1966) की मुख्य सहमति-शर्तें इस प्रकार थीं : दोनों देश आपसी विवाद के निपटारे के लिए युद्ध का त्याग करते हैं और भविष्य में समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों के प्रति सम्मान दर्शाते हुए परामर्श का अवलम्बन करेंगे। दोनों देश एक दूसरे के प्रति मैत्री भावना का प्रदर्शन करेंगे और पारस्परिक सम्बन्धों को बिगाड़ने वाले कोई कदम नहीं उठायेंगे।

ताशकन्द समझौते पर हुए हस्ताक्षरों की स्याही अभी सूखी भी नहीं थी कि

थे। एक तो यह कि नेहरू जी के बाद वाले भारत में पाकिस्तान सद्भावना या न्यायोचित आचरण की आशा नहीं कर सकता था। दूसरा यह कि बल-प्रयोग के लिए इससे अच्छा अवसर वर्षों तक नहीं मिल सकता था। जिस भूमि को लेकर विवाद हुआ, वह बजर, दलदली मरुभूमि थी, जिसे कच्छ का रण कहा जाता है। उसकी कोई आर्थिक उपयोगिता नहीं थी। वर्षा के मौसम में पानी भर जाने के बाद यह नीची जमीन एक दुष्कर जल-राशि में बदल जाती है। परन्तु सीमान्ती प्रदेश होने के कारण इसका सामरिक महत्व है। इस लम्बे भू-भाग पर हर क्षण चौकस निगरानी नहीं रखी जा सकती थी और गैर-कानूनी अतिक्रमण, तस्करी, षड्यन्त्रकारी घुसपैठ के लिए इसका उपयोग बखूबी किया जा सकता है। पाकिस्तान को इस बात का भी अहसास था कि कश्मीर या पंजाब के पारम्परिक मोर्चों पर चुस्त लामबन्दी के कारण सीधा हमला उतना सफल नहीं हो सकता, जितना कच्छ में ताकत की आजमाइश। ऐसा भी सोचा गया कि येन केन प्रकारेण इस जमीन को हथियाया जा सके तो भविष्य में राजनीतिक परामर्श के दौरान लेन-देन के वक्त इसका उपयोग किया जा सकेगा। सौभाग्यवश, भारतीय सीमा सुरक्षा बल न केवल सतर्क था, बल्कि सीमा रक्षा में समर्थ भी। पाकिस्तान को कच्छ के रण में प्रत्याशित सैनिक सफलता नहीं मिल सकी और जब मामला अन्तर्राष्ट्रीय पंचाट के लिए सौंपा गया तो इससे भी मनोनुकूल परिणाम नहीं निकले।

पाकिस्तानी नेता इतनी आसानी से हार मानने को तैयार नहीं थे। बिहार के अकाल ने केन्द्र सरकार को परेशानी में डाल रखा था। चीनी प्रयत्न से इण्डोनेशिया, घाना आदि भारत के कट्टर विरोधी बन चुके थे और सोवियत संघ में भारत के घनिष्ठ मित्र ख्रुश्चेव को अपदस्थ किया जा चुका था। पाकिस्तान इन लाभप्रद समीकरणों का फायदा उठाना चाहता था। उसने भारत को अकेला करने के लिए एक उग्र राजनयिक अभियान छेड़ा जिसका प्रमुख मंच संयुक्त राष्ट्र संघ बना। भुट्टो ने इसके दौरान अपनी राजनयिक प्रतिभा का भरपूर प्रदर्शन किया। उनके आक्षेपों का प्रमुख मुद्दा यह था कि कश्मीर में मुसलमानों पर तरह-तरह के अमानुषिक अत्याचार किये जा रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप आजाद कश्मीर के निवासियों में उत्तेजना फैल रही है। वस्तुतः इस सबका एकमात्र उद्देश्य कश्मीर में पाकिस्तानी हमले की भूमिका तैयार करना था। तत्कालीन भारतीय विदेश मन्त्री स्वर्ण सिंह ने यथा-शक्ति इन लाछनों का तर्कसंगत उत्तर देने का प्रयत्न किया। परन्तु वह इस बात को नहीं समझ पाये कि पाकिस्तान राजनीतिक संवाद नहीं चाहता था। उसका लक्ष्य युद्धोन्माद फैलाना भर था। इस बीच कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिन्होंने पाकिस्तान को बहाना भी दे दिया। कश्मीर की प्रसिद्ध हज़रत बल दरगाह से पवित्र बाल चोरी चला गया, जिससे साम्प्रदायिक हिंसा भड़क उठी। पाकिस्तानी तानाशाहों को लगा कि यदि ऐसी स्थिति में घुसपैठिये भेजे जाएँ तो कश्मीर की बहुसंख्यक मुस्लिम जनसंख्या केन्द्र सरकार के विरुद्ध बगावत के लिए उठ खड़ी होगी। उन्होंने इस गलतफहमी के आधार पर ही भारत पर आक्रमण कर दिया।

पाकिस्तान की सभी सामरिक गणनाएँ गलत साबित हुईं। संकट की इस घड़ी में शास्त्री जी ने अद्भुत जीवट और साहस का परिचय दिया। 'जय जवान, जय किसान' का नारा चमत्कारी ढंग से देश के मनोबल को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ और भारतीय सेना के तीनों अंगों ने अपने से कहीं अधिक आधुनिक

हो चुकी थी एव 1967 के पश्चिम एशियाई सकट के निवारण के बाद विश्व चीन मे 'महान सास्कृतिक क्रान्ति' की उथल-पुथल का भी आदी हो चुका था। अन्य शब्दो मे, भारत और पाकिस्तान के बीच सैनिक मुठभेड की जमीन फिर से तैयार हो चुकी थी। दोनों देशो मे ताशकन्द भावना के क्षय के अनेक कारण थे। एक ओर भारत मे श्रीमती इन्दिरा गाधी अपने राजनय को शास्त्री जी के योगदान तक ही सीमित नही रखना चाहती थी तो दूसरी ओर अय्यूब खाँ के उत्तराधिकारी याहिया खाँ अपने भ्रष्टाचार को सिर्फ भारत के प्रति दुराचरण से ही छुपा सकते थे। याहिया खाँ का स्थान ग्रहण करने के लिए उत्सुक उनके विदेश मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो उनको पथ-भ्रष्ट करने को तत्पर रहे। पूर्वी बगाल के घटनाक्रम ने उनकी महत्वाकाक्षाओ को पूरा करने के लिए परिस्थितियाँ तैयार की।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि भारत की आजादी के वक्त देश के विभाजन से जिस पाकिस्तान का निर्माण हुआ, वह एक कृत्रिम इकाई था और देश के दो हिस्सों (पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान) को भौगोलिक दूरी के अलावा भाषा, सस्कृति और आर्थिक विकास की असमानता भी एक दूसरे से अलग करते थे। यहाँ अधिक विस्तार में जाने का अवकाश नही, परन्तु यह टिप्पणी जरूरी है कि 1969-70 तक पश्चिमी पाकिस्तान की पजाबी सैनिक तानाशाही पूर्वी बगाल को एक आन्तरिक उपनिवेश के रूप में बदल चुकी थी। बगाली बहुसख्यक थे और बौद्धिक दृष्टि से समृद्ध, परन्तु देश की खुशहाली मे उनका कोई हिस्सा नही था। वे दूसरे दर्जे के नागरिक समझे जाते थे। पूर्वी बगाल की आवामी लीग पार्टी प्रादेशिक स्वायत्तता और समानता की माँग जोरदार ढग से वर्षों म उठाती आ रही थी। मार्च, 1970 के आम चुनाव मे आवामी लीग को बहुमत मिला। इस चुनाव म यह बात भली भाँति स्पष्ट हो गयी कि बगाली मतदाता अब पजाबी अधिपत्य को ज्यादा दिनो तक चुपचाप सहन करने वाल नहीं। एक और बात ध्यान म रखने की है। पूर्वी बगाल मे प्रान्तीय सरकार के शासको व जनता के मन म भारत की छवि शत्रु के रूप मे वैसी नही थी, जैसी पजाबी पाकिस्तानियो के मन म।

मार्च, 1970 के आम चुनाव क बाद पाकिस्तान क सैनिक शासको ने बगालियो की न्यायोचित मागो के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख दर्शाने के बजाय अमानुषिक दमन का मार्ग अपनाया। कुछ ही महीनो मे इसन वशनाशक नरसहार का रूप ले लिया। एन्थोनी मेसकरनास जैसे खोजी पत्रकारो ने 'रप आफ बगला देश' जैसी अपनी पुस्तको मे जनरल टिक्का खाँ के काल कारनामो को दुनिया भर के सामन उद्घाटित किया। हत्या, बलात्कार, आगजनी आदि से घबरा कर बहुत बडी सख्या में बगाली मुसलमान शरणार्थी सरहद पार कर भारत म घुसने लगे। जुलाई-अगस्त, 1971 तक इनकी सख्या दस-बारह लाख स ऊपर पहुँच गई। भारत सरकार ने मानवीय कारणो स इनको बलपूर्वक वापस भेजने का कोई प्रयत्न नहीं किया। परन्तु शीघ्र ही यह बात प्रकट हो गयी कि सिर्फ इन शरणार्थियो को राहत पहुँचाने भर स समस्या का समाधान नहीं हो सकता। श्रीमती इन्दिरा गांधी को शीघ्र ही यह बात स्वीकार करने क लिए विवश होना पडा कि शरणार्थियों के सैलाब का रुख भारत की ओर मोडकर पाकिस्तान परोक्ष रूप से भारत पर असैनिक परन्तु प्रभावशाली आक्रमण कर रहा था। श्रीमती इन्दिरा गाधी न पहल यह प्रयत्न किया कि अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का दबाव डलवाकर पाकिस्तान को अपनी

दिल का दौरा पड़ने से शास्त्री जी की मृत्यु हो गयी। इस बलिदान का एक प्रभाव यह भी पड़ा की ताशकन्द भावना (सदाशयता और मैत्री की ललक) पुष्ट हुई। जनरल अय्यूब खां के लिए यह काम आसान हुआ कि वह दिवंगत भारतीय नेता के प्रति सम्मान के नाम पर बिना घुटने टेके रियायतें देने को तैयार हो सकें और अपने देशवासियों के सामने यह प्रमाणित कर सकें कि पाकिस्तान पराजित नहीं हुआ या कि किसी महाशक्ति ने उसकी बाँह नहीं मरोड़ी। एक बार अय्यूब खां द्वारा समझौते के लिए तैयार हो जाने पर भारतीय पक्ष भी यह कह सकता था कि पीछे हटने वाले सारे कदम उसी ने नहीं उठाये। ताशकन्द समझौते की सबसे बड़ी असलियत यही थी कि किसी भी ठोस व्यवस्था के अभाव के बावजूद उसने दोनों पक्षों को अपना राष्ट्रीय गौरव बचाये रखने की सुविधा और नया सार्थक संवाद शुरू करने का मौका दिया। ताशकन्द समझौते की कृपा से ही भारत-पाक सम्बन्ध पूर्वी बंगाल में ज्वालामुखी के विस्फोट तक लगभग पाँच-छः वर्षों तक अपेक्षाकृत तनावरहित रह सके।[1]

ताशकन्द समझौते के साथ जुड़ी एक और महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है। 1965 के बाद कम से कम कुछ समय के लिए सोवियत संघ ने भारतीय उपमहाद्वीप के मामलों में इन दोनों देशों—भारत और पाकिस्तान के बीच तटस्थता का रुख अपना लिया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण वह घटना है जब सोवियत संघ ने 1966 में पहली बार पाकिस्तान को सैनिक सामग्री बेची।

बंगला देश का उदय—ऐसा नहीं था कि 1966 से 1971 तक भारत-पाक सम्बन्ध ताशकन्द समझौते के कारण ही निरापद और तनावहीन रहे। टकराव न होने का प्रमुख कारण यह भी था कि दोनों देशों का नेतृत्व आन्तरिक समस्याओं से जूझने में इतना व्यस्त था कि वैदेशिक मामलों को पृष्ठभूमि में धकेलना लाजिमी हो गया। भारत में श्रीमती इन्दिरा गाधी 'सिन्डीकेट' का सामना करती हुई अपना वर्चस्व स्थापित करने की चेष्टा कर रही थीं। उनके क्रिया-कलापों की परिणति 1969 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विभाजन और व्यापक नीति-परिवर्तनों में हुई। 1967–68 में राज्यों में कांग्रेस-विरोध की जोरदार लहर उठी और देश के बहुत बड़े हिस्से में कांग्रेसी शासन समाप्त हो गया। इससे भारतीय संघ व्यवस्था पर नये दबाव पड़े और इसी दौरान उग्र वामपंथियों की अराजक हिंसा का विस्फोट प० बंगाल में जलपाईगुड़ी जिले के नक्सलबाड़ी नामक स्थान में हुआ। इसी तरह अय्यूब खां के 'बुनियादी लोकतन्त्र' के प्रति पाकिस्तानियों का मोहभंग हो चुका था और उनके विरुद्ध छात्र आक्रोश के विस्फोट के बाद उनकी सरकार का पतन हो गया। उस समय भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। 1969 में सोवियत संघ और चीन के बीच उसूरी नदी के तट पर टकराव हुआ। 1968 में चेकोस्लोवाकिया में सैनिक हस्तक्षेप के बाद सोवियत संघ को अन्तर्राष्ट्रीय मण्डली में भारत जैसे मित्र की जरूरत फिर से महसूस होने लगी। वियतनाम युद्ध में बड़ी तेजी के साथ गुट निरपेक्ष भारत का महत्व फिर से रेखांकित हुआ।

1970 तक पाकिस्तान और भारत की आन्तरिक राजनीतिक स्थिति स्थिर

[1] पाकिस्तानी परिप्रेक्ष्य से इस घटनाक्रम को समझने के लिए देखें—General Ayub Khan, *Friends, Not Masters* (London, 1967)

नहीं थी ।[1]

शिमला समझौता—युद्ध के बाद जुल्फिकार अली भुट्टो याहिया खान के उत्तराधिकारी के रूप में श्रीमती इन्दिरा गांधी से परामर्श के लिए शिमला पहुँचे तो वह एक पराजित राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और श्रीमती इन्दिरा गांधी निश्चित रूप से विजेता थीं। शिमला समझौते का विश्लेषण-मूल्यांकन करते समय यह बात कदापि नहीं भुलायी जानी चाहिए। इस बात का श्रेय श्रीमती इन्दिरा गांधी को दिया जाना चाहिए कि उन्होंने शिमला शिखर सम्मेलन का उपयोग जीत के लाभांश के बँटवारे या पाकिस्तान को दण्डित करने के लिए नहीं, बल्कि भारत-पाक सम्बन्धों के सामान्यीकरण के लिए किया। इसी तरह यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि पराजित होने के बाद भी भुट्टो अपने राजनयिक कौशल से बहुत कुछ हासिल कर सके। ताशकन्द समझौते की ही तरह शिमला सम्मेलन भी भारत-पाक सम्बन्धों की राह में मील का एक महत्त्वपूर्ण पत्थर है।

शिमला समझौते में विवाद के तीन प्रमुख विषय थे (i) भारत द्वारा पाकिस्तान की जिस जमीन पर कब्जा किया गया था, उसे खाली कराना, (ii) भारत-बंगला देश संयुक्त कमान द्वारा बन्दी बनाये गये सैनिकों की रिहाई, तथा (iii) पाकिस्तान द्वारा नवोदित बंगला देश को मान्यता। इसके साथ ही दो और पहलू भी जुड़े हुए थे—(i) युद्ध अपराधियों पर मुकदमा चलाया जाना और (ii) मुआवजे का प्रश्न। कई बार यह बात कही जाती है कि श्रीमती इन्दिरा गांधी शिमला में जुल्फिकार अली भुट्टो द्वारा ठग ली गयीं क्योंकि विजेता होने के बाद भी उन्हें हर मामले में भुट्टो की माँग स्वीकार करनी पड़ी। परन्तु शिमला समझौते के साथ यह बात अनिवार्यतः जुड़ी थी कि बंगला देश को मान्यता दिलाने और उपमहाद्वीप में सम्बन्धों को सामान्य करना किसी भी अन्य प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। भुट्टो का राजनयिक कौशल इस बात में अन्तर-निहित था कि उन्होंने कम से कम उस वक्त अन्तर्राष्ट्रीय जनमत को यह समझाने में सफलता प्राप्त कर ली कि वह पाकिस्तान के विघटन और भारत पर हमले के लिए जिम्मेदार नहीं समझे जा सकते। वह यह बात भलीभाँति समझते थे कि भारत लम्बे समय तक दो लाख पाकिस्तानी युद्धबन्दियों का भार नहीं ढो सकता और इनकी रिहाई के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दबाव बढ़ना शुरू हो जायगा। भुट्टो ने यह तर्क भी जोरदार ढंग से पेश किया कि यदि शिमला सम्मेलन से रियायतें पाने में वह सफल नहीं हुए तो उनकी सरकार गिर जायगी और पाकिस्तान में जनतन्त्र की पुनर्स्थापना की अन्तिम आशा नष्ट हो जायगी। श्रीमती इन्दिरा गांधी के पास एक ही अस्त्र था—युद्ध अपराधियों पर मुकदमा चलाने वाला। इसी को लेकर सौदेबाजी हो सकी। अपने व्यक्तित्व के जादू का अहसास श्रीमती इन्दिरा गांधी को था और भुट्टो को भी। इन दोनों नेताओं के विशेषज्ञ-सलाहकार योग्य एवं प्रतिभाशाली थे। तब भी यदि शिमला समझौते का क्रियान्वित करने-कराने एक वर्ष लग गया तो समझा जा सकता है कि पेचीदगियाँ कितनी जटिल रही होंगी।

1972 के अन्त में दिल्ली सम्मेलन के बाद शिमला समझौते में तय कदम औपचारिक रूप से उठाये जा सके। ताशकन्द की तरह दोनों देशों में शिमला

[1] इस स्थिति के विस्तृत विश्लेषण के लिए देखें—Mohammad Ayub, *India, Pakistan and Bangla Desh*, (Delhi, 1975)

नीतियों मे परिवर्तन करने पर विवश किया जा सके। इसके लिए औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार के राजनय का अवलम्बन लिया गया। इस अभियान मे अपनी सरकार के जय प्रकाश नारायण जैसे प्रखर आलोचकों का समर्थन पाने में श्रीमती इन्दिरा गांधी सफल रही। दुर्भाग्यवश पाकिस्तान पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कई विद्वानों का मानना है कि भुट्टो ने जान-बूझकर धूर्तता के साथ ऐसा नहीं होने दिया, क्योंकि वह जानते थे कि सेना की पराजय के बिना पाकिस्तान मे सैनिक तानाशाही का अन्त नहीं हो सकता। वह यही भी अच्छी तरह समझते थे कि नागरिक सरकार बनने पर भी वह अविभाजित पाकिस्तान के एकछत्र शासक नहीं बन सकते। शेख मुजीब जैसे लोकप्रिय बंगाली नेता का दावा प्रधानमन्त्री पद के लिए उनकी तुलना मे कहीं अधिक भारी बैठता था।

इस बीच भारत मे शरण पाने वाले बंगालियों मे कुछ *विद्रोहियों ने हथियार* जुटाकर, पूर्वी बंगाल की सरहद फिर से पारकर वहाँ छापामार लड़ाई शुरू कर दी। पूर्वी बंगाल की जमीन इस तरह के रण के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है और अपनी इच्छी के विरुद्ध वहाँ तैनात किये गये भ्रष्ट, अवैध, अनुभवहीन किशोर सैनिक रंगरूट इनका सामना करने की स्थिति में नहीं थे। इस प्रकार पूर्वी बंगाल के नगरो में *सिविल नाफरमानी जोर पकड़ रही थी और व्यापक जन असहयोग* के कारण प्रशासन ठप्प था। पाकिस्तान सरकार का शक था कि बंगाली छापामारो की मुक्ति वाहिनी सेना को भारत सरकार प्रशिक्षित कर रही है और शस्त्रों से सुसज्जित भी। इससे भारत-पाक सम्बन्धों में तनाव बहुत तेजी से बढा। अक्तूबर 1971 तक यह बात साफ हो चुकी थी कि भारत और पाकिस्तान के बीच किसी भी वक्त *लड़ाई छिड़ सकती है।*

इस क्षण श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अद्भुत दूरदर्शिता और राजनयिक कौशल का परिचय दिया। उनके विशेष दूत दुर्गा प्रसाद धर ने सोवियत संघ की अनेक यात्राएँ कीं और नाटकीय ढंग से यह घोषणा की गयी कि भारत ने सोवियत संघ के साथ मैत्री व सहयोग सन्धि पर हस्ताक्षर कर लिये हैं। कई विद्वानों ने यह आक्षेप लगाया कि इस सन्धि से भारत ने अपनी गुट निरपेक्षता की नीति *त्याग दी है।* बंगला देश के मुक्ति संग्राम के सिलसिले मे इस सन्धि का विशेष सामरिक महत्त्व है। इस सन्धि पर हस्ताक्षर के बाद पाकिस्तानी सैनिक हमले का सामना भारत बेहिचक कर सका।

5 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तानी विमानों ने भारतीय ठिकानों पर हमले बोले और युद्ध की घोषणा कर दी। इस युद्ध मे स्थिति 1965 से बहुत फर्क थी। भारतीय सेना के तीनों अंग एक प्रभावशाली इकाई के रूप में काम मे लाये गये और 18 दिनों मे ही *ढाका से पाकिस्तानी सैनिकों को खदेड़ दिया गया।* इतना समय भी इसलिए लगा कि भारत-बंगला देश संयुक्त कमान जन-धन की कम से कम हानि चाहती थी। युद्ध के दौरान चीन ने भारत को डराने-धमकाने का प्रयत्न किया। अमरीका ने भी अपने युद्धपोत 'एण्टरप्राइज' को बंगाल की खाड़ी में भेजकर भारत के भयादोहन (blackmail) की कोशिश की। परन्तु श्रीमती इन्दिरा गांधी के दृढ़ संकल्प, साहस और नेतृत्व के सामने ये सब कुटिल प्रयत्न निष्फल हो गये। लगभग दो लाख पाकिस्तानी सैनिक युद्धबन्दी बना लिये गये और पाकिस्तान के बड़े भू-भाग पर भारतीय सेना *का कब्जा हो गया।* इस बार स्थिति *1965* जैसी

घटिया, साधारण और विश्वासघाती थे। इन्ही दिनो अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम ने भी भारत-पाक सम्बन्धो मे तनाव पैदा किया। दिसम्बर, 1979 मे अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिक हस्तक्षेप के बाद नए शीत युद्ध का सूत्रपात हुआ और पुराने शीत युद्ध की तरह पाकिस्तान एक बार फिर अमरीकी शतरंजी बिसात का महत्वपूर्ण मोहरा बन गया। इसके अलावा ईरान मे मोहम्मद रजा पहलवी के पतन के बाद तथा खुमैनी के नेतृत्व मे इस्लामी कट्टरपंथी ज्वार ने अन्य अमरीकी गणनाओ को भी गड्डमड्ड कर दिया। खाडी के इलाके में तुरत तैनाती दस्ते (Rapid Deployment Force) की परियोजना मे भी अमरीका द्वारा पाकिस्तान का महत्वपूर्ण योगदान तय किया गया। इसी विश्लेषण के आधार पर अमरीका मे कार्टर प्रशासन ने जनरल जिया उल हक को अरबो डालर की सैनिक सहायता देकर प्राणरक्षक समर्थन किया। इसका कुप्रभाव भारत-पाक सम्बन्धो पर पडना स्वाभाविक था। एक बार अपनी स्थिति दृढ करने के बाद जनरल जिया ने नए सिरे से (कभी नरम, कभी गरम अन्दाज मे) भारत को दुविधा मे रखने वाले ढग से उसके साथ पाकिस्तान का सम्बन्ध सचालन आरम्भ किया।

परमाणु बम—जनरल जिया के शासन काल मे भारत-पाक सम्बन्धो मे जिस परमाणु कार्यक्रम को लेकर सबसे अधिक तनाव रहा, उसकी शुरूआत जिया ने नहीं, बल्कि भुट्टो ने की थी। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे रुचि रखने वाले अध्येताओ के लिए महत्वपूर्ण विषय है, इसीलिए इस पर विस्तृत टिप्पणी की जा रही है। यहाँ सिर्फ उन बातो को रेखांकित किया गया है, जिनकी भारत-पाक सम्बन्धो के सन्दर्भ मे अनदेखी नही की जा सकती। यदि पाकिस्तान परमाणु अस्त्र बना लेता है तो वह भारत की तुलना मे कमजोर होने की हीन भावना से छुटकारा पा लेगा। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इसके बाद पाकिस्तानी शासक परमाणु भयादोहन (Nuclear Blackmail) की दुस्साहसिकता तक उतर सकते हैं। वस्तुत पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम का जितना बुरा असर भारत-पाक सम्बन्धो पर पडा है, उससे कहीं अधिक भारत-अमरीका सम्बन्धों पर। यथार्थ भी यही है कि पाकिस्तान का परमाणु सामर्थ्य से लैस करने का षड्यन्त्र बिना अमरीकी सहायता के पूरा नहीं हो सकता था। परमाणु अप्रसार (Nuclear non-proliferation) के लिए प्रतिबद्ध अमरीका सिर्फ इस मामले मे दोहरे मानदण्ड दर्शाता रहा है तो इसीलिए कि अफगानिस्तान म सोवियत हस्तक्षेप के बाद पाकिस्तान की सामरिक उपयोगिता बढी।

पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम का एक और पहलू उल्लेखनीय है। भुट्टो ने अपने जीवन काल म ही पाकिस्तान की एटम बम की तलाश को इस्लामी भाईचार से जोड दिया था और पाकिस्तानी बम को इस्लामी बम की सज्ञा दी गई। पाकिस्तान का पश्चिम एशियोन्मुख होना इस कारण सहज हुआ है।

भारत के साथ युद्धवर्जन सन्धि का प्रस्ताव इसी प्रकरण से जुडा हुआ है। जनरल जिया का ऐसा सोचना था कि यदि भारत को इस विषय मे आश्वस्त किया जा सके कि भारत के प्रति पाकिस्तान का रुख आक्रामक नहीं है तो भारतीय नेता-राजनयिक उसके परमाणु कार्यक्रमो को शान्तिपूर्ण मान लेंगे और इसके अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण-निरीक्षण के लिए कोशिश छोड देंगे। इसके अतिरिक्त युद्धवर्जन सन्धि के प्रस्ताव का एक प्रचार वाला पक्ष भी है। जब भारत ने बाद म इसे अस्वीकार

समझौते को लेकर बड़े पैमाने पर नई आशा जगी थी। यदि इसके प्रत्याशित परिणाम नहीं निकले तो यह बात पूछी जानी चाहिए कि ऐसा क्यों नहीं हुआ? जहाँ तक भारत का प्रश्न है, श्रीमती गांधी के इर्द-गिर्द बंगला देश मुक्ति अभियान से जन्मा प्रभामण्डल ज्यादा दिन बचा नहीं रह सका। 1973 तक गुजरात और बिहार में उनके विरुद्ध व्यापक युवा जन आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। इसका स्वरूप सिविल नाफरमानी संघर्ष वाला बन चुका था। श्रीमती गांधी को अंततः इस चुनौती का सामना करने के लिए अपना जनतान्त्रिक मुखौटा उतार फेंकना पड़ा और जून 1975 में आपात काल की घोषणा करनी पड़ी। इस प्रकार शिमला समझौते में पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्ध सुधारने के लिए व्यापार, वाणिज्य आदि में सायास वृद्धि (Deliberate Increase) की जो प्रस्तावना की गयी थी, उसका क्रियान्वयन लगभग असम्भव बन गया। दूसरी ओर भुट्टो का पाकिस्तान, निक्सन के अमरीका को माओ के चीन के करीब लाने के काम में मध्यस्थ बन चुका था और भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए प्रेरणा दुर्बल पड़ने लगी थी। इतना ही नहीं, क्षणिक संकट निवारण के बाद भुट्टो को ऐसा लगने लगा था कि पाकिस्तान का भविष्य भारत के साथ उस तरह नहीं जुड़ा है, जिस तरह पश्चिम एशिया के देशों के साथ। 1975 के मध्य तक बंगला देश की बहुसंख्यक जनता का शेख मुजीब के साथ मोहभंग हो चुका था। एक दुःस्वप्न की तरह 15 अगस्त, 1975 को बंग बन्धु मुजीब की सपरिवार निर्मम हत्या कर दी गयी और बंगला देश में घड़ी की सुइयाँ बलपूर्वक पीछे खिसका दी गयीं। ऐसी परिस्थिति में शिमला भावना का क्षय स्वाभाविक था।[1]

भारत में आपात काल की घोषणा के बाद पाकिस्तान को यह कहने का अवसर मिल गया कि अब भारत इस बात का दम्भ नहीं भर सकता कि उसका जनतन्त्र पाकिस्तान की तानाशाही से श्रेष्ठ है। भुट्टो अवसर अपने जनतन्त्र की तुलना भारत के अधिनायकत्व से करते थे। संयोग कुछ ऐसा हुआ कि श्रीमती गांधी और भुट्टो 1977 में लगभग एक साथ अपदस्थ हुए और यह सारी दुस्साहसिकता बेमानी सिद्ध हुई।

मार्च, 1977 में भारत में जनतन्त्र की पुर्नस्थापना और जनता सरकार के गठन के साथ पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने की बात ने जोर पकड़ा। तत्कालीन विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी यह प्रदर्शित करने को उत्सुक थे कि हिन्दू राष्ट्रवादी होने के बावजूद उन्हें पाकिस्तान से कोई व्यक्तिगत बैर नहीं है। तथापि, तत्कालीन प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई किसी भी दूसरे देश के आन्तरिक घटनाक्रम में सदा प्रतिशत तटस्थ रहने के अपने आग्रह के कारण वाजपेयी पर हावी रहे।

इन सब बातों का भारत-पाक सम्बन्धों पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा। चूंकि वाजपेयी समझौते के लिए लालायित थे, इसलिए पाकिस्तान का अहंकार पुष्ट हुआ। 1980 में वापस प्रधानमन्त्री पद प्राप्त करने के बाद भुट्टो की पक्षधर समझे जाने के कारण श्रीमती गांधी जनरल जिया की नजरों में संदिग्ध बनी रहीं। जहाँ तक श्रीमती गांधी का प्रश्न है, उनकी दृष्टि में जनरल जिया, भुट्टो की तुलना में कहीं

[1] देखें—Z. A. Bhutto *Myth of Independence*, (London, 1988) और Ministry of External Affairs, *Bangla Desh: Documents*, (Delhi, 1971).

परन्तु इनको सीमा पर अबाध-बेरोक्टोक भेजा या ले जाया नहीं जा सकता। पाक सरकार बारम्बार यह आरोप भी लगाती रही है कि भारत अपने दूरदर्शन प्रसारणा द्वारा 'सास्कृतिक साम्राज्यवाद' फैला रहा है और पाक जनता म असन्तोष फैलाने के लिए प्रयत्नशील है। निश्चय ही ऐसी स्थिति मे सास्कृतिक आदान-प्रदान सार्थक नहीं हो सकता।

खासकर 1983 के बाद से पजाब मे खालिस्तानी गतिविधियो के सन्दर्भ मे पाकिस्तान की भूमिका चिन्ताजनक रही है। अब तक यह बात निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि पाकिस्तान म भारत के पथभ्रष्ट सिख आतकवादियो को बडे पैमाने पर प्रशिक्षण दिया जाता रहा है। इस बात के कोई सकेत नहीं कि तमाम आश्वासनो के बावजूद भविष्य म इस स्थिति मे कुछ सुधार हो सकेगा। असामाजिक तत्वो के द्वारा तस्करी और मादक द्रव्यो का व्यापार इसी आतकवाद के साथ अनिवार्यत जुडे हैं।

अक्टूबर, 1984 मे श्रीमती गाधी की हत्या और पजाब मे आतकवादी हिंसा के उफान के बाद भारत के साथ टकराने की पाकिस्तान की दुस्साहसिकता और भी बढ गयी। सियाचीन ग्लेशियर को लेकर जो सकट पैदा हुआ, वह इसके बिना असम्भव था। इस दुर्गम बर्फीले प्रदेश मे विदेशी टोलियो को पर्वतारोहण और अन्वेषण की अनुमति भारत को भडकाने-उकसाने और उसका मनोबल तोडने के लिए दी गयी थी। इसी तरह पाकिस्तान द्वारा अधिकृत कश्मीर मे चीन को ऐतिहासिक रेशमी राजमार्ग के पुनर्निर्माण की अनुमति देना इसी उद्देश्य से प्रेरित था।

वास्तव म, भारत-पाक सम्बन्ध तब तक तनावरहित या वैमनस्य से मुक्त नही हो सकते, जब तक इस उपमहाद्वीप मे बाहरी शक्तियो का हस्तक्षेप समाप्त नही होता। कार्टर हो या रीगन या फिर जार्ज बुश पाकिस्तान को मिलने वाली अरबो डालर की विदेशी सहायता मे जब तक कटौती नही होती, तब तक पाकिस्तान के सैनिक तानाशाहो या शासको को अनुशासित करने का प्रयत्न असफल रहेगा। जब तक पाकिस्तान का यह लगता रहेगा कि उसका स्वर्णिम भविष्य अमरीका के साथ जुडा हुआ है, तब तक, कुलदीप नैय्यर के शब्दो मे, 'भारत दूरस्थ पडोसी' (Distant Neighbour) ही बना रहेगा। जब दक्षेस (SAARC) का गठन किया गया, तब यह आशा जरूर जगी थी कि पाकिस्तान के द्वेष को भारत अन्य पडोसियो मे सद्भाव से निरस्त कर सकेगा। किन्तु दुर्भाग्यवश श्रीलका की विस्फोटक स्थिति ने घटनाक्रम को अप्रत्याशित विपरीत दिशा म सचालित किया।

जहाँ तक भारत-पाक सम्बन्धो क बारे मे सम्भावनाओ का प्रश्न है, वे बहुत आशाजनक नहीं। जहाँ तक समस्याएँ हैं, वे न केवल बची हैं, बल्कि उनकी सूची बढती ही जा रही है। पाकिस्तान कश्मीर का 'विवाद' अपनी इच्छानुसार अवसरवादी ढग से अन्तर्राष्ट्रीय सभा-सम्मेलनो मे उठाता रहता है। पाकिस्तानी सहायता न केवल पजाब में सक्रिय आतकवादियो को बल्कि भारत के अन्य भागो मे भी विघटनकारी साम्प्रदायिक तत्वो को निरन्तर मिलती रहती है। पाकिस्तान भारत को राजनयिक दृष्टि से सकोच मे डालने के लिए बार-बार सम्पूर्ण दक्षिण एशिया को 'परमाणु हथियार-मुक्त क्षेत्र' (Nuclear Weapon Free Zone) घोषित करने की माँग उठाता रहता है। नेपाल, बगला देश, और श्रीलका को भारत के प्रति शकालु

किया तो पाकिस्तान के लिए यह कहना सम्भव हुआ कि भारत उसके साथ सुलह या सम्बन्धों में सामान्यीकरण के लिए तैयार नहीं। वास्तव में इस दलील में कोई दम नहीं है। भारतीय पक्ष यह बात बहुत तर्कसंगत ढंग से दोहराता रहा है कि भारत और पाकिस्तान के बीच किसी विशेष युद्धवर्जन सन्धि की कोई आवश्यकता नहीं। शिमला समझौते पर हस्ताक्षर करने के साथ दोनों पक्ष पहले ही विवादों के निपटारे के लिए युद्ध का बहिष्कार कर चुके हैं। परन्तु यह बात भी याद दिलायी जाती रही है कि जब कभी अतीत में नेहरू जी ने युद्धवर्जन सन्धि का प्रस्ताव किया था, तब पाकिस्तान ने इसे गैर-जरूरी समझा था। जहाँ तक परमाणु कार्यक्रम का सम्बन्ध है, उसके सन्दर्भ में युद्धवर्जन सन्धि निरर्थक है। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रचार के रणक्षेत्र में निश्चय ही इस प्रस्ताव का पाकिस्तानी राजनयिकों ने भरपूर लाभ उठाया। तत्कालीन भारतीय प्रधानमन्त्री राजीव गांधी की अनुभवहीनता और कुछ भारतीय पत्रकारों की पेशेवर पाकिस्तानी प्रतिबद्धता ने इस काम को आसान बनाया।

आर्थिक सम्बन्ध—जब युद्धवर्जन सन्धि की बात चल रही थी, तभी इस बात पर भी जोर दिया गया कि भारत व पाकिस्तान के बीच व्यापार और वाणिज्य सम्बन्धों का विस्तार क्यों नहीं होता? क्यों पाकिस्तान अपनी जरूरत का सीमेंट और लोहा कोरिया जैसे सुदूर देशों से आयात करता है? क्यों भारत कपास आदि क्षेत्र में पाकिस्तान को अनदेखा करता है? बुनियादी तर्क यह है कि यदि कालान्तर में भारत और पाकिस्तान के बीच आर्थिक हितों और विकास कार्यक्रमों का सामंजस्य बिठाया जा सके तो राजनीतिक मामलों में भी टकराव-वैमनस्य कम हो सकेगा। परन्तु पिछला अनुभव यही बतलाता है कि यह कुछ वैसी ही पहेली है कि मुर्गी या अण्डे में से पहले किसका जन्म हुआ। जब तक राजनीतिक सम्बन्धों में कम से कम थोड़ा सुधार नहीं होता, तब तक व्यापारी-उद्यमी इस क्षेत्र में जोखिम नहीं उठायेंगे। इसका एक उदाहरण उस सख्ती से पता चलता है, जिसके आधार पर दोनों देश एक-दूसरे को 'वीजा' देते हैं। इसके अतिरिक्त भारत कम से कम आरम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रबन्ध राज्य व्यापार निगम जैसे निगमों के माध्यम से करना चाहता है और पाकिस्तान निजी क्षेत्र के सौदों के साथ। इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि भले ही 1947 में दोनों देशों की अर्थव्यवस्थाएँ पूरक रही हों, किन्तु आज ऐसा नहीं है। भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था का मूल संस्कार समाजवादी रहा तो पाकिस्तान का पूँजीवादी मुक्त व्यापार वाला। पिछले साढ़े चार दशकों में पाकिस्तान ने आत्मनिर्भर बनने का मोह छोड़कर बड़े पैमाने पर अमरीकी सहायता का आश्रय लिया है और पाकिस्तान का उपभोक्ता शासक वर्ग मूलतः परोपजीवी है। यह आवश्यक नहीं कि भारत के साथ आर्थिक सहकार पाकिस्तान में भी राष्ट्र हित साधक समझा जाये। इसी कारण इस क्षेत्र में प्रगति नगण्य रही है।

सांस्कृतिक सम्बन्ध—इसी दौर में सांस्कृतिक आदान-प्रदान को सरकारी तौर पर बढ़ावा दिया गया। क्रिकेट और हाकी टीमों के अलावा मेंहदी हसन, गुलाम अली, रेशमा, मलिका पुखराज, जैसे पाकिस्तानी सितारे बारम्बार भारत आये। परन्तु इस सिलसिले में भी पाकिस्तानी आचरण आवश्यकता से अधिक चतुर प्रमाणित हुआ। भारतीय कलाकारों व सितारों को पाकिस्तान बुलाने का काम अधूरा ही रहा। भारत में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं की पाकिस्तान में बड़ी खपत है,

बडी सख्या मे अफगान शरणार्थियो ने भी पाकिस्तान की सामाजिक व्यवस्था पर दबाव डाला और 1960 व 1970 वाले दशक मे अमरीकी आर्थिक सहायता के कारण जो प्रगति आरम्भ हुई थी, उसकी दर बरकरार नही रखी जा सकी। देहाती और शहरी इलाको के बीच भेदभाव-विषमता बढी है और अनियोजित नगरीकरण ने भी सगठित अपराध को बढावा दिया है।

पाकिस्तानी जीवन मे एक कटु यथार्थ व्यापक भ्रष्टाचार है। जनरल जिया-उल-हक के शासन काल मे दबी जुबान से ही सेना की आलोचना होती रही। इसी तरह के आरोप बेनजीर के पति जरदारी और उनके श्वसुर पर लगाये गये। भ्रष्टाचार हो या मानवाधिकार हनन, साम्प्रदायिक हिंसा हो या भौगोलिक विघटन, पाकिस्तान की तुलना हर बार भारत के साथ की जाती है। ऐसी स्थिति मे यह पाकिस्तान की मजबूरी बन जाती है कि वह भारत के साथ अपने सम्बन्धो

विवादग्रस्त कश्मीर

और द्वेषी बनाने में पाकिस्तान को सफलता मिली है। पाक-अमरीकी-चीनी गठजोड़ आज भारतीय राजनय का सबसे बड़ा सरदर्द है। आजादी और विभाजन के बाद 45 साल बीत गये हैं, फिर भी भारत-पाक सम्बन्धों में सामान्यीकरण की अपेक्षा 'संकट निवारण' (Crisis Management) और मैत्री की अपेक्षा 'शत्रुता के निर्वाह' (Conduct of Enemity) की प्राथमिकता बनी हुई है।

भारत पाक सम्बन्धों में नये तनाव-बिन्दु
(New Tensions in Indo-Pak Relations)

दिसम्बर, 1988 में बेनज़ीर भुट्टो के प्रधानमन्त्री बनने पर कुछ समय के लिए यह आशा जगी थी कि इन दो देशों के सम्बन्धों में सुधार होगा और फिर भारत में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के सत्तासीन (दिसम्बर 1989) होने के साथ यह सोचा जाने लगा था कि राजीव गाँधी की तरह अपने अहंकार की कोई समस्या नए प्रधानमन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को नहीं होगी। किन्तु दोनों ही आशाएँ धूमिल हो गईं।

वास्तव में भारत और पाकिस्तान के बीच सम्बन्धों में नए तनाव-बिन्दु वही पुराने हैं। सिर्फ ऐसा है कि पिछले कई वर्षों में विशेषकर शिमला समझौते (1972) के बाद के वर्षों में हम इनके प्रति उदासीन हो गए हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण कश्मीर है। इस समस्या का जन्म स्वतन्त्रता और विभाजन के साथ ही हुआ था। 1947-48 में भी पाकिस्तान का प्रयत्न तोड़-फोड़ करने वाले घुसपैठियों को भारत में भेजकर श्रीनगर व कश्मीर घाटी को अस्थिर कर साम्प्रदायिक तनाव बढ़ाना था। आज भी इस रणनीति में कोई बदलाव नहीं आया है। हाँ, स्थिति इस बात से अवश्य संकटग्रस्त हुई है कि आज पाकिस्तान में प्रशिक्षित आतंकवादी घुसपैठिये कश्मीर में नहीं, पंजाब में भी सक्रिय हैं और इन दोनों के बीच गठजोड़ भारत के सामरिक हितों के लिए शोचनीय है।

एक और महत्वपूर्ण बात है, जो पहले नहीं थी। पाकिस्तान आज मादक द्रव्यों की तस्करी का एक बड़ा गढ़ है और अफगानिस्तान में सोवियत संघ के असफल हस्तक्षेप के बाद महत्वपूर्ण थोक बाजार भी। मादक द्रव्यों, हथियारों और अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की घनिष्ठ रिश्तेदारी अब अच्छी तरह स्पष्ट हो चुकी है। दक्षिण अमरीका हो, पश्चिम एशिया या श्रीलंका, पाकिस्तान एक बार इस 'बाघ की सवारी' शुरू करने के बाद उतरने का खतरा कभी नहीं उठा सकता। बल्कि कुछ उदार लोग तो यह सुझाने लगे हैं कि अपने यहाँ इन असामाजिक तत्वों की सक्रियता रोकने के लिए पाकिस्तान इन्हें वापस भेजने के लिए मजबूर हुआ है।

भारत-पाक सम्बन्धों में बढ़ते तनाव के लिए निश्चय ही पाकिस्तान के आन्तरिक हालात उत्तरदायी हैं। पाकिस्तान में सेना और नागरिक सरकार के बीच सम्बन्ध इसका सिर्फ एक पहलू है। कराची में और अन्यत्र भी स्थानीय मुसलमानों और मुहाजिरों (मुहाजिर अर्थात् विभाजन के बाद भारत से पहुँचे शरणार्थी) के बीच वैमनस्य साम्प्रदायिक रूप ले चुका है और सर्वनाशक हिंसा का विस्फोट समय-समय पर हुआ है। एक दशक पहले तक पाकिस्तान की राष्ट्रीय एकता को सिर्फ पख्तून राष्ट्रवाद की चुनौती का सामना करना पड़ रहा था। फिर इसमें बलूच कबायली जुड़े, परन्तु आज सिन्धी, पंजाबी, मुहाजिर सभी अपनी अलग-अलग पहचान बना चुके हैं।

भारत-चीन सम्बन्ध
(India-China Relations)

भारत और चीन दोनो ही देश हजारो वर्ष पुरानी सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं और इस सांस्कृतिक परम्परा को जीवित रखे हुए हैं। इसके अतिरिक्त ये देश (चीन और भारत) संसार की सबसे बडी आबादी वाले दो देश हैं। इनमे चीन कट्टर साम्यवादी रहा है तो भारत गुट निरपेक्ष। सदियो से दोनो देशो के बीच आर्थिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान चलता रहा है। ये सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ या व्यापक भले ही न रहे हो, परन्तु इन दोनो देशों के बीच सद्भाव और आत्मीयता बनाये रहे। आजादी की लडाई के वर्षों मे दोनो देशो के राष्ट्रवादी नेताओ के बीच संवाद बना रहा था। चांग काई शेक के साथ नेहरू जी की व्यक्तिगत मित्रता और माओ के नेतृत्व मे लड रहे साम्यवादी छापामारो की राहत के लिए भेजी गयी कांग्रेस पार्टी की चिकित्सा टीम इसी के उदाहरण हैं। इसे एक विडम्बना ही समझा जाना चाहिए कि 'हिन्दी-चीनी, भाई-भाई' वाला मैत्री का दौर अधिक समय तक नही चल सका और तिब्बत को मुक्त कराने वाले चीन के अभियान के साथ ही 1950 मे भारत-चीन सम्बन्ध तनावग्रस्त हो गये। इसके बाद भी भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो व सम्मेलनो मे चीन का समर्थन किया और चीन के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की घोषणा करने वाला पचशील समझौता (1954) भी किया। परन्तु कुछ समय बाद तनाव फिर से उभरने लगे, जब तिब्बत मे चीनी नीतियो से परेशान दलाई लामा ने भारत मे शरण लेने की पेशकश की। कोरिया युद्ध विराम के बाद भारत की मध्यस्थता की कोई आवश्यकता चीन को नहीं रह गयी थी और हिन्द चीन सम्बन्धी जेनेवा सम्मेलन के बाद तो एक तरफ से चीनी नेता निरापद हो चुके थे।

इन्हीं दिनो चीन ने कुछ ऐसे नक्शे छापे जिनमे भारतीय भू-भाग पर चीनी दावा किया गया था। पहले पहल सीमा विवाद प्रकट हुआ और ये दो देश सैनिक मुठभेड के रास्ते पर उतर आये। चीनी दावो को नकारते हुए भारत ने सीमा सुरक्षा बल के सैनिको को आदेश दिये कि वे अपनी भूमि पर कब्जा कतई न छोडें। सीमान्त पर अग्रगामी नीति का अनुसरण करने के कारण 1958 मे लोग जू और कोगका दर्रों पर हुई झडप मे तेरह भारतीय सिपाहियो की जानें गयीं। तब से इन दो देशो के बीच सम्बन्धो मे निरन्तर गिरावट आई। मार्च-अप्रैल, 1959 मे दलाई लामा के पलायन और भारत मे शरण लेने ने चीनी नेताओ को उत्तेजित किया और सितम्बर, 1960 मे चाऊ एन लाई की भारत यात्रा के दौरान सीमा विवाद के निपटारे के लिए आयोजित वार्ता निष्फल रही। अब तक बडे पैमाने पर सैनिक टकराव की जमीन तैयार हो चुकी थी। एक सार्वजनिक भाषण मे नेहरू जी ने भावावेश में यह स्वीकार किया कि उन्होंने चीनियो को भारतीय भूमि से खदेड निकालने का आदेश दे दिया है। चीनी इसके लिए तैयार बैठे थे और इस शक्ति परीक्षण मे भारत को मुंह की खानी पडी। सदियों की मैत्री पलक झपकते ही समाप्त हो गयी और पीढियो तक चलने वाले बैर ने जड पकड ली।

जवाहरलाल नेहरू के सार्वजनिक जीवन की कोई और घटना इतनी सालने वाली नही, जितनी कि भारत-चीन सीमा विवाद और 1962 मे सैनिक मुठभेड

में तनाव मे कमी न आने दे।

पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम को लेकर भारत की चिन्ता नई नहीं हैं। हाँ, इतना जरूर है कि जब पाकिस्तानी वैज्ञानिक अब्दुल कादिर खाँ यह घोषणा करते हैं कि उनके प्राणों को भारतीय गुप्तचर सस्था 'रॉ' (RAW) के एजेन्टों से खतरा है, तब थोडी सनसनी जरूर फैलती है।

यहाँ ईमानदारी का तकाजा है कि यह बात भी स्वीकार की जाये कि भारत-पाक सम्बन्धो में तनाव-वृद्धि के लिए सिर्फ पाकिस्तान ही जिम्मेदार नहीं है। पाक के साथ नरम मैत्रीपूर्ण रुख के लिए पूर्व विदेश मन्त्री इन्द्र कुमार गुजराल काफी बदनाम रहे, विशेषकर जब सुलह के लिए बढे उनके हाथ को पाक विदेश मन्त्री याकूब खाँ ने एक से अधिक बार ठुकरा दिया।

अभी भी कुल मिलाकर, भारत-पाक सम्बन्धो के नए तनाव-बिन्दु वही पुराने हैं—विवादग्रस्त कश्मीर, आतकवादियों को सरक्षण, साम्प्रदायिक विष वमन और परमाणु चुनौती। वस्तुत इन दो देशों के बीच राष्ट्रीय हितों का टकराव इतना जबर्दस्त है कि हर नई खरोच या नया घाव कही न कही पुराने लाइलाज नासूर से जुड़ जाते हैं। स्वय पाकिस्तान की यह मजबूरी है कि अपने ईरानी और पश्चिम एशियायी सम्पर्कों का लाभ उठाने के लिए वह मध्य-युगीन धार्मिक कठमुल्लेपन के आगे घुटने टेके। वैसे यह भी कोई नई बात नही।

आतंकवाद और भारत-पाक युद्ध का संकट

अक्सर ऐसा होता है कि औपचारिकता के रूप में हर वर्ष की जाने वाली सैनिक कसरतें (चाहे भारत का आपरेशन ब्रासटैक्स हो या पाक का जर्वे मोमिन) युद्ध की आशका को बढ़ा देते हैं। सियाचिन की रस्मी गोलाबारी (जिसका मकसद कडाके की ठड मे 'खून' गर्म रखना है) और फौजी डिवीजनों का एक मुकाम से दूसरे मुकाम को स्थानातरण होता है) विशेषज्ञों को विद्वत्तापूर्ण अटकलें लगाने का मौका देते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि पाकिस्तान का हाथ भारत की दुखती रग पर है। पंजाब हो या कश्मीर, दोनो ही तनावग्रस्त अशान्त क्षेत्रों में अलगाववादी-आतकवादी गतिविधियाँ बिना पाकिस्तानी सहायता, समर्थन और शरण के नहीं चल सकती। यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान ने बगला देश वाला सबक बहुत अच्छी तरह समझ लिया है। जब तक तथाकथित मुक्ति सैनिको के माध्यम से शत्रु पर परोक्ष रूप से विघटनकारी हमला किफायतशारी से चलाया जा सकता है, तब तक पारम्परिक युद्ध की आवश्यकता ही किसे है ? विडंबना तो यह है कि अमरीका भारत और पाकिस्तान को परमाणु के मामले मे एक ही तराजू से तोलता है। बल्कि स्थिति तो यह है कि खस्ता आर्थिक हाल के कारण भारत के लिए यह दबाव ज्यादा दर्दनाक है। पाकिस्तान को इस बात का अहसास भी है कि चुनावो में वर्ण-सघर्ष और साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण भारत मे राजनीतिक स्थिरता, शांति और सुव्यवस्था कंकटाकीर्ण है। वहा के शासक वर्ग का यह सोचना तर्कसगत है कि ऐसी स्थिति में भारत पर दबाव बनाये रखना ही सही रणनीति है।

भी छिद्रान्वेषी ने आज तक प्रश्नचिन्ह नहीं लगाये हैं।[1] अगर और गहरे पैठना हो तो डा० एस० गोपाल द्वारा सम्पादित नेहरू जी के चुनिन्दा कृतित्व के संकलन और 1962 के पहले प्रकाशित सरदार पणिक्कर के संस्मरणों से उस स्थापना की पुष्टि की जा सकती है, जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पहली बात तो यह है कि नेहरू जी को सीमा-विवाद का जनक मानना निपट मूर्खता है। यदि हजारों मील लम्बे दुर्गम हिमालयी सीमान्त में औपनिवेशिक शासक और स्थानीय प्रशासक समुचित सीमा रेखांकन और हदबन्दी नहीं कर सके तो पलक झपकते ही आजाद भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू जी से इस उपलब्धि की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। यह कहना भी गलत है कि इस मामले में नेहरू जी ने देशवासियों को अन्धकार में रखा और उन्हें कुछ पता ही नहीं लगने दिया। पं० हृदय नाथ कुंजरू, डा० राम मनोहर लोहिया आदि जैसे विदेश नीति में गहरी रुचि रखने वाले प्रखर सांसद-राजनेता आँख मूँद कर मुँह खोलने वाले लोग नहीं थे। कांग्रेस पार्टी में ही गोविन्द बल्लभ पन्त और मोरारजी देसाई जैसे महारथी विद्यमान थे, जिनका दक्षिणपन्थी व साम्यवाद-विरोधी नहीं तो उन्हें शक की नजर से देखने वाला रुझान प्रभावशाली था। सरदार पटेल ने नवम्बर, 1950 में ही एक लम्बे पत्र (नोट) द्वारा नेहरू जी को चीनी खतरे के प्रति आगाह करते हुए लिखा था कि चीनी लाल साम्यवादी बनने के बाद और भी 'आसन्न साम्राज्यवादी' साबित हो सकते हैं। 'नये चीन' में पहले भारतीय राजदूत पणिक्कर ने भी यह बात महसूस कर ली थी कि चीनी नेता अपने को ही 'चौधरी' समझते हैं और दूसरों को छुटभैया। यह अन्दाज उनके बर्ताव में झलकता रहता था। यदि समय रहते आसन्न संकट के संकेतों का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सका तो इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि अधिकांश भारतीय राजनयिक और नेता आत्म-मुग्ध और सन्तुष्ट थे। उन्हें लगता रहा कि चीन भी भारत जैसा ही देश है—सुधारवादी, शान्तिप्रिय और परामर्श द्वारा हर समस्या के समाधान के लिए प्रतिबद्ध।

भ्रान्तिग्रस्त भारतीय राजनयिक—नेहरू जी 'चीनी खतरे' से बेखबर नहीं थे। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि चीन में नियुक्त भारतीय राजनयिकों ने अपेक्षित समझदारी बरती। ये भारतीय राजनयिक 'नये चीन' में भारत के औसत-कान के समान थे लेकिन उनमें से कई चीन की वास्तविक स्थिति का सही जायजा लेने में असमर्थ रहे। कई राजनयिकों का आचरण इतना अजीब था कि आज उनको यादकर बरबस हँसी आती है। इन भ्रान्तिग्रस्त भारतीय राजनयिकों के 'राजनयिक आचरण' के बारे में कुछ बातों का यहाँ खुलासा किया जा रहा है।

के० पी० एस० मेनन द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही औपनिवेशिक सरकार द्वारा 'एजेन्ट जनरल' बनाकर पीकिंग (अब बीजिंग) भेज दिये गये। वह पणिक्कर की नियुक्ति तक चीन में भारत के राजदूत रहे। उन्होंने अपने कार्यकाल का एक बड़ा हिस्सा बिताया—गोबी के रेगिस्तान का पैदल नापते। इस घुमक्कड़ी से उन्हें या देश को कुछ रोचक संस्मरणों के अलावा कोई ठोस राजनयिक उपलब्धि हासिल नहीं हुई।

के० एम० पणिक्कर पारम्परिक शैली के राजसी राजनयिक थे। वह

[1] देखें—*Neville Maxwell, India's China War* (Bombay, 1971)

में दुखद परिणति। अनेक विद्वानो का मानना है कि भारतीय विदेश नीति की सबसे बडी असफलता चीन के साथ सम्बन्धो मे बिगाड़ है। इससे नेहरू जी का नादान भोलापन ही नही पता चलता, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे आदर्शवाद की निरर्थकता भी उजागर होती है। आज तक यह घाव छूने पर दर्द करता है। 1979 मे वियतनाम पर हमला करते वक्त चीन ने यह घोषणा की थी कि 'दण्डानुशासन वाली यह कार्रवाई' 1962 के नमूने पर ही की गई थी। इस तरह के वक्तव्यो को अनसुना करना असम्भव है। अर्थात् दशकों बाद भी इस 'संघर्ष' और भारत-चीन सम्बन्ध के विश्लेषण की सार्थकता बनी हुई है।

भारत की चीन नीति : नेहरू जी की नादानी—भारत-चीन सीमा विवाद का जिक्र होने पर कुछ लोगो के तेवर '1962 के अपराधी' ढूंढने वाले होते हैं।[1] अधिकाश आलोचको को लगता है कि भारत-चीन मनमुटाव के घातक विस्फोट की जिम्मेदारी सिर्फ नेहरू जी की थी। कृष्णा मेनन और सरदार पणिक्कर जैसे सलाहकार उन्ही के विश्वासपात्र मित्र थे। पचशील का सपना किसने सच समझा था भला ? चीनी नेताओ के साथ व्यक्तिगत मैत्री के रूमानी शिकजे मे फँसकर बरसो मुग्ध-सन्तुष्ट नेहरू जी के अलावा और कौन रहा था ? ऐसे लोगो की सख्या कम नहीं जो मानते हैं कि भारत-चीन विवाद सिर्फ नेहरू जी की 'भोली-मलमनसाहत', 'नादानी-नासमझी' या 'आत्मघाती अहिंसा' से उपजा था। इनका कहना है कि नेहरू जी का अहकार, सीमान्त के मामले मे उनका ब्रिटिश औपनिवेशिक रवैया तथा कथनी व करनी मे अन्तर दोनो देशो मे अलगाव और अन्ततः शत्रुता पैदा करने को काफी थे। मैक्सवेल और लोर्न काविक जैसे लोगों को नेहरू 'शान्तिदूत' नही, बल्कि 'मक्कार' लगते हैं। 'टकराव' का रास्ता मानों उन्होने स्वय चुना था और बेचारे चीनी मुँह तोड जवाब देने को विवश रहे हों।

1962 के बाद 'सफाइयो' व बचाव पक्ष की दलीलो के नमूने पर बड़े पैमाने पर आत्मकथाएँ प्रकाशित हुईं। इनमे जनरल कौल की 'अनकही कहानी' तथा इन्टेलीजेंसी ब्यूरो के बी० एन० मलिक की 'माई इयर्स विथ नेहरू : दि चायनीज बिट्रेयल' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] परन्तु इनमे उपलब्ध जानकारी को 'प्रामाणिक' सिद्ध करना कठिन है। मोर्चे पर उससे पहले भी जनरल कौल का आचरण विवादास्पद रहा। मलिक के ऊपर यह आरोप लगाया जा सकता है कि उनके विभाग की लापरवाही और असफलता ने ही सेना की तैयारी को कमजोर किया था। चूक के बाद अपनी होशियारी और दूसरो की कमियाँ-गलतियाँ दर्शाने का लालच ये लोग नही छोड़ पाये। जनरल निरजन सिंह, मुखवन्त सिंह आदि की पुस्तकें 1962 के दुःस्वप्न पर नई रोशनी जरूर डालती है, परन्तु हमारी समझ में उनका मूल विषय सैनिक इतिहास, रण सचालन और समर नीति है। मामले की तह तक पहुँचने के लिए हमें मैक्सवेल और लोर्न काविक द्वारा जुटाई सामग्री उपयोगी लगती है। मैक्सवेल की India's China War और लोर्न काविक की 'India's Quest for Security' मे प्रकाशित दस्तावेजो की प्रामाणिकता पर किसी

[1] देखें—D. R. Mankekar, *The Guilty Men of 1962* (Bombay, 1968) और Brigadier J. P. Dalvi, *The Himalayan Blunder* (Bombay, 1970).

[2] देखें—General B. M. Kaul, *Untold Story* (Bombay, 1971) और B. N. Mullick, *My Years with Nehru, 1948–1964* (Bombay, 1972).

जा दुबके तो अनुवादक सैनिक विद्यालयों में। 1962 के बाद चीनी पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने पर रोक लगा दी गयी। इस प्रकार 'चीन विद्या विशारदों' की एक पूरी पीढ़ी निकम्मी बना दी गयी।

1962 के बाद लगभग एक दशक तक अमरीका को यह लगता रहा कि उसके चीन विषयक सामरिक हितों का संयोग भारत के साथ हो रहा है। इस दौरान 'भारतीय चीन विशारदों' की एक नई पौध तैयार की गयी। फोर्ड निधि की उदारता से इनकी विधिवत दीक्षा कैलिफोर्निया आदि में हुई। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से स्थापित चीनी अध्ययन विभागों में ऐसे कोई आधा दर्जन लोग आज भी प्रतिष्ठित हैं। इनका 'विश्लेषण' अपने अमरीकी सहकर्मियों के रुचि-रुझानों और स्थापनाओं को ही प्रतिबिम्बित करता है। चीन के बारे में जानकारियों, चीन विषयक प्रकाशनों, विदेश भ्रमण आदि के लिए अमरीकी सेतु की उपयोगिता बनाये रखना ही इनमें से अधिकांश को 'राष्ट्र-हित' नजर आता है। कुछ को यह भी लगता है कि जब तक भारत-चीन सम्बन्ध तनावपूर्ण रहते हैं, तभी तक उनकी पूछ होगी। निश्चय ही, भारत-चीन विवाद का निबटारा इन 'पण्डितों' के रोषपूर्ण कृपा कटाक्षों या इनके स्वयं प्रचारित 'सिल्वर-राजनय' पर निर्भर नहीं, तथापि ठकुर-सुहाती कहने-सुनने का लालच और विषय को अनावश्यक रूप से दुरूह-गहन बनाना सिर्फ घातक भ्रान्तियों को ही पनपा सकता है।

भारत-चीन सीमा विवाद : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य—भारत व चीन में सीमा विवाद एवं मतभेद काफी पुराने हैं। हालांकि दोनों देशों का स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में अभ्युदय लगभग एक साथ हुआ, किन्तु राष्ट्रीय हितों के टकराव से उनमें मतभेद की दीवार खड़ी होने में अधिक देर नहीं लगी। पश्चिमी देशों ने साम्यवाद-विरोध की रणनीति के तहत कई वर्षों तक साम्यवादी चीन की सरकार को मान्यता नहीं दी और संयुक्त राष्ट्र संघ में उसका प्रवेश नहीं करने दिया। जबकि ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भारत ने चीन का पक्ष लिया और विभिन्न मंचों पर उसे संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने की जोरदार वकालत की। 1954 में 'हिन्दी-चीनी, भाई-भाई' के नारे लगे और 1955 में इण्डोनेशिया के बाण्डुग नगर में हुए अफ्रो-एशियाई सम्मेलन में नेहरू जी ने चीनी नेता चाऊ एन लाई की भरपूर सराहना की। मगर 1955 के बाद चीन ने भारत से मिलने वाली सीमाओं पर अपनी सैनिक गति-विधियाँ तेज कर दीं और 1956 में अक्साई चिन में सैनिक महत्व की एक सड़क बना ली। चीन ने इस सड़क का निर्माण दीर्घकालिक योजना के तहत किया, जिसमें पाकिस्तान से स्थल मार्ग द्वारा सीधा सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक था, ताकि भारत के साथ चीन सदैव सौदेबाजी की स्थिति में रहे। चीन ने पाकिस्तान के साथ स्थल मार्ग को जोड़ते हुए काराकोरम सड़क का कुछ वर्षों पूर्व निर्माण किया, जिससे उक्त योजना की ही पुष्टि होती है।

1956 से चीन भारत की हजारों वर्ग मील भूमि पर अपने दावे जताता रहा है। उसने ये दावे गलत नक्शों के प्रकाशन, भारतीय सीमा में अवैध घुसपैठ, सरकारी बयानों आदि के जरिये उठाए। 1957–58 में सीमान्ती गश्ती दस्तों के बीच जो आमने-सामने मुठभेड़ें हुईं, वे भारत की अग्रगामी नीति (Forward Policy) का नतीजा बतायी जाती हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सीमा पर सफ्रवाल वाली पहल नेहरू जी ने की थी। हाँ, यह अवश्य प्रकट होता है

सुसंस्कृत, सुरुचिपूर्ण और बौद्धिक भद्र पुरुष थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में विस्तार से इस बात का वर्णन किया है कि कैसे गृह-युद्धरत चीन में संस्कृत नाटकों का मलयालम में अनुवाद कर वह अपने को व्यस्त रखते थे। उन्होंने ठाले बैठे (अधिकतर पश्चिमी) राजनयिकों के मनोरंजन के लिए एक 'ताश क्लब' भी चलाया। उनके शिकवे-शिकायतें इस तरह के भी मिलते हैं कि क्रान्ति के बाद चीन में नौकर कितने महँगे और सरचढे हो गये थे। ऐसे मिजाज वाले राजदूत को देखकर यदि चीनी नेता भारत को सामन्ती बेडियों में जकडा समझते रहे तो उन्हें ज्यादा दोष नहीं दिया जा सकता।

मेनन और पणिक्कर के कार्यकाल में जो 'तेजस्वी' होनहार युवा राजनयिक चीन में कार्यरत थे उनके पराक्रम भी विचित्र नहीं। प्रोफेसर जयन्तनुज बंद्योपाध्याय (जो स्वयं राजनयिक रह चुके हैं) ने अपनी पुस्तक में वह प्रसंग दिया है, जब इन्द्रजीत बहादुर सिंह ने चाऊ एन लाइ की 'राजनयिक' चुनौती 'माओ ताई' (चावल की शराब) पीने के मोर्चे पर स्वीकार की थी और उन्हें चित्त कर दिया था। इस तरह की अपनी उपलब्धि का सगर्व वर्णन टी० एन० कौल ने अपनी जीवनी 'शान्ति और युद्ध का राजनय' (Diplomacy in Peace and War) में किया है जब उन्होंने एक बार राष्ट्र हित में अपना जिगर जलाते हुए शराब के 18 प्याले गटक किये थे। पता नहीं ये यथार्थवादी-अनुभवी राजनयिक कैसे यह समझ रहे थे कि अतिशय शिष्टाचारी, सामन्ती और औपनिवेशिक शैली अपनाना क्रान्तिकारी चीन में लाभ का काम सिद्ध होगा? इस तरह के सहयोगियों से पते की बात कैसे मालूम हो सकती थी?

कृष्णा मेनन ने माइकल ब्रेशर के साथ जो लम्बी बातचीत की, उसके प्रकाशन से भी यही पता चलता है कि भारत व चीन के बीच राजनयिक संस्कार और शैली के टकराव ने सीमा विवाद को विकट बनाया। कृष्णा मेनन ने यह बात बेहिचक स्वीकार की है कि नेहरू जी और वह (स्वयं) अंग्रेजों-अमरीकियों के साथ बात करना सहज पाते थे। चाऊ एन लाई को वह सुलझा हुआ, संसदीय प्रणाली में निष्ठा रखने वाला उदारपंथी व मध्यममार्गी समझते थे। पता नहीं चीनी गृह युद्ध व साम्यवादी क्रान्ति के इतिहास से सुपरिचित होने के बावजूद उन्होंने किस आधार पर ऐसी मान्यता बनाई थी?[1]

चीन के बारे में हमारी आधी-अधूरी जानकारी के लिए सिर्फ राजनेता, नौकरशाही और राजनयिक ही जिम्मेदार नहीं थे। बुद्धिजीवी और विशेषज्ञ बिरादरी ने भी देश को निराश ही किया है। इस सन्दर्भ में नेहरू युग के अनुभव की याद ताजा रखना आज भी सार्थक है और भविष्य के लिए भी उपयोगी। 'हिन्दी-चीनी, भाई-भाई' वाले वर्षों में बड़े पैमाने पर शिष्टमण्डलों, विद्वानों एवं छात्रों का आदान-प्रदान हुआ। इनमें से कुछ ने उल्लेखनीय विशेषज्ञता भी हासिल कर ली। परन्तु भारत-चीन सम्बन्धों में तनाव बढ़ने के साथ ही ये रातों-रात 'चीन के मित्र' व देशद्रोही के रूप में घूरे जाने लगे। कुछ ने चुप्पी साध ली तो कुछ ने जान बचाने या ऊपर उठकर आगे बढ़ने को सरकार का दामन थाम लिया। सरकारी गोपनीयता के अनुष्ठान ने बची-खुची कमर पूरी कर दी। दुभाषिये लोग विदेश मन्त्रालय में

[1] Michael Brecher, *India and World Politics: Krishna Menon's View of the World* (London, 1968)

ख्रुश्चेव के 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' का स्थान नहीं था। ऐसी हालत में जब सोवियत संघ की घनिष्ठता साम्यवादी भाई (चीन) की जगह तटस्थ मित्र (भारत) के साथ बढ़ने लगी तो चीन का धैर्य पूरी तरह चुक गया। चीनी नेताओं ने अपने तत्कालीन वक्तव्यों में यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की है।

अक्साई-चिन सड़क का सामरिक महत्व चीन के लिए भारत के सन्दर्भ में नहीं, बल्कि इससे इतर वृहत्तर सन्दर्भ में ही है। लोप नौर (सिक्यांग प्रांत) में चीन का प्रक्षेपास्त्र परीक्षण स्थल है और मुक्त तिब्बत को नियन्त्रण में रखने के लिए भी इस संचार व यातायात सुविधा की आवश्यकता पड़ती है। कुछ लोग यह अटकल लगाते हैं कि यदि नेहरू जी चाहते तो 'अक्साई-चिन' देकर नेफा ले सकते थे। परन्तु इस तरह की लालबुझक्कड़ी आज निरर्थक है। सबसे पहला सवाल तो यह कि क्या नेहरू जी को ऐसा करने दिया जाता? कहने को तो यह भी कहा जा सकता है कि यदि कश्मीर की घाटी पाकिस्तान को सौंप दी जाये तो क्या भारत-पाक विवाद का हल हो जायेगा? कोई भी सरकार इस तरह का 'समझौता' करने के बाद क्या बची रहेगी? असल में 'रियायतों' से विस्तारवादियों को रोका-थामा नहीं जा सकता। 1936 के म्यूनिख प्रसंग की याद आज भी ताजा है। नेफा वाला पूर्वोत्तरी सीमान्त भी चीन के लिए सिर्फ भारत के सन्दर्भ में नहीं, बल्कि बंगला देश, भूटान आदि के सन्दर्भ में सामरिक महत्व का है। चीनी लोग यहाँ बसने वाली जन-जातियों के साथ अपने 'रक्त सम्बन्धों' की विशेषता याद रखते रहे हैं। भले ही छापामार-आतंकवादी मुक्ति सैनिक कार्रवाई देंग सियाओ पिंग के चीन में फिलहाल विश्व-क्रान्ति का अभिन्न हिस्सा न हो, लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस भू-भाग (नेफा) में अशान्ति और अस्थिरता चीन के लिए उपयोगी बने रहते हैं।
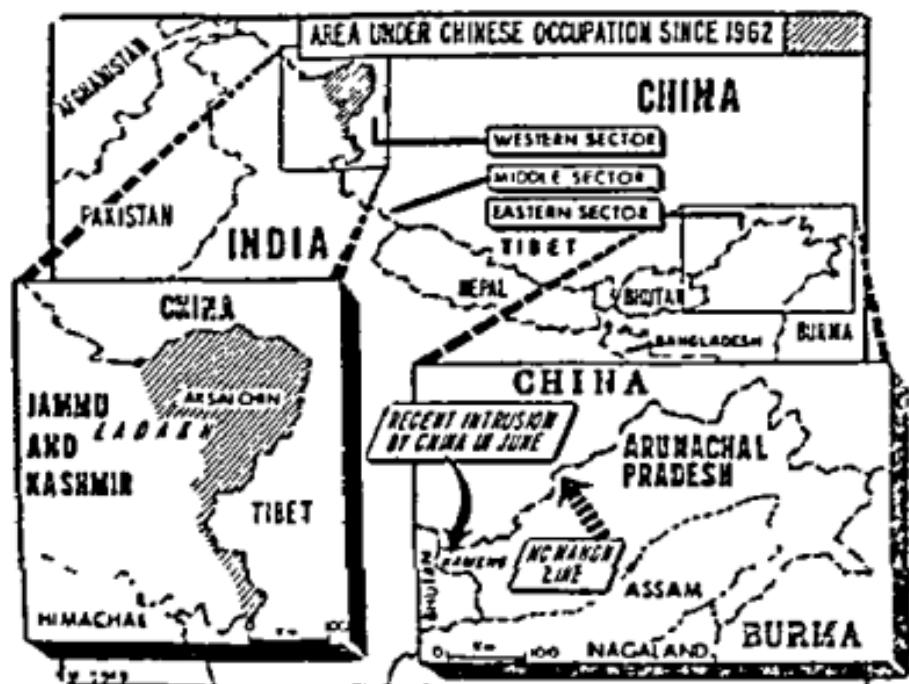
सन् 1962 के बाद चीन के अधिकार में भारतीय भूमि

कि नेहरू जी हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे थे। भारत की अग्रगामी नीति बदले परिवेश में उपनिवेशवादी विस्तारोन्मुख नहीं, बल्कि प्रतिरक्षात्मक थी। सरहद पर सजग रहे बिना चीनी घुसपैठ को नहीं रोका जा सकता था और न ही अनधिकृत कब्जे को। यह आलोचना भी तर्कसंगत नहीं कि तब भारत ने शुरू से ही जुझारू तेवर क्यों नहीं अपनाये ? चीन को 1950 में ही चुनौती क्यों नहीं दे दी गई ? आखिर खाली खम ठोकने-ललकारने से क्या हासिल हो सकता था, जब हाथ में अस्त्र ही नहीं था ? तथ्य यह है कि आजादी के साथ ही आया था—देश का रक्त-रंजित विभाजन और कश्मीर के मोर्चे पर युद्ध। शरणार्थियों का पुनर्वास, साम्प्रदायिक सद्भाव का सृजन, देश का एकीकरण (रियासतों-रजवाड़ों के विलय के बाद), संविधान निर्माण, आम चुनाव की नींव पर जनतन्त्र का शिलान्यास और दरिद्रता से पिण्ड छुड़ाने के लिए परमावश्यक आर्थिक नियोजन ऐसी चुनौतियाँ थी, जिनमें से किसी की प्राथमिकता नहीं बदली जा सकती थी। यदि चीन के साथ टकराव को टालने और विवाद को शान्तिपूर्ण परामर्श से निबटाने का प्रयत्न किया गया तो इसे दूरदर्शिता ही समझा जाना चाहिए। साथ ही यदि भारतीय सैन्य-शक्ति बढ़ाने का अभियान जारी रहा तो इसे समझदारी ही कहा जा सकता है, पाखण्ड नहीं।

'हिन्दी-चीनी, भाई-भाई' वाले दौर तथा 'पंचशील' प्रकरण का मूल्यांकन इसी परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए। नेहरू जी की कोशिश यह रही कि यदि चीन को अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी में प्रविष्ट कराया जाये तो उसे सर्वसम्मत राजनयिक आचरण के लिए बाध्य किया जा सकेगा। कोरिया युद्ध, जेनेवा शान्ति सम्मेलन और बाडुंग सम्मेलन में यदि नेहरू जी ने चीन का पक्ष लिया तो इसके लिए व्यक्तिगत मैत्री नहीं, बल्कि राष्ट्र हित की गणना महत्वपूर्ण थी। नेहरू जी की मैत्री सन यात सेन एवं चाग काई शेक परिवारों से थी, साम्यवादी छापामारों से नहीं। नेहरू, अन्य भारतीय राष्ट्रवादी नेता और स्वतन्त्रता सेनानी भारत की आजादी की लड़ाई को उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्वव्यापी संघर्ष का हिस्सा समझते थे। स्पेन हो या चीन, सोवियत संघ हो या इण्डोनेशिया, उत्पीड़न एवं शोषण के उन्मूलन में भारत की हिस्सेदारी जरूरी समझी जाती थी। यह सही भी था।[1]

भारत-चीन सम्बन्धों की अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि—भारत-चीन सीमा विवाद सिर्फ दो देशों के बीच का मामला नहीं है। इसके बहुपक्षीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनयिक और भू-सामरिक पक्ष भी हैं, जो शायद सबसे महत्वपूर्ण हैं। चीनियों का महाशक्ति मद, जातीय अहंकार व विदेशियों के प्रति तिरस्कार सिर्फ भारत को ही भारी नहीं पड़ा है बल्कि सोवियत संघ भी इसकी चपेट में आया है। 1960 तक रूस-चीन मतभेद कटुतापूर्ण ढंग से उभरने लगे थे। उनके बीच सीमा विवाद ने शीघ्र ही इतना खतरनाक रूप ले लिया कि चीनी नेता सोवियत संघ को पहले नम्बर का शत्रु समझने लगे और भविष्य में सम्भावित संघर्ष के लिए सामरिक तैयारी में जुट गये। चीनी नेता इस बात से खिन्न हुए कि स्टालिनवाद के विस्थापन के पहले उनसे सलाह-मशविरा नहीं किया गया। सोवियत संघ परमाणु अस्त्रों के निर्माण में चीन को समर्थ बनाने से कतराता रहा। वह ताइवान को मुक्त कराने के लिए परमाणु अस्त्रों के प्रयोग या इसकी धमकी देने के लिए तैयार नहीं हुआ। माओवादी विश्व दर्शन में

[1] A. Appadorai and M.S. Rajan, *India's Foreign Relations* (Delhi, 1985).

सामरिक व वैज्ञानिक उपलब्धियाँ उल्लेखनीय रही। चीनियो ने उद्जन बम (हाइड्रोजन बम) बना लिया और इसे दूरस्थ निशानों तक पहुँचाने वाला प्रक्षेपास्त्र भी। इससे चीन कम से कम आधी महाशक्ति के रूप मे तो प्रतिष्ठित हो ही गया। इस विवरण से यह समझना गलत होगा कि श्रीमती इन्दिरा गाधी ने सहम कर फरवरी, 1976 मे एक बार फिर चीन की ओर दोस्ती का हाथ बढाया। इन्ही वर्षों मे भारत ने भी स्वय को दक्षिण एशिया के प्रमुख राष्ट्र के रूप म स्थापित कर लिया। हरित क्रान्ति ने विदेशी सहायता पर हमारी दु खद-अपमानजनक निर्भरता का अन्त कर दिया। 1971 के सैनिक अभियान ने 1962 की ग्लानि से भी भारतवासियो को मुक्ति दिलायी। मई, 1974 मे पोखरन मे परमाणु परीक्षण ने यह दर्शा दिया कि वैज्ञानिक क्षमता मे भारत किसी भी विकासशील राष्ट्र से पीछे नही। नेहरू व शास्त्री की मृत्यु के बाद सत्ता के सहज हस्तान्तरण, गैर-काग्रेसवाद के उदय और परमाणु परीक्षण ने भारतीय जनतन्त्र की जडो की मजबूती प्रमाणित कर दी। श्रीमती गाधी ने 1976 म चीन के साथ सम्बन्धो के सामान्यीकरण के लिए पहल की और बीजिंग मे भारतीय राजदूत नियुक्त किया। यह पहल अविवेकी या दुस्साहसिक नही, बल्कि आत्मविश्वासपूर्ण कदम था। जब बीजिंग मे 14 वर्ष बाद भारतीय राजदूत के रूप मे के० आर० नारायणन को भेजा गया तो 'सम्भावनाओ' के साथ 'सीमाओ' का अहसास भी श्रीमती गाधी और उनके सलाहकारो को था।

जनता सरकार की चीन सम्बन्धी पहल—जनता सरकार के काल मे तत्कालीन विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी कुछ चमत्कार दिखलाने को व्यग्र रहे। चीन यात्रा के निमन्त्रण को स्वीकार करने मे उन्होंने कुछ ज्यादा ही उतावली दिखाई। फरवरी, 1979 की इस यात्रा के दौरान चीन ने वियतनाम पर अचानक हमला बोल दिया। अत वाजपेयी को अपने दौरे मे कटौती कर स्वदेश लौटना पडा।

जनवरी, 1980 मे इन्दिरा गाधी के दुबारा गद्दी सभालने तक माओ चीनी राजनीतिक रगमच से बिदा हो चुके थे। 'चार्ट गिरोह' या 'चौकडी' का सफाया शुरू हो चुका था। चीन के नए शासक देंग सियाओ पिंग ने माओवाद को तिलाजलि देने के साथ-साथ 2000 ई० तक 'चार आधुनिकीकरण' का लक्ष्य अपने देशवासियो के लिए तय कर दिया। इस कार्यक्रम की पूर्ति के लिए अमरीका और एकाध अन्य तकनीकी-वित्तीय दृष्टि स सम्पन्न राष्ट्रो के अलावा किसी धुर्मविनक साथी की चीन को जरूरत नही रही। इस बदले सन्दर्भ म भारत के साथ सम्बन्धो का सामान्यीकरण चीन के लिए बहुत सीमित महत्व का प्रश्न रह गया। भारत भी अब चीनी भाव भगिमा को कम अहमियत देता है। यह सयोग नही की बीच मे काफी दिनों तक चीन मे भारतीय राजदूत का पद खाली रहा।

सीमा विवाद के हल के लिए प्रस्ताव—भारत-चीन सीमा विवाद के हल के लिए अब तक प्रमुख रूप स तीन प्रस्ताव सामने आये हैं—कोलम्बो योजना, एकमुश्त समझौता और क्षेत्र दर क्षेत्र निपटारा (Sectorwise Approach)। इन प्रस्तावो की विस्तृत चर्चा के पूर्व सीमा विवाद के मसलो को स्पष्ट करना उचित होगा। इस सीमा विवाद को तीन हिस्सों म बाँटा जा सकता है—पश्चिमी, मध्य, और पूर्वी भाग। पश्चिमी भाग म दोनो देशो की 1600 किलोमीटर लम्बी सीमा है, जो जम्मू-कश्मीर को चीन के सिक्यांग तथा तिब्बत के इलाका से अलग करती है। इसमे लगभग 25 हजार वर्ग किलोमीटर भू-भाग विवादास्पद है, जिसम पेगोग झील के

सारी हिमालयी सरहद संकटग्रस्त रहने पर नेपाल पर दबाव बना रहता है। इस तरह दक्षिण एशिया प्रायद्वीप की प्रमुख शक्ति भारत को 'व्यस्त' कर चीनी नेता अपनी अनूठी अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका के बारे में निश्चिन्त हो सकते हैं।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि भारत-चीन सीमा विवाद को नेहरू युग की एक कटु याद के रूप में देखने की जरूरत नहीं। भारत-चीन सैनिक मुठभेड़ निश्चय ही दुर्भाग्यपूर्ण थी और जिन वीर सैनिकों ने देश के सम्मान तथा जमीन की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दी, वे चिर-स्मरणीय रहेंगे। तथापि इतिहास इस बात का साक्षी है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत रुचि-रुझान और दूरदर्शी सूझबूझ ही सबसे महत्वपूर्ण तत्व नहीं होते। राष्ट्र हित का सम्पादन कभी-कभार ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम और वृहत्तर सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन-प्रवृत्तियों पर निर्भर होता है, जिन्हें हमेशा स्वेच्छानुसार नहीं मोड़ा जा सकता। इस बारे में जरूरत से ज्यादा क्षुब्ध होना व्यर्थ है।

इन्दिरा युग में भारत की चीन नीति—श्रीमती इन्दिरा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के उक्त यथार्थ को भली-भाँति समझती थी। उन्होंने चीन के बारे में कभी कोई 'भ्रम' नहीं पाला। प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के साथ ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि भारत चीन के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहता है, परन्तु आत्म सम्मान गवाकर या राष्ट्रहित की बलि देकर नहीं। उन्होंने इस सिलसिले में कुछ बेहद विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ की है, जिनका यहाँ उल्लेख उपयोगी होगा। श्रीमती गांधी की राय में भारत-चीन संघर्ष को सिर्फ सीमा-विवाद समझना अति सरलीकरण है। *समसामयिक या परवर्ती घटनाक्रम, चीन द्वारा भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को समर्थन,* आन्तरिक विग्रह को प्रोत्साहन आदि हमें यही सोचने को विवश करते हैं। 'सीमा विवाद' एक जटिल नीति का हिस्सा था—भारत को अस्थिर बनाने और उसकी प्रगति को अवरुद्ध करने वाली रणनीति का अंग। तथापि 1971 तक भारत ने इस बात को जगजाहिर कर दिया था कि उसकी इच्छा कटु याद को कुरेदने की नहीं, बल्कि शान्तिपूर्ण ऐतिहासिक मैत्री को मधुर स्मृति को ताजा रखने की है। श्रीमती गांधी ने चीन को आश्वस्त करते हुए बार-बार यह बात दोहराई कि भारत की चीन के साथ कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है, और न ही उसके इरादे जुझारू हैं। परन्तु बंगला देश मुक्ति संग्राम के दौरान यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई कि चीनी नेतागण बीती को बिसारने को तैयार हैं। इस प्रकार, बर्फ पिघलने के पहले पाला फिर से पड़ जाने से वह सख्त हो गयी। ऐसी स्थिति में सिर्फ यह आशा व्यक्त करने के सिवाय और किया भी क्या जा सकता था कि एक न एक दिन भारत के अस्सी करोड़ लोगों के साथ एक अरब चीनियों के हितों का संयोग और उनके बीच 'सहकार' सम्भव होगा।

1972 के आरम्भ में तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री किसिंजर के जोड़-तोड़ के बाद राष्ट्रपति निक्सन की चीन यात्रा सम्पन्न हुई और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समीकरण तेजी से बदलने लगे। यों पहले ही उसूरी नदी के तट पर 1969 में सोवियत-चीन मुठभेड़ हो चुकी थी और 1971 में भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि के बाद चीन के साथ निकट भविष्य में सम्बन्ध सुधार की आशा धूमिल हो गयी थी। अमरीका द्वारा 'पहचान' लिए जाने के बाद, सं० रा० संघ की सुरक्षा परिषद का सदस्य बन जाने के साथ चीनी दृष्टिकोण सिर्फ एशियाई नहीं रह गया था। इन वर्षों में आन्तरिक राजनीति में विप्लवी उथल-पुथल के बावजूद चीन की

सफलता' जरूर मिली। चीन ने पांच पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त पेश किये—बराबरी, मैत्रीपूर्ण वार्ता, लेन-देन की भावना, उचित एवं व्यापक फैसला। भारत ने छह सिद्धान्त प्रस्तुत किये—सीमा विवाद का शीघ्र हल, दोनो पक्षो के हित सामने रखना, वार्ता के लिए सर्वसम्मत तरीका तय करना, एक-दूसरे के सुझावो पर विचार करना, हल के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करना और क्षेत्रवार निर्णय। हालांकि दोनो देशो ने एक दूसरे के ये सिद्धान्त मंजूर नहीं किये, फिर भी यह माना कि सीमा समस्या का हल ढूंढ़ते वक्त वहाँ के ऐतिहासिक, परम्परागत और रीति रिवाज के पहलुओ को भी सामने रखा जाये तथा एक-दूसरे के इलाके पाने के लिए 'बल प्रयोग' न हो। पाँचवें, छठे और सातवें दौर की वार्ताएँ बिना किसी ठोस नतीजे के समाप्त हो गईं। वार्ता के आठवें दौर मे भी कोई ठोस प्रगति होने की सार्वजनिक घोषणा नही हुई। हाँ इससे राजनीतिक स्तर पर वार्ता होने की आशा जरूर बँधी।

यहाँ सवाल उठना स्वाभाविक है कि जब सीमा विवाद से सम्बन्धित वार्ताओ मे उल्लेखनीय प्रगति नही हो रही है क्यो नही आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रो मे सहयोग बढाने का कार्य तेजी से किया जाये ताकि सम्बन्ध सुधार के साथ-साथ सीमा विवाद के हल के लिए भी अनुकूल वातावरण तैयार हो। चीन इसी तर्क पर जोर देता रहा है और उसने जून, 1985 मे पेशकश की कि भारत ल्हासा और शघाई मे वाणिज्य दूतावास खोले दे, जिसके बदले चीन भी कलकत्ता और बम्बई में ऐसे दूतावास स्थापित कर लेगा। चीन ने उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों मे विद्रोहियो को समर्थन देना लगभग बन्द कर दिया है। उसके प्रचार-प्रसार माध्यमो में भारत-विरोधी अभियान नहीं चल रहा है। वह कश्मीर का मसला न उछालते हुए उस भारत-पाक का द्विपक्षीय मामला बता रहा है और उसने कैलास-मानसरोवर म भारतीय तीर्थ यात्रियो के प्रवेश की इजाजत दे दी है। किंतु इस सिल-सिले मे कोरी आशावादिता बेकार है, क्योकि पिछले दस सालो मे इस तीर्थ यात्रा के स्वरूप मे कोई विस्तार नही हुआ है। न तो तीर्थ यात्रियो की सख्या में वृद्धि हुई है और न ही इन पर चीनी सरकारी निगरानी म कोई कमी आयी है। बरास्ता नेपाल दुनिया भर के विदेशी तिब्बत जा सकते हैं, परन्तु आम भारतीयों पर इसके लिए प्रतिबन्ध लागू है।

खेद का विषय यह है कि भारत-चीन सीमा समस्या की गुत्थी इतनी पेचीदा समझी जाने लगी है कि लोग यह मानकर चलते हैं कि इस कोई सुलझा ही नही सकेगा। इसीलिए कोई 'पेशेवर राजनयिक' बीजिंग मे भारत का राजदूत बनकर अपनी प्रतिष्ठा या भविष्य को दाँव पर नही लगाना चाहता। यदि कभी वेंकटेश्वरन या के० पी० एस० मेनन जैसे योग्य व्यक्ति नियुक्त किये भी जाते हैं, तो ज्यादा दिन तक रखे बिना उन्हे वापस बुलाये भारत का काम नही चलता। यही बात कमोबेश अन्य राजनेताओं पर लागू होती है। रक्षा मन्त्री हो या विदेश मन्त्री, सभी जानते है कि जडता तोडने वाला कदम सिर्फ प्रधानमन्त्री ही उठा सकता है। शायद इसीलिए कोई अन्य व्यक्ति सामान्यीकरण की दिशा मे कोई सार्थक कदम नही उठाता। किसी भी भारतीय प्रधानमन्त्री की विवशता यह है कि जब तक 'अनुकूल जमीन' तैयार न दिखायी दे, तब तक असफलता का जोखिम उठाना उसे समझदारी नही लगती।

भारत और चीन के बीच सीमा वार्ता के अब तक नौ दौर बिना किसी ठोस नतीजे के समाप्त हो चुके हैं। हरेक दौर के बाद राजनयिक शिष्टाचार निभाते हुए

निकटवर्ती अक्साई चिन तथा चिंगहेतम घाटी के क्षेत्र शामिल हैं। मध्य भाग मे करीब 650 किलोमीटर लम्बी सीमा है, जो हिमाचल प्रदेश मे स्पीति, बाराहोती और नीलाग के पहाड़ी क्षेत्रों को अलग करती है। इसमे केवल 1600 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र विवादास्पद है। पूर्वी भाग में 1100 किलोमीटर लम्बी सीमा है, जिसे मेकमोहन रेखा कहा जाता है। यह नेफा (वर्तमान मे अरुणाचल प्रदेश) को तिब्बत से अलग करती है। इसमे लगभग 50 हजार वर्ग किलोमीटर जमीन विवादास्पद है।

1. कोलम्बो योजना—1962 की सैनिक भिड़न्त के कुछ समय बाद ही सीमा विवाद के हल के लिए छह अफ्रो-एशियाई देशो ने कोलम्बो योजना पेश की। इसमे तत्कालीन मौजूदा स्थिति को समझौते का आधार मानने पर बल दिया गया। चीन से कहा गया कि वह पश्चिमी क्षेत्र से अपनी सेना 20 किलोमीटर पीछे हटा ले और इस क्षेत्र मे दोनो देशो का नागरिक प्रशासन कायम हो। पूर्वी क्षेत्र मे यथास्थिति का सुझाव दिया गया। मध्य क्षेत्र मे 'लेन-देन' का रवैया अपनाते हुए वार्ता के जरिए हल की बात कही गयी। भारत यह योजना मानने को तैयार था, लेकिन चीन ने साफ इन्कार कर दिया, जिससे यह योजना खटाई में पड़ गई और उसके बाद सीमा-वार्ता के दौरान इसके जरिये हल की बात कभी नही उठी।

2. एकमुश्त समझौता—चीन सीमा विवाद के हल के लिए एकमुश्त समझौते की पेशकश (Package Deal Proposal) लम्बे समय तक करता रहा है। 1960 में चीन के तत्कालीन प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई ने सर्वप्रथम यह प्रस्ताव रखा था, जिस पर पिछले कुछ वर्षों से देंग सियाओ पिंग भी जोर देते रहे है। इसके तहत कहा गया कि सीमा विवाद के हल के लिए दोनो पक्ष एक-दूसरे को कुछ भू-भाग की छूट दें। चीन पूर्वी क्षेत्र में भारत को कुछ छूट दे और भारत चीन को 'वास्तविक नियन्त्रण वाले इलाके' के आधार पर पश्चिमी क्षेत्र मे। मौजूदा नियन्त्रण के तहत चीन पूर्वी क्षेत्र मे मेकमोहन रेखा को मान ले और भारत 1962 मे पश्चिमी क्षेत्र मे चीन द्वारा जबरन हथियाये गये अक्साई चिन और और अन्य क्षेत्रो पर चीन का अधिकार मजूर कर ले। इसका मतलब यह हुआ कि इस एकमुश्त समझौते से भारत को न केवल अक्साई चिन, बल्कि 5000 वर्ग मील वाले उस अतिरिक्त इलाके से भी हाथ धोना पड़ेगा, जो 1962 के सैनिक-संघर्ष के दौरान चीन ने भारत से हड़प लिया था। इसी कारण भारत इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार करता रहा है।

3. क्षेत्र दर क्षेत्र निपटारा—भारत सीमा विवाद का हल क्षेत्र दर क्षेत्र के हिसाब (Sectorwise Approach) से चाहता है। हालांकि इसका विस्तृत ब्योरा अभी तक स्पष्ट नही किया गया है, किन्तु भारत मोटे तौर पर चाहता है कि दोनो देश पूर्वी और मध्य देशो के विवादास्पद इलाको का निपटारा पहले करें क्योकि इनके हल मे जटिल पेचीदगियाँ नही खड़ी होंगी। तत्पश्चात् पश्चिमी क्षेत्र के समाधान पर बातचीत आरम्भ की जाये। मगर चीन ने क्षेत्र दर क्षेत्र निपटारे का प्रस्ताव नही माना।

जब दोनो देशो ने एक-दूसरे के प्रस्तावो को नही माना तो अधिकारी-स्तर की वार्ताओं मे इस बात पर ध्यान केन्द्रित किया गया कि सीमा विवाद के समाधान के लिए पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त (guide lines) क्या हों? अब तक हुए वार्ता के नौ दौर मे से पहले तीन दौर मे कोई खास प्रगति नही हुई, मगर चौथे दौर मे 'मामूली

दोनों देशों को चाहिए कि वे इन वार्ताओं के पूर्व वैकल्पिक तौर पर एक-दूसरे को मान्य होने वाले ठोस प्रस्ताव तैयार करने पर ध्यान केन्द्रित करें। इससे सीमा-विवाद के विभिन्न जटिल पहलुओं पर ठोस बातचीत में मदद मिलेगी।

यह भी सोचने की बात है कि मान लीजिए भारत चीन सम्बन्ध एक बार फिर से पूर्ववत मधुर हो जाते हैं तो वे कितना देर ऐसे ही बने रहेंगे? 'चीनी स्वभाव', 'परम्परा', 'जातीय स्मृति', 'ऐतिहासिक अनुभव' आदि के बारे में अति सरलीकृत निष्कर्षों का जोखिम उठाये बिना यह अटकल लगाई जा सकती है कि समर्थ शक्ति के रूप में चीन का उभरना पड़ोसियों के लिए एक पेचीदा चुनौती पेश करेगा। छोटे दुर्बल पड़ोसी आसानी से समझौता कर सकते हैं, क्योंकि उनके पास और कोई विकल्प नहीं होता। भारत के लिए यह सम्भव नहीं। भारत-चीन सम्बन्धों का गणित अनिवार्यतः चीन रूस और चीन अमरीका के समीकरणों से जुड़ा हुआ है। स्मृतियों की कटुता या मानुष की बात की इस हिसाब में कोई जगह नहीं। फिलहाल दोनों पक्षों के लिए आवश्यकतानुसार सुचालित औपचारिक उभयपक्षीय राजनय ही लाभप्रद होगा। नेहरू युग के अनुभव और उसके बाद के दशकों के घटनाक्रम से यही सबक मिलता है।

भारत श्रीलंका सम्बन्ध
(Indo-Srilanka Relations)

भारत व श्रीलंका दोनों पड़ोसी एवं गुट निरपेक्ष देश हैं। दोनों के बीच अनेक समानताओं के बावजूद मतभेद की दीवारें भी कम ऊंची नहीं रही हैं। औपनिवेशिक गुलामी से मुक्त होने के बाद दोनों देशों के बीच चंद मुद्दों पर मामूली मतान्तर उभर कर अवश्य सामने आये किन्तु स्थिति नियन्त्रण में रही। लेकिन कुछ सालों बाद दोनों पक्षों के बीच अनेक मसलों पर विवादों ने खतरनाक खाई पैदा की। 1983 के बाद तो श्रीलंका में सिंहली-तमिल संघर्ष ने हिंसक मोड़ ले लिया और स्थिति काफी विस्फोटक बन गयी। इसका भारत-श्रीलंका सम्बन्धों पर बहुत बुरा असर पड़ा। 1987 में भारत-श्रीलंका समझौता होने के बावजूद उनमें मतभेदों की खाई पाटी नहीं जा सकी। सवाल उठता है कि दोनों देशों के बीच आरम्भ में मामूली मतभेद क्यों गहरे होते गये, जिन्होंने द्विपक्षीय सम्बन्धों को संकटग्रस्त बना डाला? इसका जवाब पाने के लिए सर्वप्रथम दोनों के बीच प्रागैतिहासिक, पौराणिक व सांस्कृतिक सम्बन्धों और भू राजनीतिक पक्ष पर प्रकाश डालना प्रासंगिक होगा।

ऐतिहासिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध और भू राजनीतिक पक्ष—भारत श्रीलंका सम्बन्ध प्रागैतिहासिक व पौराणिक काल तक ढूंढे जा सकते हैं। हिन्दुओं के महाकाव्य रामायण में लंका द्वीप का उल्लेख मिलता है। बौद्ध जातकों आदि में इस द्वीप के निवासियों के साथ भारत के लाभप्रद व्यापार, सांस्कृतिक आदान प्रदान की स्मृति शेष है। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र एवं पुत्री को श्रीलंका भेजा था। चीनी यात्री फाह्यान व ह्वेन सांग आदि ने भारतीय भू-भाग के साथ सिंहली द्वीप श्रीलंका के वासियों के घनिष्ठ सम्बन्धों का ब्यौरा दिया है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यह द्वीप भले ही मन्नार की खाड़ी की जलराशि द्वारा मुख्य भाग से कटा होने के कारण विदेशी आक्रमणकारियों के हस्तक्षेप से

कहा गया कि 'दोनों देशों के बीच वार्ता सद्भाव और मैत्रीपूर्ण वातावरण में हुई और इससे एक दूसरे के दृष्टिकोण समझने में काफी मदद मिली। दोनों पक्षों ने सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी आदान-प्रदान के बारे में लाभप्रद वार्ता की।' भविष्य के बारे में उम्मीद बाँधने के लिए कहा गया कि 'दोनों देश अगले दौर की वार्ता करने पर राजी हो गये हैं।' ऐसी आशाजनक बातें 'औपचारिक शिष्टाचार' और 'शालीन' तौर-तरीकों का परिचय अवश्य देती हैं, किन्तु बुनियादी सीमा विवाद के हल की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति का ठोस संकेत नहीं। यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं कि सातवें दौर की बातचीत में अरुणाचल प्रदेश के समदोरोंग चु घाटी इलाके के वागदोंग में हुई चीनी घुसपैठ पर लम्बी बातचीत हुई, लेकिन यह मामला भी नहीं सुलझ पाया। चीन इस बात पर अड़ा रहा कि यह क्षेत्र वास्तविक नियन्त्रण रेखा के उत्तर में है और उसके इलाके में पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों में क्या यह प्रश्न चिन्ह जोड़ना उचित नहीं कि दोनों देशों में जल्दी-जल्दी होने वाली सीमा वार्ताएँ अपना औचित्य खोती जा रही हैं। निष्कर्षत: दिसम्बर, 1981 से अब तक हुई नौ बार की सीमा वार्ताएँ 'नौ दिन चले ढाई कोस' वाली कहावत ही चरितार्थ करती रही हैं।

राजीव गांधी की चीन यात्रा (दिसम्बर, 1988)—तत्कालीन भारतीय प्रधानमन्त्री राजीव गांधी तरह-तरह की अटकलों के बीच चीन की पाँच दिवसीय यात्रा पर निकले। कई लोगों को इस बात पर आपत्ति थी कि जब तक चीन सम्बन्धों में सामान्यीकरण का आश्वासन (अनौपचारिक ही सही) न दे, तब तक भारत को अपनी राजनयिक प्रतिष्ठा दाव पर नहीं लगानी चाहिए। कुछ अन्य लोगों का मानना था कि राजीव गांधी की चीन यात्रा 'महज चुनावी हथकंडा' थी।

इस यात्रा के दौरान राजीव गांधी की चीन के सर्वाधिक शक्तिशाली नेता देंग सियाओ पिंग और अन्य नेताओं, अधिकारियों से बातचीत हुई। मगर सीमा विवाद के हल और सम्बन्धों के सामान्यीकरण की दिशा में कोई ठोस उपलब्धि हासिल नहीं हुई। यदि वस्तुनिष्ठ ढंग से देखें तो किसी भी भारतीय प्रधानमन्त्री द्वारा भारत-चीन सम्बन्ध सुधार के लिए कोई ठोस पेशकश करना जोखिम भरा काम ही है। रातों रात किसी नाटकीय सुधार की आशा करना व्यर्थ है। बहरहाल, श्री गांधी की चीन-यात्रा राजनयिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं समझी जा सकती।

दिसम्बर 1991 में चीन के प्रधान मन्त्री ली फंग ने भारत यात्रा की—31 साल के बाद कोई चीनी प्रधान मन्त्री भारत आया—राजीव गांधी ने जो चीन की यात्रा इससे तीन साल पहले की थी, चीन के प्रधान मन्त्री की यह यात्रा सम्बन्धों के सामान्यीकरण के उसी प्रयास की एक कड़ी मानी गई। दोनों देशों ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि सीमा विवाद के सन्तोषजनक हल होने तक वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर शान्ति बनाए रखी जाए। साथ ही यह भी घोषणा की गई कि इस विवाद के हल की खोज का काम तेज किया जाए। भारतीय प्रधान मन्त्री नरसिंह राव के अनुसार सीमा विवाद पर हुई चर्चा की समीक्षा की जायेगी तथा सीमा विवाद के हल के लिए तीन साल पहले गठित संयुक्त कार्यकारी दल के कार्य में तेजी लाई जाने की कोशिश की जायेगी। दोनों देशों के प्रधान मन्त्री इसमें व्यक्तिगत दिलचस्पी लेंगे।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सीमा वार्ताओं के दौरान दोनों पक्षों ने अब तक वार्ता के स्वरूप, औपचारिकताओं, स्तर तथा पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त तय करने में ही समय गँवाया है। क्या ये वार्ताएँ मात्र अनुष्ठान बनकर नहीं रह गयी हैं?

से देखें तो इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि नेहरू, मेनन आदि के अहंकारी आचरण से भारत के छोटे पडौसी देशों का खिन्न होना स्वाभाविक था। श्रीलंका जैसे देश एक तरह की आक्रामकता ओढ़ने को विवश थे, ताकि भारत जैसे बड़े पड़ौसी देश के मुकाबले वे अपनी आजादी को प्रमाणित कर सकें।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान श्रीलंका की आन्तरिक राजनीति में जो परिवर्तन हुए, उन्होंने भी 1947 के बाद भारत और श्रीलंका के बीच तनाव पैदा किये। भारत की तरह औपनिवेशिक शासन व उत्पीडन के विरुद्ध कोई व्यापक जन-आन्दोलन या स्वाधीनता संग्राम श्रीलंका में नहीं हुआ। परन्तु श्रीलंका में राजनीतिक चेतना का आविर्भाव सिंहली राष्ट्रवाद के विकास के साथ-साथ हुआ। दूसरी ओर भारतीय मूल के श्रीलंकावासी तमिल लोग अपने नेताओं के माध्यम से ही सही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा संचालित उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलनों से जुड़े रहे। वी० वी० गिरी जैसे लोग श्रीलंका में ट्रेड यूनियन गतिविधियों से जुड़े रहे।

1950 के दशक के मध्य तक दो-तीन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हो रही थी। एक ओर नेहरूयुगीन भारत श्रीलंका को किसी सैनिक संगठन का सदस्य न होने पर भी अपनी तुलना में कम गुट निरपेक्ष और औपनिवेशिक शक्तियों का पक्षधर समझता था तो दूसरी ओर श्रीलंका की सरकारें अपने दैत्याकार पड़ौसी देश भारत के इरादों के बारे आशंकित रहती थी और उन्हें भारतीय नेताओं का बड़े भाई जैसा आचरण रास नहीं आता था। श्रीलंका में जिस वक्त सोलोमन भण्डारनायके की श्रीलंका फ्रीडम पार्टी सिंहली भाषा और बौद्ध धर्म को आधार बनाकर अपनी जड़ें मजबूत कर रही थी उस समय भारत के दक्षिणी राज्यों में तमिल पुनर्जागरण का दौर चल रहा था। इसका प्रसार श्रीलंका के तमिलों तक होना अवश्यंभावी था। औपनिवेशिक शासन की समाप्ति के साथ श्रीलंका की सामाजिक व आर्थिक संरचना में परिवर्तन भी अनिवार्य थे। इनसे पैदा होने वाले तनाव कई बार साम्प्रदायिक शब्दावली में मुखर हुए। श्रीलंका के उदीयमान सिंहली नेताओं के लिए यह सहज था कि वे अपनी हताशा व आक्रोश का निशाना उन अल्पसंख्यक तमिलों को बनायें, जो बहुसंख्यक जनता की तुलना में अधिक समृद्ध-सन्तुष्ट दीखते थे। साथ ही साथ खदानों व बागानों में काम करने वाले तमिल श्रमिकों की स्थिति में ह्रास होता गया और उनके मन में स्वदेश लौटने की ललक बढ़ने लगी। इन सब बातों का संयुक्त परिणाम यह हुआ कि जब श्रीलंका में संविधान बनाने का बीड़ा उठाया गया तो पीढ़ी दर पीढ़ी यहाँ रहते आये अनेक तमिलों ने अपने को नागरिकता के अधिकार से वंचित पाया। एक तरह से इस समस्या की तुलना बर्मा व मलाया में रहने वाले प्रवासी भारतीयों से की जा सकती है, परन्तु भौगोलिक सामीप्य विशेषकर तमिलनाडु (मद्रास) में तमिल पुनर्जागरण ने इस समस्या को कहीं अधिक महत्वपूर्ण बना दिया। 1972 तक सिंहली-तमिल समस्या नियन्त्रण में रही। इसका एकमात्र कारण नेहरू जी का करिश्माती नेतृत्व और भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा थी। परन्तु भारत-चीन विवाद के उभरने के साथ भारत-श्रीलंका सम्बन्धों में नाटकीय परिवर्तन हुआ।

चीन के प्रति श्रीलंका का झुकाव—भारत-चीन सीमा विवाद के साथ यह बात सामने आयी कि श्रीलंका का झुकाव पड़ौसी भारत की ओर नहीं, बल्कि दूरस्थ चीन के प्रति है। यों कहने को श्रीलंका ने भारत-चीन सीमा विवाद के प्रति गुट

बचा रहा तथापि आर्थिक व सांस्कृतिक दृष्टि से इसे भारत से 'अलग' करना कठिन है। नेहरू जी ने एक बार गलत नहीं कहा था कि 'श्रीलंकावासी' हमारे ही हाड़-मांस के बने हैं और हम उनकी नियति से अछूते नहीं रह सकते।'

वर्तमान परिपेक्ष्य मे इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि जो लोग आज अपने को श्रीलंका का मूल निवासी बतलाते है, या सिंहली भूमि पुत्र घोषित कर रहे हैं, वे हजारो वर्ष पूर्व भारत के पूर्वी तट (वर्तमान मे उड़ीसा) से वहाँ गये थे। पिछले कुछ वर्षो से श्रीलंका में जिन तमिलो के साथ गृह युद्ध की सी स्थिति चल रही है, वे भी सदियो पहले वर्तमान तमिलनाडु से इस द्वीप में जाकर बसे। श्रीलंका की आबादी का जातीय व भाषायी विश्लेषण किया जाये तो भारत के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्धो को अनदेखा नही किया जा सकता। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने इन सम्बन्धों को और पुख्ता किया। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के लिए भारत उनके औपनिवेशिक साम्राज्य की 'मुकुट मणि' था और श्रीलंका, बर्मा, अदन, सिंगापुर आदि देश इस बहुमूल्य निधि की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण थे। भारत मे नियुक्त गवर्नर जनरल या वायसराय इन सब पर नियन्त्रण रखने वाला लगभग निरकुश अधिकारी होता था। इस व्यवस्था मे भारतीय औपनिवेशिक प्रशासन की केन्द्रीय भूमिका थी। अंग्रेजी भाषा, शिक्षा प्रणाली, प्रिवी कौंसिल वाली न्याय व्यवस्था तथा औपनिवेशिक आर्थिक स्वार्थों के ताने-बाने के कारण भारत व श्रीलंका दोनो के बीच पारम्परिक सम्बन्धो का आधुनिक रूपान्तरण हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान श्रीलंका मे ब्रिटिश नौसैनिक मुख्यालय की स्थापना की गयी और लार्ड माउंटबेटन के नेतृत्व मे भारत के लिए इस द्वीप का भू-राजनीतिक महत्व नाटकीय ढंग से उद्घाटित हुआ। इस सबके अलावा औपनिवेशिक काल मे बहुत बड़े पैमाने पर भारत से बन्धुआ मजदूरो का निर्यात श्रीलंका की खदानो व बागानों पर काम करने के लिए किया गया। कालक्रम मे इसने श्रीलंका की जनसंख्या का स्वरूप बदल डाला और राजनीतिक समीकरणो को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया। दो पीढ़ी के अन्तराल मे ही भारतीय आप्रवासी अपने उद्यम और कर्मठता से प्रशासन, शिक्षा, व्यापार एवं व्यवसाय मे बेहद महत्वपूर्ण बन बैठे और आजादी प्राप्त होने के बाद वे भारत-श्रीलंका सम्बन्धो को अनुशासित करते रहे हैं।

आजादी के बाद भारत-श्रीलंका सम्बन्ध—1947 मे आजाद होने पर भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहा और नातेदारी के कारण प्रारम्भिक चरण में श्रीलंका के साथ उसका सौहार्द बना रहा। इसके तत्काल बाद भारत ने गुट निरपेक्ष नीति का वरण किया और भारत के साथ श्रीलंका के विवाद सतह पर आने लगे। श्रीलंका के तत्कालीन प्रधान मन्त्री सर जोन कोटलेवाला दक्षिणपंथी रुझान के पश्चिम-परस्त व्यक्ति थे। उनका मानना था कि गुट निरपेक्षता की विलासिता भारत जैसा बड़ा देश ही सह सकता है। श्रीलंका जैसे छोटे देश के लिए सामूहिक सुरक्षा परियोजनाएँ व सैनिक सन्धि सगठन ही उपयुक्त हो सकते है। इसी निदान के अनुसार उन्होंने श्रीलंका में 'वॉयस आफ अमरीका' को प्रसारण की अनुमति दी और ब्रिटेन को अपने पक्ष मे रखने के लिए आजादी की घोषणा के बाद भी एक बड़ी सीमा तक औपनिवेशिक तामझाम को बरकरार रखा। बांडुग सम्मेलन (1955) में गुट निरपेक्षता को लेकर नेहरू जी के साथ उनकी काफी नोंक-झोंक हुई। वस्तुनिष्ठ ढंग

नहीं पड़ा। भारत द्वारा श्रीलंका को कच्चा तिवु द्वीप समूह सौंपे जाने पर सद्भावना का भण्डार और भी बढ़ा। श्रीलंका में 1971 में जब त्रोतस्कीवादी सिंहली युवकों ने हिंसक बगावत की तो विद्रोह दमन के लिए इन्दिरा सरकार ने सिरिमाओ भण्डारनायके सरकार को तत्काल भारतीय सैनिक सहायता पहुँचायी। जून, 1975 में भारत में आपातकाल की घोषणा के बाद जिन गिनी-चुनी सरकारों के साथ इन्दिरा गांधी के सम्बन्ध मधुर बने रहे, उनमें श्रीलंका एक था। विवादों को अनदेखा करने और सहकार के क्षेत्र को बढ़ावा देने वाली यह स्थिति सिरिमाओ भण्डारनायके और इन्दिरा गांधी के कार्यकाल तक बनी रही। यह भी एक संयोग ही था कि भारत में इन्दिरा गांधी और श्रीलंका में सिरिमाओ भण्डारनायके 1977 में लगभग एक साथ अपदस्थ हुए। दोनों नेताओं पर तानाशाही और भ्रष्टाचार के आरोप लगाये गये। दोनों देशों में उत्तराधिकारी सरकारों ने चली आ रही नीतियों में बुनियादी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। 1980 में इन्दिरा गांधी के पुनः सत्ता में आने के बाद भारत-श्रीलंका सम्बन्धों में बड़ी अड़चन पैदा हुई।

भारत-श्रीलंका सम्बन्धों में पुनः बिगाड़—श्रीलंका के राष्ट्रपति जूनियस जयवर्द्धने ने 1977 में सत्ता में आने के बाद महत्वपूर्ण संवैधानिक परिवर्तन किये और देश के आर्थिक विकास के लिए दक्षिणपंथी मुक्त व्यापार वाला मार्ग चुना। 1971 के बाद सोवियत संघ के साथ भारत के विशिष्ट सम्बन्धों की घनिष्ठता को देखते हुए भारत के साथ श्रीलंका के बारम्बार मतभेद अवश्यम्भावी थे। जयवर्द्धने के लिए श्रीमाओ शास्त्री समझौते की कोई अहमियत नहीं थी और उनके कार्यकाल के आरम्भ से ही इसकी शर्तों की अवहेलना की गयी। जयवर्द्धने मन्त्रिमण्डल के गरम मिजाज सदस्य प्रेमदास, ललित अथुलथमुदली सरकार का क्रमशः 'सिंहलीकरण' करने में सफल हुए। इनकी शह पाकर सेना व पुलिस के सह-सैनिक दस्ते निरीह-निर्धन तमिलों पर अत्याचार करते रहे। श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो से दूर उत्तरी छोर में रहने वाले तमिलों की यह वाजिब शिकायत रही कि सिंहली लोगों द्वारा उनकी भूमि का औपनिवेशिकीकरण किया जा रहा है, उनकी भाषा का अवमूल्यन हो रहा है तथा उनके पूजा-उपासना भ्रष्ट कर परोक्ष रूप से उनके वंशनाश का षड्यन्त्र जारी है। 1980–81 तक कुछ तमिल युवकों ने अपना आक्रोश मुखर करने के लिए आतंकवाद का मार्ग चुन लिया और पश्चिमी देशों की सनसनी पत्र-पत्रिकाओं में 'तमिल चीतों' की दिलेर कारगुजारियों के बारे में लेख, चित्र आदि छपने लगे। इससे भारत-श्रीलंका सम्बन्धों में तनाव पैदा हुआ। दस वर्षों तक भारत के दक्षिणी प्रान्त तमिलनाडु में सत्तारूढ़ दल अन्ना द्रमुक मुनेत्र कषगम (अन्ना द्रमुक) श्रीलंका के तमिलों का पक्षधर रहा। तमिलनाडु में तब सत्तारूढ़ द्रविड़ मुनेत्र कषगम (द्रमुक) की सरकार का भी ऐसा ही रवैया रहा। श्रीलंका सरकार का यह शक निराधार नहीं कि तमिल चीतों को भारत से सहायता और भारतीय भूमि पर शरण मिलती रही है।

श्रीलंका में उग्रवादी साम्प्रदायिक हिंसा का विस्फोट—1983 के आरम्भ तक जातीय तनाव की यह स्थिति विस्फोटक बन चुकी थी। इसके कई कारण थे। श्रीलंका के उत्तरी प्रांत जाफना में बहुसंख्यक जनता तमिल वंशज है। पूर्वी इलाके बट्टीकलोआ और त्रिंकोमाली में भी तमिल आबादी काफी घनी है। इन तमिलों को लगने लगा कि जयवर्द्धने सरकार उनके अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ है।

निरपेक्ष तथा तटस्थ रवैया अपनाया परन्तु पारम्परिक सम्बन्धों और भू-राजनीतिक स्थिति को देखते हुए उसका रूप संकट की घड़ी में भारत को अकेला छोड़ देने वाला था। यह रेखांकित किया जाना जरूरी है कि चीन के सिलसिले में श्रीलंका की कोई विवशता नेपाल, बर्मा और भूटान जैसी नहीं थी। श्रीलंका को किसी चीनी हमले का खतरा नहीं था। कम से कम इस समय तक श्रीलंका को चीन से मिलने वाली आर्थिक सहायता भी नाममात्र की थी।

यह सोचना तर्कसंगत है कि यदि श्रीलंका ने भारत के प्रति विशेष अन्तरंगता नहीं दर्शायी तो उसका उद्देश्य 'मैत्री की कीमत' बढ़ाना था। इस समय तक श्रीलंका के तमिलों और सिंहली लोगों में चुनावी राजनीति के प्रसार के साथ कटुतापूर्ण वैमनस्य बढ़ने लगा था। और लाखों तमिल अपने भविष्य के बारे में चिन्तित थे। श्रीलंका सरकार की दृष्टि में तमिलों की देशभक्ति संदिग्ध थी और एक सिंहली उग्रवादी द्वारा प्रधानमन्त्री सोलोमन भण्डारनायके की हत्या के बाद सिंहली साम्प्रदायिकता के प्रति श्रीलंका सरकार उदासीन नहीं रह सकती थी। कुछ विद्वानों ने यह भी सुझाया कि भारत में पंचवर्षीय योजनाओं में गतिरोध और चीन व पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों में तनाव-वृद्धि के संयोग ने श्रीलंका को भारत से अलग अपना मार्ग चुनने के लिए प्रोत्साहित किया। 1961 में बेलग्रेड में आयोजित पहले गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में नेहरू जी तथा सुकार्णो की भिड़ंत ने यह बात उजागर कर दी थी कि तीसरी दुनिया के सभी देश भारत को अपना मुखिया नहीं मानते। यह स्वाभाविक था कि भारत के पड़ोसी देशों ने अपने राष्ट्रीय हित में इसका लाभ उठाने का प्रयत्न किया।

शास्त्री-सिरिमाओ समझौता—सौभाग्यवश, नेहरू जी के उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्त्री के कार्यकाल में भारत-श्रीलंका सम्बन्धों में आशातीत सुधार हुआ। अपने शत्रुओं चीन और पाकिस्तान के प्रति सख्त यथार्थवादी रुख अपनाने के कारण शास्त्री-युगीन भारत का मनोबल सुधरा। दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में विश्वव्यापी रुचि न रखने के कारण शास्त्री जी के पास पड़ोसी देशों के लिए अधिक समय था। इसके अतिरिक्त शास्त्री जी के साथ राजनयिक परामर्श करने वालों को यह अहसास कतई नहीं होता था कि वे स्वयं तुच्छ या बौने हैं। इस कुण्ठा से मुक्त होने पर वे आसानी से रियायतें दे सकते हैं। 1965 में सिरिमाओ भण्डारनायके और शास्त्री जी के बीच हुए समझौते के तहत भारत सरकार ने श्रीलंका में बसे लगभग दो लाख नागरिकता-विहीन तमिलों को ग्रहण करना स्वीकार किया। उसने ऐसा एक मानवीय समस्या के समाधान को प्राथमिकता देते हुए किया। दूसरी ओर श्रीलंका सरकार ने यह बात स्वीकार की कि बचे हुए तमिलों को यथाशीघ्र नागरिकता प्रदान की जायेगी और उनके साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं बरता जायेगा। इसी समझौते में भारतीय और श्रीलंकाई मछुआरों के मछली पकड़ने वाले क्षेत्र के सीमांकन का सूत्रपात भी किया गया।

इन्दिरा-सिरिमाओ काल : घनिष्ठ सम्बन्धों का दौर—शास्त्री जी के बाद इन्दिरा गांधी भारत की प्रधानमन्त्री बनीं। उनके कार्यकाल में भारत और श्रीलंका के बीच सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हुए। दोनों देशों की महिला प्रधानमन्त्री (इन्दिरा गांधी व सिरिमाओ भण्डारनायके) स्वभाव, राजनीतिक रुझान व कार्यशैली में एक-दूसरे के करीब थीं। इसी कारण उनके बीच सार्थक राजनीतिक संवाद में कोई व्यवधान

हो गया। इसके साथ ही इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि तमिल छापामारो को मिलने वाली सैनिक सहायता भारत के माध्यम से ही पहुँच रही थी। यह सच है कि भारत सरकार का इससे सीधा लेना-देना नही रहा, तथापि उसने तमिलनाडु की अन्ना द्रमुक सरकार की सहानुभूति और खुले समर्थन पर कोई रोक लगाने का प्रयत्न नही किया। उससे श्रीलंका का खिन्न होना स्वाभाविक था। जयवर्द्धने और उनके सहयोगियो को यह लगता रहा कि भारत मे सत्तारूढ काग्रेस पार्टी तमिलनाडु मे अपनी सहयोगी अन्ना द्रमुक पार्टी को अप्रसन्न नही करना चाहती। तत्कालीन भारतीय विदेश सचिव रमश भण्डारी श्रीलंका के साथ सुलह वाला लचीला मार्ग सुझाते थे, परन्तु प्रधानमन्त्री के अन्य वरिष्ठ सलाहकार जी० पार्थसारथी, वेंकटेश्वरन, रगराजन, कुमारमगलम आदि अति यथार्थवादी ढग से सख्त रुख अपनाने के हिमायती थे। परिणामस्वरूप, 1984–85 मे स्थिति जटिलतर तथा और अधिक जोखिमग्रस्त हो गयी। 1986 मे बगलौर मे आयोजित सार्क (SAARC) शिखर सम्मेलन के दौरान इस समस्या क नाटकीय राजनीतिक समाधान का प्रयत्न किया गया, परन्तु इसमे कोई प्रगति नही हो सकी। इससे पहले भी थिम्पू वार्ताओ की सम्भावनाओ का जोर-शोर स प्रचार किया गया, किन्तु तमिल उग्रवादियो की हठधर्मिता के कारण कोई ठोस नतीजा सामने नहीं आया।

इस समस्या के हल मे परेशानी के कई कारण थे। जहाँ एक ओर भारत सरकार तमिल छापामारो पर एक सीमा तक ही दबाव डाल सकती थी, वही तमिलो के लिए श्रीलंका सरकार की विश्वसनीयता समाप्त हो चुकी थी। उन्हे लगता था कि श्रीलंका सरकार वार्ताओ के बहाने सिर्फ इस बात की मोहलत चाह रही है कि सैनिक दस्तो को समुचित ढग स तैनात कर समस्या का निर्णायक हिंसक समाधान किया जा सके। *यह सच भी है कि 1986 के दौरान जयवर्द्धने सरकार के आचरण से एसा* नही लगता था कि जयवर्द्धने भारत सरकार की मध्यस्थता की कोई जरूरत समझते है। जयवर्द्धने ने स्वय कई बार भडकाने-उकसाने वाले ढग मे यह घोषणा की कि आपातकाल मे वह अपने देश की अखडता की रक्षा के लिए बाहरी शक्तियो के हस्तक्षेप को सहर्ष निमन्त्रण देंगे। श्रीलंका मे बडे पैमाने पर इजराइली, दक्षिण अफ्रीकी, पाकिस्तानी, ब्रिटिश और अमरीकी सैनिक सलाहकार तथा भाड़े के सैनिक तैनात किय गय और इस तरह के सकेत मिल कि त्रिकोमाली का महत्वपूर्ण नौसैनिक अड्डा अमरीका को सौंपा जायेगा। *यह सारा सामरिक घटनाक्रम भारतीय* सामरिक हितों के प्रतिकूल था। इसके अलावा स्वय श्रीलंका के नौसैनिक अधिकारियो का आचरण उत्तरोत्तर भडकाने-उकसाने वाला बनता गया। मन्नार की खाडी मे रामेश्वरम के समीप मछली पकडने वाले अनेक निरीह मछुआरो की जानें इन दिनो गयी और उनके जीविकोपार्जन मे बाधा पडी। श्रीलंका से तमिलनाडु पहुँचने वाले शरणार्थियो की सख्या भयावह ढग मे बढ़ने लगी और बगला देश का प्रसग अनायास याद आने लगा। अब श्रीलंका की समस्या सिर्फ तमिलनाडु की रुचि का नही, बल्कि *भारतीय विदेश नीति के सन्दर्भ मे प्राथमिक महत्व का विषय बन गयी।*[1]

एक ओर घटनाक्रम ने स्थिति को सकटाकीर्ण बनाया। तमिल छापामारो का नेतृत्व कालक्रम मे मध्यममार्गी-ससदीय विपक्षियो के हाथो स निकल कर हिंसक

[1] देखें—V. P Vaidik, *Ethnic Crisis in Sri Lanka* (Delhi, 1986).

उन्हें इस सरकार की नीयत और इरादों पर सन्देह होने लगा था। न केवल सेना और सरकारी नौकरी में नियुक्त किये जाने वाले तमिलों का अनुपात तेजी से घट रहा था बल्कि बड़े पैमाने पर देश के और भागों से सिंहलियों को लाकर जाफना में बसाने के प्रयत्न किये जा रहे थे। नवागन्तुक सिंहलियों के प्रति तमिलों का रोष-आक्रोश स्वाभाविक था। चूंकि इन सिंहलियों को पुलिस और सेना का समर्थन एवं सरक्षण प्राप्त था, जिस कारण उनका प्रतिरोध करना आसान नहीं था। सिंहलियों ने उत्तरी और पूर्वी प्रान्त के मूल तमिल निवासियों को अनुशासित रखने के लिए आतंक का सहारा लिया। निर्दोष तमिलों को बलात्कार, आगजनी, लूटपाट का शिकार बनाया गया।

अब तक 'ईलम' अर्थात् तमिलों के स्वाधीन राज्य की मांग इक्का-दुक्का जोशीले तमिल चीते ही उठा रहे थे। अधिकांश तमिलों के लिए ईलम का अर्थ था—उत्तरी तथा पूर्वी प्रांत में स्वायत्त प्रशासन। लेकिन सिंहलियों की बर्बरता ने अनेक मध्यमार्गी तमिलों को भी यह सोचने को विवश किया कि स्वायत्तता नहीं, स्वाधीनता में ही उनकी मुक्ति है। जब स्थानीय प्रशासन सिंहली पक्षधरता के कारण तमिलों को बचाने में असमर्थ हो गया तो तमिल युवकों ने अपने लोगों को बचाने की जिम्मेदारी उठायी और इन तमिल चीतों की छापामारी में तेजी से वृद्धि हुई। जाफना में मानवाधिकारों के हनन के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जनमत बनाने के लिए तमिल उग्रवादी छापामार सनसनीखेज आतंकवाद का सहारा लेने को बाध्य थे। उनके षड्यन्त्रों के शिकार इस इलाके में बड़ी संख्या में तैनात सिंहली पुलिस एवं सैनिक अधिकारी हुए। अपने साथी जवानों की मौत का बदला लेने के चक्कर में सिंहली सैनिक एवं सह-सैनिक दस्तों का आचरण क्रमशः लगभग पाशविक हो गया। जो तमिल युवक धरपकड़ में गिरफ्तार होते, उनको जेल में अमानवीय यातनाएँ दी जाती और उनके स्वजनों व मित्रों को भी उत्पीड़क यन्त्रणा का शिकार बनना पड़ता। दंगों के दमन के बहाने श्रीलंका की जेलों में बड़ी संख्या में तमिल बन्दियों की हत्या की गयी। इस प्रकार असन्तुष्टों के नेताओं का सफाया करने का प्रयत्न किया गया। इस क्रिया-प्रतिक्रिया ने हिंसा के दुष्चक्र को भड़काया। अनुराधापुर के हत्याकाण्ड ने इस बात की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी कि बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक रक्तपात को टाला जा सके। इसके बाद कोलम्बो शहर को आगजनी की लपटों में झुलसना पड़ा और लगातार कई हफ्तों तक इस राजधानी को कर्फ्यूग्रस्त रखना जरूरी हो गया। जाफना में लगभग गृह युद्ध वाली स्थिति पैदा हो गयी और सिंहली सैनिकों को अपने शत्रु के रूप में देखने लगे। इस प्रकार तमिल उग्रवादी एक तरह का समानान्तर प्रतिद्वन्द्वी प्रशासन स्थापित करने में सफल हुए।

एक ओर श्रीलंका सरकार के लिए यह समस्या रही है कि यदि वह छापामारों का उन्मूलन किये बिना तमिलों की मांग मान लेती है या उनसे बातचीत करने को राजी होती है तो इसकी परिणति देश के विभाजन-विघटन में ही हो सकती है। दूसरी ओर कोई भी जिम्मेदार सरकार इस बात को अनदेखा नहीं कर सकती कि कुल आबादी के लगभग 19–20 प्रतिशत हिस्से की जायज मांगों को अनदेखा कर बहुमत के नाम पर साम्प्रदायिकता का जहर फैलने दिया जाये। दुर्भाग्यवश जयवर्द्धने के मन्त्रिमण्डल में मुठभेड़-पसन्द उग्रपंथियों के शक्तिशाली हो जाने से राष्ट्रपति जयवर्द्धने के लिए तमिलों के साथ संवाद शुरू करना बहुत कठिन

से सिंहली सैनिका का हटाकर तमिल और भारतीय सैनिकों को एक-दूसरे के सामने खडा कर दिया। राहतकारी हस्तक्षेप की बदनामी के बाद पडोसी देश म सैनिक उपस्थिति का खर्च और बोझ भारतीय राष्ट्रीय हित के लिए हानिकारक ही हो सकता था।

जनवरी, 1989 में श्रीलका म प्रेमदास ने राष्ट्रपति पद सम्भाला। आरम्भ म भारत के प्रति उनका रवैया सयत और जिम्मेदार नजर आया, किन्तु कुछ ही दिनो बाद उन्होने श्रीलका के जातीय तनाव के लिए भारत को कोसना और शान्ति सेना की वापसी की माग जोर-शोर से शुरू कर दी। अन्तत मार्च, 1990 तक भारत ने शान्ति सेना (Peace Keeping Force) की सभी टुकडियो को स्वदेश बुला लिया। इसके बावजूद श्रीलका मे जातीय समस्या की गुत्थी सुलझने के बजाय उलझती ही गयी।

शान्ति सेना की वापसी के बाद भारत-श्रीलका सम्बन्ध

दशको से यह बात कही जाती रही है कि भारत और श्रीलका आपस म अभिन्न रूप से गुंथे हैं। हम लोग एक ही हाड-मास क हैं और हमारे राष्ट्रीय हितो में कोई टकराव हो ही नही सकता। दुर्भाग्यवश कटु यथार्थ इस सदाशयी भावुकता को हमेशा झुठलाता रहा है। पिछले छह-सात वर्षों क अनुभव के बाद यह सोच सकना सम्भव है कि निकट भविष्य म कभी भारत और श्रीलका क सम्बन्ध, मैत्रीपूर्ण तो छोडिए, सामान्य भी होंग।

श्रीलका साम्प्रदायिक गृह युद्ध क कारण सवनाश के कगार पर खडा है। विडम्बना यह है कि यह कोई निर्णायक घडी नही। श्रीलका से भारतीय शान्ति सना (मार्च 1990) लौटने क बाद युद्ध विराम कुछ ही महीने जारी रहा। लिट्टे और श्रीलकाई सैनिको की हिंसक मुठभेड फिर से शुरू हो गई। उग्रपथी तमिलो का सामना करने के लिए श्रीलका ने वायु सैनिक बमबारी का नृशस रास्ता तलाशा। दश के दक्षिणी भाग म ज० वी० पी० के हिंसक आतकवादियो क बीच फूट क बीज बोन और उन पर काबू पान क बाद श्रीलका के राष्ट्रपति प्रेमदास का मनोबल फिलहाल मजबूत है। दूसरी ओर भारतीय शान्ति सैनिको की क्षमता पर प्रश्न चिह्न लगाने क बाद लिट्टे के मुक्ति चीत भी सम्पूर्ण समझौत क लिए तैयार नही। यह स्थिति भारत-श्रीलका सम्बन्धों क लिए निश्चय ही दु खदायी है। यदि श्रीलकाई सैनिक तमिल आतकवाद का उन्मूलन करन म विफल करत हैं तो सरकार क लिए अपनी असफलता क लिए भारत वाला बहाना पश करना ही बचा रहगा। प्रेमदास तब यह आक्षेप लगायेंग कि प्रभाकरन वगैरा सिर्फ इसीलिए रणक्षेत्र म बच हैं कि उन्ह भारत म निरन्तर सहायता मिल रही है। यह सच है कि तमिलनाडु की बहुसख्यक जनता की सहानुभूति और समर्थन लिट्टे को प्राप्त है, परन्तु इसक लिए नई दिल्ली सरकार उत्तरदायी नही समझी जा सकती।

यदि सिंहली सेना लिट्टे का सफाया करने म, या कम स कम जे० वी० पी० क तरीक पर कुछ बड़े नताओ का ही सही, दमन-शमन करती है तो भी यह स्थिति भारत क लिए बहुत अनुकूल नहीं समझी जा सकती। शान्ति रक्षक सैनिक दस्तों की वापसी स लिट्टे छापामारा क प्राणो की और श्रीलका के राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा एक साथ हो सकी और इस घटनाक्रम म अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर हस्तक्षेपकारी कार्य

छापामारों के पास चला गया। 'तुल्फ' (तमिल लिबरेशन फ्रंट) के अमृतलिंगम जैसे नेता भुला-मिटा दिये गये और 'लिट्टे' (लिबरेशन टाइगर्स आफ तमिल ईलम) के प्रभाकरण और किट्टू जैसे नेता चर्चित बन गये। तमिल गिरोहों के आपसी वैमनस्य ने भी प्राणनाशक संघर्ष का रूप ले लिया और अन्ततः 'लिट्टे', 'प्लोट', 'इरोस' आदि गिरोहों के आपसी संघर्ष ने इनको जर्जर कर दिया। इसने शहरी सेनाओं का मनोबल बढ़ाया और श्रीलंका सरकार के सैनिक समाधान के प्रयत्न सफलता की कगार तक पहुँच गये। अनेक विश्लेषकों का मानना था कि श्रीमती गांधी की मृत्यु (अक्टूबर, 1984) के बाद जयवर्द्धने राजीव गांधी के भोलेपन व उनकी अनुभवहीनता का निरन्तर लाभ उठाते रहे।

जून-जुलाई, 1987 में तमिलों ने यह घोषणा की कि वे निकट भविष्य में एकपक्षीय स्वाधीनता की घोषणा कर देंगे। इसके जवाब में श्रीलंका सरकार ने जाफना की नाकेबन्दी कर दी। इन घिरे हुए भूखे-प्यासे तमिलों को राहत सामग्री पहुँचाने वाले निरस्त्र भारतीय नाविक बेड़े को श्रीलंका ने अपमानजनक ढंग से रोका। अन्ततः भारत को वायुसैनिक शक्ति के प्रदर्शन के साथ प्रतीकात्मक राहत सामग्री पहुँचाने के अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन करना पड़ा।

भारत-श्रीलंका समझौता—*यहाँ इस बात की विस्तृत व्याख्या की जरूरत* नहीं कि उपरोक्त भारतीय आचरण श्रीलंका की सम्प्रभुता का हनन था या नहीं या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पण्डितों का इस विषय में क्या विचार है? यह निर्विवाद है कि इस हस्तक्षेप के बिना राजीव गांधी और जयवर्द्धने के बीच जुलाई, 1987 में भारत-श्रीलंका समझौता नहीं होता। इस समझौते में वर्षों से मुखर की जा रही असन्तुष्ट तमिलों की लगभग सभी मांगें मान ली गयीं। तमिल-बहुल उत्तरी एवं पूर्वी प्रांतों का एकीकरण, स्थानीय प्रशासन को स्वायत्तता, राष्ट्रीय जीवन में तमिलों के साथ भेदभाव की समाप्ति आदि। इसके बदले में तमिलों द्वारा शस्त्र समर्पण किया जाना था और स्वतन्त्र ईलम (राज्य) की मांग छोड़ना था। गिरफ्तार राजनीतिक बंदियों की रिहाई होनी थी। एक सुनिश्चित कार्यक्रम के अनुरूप इन प्रावधानों की पुष्टि के लिए इन प्रांतों में जनमत संग्रह की व्यवस्था की गयी। इस समझौते में जाफना से सिंहली सैनिक दस्तों को वापस बुलाने की बात कही गयी। भारत ने इस समझौते को लागू करने के लिए जामिन (गारंटर) बनना स्वीकार किया। श्रीलंका सरकार ने भारत को यह आश्वासन दिया कि श्रीलंका में भारत सरकार को नुकसान पहुँचा सकने वाली किसी भी विदेशी उपस्थिति को स्वीकार नहीं किया जायेगा। त्रिंकोमाली के सैनिक अड्डे की बात तो छोड़िये, किसी भी विदेशी रेडियो प्रसारण को भी घुसपैठ का मौका नहीं दिया जायेगा। इन आश्वासनों की विश्वसनीयता बनाये रखने के लिए भारतीय शान्ति रक्षक सैनिक दस्तों का इन्तजाम किया गया।

भारत-श्रीलंका समझौते पर हस्ताक्षर करने के तत्काल बाद भारतीय प्रधान मन्त्री राजीव गांधी और श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धने पर अलग-अलग जगह असफल कातिलाना हमले हुए। इससे कई विद्वानों ने यह सुझाया कि दोनों पक्षों के उग्रपंथियों की नाराजगी इस बात का प्रमाण है कि समझौता निष्पक्ष है। तब भी इससे यह बात स्वयमेव सिद्ध नहीं हो जाती कि समझौता सफल होगा और भारत व श्रीलंका के बीच विवाद आसानी से तत्काल समाप्त हो जायेंगे। इस समझौते का क्रियान्वयन काफी पिछड़ चुका था। हुआ सिर्फ इतना कि जयवर्द्धने ने बहुत चतुराई

असमयता से जहाँ एक ओर श्रीलंका सरकार की उच्छृंखल तानाशाही बढ़ी, वहीं हाथ आयी जीत' को भारतीय हस्तक्षेप के कारण गँवाने से मुक्तिचीते बौखला गये। अर्थात् जहाँ एक ओर श्रीलंका सरकार के सामने भारतीय सैनिक क्षमता का मिथक टूटा तो दूसरी ओर लिट्टेवादियों को यह लगा कि ईलम राज्य' और उनके बीच में बाधा सिर्फ भारत है। उन्होंने तमिलनाडु मे अपनी षड्यन्त्रकारी गतिविधियों का जाल फैलाया, जिसकी भयावह परिणति भारतीय चुनाव अभियान के दौरान मई, 1991 मे पैराम्बूर मे राजीव गांधी की बबर हत्या मे हुई। इसके पहले लिट्टे के आतंकवादियों ने श्रीलंका के तत्कालीन रक्षा राज्य मन्त्री विजयरत्ने की नृशंस हत्या कर दी थी और इसके बाद कोलंबो मे सेना मुख्यालय को बम से उड़ाकर अपनी महार क्षमता का प्रदर्शन किया। लंका की स्थिति से स्पष्ट है कि वहाँ के घटनाक्रम को प्रभावित करने मे भारत असमर्थ है। ऐसे मे दोनो देशो के बीच तनाव बरकरार रहना ही संभव है।

भारत-बंगला देश सम्बन्ध
(Indo-Bangla Desh Relations)

जब 1971 मे स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे बंगला देश का उदय हुआ, तब भारतीय विदेश नीति नियोजकों के मन मे आशा की एक किरण जगमगायी कि 1947 में देश का बँटवारा अब मटियामेट किया जा सकेगा। भारत के शत्रु पाकिस्तान से बंगला देश न केवल अलग हो गया, बल्कि उसके नए नेताओं ने इस राष्ट्र को धर्म-निरपेक्ष और समाजवादी जनतन्त्र के रूप में स्थापित करने की अपनी महत्वाकांक्षा प्रकट की। शिशिर गुप्त जैसे पाकिस्तानी मामलों के प्रतिष्ठित जानकार ने इस भारतीय उपमहाद्वीप की राजनीति में एक निर्णायक मोड़ समझा। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इस आशावादिता को बनाये रखना बहुत समय तक सम्भव नहीं रहा। इसके कारणों को समझने और भारत बंगला देश सम्बन्धों के भविष्य के बारे म तर्कसंगत विश्लेषण करने के लिए संक्षिप्त ऐतिहासिक पुनरावलोकन जरूरी है।

ऐतिहासिक पुनरावलोकन (1947 से 1971 तक)—आधुनिक भारत के इतिहास के अधिकांश विद्यार्थी इस भ्रान्ति के शिकार हैं कि देश के विभाजन के समय साम्प्रदायिक हिंसा का विस्फोट और तद्जनित वैमनस्य पश्चिमी सीमांत तक ही सिमट रहे थे। इस बात पर निरन्तर जोर दिया जाता रहा है कि बंगाली चाहे पूरब के हों या पश्चिम के, वे हमेशा सांस्कृतिक दृष्टि से एक-दूसरे के करीब रहे और उनमें विभाजन के बाद भी वैसी खाई कभी नहीं पड़ी जैसी हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में रहने वाले पंजाबियों के बीच गहरी हो गयी थी। यह बात एक सीमा तक ही ठीक है। इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि 1947 से 1971 तक पाकिस्तान के इस हिस्से (अर्थात पूर्वी पाकिस्तान, लेकिन अब बंगला देश) के साथ भी भारत सरकार के सम्बन्ध तनावग्रस्त रहे हैं और विवाद के कई मुद्दे बीच बीच में उभर कर सामने आते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा, अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न, भूमि या जल विवाद, तस्करी और सीमा पार अपराधियों द्वारा शरण पाना निरन्तर चर्चित होते रहे हैं (हाँ, इतना अवश्य रहा कि तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान के वासियों के मन में अपने पंजाबी उत्पीडक शासकों के प्रति जितना द्वेष था, उसकी तुलना में वे स्वयं को अपने भारतीय बंगाली बन्धुओं के निकट महसूस करते थे)। यहाँ इन सबके

के रूप में भारत की काफी निन्दा करवाई। तब भी, जब तक श्रीलंका में भारतीय सैनिकों की उपस्थिति थी, लिट्टे और श्रीलंकाई सरकार दोनों पर एक तरह का अंकुश था। अपराधी उच्छृंखलता और नस्लवादी नरसंहार दोनों को ही शांति रक्षक सैनिक दस्ते नियन्त्रित करते रहे। संवाद द्वारा समस्या के समाधान की सम्भावना अब नहीं बची।

आज राजनयिक पहल का कोई साधन भारत के पास नहीं। मान भी लें कि श्रीलंका के उत्तर पूर्वी प्रदेश में लिट्टे छापामार अपनी स्वाधीनता की घोषणा करते हैं या इस इलाके को 'आजाद' कर लेते हैं, तो भारतीय राष्ट्रीय हित निरापद नहीं समझे जा सकते। लिट्टे के सैनिक व नेता इस बात को नहीं भूल सकते कि कैसे आरम्भ में प्रोत्साहित करने के बाद भारत सरकार ने उन्हें मझधार में छोड़ दिया था। वे ऐसी स्थिति में तमिलनाडु में असन्तोष और अलगाव को भड़काने की प्रयत्न कर सकते हैं। भारतीय शांति रक्षक सैनिक दस्तों की श्रीलंका में मौजूदगी के दौरान भारतीय इच्छानुसार ई० पी० आर० एल० एफ० की प्रान्तीय सरकार का गठन हुआ था। आज इसके प्रधान पेरूमल मारीशस में बन्दियों जैसा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को इससे नुकसान ही पहुँच सकता है कि वह अपने पर आश्रित विश्वासपात्र व्यक्तियों की रक्षा करने में असफल रहा।

इस बात का कोई लक्षण नहीं दीखता कि श्रीलंका में निकट भविष्य में गृह-युद्ध थमेगा। वहाँ जिच की सी स्थिति काफी समय तक बनी रहेगी। इसके चलते तकनीकी, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत और श्रीलंका के बीच सम्बन्धों में सुधार की बात सोची नहीं जा सकती। वैसे भी आरम्भ से ही नारियल, चाय आदि के निर्यात के मामलों में भारत व श्रीलंका अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में प्रतिस्पर्धी रहे हैं। बहुत लम्बे समय तक श्रीलंका की मुक्त व्यापारिक नीति और उसके खुले द्वार भारतीय विकास के लिए चुने गये समाजवादी नियोजन को अदूरदर्शी बतलाते रहे। स्वयं अराजकता और अव्यवस्था के कारण श्रीलंका मुक्त व्यापार का स्वर्ग नहीं रहा। वहाँ सरकार और जनता का एक हिस्सा अपनी तमाम मुसीबतों की जड़ भारत को समझता है। श्रीलंकाई समाचार-पत्र भारत के विरुद्ध निरन्तर विष वमन करते हैं। दूसरी ओर श्रीलंका सरकार द्वारा बार-बार सैनिक समाधान चुनना मानव अधिकारों की जानबूझकर हत्या करना है।

अन्य छोटे पड़ोसियों की तरह श्रीलंका की मजबूरी है कि वह अपनी स्वाधीनता प्रमाणित करने के लिए बारबार भारत-विरोध का स्वर मुखर करे। उसने लिट्टे के साथ अपने संघर्ष के दौर में इजराइलियों, पाकिस्तानियों, दक्षिण अफ्रीका जैसे भारत विरोधियों को निमन्त्रण देना अपने हित में समझा। यह भी गौर करने लायक बात है कि श्रीलंका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जयवर्द्धने और भारत की भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी जैसे नेताओं के बीच सम्बन्धों की आधारशिला यथार्थवाद पर टिकी थी। राजीव गांधी के कार्यकाल में इसका प्रभाव बचा रहा था, परन्तु बाद में ऐसा साम्य बचा नहीं रहा।

दुर्भाग्यवश वर्तमान स्थिति यह है कि श्रीलंका की जातीय समस्या के घातक विस्फोट के साथ भारत की नियति चाहे-अनचाहे बुरी तरह गुथ गई है। कभी यह आशा की जाती थी कि श्रीलंका से शांति सेना की वापसी के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार होगा। परन्तु, हुआ इसके विपरीत ही। भारतीय सेना की

भले ही भारत में हो और इसका बड़ा हिस्सा भारत में ही बहता हो, मगर उसका सागर संगम उसकी भूमि पर होता है, इसलिए गंगा के पानी पर उसका भी हिस्सा है। परन्तु यह हिस्सा बराबर का नहीं हो सकता और जल वितरण का अनुपात प्राकृतिक व तकनीकी कारणों से किसी राजनयिक या राजनीतिक समझौते के द्वारा सन्तोषप्रद ढंग से तय नहीं किया जा सकता। जहाँ एक ओर भारत सरकार के लिए यह अनिवार्य बन गया कि वह फरक्का जल बाँध के निर्माण से विनाशकारी बाढ़ पर नियन्त्रण प्राप्त करे, गर्मी के मौसम में सिंचाई की व्यवस्था करे और कलकत्ता बन्दरगाह को बचाने की चेष्टा करे, वहीं इस परियोजना ने बंगला देश की समस्याओं को और भी विकट बना दिया।

विडम्बना तो यह है कि बंगला देश स्वयं एक जल-बहुल दलदली भूमि वाला देश है और जिस समय भारत फरक्का जलबन्ध से जल की निकासी के लिए तत्पर होता है उस समय वह उसे ग्रहण करने की स्थिति में नहीं होता। इस झगड़े का निपटारा 'क्यूसेक' (क्यूबिक मीटर प्रति सैकिण्ड) के जोड़-घटाने से नहीं हो सकता है और न ही यह कहकर छुटकारा पाया जा सकता है कि समस्या मूलत: तकनीकी है और विशेषज्ञों के 'सहकारी परामर्श' द्वारा निपटायी जा सकती है। अब तक, दोनों देशों के विशेषज्ञों के संयुक्त आयोग की कई बैठकें हो चुकी हैं। उनसे भी यही बात सामने आयी कि बिना शीर्षस्थ राजनीतिज्ञों की सहमति के नौकरशाह विशेषज्ञ इस 'अन्तर्राष्ट्रीय गुत्थी' को नहीं सुलझा सकते। फरक्का जल बाँध के निर्माण के बाद मुआवजे का प्रश्न भी उठाया गया और बंगला देश ने अपनी सुविधानुसार राजनयिक-संवाद के दौरान भारत-पाक सिन्धु जल विवाद और भारत-नेपाल कोसी गंडक जल वितरण प्रसंग को कुरेदने-जोड़ने का प्रयत्न किया। भारतीय पक्ष द्विपक्षीय समस्या के इस तरह के अन्तर्राष्ट्रीयकरण से खिन्न होता रहा है।

इस समस्या के दो और पहलू हैं, जो उसकी जटिलता बढ़ाते हैं। एक ओर विश्व बैंक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय मददगार संस्था ने इस मामले में अपनी रुचि दर्शाकर बंगला देश की महत्वकांक्षाओं को उकसाया है तो दूसरी ओर पश्चिम बंगाल में विपक्षी दल (मार्क्सवादी साम्यवादी पार्टी) का शासन होने के कारण केन्द्र सरकार इस विषय में एकपक्षीय निर्णय लेने में असमर्थ रही है। जब कभी समस्या के समाधान की आशा जगती भी है तो चकमा प्रकरण या किसी अन्य मनोमालिन्य के कारण यह पुराना प्रकरण पृष्ठभूमि में धकेल दिया जाता है।[1]

शरणार्थियों की समस्या—नदी जल विवाद की तरह बंगला देश की सीमा पार कर भारत पहुँचने वाले अवैध शरणार्थियों की समस्या काफी पुरानी व कष्टप्रद है। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि बंगला देश का जन्म ही इन शरणार्थियों के अप्रत्यक्ष आक्रमण के कारण सम्भव हुआ था। इस समस्या के दो अलग-अलग पहलू हैं, जिन पर अलग से विचार किया जाना जरूरी है।

बंगला देश से भारत आने वालों में अभी हाल तक काफी बड़ी तादाद उन लोगों की थी, जो बिहारी कहलाते हैं। इनमें से सभी 'बिहारी' नहीं, बल्कि यह एक ऐसा शब्द है, जो गैर-बंगाली मूल के सभी बंगलादेशियों को समेटता है। इन शरणार्थियों की शिकायत है कि बंगला देश में उनके साथ भेदभाव बरता जाता है।

[1] विस्तार के लिए देखें—Ministry of External Affairs, *The Farakka Barrage* (Delhi, 1976).

विस्तृत प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं। 1950 के दशक में पूर्वी बंगाल से भारत में पहुँचने वाले शरणार्थियों की बाढ़, फरक्का जलबंध से उपजा विवाद, जूट, चाय आदि की कीमतों को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों में प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख भर किया जाना काफी है।

भारत-बंगला देश सम्बन्ध (1972 से आगे)—ऐसा नहीं था कि विद्वानों को ये सब बातें याद नहीं थी, किन्तु 1972 मे इस सबकी याद दिलाना शिष्टाचार के विरुद्ध जान पड़ता था। तब भी कई लोगों ने इस बात को रेखांकित किया था कि जितने बड़े पैमाने पर भारतीय सहायता प्राप्त कर बंगला देश मुक्त हुआ था, उस ऋण व उपकार की स्मृति भर मनमुटाव के लिए काफी थी। कृतज्ञता-ज्ञापन को भारत का पिछलग्गुआ-पिट्ठू बताकर-कहकर बदनाम किया जा सकता था। भारत से युद्धोत्तर पुनर्निर्माण विषयक बंगला देश की जो आशाएँ-अपेक्षाएँ थी, उन्हें भारत कतई पूरा नहीं कर सकता था। ऐसा मानना भी भोलापन था कि बंगला देश के मुक्त हो जाने के बाद विदेशी शक्तियाँ इस क्षेत्र मे रुचि लेना बन्द कर देंगी या परोक्ष रूप से ही सही, हस्तक्षेप करने का लोभ संवरण करेंगी। शिमला समझौते के बाद वाले कुछ महीनों में यह बात साफ हो गयी कि भारत बंगला देश से जो चाहे, वह नहीं करवा सकता है और शेख मुजीब की पार्टी आवामी लीग बंगला देश में निर्द्वन्द्व शासन नहीं कर सकती। 1973 से 1975 के बीच श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार आन्तरिक चुनौतियों से जूझने मे व्यस्त रही और जून, 1975 में आपातकाल की घोषणा के बाद विदेश नीति विषयक प्रश्न और भी गौण बन गये। अगस्त 1975 में शेख मुजीब की हत्या हो गयी। तत्पश्चात् बंगला देश सैनिक तानाशाही के अधीन रहा। इस हालत में भारत-बंगला देश के सम्बन्धों के बारे में घनिष्ठ मैत्री का कोई भ्रम बनाये रखना सम्भव नहीं रहा और पुराने तनाव नए रूप में संकट पैदा करते रहे।

भारत-बंगला देश के बीच विवाद के प्रमुख मुद्दे—भारत में आपात काल की समाप्ति और चुनाव के बाद इन्दिरा गांधी अपदस्थ हुई और पड़ोसियों के साथ सम्बन्ध सुधारने की व्यापक उदारता वाले अभियान के अन्तर्गत जनता सरकार ने बंगला देश के साथ फरक्का जल वितरण समझौता कर लिया। तब भले ही बहुत जोर शोर के साथ इस सफलता का प्रचार किया गया, परन्तु अब तक यह आम बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि इस समझौते से किसी भी पक्ष को कुछ हासिल नहीं हुआ। भारत-बंगला देश के बीच तनाव पैदा करने वाले विवाद के मुद्दे कम के नहीं हैं। इनके निकट भविष्य में सुलझने की कोई सम्भावना नहीं। इनके समुचित विश्लेषण और इनके अन्तर-सम्बन्धों को समझने के लिए इन पर संक्षिप्त दृष्टिपात आवश्यक है।

नदी जल विवाद—भारत और बंगला देश के बीच सबसे अधिक चर्चित विषय गंगा जल वितरण का रहा है। गंगा अपनी सहभागी नदियों के साथ जहाँ सागर में मिलती है, वह हिस्सा बंगला देश में पड़ता है। गर्मियों के मौसम में गंगा नदी की यह मुख्य धारा बहुत क्षीण हो जाती है और स्वयं भारत को ही अपनी जल-सम्बन्धी जरूरतें पूरी करने में कठिनाई होती है। कलकत्ता बन्दरगाह में जल के अभाव के कारण बालू की निकासी कठिन हो जाती है और इस बन्दरगाह को खतरा पैदा होने लगता है। दूसरी ओर बंगला देश को यह लगता है कि गंगा का उद्गम

ओर भारत सरकार का बगला देश के प्रति असन्तोष एक सीमा तक निराधार नही। बगला देश में सैनिक तानाशाही की जड़ें मजबूत होने का सयोग धर्म-निरपेक्षता के अवमूल्यन के साथ हुआ। पाकिस्तान के साथ सम्बन्धो मे सुधार और चीन व अमरीका के साथ बढती साठगाँठ, वहाँ के प्रशासन की विशिष्ट पहचान बन गये।

भारत-बगला देश सम्बन्धो का भविष्य—इन सबको देखते हुए ऐसा नहीं जान पडता की भारत-बगला देश के सम्बन्धो मे निकट भविष्य मे कोई अप्रत्याशित सुधार होगा। हाँ, नए-नए विवाद पैदा होने की सम्भावना अवश्य बनी रहती है। नवमूर द्वीप समस्या इसका एक अच्छा उदाहरण है। जुडवाँ शरीर वाले दो सहोदर देशो के लिए सागर के 'एक्सक्लूसिव इकोनोमिक जोन', नव प्रकट नवमूर जैसे द्वीप, 'कोटिनेंटल शेल्फ' स्थित तल आदि के बँटवारे की समस्याएँ हमेशा पेचीदा रहनी है। यह स्थिति तब कष्टकर होती है, जब दोनो पडौसी देशो के अन्दरूनी हालातो और सामरिक परिप्रेक्ष्य म इतना अन्तर हो, जितना भारत और बगला देश के बीच है। बगला देश के उदय के पहले बेरूबाडी पूर्वी बगाल को सौपने की बात विवादग्रस्त हुई थी, तो आज तीन बीघा गलियारा निर्विवाद नही है। नवमूर द्वीप समूह बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति मे कभी भी फिर एक दु खद प्रसग बन सकता है।

मुक्ति सघर्ष की सफलता से आज तक बगला देश के राजनीतिक जीवन और वैदेशिक सम्बन्धो मे एक बुनियादी द्वन्द्व का जो प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है, वह है—राजनीतिक दलो, जनतान्त्रिक तत्वो और सेना के बीच सत्ता का सघर्ष। जब-जब सेना का प्रभाव बढा है, भारत-बगला देश सम्बन्धो मे बिगाड आया है। बगला देशी सिपाहियो के उत्पीडन-शोषण से देश छोडने के लिए मजबूर जनजातियो या बिहारी शरणार्थियो को लेकर भारत और बगला देश के बीच खिचाव रहा है। दोनो देशों के सीमा सुरक्षा बलो के बीच मुठभेडें भी आम बात है। आर्थिक जीवन की दुर्दशा हो या प्राकृतिक विपदा, बगलादेशी सरकार की प्रवृत्ति भारत पर दोषारोपण की रहती है। इरशाद-प्रशासन के अतिम वर्षों मे तो हद हो गई थी। नए सैनिक डिवीजनो के गठन को जरूरी बतलाते हुए तत्कालीन बगलादेशी राष्ट्रपति इरशाद ने भारत को शत्रु के रूप मे परिभाषित करने मे कोई हिचकिचाहट नही दिखाई थी। इरशाद के पतन के बाद यह सभावना एक बार फिर प्रबल हुई है कि बगला देश मे सच्चे अर्थों मे जनतन्त्र की वापसी हो सकती है। परन्तु, इस मामले मे जरूरत से ज्यादा आशान्वित होने की आवश्यकता नही। आज का बगला देश भी 1971 का बगला देश नही, जो अपनी पहचान एक धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी गणराज्य के रूप मे बनाना चाहता हो। आज बगला देश म इस्लामी तत्व काफी सक्रिय हैं। भारत के साथ नदी व जल विवाद का समाधान भी ढूँढा नही जा सका है। नेपाल की ही तरह बगला देश के लोकप्रिय जनतान्त्रिक नेता के लिए भी सिरदर्द यह है कि भारत-प्रेम को वहाँ देश द्रोह का पर्याय समझा जा सकता है। अतः भारत-बगला देश सम्बन्धो मे एकायक सौहार्द व सद्भाव बढने की बात सोचना महज भोलापन होगा। वस्तुत भारत-बगला देश सम्बन्ध राष्ट्रीय हितो के सयोग या टकराव से कही अधिक बगला देश के अस्थिर आतरिक घटनाक्रम पर निर्भर रहेगा।

सीमावर्ती भारतीय राज्यों की सरकारों को यह सन्देह है कि बंगला देश की आर्थिक व राजनीतिक स्थिति डावांडोल होने के कारण ये लोग भारत में उपलब्ध रोजगार के अवसरों का लाभ उठाने के लिए यहाँ पहुँचते हैं। सिर्फ इतना नहीं कि उनके आने से भारत की नागरिक सुविधाओं पर दबाव पड़ता है, बल्कि सत्तारूढ़ दल इन शरणार्थियों को समर्थन-सहायता देकर अपने पक्षधर को मतदाता के रूप में पंजीकृत करा लेते हैं। इससे वास्तव में भारत के नागरिक अर्थात् स्थानीय जनता का पलड़ा हल्का हो जाता है। असम समस्या का एक पेंचीदा पहलू यही था।

कांटेदार बाड़ पर विवाद—बंगला देश के इन अयाचित आगतुकों को भारत में आने से रोकने के लिए कांटेदार बाड की व्यवस्था सुझायी गयी है, परन्तु इसे क्रियान्वित करना असम्भव है। एक तो हजारों मील लम्बी सरहद की घेराबन्दी बेहद खर्चीला प्रस्ताव है। इसे घुसपैठिये किसी भी वक्त कहीं भी तोड सकते हैं। इससे बंगला देश की मानहानि तो होती ही है, किन्तु भारत को विशेष लाभ भी नहीं हो सकता। बंगला देशी सरकार यह घोषणा कर चुकी है कि इस तरह की घेराबन्दी को वह अपने विरुद्ध अमित्रतापूर्ण कार्रवाई समझेगी। इस कांटेदार तार की बाड़ की देखभाल के लिए सीमा सुरक्षा बल के दस्तों को तैनात करना पड़ेगा और उन पर घुसपैठियों या बंगला देशी सन्तरियों के हमलों से संकट का समाधान होने की अपेक्षा संकट और अधिक जटिल होगा।

अनेक विद्वानों का यह भी मानना है कि अधिकतर तथाकथित शरणार्थी पेशेवर तस्कर और सामाजिक अपराधी है, जिनकी सीमा पार दोनों तरफ के न्यस्त स्वार्थी तत्वों से मिलीभगत है और जिनके अपने व्यवसायिक हित, किसी भी देश के राष्ट्रीय हित की परवाह नहीं करते। इन तत्वों पर नियन्त्रण तभी किया जा सकता है, जब भारत व बंगला देश दोनों के बीच सहकार हो। विडम्बना यह है कि इन शरणार्थियों की गतिविधियों के कारण दोनों देशों में मनोमालिन्य निरन्तर बढ़ता रहा है और सहकार की सम्भावना घटी है।

चकमा शरणार्थियों की वापसी की समस्या—चकमा आदिवासियों की समस्या जरा भिन्न है। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षक इस मामले में एकमत हैं कि देश के विभाजन के समय चटगाँव जिले (*वर्तमान में बंगला देश में*) के *आदिवासी-बहुल* पहाडी क्षेत्र का सीमांकन सही ढंग से नहीं हो पाया था। जब तक मैदानी बंगला-देशियों ने पहाडी जंगल का अतिक्रमण नहीं किया था, तब तक चकमा आदिवासी क्षेत्र को अछूता रखना सम्भव नहीं रहा है। सरकार और नौकरशाही में व्याप्त भ्रष्टाचार ने चकमा आदिवासियों के उत्पीड़न को निर्मम बना दिया है। अनेक चकमा सशस्त्र बगावत के लिए विवश हुए है। बंगला देशी सैनिकों द्वारा पीछा किये जाने पर वे सरहद पार भारत में शरण लेते रहे हैं। एक ओर चकमाओं की समस्या मानवीय है। इन्हें संगीन की नोक पर वापस बंगला देश में नहीं धकेला जा सकता। दूसरी ओर यदि चकमा आदिवासी भारत में बने रहकर राजनीति में सक्रिय रहते हैं तो बंगला देश भारत द्वारा इनकी मेहमाननवाजी को शत्रुतापूर्ण कार्रवाई मान सकता है। मणिपुर और त्रिपुरा में चकमाओं की संख्या पचास हजार से ऊपर पहुँच चुकी है। इस समस्या को ज्यादा दिनों तक टाला नहीं जा सकता। इस बारे में भी समस्या का समाधान दोनों पक्षों के बीच सद्भावना पर निर्भर है।

धर्म-निरपेक्षता का अवमूल्यन और चीन व अमरीका की साठगांठ—दूसरी

में रहते रहे और उनके वंशजों ने भारत की आजादी की लड़ाई में सहर्ष हिस्सा लिया। 1942 में लोकनायक जयप्रकाश नारायण आदि ने नेपाल में शरण ली और बाद के वर्षों में कोइराला बन्धुओं ने नेपाली कांग्रेस की स्थापना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रेरणा और समर्थन से ही की। इन जनतांत्रिक व समाजवादी तत्वों को नेहरू जी ने निरन्तर प्रोत्साहित किया। यह इस प्रेरणा और प्रोत्साहन का ही प्रभाव था कि राजनीतिक चेतना वाले नेपालियों ने अपने देश के सामाजिक व राजनीतिक जीवन में राणा वंश की सामन्तशाही की जकड़ को दूर करने की रणनीति बनायी। 1950 में नेपाल सरकार और भारत सरकार के बीच जो व्यापार व पारगमन सन्धि हुई, उसमें उभयपक्षीय सम्बन्धों की गैर-बराबरी स्पष्ट रूप से झलकती है। 1950 से लेकर 1977 तक आवागमन व्यापार आदि इसी सन्धि के अनुसार अनुशासित होते रहे हैं।[1]

सम्बन्धों का भू-राजनीतिक पक्ष—भारत-नेपाल सम्बन्धों का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष भू राजनीतिक है। पिछले चार दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्याप्त शक्ति समीकरणों ने इसको निर्णायक ढंग से प्रभावित किया है। 1953 में जब नेपाली कांग्रेस की छापामारी ने राणा के उत्पीडक कुशासन की रीढ़ तोड़ डाली थी और असंतुष्ट नेता नेपाली राजा, राणाओं द्वारा बंदी बना लिये गये थे, उन्हें अन्ततः भारतीय दूतावास में ही शरण मिली। अर्थात् भारतीय समर्थन के बिना नेपाल में जनतन्त्र की स्थापना सम्भव नहीं थी। तब नेपाली मन्त्रिमण्डल की बैठकें भारतीय दूतावास में ही होती थीं। परन्तु इसके तत्काल बाद नेपाल में भारत-द्वेष का ज्वार बढ़ने लगा। सत्तारूढ़ नेपाली कांग्रेस पार्टी के विपक्षियों के लिए यह आक्षेप लगाना सहज था कि नेपाली कांग्रेस के नेता भारत के 'पिछलग्गू' व 'कठपुतले' हैं। जनतन्त्र में विरोध और आक्रोश के स्वर को दबाना वैसे भी कठिन है। फिर, नेहरू जी की कोई क्षेत्रीय उप साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा नहीं थी।

परन्तु इस बात से कहीं अधिक महत्वपूर्ण घटना चीन में साम्यवादियों द्वारा सत्ता ग्रहण करना था। विशेषकर, तिब्बत को मुक्त कराने वाले चीनी अभियान के बाद नेपाली राजनीति में सक्रिय लोगों को यह लगने लगा कि नेपाल के लिए अपने दो दैत्याकार पड़ोसी देशों भारत व चीन को सन्तुलित करने का जोखिम भरा खेल खेलना बेहद लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। भूमिबद्ध राज्य होना अब नेपाल के लिए कमजोरी नहीं बल्कि ताकत बन गया। अमरीका और ब्रिटेन जैसी बाहरी शक्तियों के साथ-साथ चीन ने भी नेपाल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र होने की ललक को भड़काया। 1962 में भारत चीन संघर्ष के विस्फोट के पहले ही महाराजा त्रिभुवन का निधन हो गया और उनके उत्तराधिकारी महाराजा महेन्द्र ने अपनी हस्ती स्थापित करने के लिए भारत विरोधी रवैया अपनाया। 1962 के बाद यह स्थिति और भी बिगड़ गयी। भारत-चीन सीमा विवाद में नेपाल की तटस्थता अनपेक्षित थी। नेपाल ने भारतीय व्यापारियों व सलाहकारों के प्रभुत्व को सन्तुलित करने के बहाने बड़े पैमाने पर चीनी सहायता व अनुदान ग्रहण किये और सामरिक महत्व की अनेक परियोजनाओं में चीनी भागीदारी को बढ़ावा दिया। चीन ने नेपाल को दी गयी अपनी आर्थिक सहायता का भरपूर प्रचारात्मक लाभ उठाया। इस प्रकार चीनी

[1] विस्तार के लिए देखें—Sriman Narayan, *India and Nepal An Exercise in Open Diplomacy* (Bombay 1970).

भारत-नेपाल सम्बन्ध
(Indo-Nepal Relations)

भारत और नेपाल इतने निकट और घनिष्ठ पड़ौसी देश हैं कि कई बार लोग नेपाल को विदेश मानने को तैयार ही नहीं होते। भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजन की खूनभरी खाई है तो लंका को कष्ट-साध्य जल राशि हमसे अलग करती है। बर्मा और भारत के बीच दुर्गम दलदली जंगल हैं और बंगला देश के साथ समय-समय पर उपजने वाले तनाव कटीली बाड़ खड़ी कर देते हैं। भारत अपने पड़ोसी देश चीन के साथ सीमा युद्ध लड़ चुका है। इन सबकी तुलना में नेपाल भारत के बहुत करीब है। नेपाल अकेला ऐसा विदेशी राष्ट्र है, जिसके नागरिक भारतीय सेना में भर्ती किये जा सकते हैं। हिमालय पर्वत माला और अनेक महत्वपूर्ण नदियाँ भारत व नेपाल के बीच साझे की सम्पत्ति है। नेपाल विश्व का एकमात्र 'हिन्दू राष्ट्र' है और महात्मा बुद्ध की जन्म-भूमि भी। इन पारम्परिक व सांस्कृतिक सम्बन्धों को खून और अन्य वैवाहिक सम्बन्ध सदियों से पुष्ट करते रहे हैं। आजादी के बाद भारत-नेपाल सम्बन्धों में मतभेद के कई मुद्दे उठ खड़े हुए।

1947 तक भारत-नेपाल सम्बन्ध—इस शताब्दी के दूसरे दशक में जब तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन ने दिल्ली दरबार का आयोजन किया, तब नेपालियों ने भारतीय साम्राज्य का हिस्सा बनने की ख्वाहिश जाहिर की थी लेकिन आज यह ऐतिहासिक कुतूहल का विषय भर रह गया है। इस विषय पर अटकलें लगाना व्यर्थ है कि यदि ऐसा हुआ होता तो आज क्या होता। यहाँ सिर्फ इतना जोड़ने की जरूरत है कि नेपाल एक राजतन्त्रीय देश है और उसका बुनियादी संस्कार 1947 के पहले की किसी अन्य दूरस्थ-दुर्गम रियासत जैसा ही बना रहा, जबकि भारत में रजवाड़ों के विलय व राज्यों के पुनर्गठन के बाद राजनीतिक व आर्थिक एकरसता लायी जा सकी। भारत-नेपाल सम्बन्धों की कई अड़चनें इसी विषमता-विसंगति से उत्पन्न हुई।

जब तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति विराजमान थी, तब तक नेपाल सम्प्रभु समानता (Sovereign Equality) और स्वाधीनता का कोई विशेष अर्थ नहीं था। नेपाल भले ही भारत की तरह पराधीन न रहा हो, किन्तु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बचाये रखने के लिए वह ब्रिटिश भारत की सरकार की कृपा पर निर्भर था। 1816 के गोरखा युद्ध ने यह बात भली-भाँति प्रमाणित कर दी थी कि नेपाली सम्राट की सेना भारत की केन्द्रीय सरकार से कोई 'मुकाबला' नहीं कर सकती थी। कनिष्ठ पद स्वीकार कर लेने के बाद नेपाली शासकों का आचरण ब्रिटिश मलिका विक्टोरिया की सरकार के प्रति निरन्तर अनुचर, स्वामीभक्त व सेवक का सा ही था। नेपाल ने औपचारिक रूप से भले ही भारत का संरक्षण स्वीकार नहीं किया हो, किन्तु वास्तविक स्थिति यही थी। चीनी व तिब्बती हमलावरों से बचने, शासक वर्ग की विलास उपभोग सामग्री की आपूर्ति और नाम मात्र के आर्थिक विकास के लिए भी नेपाली भारत व ब्रिटेन के साथ सम्बन्धों में बिगाड़ नहीं कर सकते थे। दूसरी ओर नेपाली शासक जब तक स्वामीभक्त बने रहते तब तक इस बफर देश के आन्तरिक घटनाक्रम से भारत व ब्रिटेन को कुछ लेना-देना नहीं हो सकता था। अनेक साधन-सम्पन्न व प्रतिष्ठित नेपाली स्थायी प्रवासी के रूप में भारत

भारत ने उसकी आर्थिक नाकेबन्दी शुरू कर दी है, जो बांह मरोडने के समान है, अन्यायपूर्ण है आदि। नेपाल ने जोर-शोर से यह घोषणा की कि नेपाल सम्प्रभु राष्ट्र है और भारत को इस बात का कोई अधिकार नही कि वह चीन के साथ नेपाल के सम्बन्धो को लेकर नाक-भौं सिकोडे। नेपाल ने यह घोषणा करने मे देर नही लगाई कि इसे अब भारत के साथ विशेष सम्बन्धो की कोई जरूरत नहीं। ये सम्बन्ध गैर-बराबरी वाले हैं और औपनिवेशिक काल की विरासत हैं।

भारत-नेपाल सम्बन्धो मे नया मोड
(New Turn in India-Nepal Relations)

नेपाल में बहुदलीय लोकतन्त्र के समर्थन और मारीच मान सिंह की सरकार के खिलाफ चले आन्दोलन की सफलता के बाद भारत-नेपाल सम्बन्धो ने नई करवट ली। 1990 मे नेपाल नरेश वीरेन्द्र ने बहुदलीय शासन व्यवस्था की मांग मंजूर कर ली और श्रीकृष्ण प्रसाद भट्टराई नई अंतरिम सरकार के प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने पद ग्रहण करते ही न केवल भारत से सम्बन्ध सुधार की घोषणा की, बल्कि जून 1990 मे वह भारत-यात्रा पर भी आये, जिससे दोनो देशो के बीच कटुता व तनाव के बजाय सहयोग और मैत्री का नया वातावरण बना।

भट्टराई की भारत-यात्रा के दौरान दोनो देश अनेक प्रमुख मुद्दो पर सहमत हुए और कई महत्वपूर्ण फैसले लिये गये। उनके प्रमुख सहमति व फैसले इस प्रकार हैं—

(1) भारत और नेपाल 1 जुलाई 1990 तक व्यापार तथा पारगमन के क्षेत्र में द्विपक्षीय सम्बन्धो पर व्यापक समझौता होने तक 1 अप्रैल 1987 की स्थिति बहाल करने पर सहमत हो गये। उल्लेखनीय है कि 23 मार्च 1989 को दोनों देशो के बीच व्यापार एव पारगमन सन्धि समाप्त होने के बाद विवाद पैदा हो गया था, जिसके कारण भारत-नेपाल सीमा से होने वाले व्यापार को बहुत कुछ नियन्त्रित कर दिया गया तथा पारगमन स्थलो को बन्द कर दिया गया। दोनों देशो के बीच पहले की तरह व्यापार व पारगमन शुरू करने पर सहमति हुई।

(2) भारत ने व्यापार व पारगमन समझौते की अवधि समाप्त हो जाने से बन्द हुए सभी 15 पारगमन केन्द्रो व 22 सीमा चौकियो को खोलने का निर्णय किया। भारत ने कोटा या नियन्त्रण वाले निर्यात को भी खोल दिया। इण्डियन ऑयल कारपोरेशन द्वारा नेपाल अब पेट्रोल, लुब्रीकेंट्स आदि पेट्रो उत्पादन ले सकेगा। ऋण सीमा जो समझौते के लागू होने के काल मे 25 करोड रुपये थी, उसे बढाकर 35 करोड रुपये कर दिया गया। भारत ने तटकर मे भी छूट दी। कोटे के तहत कोयले की आपूर्ति की चालू करने की बात कही गई।

(3) बातचीत मे इस बात का संकल्प किया गया कि दोनो देश एक-दूसरे की सुरक्षा चिन्ताओ का पूरा-पूरा ख्याल रखेंगे। सयुक्त विज्ञप्ति मे कहा गया कि दोनो मे से कोई भी देश अपने देश मे दूसरे के सुरक्षा हितो के खिलाफ पडने वाली गतिविधियो को नही होने देंगे। दोनो ने एक-दूसरे पर खतरे की आशंका का ख्याल रखकर प्रतिरक्षा से ताल्लुक रखने वाले सवालो पर सहमति बनाने के ख्याल से परस्पर मशविरा करने का निर्णय किया।

(4) पहले नेपाल द्वारा चीन से हथियारो के आयात से भारत व नेपाल मे तनाव पैदा हो गया था। लेकिन भट्टराई ने चीन से हथियारो के आयात की तीसरी

सहयोग से बने सिर्फ एक काठमाडू-कोदारी राजमार्ग ने भारत की दर्जनों परियोजनाओं को पीछे धकेल दिया। काठमाडू को चीनी सीमात से जोड़ने वाले इस राजमार्ग का सैनिक महत्व भी कम नहीं। यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि भारत-नेपाल सम्बन्धों में क्रमशः ह्रास के लिए चीनी षड्यन्त्र और नेपाली असन्तोष के साथ-साथ भारत की राजनीतिक अकर्मण्यता भी जिम्मेदार रही है।

भारत-नेपाल सम्बन्धों में विवाद के प्रमुख मुद्दे—भारत-नेपाल सम्बन्धों मे विवाद के प्रमुख मुद्दों को मोटे तौर पर तीन बिन्दुओं के तहत बाँटा जा सकता है। भारतीयो का अहकार, भारत की नेपालियो पर प्रभुत्व स्थापित करने की आकांक्षा और भारतीय मूल के बिचौलियों व व्यापारियों द्वारा दरिद्र नेपालियो का शोषण। ये शिकायतें नेपाल की आम जनता व सरकार दोनों की हैं। नेपाली राज परिवार की एक और परेशानी यह है कि भारत सरकार नेपाल के विपक्षी व जनतांत्रिक तत्वों को समर्थन देती है और अपना राष्ट्रीय हित इसी मे समझती है कि राजशाही उसके समर्थन को कातर रहे। दूसरी ओर भारत सरकार को इस बात से गहरा असन्तोष है कि नेपाल अपनी भू-राजनीतिक स्थिति का फायदा उठाते हुए भारत का भयादोहन (Blackmail) करने का प्रयत्न करता है और सीमात पर तस्करी को बढ़ावा देकर भारत को आन्तरिक नुकसान पहुँचाता है।

1977 मे भारत की जनता सरकार ने नेपाल के साथ सुलह और रियायत का मार्ग अपनाया। उसने नेपाल की इच्छानुसार उसके साथ व्यापार और पारगमन की अलग-अलग सन्धियाँ की। यह एक तरह से 1950 की सन्धि को समाप्त करने की हद तक सशोधित करना था। भारत के इस समर्पण भाव के बावजूद भारत-नेपाल सम्बन्धो मे प्रत्याशित सुधार नहीं हो सका। पिछले वर्षों में पश्चिमी बगाल मे गोरखालैंड वाला जो आन्दोलन भड़का, उसके सूत्र काठमाडू तक ढूंढे गये। इसी तरह कुछ वर्ष पहले जब नेपाल मे जन आन्दोलन फैला तो जनता का ध्यान दूसरी तरफ मोड़ने के लिए सौभाग्यपूर्ण सयोगवश नेपाल मे आतंकवाद की छिटपुट घटनाएँ घटी। इस सिलसिले में नेपाल ने सार्वजनिक रूप से भारत मे रहने वाले शरणार्थी तत्वों पर शक किया। इन तरह मनोवैज्ञानिक दबावों के रहते आशकाएँ निर्मूल नहीं हो सकती और न ही भारत-नेपाल सम्बन्धो मे सुधार की आशा की जा सकती थी।

विदेश नीति के मामले मे भारत और नेपाल के बीच अन्य सबसे बड़ा मत-भेद नेपाल को शान्ति क्षेत्र (अर्थात् भारतीय प्रभाव क्षेत्र से बाहर) घोषित करने वाला प्रस्ताव है। गुट निरपेक्ष अफ्रो-एशियाई देशों में सिर्फ भारत ही इस प्रस्ताव का विरोधी है। दोनों ही पक्ष इस विषय में पीछे हटने को तैयार नहीं हैं। जब भी बगला देश, भूटान, और श्रीलंका किसी भारतीय राजनयिक कदम का प्रतिरोध करते हैं तो उन्हें नेपाली समर्थन का भरोसा रहा।[1]

भारत-नेपाल सम्बन्धों में नया विवाद—मार्च, 1989 मे व्यापार व पारगमन सधि की अवधि समाप्त होने पर भारत ने इसके नवीनीकरण से इंकार कर दिया। राहत की अवधि समाप्त होने पर भारत ने सीमा जाँच, शुल्क आदि के बारे के सख्ती बरतना शुरू कर दिया। नेपाल ने तत्काल यह आक्षेप लगाना आरम्भ कर दिया कि

[1] देखें—S.D. Muni, *India and Regionalism in South Asia: A Political Perspective*; और L.S. Baral, *India and Nepal*, in Bimal Prasad (ed.), *India's Foreign Policy: Studies in Continuity and Change* (Delhi, 1979).

विरोध से ही होता रहेगा। भारत-नेपाल सम्बन्धों में 'नया मोड़' सिर्फ इतना हो सकता है कि असहमति और असन्तोष प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यक्त होंगे और आक्रोश की सीमा दोनों ही पक्ष भली-भाँति पहचानेंगे।

नेपाल में जनतन्त्र की पुनर्स्थापना के लिए मई, 1990 में चुनाव हुए। इनमें नेपाली कांग्रेस को बहुमत तो मिला, परन्तु चुनाव के कई परिणाम नाटकीय रहे। मृदु भाषी एवं लोकप्रिय तत्कालीन प्रधान मंत्री कृष्ण प्रसाद भट्टाराई स्वयं चुनाव हार गए। इतना ही नहीं, नेपाली कांग्रेस के सर्वोच्च नेता गणेश मान सिंह के परिवार के दो सदस्य, पत्नी एवं पुत्र भी चुनाव हार गए। काठमाडू घाटी भी, जहाँ की जनता सबसे अधिक साक्षर और राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध समझी जाती है, नेपाली कांग्रेस के साथ नहीं रही। घाटी में सभी जगह साम्यवादियों का बोलबाला रहा। पूर्वी नेपाल में तो लाल लहर का उफान और भी जबर्दस्त रहा। जिस समय चुनाव परिणाम सामने आ रहे थे पल भर को यह लगने लगा था कि नेपाली कांग्रेस को शायद स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाये। पूरे चुनाव अभियान के दौरान साम्यवादियों का प्रमुख मुद्दा यह था कि नेपाली कांग्रेस के नेता सच्चे राष्ट्रवादी नहीं समझे जा सकते। वे वर्षों से भारत सरकार से उपकृत-अनुग्रहित होते रहे हैं। नदी जल समझौते को देश के साथ गद्दारी के रूप में पेश किया गया। चुनाव के दौरान भी थोड़ी-बहुत हिंसा हुई। अंततः नेपाली संसद में साम्यवादी सदस्यों की संख्या 210 में से 70 से भी कम रही। परन्तु इस मुखर विपक्षी दल को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

यों वरिष्ठ साम्यवादी नेता मनमोहन अधिकारी ने एक साक्षात्कार में यह बात स्वीकार की कि चुनावी नारों और उत्तेजना का अर्थ यह नहीं कि भारत के साथ नेपाली साम्यवादियों का कोई वैमनस्य है, तथापि इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि दो-तिहाई बहुमत के अभाव में गिरजा प्रसाद कोइराला की सरकार किसी अन्तर्राष्ट्रीय संधि को लागू नहीं कर सकती। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में नदी जल विवाद का मामला खटाई में पड़ जाता है। नेपाल में बहुत सारे लोग यह मानने लगे हैं कि भले ही पश्चिमी नदियों का जल-विभाजन उभयपक्षीय परामर्श से ढूंढा जा सकता है, और पूर्वी नदियों का मामला बहुपक्षीय परामर्श से ही सुलझने वाला है। भविष्य में तनाव के और छोटे-मोटे मुद्दे उभर भी सकते हैं।

भारत-भूटान सम्बन्ध
(Indo-Bhutan Relations)

कई मायनों में भारत-भूटान सम्बन्धों की तुलना भारत-नेपाल सम्बन्धों से की जाती है। भूटान भी भूमिबद्ध व राजशाही वाला देश है। मध्ययुगीन सामन्ती संस्कार वाले और आर्थिक दृष्टि से अल्प-विकसित भूटान की भारत पर निर्भरता नेपाल से कहीं ज्यादा है। भूटान वैदेशिक तथा प्रतिरक्षा के मामलों में भारत की सलाह मानने के लिए *संधिबद्ध है। सिक्किम जैसे 'संरक्षित राज्य' से इसकी स्थिति थोड़ी भिन्न* रही है। 1950 में भूटान के शासकों ने स्वाधीन भारत के साथ एक विशेष संधि पर हस्ताक्षर किये, जिसमें भूटान ने नेपाल की ही तरह उभयपक्षीय सम्बन्धों की गैर-बराबरी स्वीकार की थी। नेपाल की ही तरह साम्यवादी चीन के उदय और भारत-चीन विग्रह के उभरने के बाद भूटान का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व बढ़ा। उसने

और अन्तिम खेप रोक दी। उल्लेखनीय है कि 1947 से 1987 तक नेपाल भारत से लगभग अपनी पूरी आवश्यकता के हथियार खरीदता रहा, किन्तु 1988 में उसने ए० के० मन सहित बहुत बड़ी मात्रा में चीनी हथियार खरीदे। भट्टराई ने कहा कि चीनी हथियारों के आयात का फैसला पिछली सरकार का था, किन्तु चीन ने जिस कीमत पर हथियार दिये, इसकी तुलना में भारतीय हथियारों की कीमत पाँच गुना अधिक थी। अगर भारत हमें उचित कीमत पर हथियार देगा तो हम उससे खरीदना ही पसन्द करेंगे।

(5) एक प्रश्न के उत्तर में भट्टराई ने कहा कि कश्मीर का सवाल भारत और पाकिस्तान के बीच द्विपक्षीय मामला है। उन्होंने उसे शिमला समझौते के तहत निपटाने की भारतीय नीति का समर्थन किया।

(6) संयुक्त विज्ञप्ति में नेपाल में भारतीय नागरिकों के साथ हो रहा भेदभाव समाप्त करने की बात कही गई। कहा गया कि भारतीयों को वहाँ अब 'वर्क परमिट' लेने की जरूरत नहीं पड़ेगी। जो भारतीय नागरिक स्कूलों में काम कर रहे हैं, उन्हें नेपाली नागरिकों की तरह ही सुविधाएं दी जाएँगी।

(7) नेपाल इस बात के लिए भी राजी हो गया कि नेपाल में भारतीय मुद्रा पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये, उन्हें समाप्त कर दिया जायेगा। इसके साथ नेपाल में भारतीय माल पर जो अतिरिक्त कस्टम ड्यूटी लगाई जाती थी, उसे समाप्त कर दिया जायेगा। भारतीय माल के मुकाबले किसी अन्य तीसरे देश के माल पर 'करों' में अतिरिक्त सुविधा नहीं दी जायेगी। भारतीय माल पर कस्टम ड्यूटी लगाने के लिए कारखाने के मूल्य को आधार माना जायेगा।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि भट्टराई की भारत यात्रा के दौरान हुए समझौते से भारत-नेपाल सम्बन्धों में नया अध्याय शुरू हुआ। हालांकि नेपाल में ऐसे नेताओं की कमी नहीं जो सोचते हैं कि सतत टकराव की मुद्रा अपनाकर और 'चीनी-कार्ड' चलकर ही भारत से अधिकतम फायदा उठाया जा सकता है। मारीच मानसिंह सरकार ने यही राजनयिक तेवर अख्तियार किया था। किन्तु आम नेपाल-वासी भारत से दोस्ताना और सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का पक्षधर है। पिछली सरकार की अदूरदर्शी नीति के कारण ही अधिसंख्य नेपाली जनता लगभग 15 माह तक आवश्यक वस्तुओं से वंचित रही थी। किन्तु व्यापार और पारगमन के क्षेत्र में 1 अप्रैल 1987 की स्थिति बहाल होने से नेपाली जनता व उनके कई नेताओं ने राहत की सांस ली और विभिन्न मसलों पर सहमति का स्वागत किया। इस सबके बावजूद यह मानना जल्दबाजी होगी कि भारत व नेपाल ने सभी मतभेद दूर कर लिए हैं और मैत्री व सहयोग के सम्बन्ध स्थायी बने रहेंगे। नेपाल को शान्ति क्षेत्र घोषित करने, तस्करों की समस्या, जल संसाधनों का बँटवारा, नेपाली परियोजनाओं में भारत की हिस्सेदारी जैसे कई और मसले हैं, जिन पर दोनों देशों की सरकारों के बीच मतभेद दूर किये जाने शेष हैं।

यह बात याद रखने लायक है कि कोई भी नेपाली सरकार स्वदेश में भारत के मित्र के रूप में अपने को पेश नहीं कर सकती। किसी भी ऐसे नेपाली नेता को भारतीय दलाल या एजेंट कहकर बदनाम किया जा सकता है। इतिहास इसका साक्षी है। भारत-नेपाल सम्बन्धों को वयस्कता-स्थिरता प्राप्त करने में अभी समय लगेगा। नेपाल द्वारा अपनी सम्प्रभुता स्वतन्त्रता का प्रदर्शन भारत की आलोचना/

जनसंख्या ने 'लेपचा भूतियों' को अल्प संख्यक बना दिया है और वे दार्जिलिंग के गोरखालैंड आन्दोलन में भी नेपाली विस्तारवाद की आक्रमक झलक देखते हैं। भूटान इस बात के लिए विवश हुआ कि अपने नागरिकों को भूटानी राष्ट्रीय सम्मान बरकरार रखने और अपनी सांस्कृतिक विरासत बचाये रखने के लिए सख्त निर्देश दे। भूटानी नागरिकों के लिए राष्ट्रीय पोशाक पहनना अनिवार्य बना दिया गया है और वे टेलीविजनों पर विदेशी कार्यक्रम नहीं देख सकते। 'विदेशियों' के आवागमन पर और भी अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। भूटानी और नेपालियों के बीच छिटपुट नस्ली झड़पें भी हुईं, जिनमें कुछ जानें गईं। दुर्भाग्यवश ये अप्रिय घटनाएँ भारत-भूटान सीमांत पर हुई हैं—जहाँ सिक्किम के भारतीय प्रदेश और भूटान की सीमा मिलती है। इस सरहद पर आवागमन पारम्परिक रूप से अबाध रहा है और कड़ाई से इसकी निगरानी भारत के लिए कष्टप्रद हो गई है। नेपाल में भूटान में रहने वाले नेपालियों के साथ भेदभाव का मामला तूल पकड़ रहा है और इसे मानवाधिकारों के हनन के रूप में देखा जाने लगा है। यह भी जाहिर है कि शिक्षा के प्रसार के साथ क्रमशः अधिकतर भूटानी अपने देश में व्याप्त मध्ययुगीन, सामंती धार्मिक व्यवस्था के बारे में सोचने-विचारने लगेंगे और सत्तारूढ़ श्रेष्ठि वर्ग ने दूरदर्शिता नहीं दिखाई तो इससे राजनीतिक अस्थिरता बढ़ेगी।

भारतीय राजनय के लिए वर्तमान स्थिति एक नाजुक और जोखिमभरी चुनौती है। एक ओर तो उसे इस स्थिति से बचना होगा कि उस पर हस्तक्षेपकारी होने का आरोप लग सके तो दूसरी ओर इस बात के प्रति भी सतर्क रहना पड़ेगा कि अनावश्यक संकोच या शिष्टाचार में भारतीय राष्ट्रीय हितों को नुकसान नहीं पहुँचे। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि विश्वव्यापी तनाव शैथिल्य के इस दौर में जब भारत-चीन सम्बन्धों में सामान्यीकरण चल रहा है, तब भारत के लिए भूटान का सामरिक महत्व पहले जैसा नहीं रह गया है। हमारा मानना है कि यह बात सच नहीं। भारत के पूर्वोत्तरी सीमांत के संदर्भ में विशेषकर सिक्किम के परिप्रेक्ष्य में भूटान सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बना रहेगा।

भारत के विरुद्ध चीन-पाक-अमरीकी धुरी
(Sino-Pak-U. S Axis against India)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही देश के विभाजन के कारण भारत को दोनों पार्श्वों पर 'शत्रु' का सामना करना पड़ा। भारत द्वारा अमरीकी सैनिक गठबन्धन की सदस्यता अस्वीकार करने पर पाकिस्तान को अमरीका का मोहरा बनना सहज लगा और इसी कारण दक्षिण एशियाई भू-भाग में अमरीका-पाक साठगांठ आरम्भ हुई। कालान्तर में भारत-चीन सम्बन्धों में बिगाड़ का लाभ पाकिस्तान ने उठाया। भुट्टो के दूरदर्शी-लचीले राजनय ने इसमें सहायता पहुँचायी। बंगला देश के उदय के बाद वियतनाम युद्ध के समाप्त होते-होते चीन और अमरीका के बीच भी संवाद आरम्भ हो चुका था। इस घटनाक्रम को सोवियत-चीन वैमनस्य ने प्रोत्साहित और गतिशील किया। 1972-73 तक भारत के विरुद्ध चीन-पाक-अमरीकी धुरी का निर्माण पूरा हो चुका था। इसे सिर्फ संयोग नहीं समझा जा सकता।

चीन आरम्भ से ही अपने को एशियाई भू-भाग में प्रमुख अद्वितीय शक्ति के

भी भारत सरकार का भयादोहन आरम्भ कर दिया। किन्तु भूटान नेपाल की तुलना में भारत का भयादोहन अधिक संयमित-संकोची तरीके से करता रहा। नेपाल की तरह भूटान के भारत के साथ नदी जल वितरण या तस्करी आदि को लेकर कोई मनमुटाव नही हैं। परन्तु भारतीय प्रभुत्व को लेकर भूटान व नेपाल की परेशानी एक जैसी है। हाल के वर्षों मे नेपाल की तरह अपनी स्वाधीनता प्रमाणित करने के लिए भूटान के लिए भारत के विरोध का स्वर मुखर करना अनिवार्य सा बन गया है। भले ही भूटान के दूतावास नई दिल्ली के अलावा सिर्फ संयुक्त राष्ट्र संघ और बगला देश मे ही हैं, किन्तु भूटानी राजनयिकों का रवैया और रुख-रुझान अपने को भारत से अलग दर्शाने वाला रहा है।

भारत, नेपाल और भूटान के आपसी सम्बन्धों मे दक्षिण एशियाई सहकार सगठन 'सार्क' की भूमिका काफी महत्वपूर्ण होती जा रही है। नेपाल का महत्व इसलिए भी बढा है कि सार्क का मुख्यालय काठमांडू मे स्थापित किया गया है तथा पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम एव लका मे सिहली-तमिल साम्प्रदायिक हिंसा के कारण क्षेत्रीय सहयोग की पारम्परिक रूपरेखा धूमिल हो गयी है। वैसे भी सार्क की प्रस्तावना मे पर्यावरण, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा आदि के जिन क्षेत्रों को रेखांकित किया गया है, उनके सन्दर्भ में नेपाल और भूटान के बीच आपसी सहयोग अधिक स्वाभाविक व सहज है क्योकि उनकी बहुसख्यक जनसख्या मगोल-वशज और एक जैसे प्राकृतिक-परिवेश की निवासी है। भारत को भविष्य में इन दोनो देशो के साथ अपने सम्बन्धो का निर्वाह करते समय इस तथ्य को समुचित महत्व देना होगा।

पिछले दिनों भूटान में ऐसी घटनाएँ घटी हैं, जिनको लेकर भारतीय विदेश नीति निर्धारक चिन्ताग्रस्त हुए हैं। भूटान सदियो से अपने आप मे सिमटा एक ऐसा भूमिबद्ध राज्य है, जिसके बारे में यह सोचा जाता था कि वहा कोई कष्ट या असंतोष नही है। आकर्षक युवक जिग्मे सिंघेवागचुक वहा के शासक ही नही, धर्मराज भी थे। भूटान की सास्कृतिक पहचान इतनी स्पष्ट और पड़ोसियों से अलग थी कि यह सोचने का सवाल ही नही उठता था कि सुख-शाति वाली घाटियो मे किसी तरह की हिंसक उथल-पुथल मच सकती है। मगर यह भ्रम आज टूट चुका है। जिग्मे सिंघे वागचुक के एकछत्र दैवीय शासनाधिकार को चुनौती देने वाले लोकतांत्रिक असतोष का विस्फोट एकाधिक बार हो चुका है। इसकी तुलना नेपाल मे राजशाही के विरुद्ध जनसघर्ष से नही की जा सकती। भूटान मे जिग्मे सिंघे वागचुक और उनके समर्थकों का कहना है कि यह सारी गडबड़ी राजनीतिक अस्थिरता पैदा करने वाले विदेशी षडयन्त्रकारी कर रहे हैं। यह बात सच है कि पिछले 30–40 वर्षों में भूटानी जनसख्या का स्वरूप तेजी से बदला है। रोजी-रोटी की तलाश मे आने वाले मजदूर, कारीगर और व्यापारी यहा बड़ी सख्या मे बस गये हैं। इनमें से अधिकाश नेपाली मूल के हैं। भाषा, रहन-सहन, धर्म, किसी भी मामले में इनका कोई साम्य भूटान के मूल निवासियों से नहीं है। जहा यह बात तर्कसंगत है कि पीढ़ी दर पीढ़ी भूटान मे रहते आये ये लोग अपने को दूसरे दर्जे का नागरिक मानने के लिए तैयार नहीं, वहीं इनको लेकर भूटानियों की चिन्ता भी समझ में आती है। आज भूटान के सामने यह खतरा उपस्थित है कि भूटानी अपने ही देश मे कहीं अल्प सख्यक न बन जायें और भूटान अपनी सास्कृतिक पहचान न गवा दे। भूटान के सामने सिक्किम का उदाहरण है, जहा आज नेपालियों की बढ़ती

साथ मैत्री सम्बन्ध पुष्ट किये। चीन इस वक्त दान और दंड दोनों उपकरणों का कुशल प्रयोग करने की स्थिति में था। 1962 के भारत की छवि शिथिल-पतनोन्मुख देश की थी तो चीन की एक उदीयमान शक्ति के रूप की।

नेपाल की तरह श्रीलंका का झुकाव भारत-चीन संघर्ष के बाद से चीन की ओर बढ़ा। चीन-समर्थित छापामार जनजातियों के विप्लव को देखते हुए बर्मा की सरकार भी चीनी आशा-अपेक्षा के अनुरूप भारत से विलग हो गयी। पाकिस्तान में इस समय फील्ड मार्शल अयूब खाँ का शासन था और उनके युवा विदेश मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो भारत की अक्षमता का भरपूर लाभ उठाने का कोई अवसर नहीं चूकना चाहते थे। भुट्टो की स्थिति और उनका अति-यथार्थवादी विश्व दर्शन चीनी मसूबों की पूर्ति में सहायक बना। चीनियों ने पाकिस्तान के साथ उसके द्वारा अधिकृत कश्मीर के बारे में एक सीमा समझौता कर लिया। इसके बाद भविष्य में किसी विवाद की संभावना का उन्मूलन करने के साथ-साथ भारत को और अधिक असमंजस में डालने वाली स्थिति पैदा हुई।

इन्हीं दिनों बेलग्रेड शिखर सम्मेलन (1961) में सुकार्णो और नेहरू जी की मुठभेड़ हुई। यों यह टकराव दो भिन्न व्यक्तित्वों तथा परस्पर-विरोधी चिन्तन प्रणालियों से उपजा था, परन्तु इसका प्रभाव भारत-चीन सम्बन्धों पर पड़े बिना नहीं रह सका। एक ओर सुकार्णो का मानना था कि नवउपनिवेशवाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये सबसे बड़ा संकट है तो दूसरी ओर नेहरू जी का मानना था कि नव-उपनिवेशवाद से कहीं अधिक अहमियत परमाणु युद्ध को टालने को दी जानी चाहिये। नेहरू जी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के हिमायती थे तो इण्डोनेशिया मुठभेड़ का। गुट निरपेक्ष खेमे में इस अन्तर-द्वन्द्व का लाभ उठाते हुए चीन ने नेहरू जी को समय से पीछे छोड़ दिया अर्थात् असमय सा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इण्डोनेशिया और भारत के बीच वैमनस्य बढ़ाने में चीन की सहायता इण्डोनेशियाई साम्यवादी पार्टी ने भी की, जो सुकार्णो सरकार की एक आधार स्तम्भ थी। 1965 तक पीकिंग-जकार्ता-पिंडी धुरी कारगर हो चुकी थी और यह सोचा जा सकता है कि इसके अभाव में 1965 में भारत-पाक मुठभेड़ शायद नहीं होती।[1]

1969 में चीन में महान सांस्कृतिक क्रान्ति के सूत्रपात से बाद व्यापक उथल-पुथल हुई और राजनयिक मामले कुछ समय के लिए पृष्ठभूमि में धकेल दिये गये। उधर इण्डोनेशिया में सुकार्णो का तख्ता पलट दिया गया और पाकिस्तान में अयूब खाँ के विरुद्ध असन्तोष-आक्रोश के विस्फोट ने उन्हें विस्थापित कर दिया।

परन्तु इससे ऐसा समझना गलत होगा कि भारत को इस घटनाक्रम का लाभ हुआ। पाकिस्तान में भारत के 'वैरी' भुट्टो प्रभावशाली बन रहे और अमरीका तथा चीन का एक-दूसरे के करीब आने में मध्यस्थ की भूमिका निभाने के बाद भारत को उन्होंने और भी अकेला-असहाय (सामरिक दृष्टि से) बना दिया। बंगला देश मुक्ति अभियान के दौरान चीन का आचरण अनुत्तरदायी व धौंस-धमकी वाला इसलिए बन सका कि वह इस बारे में आश्वस्त था कि इस बार अमरीका का समर्थन भारत को नहीं मिलेगा। बंगला देश युद्ध के दौरान अमरीका ने युद्धपोत राजनय अपनाकर भारत को आतंकित करने का प्रयत्न किया और इसके बाद से चीन-पाक-अमरीकी

[1] विस्तार के लिए देखें—Air Marshal (Retired) M. Asghar Khan, *The First Round: Indo-Pakistan War, 1965*.

रूप में देखना और देश करता रहा। औपनिवेशिक काल में भले ही भारत के राष्ट्रवादी नेताओं के साथ चीनी नेताओं ने भाईचारा जतलाया हो, लेकिन साम्यवादियों द्वारा सत्ता ग्रहण करने के बाद बराबरी का भाव कभी उनके मन में नहीं रहा। माओ और चाऊ एन लाई जैसे नेताओं को यह बात खिन्न करती रही कि आकार में छोटा, अपेक्षाकृत कम जनसंख्या वाला भारत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित है। इसके कई कारण थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक रिश्ते के कारण भारतीय नेता *अंग्रेजी भाषी थे और ब्रिटिश तथा अमरीकी सभा-समितियों* के तौर तरीकों से भली-भाँति परिचित भी। भारत ने अपनी आजादी शान्तिपूर्ण तरीके से प्राप्त की थी और गांधी-नेहरू जैसे सुधारवादी नेता अन्य देशों के जन-मुक्ति सैनिकों की अपेक्षा कम खतरनाक समझे जाते थे। डलेस भले ही गुट निरपेक्षता को 'अनितापूर्ण अवसरवादिता' समझते रहे हों, किन्तु शीत युद्ध के काल में तटस्थता शत्रु की पक्षधरता से कहीं अधिक सहनीय थी। भारत विदेशी सहायता लेने को तैयार था, जिससे एक खास तरह का खुलापन भारतीय समाज में था।

भारत, अफ्रीका और एशिया के अन्य देशों के पहले स्वतन्त्र हुआ और उसने अनेक अन्य मुक्ति संग्रामों को अपना समर्थन दिया। बाडुंग सम्मेलन (1955) तक बर्मा, इण्डोनेशिया, मिस्र आदि नेहरू जी को अपना अगुवा मानने लगे थे। चीन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री चाऊ एन लाई ने अपने संस्मरणों में यह बात स्वीकार की है कि बाडुंग के अवसर पर उनके प्रति नेहरू जी और कृष्णा मेनन का आचरण कृपालु-संरक्षक जैसा ही था। उस वक्त चीन को भले ही खून का घूंट पीना पड रहा हो, किन्तु आगे चलकर उसने इस मान हानि का बदला लेने का निश्चय कर लिया था। जब तक चीनियों को कोरियाई घटनाक्रम के बाद या हिन्द चीन प्रसंग में अमरीकियों का मुकाबला करने के लिए भारतीय समर्थन की आवश्यकता थी या जब तक वे आर्थिक व तकनीकी विकास के लिए सोवियत संघ पर निर्भर थे, उनका आचरण संयत रहा। परन्तु एक बार भारत के साथ सीमा विवाद को लेकर सम्बन्धों में कटुता प्रकट होने के बाद बेहिचक भारत के खिलाफ राजनयिक मोर्चाबंदी आरम्भ कर दी। 1960 से लेकर 1979 तक वे इस काम में लगे रहे और भारतीय विदेश नीति के क्रियान्वयन को शिथिल करने में एक बड़ी सीमा तक सफल भी रहे।

चीन के इस राजनयिक अभियान को *'चीन-पाक-अमरीका गठजोड़'* के रूप में पहचाना जाता है। कुछ वर्षों पहले तक इसका एक दूसरा रूप 'पिंडी-जकार्ता-पीकिंग धुरी' के रूप में दीखता था। समय-समय पर इस त्रिपक्षीय मोर्चे में नेपाल, श्रीलंका, बंगला देश जैसे सहयोगी-अनुचर जुटते-जुड़ते रहे हैं। भारत को अकेला करने की दिशा में चीन द्वारा उठाया पहला कदम नेपाल को अपनी ओर आकर्षित करना था। भारत-चीन सीमा विवाद के दौरान नेपाल की पूर्ण तटस्थ भूमिका ने भारतीयों को खिन्न किया। महाराजा महेन्द्र इस बात के लिए कटिबद्ध थे कि उनके निरंकुश शासन को किसी भी तरह की कोई चुनौती न दे सके। वह यह बात भली-भाँति पहचानते थे कि नेपाल में जनतान्त्रिक परिवर्तनों को भारत सरकार का समर्थन-सहानुभूति प्राप्त है। भले ही भारत ने इस मामले में पूरी सतर्कता बरती कि नेपाल उस पर अपनी आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप का आरोप न लगा सके, तब भी इस परिवर्तन से भारत-नेपाल सम्बन्धों का पारम्परिक सौहार्द कम हुआ। चीन ने इसका लाभ उठाया और बड़े पैमाने पर आर्थिक अनुदान की घोषणा कर नेपाल के

कि भले ही ऊपर से अमरीका कुछ भी कहे, अमरीकी-पाक गठबन्धन और इन दोनों देशों के हितों का सामरिक संयोग अभी बरकरार है। इस्लामी कट्टरपंथी विचारधारा के उफान और मादक द्रव्यों की तस्करी को लेकर अमरीका व पाकिस्तान के बीच भले ही बीच-बीच में मनमुटाव पैदा होता है, किन्तु इससे वस्तुस्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। अमरीकी सीनेट समय-समय पर पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम पर चिन्ता प्रकट करती है परन्तु इस कार्यक्रम की प्रगति अब तक अबाध रही है। अमरीकी विशेषज्ञ इस बात के प्रमाण जुटाते नहीं थकते कि पाकिस्तान ने अभी बम हासिल नहीं किया है। वे कहते हैं कि यदि वह ऐसा करेगा तो उसे अमरीकी सहायता से हाथ धोना पड़ेगा आदि। यह प्रश्न पूछने की फुर्सत किसी को नहीं कि यदि पाकिस्तान परमाणु बना लेता है तो उसे अमरीकी सहायता की विशेष जरूरत नहीं रहेगा और इस इस्लामी बम को काबू में रखने के लिए अमरीका उसके साथ और भी अधिक लचीला रुख अपना सकता है। एफ–16 विमान हों या अवाक्स, परमाणु कार्यक्रम हो या अफगान मुजाहिदीन के नाम पर दी गयी आर्थिक सहायता, इनका निशाना अन्ततः भारत ही रहा। अमरीकी नेतागण पूरे शिष्टाचार के साथ ही सही, भारत को यह धमकी देने का कोई अवसर नहीं चूकते कि वे पाकिस्तान के और विघटन के मूक साक्षी नहीं रहेंगे।

आज इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि पाकिस्तान अमरीकी केन्द्रीय कमान का एक प्रमुख अड्डा है और एशिया में चीन-अमरीका-पाक धुरी में विशेष महत्वपूर्ण राष्ट्र। भुट्टो के जीवन काल के भले ही पाकिस्तानी राजनयिकों ने चीन और अमरीका का उपयोग किया हो, परन्तु आज अमरीका और चीन मिल-जुलकर उसे अपने इशारों पर नचाने की स्थिति में हैं। जहाँ तक पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय सामरिक परिप्रेक्ष्य में चीन और अमरीका के हित इसके निर्विघ्न होने में ही सधते हैं। जब तक इस विषय में स्थिति अस्पष्ट रहती है, तब तक भारत चीन टकराव में चीन का पक्ष प्रबल रहेगा। समाचार पत्रों में प्रकाशित सूचनाओं के अनुसार चीनी प्रक्षेपास्त्रों का लक्ष्य दिल्ली और अमृतसर जैसे नगरों को बनाया गया है। अमरीकी विशेषज्ञों ने भारत के भयादोहन के लिए इस बात की विस्तृत पड़ताल शुरू कर दी है कि भारत-पाक परमाणु युद्ध के कितने भयानक परिणाम होंगे।

अमरीका-चीन गठजोड़—भारत के विरुद्ध अमरीकी चीनी साठगाँठ उतनी प्रत्यक्ष नहीं जितनी पाकिस्तान के सन्दर्भ में। फिर भी अमरीकी और चीनी राष्ट्रीय हितों का सन्निपात दूरगामी महत्व का है। 1950 और 1960 के दशक का यथार्थ कुछ भी रहा हो, 1971–72 में आजतक सारा घटनाक्रम इसी तथ्य को उद्घाटित करता है। जब बंगला देश मुक्ति अभियान के दौरान हेनरी किसिंजर ने भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के प्रति झुकाव (Tilt) की नीति अपनायी तो इससे प्रोत्साहित होकर चीन ने उत्तर-पूर्वी सीमान्त में धमकी देने के अन्दाज में सैन्य सचालन किया। सिक्किम के विलय की चीनी सरकार ने कड़ी आलोचना की और लगभग ऐसी तरह के तर्कों के आधार पर अमरीका समाचार-पत्रों में भारत की निन्दा की गयी। अब तक यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सिक्किम के चोग्याल की अमरीकी प्रेयसी-पत्नी होप कुक कुछ समय के लिए ही सिक्किम प्रेमी बनी थी। उसके अमरीकी गुप्तचर संस्था से सम्बन्ध होने वाली शंकाओं का निवारण कभी

धुरी जगजाहिर हो गयी।

1971–72 से आज तक इस राजनयिक स्थिति में कोई विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। विडम्बना तो यह है कि आज बंगला देश भारत की अपेक्षा चीन और पाकिस्तान के अधिक निकट है और उस पर अमरीकी प्रभाव साफ देखा जा सकता है। पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम को वाछित चीनी सहायता मिलती रही और विद्वानों का मानना है कि 'ट्रिगर' का परीक्षण चीनी भूमि में ही किया गया है। काराकोरम राजमार्ग का निर्माण चीनी सहायता से हो रहा है और पाकिस्तान को परिष्कृत चीनी शस्त्रों की बिक्री निरन्तर बढ़ी है। ऐसा नहीं लगता कि निकट भविष्य में स्थिति में कोई परिवर्तन होगा और भारतीय राजनय को चीन-पाक-अमरीकी धुरी को निष्फल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना पड़ेगा।

अमरीका-पाक गठजोड़—एक प्रकार से 1947 से ही विभिन्न अमरीकी सरकारों ने भारत के खिलाफ पाकिस्तान का पक्ष लिया है। जब नेहरू जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि गुट निरपेक्ष भारत किसी भी अमरीकी संगठन में शामिल नहीं हो सकता तो उसे सन्तुलित करने के लिए अपनी सामरिक जरूरतों के अनुसार अमरीका ने पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर सैनिक साज सामान देना आरम्भ किया। इस सैनिक सहायता की परिणति अन्ततः पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही की स्थापना में हुई। यह अमरीकी राष्ट्रीय हित के अनुकूल था, क्योंकि जनता द्वारा चुने गए किसी जनतान्त्रिक नेता की अपेक्षा तानाशाह को नियंत्रित-अनुशासित रखना आसान है। सैनिक संगठन 'सिएटो' तथा 'सेन्टो' की सदस्यता ग्रहण करने के बाद पाकिस्तान और भी खुले रूप से अमरीकी प्रभाव क्षेत्र में आ गया। भले ही फील्ड मार्शल अयूब खाँ ने अपनी जीवनी का शीर्षक 'फ्रेंड्स, नोट मास्टर्स' रखा, तब भी हर निष्पक्ष विवेचक का यही मानना रहा है कि पाकिस्तान की स्थिति अमरीका के उपग्रह-शिविरानुचर से अधिक नहीं।

पाकिस्तान और अमरीका में घनिष्ठ सम्बन्ध सिर्फ सैनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहे। भारत की तरह आत्म-निर्भर आर्थिक विकास का कोई हठ पाकिस्तान का नहीं रहा और अमरीकी कम्पनियों-बैंकों के लिए पाकिस्तानी बाजार खुला रहा है। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह नहीं कि इस बाजार का आकार कितना बड़ा है और अमरीका इसमें कितना मुनाफा कमाता है। असली बात तो यह है कि इन सम्बन्धों से जो आत्मीयता पनपी, उसका राजनयिक लाभ उठाया जाता रहा है। शीत युद्ध के वर्षों में पाकिस्तान ने इस क्षेत्र में संतरी बुर्ज (रैम्पर्ट) की भूमिका निभायी। सोवियत संघ के ऊपर उड़ान भरने वाले अमरीकी यू–2 विमान पेशावर अड्डे पर ही तैनात थे और भरोसेमंद सेवा का भरपूर पुरस्कार पाकिस्तान को मिला। चीन और अमरीका को पास लाने में पाकिस्तान ने महत्वपूर्ण योगदान किया।

1973 में तेल संकट के आविर्भाव के बाद अमरीकी नीति-निर्धारकों ने पश्चिम एशिया में तुरत तैनाती दस्ते (Rapid Deployment Force) की बात सोची और केन्द्रीय कमान का गठन किया। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप और ईरान में शाह के पतन के बाद दक्षिण एशियाई ही नहीं, पश्चिम एशियाई सन्दर्भ में भी पाकिस्तान अपनी भू-राजनीतिक स्थिति के कारण कई गुना अधिक महत्वपूर्ण बन गया। पाकिस्तान को दिये गये अवाक्स विमान, एफ–16 लड़ाकू विमान और 3·2 अरब डालर की सैनिक सहायता इस बात के प्रमाण हैं

भारत आकार, आबादी, शक्ति-सामर्थ्य, सम्भावना और क्षमता की दृष्टि से अपने पड़ोसी देशों की तुलना मे दैत्याकार है। पाकिस्तान, बगला देश, नेपाल और लका सास्कृतिक दृष्टि से जुड़वाँ सहोदर से हैं। प्रखर राजनयिक टिप्पणीकार शिशिर गुप्ता यह कहा करते थे कि इन छोटे पड़ोसी देशो के लिए यह एक मनोवैज्ञानिक विवशता है कि वे अपनी स्वतन्त्र राष्ट्रीय पहचान प्रमाणित करने के लिए भारत-विरोध का स्वर निरन्तर मुखर करते रहे हैं। इनमे से अनेक पड़ोसी देशो ने समय-समय पर बाहरी शक्तियों को हस्तक्षेप का आमन्त्रण देकर भारत को कृत्रिम रूप से सन्तुलित करने का प्रयत्न किया है। इसमे पाकिस्तान का अमरीका के साथ सैनिक गठबन्धन, नेपाल का चीन के प्रति झुकाव और लका की हिन्द महासागरीय नीति उल्लेखनीय है। यदि भारत अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन भर करता है तो उस पर भयादोहन (Blackmail) का आक्षेप लगाया जा सकता है। यदि भारत अपनी सदाशयता-सद्भावना प्रमाणित करने के लिए रियायतें देता है तो पड़ोसी देश उसकी दुर्बलता का लाभ उठाने का प्रयत्न करते है और अपनी विश्वसनीयता गँवाते रहे हैं। जनता सरकार के कार्यकाल मे नेपाल के साथ सन्धि का पुनरीक्षण, पुनर्नवीनीकरण, सशोधन तथा बगला देश के साथ फरक्का जलबन्ध समझौता इस अप्रिय तथ्य को उद्घाटित करते हैं। पाकिस्तान के विषय मे ताशकन्द और शिमला समझौते तथा लका के सन्दर्भ मे शास्त्री-सिरिमाओ समझौता तथा राजीव-जयवर्द्धने समझौता इसी कारण निष्फल रहे हैं।

विद्वानो का मानना है कि दक्षिण एशियाई सहकार परियोजना : 'सार्क' से भारत और उसके पड़ोसी देशो के बीच सम्बन्धो मे सामान्यीकरण की दिशा मे प्रगति हो सकेगी, परन्तु हमारी समझ मे इस मामले मे बहुत आशावादिता की गुजाइश नहीं। भारत के सभी पड़ोसी देशो के सामूहिक हित इसी मे हैं कि वे एक साथ एकजुट होकर भारत पर दबाव डाल सकें। दुर्भाग्यवश हाल के दिनों के घटनाक्रम ने दक्षिण एशियाई भू-राजनीतिक स्थिति को और भी जोखिम मे डाला है। पाकिस्तान मे बढ़ती अमरीकी उपस्थिति, लका मे विदेशी प्रवेश तथा सर्वत्र आतकवाद एव साम्प्रदायिक विद्वेष मे वृद्धि ने सहकार की अपेक्षा टकराव की सम्भावना ही बढ़ायी है। चीन और पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों मे सामान्यीकरण की दिशा मे ठोस प्रगति के अभाव मे अन्य पड़ोसी देशो के साथ भी सम्बन्ध असहज ही बने रह सकते हैं। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए यही निष्कर्ष तर्कसगत लगता है कि भारत पड़ोसी देशों के साथ अपने सम्बन्धों के निर्वाह मे पूर्णत. असफल नहीं समझा जा सकता। हालांकि यह जोड़ने की जरूरत है कि निकट भविष्य मे उस कुशल एव सतर्क राजनय की आवश्यकता पड़ती रहेगी।

भारत व दक्षिण-पूर्व एशिया
(India and South-East Asia)

आज जिस भू-भाग को दक्षिण-पूर्व एशिया कहा जाता है, उसमे बर्मा (मयानमार), थाईलैण्ड, मलयेशिया, सिंगापुर, इण्डोनेशिया, कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम और फिलीपीस नामक देश शामिल हैं। इस क्षेत्र मे सबसे नवोदित राष्ट्र ब्रुनई है, परन्तु इसे एक तरह से मलय राष्ट्र का पर्याय-परिशिष्ट (Synonym and Appendix) ही समझा जाता है। ब्रुनई अपने छोटे आकार और अपार तेल सम्पदा के कारण

नहीं हो पाया। इसी तरह जिस समय चीन भारत के उत्तर-पूर्वी सीमान्त पर नागा-मिजो विद्रोहियों को सैनिक साज-सामान, सहायता और शरण दे रहा था, उस वक्त अमरीकी मिशनरी इस क्षेत्र में सक्रिय थे और राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से कटे इन अल्पसख्यकों में राजनीतिक चेतना के नाम पर अलगाव फैला रहे थे।

अमरीका ने चीन के पक्ष में अपना राजनय बेहद कुटिल ढग से सम्पादित किया। सतही दृष्टि डालने से यह लग सकता है कि जो अमरीकी तिब्बत की स्वाधीनता के पक्षधर रहे है और दलाई लामा को हर सम्भव सहायता देते रहे हैं, वह कैसे चीन के पक्षधर हो सकते हैं ? दलाई लामा भारत मे शरण लिये हुए है। जब तक तिब्बत का प्रश्न हल नही होता, भारत-चीन सम्बन्धो के सामान्यीकरण मे एक बडी अडचन बनी रहेगी।

अब तक कई घटनाओं मे अमरीका यह दर्शा चुका है कि भारत के भूमिबद्ध पडोसियों नेपाल व भूटान के राजनयिक परोक्ष रूप से भारत के विरुद्ध सूक्ष्म प्रचार द्वारा चीन की स्थिति मजबूत करते हैं। बाद मे अमरीकियो ने आवरण के पीछे काम करना बन्द कर दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से भारत को यह मैत्रीपूर्ण सलाह दी कि उसे सीमान्त पर चीन को भडकाने-उकसाने वाली कोई हरकत नही करनी चाहिए, अन्यथा इसके खतरनाक परिणाम सामने आ सकते हैं। इसके ठीक पहले चीन ने भारत पर यह आरोप लगाया था कि भारत विवादास्पद सीमा के आस-पास उसकी जमीन कुतर रहा है। अमरीकी विदेश विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी की चीन यात्रा के बाद दिया गया यह वक्तव्य अमरीकी पक्षपात का उदाहरण है।

अरुणाचल को राज्य का दर्जा दिये जाने का चीन ने जोरदार विरोध किया। उस वक्त भी अमरीकी प्रशासन ने भारत की भौगोलिक अखण्डता या अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त सीमा के बारे में अपनी स्थिति स्पष्ट नही की। यदि वस्तुनिष्ठ ढग से देखें तो इसी निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है कि आने वाले कई वर्षों तक चीन-अमरीकी-पाक धुरी भारत के लिए सिरदर्द बनी रहेगी। जहाँ पाकिस्तान और अमरीका ने भारत के साथ 'वैर' अवसरवादी ढंग से निभाया है, वहीं चीन ने एक सुनिश्चित-सुनियोजित कार्यक्रम के अनुसार आचरण किया है। आज शक्ति-सामर्थ्य और प्रतिष्ठा की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर चीन और भारत की कोई समता नही रही। इस उपलब्धि के लिए पहले चरण मे पीकिंग-पिण्डी-जकार्ता धुरी तथा बाद के वर्षों मे चीन-अमरीका-पाक त्रिकोण बेहद उपयोगी सिद्ध हुए।

पड़ोसी देशों के प्रति भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन
(Assessment of Indian Foreign Policy Towards Its Neighbouring Countries)

उपर्युक्त सर्वेक्षण से ऐसा लग सकता है कि पड़ोसी देशों के साथ भारतीय विदेश नीति बुरी तरह असफल रही है। चीन हो या पाकिस्तान, नेपाल हो या श्रीलंका, बगला देश हो या भूटान, सभी पड़ोसी देशों के साथ भारत के कटु विवाद उभरते रहे हैं। चीन, पाकिस्तान और श्रीलंका के सन्दर्भ में बल प्रयोग तक की आवश्यकता पड़ चुकी है। परन्तु यदि वस्तुनिष्ठ ढग से देखें तो यथार्थ इससे भिन्न है।

राजनयिक सम्पर्कों का प्रश्न ही नहीं उठता था। बाद के वर्षों में राष्ट्रमण्डल की सदस्यता तथा बड़े पैमाने पर भारतीय मूल के नागरिकों के रहने के कारण मलयेशिया और सिंगापुर के साथ भारत की घनिष्टता रही है।

सम्बन्धों में नाटकीय परिवर्तन—1960 वाले दशक में दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के साथ भारत के सम्बन्धों में नाटकीय परिवर्तन हुआ। इसका एक प्रमुख कारण वियतनामी गृह युद्ध में अमरीका का बढ़ता हस्तक्षेप था। दूसरा कारण दक्षिण पूर्व एशियाई देशों की आन्तरिक राजनयिक स्थिति में परिवर्तन था। एक ओर इण्डोनेशिया में सुकार्णो की सरकार व्यक्तिगत तानाशाही में बदल गयी तो दूसरी ओर मलयेशिया और सिंगापुर एक महासंघ की स्थापना पर विचार करने लगे। इस प्रस्ताव को लेकर पश्चिमी खेमे के पक्षधर देशों में भी फूट पड़ गयी। इन्हीं वर्षों में चीन के साथ भारत के सम्बन्धों में तेजी से बिगाड़ हुआ और भू राजनीतिक कारणों से इसका प्रभाव दक्षिण एशियाई देशों के साथ भारत के सम्बन्धों पर पड़ा। नेहरू जी के जीवन काल में भारत की विदेश नीति या तो महाशक्तियों पर केन्द्रित (विश्व शान्ति गुट निरपेक्षता आदि को लेकर) रही या उसका एक बड़ा हिस्सा पाकिस्तान की चुनौती का सामना करने में बीता। 1947 से 1964 तक भारतीय विदेश नीति नियोजकों के पास दक्षिण पूर्व एशिया के छुटभय्या के लिए फुर्सत न थी।[1]

तीन प्रमुख कसौटियाँ—वस्तुतः दक्षिण पूर्व एशिया के साथ भारत के सम्बन्धों का समुचित विवेचन इन्दिरा गांधी के कार्यकाल में ही किया जा सकता है। तब से अब तक भारत और दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के बीच सम्बन्धों को तीन प्रमुख शीर्षकों में बाँटा जा सकता है—सामरिक आर्थिक और सांस्कृतिक। इन्हीं कसौटियों को उपलब्धियों पर कसा जाना चाहिये। आसियान देशों तथा वियतनामी वर्चस्व वाले हिन्द चीन के बीच द्वन्द्व में भारत की भूमिका को समुचित ढंग से समझने के लिए भी अपने राष्ट्रीय हित को इन तीन श्रेणियों में विभाजित कर विश्लेषित करना उपयोगी होगा।

1965 का युद्ध और भारत इण्डोनेशिया सम्बन्ध—1965 की भारत-पाक सैनिक मुठभेड़ ने भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच सम्बन्धों पर बुरा असर डाला। इण्डोनेशिया के तत्कालीन राष्ट्रपति सुकार्णो भारतीय नेताओं से बुरी तरह विमुख हो चुके थे। उन्होंने इस युद्ध के दौरान पाकिस्तानी शासकों को यह सन्देश भेजा कि यदि वे चाहें तो वह भारत को मुसीबत में डालने के लिए अण्डमान निकोबार द्वीप समूह पर कब्जा कर सकते हैं। यह याद रखने लायक बात है कि इण्डोनेशिया के द्वीप सुमात्रा से यह भारतीय प्रदेश कुछ ही किलोमीटर दूर है और नौसैनिक दृष्टि से हिन्द महासागर के एक बहुत बड़े इलाके पर नियन्त्रण बनाए रखने के लिए इसका अपना सामरिक महत्व है। पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव में रुचि नहीं दिखाया। इसके तत्काल बाद इण्डोनेशिया में सुकार्णो का तख्ता पलट गया और बहुत बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक रक्तपात हुआ। तत्पश्चात सुहार्तो ने शासन की बागडोर सँभाली और इण्डोनेशियाई राजनीति में साम्यवादियों का सफाया शुरू हुआ

[1] इस बारे में विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण के लिए देखें—D. R. Sardesai *India's Foreign Policy in Cambodia, Laos and Vietnam* 1947 1964 (Burkley 1968) और Ton That Thien *India and South East Asia* 1947 1960 (Geneva 1963).

भले ही अक्सर चर्चित रहा है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक शक्ति समीकरणों में इसका महत्व नगण्य है। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में बर्मा पूर्णतः तटस्थ व एकान्तवासी देश है और कम्बोडिया, लाओस एवं वियतनाम को छोड़कर अन्य सभी छह देश क्षेत्रीय संगठन 'आसियान' के सदस्य है। आसियान देश का रुझान पश्चिमी-पूँजीवादी है और अमरीकी सामरिक परिप्रेक्ष्य मे उनकी साझेदारी है। हिन्द चीन के राष्ट्र लाओस, कम्पुचिया व वियतनाम समाजवादी-साम्यवादी राष्ट्र हैं और सोवियत संघ के पक्षधर। इसके बावजूद वियतनाम चीन के साथ युद्ध लड़ चुका है। इन सब बातो का आरम्भ में उल्लेख जरूरी है क्योकि दक्षिण-पूर्व एशियाई देशो के साथ भारत के सम्बन्ध एक बड़ी सीमा तक इन अन्तर-सम्बन्धो के आधार पर संचालित होते हैं।

सदियों पुराने सम्बन्ध—'दक्षिण पूर्व एशिया' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान लार्ड माउन्टबेटन ने किया था जो लंका स्थित दक्षिण-पूर्व एशियाई कमान के सेनानायक थे। परन्तु इन देशो के साथ भारत के सम्बन्ध सदियों पुराने है। हिन्द चीन मे फुनान और चम्पा के राज्य तथा इण्डोनेशिया में श्रीविजय, मजपहित, शैलेन्द्र आदि साम्राज्य आज भी इतिहास की पुस्तको मे 'वृहत्तर भारत' के शीर्षक से प्रसिद्ध हैं। फिलीपीस को छोड़कर इन सभी दक्षिण-पूर्व एशियाई देशो की भाषा, सस्कृति, कला व समाज पर भारत की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है।[1] जिस वक्त भारत आजाद हुआ, उस वक्त नई दिल्ली मे एशियाई सम्बन्ध सम्मेलन (1947) के आयोजन ने दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के साथ भारत के सम्बन्धों को सौहार्दपूर्ण एवं स्थिर बनाने में सहायता प्रदान की। भारतीय स्वाधीनता सग्राम के दौरान नेहरू जी के व्यक्तिगत सम्पर्क वियतनाम के हो ची मिन्ह तथा इण्डोनेशिया के हट्टा एवं सुकार्णो जैसे लोगो से हुए थे। बाद मे ओगसान उनके करीब आये और कम्पुचिया के सिंहनुक उनसे प्रभावित हुए। फिर भी यह सोचना गलत होगा कि भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के सम्बन्धों में कोई उतार-चढाव नही आया।

शीत युद्ध का आविर्भाव व भारत-दक्षिण पूर्व एशिया सम्बन्ध—शीत युद्ध के आविर्भाव के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया साफ-साफ तीन हिस्सो मे बँट गया। एक ओर सैनिक सगठन 'सिएटो' के सदस्य देश (थाईलैण्ड, दक्षिण वियतनाम व फिलीपीस) थे तो दूसरी ओर गुट-निरपेक्ष देश (इण्डोनेशिया, बर्मा व कम्पुचिया) थे। इसके अलावा सोवियत सघ व चीन के पक्षधर देश (उत्तरी वियतनाम व लाओस) थे। गुट-निरपेक्षता व नेहरू के व्यक्तिगत रुझान और संस्कार के कारण 1947 से लेकर 1960–61 के दौर तक भारत के सबसे करीबी एवं मधुर सम्बन्ध इण्डोनेशिया व कम्पुचिया के साथ रहे। हालाँकि उन्होंने सिएटो के सदस्य देशों की निरन्तर भर्त्सना की तथापि सास्कृतिक कारणों से थाईलैण्ड के साथ भारत के सम्बन्ध मधुर रहे। यह उल्लेखनीय है कि 1950 वाले दशक मे मलयेशिया व सिंगापुर पराधीन थे और 1954 के जेनेवा सम्मेलन तक हिन्द चीन के देशों के साथ भी स्वतन्त्र

[1] देखें—John F. Cady, *South East Asia: Its Historical Development* (New York, 1964); G. Coedes, *Indianized States of South East Asia* (Honolulu, 1968); और B. R. Chatterji, *Southeast Asia in Transition* (Meerut, 1965).

जैसे पारम्परिक मित्रों का प्रभाव इस क्षेत्र में और भी कम हुआ।

निराशाजनक अवमूल्यन से बचाव—इसके साथ ही कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ-घटनाएँ सामने आयीं, जिन्होंने भारत को 'निराशाजनक अवमूल्यन' से बचाया। 1971 में बंगला देश मुक्ति अभियान के दौरान भारत ने अपने सैनिक बल का प्रदर्शन किया। इन्दिरा गांधी के कार्यकाल में हरित क्रान्ति की सफलता ने भारत को खाद्यान्नों के मामले में आत्मनिर्भर बनाया और उसके आत्म-सम्मान को लौटाया। भारत ने 1976 में चीन के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया भी आरम्भ की। इन सब बातों का मिला-जुला प्रभाव यह हुआ कि दक्षिण-पूर्व एशिया के लिए यह असम्भव हो गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सन्दर्भ में भारत की अवहेलना कर सके।

आसियान में भारतीय सदस्यता का मसला—1967 में आसियान नामक क्षेत्रीय संगठन की स्थापना हुई, परन्तु इसका पहला शिखर सम्मेलन 1976 में आयोजित किया जा सका। इस सम्मेलन के बाद ही दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय भूमिका के बारे में अटकलें लगाया जाना तेज हुआ। इस समय तक वियतनाम में युद्ध विराम हो चुका था और वियतनाम का पुनरेकीकरण भी सम्पन्न हो चुका था। जहाँ एक ओर यह प्रस्ताव रखा गया कि भारत को आसियान के औपचारिक सदस्य के रूप में न सही, मानद पर्यवेक्षक के रूप में ही आमन्त्रित कर लिया जाय, वहीं दूसरी ओर हिन्द चीन के समाजवादी देशों के साथ भारत की घनिष्ठता को देखते हुए पश्चिमोन्मुखी आसियान देशों की सरकारों की शंका बढ़ी। भारत के साथ सहकार और भी सीमित हुआ। इसमें सिंगापुर और इण्डोनेशिया ज्यादा मुखर रहे। भारत को आसियान में मानद पर्यवेक्षक या सदस्य बनाने पर भले ही मलयेशिया और थाइलैण्ड स्वयं आपत्ति करने वालों में नहीं थे परन्तु बाद में उनका आचरण भी पहले जैसा आत्मीय नहीं रहा।

भारत वियतनाम निकटता पर शंकाएँ—यह सच है कि भारत ने वियतनाम को युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर सहायता दी और पोलपोट के विस्थापन के बाद कम्पुचिया के साथ भी तकनीकी और आर्थिक सहकार की प्रक्रिया तेज हुई। फिर भी, आसियान देशों का यह सोचना ठीक नहीं कि भारत की नीतियाँ एवं गतिविधियाँ सामरिक दृष्टि से प्रेरित थीं और उनके राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल थीं। शान्ति समझौते पर हस्ताक्षर करते वक्त स्वयं अमरीका ने वियतनाम को बहुत बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता देने का वचन दिया था। अमरीका के मुकर जाने के बाद ही वियतनाम को अन्यत्र मदद ढूँढनी पड़ी थी। सामाजिक व राजनीतिक कारणों से वियतनामी सरकार ने अपने विकास के लिए जो दिशा और गति तय की थी, उसके अनुसार भारत ही उसका 'भरोसेमन्द सहकारी देश' साबित हो सकता था। यह सच है कि सोवियत संघ के साथ भी वियतनाम के सम्बन्ध बहुत मधुर रहे तथापि ऐसा नहीं सोचा जा सकता कि भारत ने सोवियत प्रभाव में आसियान राष्ट्रों के महत्व को कम करने के लिए किसी सुनियोजित षड्यन्त्र के अन्तर्गत कोई कदम उठाये। अनेक अमरीकी एवं अमरीका के पक्षधर विद्वान 1967 से 1986–87 तक यह विश्लेषण प्रकाशित करते रहे कि दक्षिण-पूर्व एशिया में आसियान देशों और हिन्द चीन के देशों के बीच राजनीतिक व सांस्कृतिक ध्रुवीकरण हो चुका है और इसके दूरगामी सामरिक परिणाम होंगे। यह निष्कर्ष बहुत तर्कसंगत नहीं था।

इस्लामी तत्व पृष्ठभूमि में चले गये और सुकार्णो के करिश्माती नेतृत्व का स्थान सुहार्तो ने लिया। यह सब परिवर्तन इतने महत्वपूर्ण थे कि आज भी इण्डोनेशिया के इतिहास में इन दो कालखण्डों का अध्ययन पुरानी और नई व्यवस्था के रूप में किया जाता है।

सुकार्णो के अपदस्थ होने बाद भी भारत और इण्डोनेशिया के बीच सम्बन्धों में विशेष सुधार नहीं हो सका। इसके कई कारण हैं। सुकार्णो का रुझान आन्तरिक कारणों से साम्यवादी चीन के प्रति था तो सुहार्तो अमरीका की तरफ झुके हुए रहे। दोनों ही हालत में इण्डोनेशिया के साथ गुट निरपेक्ष भारत की घनिष्ठता घट ही सकती थी। इसके अतिरिक्त सुकार्णो के बाद इण्डोनेशिया में तेल की खोज, उसके शोध एवं निर्यात से इतने बड़े पैमाने पर विदेशी मुद्रा अर्जित की गयी कि उसके आर्थिक विकास कार्यक्रमों का स्वरूप ही आमूल-चूल बदल गया। आर्थिक दृष्टि से समर्थ होने के बाद इण्डोनेशिया के लिए भारत से प्राप्त हो सकने वाली मदद का कोई विशेष आकर्षण नहीं रहा। इस प्रकार इण्डोनेशिया क्रमशः अमरीका के निकट जाता रहा और उसकी गुट निरपेक्षता के ह्रास के साथ-साथ वियतनामी युद्ध में उसकी पक्षधरता ने उसे *भारत से दूर किया।*[1] इसके अलावा 1967 में 'आसियान' नामक क्षेत्रीय संगठन में गठन के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया में क्षेत्रीय एकीकरण की भावना प्रबल हुई और भारत की पहचान एक बाहरी देश के रूप में सामने आयी। 1965 से 1969 तक इन्दिरा गांधी देश में दुर्भिक्ष, विदेशी मुद्रा संकट और कांग्रेस पार्टी की अन्दरूनी फूट से जूझती रही थी। हिन्द चीन में अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षक आयोग में भारत की भूमिका अमरीकी आक्रामकता के उफान के सामने बिलकुल निरर्थक सिद्ध हो रही थी। इस अक्षमता के प्रदर्शन के बाद दक्षिण-पूर्व एशिया के पड़ोसी क्षेत्र में भारत *की आर्थिक क्षमता या सांस्कृतिक प्रतिष्ठा की बात करना* बिलकुल बेकार था। सिर्फ इतना ही अच्छा रहा कि 1968-69 में चीन-सोवियत विग्रह के विस्फोट और चीन में महान सांस्कृतिक क्रान्ति के सूत्रपात के बाद चीन भी दक्षिण-पूर्व एशिया में निष्क्रिय हो गया। यदि ऐसा न होता तो भारत को और भी बड़ा राजनीतिक और सामरिक नुकसान उठाना पड़ता।

भारत के साथ सम्बन्धों को प्राथमिकता नहीं—स्वयं दक्षिण-पूर्व एशिया के देश आन्तरिक राजनीतिक दबावों के कारण अन्यत्र व्यस्त रहे। इनमें से किसी के लिए भी *उभयपक्षीय कसौटी पर भारत के साथ सम्बन्ध प्राथमिकता वाले* नहीं थे। मलयेशिया और सिंगापुर आपसी सम्बन्धों के सामान्यीकरण में व्यस्त रहे तो कम्बुचिया में 1970 में सिहानुक की तख्तापलट के बाद विनाशक आत्मघाती गृह युद्ध के आरम्भ ने हिन्द चीन के भविष्य पर कई प्रश्न चिन्ह लगा दिये। वियतनाम में गृह युद्ध की समाप्ति और पुनरेकीकरण से भी स्थिति सहज एवं स्थिर नहीं हुई, क्योंकि वियतनाम-चीन सम्बन्धों में तनाव बढ़ने के साथ 'एक सीमित शीत युद्ध' इस क्षेत्र में सतह पर उभर आया। वर्मा ने तो 1962 में ही अपनी अलग एकान्तवासी राह चुन ली थी। अब उसने अपने को गुट निरपेक्ष आन्दोलन से भी बाहर कर लिया। इस दौर में ही जापान और आस्ट्रेलिया ने दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्र में अपना आर्थिक प्रभाव बढ़ाया और उनको इस पृष्ठभूमि के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया के भारत

[1] भारत-इण्डोनेशिया सम्बन्धों पर विस्तृत विश्लेषण के लिए देखें—B. D. Arora, *Indian-Indonesian Relations*, 1961-80 (Delhi, 1981).

मार्कोस का पतन और कोरी एक्विनो द्वारा शासन की बागडोर सभालने (1986) के बाद भारत को इस दूरस्थ देश के साथ घनिष्ठता बढ़ाने का मौका मिला। मार्कोस के 18 वर्षीय शासन काल मे लगभग एक दर्जन वर्ष सैनिक तानाशाही को समर्पित थे। इसके चलते भारत किसी ठोस प्रगति की अपेक्षा नही कर सकता था। सिर्फ इतना अवश्य था कि जिस तरह अपने दक्षिणी प्रान्तों में लीबिया समर्थित कट्टरपंथी मुसलमानों की बगावत से मनीला सरकार उद्विग्न थी, उसी तरह भारत भी इस्लामी उग्रपंथी ज्वार के स्वदेश मे पड सकने वाले प्रभाव से चिन्तित था। श्रीमती एक्विनो के राष्ट्रपति बनने के बाद भारत को ऐसा लगता रहा कि फिलीपीस के साथ अब कई लाभप्रद उभयपक्षीय सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते है। फिलीपीस में स्थित अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थानो की अध्यक्षता भारतीय प्रशासक एव वैज्ञानिक कर रहे हैं और इनके माध्यम से भी इन दो राष्ट्रो के बीच सवाद पुष्ट होता है। यहाँ वह टिप्पणी भी आवश्यक है कि फिलीपीस के सन्दर्भ मे ही नही बल्कि मलयेशिया तथा इण्डोनेशिया के मामले मे भी वैदशिक सम्बन्धो म इस्लामी सक्रियता का प्रभाव स्पष्टत देखा जा सकता है।

सम्बन्धों का आर्थिक आयाम—दक्षिण-पूर्व एशियाई देशो के साथ भारत के सम्बन्धो का एक और आयाम है—आर्थिक क्षेत्र मे सयुक्त उद्यम (Joint Ventures)। सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के अनेक भारतीय उद्यमी इण्डोनेशिया, मलयेशिया और थाईलैण्ड में पूँजी निवेश या सयन्त्रो की स्थापना कर चुके हैं। इनके वस्तुनिष्ठ मूल्याकन से अब तक मिले जुले निष्कर्ष ही सामने आये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर भले ही इस पूँजी का परिमाण ज्यादा न हो परन्तु इनक माध्यम से भारत की तकनीकी क्षमता तो प्रदर्शित होती ही है और विशेष मैत्री के प्रतीक के रूप मे इनकी अपनी उपयोगिता भी है। किन्तु साथ-साथ इनकी असफलता और अकुशलता के कारण भारत की छवि धूमिल भी होती रही है। विडम्बना यह है कि अधिकतर ऐसे उद्यम आसियान देशो मे हैं, जो इनके बावजूद भारत को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

खास परिवर्तन की सम्भावना नहीं—कुल मिलाकर, आज दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के साथ भारत के सम्बन्ध 'पिछड़ी स्थिति' में हैं। इनका स्वरूप न तो ऐतिहासिक-पारम्परिक रह गया है और न ही यह किसी नये साँचे मे ढाला जा सका है। भारत सामरिक व सैद्धान्तिक रूप मे वियतनाम के करीब है जबकि आर्थिक आदान-प्रदान आसियान के साथ ज्यादा बडे पैमाने पर सचालित होता है। दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्र भारत का पड़ोस अवश्य है परन्तु महाशक्तियो के प्रवेश के कारण भारत तुलनात्मक दृष्टि स एक नगण्य शक्ति के रूप मे देखा जाता है। जापान की आर्थिक क्षमता के आगे भारत की आर्थिक पहल बौनी साबित होती रही है। ऐसा नही जान पडता कि निकट भविष्य मे इस स्थिति मे कोई खास परिवर्तन होगा। फिर भी, भारत इन देशो की उपेक्षा-अवहेलना नही कर सकता, क्योंकि दक्षिण-पूर्व एशिया सामरिक महत्व का पार्श्व (flank) है।

भारत, ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल
(India, Britain and Commonwealth)

ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य के विघटन के साथ ही राष्ट्रमण्डल का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व सामने आने लगा। यो औपनिवेशिक काल मे ब्रिटिश राष्ट्रकुल

वियतनाम से प्रतिद्वन्द्विता या स्पर्धा सिर्फ इण्डोनेशिया की हो सकती थी या वियतनाम की सैनिक शक्ति की दहशत तात्कालिक रूप से सिर्फ थाईलैण्ड महसूस कर सकता था। निश्चय ही वियतनाम को दी गयी भारतीय सहायता व सहयोग का परिमाण और प्रकार ऐसा नही था कि वह शक्ति-सन्तुलन को प्रभावित कर सके।

भारत और वियतनाम जिस कारण अत्यन्त निकट आ सके, वह चीन द्वारा वियतनाम पर हमला (1979) करना था। सीमा सघर्ष और सैद्धान्तिक विवाद ने चीन व वियतनाम के बीच सैनिक मुठभेड का रूप लिया और चीन ने अपने आक्रमण के लिए वही क्षण चुना, जब तत्कालीन भारतीय विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी चीन का दौरा कर रहे थे। इस अभियान के दौरान वियतनाम को सबक सिखाने के सिलसिले मे अपमानजनक ढग से '1962' (भारत-चीन मुठभेड) की याद ताजा की गयी। इस प्रकार अनायास ही वियतनाम तथा भारत को वृहत्तर अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अपने सामरिक हितो का सजोग नजर आने लगा।

कम्बोडिया मे हेंग सामरिन सरकार को मान्यता देने का प्रश्न—इसी तरह कम्बोडिया मे वियतनामी हस्तक्षेप और नई हेंग सामरिन सरकार को भारत द्वारा मान्यता दिये जाने ने दक्षिण-पूर्व एशिया के सन्दर्भ मे भारतीय राजनय को जटिल बनाया है। इस बात से कोई भी इन्कार नही करता कि कम्बोडिया की पोल पोट सरकार उत्पीड़क, अत्याचारी और वंशनाशक थी। इसी कारण सदियो पुराना अदना वैर भूलकर अधिकतर कम्बोडियावासी वियतनामी सहायता स्वीकार करने को तैयार हुए। परन्तु नई हेग सामरिन सरकार के गठन के साथ ही कम्बोडिया के सभी 'मित्र देश' उसके शत्रु बन गये। अपने भू-राजनीतिक पूर्वाग्रहो के कारण या वियतनामियो को नीचा दिखाने के लालच मे कम्बोडिया को मान्यता दिये जाने का प्रश्न जान-बूझकर और भी उलझा दिया गया। यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि इस सिलसिले मे भी भारत अपनी नीतियो को स्वतन्त्र प्रमाणित करने मे असमर्थ रहा। कम्बोडिया को मान्यता देने वालो मे सोवियत सघ और उसके पक्षधर समाजवादी देशो के साथ भारत अकेला गुट निरपेक्ष राष्ट्र है। भारत के तमाम प्रयत्नो के बावजूद गुट निरपेक्ष आन्दोलन और संयुक्त राष्ट्र सघ मे कम्बोडिया की सीट खाली रखी गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के शोर-शराबे में इस समस्या का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करना दुरूह हो गया है। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत के राष्ट्रीय हित मे हेग सामरिन सरकार को मान्यता देने के अलावा और कोई निर्णय नही लिया जा सकता था। 1980 मे जब इन्दिरा गाधी ने पुनः सत्ता प्राप्त करने के लिए चुनाव लड़ा तो उन्होंने अपने चुनाव घोषणा पत्र मे कम्बोडिया को मान्यता देना एक प्रमुख मुद्दा माना था। इस बात को भी अनदेखा करना कठिन है कि सहस्रो वर्षों से कम्बोडिया भारत के सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र मे शामिल किया जाता रहा है। सिहानुक के शासन काल से ही कम्बोडिया के साथ भारत के सम्बन्ध विशेष रूप से आत्मीयता के रहे है। भारत के सामने ऐसी कोई विवशता नही कि वह दूसरो की नजर से कम्बोडिया को देखे या परखे। कुछ वर्षों बाद स्वय आसियान के राष्ट्र और प्रमुख नेतागण कम्बोडिया समस्या के हल के लिए वियतनाम के साथ सीधे सवाद के लिए तैयार हो गये थे। भारतीय विदेश नीति की दूरदर्शिता कम से कम इस मामले मे भलीभांति प्रमाणित हो चुकी है।

फिलीपींस से घनिष्ठता बढ़ाने का मौका—फिलीपींस द्वीप समूह मे तानाशाह

की सुनियोजित जुगलबंदी के आगे उन्हें सफलता नहीं मिली। सिर्फ भारतीयों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाने के कारण 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' का नाम बदल कर 'राष्ट्रमण्डल' किया गया। इसके साथ ही राष्ट्रमण्डल सचिवालय को एक कार्यकुशल विभाग के रूप में गठित करने का प्रयत्न आरम्भ हुआ और इसके सदस्य देशों को 'कनिष्ठ ही नहीं', सहयोगी, सहकारी व सहभागी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। उन्हें यह महसूस कराने के लिए कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता उनके लिये लाभप्रद है, ब्रिटेन ने विकासोन्मुखी तकनीकी व आर्थिक सहकार की महत्वाकांक्षी परियोजनाओं की तत्काल घोषणा कर दी।

ऐसा सोचना ठीक नहीं कि नेहरू जी और कृष्णा मेनन सिर्फ अपने अंग्रेजी-प्रेम और अंग्रेजियत के कारण राष्ट्रमण्डल के प्रति आकर्षित होते थे। इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि भारत, पाकिस्तान और इसके जैसे किसी अन्य भूतपूर्व उपनिवेश की सबसे पहली जरूरत आर्थिक विकास की गति को तेज करना था। इसके लिए यह आवश्यक था कि इन देशों के आर्थिक क्रियाकलाप एवं विकास में व्यवधान न पड़े, विदेशों से पूंजी निवेश होता रहे, वांछित तकनीक का आयात हो सके और आवश्यकतानुसार विशेषज्ञों व प्रशासकों का किफायती प्रशिक्षण चलता रहे। स्पष्ट है कि राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनने का निर्णय ले लिये जाने पर वह देश 'स्टर्लिंग क्षेत्र' में बना रहेगा। इस प्रकार राष्ट्रमण्डल के माध्यम से वह सब काम आसान बन जाता।[1]

इसके साथ ही राष्ट्रमण्डल को एक परिवार के रूप में देखने का लाभ यह था कि इसके सदस्य राष्ट्रों के उभयपक्षीय विवादों को सुला-छिपाकर रखने और उनके शान्तिपूर्ण समाधान की सम्भावना बढ़ जाती थी। मसलन, भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर विवाद को लेकर हुआ सीमा-संघर्ष दोनों देशों की राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के कारण कुछ समय बाद उतना विस्फोटक नहीं रहा, जितना आरम्भ में दृष्टिगोचर होता था। बँटवारे के बाद बड़े पैमाने पर रक्तपात को एक सीमा तक नियन्त्रित करने में भी यह बात भी निर्णायक रही कि भारत और पाकिस्तान दोनों के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष ब्रिटिश थे। आज तक यह मिथक बना हुआ है कि राष्ट्रमण्डलीय शिखर सम्मेलनों में राष्ट्राध्यक्ष ऐसे मिलते-बतियाते हैं, जैसे किसी ब्रिटिश क्लब में सरकारी तामझाम छोड़कर सहपाठी घनिष्ठ मित्र की तरह मिल रहे हों। इस तरह के व्यक्तिगत सम्पर्कों से विकट अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का शान्तिपूर्ण समाधान सहज बनता है।

राष्ट्रमण्डल श्वेतों व अश्वेतों की मिली जुली संस्था—राष्ट्रमण्डल के मूल्यांकन के लिए इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि 1947 से अब तक के साढ़े चार दशकों में इसका निरन्तर रूपान्तरण (Transformation) हुआ है। सिर्फ भारत की सदस्यता मात्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह गोरों की नहीं, बल्कि श्वेतों व अश्वेतों की मिली-जुली संस्था है। राष्ट्रमण्डल में इस समय 50 सदस्य राष्ट्र हैं।

राष्ट्रमण्डल की प्रारम्भिक सफलता के कारण—राष्ट्रमण्डल की प्रारम्भिक सफलता के लिए यह बात जिम्मेदार रही कि मलयेशिया, सिंगापुर व तत्कालीन

[1] इस सिलसिले में विस्तृत अध्ययन विश्लेषण के लिए देखें—S. C. Gangal, *India and the Commonwealth* (Agra, 1970), और M. S. Rajan, *The Post War Transformation of the Commonwealth* (Bombay, 1963).

या राष्ट्रमण्डल नामक संस्था का औपचारिक गठन हो चुका था, परन्तु इसका सामरिक, राजनीतिक और राजनयिक महत्व अधिक नहीं था। इसकी उपयोगिता सिर्फ इतनी थी कि इसके अध्ययन से औपनिवेशिक तन्त्र और शोषण को मानवीय मुखौटा पहनाया जा सके। ब्रिटेनवासी गोरांग महाप्रभुओं द्वारा बारम्बार यह प्रचार किया जाता था कि राष्ट्रमण्डल एक संयुक्त परिवार की तरह है, जिसका मुखिया या कर्ता ब्रिटिश सम्राट है।

इसका एक पक्ष और भी था। 19वीं शताब्दी से द्वितीय विश्व युद्ध की परिणति तक ब्रिटिश साम्राज्य का अधिकांश हिस्सा अश्वेत देशों का था। 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन को इन अश्वेत देशों में स्वाधीनता आन्दोलनों के बारे में इतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी उन गोरे देशों के बारे में, जिन पर उसका प्रभुत्व-आधिपत्य था। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा आदि ऐसे क्षेत्र थे, जिनके असन्तोष को नियन्त्रण में रखने के लिए यह आवश्यक था कि उनको यह अनुभूति करायी जाये कि वे गुलाम नहीं हैं और बाकी अफ्रीकी व एशियाई लोगों से भिन्न हैं। इसी तरह औपनिवेशिक शासकों का साथ देने वाले विश्वासपात्र अश्वेतों को भी राष्ट्रमण्डल की गतिविधियों में भाग लेने का अवसर देकर कृपापूर्वक समानता का अहसास कराया जाता रहा।

राष्ट्रमण्डल का एक महत्वपूर्ण पक्ष आर्थिक आदान-प्रदान वाला रहा। इस संस्था के माध्यम से भारत, श्रीलंका, बर्मा आदि जैसे उपनिवेशों से इच्छानुसार संसाधनों का दोहन किया जा सकता था, परन्तु कनाडा, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया जैसे देश, जो अपनी डोमिनियन स्थिति (Dominion Status) के कारण नाममात्र के लिए ही ब्रिटिश सम्राट की प्रभुता मानते थे, इतनी आसानी से नहीं लूटे-खसोटे जा सकते थे। ब्रिटेन के धूर्त और दूरदर्शी औपनिवेशिक शासकों ने अपना स्वार्थ साधने के लिए एक विराट योजना तैयार की, जो ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को लाभप्रद बनाये रखने के राष्ट्रमण्डलीय व्यापार प्राथमिकताओं (Commonwealth Trade Preferences) की व्यवस्था थी।

इस सबसे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि राष्ट्रमण्डल सिर्फ प्रतीकात्मक महत्व की संस्था थी या है और इसका कोई महत्व नहीं। पहले और दूसरे विश्व युद्ध के बीच के वर्षों में ब्रिटिश औपनिवेशिक क्रियाकलाप का विश्लेषण करने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट प्रमाणित होती है कि कालक्रम से जिन ब्रिटिश प्रशासकों को राष्ट्रमण्डल का उत्तरदायित्व सौंपा गया, वे अपने को ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय और उपनिवेश विभाग के प्रतिद्वन्द्वी-प्रतिस्पर्धी के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे थे। इसके अतिरिक्त, जब भारत व कुछ अन्य देशों में स्वाधीनता संग्राम ने तेजी पकड़ी तो ब्रिटेन को यह महसूस होने लगा कि उसे अपने उपनिवेशों में अपना पूर्ववत् प्रभाव बनाये रखने के लिए अंग्रेजी प्रेमी इंगलैंड के पक्षधर कृष्णा मेनन, जवाहर लाल नेहरू जैसे नेताओं को प्रसन्न रखने के लिए कुछ उद्यम करना पड़ेगा। राष्ट्रमण्डल नामक संस्था इस दृष्टि से विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकती थी।

राष्ट्रमण्डल में भारत के शामिल होने के कारण—ऐतिहासिक अनुभव ब्रिटेन के इस सोच की तर्कसंगति स्पष्ट करता रहा है। भारत में देशी पुरस्कार वाले डा० राम मनोहर लोहिया जैसे नेता आजादी के बाद भारत के राष्ट्रमण्डल में बने रहने के प्रति निरन्तर मुखर विरोध उसमें से करते रहे। परन्तु नेहरू जी और कृष्णा मेनन

सीमित रह गया है। 1987 मे वेंकूवर (कनाडा) म आयोजित शिखर सम्मेलन ने भी भविष्य के सन्दर्भ मे इस सगठन की सम्भावनाओ को नही बल्कि सीमाओ और समस्याओ को रेखांकित किया।[1]

भारत ब्रिटेन सम्बन्ध—भारत ब्रिटेन सम्बन्धो के बारे मे एक रोचक बात यह है कि प्रभु दास के सम्बन्ध होने के बावजूद भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन दो राष्ट्रों के बीच कोई मनोमालिन्य नही रहा। जैसाकि ऊपर इगित किया जा चुका है कि इसका एक प्रमुख कारण यह रहा कि शीर्षस्थ भारतीय नेता नेहरूजी कृष्णा मेनन आदि आग्ल प्रेमी थे। भारत के सुनियोजित आर्थिक विकास की प्राथमिकताओ को देखते हुए भी नीति निर्धारको का यही मत था कि ब्रिटेन के साथ सामरिक व आर्थिक सम्बन्ध अक्षत रखे जायें। यह नेहरू जी की दूरदर्शिता थी कि उन्होने मुठभेड वाला रुख नही अपनाया परन्तु इसमे उस ब्रिटिश शासक वर्ग का योगदान भी रहा जिसने भारत के आत्म सम्मान को आहत नही होने दिया। सिर्फ दो चार बार ऐसा हुआ है जब भारत ब्रिटेन सम्बन्ध तनावग्रस्त हुए हैं।

कटुतम मतभेद चरम सीमा पर—भारत और ब्रिटेन के बीच मतभेद अपनी कटुतम चरम सीमा पर शायद 1956 में पहुँचे जब स्वेज सकट के अवसर पर ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एथनी ईडन और भारतीय रक्षामन्त्री कृष्णा मेनन दो परस्पर विरोधी ध्रुवो पर खडे रहे। इसके अतिरिक्त कश्मीर प्रसग मे पाकिस्तान के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैया ब्रिटिश नीति की प्रमुख पहचान रही है। विशेषकर 1965 म भारत-पाक सैनिक सघर्ष के बाद पाकिस्तान को दी गई ब्रिटिश सैनिक सहायता ने भारत को बेहद खिन्न किया। 1960 वाले दशक के उत्तरार्द्ध मे नेहरू की मृत्यु के बाद भारत के साथ ब्रिटेन के सम्बन्धो म निरतर ह्रास हुआ। इसके अनेक कारण थे।

मतभेद के कारण—द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति या हस्ती नही रह गया था। यह क्रमश अपनी सुरक्षा और आर्थिक खुशहाली के लिए अमरीका पर आश्रित होता गया। अटलांटिक भाइचारा एशियाई औपनिवेशिक रिश्ता का बहुत पहले विस्थापित कर चुका था। यूरोपीय साझा बाजार के गठन के बाद ब्रिटेन की रुचि उसके अपने तात्कालिक हितो के अनुसार भारतीय उपमहाद्वीप से हटकर अन्यत्र केन्द्रित हो गयी थी।

इसके अतिरिक्त भारतीय उपमहाद्वीप म बडे पैमाने पर ब्रिटेन पहुचने वाले आप्रवासको ने ब्रिटेन म जातीय समस्या को जन्म दिया जिनम पूर्वी अफ्रीका से पहुचने वाले असन्तुष्ट क्रुद्ध भारतीयो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन लोगो का मानना था कि वे ब्रिटिश नागरिक थे और ब्रिटिश सरकार ने अफ्रीकी उथल-पुथल म उनके हितो की रक्षा नही की थी। दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार का सोचना था कि यदि एम एशियाई आप्रवासको को बिना रोक-टोक ब्रिटेन म आने दिया गया तो ब्रिटेन की पारम्परिक जीवन-यापन शैली और उसका जातीय सस्कार ही नष्ट हो जायगा। चूकि य सारे शरणार्थी भारतीय वशज थे अत इनकी उपस्थिति का खमियाजा भारत को भुगतना पडा। जब भारत विदेशी मुद्रा के सकट स जूझ रहा था तो बडी सख्या म ब्रिटेन म पढ़ाई के लिए भेजे जाने वाले छात्रों की आवाजाही

[1] देख—S C Parashar (ed) *Commonwealth Today* (Delhi 1983)

रोडेशिया (अब जिम्बाब्वे) जैसे अनेक ऐसे देश थे, जिन्होंने औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध बिना कोई उग्र संघर्ष किये स्वाधीनता हासिल की थी। ऐसी स्थिति में अपने मुखिया या अगुआ ब्रिटेन के प्रति सद्भाव बनाये रखना सहज था। स्वयं भारत जैसे देशों ने अपनी उपस्थिति से निरन्तर कमजोर हो रहे ब्रिटेन के प्रभाव को सन्तुलित किया और दूसरे देशों को राष्ट्रमण्डल में बने रहने के लिए प्रेरित किया।

राष्ट्रमण्डल ब्रिटिश हितों का साधक—यह सच है कि भाषा, शिक्षा और प्रशासनिक ढाँचे की समानता के कारण राष्ट्रमण्डल के सदस्य राष्ट्रों में सहकार और संवाद की सम्भावना अपेक्षाकृत बेहतर थी। परन्तु केवल इसी आधार पर राष्ट्रमण्डल के बारे में किये जाने वाले तमाम दावों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ सिर्फ कुछ चुनिन्दा उदाहरणों के जिक्र से यह बात भलीभाँति उभर आयेगी कि इस संस्था ने मूलतः ब्रिटेन का ही हित साधन किया है।

कुछ देशों के प्रति ब्रिटेन का पक्षपातपूर्ण रवैया—ब्रिटेन का कुछ सदस्य देशों के प्रति रवैया पक्षपातपूर्ण रहा है। सबसे दुःखद उदाहरण दक्षिण अफ्रीका का है, जिसकी घिनौनी रंगभेदी नीतियाँ और पाशविक दमन ब्रिटेन के समर्थन व सहकार के कारण निरन्तर जारी रह सके। यह सच है कि दक्षिण अफ्रीका को राष्ट्रमण्डल से निकाला गया, परन्तु उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध सिर्फ ब्रिटेन के हठ के कारण लागू नहीं किये जा सके। इसी तरह रोडेशिया के मामले में भी ब्रिटेन की ढुलमुल नीति के कारण अश्वेतों को इयान स्मिथ सरकार की शरारतों का घातक नुकसान उठाना पड़ा था। 1987 में फिजी में हुई सैनिक क्रान्ति व कर्नल राबुका सरकार को मान्यता देने के मामले में ब्रिटेन के दोहरे मानदण्ड एक बार फिर वीभत्स रूप में सामने आये। इसी प्रकार जब अमरीका की सैनिक बर्बरता ने ग्रेनाडा के साथ बलात्कार किया तो ब्रिटेन चुपचाप देखता रहा क्योंकि उसके लिए राष्ट्रमण्डल के पारिवारिक रिश्ते की अपेक्षा अमरीका से सैनिक गठबन्धन कहीं अधिक महत्वपूर्ण था।

यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता के लिए प्रयत्न—कुछ वर्ष पहले जब ब्रिटेन यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता के लिए प्रयत्नशील था तब उसने राष्ट्रमण्डलीय व्यापार प्राथमिकताओं (Commonwealth Trade Preferences) को ताक पर रखकर अपने लिए लाभप्रद शर्तें बेहिचक स्वीकार कर ली थीं। पिछले वर्षों में ब्रिटेन का राजनीतिक संस्कार क्रमशः रंगभेदी, दक्षिणपंथी और अनुदार होता गया है। एशियाई मूल के आव्रजकों के साथ नितान्त अपमानजनक व जुगुप्साप्रद व्यवहार किया जाता रहा है। कौमार्य परीक्षण की शर्त और हिन्दुस्तानियों व पाकिस्तानियों की पिटाई इसके उदाहरण हैं। सांस्कृतिक एकता भी बुरी तरह खण्डित हो चुकी है। ब्रिटेन के प्रति वेस्ट इण्डीज के वासियों को भी तरह-तरह की आपत्तियाँ हैं।

विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे में राष्ट्रमण्डल की सीमाएँ—राष्ट्रमण्डल में या अन्यत्र विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के सन्दर्भ में राष्ट्रमण्डलीय राजनय की सीमाएँ स्पष्ट हो चुकी हैं। अधिक से अधिक इनसे राष्ट्रमण्डल के महासचिव को अपने व्यक्तित्व के प्रदर्शन और प्रतिष्ठावर्धन के अवसर ही मिले हैं। राष्ट्रमण्डल के विभिन्न सदस्य देशों के आपसी सम्बन्ध बहुपक्षीय न होकर उभयपक्षीय रह गये हैं। वस्तुतः राष्ट्रमण्डल एक बार फिर ब्रिटेन के हित साधक संगठन के रूप में ही

आदि, जिनकी रुचि ब्रिटेन की परम्पराओं में, 'राज' के रिश्तों में रह गयी है। नीरज चौधरी और वी० एस० नैपोल जैसे लोग एक-दूसरे के ज्यादा करीब हैं, बनिस्बत युवा भारतीयों के। पत्र-पत्रिकाएँ सलमान रश्दी, फारूक ढोंडी, हनीफ कुरैशी जैसी प्रवासी प्रतिभाओं का नाम उछालती रहती हैं, परन्तु यह उल्लेखनीय है कि सफल प्रवासी भारतीयों, वैज्ञानिकों, लेखकों, उद्यमियों का उल्लेख भारतीय राष्ट्रीय हित साधन का पर्याय नहीं बन सकता। नस्लवाद और रंगभेद की जकड़ दक्षिण अफ्रीका में हल्की पड़ने के बाद इसके विरुद्ध संघर्ष के नाम पर राष्ट्रमण्डलीय बिरादरी में एका बनाये रखना भी कठिन होगा।

भारत और पश्चिम एशिया
(India and West Asia)

भारत और पश्चिम एशियाई भू-भाग के बीच सम्बन्ध हजारों वर्ष पुराने हैं। मोहन जोदड़ो की खुदाई में प्राप्त सामग्री के आधार पर अनेक विद्वान् इस निष्कर्ष तक पहुँचे हैं कि आज के इराक से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध इस सभ्यता के नागरिकों के थे। इसी तरह आज जो प्रदेश संयुक्त अरब अमीरात के नाम से जाना जाता है, वह भारत के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा रहा है। इस्लाम के आविर्भाव के साथ अरब लोगों में शारीरिक उद्यम तथा वैज्ञानिक आविष्कारों की लालसा तेजी से बढ़ी। इस दौर में केरल, गुजरात व सिन्ध में आकर बसने वाले अरब उद्यमियों से भारत और पश्चिमी एशिया के बीच सांस्कृतिक तथा आर्थिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया को बल मिला। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में इस्लाम के प्रसार के लिए बरास्ता भारत वहाँ पहुँचने वाले अरबों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। ज्योतिष, अंकगणित, जहाजरानी तथा चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में आदान प्रदान से दोनों पक्षों को लाभ हुआ। बाद के वर्षों में भारत में सल्तनत युग के दौरान मुसलमान शासकों के ऊपर अरब धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव स्पष्ट था। इनकी भाषा व शासन प्रणाली पर इस्लामी पश्चिम एशियाई छाप गहरी देखी जा सकती है। इस्लाम का जन्म भले ही पश्चिम एशिया में हुआ हो, परन्तु आज यह भारतीय धर्म बन चुका है। अभी कुछ वर्ष पहले तक पढ़े-लिखे भारतीयों के लिए अरबी व फारसी भाषाएँ जानना-समझना उतना ही आवश्यक था, जितना किसी पश्चिम एशियाई शिक्षित नागरिक के लिए। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण करने का प्रमुख उद्देश्य यह है कि यह बात निर्विवाद रूप से उजागर की जा सके कि भारत और पश्चिम एशिया के सम्बन्ध पारम्परिक रूप से घनिष्ठ, बहु-आयामी और दमोबेश सौहार्दपूर्ण रहे हैं। यह स्वाभाविक था कि इसका सम-सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निर्णायक प्रभाव पड़ा।

भारत की पश्चिम एशियाई नीति के निर्धारक तत्व—औपनिवेशिक काल में भारत-पश्चिम एशिया सम्बन्ध में थोड़ा व्यवधान जरूर पड़ा, परन्तु जड़ें मजबूत होने के कारण अवसर मिलते ही सद्भाव उत्पन्न होता था। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के व्यापक जन-आन्दोलनकारी रूपान्तरण के साथ ही महात्मा गांधी के नेतृत्व वाला खिलाफत आन्दोलन जुड़ा है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में औपचारिक भारतीय की रुचि इस प्रसंग से ही आरम्भ हुई। विभाजन के पहले संसार भर में इस्लाम धर्मावलम्बियों का सबसे बड़ा जमाव भारतीय उपमहाद्वीप में था। चूँकि इस्लाम धार्मिक एवं राजनीतिक

भी कम हो गयी। अन्ततः इसने भी दोनों देशों के बीच आत्मीयता को क्षीण किया।

1969 में ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि वह स्वेज नहर के पूर्व से वापस लौटना चाहता है। यह सिर्फ मनोबल का क्षय नहीं, बल्कि उसकी आर्थिक विवशता भी थी। इस क्रान्तिकारी सामरिक निर्णय ने भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों को प्रभावित किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद के वर्षों में सैनिक साज-सामान की खरीद का प्रमुख स्रोत ब्रिटेन था। यह स्वाभाविक भी था। बाद के वर्षों में इस विषय में भारत की निर्भरता क्रमशः सोवियत संघ पर बढ़ती गई और नये सम्बन्ध स्थापित होने के बाद यह बात स्पष्ट होने लगी कि ब्रिटेन शस्त्रास्त्रों की बिक्री में अनुचित मुनाफाखोरी कर रहा है। यह आक्षेप निराधार नहीं कि ब्रिटेन पुराने पड़ गये जीर्ण शीर्ण विमानवाहक पोत या लड़ाकू विमान भारत के सर मढ़ता रहा है। भारत को बेचे गये 'कैंबरा' से लेकर 'जगुआर' विमान तक के बारे में यह आलोचना सटीक है। कुछ ही वर्षों पूर्व भारत द्वारा ब्रिटेन से हेलीकोप्टरों की खरीद इसी कारण विवादास्पद रही है।

1947 से आज तक ब्रिटेन का सांस्कृतिक अवमूल्यन भी हुआ है। तकनीकी प्रशिक्षण हो या सांस्कृतिक क्रियाकलाप को प्रश्रय, अमरीका की क्षमता और सामर्थ्य ब्रिटेन से कहीं अधिक है। न केवल युवक-युवतियाँ अपने भविष्य-निर्माण के लिए ब्रिटेन के बजाय अमरीका पढ़ने जाना पसन्द करते हैं, बल्कि सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए भी अमरीका अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है। आज बी० बी० सी० या ब्रिटिश कौंसिल के कार्यक्रमों की वैसी प्रतिष्ठा नहीं रह गयी है, जैसी कुछ वर्षों पहले थी। बी० बी० सी० के 'वस्तुनिष्ठ तरीके' को भारत-द्वेषी ही समझा जाता है हैं। बी० बी० सी की अंग्रेजियत और अंग्रेजपरस्ती में औपनिवेशिक अहंकार की भी बू आती है।

भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों का भविष्य—हाल के वर्षों में भारत और ब्रिटेन के बीच आर्थिक साझेदारी भी घटी है। भले ही भारतीय मुद्रा विनिमय पौंड स्टर्लिंग की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत के उतार-चढ़ाव के साथ जुड़ा हुआ है, किन्तु ब्रिटेन की अधिक तेजी या मन्दी भारत के भविष्य के लिए निर्णायक महत्व की नहीं रह गयी है। यह सोचना तर्कसंगत होगा कि भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध दोनों देशों के लिए अतीत की तुलना में क्रमशः कम महत्वपूर्ण बनते जायेंगे। हाँ, इतना अवश्य है कि भारत में दो सौ वर्ष लम्बे ब्रिटिश राज्य का इतिहास इसके कटु यथार्थ को आकर्षक ढंग से छिपाये रखेगा।

हाल की कुछ घटनाओं ने जिनमें से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की है और कुछ भारत और ब्रिटेन की आन्तरिक राजनीति से जुड़ी हुई है, राष्ट्रमण्डल का और भी अवमूल्यन किया है। सबसे पहली बात जर्मनी के पुन. एकीकरण और नये यूरोप के उदय की है। देगोल ने भले ही कभी ब्रिटेन को यूरोपीय समुदाय में घुसने से रोका था, किन्तु आज का आर्थिक यथार्थ यह है कि ब्रिटेन और यूरोप दोनों ही पक्षों के मन में एक-दूसरे को गले लगाने में कोई हिचक नहीं है। दूसरी ओर राष्ट्रमण्डल के विभिन्न सदस्य अपनी-अपनी चिन्ताओं में फँसे हैं और उन्होंने काल प्रवाह के साथ अपनी राहें अलग-अलग चुन ली है। भारत में मई, 1991 में राजीव गांधी की हत्या के साथ नेहरू वंश की आंग्ल प्रेमी विरासत भी समाप्त हो रही है। आज गिने-चुने बूढ़े ही बचे हैं, पुराने आई० सी० एस० नौकरशाह, अवकाश प्राप्त पत्रकार

और टीटो की 'तिकड़ी' लगभग सभी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में समान परिप्रेक्ष्य दर्शाती थी। गुट निरपेक्षता के अतिरिक्त साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरोध में भी भारत और अरब देशों के बीच सहकार अधिक सहज था। अल्जीरिया में जन-मुक्ति संग्राम को भारतीय समर्थन प्राप्त था। भारतीय अनुभव ने मिस्र में आत्म-निर्भर आर्थिक विकास और समतापूर्ण सामाजिक संरचना के निर्माण को प्रेरित-प्रोत्साहित किया। स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के समय भारतीय राजनयिक समर्थन के लिए मिस्र ने आभार माना।[1]

इस तरह स्पष्ट है कि पश्चिम एशिया में न केवल धार्मिक व सांस्कृतिक आधार पर बल्कि प्रगतिशीलता, आधुनिकीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'जनतान्त्रिक दबाव' के कारण भी भारत और पश्चिम एशिया के अरब राष्ट्र एक-दूसरे के निकट आये। हाँ, इतना अवश्य है कि मध्ययुगीन राजशाही व सामन्ती संस्कार वाले यथास्थिति पोषक जैसे सऊदी अरब, जोर्डन व मोरक्को जैसे राष्ट्रों के साथ भारत की घनिष्ठता नहीं रही है। फिर भी भारत ने इनके साथ किसी प्रकार का कोई वैर या टकराव विवादस्पद नहीं बनने दिया। इस प्रकार अफ्रो-एशियाई बन्धुत्व के नाम पर भारत व अरब देशों के बीच सार्थक संवाद जारी रखा जा सका है। इसी स्थिति के कारण पश्चिम एशियाई संकट के हल में भारत की सार्थक भूमिका सम्भव हुई है।

इजराईल से सम्बन्ध सुधार की वकालत—परन्तु कई बार बाहरी शक्तियों के षड्यन्त्र के कारण भारत के प्रति शंका फैलना सहज हुआ है। इसका एक अच्छा उदाहरण रबात इस्लामी सम्मेलन (1969) है। इस सम्मेलन में भारत के भाग लेने का विरोध पाकिस्तानी जोड़-तोड़ के कारण अरब राष्ट्रों ने किया। इस प्रसंग के बाद बीच-बीच में भारत में यह माँग उठायी जाती रही है कि क्यों नहीं हम इजराईल के प्रति अधिक सन्तुलित नीति अपनाकर अरब देशों को 'सबक' सिखा दें। विशेषकर जनता सरकार के शासन-काल में यह माँग प्रबल हुई। जब से पाकिस्तान ने परमाणु कार्यक्रम आरम्भ किया है और इसके लिए अरबों ने आवश्यक संसाधन जुटाये हैं, तब से अरब देशों के प्रति भारत की निराशा बारम्बार मुखर हुई है। नेहरू जी और नासिर के निधन से व्यक्तिगत मैत्री का दौर भी फीका पड़ा और इन्दिरा गांधी के 1977 में अपदस्थ होने के बाद भारतीय विदेश-नीति पहले की तरह अरबोन्मुख नहीं रही।

उपर्युक्त परिवर्तनों के लिए कई बातें उत्तरदायी हैं। 1967 और 1973 की अरब इजराईल मुठभेड़ों के बाद अरब राष्ट्रों की आन्तरिक स्थिति डावाँडोल रही है। फिलिस्तीनी शरणार्थियों की समस्या और लेबनान के गृह-युद्ध ने उन्हें अपने क्षेत्र की परिधि के बाहर की घटनाओं से विलग किया है। ईरान-इराक युद्ध के विस्फोट (1980) के बाद स्थिति और भी दारुण हुई।

भारत-अरब सम्बन्धों में तनाव—जहाँ तक भारत का प्रश्न है, अरबों के प्रति उसकी उदासीनता के कुछ और कारण भी हैं। 1973 के तेल संकट के बाद भारत की यह आशा-अपेक्षा थी कि तेल-उत्पादक अरब राष्ट्र भारत जैसे मित्र राष्ट्र को रियायती मूल्य पर तेल सुलभ करायेंगे। यह आशा पूरी नहीं हुई और तेल से कमाये अन्धाधुंध पैसे ने तीसरी दुनिया के साथ उनके आचरण में अहंकार का पुट भी डाल

[1] देखें—ए० अप्पादोराई व एम० एस० राजन की पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० 373 से 376 तक।

पक्षो को समन्वित करता है, इसलिए पश्चिम एशिया और भारत एक सशक्त व अदृश्य सूत्र से जुड़े हुए थे। देश के बँटवारे के बाद पाकिस्तान की स्थापना इस्लामी राज्य के रूप में हुई और भारत के लिए यह अनिवार्यता पैदा हुई कि अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित करने के बाद भी वह इस्लामी अरब राष्ट्रों को पाकिस्तान-समर्थक बनने से रोके। बँटवारे के बाद भी भारत की आबादी का एक हिस्सा मुसलमानों का है। इसलिए भारतीय राजनीतिक घटनाक्रम में पश्चिम एशियाई देशों की रुचि और पश्चिम एशियाई घटनाक्रम के साथ भारतीय नागरिकों का लगाव पाया जाता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के ठीक बाद यहूदी राज्य इजराईल की स्थापना हुई, जिसे लगभग सभी अन्य राज्यों की भाँति भारत ने भी तत्काल मान्यता दे दी। अरबों की तरह यहूदियों के साथ भी भारत के सदियों पुराने घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं। संस्कृत और हिब्रू भाषा का रिश्ता, यहूदी और वैदिक अनुष्ठानों का साम्य और परम्परा-प्रेम ऐसी बातें थीं, जिनके आधार पर यह सोचा जा सकता था कि इजराईल के साथ वर्तमान में भी लाभप्रद नाता जोड़ा जा सकता है। नाजियों द्वारा उत्पीड़ित यहूदियों के प्रति भारतीयों के मन में सहानुभूति तो थी ही, टैक्नोलोजी और विज्ञान के क्षेत्र में इजराईलवासियों की उपलब्धियाँ भी उनके साथ रचनात्मक सहकार की सम्भावना आकर्षक बनाती थी। फिर भी इजराईल के साथ दौत्य-सम्बन्ध स्थापित करने के बाद यदि भारत ने अरबों की ओर ध्यान केन्द्रित रखा तो उसका कारण यह था कि विदेश नीति की कसौटी पर भारतीय धर्मनिरपेक्षता खरी प्रमाणित की जा सकती थी।[1]

अरब देशों के साथ राष्ट्रीय हितों का संयोग—परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि भारतीय मुसलमानों की भावनाओं के दबाव में भारत ने पश्चिम एशियाई राजनीति में अरब देशों की पक्षधरता का बीड़ा उठाया। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से परीक्षण करने पर यह बात सहज ही स्पष्ट हो जायेगी कि भारतीय राष्ट्रीय हितों का संयोग अरब राष्ट्रीय हितों के साथ रहा है। जनसंख्या, क्षेत्रफल और भू-राजनीतिक दृष्टि से पश्चिम एशिया के अरब देश इजराईल की अपेक्षा भारत के लिए कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें अनेक तेल-उत्पादक देश हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी नहीं भुलायी जा सकती कि इन अरब राष्ट्रों ने स्वयं 'मुस्लिम राष्ट्र' होने के बावजूद सिर्फ धार्मिक व साम्प्रदायिक भाईचारे के आधार पर आँख मूँदकर पाकिस्तान का समर्थन किया। कश्मीर प्रकरण इस बात का अच्छा उदाहरण है।

अरब देशों के प्रति झुकाव के कारण—इसके अलावा गुट निरपेक्षता के आविर्भाव और गुट निरपेक्ष आन्दोलन के प्रभाव ने अरब देशों की ओर भारत के झुकाव को बढ़ाया। इजराईल अपनी स्थापना के साथ ही 'अमरीका का शिविरानुचर' और 'पश्चिम एशिया में महाशक्तियों के सत्ता संघर्ष में एक खतरनाक मोहरा' बन गया था। इसके विपरीत मिस्र, इराक और सीरिया जैसे प्रमुख अरब राष्ट्र गुट निरपेक्ष थे और इनकी नीतियों के साथ भारतीय विदेश-नीति का तालमेल सहज सम्भव था। बाडुंग सम्मेलन (1955) के वर्ष से ही नासिर और नेहरू की मैत्री अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण बन चुकी थी और बेलग्रेड सम्मेलन (1961) तक नेहरू, नासिर

[1] विस्तृत विश्लेषण के लिए देखें—M. S. Agwani, *India and the Arab World*, in B. R. Nanda (ed.), *Indian Foreign Policy : The Nehru Years* (Delhi, 1976).

यह नहीं कि नेहरू जी के शासन काल के 18 वर्षों मे भारत द्वारा अणुबम बनाये जाने की माँग नही की गयी। एक नगण्य अल्पसख्यक राजनीतिक तबका इस माँग को मुखर करता रहा। इस बात को भी याद रखना जरूरी है कि भारत द्वारा शान्तिपूर्ण अणु नीति सिर्फ नेहरू जी के 'आदर्शवाद' पर ही नहीं टिकी थी। नेहरू जी के जीवन काल मे भले ही भारत-चीन सम्बन्धो मे तनाव उभरने लगे थे परन्तु चीन अणु शक्ति सम्पन्न नही था। पाकिस्तान के बारे के तो यह बात दूर तक भी सोची नही जा सकती थी। नेहरूकालीन भारत बडे पैमाने पर अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता पर निर्भर था। नेहरू जी अपने दाताओ द्वारा परमाणु दुस्साहसिकता-महत्वाकाक्षा के लिए दडित होने का खतरा नही उठा सकते थे (पोखरन प्रसग ने यह बात भली-भाँति दर्शा दी कि शान्तिपूर्ण परमाणु क्षमता की भी बडी कीमत स्वाधीन देश को चुकानी पड़ सकती है)।

किन्तु नेहरू जी की मृत्यु तक यह बात झलकने लगी थी कि भारतीय परमाणु नीति मे परिवर्तन आवश्यक है। 1962 की अपमानजनक हार के बाद कई विद्वान यह सुझाने लगे थे कि यदि भारत के पास परमाणु बम होता तो चीन भारत पर हमला करने का दुस्साहस नही करता। कुछ और विद्वान यह सुझाने लगे कि कुशल व कारगर परमाणु शस्त्रो की तुलना मे दैत्याकार पारम्परिक सेना का रख-रखाव कही अधिक खर्चीला और अकुशल सिद्ध होता है। इस समय तक देश के तेवर भी अहिंसक व शान्तिप्रेमी नही रह गये थे। नेहरू जी के बाद लाल बहादुर शास्त्री द्वारा सत्ता ग्रहण करने तक भारत के सार्वजनिक जीवन मे परमाणु नीति सम्बन्धी बहस काफी गरम हो चुकी थी।

शास्त्रीकालीन परमाणु नीति: महत्वपूर्ण परिवर्तन—शास्त्री जी नेहरू जी की तरह के बौद्धिक-दार्शनिक रुझान वाले व्यक्ति नही थे और न हीं उनका विश्व-दर्शन सामान्य निरस्त्रीकरण के लिए प्रतिबद्ध था। कई आलोचक शास्त्री जी पर यह आरोप लगाते थे कि उनके मानसिक क्षितिज सकुचित थे। वास्तविकता यह है कि शास्त्री जी राष्ट्र-हित की मोटी व सामान्य ज्ञान-सुलभ परिभाषा और उस पर आधारित नीति निर्धारण को यथष्ट समझते थे। भारत की परमाणु नीति के सन्दर्भ मे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो को देखते हुए यह कमजोरी नही, बल्कि ताकत थी। इसी तरह शास्त्री जी अपने सक्षिप्त प्रशासनिक अन्तराल मे ही नेहरू जी की स्थापनाओ पर आधारित देश की परमाणु नीति म महत्वपूर्ण परिवर्तन करने मे सफल हुए।

जहाँ एक ओर 1965 म पाकिस्तान के साथ सैनिक मुठभेड न यह बात सामन ला दी थी कि भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा निरापद नही समझी जा सकती, वही दूसरी ओर 1964 में चीन द्वारा अणु अस्त्र हासिल कर लेन के बाद उत्तरी सीमान्त का सकट भी 1962 की तुलना मे कई गुना गहरा हो गया था। कुछ कुटिल विश्लेषको ने यह टिप्पणी की कि इस सकट का सामना करने के लिए शास्त्री जी ने पश्चिमी राष्ट्रो विशेषकर अमरीका से 'सुरक्षा छतरी' पाने के लिए अनुरोध किया था। परन्तु यह आरोप बिलकुल गलत था। भारत की प्रतिरक्षा के बारे मे शास्त्री जी नेहरू जी की तुलना मे कहीं अधिक यथार्थवादी तरीके से सोचते थे। उन्हे भारत की स्वाधीनता के साथ किसी भी प्रकार का समझौता स्वीकार्य नहीं था। इस विषय म सबसे अच्छी जानकारी विद्वान लेखक अशोक कपूर ने जुटायी है। उन्होंने

दिया। खाड़ी देशों से भारतीय प्रवासियों ने बड़े पैमाने पर विदेशी मुद्रा अर्जित कर भेजी, परन्तु कालान्तर में यह बात छुपाई नहीं रखी जा सकी कि इन श्रमिकों की स्थिति दासों जैसी थी। इनकी दुर्दशा को लेकर भारत-अरब सम्बन्धों में तनाव पैदा हुए।

कट्टरपंथी इस्लाम के ज्वार के साथ लीबिया को भड़काने वाली गतिविधियाँ आरम्भ हो गयीं और क्रमशः अधिकतर अरब राष्ट्रों ने पाकिस्तान के प्रति अप्रत्यक्ष समर्थन का रुख अपनाया। इस्लामी सचिवालय, इस्लामी अदालत और इस्लामी विकास बैंक की स्थापना के बाद इन संस्थाओं के माध्यम से पाकिस्तान के लिए यह सहज हो गया कि वह अपनी पश्चिम एशियाई पड़ोसी स्थिति का लाभ उठा सके। अमरीका द्वारा इस क्षेत्र में 'तुरन्त तैनाती दस्ते' (Rapid Deployment Force) की योजना बनाने के बाद इस क्षेत्र के अधिकतर देश अमरीका की ओर अपनी राजनीतिक स्थिति को निरापद रखने के लिए लालायित रहे हैं। कुल मिलाकर इन सब बातों ने भारत और पश्चिम एशियाई देशों के बीच अलगाव का भाव पैदा किया है। वैसे भी भारत अपने पड़ौस के साथ सरदर्द पैदा करने वाले विवादों में उलझा रहा है।

बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं—उपरोक्त विवेचन के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचना तर्कसंगत है कि तमाम उतार-चढ़ाव के बावजूद भारत की पश्चिम एशिया नीति में किसी बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। भारतीय और अरब हित परस्पर विपरीत नहीं तथा दूरदर्शी परिप्रेक्ष्य में इन्हीं सम्बन्धों को सुदृढ़ करना भारत के लिए लाभप्रद है। हाल के वर्षों में श्रीलंका में इजराइली गुप्तचर संस्था 'मोसाद' की घुसपैठ के बाद यह बात निर्मूल सिद्ध हुई है कि इजराईल भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए उत्सुक है। अतः इजराईल की सहायता से अरब देशों को संतुलित करने वाला प्रयत्न नादानी ही होगा।

बहरहाल, पिछले दिनों एक रोचक बात देखने में आयी कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े विश्लेषकों ने यह सुझाना शुरू कर दिया कि भारत को इजराईल के साथ अपने सम्बन्धों को सुधारने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। जुलाई 1991 में कश्मीर में इजराइली पर्यटकों ने बंधक बनाये जाने के बाद उग्रवादियों से डटकर लोहा लिया, जिसके बाद यह अटकलें लगायी जाने लगीं कि क्या इन आतंकवादियों का मुकाबला करने के लिए भारत सरकार ने इजराईल से गुपचुप सुलह कर ली है। इन इजराइली बंधकों को छुड़ाने के लिए एक वरिष्ठ इजराइली राजनयिक भी भारत पहुँचा और उसके स्वागत-सत्कार पर वैसी भौंहें नहीं चढ़ाई गई, जैसी अब तक चढ़ाई जाती रही थी। इस बात की सम्भावना प्रबल हुई कि पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम को देखते हुए उस पर राजनयिक दबाव डालने के लिए भारत इजराईल के निकट पहुँचने की कोशिश करेगा। गुट निरपेक्षता के 'अन्त' और कुवैती मसले को लेकर छिड़े खाड़ी युद्ध के बाद पश्चिम एशिया में राजनीतिक समीकरण इतनी तेजी से बदले हैं कि इजराईल और अरबों के बारे में पुराने अनुमान विश्लेषण बेमानी हो गये हैं।

भारतीय परमाणु नीति
(India's Nuclear Policy)

भारत संसार के उन बहुत कम देशों में है जिन्हें परमाणु क्षमता-सम्पन्न

परमाणु प्रतिष्ठान को मिल जाता है। नीति के अभाव एव इसकी दुर्बलता को राष्ट्र-हित मे गोपनीय रखा जाता है। विषय की दुरूहता एव विशेषीकरण के कारण भी ससद और सचार माध्यमो मे इस सन्दर्भ मे खुली बहस चलाना सहज नही। दशको से यह सवाद या विवाद एक सीमित वर्ग तक ही चालू रहा। अभी हाल मे जाकर इसका रूपान्तरण सार्वजनिक हुआ है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर धीरेन्द्र शर्मा ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन न्यूक्लियर इस्टेट' मे इस बात पर अच्छा प्रकाश डाला है कि भारतीय परमाणु वैज्ञानिको का ठग गिरोह (माफिया) अपने वैज्ञानिक साम्राज्य के विस्तार के लिए किस प्रकार सामती, चाटुकार व दादागिरी वाला आचरण करता है और अपने राजनीतिक स्वामियो तथा भारतीय जनता को एक साथ अन्धकार मे रखता है।[1] श्रीमती गाँधी इस बात को एक सीमा तक समझती थी। इसी कारण उन्होने एक बार सैनिक विकल्प का वरण करने के बाद भी पुन परमाणु निशस्त्रीकरण की जोरदार वकालत आरम्भ की।

इन्दिरा गाधी के काल मे परमाणु नीति (1965 से 1977 तक)—श्रीमती गाधी की एक विवशता यह थी कि वह अपनी नीतियो मे शास्त्री जी से भिन्न दिखना चाहती थी। वह अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ करने के लिए अपने को नेहरू जी के वास्तविक उत्तराधिकारी के रूप मे पेश करना चाहती थीं। इसके लिए भारत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मच पर निशस्त्रीकरण का झडा उठाना उपयोगी सिद्ध हो सकता था। परन्तु सिर्फ इसी कारण श्रीमती गाधी ने भारत द्वारा परमाणु बम बनाने का निर्णय स्थगित नही किया। जैसाकि ऊपर इशारा किया जा चुका है कि श्रीमती गाधी अपने मन मे यह जानती थी कि भारत निकट भविष्य मे परमाणु सैनिक सामर्थ्य हासिल नही कर सकता। उन्होंने इस बात के अथक प्रयत्न किये कि भारत को नुकसान पहुँचाने वाली कोई अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु व्यवस्था (International Nuclear Regime) उस पर थोपी न जा सके। परमाणु प्रसार रोक सधि (Non-Proliferation Treaty) पर हस्ताक्षर नही करने की भारतीय नीति इस बात का प्रमाण है। ऐसा नही था कि भारत अपने और दूसरो के सदर्भ मे दो अलग-अलग मानदण्डो का प्रयोग करता था या कि उसने इस मामले मे अपने सिद्धान्तो के साथ समझौता करना मजूर कर लिया। वस्तुत यह प्रश्न देश की सम्प्रभुता और स्वाधीनता को शत प्रतिशत बनाये रखने के लिए निर्धारित नीति से जुडा हुआ है। भारत इस निष्कर्ष तक पहुँचने वाला अकेला देश नही। उसे इस विषय मे ब्राजील जैसे अन्य राष्ट्रो का समर्थन-सहयोग भी मिला।

जहाँ भारत का राजनीतिक नेतृत्व इस क्षेत्र मे अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए दृढ सकल्प था, वही उसके वैज्ञानिकों का वाछित योगदान उसे नही मिल सका। उदाहरणार्थ, भारतीय वैज्ञानिको ने न तो किसी परमाणु भट्टी का स्वदेशी डिजाइन तैयार किया और न ही 'भारी पानी' के उत्पादन या यूरेनियम सवर्धन (Enrichment of Uranium) की आत्म-निर्भर प्रक्रिया का विकास हो सका। परमाणु ऊर्जा के सामरिक उपयोग की बात छोडिये, परमाणु शक्ति से बिजली ऊर्जा उत्पादन के निर्धारित लक्ष्य भी पूरे नहीं किये जा सके। इस सबको देखते हुए भारत परमाणु विकल्प को बचाये रखने के अलावा और करता भी क्या?

[1] Dhirendra Sharma, *India's Nuclear Estate* (Delhi, 1983)

सप्रमाण यह कहा है कि दिसम्बर, 1965 में शास्त्री जी ने परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष को यह निर्देश दिया था कि अणु शक्ति के सैनिक उपयोग के लिए तत्काल आवश्यक परियोजनाएं बनायी जायें।[1] दुर्भाग्यवश इसके एक माह बीतने से पहले ही शास्त्री जी की मृत्यु हो गयी। अतः एक बार फिर प्रधानमन्त्री स्तर पर सत्ता के हस्तान्तरण का प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया और यह बात अधूरी छूट गयी। तब भी के० सुब्रह्मण्यम जैसे विद्वानों का मानना है कि पोखरन का प्रयोग इस निर्णय से प्रभावित हुआ था।

इसके अतिरिक्त एक विमान दुर्घटना में होमी जहांगीर भाभा की मृत्यु (1966) से भारत के परमाणु कार्यक्रम की गति धीमी पड़ी। भाभा के बाद विक्रम साराभाई परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष बने परन्तु उनकी व्यक्तिगत विशेषज्ञता और रुचि अणु ऊर्जा में उतनी नहीं थी, जितनी अंतरिक्ष शोध में। दुर्भाग्यवश, विक्रम साराभाई भी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। उनके बाद परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष पद का कार्यभार होमी सेठना ने सम्भाला। सेठना, डा० राजा रामन्ना, डा० पी० के० श्रीनिवासन जैसे वैज्ञानिकों के प्रति पूरे सम्मान का भाव रखते हुए भी इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि ये उस अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर के स्वप्न-द्रष्टा वैज्ञानिक नहीं थे, जिसमें भाभा और साराभाई विराजमान थे, न ही इन वैज्ञानिकों का व्यक्तिगत आत्मीय समीकरण-सम्बन्ध शीर्षस्थ राजनेताओं से था। अधिक से अधिक इन्हें कुशल वैज्ञानिक-प्रशासक ही समझा जा सकता है। ये सलाहकार भर हो सकते थे, स्वप्न-द्रष्टा (visionary), सहयोगी और पथ प्रदर्शक नहीं। अनेक टिप्पणीकारों का यह भी मानना है कि भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग का नौकरशाही के चंगुल में फँसना, उसका क्षुद्र राजनीतिकीकरण, वैज्ञानिकों का पारसी और मद्रासी धड़ों में बँटना, इन्जीनियरों तथा भौतिक-शास्त्रियों की गुटबंदी इसके साथ ही शुरू हुई। यहाँ इन सब बातों को कुरेदने का प्रमुख उद्देश्य यह है कि 1965 से 1974 के बीच भारतीय परमाणु कार्यक्रम की दिशा एवं गति गड़बड़ाने का विश्लेषण किया जा सके। यदि विकास के इसी चरण में चीन और पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रमों से तत्कालीन भारतीय अनुभव की तुलना करें तो यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जायेगी कि जहाँ चीनी वैज्ञानिकों ने प्रशंसनीय त्याग और देश प्रेम का परिचय दिया और पाकिस्तानी वैज्ञानिक आणविक अस्त्र प्राप्त करने के लिए चोरी, तस्करी और गुप्तचरी कर अपनी जान खतरे में डालते रहे, वहीं उनके भारतीय वैज्ञानिक बंधु अपने राजनीतिक महाप्रभुओं से प्रेरणा की प्रतीक्षा करते रहे। इन भारतीय वैज्ञानिकों ने कोई विशेष जीवट या उद्यम नहीं दिखाया।

जहाँ एक ओर अणु शक्ति को सामरिक महत्व का माना जाता है और यह बात स्वयंसिद्ध समझी जाती है कि इसके लिए खर्च की जाने वाली धन राशि के बजट में कटौती नहीं की जा सकती या इसके लेखा परीक्षण की कोई जरूरत नहीं, वहीं ऊर्जा-उत्पादन जैसे शान्तिपूर्ण प्रयोगों-परियोजनाओं की खामियों की ओर ध्यान दिलाने वाला व्यक्ति देशद्रोही-विदेशी एजेंट करार दिया जाता है। इस सामरिक परदे के पीछे अपनी अक्षमताओं-असफलताओं को छुपाने का पूरा अवसर भारतीय

[1] देखें—Ashok Kapur, *India's Nuclear Options : Atomic Diplomacy and Decision-Making* (New York, 1976); and *Pakistan's Nuclear Development* (London, 1987)

ढिलाई यही प्रमाणित करती है। पहले फ्रांस ने यह आश्वासन दिया कि वह तारापुर संयन्त्र के लिए ईंधन देने में अमरीका या कनाडा का स्थान ले सकता है, परन्तु अन्ततः अपने मित्र राष्ट्रों के दबाव में उसने भी हाथ खींच लिए। पोखरन के परीक्षण का एक और बुरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद पाकिस्तानी शासकों के लिए उनके परमाणु सामरिक कार्यक्रम को प्रतिरक्षात्मक कहना आसान हुआ और खासकर इस्लामी बिरादरी में इसके पक्ष में आर्थिक व राजनयिक समर्थन जुटाना सहज हुआ।

पोखरन परीक्षण के बाद से अब तक भारत के लिए दक्षिण एशियाई परिप्रेक्ष्य में अपने पड़ोसी देशों के साथ परमाणु-मुक्त क्षेत्र (Nuclear Free Zone) के विषय में अपनी नीतियों का तालमेल बिठाना दुरूह रहा है। इसीलिए यह प्रश्न पूछा जाना आवश्यक है कि भारत के लिए आखिर पोखरन विस्फोट की क्या संगति थी? वस्तुतः पोखरन परीक्षण का निर्णय और इसका एक निश्चित समयबद्ध कार्यक्रम बुनियादी तौर पर भारत की आन्तरिक राजनीति के दबावों से प्रेरित थे। 1974 में केन्द्र में सरकार को रेल कर्मचारियों की राष्ट्रव्यापी हड़ताल का सामना करना पड़ रहा था। गुजरात और बिहार में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में व्यापक जन-आन्दोलन गति पकड़ रहा था। युवा छात्र संघर्ष के तेवर हिंसक-विस्फोटक थे। ऐसे में श्रीमती गांधी के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी अजेय रणचण्डी दुर्गा वाली छवि को धूमिल न पड़ने दें। अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक दबाव भी उनके इस निर्णय को पुष्ट करने में सहायक सिद्ध हुए। 1971 में भले ही भारत ने अमरीका की इच्छा के खिलाफ बंगला देश को मुक्त कराने में सफलता प्राप्त की थी और अमरीका ने उसे आधे-अधूरे मन से ही दक्षिण एशिया की प्रमुख शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया था। किन्तु 1972 में अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन की चीन यात्रा के बाद अमरीका-चीन सम्बन्धों में बहुत तेजी से सुधार हुआ और भारत की स्थिति एक बार फिर संकटग्रस्त न सही, निरापद नहीं रही। पोखरन विस्फोट का एक लक्ष्य यह भी था कि भारत के पड़ोसी देशों के साथ-साथ किसिंजर-निक्सन की अमरीकी सरकार तक को यह सन्देश पहुँचाया जा सके कि भारत को अनदेखा नहीं किया जा सकता। परन्तु पोखरन परीक्षण के 18–19 वर्षों के बाद अब इस तर्क-पद्धति की सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगाये जा सकते हैं। पोखरन परीक्षण के बाद परमाणु बम के निर्माण ने निश्चय ही भारत के सामरिक महत्त्व को निर्विवाद रूप से प्रमाणित कर दिया होता और किसी के लिए भी भारत की सैनिक व सामरिक उपेक्षा सहज नहीं होती। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पोखरन परीक्षण के बाद अन्तर्राष्ट्रीय (अमरीकी व पश्चिमी) दबावों का सामना करने में भारत सफल रहा। भारत की असमर्थता के कारणों पर दृष्टिपात करने से पहले पोखरन परीक्षण के एक और मुख्य स्रोत का उल्लेख आवश्यक है।

पहले यह कहा जा चुका है कि होमी भाभा और विक्रम साराभाई की मृत्यु के बाद भारत के परमाणु कार्यक्रम में पहले जैसी तेजी नहीं रह गयी थी। खर्चीली वैज्ञानिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के साधन सुलभ नहीं रहे। भारतीय परमाणु वैज्ञानिकों की जमात यह बात भलीभाँति समझती थी कि सिर्फ सामरिक और राष्ट्रीय सुरक्षा की दलील देकर ही कुछ हासिल किया जा सकता है। परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण प्रयोग से सारे भारतीय कार्यक्रमों की प्रगति बेहद निराशाजनक थी। इन विशेषाधिकार सम्पन्न और सुविधाभोगी वैज्ञानिकों के लिए अपनी योग्यता

पोखरन विस्फोट—24 मई, 1974 को भारतीय परमाणु नीति के विश्लेषकों को एक नाटकीय धमाका सुनने को मिला। राजस्थान में पोखरन नामक रेगिस्तानी इलाके से सांकेतिक भाषा में एक टेलेक्स सन्देश दिल्ली भेजा गया—'Buddha is smiling' (अर्थात् बुद्ध मुस्करा रहे है)। शांति के अग्रदूत बुद्ध की यह मुस्कान रहस्यमय होने के साथ-साथ व्यंग्यपूर्ण भी थी। इसके द्वारा यह सूचना भेजी गयी थी कि भारत ने परमाणु 'विस्फोट' कर लिया है। इस शब्द को लेकर आज तक बाल की खाल निकाली जाती रही है। अंग्रेजी भाषा में इसका नामकरण था—शान्तिपूर्ण परमाणु विस्फोट (Peaceful Nuclear Explosion)। जब आलोचकों ने यह कहना शुरू किया कि परमाणु विस्फोट आखिर शांतिपूर्ण कैसे हो सकता है तो भारतीय वैज्ञानिकों ने यह कहना आरम्भ किया कि पोखरन में विस्फोट नहीं, अंतःस्फोट (Implosion) किया गया। परन्तु इस शब्दजाल से कोई भी नीतिगत लाभ नहीं उठाया जा सका। पोखरन के बाद इस सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं थी कि भारत परमाणु बम का निर्माण कर सकता है। इजराईल और दक्षिण अफ्रीका जैसे देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इस बात का लाभ उठाते रहे हैं कि क्षमता और सामर्थ्य प्रदर्शित करने के बाद परमाणु बम के सन्दर्भ में परीक्षण की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

भारत सरकार ने यह दर्शाने का भरसक प्रयत्न किया पोखरन के बाद विदेशी, भारत की कथनी और करनी में कोई द्वन्द्व या अन्तर्द्वन्द्व न दिखला सकें। तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने अपने भाषणों में रेखांकित किया कि भारत की विकास परियोजनाओं को सम्पन्न करने के लिए इस तरह की तकनीकी सामर्थ्य प्राप्त करना एक अनिवार्यता थी। बड़े पैमाने पर पहाड़ तोड़ने, जमीन खोदने और भूगर्भ शास्त्रीय गवेषणाओं के लिए शांतिपूर्ण परमाणु विस्फोट की विशेष उपयोगिता बतलायी गयी। इस सन्दर्भ में यह बात आसानी से अनदेखी की जाती रही कि सोवियत संघ के बाहर किसी अन्य परमाणु सम्पन्न देश में *परमाणु ऊर्जा का ऐसा उपयोग नहीं किया गया।*

भारत के परमाणु विकास कार्यक्रम में महत्वपूर्ण सहयोगी देश कनाडा ने दो टूक शब्दों में यह बात कह दी कि पोखरन के विस्फोट के बाद वह भारत के परमाणु कार्यक्रम को शान्तिपूर्ण मानने को तैयार नहीं। इसके साथ ही उसने यह घोषणा भी कर दी कि भविष्य में वह भारत को परमाणु प्रौद्योगिकी के सिलसिले में तब सहायता देगा, जब वह *अपने परमाणु संयन्त्रों की अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण नियन्त्रण* प्रणाली के लिए सहमति दे देगा। भारत का मानना था कि वह ऐसी किसी भी शर्त को अपनी सम्प्रभुता व स्वाधीनता का अवमूल्यन मानेगा और इसको स्वीकृति नहीं दे सकता। पोखरन के धमाके का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यही हुआ। तब तक भारत-कनाडा सम्बन्ध तनावरहित रहे थे। लाल बहादुर शास्त्री के कार्यकाल में उनमें सौहार्द बढ़ा था। जब *कनाडा ही भारत के नीति परिवर्तन से खिन्न-अप्रसन्न* हुआ तो अमरीका की खटाई और बैर आसानी से समझ में आ सकते हैं। आने वाले वर्षों में अमरीका द्वारा पहले किये गये समझौतों को तोड़कर तारापुर संयन्त्र को दिये जाने वाले ईंधन में कटौती कहीं न कहीं पोखरन प्रसंग से जुड़ी हुई है। यह बात भी स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि विशेष मैत्री के तमाम दावों के बावजूद सोवियत संघ भी इस घटनाक्रम से प्रसन्न नहीं दिखाई दिया। भारत की राजस्थान परमाणु ऊर्जा परियोजना के लिए 'भारी पानी' देने के बारे में सोवियत संघ का

पजाब समस्या के कारण आतकवाद के देशव्यापी हिंसक विस्फोट ने शान्ति और सुव्यवस्था को ही सबसे महत्वपूर्ण सामरिक प्रश्न बना दिया था। साम्प्रदायिक दगे, केन्द्र सरकार को क्षेत्रीय चुनौतियाँ आदि ऐसी अन्य प्रवृत्तियाँ थीं जिन्होने सरकार का ध्यान इस मुद्दे से हटाया।

इन्दिरा गाधी की हत्या (1984) के बाद जब राजीव गाधी ने सत्ता सँभाली तो जरूर यह आशा जगी कि तकनीकी रुझान वाला यह विमान-चालक प्रधानमन्त्री परमाणु नीति के विषय मे अधिक रुचि लेगा। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। राजीव गाधी की अनुभवहीनता और अपरिपक्वता के कारण अतत रेलवे टिकटो का कम्प्यूटरी आरक्षण और परमाणु सामरिक विकल्प एक ही बटखरे से तोले जाने लगे। राजीव गाधी ने अपने को अकस्मात् सयोगवश ही गुट निरपेक्ष आन्दोलन का अध्यक्ष पाया और अन्य प्रगतिशील तथा शान्ति प्रेमी तीसरी दुनिया के नेताओ की सगति मे वह भी निशस्त्रीकरण के हिमायती बनने को विवश हुए। इस दौर की परिणति हुई—1986 मे, जब पाँच अन्य देशो के नेताओ के साथ उन्हें 'बियोंड वार' नामक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पुरस्कार दिया गया। वस्तुतः भारत के परमाणविक सामरिक सकल्प को कमजोर करने का यह कुटिल प्रयत्न था। जिस सस्था के तत्वावधान मे 'बियोंड वार' पुरस्कार की घोषणा की गयी, उसका नाम पहले कभी किसी ने नहीं सुना था और तत्कालीन प्रचार भी अभूतपूर्व था।

राजीव गाधी एक और कारण से भारत के परमाणु विकल्प को शब्दाडम्बर तक सीमित रखने को बाध्य थे। भारत की राकेट प्रक्षेपास्त्र परियोजनाएँ दीर्घसूत्री हैं और अशत ही सफल रही। समुचित डिलीवरी प्रणाली के अभाव मे भारत इस विकल्प को विश्वसनीय नहीं बना सकता। भारत मे श्री वि० प्र० सिंह व श्री चद्रशेखर के प्रधान मन्त्री काल मे भारतीय परमाणु नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कटु यथार्थ तो यह है कि आज भारत की परमाणु नीति का विश्लेषण भारतीय राष्ट्रीय हित के सन्दर्भ मे दूरदर्शी ढग से नहीं किया जा रहा, बल्कि सारी माथापच्ची पाकिस्तान के क्रियाकलाप के प्रतिक्रिया स्वरूप ही की जा रही है। वहम को भले ही कितना ही नया बनाकर पेश क्यो न किया जा रहा हो किन्तु मुद्दे और तर्क वही पुराने हैं।

आजादी के दिनो से ही भारत में दो पक्ष रहे हैं—बम बनाना आवश्यक समझने वाले और बम विरोधी। आरम्भ मे 1947 से 1957–58 तक लगभग सभी भारतीय नेता (सार्वजनिक रूप में सक्रिय) निशस्त्रीकरण के प्रति प्रतिबद्ध थे। 1957–58 मे चीन के साथ सम्बन्धो मे गड़बड़ाहट आने के बाद महावीर त्यागी जैसे विश्वासपात्र समझे जाने वाले कांग्रेसी सासदो ने बम की माग करना शुरू कर दिया। आगे चलकर 1960 वाले दशक के पूर्वार्ध में अनेक बुद्धिजीवियों प्राध्यापको, पत्रकारो आदि ने शोध और विश्लेषण द्वारा परमाणु बम की माग-महत्वकाक्षा को तर्कसगत सिद्ध किया। इनमे राजकृष्ण, शिशिर गुप्ता, जयदेव सेठी और सुब्रह्मण्यम स्वामी आदि खास तौर पर उल्लेखनीय हैं। मोटे तौर पर इनमे राजकृष्ण दक्षिणपथी, शिशिर गुप्ता वामपथी, जयदेव सेठी देशज दक्षिणपथी (Native Centrist) और सुब्रह्मण्यम स्वामी हिन्दू राष्ट्रवादी कहे जा सकते हैं। महावीर त्यागी के अनुसार भारत के लिए अपने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को बनाये रखने और अहकार की रक्षा के लिए परमाणु बम बनाना आवश्यक था। इस दौर मे चीन

और महत्व को प्रमाणित करना जरूरी हो गया था। इसके बिना उनका अस्तित्व संकट में पड़ सकता था। किसी ऐसे चमत्कार की जरूरत थी, जो प्रतीकात्मक और भ्रान्तिपूर्ण ढंग से ही सही, उपयोगिता और लाभ-लागत की दृष्टि से इस कार्यक्रम की सार्थकता दर्शा सके। अतः यह सुझाना तर्कसंगत होगा कि पोखरन परीक्षण सम्बन्धी नीति निर्णय इन मूर्धन्य वैज्ञानिकों द्वारा श्रीमती गांधी को बहलाने-फुसलाने से आसान हुआ।

पोखरन परीक्षण के बाद भारत की आन्तरिक राजनीति में इतनी तेजी से अति-नाटकीय परिवर्तन हुए कि परमाणु नीति निर्धारण का काम एक बार फिर खटाई में पड़ गया। जून, 1975 में आपातकाल की घोषणा और 'अनुशासन पर्व' में 'नीति की बात करना' लगभग अप्रासंगिक बन गया। आज यह कहना कठिन है कि 1975 से 1980 के पाँच वर्षों में किस सीमा तक भारतीय परमाणु कार्यक्रम की शिथिलता राजनीतिक नेतृत्व की संकल्पहीनता व इच्छा शक्ति के अभाव से उपजी थी या इसका असली कारण भारतीय परमाणु वैज्ञानिकों की अयोग्यता-अकर्मण्यता था।

जनता सरकार के काल में परमाणु नीति (1977 से 1980 तक)—जनता सरकार के काल (1977 से 1980 तक) में भारत की परमाणु नीति के सन्दर्भ में नीति निर्देश तो नहीं, लेकिन तत्कालीन प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने एकपक्षीय घोषणा की कि भारत कभी भी किसी भी हालत में परमाणु अस्त्र नहीं बनायेगा। जनवरी, 1980 में श्रीमती गांधी द्वारा पुनः सत्ता ग्रहण करने के बाद ही परमाणु नीति निर्धारण का काम पुनः आरम्भ हो सका।

जनता सरकार के अन्तराल में सिर्फ एक बात उल्लेखनीय है, जिसे यहाँ जोड़ा जा सकता है। श्रीमती गांधी द्वारा जनवरी, 1980 में पुनः सत्ता ग्रहण करने तक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम बहुत तेजी से बदल चुका था। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप और पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर दी गयी अमरीकी सैनिक सहायता के बाद भारत की अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का परिप्रेक्ष्य और परिवेश आमूल-चूल ढंग से बदल गये थे। 1980–82 के बीच यह बात भी बिल्कुल साफ हो गयी कि पाकिस्तान का परमाणु कार्यक्रम विशुद्ध रूप से सैनिक अभियान ही है। इन सबको ध्यान में रखते हुए यह बात एक बार फिर प्रासंगिक बन गयी कि भारत की परमाणु नीति पर पुनर्विचार एक तात्कालिक आवश्यकता है। अतः यह प्रश्न फिर सिर उठाने लगा कि भारत परमाणु बम बनाये या नहीं?

सम-सामयिक भारतीय परमाणु नीति (1980 से अब तक)—इन्दिरा गांधी द्वारा पुनः सत्ता ग्रहण करने के बाद भारतीय परमाणु नीति में कोई बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। एक बार फिर अति नाटकीय ढंग से आन्तरिक राजनीति में दलगत राजनीति में उठा-पटक ने नीति-निर्धारण को गौण बना दिया। 1980 से 1984 तक कई बार 'पाकिस्तानी बम' की चर्चा हुई। परन्तु इसके उत्तर में भारतीय प्रधानमन्त्री ने कोई सार्थक पहल नहीं की। यहाँ शायद यह जोड़ने की जरूरत है कि भारतीय राजनीति के आकाश में अपने दूसरे अवतरण में इन्दिरा गांधी को विश्व इतिहास में अपने स्थान का ज्यादा गहरा अहसास था। संयोगवश ही सही, गुट निरपेक्ष आन्दोलन का नेतृत्व हासिल करने के बाद तीसरी दुनिया के प्रवक्ता के रूप में निरस्त्रीकरण के प्रति उनकी श्रद्धा का भाव ज्यादा मुखर होने लगा था।

सम्पन्न राष्ट्रों की संख्या बढ़ने से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गैर जिम्मेदारी और अनिश्चय की स्थिति बढ़ेगी जो सर्वनाश तक ले जा सकती है। इसके जवाब में बम समर्थक यह सुझाते रहे कि आज तक तो ऐसा नहीं हुआ है। वे इस बात पर जोर देते हैं कि 'सीमित परमाणु युद्ध' की परिकल्पना एक सार्थक अवधारणा है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आतंक का सन्तुलन साधने की सबसे बड़ी गारन्टी। इसके अतिरिक्त बम-विरोधियों का कहना है कि परमाणु युद्ध के सन्दर्भ में किसी भी तर्कसंगत अवधारणा की बात करना पागलपन है। मानव जाति किसी अमूर्त सिद्धान्त की सार्थकता में परीक्षण के लिए सर्वनाश की जोखिम नहीं उठा सकती।

यह प्रश्न इसलिए और भी जटिल हो गया है कि आन्तरिक राजनीतिक दबावों के कारण और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों के अनुसार बहस में भाग लेने वाले लोग एक से अधिक बार अपना रुख बदल चुके हैं। कृष्ण चन्द पन्त, भवानी सेन गुप्ता और जयदेव सेठी इसी बदलते रुख की मिसाल हैं। बम-विरोधियों में चीन-अमरीकी सम्बन्धों में सुधार के बाद माओवादियों और अमरीका में अद्भुत मतैक्य देखने को मिलता है तो भारतीय परमाणु अस्त्रों के पक्षधर अपनी सोवियत पक्षधरता के साथ-साथ साम्प्रदायिक हिन्दू उग्र राष्ट्रवादियों की गठरी लादने को विवश हुए हैं। डा० सी० राजमोहन जैसे लोगों के लिए अपनी राजनीतिक ईमानदारी का तालमेल के० सुब्रह्मण्यम की गुरु-भक्ति के साथ बिठाना जरूरी हो गया है। राजमोहन के अनेक लेखों में बम के पक्ष और विपक्ष में तर्क एक साथ असमंजस वाले ढंग से देखे जा सकते हैं। वास्तव में वह आज सुब्रह्मण्यम के भारतीय रक्षा अध्ययन संस्थान और रजनी कोठारी के 'सेन्टर फार डेवलपिंग सोसाइटीज' के बीच बौद्धिकता प्रचारात्मक रस्साकशी में बदल चुकी है। इस वाद-विवाद प्रतियोगिता में किसी निश्चित फैसले तक पहुँचना आसान नहीं है, क्योंकि इस सिलसिले में अन्तिम निर्णय किसी तर्क (Logic) के आधार पर नहीं, बल्कि व्यक्तिगत मूल्यों और विवेक (Conscience) के आधार पर ही लिया जाना है।

हमारी समझ में वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए निःशस्त्रीकरण के प्रति निष्ठा और परमाणु अस्त्रों के उत्पादन के विकल्प को बचाये रखने की एक साथ बात करना घोर पाखण्ड है। भारत के राष्ट्र हित में परमाणु शस्त्र हासिल करना एक अनिवार्यता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो परमाणु विकल्प अनिश्चित काल तक बचा नहीं रह सकता। परन्तु इस बात को भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि कोई दूसरा व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार इससे बिल्कुल विपरीत निष्कर्ष तक भी पहुँच सकता है। अर्थात् वह परमाणु अस्त्र न बनाने के निष्कर्ष पर भी पहुँच सकता है।

खास परिवर्तन की सम्भावना नहीं—भारतीय परमाणु नीति विषयक बहस कभी समाप्त होने वाली नहीं है, क्योंकि हमारी समझ में इसमें हिस्सा लेने वाले लोग तर्कों से नहीं कुतर्क या भाव-विह्वलता से संचालित होते हैं। एक ओर भगवान बुद्ध, अशोक और महात्मा गांधी की दुहाई दी जाती है कि कैसे भारत जैसा अहिंसक देश परमाणु बम जैसे सर्वनाशक अस्त्र बना सकता है। दूसरी ओर 'शाक्त परम्परा' की छाप भी भारतीय इतिहास पर कम गहरी नहीं है। दलील यह है कि यदि भारत को स्वतन्त्र और स्वाधीन रहना है तो बिना परमाणु अस्त्रों के काम नहीं

विधा-विशारद और अर्थशास्त्री के रूप में सुब्रह्मन्यम स्वामी शुद्ध लाभ-लागत की दृष्टि से यह मार्ग सुझा रहे थे। राजकृष्ण और जयदेव सेठी चीनी खतरे से आशंकित थे तथा शिशिर गुप्ता विशुद्ध शक्ति-सन्तुलन के अनुसार भारत की स्वायत्तता व स्वाधीनता बचाये रखने के लिए परमाणु बम का निर्माण जरूरी व महत्वपूर्ण समझते थे।

1965 के आस-पास अद्भुत प्रतिभाशाली नौकरशाह के० सुब्रह्मण्यम का आविर्भाव रणनीति विश्लेषक (Strategy Analyst) के रूप में हुआ। भारतीय रक्षा अध्ययन संस्थान के निदेशक के रूप में उनकी बड़ी उपलब्धि यही रही कि वह विभिन्न राजनीतिक रुझानों वाले विषम अन्तर्विरोधों से ग्रस्त तबकों को भारतीय बम समर्थक लाबी में एक साथ ला सके।[1] कांग्रेसी युवा तुर्क कृष्ण कान्त, भारतीय जनता पार्टी के जसवन्त सिंह और वायुसेना के अधिकारी एयर कमोडोर जसजीत सिंह जैसे बम समर्थक लोग के० सुब्रह्मण्यम की शिष्य परम्परा में आते हैं। विज्ञान के विद्यार्थी के० सुब्रह्मण्यम विषय की दुरूहता से आक्रान्त नहीं थे। संयुक्त राष्ट्र संघ की निरस्त्रीकरण समितियों की सदस्यता ने उन्हें अनूठी विशेषज्ञता प्राप्त करने का अवसर दिया। रक्षा मन्त्रालय के अपने अनुभव से के० सुब्रह्मण्यम बहस में हस्तक्षेप न करने की परम्परा में पले। चूँकि भारतीय सेनाध्यक्ष परमाणु बम उत्पादन का समर्थन नहीं कर सकते, अतः उन्होंने स्वयं यह जिम्मेदारी ओढ़ ली कि वह अकेले ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संसद, समाचार-पत्रों और विश्वविद्यालयों में इस बहस को गरम रखेंगे।

नेहरू जी की मृत्यु के बाद परमाणु बम के विरोधियों में जयप्रकाश नारायण जैसे गांधीवादी सर्वोदयी और रजनी कोठरी जैसे गांधीवादी विचारक, वामपंथी-समाजवादी रुझान में वैज्ञानिक पत्रकार क्लोड अल्वारेस और प्रफुल्ल बिदवई, यूरोपीय परिवेश में प्रभावित बुद्धिजीवी भरत वाडियावाला तथा चीन विशेषज्ञ गिरिदेशकर उल्लेखनीय हैं। इन लोगों का तर्क द्विपक्षीय है, जिसको सबसे स्पष्ट ढंग से प्रफुल्ल बिदवई ने परिभाषित किया है। इनके अनुसार परमाणु अस्त्र प्रतिरक्षा का कवच नहीं, बल्कि व्यापक संहार का उपकरण है। अतः भारत को हत्या या आत्महत्या के इस खर्चीले साधन की जरूरत नहीं है। इसी का दूसरा पहलू रजनी कोठारी, गिरिदेशकर आदि का सैद्धान्तिक शान्ति प्रेम है। गिरिदेशकर का मानना है कि परमाणु बम की ललक भारतीय उपमहाद्वीपीय साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा का हिस्सा है। धीरेन्द्र शर्मा और क्लोड अल्वारेस परमाणु बम को व्यापक सन्दर्भ में और भी खतरनाक और बेमानी समझते हैं। इनके अनुसार न केवल आणविक अस्त्रों का उत्पादन, बल्कि तमाम परमाणु ऊर्जा का उत्पादन बेहद खर्चे वाला है और दुर्घटना-जनित प्रदूषण या परमाणु राख (Nuclear Waste) के खतरे युद्ध के सर्वनाश से कम भयावह नहीं।

परमाणु बम बनाने की माँग के समर्थक लोग यह सुझाते हैं कि बात सिर्फ लाभ-लागत की नहीं, बल्कि अवसर-लागत (Opportunity Cost) की भी है। पाकिस्तान या चीन द्वारा भयादोहन (blackmail) के अवसर पर भारत नपुंसक नहीं रह सकता। जबकि परमाणु बम-विरोधी यह बात उठाते हैं कि परमाणु शक्ति

[1] K. Subrahmanyam (ed.), *Nuclear Myths and Realities : India's Dilemma* (Delhi, 1981), 52-70.

द्वारा निर्मित भारतीय विदेश नीति रूपी भव्य प्रासाद की नीव बहुत कमजोर थी। इसीलिए उनकी जीवन सध्या मे इस भवन के खडहर ही शेष रह गये थे। वस्तुत किसी भी देश की विदेश नीति की सफलता एव असफलता की एक वस्तुनिष्ठ कसौटी हो सकती है, वह है—देश के राष्ट्रीय हितो की रक्षा। इस तरह देखें तो नेहरू ने 'आदर्श' की मृग-मरीचिका के तहत 'यथार्थ' की बलि दे दी थी। परन्तु इसके उत्तर मे ए० अप्पादुराई और एम० एस० राजन जैसे विद्वान नेहरू के पक्ष म स्वय नेहरू को उद्धृत करते रहे हैं—'आखिरकार आदर्शवाद क्या है ? आने वाले कल का यथार्थवाद ही तो है।' आज भी भारतीय विदेश-नीति के विद्यार्थियो के लिए यह चुनौती बची रहती है कि वे किस निष्कर्ष पर पहुँचे ? 1947 से आज तक भारत का अन्तर्राष्ट्रीय आचरण 'आदर्शवादी' माना जाये या 'यथार्थवादी' ? इस महत्वाकाक्षी परियोजना का क्रियान्वयन सफल समझा जाये या असफल ?

1964 से आज तक केन्द्र सरकार मे कई महत्वपूर्ण बुनियादी परिवर्तन हुए हैं और भारतीय विदेश-नीति निर्णायक ढग स सशोधित परिवर्तित की गयी। अनेक अन्य प्रश्न इस सन्दर्भ म महत्वपूर्ण जान पडते है ? भारतीय विदेश-नीति में सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण हैं या व्यक्तित्व ? इसमे परम्परा का प्रभाव अधिक स्पष्ट है या परिवर्तनकारी शक्तियाँ भारत के आचरण को अनुकूलित करती हैं ? इसमे शीर्षस्थ राजनेताओ एव विचारको का प्रभाव अधिक प्रभावशाली है या नौकरशाह प्रशासको का ? यह भी सोचने लायक बात है कि क्या कालान्तर मे भारतीय विदेश-नीति की प्राथमिकताएँ या क्षितिज सिमटे है ?

सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण हैं या व्यक्तित्व—यह खेद का विषय है कि अब तक भारतीय विदेश नीति का अध्ययन व विश्लेषण मुख्यत नेहरूयुगीन अनुभव पर केन्द्रित रहा है। श्रीमती इन्दिरा गाधी की विदेश-नीति के बारे मे भी टिप्पणियाँ इसी शैली के अनुरूप हैं कि जैसे वह नेहरू की परिशिष्ट मात्र हो। वैसे कुछ ऐसे आलोचक भी हैं जो श्रीमती गाधी को दूसरा छोर या ध्रुव मानते हैं, जिनका नेहरू क चिन्तन और आचरण से जन्मजात वैर था। जनता सरकार के अन्तराल को एक व्यवधान या उप-विराम चिन्ह भर समझा जाता है। एक पचीदगी यह भी है कि स्वय श्रीमती गाधी के कार्यकाल का एक अन्तराल दो हिस्सो में बँटा है और इन दो अवधियो में निरन्तरता स्पष्ट परिलक्षित नही होती है और न ही यह आसानी से आरोपित की जा सकती है।

परम्परा बनाम परिवर्तन—इन सब बातो को ध्यान मे रखकर जब हम पिछले चार दशको की भारतीय विदेश-नीति पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करते है तो कुछ महत्वपूर्ण तथ्य स्वयमेव सामने आते है। नेहरू जी का विश्व दर्शन आज तक भारतीय विदेश-नीति के निर्धारण व क्रियान्वयन के लिए सार्थक पृष्ठभूमि का काम करता रहा है। इसमे यह जोडने की आवश्यकता है कि यह विश्व दर्शन 1947 से लेकर आज तक बराबर उपयोगी नहीं रहा है। शीत युद्ध के प्रारम्भिक दौर म शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व वाले राजनय का जो सामरिक महत्व था, वह तनाव शैथिल्य क दौर म नहीं रह सकता था। इसी तरह अफ्रो-एशियाई जगत मे हर राष्ट्र का औपनिवेशिक दासता म मुक्ति पाने का रास्ता पृथक रहा। अफ्रो-एशियाई जगत या तीसरी दुनिया की एकता भी आकाश कुसुम ही रही। भारतीय राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज व महत्वपूर्ण उतार-चढ़ावों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति क प्रभावों ने भी

चल सकता। इनके अभाव में चीन हो या पाकिस्तान, हमारा मनमाना भयादोहन (ब्लैकमेल) कर सकते हैं। कुछ विद्वानों का यह मानना है कि यदि आज भारत सरकार सरहद पार कश्मीरी उग्रवादियों के अड्डे मटियामेट करने का साहस नहीं जुटा पा रही है तो सिर्फ इसीलिए कि पाकिस्तान के पास 'बम' है। विश्व बैंक से ऋण की जरूरत ने एक नया आयाम जोड़ा। आने वाले महीनों में परमाणु प्रसार रोक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए भारत पर दबाव निरन्तर बढ़ेगा। एक ओर के० सुब्रह्मण्यम जैसे विद्वान हैं, जो मानते हैं कि परमाणु बम बनाने के बाद भारत के रक्षा खर्च में कटौती की जा सकेगी और आतंक का सन्तुलन बरकरार रखकर पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों का सामान्यीकरण सहज होगा। दूसरी ओर दिलीप मुखर्जी जैसे वरिष्ठ विश्लेषक हैं, जिनका मानना है कि रक्षा खर्च में कटौती नहीं होगी, बल्कि परमाणु क्षेत्र में एक अन्धी दौड़ तथा आत्मघातक होड़ और शुरू हो जायेगी। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर धीरेन्द्र शर्मा की स्थिति अनूठी है। वह परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के भी विरुद्ध हैं। उनका मानना है कि परमाणु वैज्ञानिकों का अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय माफिया अपनी सफलताओं का झूठा प्रचार कर साम्राज्य का विस्तार करता है और इस दुस्साहसिक अभियान के दुखदायी सामाजिक व आर्थिक परिणामों के प्रति आँख-कान मूँदे रखता है। एक ओर यह सवाल भारत के राष्ट्रीय सम्मान से जुड़ा है तो दूसरी ओर आर्थिक तकनीकी क्षमता और आत्म निर्भरता से। आज भारत के सामने सामरिक चुनौती मुँह बाएँ खड़ी है और अन्तर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप-दबाव निरन्तर बढ़ रहा है। आम आदमी हो या विशेषज्ञ, तमाम प्रतिक्रियाएँ परस्पर विरोधी जीवन मूल्यों और दलगत राजनीतिक पक्षधरता से जुड़ी हैं। इस स्थिति में भारतीय परमाणु नीति में नाम परिवर्तन की आशा निकट भविष्य में नहीं की जा सकती।

भारतीय विदेश नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Assessment of Indian Foreign Policy)

भारतीय विदेश नीति के बारे में आरम्भ से ही विद्वानों का यह मत रहा है कि यह एक अनूठा अभियान है। माइकिल ब्रेचर के अनुसार इसके नियोजक व नियामक जवाहर लाल नेहरू की भूमिका अद्भुत थी। उन्होंने ही विदेश नीति रूपी इस भवन की कल्पना व रूपरेखा तैयार की थी और इसके निर्माण में हाथ बँटाया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के दस वर्षों में इस भवन का बाह्य रूप भव्य था और यह दर्शकों को प्रभावित करता था। जयन्तनुज बंद्योपाध्याय जैसे विद्वानों का मानना है कि नेहरूकालीन भारतीय विदेश नीति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसकी बुनियादी अवधारणाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में प्रतिष्ठित एवं पारम्परिक सिद्धान्तों को चुनौती दी गयी थी। बंद्योपाध्याय ने इस बात पर जोर दिया है कि भारतीय विदेश नीति सत्ता-संघर्ष और शक्ति-संघर्ष को नकार कर सामूहिक हित और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का विकल्प प्रस्तुत करने की चेष्टा कर रही थी।

किन्तु इसके बाद के दो दशकों में जो घटनाक्रम सामने आया, उसने भारतीय विदेश नीति के इस प्रारम्भिक मूल्यांकन पर कई प्रश्न चिह्न लगा दिये। 'इण्डियाज चायना वार' के लेखक नेविल मेक्सवेल ने नेहरू जी के निधन के दस वर्ष बाद भारतीय विदेश नीति का विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष प्रकाशित किया कि नेहरू

विशेष व घनिष्ठ सम्बन्ध, जो पराधीनता के सूचक कतई नहीं हैं, नेहरू के काल से आज तक एक से रहे हैं। जनता सरकार के काल में इनको परिवर्तित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

रंगभेद विरोध हो या उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष, भारत की नीति सार्थक, तर्कसंगत, निरन्तर एक जैसी और प्रशंसनीय रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में, विशेषकर इसके विशेषीकृत अभिकरणों के अन्तर्गत क्रियान्वित हो रही परियोजनाओं में भारत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी तरह गुट निरपेक्ष आन्दोलन हो या राष्ट्रमण्डल की गतिविधियाँ, इनका अध्ययन-विश्लेषण आरम्भ करते ही भारत का महत्व सामने आ जाता है।

अवसर भी हैं और चुनौतियाँ भी—भारतीय विदेश-नीति के निर्धारण व क्रियान्वयन के सन्दर्भ में यह बात हमेशा ध्यान में रखने लायक है कि पिछले 50–60 वर्षों में तत्सम्बन्धी राजनय तभी गतिशील रहा है, जब शीर्षस्थ नेता आंतरिक और बाह्य नीतियों के अन्तर-सम्बन्ध को ध्यान में रखकर इनको अन्तर-सन्तुलित करते हुए 'नेतृत्व' का जोखिम उठाने को तैयार रहे हैं। श्रीमती गांधी के निधन के बाद यह बात अवश्य खटकने वाली है कि प्रधानमन्त्री और उनके सलाहकारों की सक्रियता किसी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने की अभिलाषा से प्रेरित नहीं जान पड़ती। उनमें परिवर्तन और पहल का उत्साह तो है, परन्तु उनका परीक्षण देश की रक्षा और गन्तव्य दिशा को अच्छी तरह समझे-पहचाने बिना नहीं किया जा सकता। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में श्रीमती गांधी अक्सर इस बात पर ध्यान देती थीं कि देश के सामने चुनौतियाँ भी हैं और अवसर भी। यदि हम अवसर का लाभ उठाने को तैयार नहीं होते हैं तो चुनौतियों का सामना नहीं कर सकते।

नेहरू की विरासत को एकमात्र मूलमन्त्र मानना शोचनीय—अन्त में, इस तरफ ध्यान दिलाया जाना परमावश्यक है कि नेहरू जी की विरासत को भारतीय विदेश नीति के निर्धारण व नियोजन का एकमात्र मूल मंत्र नहीं बनाया जा सकता। भारतीय नेताओं व प्रशासकों का हाल अब तक ऐसा रहा है, जैसा मध्य युग में प्राचीन ग्रंथों के टीकाकारों का हुआ करता था। मौलिक चिन्तन से नाता तोड़कर अन्वय-विश्लेषणों और मंत्रोच्चार मात्र से ही काम चल जाता था। यह स्थिति शोचनीय है। नेहरू जी जिस दुनिया से परिचित थे और जिसमें रहन और संघर्ष करने का उन्होंने भारत को रास्ता बतलाया, वह आज बुनियादी तौर पर बदल चुका है। यदि हम आज भारत को 21वीं सदी में पहुँचाने की बात करते हैं तो 1927 के ब्रुसेल्स सम्मेलन या हिस्पानी (स्पेन के) गृह युद्ध और यूरोप में नाजियों के उत्थान की यादें ताजा करने से काम नहीं चल सकता। बड़े विराट पैमाने पर आयोजित सांस्कृतिक राजनय, पर्यटन विभाग की जरूरतें भले ही पूरी कर सकता हो, किन्तु इस माध्यम से राष्ट्रीय हित के साधन की बात नहीं सोची जा सकती।

विदेश-नीति के पूर्वाग्रहों और पूर्वानुमानों को गड्डमड्ड कर दिया। भारत-चीन सीमा संघर्ष, सोवियत-चीन विग्रह, यूरोप और दक्षिण पूर्व एशिया का क्षेत्रीय एकीकरण, हिन्द चीन व पश्चिम एशिया में निरन्तर चल रहे संकट, इस्लामी पुनरुत्थानवादी उग्रवाद का ज्वार तथा आतंकवाद का आविर्भाव ऐसे परिवर्तन हैं, जिनका मुकाबला करने में असमर्थता का दोष भारतीय विदेश-नीति के निर्धारकों को देना न्यायोचित नहीं।

इस बात को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति महाशक्ति-केन्द्रित रही है। भारत स्वयं एक बड़ी शक्ति नहीं। भू-राजनीतिक कारणों से भारत के पड़ोस (अफगानिस्तान व पाकिस्तान) या हिन्द महासागर में महाशक्तियों की उपस्थिति व प्रतिस्पर्धा को रोकने में या अन्तर्राष्ट्रीय संकट समाधान में मध्यस्थता के सन्दर्भ में आज भारत की क्षमता सीमित हो है। किसी अन्तर्राष्ट्रीय खेमे का नेतृत्व करने की अपेक्षा आर्थिक विकास और समतापूर्ण समाज की उपलब्धि भारतीय राजनीति की प्राथमिकताएँ हैं। जो आलोचक यह सोचते हैं कि विदेश नीति में व्यस्तता पहले नेहरू की और आज नरसिंह राव की खर्चीली विलासिता है, उन्हें जानना चाहिए कि अब आन्तरिक लक्ष्य बाहरी दुनिया के दबावों से निर्णायक रूप से प्रभावित होते हैं।

आदर्शवाद व यथार्थवाद का द्वन्द्व—जैसा कि आरम्भ में कहा गया है कि किसी भी देश की विदेश-नीति उसकी आन्तरिक नीतियों का विस्तार-प्रक्षेप ही होती है। राष्ट्रीय हितों के संवर्धन-संरक्षण का अर्थ दिग्विजय की पताकाएँ फहराना नहीं, बल्कि अपनी भौगोलिक अखण्डता को अक्षत रखना और आर्थिक विकास को स्वाधीन बनाना होता है। इस दृष्टि से देखें तो भारतीय विदेश-नीति आंशिक रूप से ही सफल मानी जा सकती है। यह बात रेखांकित किया जाना जरूरी है कि अमरीका हो या रूस, चीन हो या अन्य कोई देश, सभी की विदेश-नीति कुल मिलाकर आंशिक रूप से ही सफल मानी जा सकती है। इसी तरह परम्परा और परिवर्तन का पक्ष भी है। हर महत्वपूर्ण राष्ट्र की विदेश-नीति ऐतिहासिक उत्तराधिकार के बोझ के साथ-साथ भविष्य के दबावों का सन्तुलन करने का प्रयत्न करती है।

इस प्रकार, आदर्शवाद व यथार्थवाद के द्वन्द्व की बहस भी कुल मिलाकर बेबुनियाद है। नेहरू जी अपनी हर नीति का आदर्शोन्मुख परिचय दे सकते थे। परन्तु भारत के हितों की रक्षा के मामले में नेहरू को बल-प्रयोग में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं हुई। 1947–48 में कश्मीर, 1961 में गोवा, 1962 में चीन के साथ मुठभेड़ आदि सभी इस बात को भलीभाँति दर्शाते हैं। बल्कि कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बल प्रयोग से समस्या-समाधान ढूंढने वालों में भारत अग्रणी रहा है। नेहरू के बाद शास्त्री ने 1965 में पाकिस्तान के साथ और श्रीमती गांधी ने 1971 में बंगला देश को मुक्त कराने के लिए सैनिक बल के प्रयोग का मार्ग चुना।

स्वाधीनता गिरवी नहीं—इसी तरह आर्थिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में भारत की अनूठी उपलब्धि यह रही है कि उसने पूँजीवादी और समाजवादी दोनों खेमों से बड़े पैमाने पर आर्थिक व तकनीकी सहायता ग्रहण की, परन्तु उसने कभी अपनी स्वाधीनता गिरवी नहीं रखी। भारत-सोवियत मैत्री व सहयोग सन्धि उसके सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों में विशेषता को उजागर करती थी। परन्तु इससे भारत की गुट निरपेक्षता का क्षय प्रमाणित नहीं होता। भारत व सोवियत संघ के बीच ये

के अन्य बहुसंख्यक सदस्यों के लिए भी यह शक्ति समीकरण निर्णायक महत्व का सिद्ध हुआ। इससे पहले कि हम इस विषय का विस्तृत विवेचन करें, सोवियत-चीन सम्बन्धों के प्रारम्भिक मैत्रीपूर्ण आत्मीय दौर का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन उपयोगी होगा। इस दौर में साम्यवादी चीन और सोवियत संघ के बीच सम्बन्ध पारम्परिक साम्यवादी फार्मूले के अनुसार ही निर्धारित-संचालित होते रहे, जिसमें सारे समाजवादी राष्ट्र एक खेमे में रखे जाते हैं और बुर्जुआ देश दूसरे खेमे में। इस पूरे दौर में चीन की भूमिका समाजवादी खेमे के सदस्य के रूप में ही परिभाषित की गयी।'[1]

मैत्रीपूर्ण आत्मीय सम्बन्धों का दौर (1949–1960)—सोवियत संघ और चीन दोनों ऐसे पड़ोसी देश हैं, जिनकी 'विशेषता' और 'महानता' का दावा अपनी-अपनी तरह से अनूठा था। सोवियत संघ पृथ्वी का सबसे बड़ा भू-भाग ($\frac{1}{6}$) घेर हुए था तो चीन सबसे ज्यादा आबादी (एक अरब से भी ज्यादा) वाला देश है। चीन सबसे पुरानी जीवित सांस्कृतिक परम्परा का वारिस है तो रूस मध्य काल से ही यूरोप की बड़ी ताकतों में गिना जाता रहा था। साम्राज्यवाद के विस्तारवादी दौर (1905 तक) में भले ही इन दोनों देशों के बीच सीमान्त पर टकराव होता रहा, परन्तु शत्रु के रूप में एक-दूसरे को देखने की कोई भी जरूरत किसी ने महसूस नहीं की, क्योंकि राष्ट्रीय नीति और पहचान मुख्यतः राजधानियों तक सीमित रही और मास्को तथा नानकिंग (चीन की तत्कालीन राजधानी) के बीच की दूरी अलघ्य थी। साइबेरिया के जिस सरहद पर इन दो देशों की सीमाएँ मिलती थी, वहाँ आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के अभाव में मानव जीवन दुष्कर था। वैसे भी, रूस और चीन बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आन्तरिक राजनीतिक उथल-पुथल के कारण अपने देश की सरहद से बाहर झाँकने लायक हालत में नहीं थे। ऐसी हालत में भले ही उनमें घनिष्ठता नहीं रही हो, परन्तु एक तटस्थ उपेक्षा का भाव रखना सहज था।

सोवियत संघ और चीन दोनों जगह साम्यवाद के आविर्भाव के पहले नीतियों के समायोजन या मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के लिए पहल करने की जरूरत किसी भी पक्ष ने महसूस नहीं की। साम्यवाद के आविर्भाव के बाद दोनों देशों के सम्बन्ध हमेशा मैत्रीपूर्ण या तनाव से मुक्त रहे हों, ऐसा भी नहीं हुआ। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद कुमिनटर्न (Comintern) की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति का निर्यात करना था। इस दौरान सोवियत शासक स्टालिन ने बुखारिन और बोरोदीन जैसे अपने एजेन्टों की सहायता से अन्य औपनिवेशिक व दबावग्रस्त देशों में साम्यवादी पार्टियों को अपने नियन्त्रण में रखने का भरसक प्रयत्न किया। चीन के साम्यवादी अपनी असमर्थता-दुर्बलता के कारण भले ही अपने देश में गृह युद्ध के दौर में रूस पर निर्भर रहने को विवश हुए, किन्तु बाद में उनके लिए इस सम्बन्ध को बनाये रखना किसी भी तरह सहज या आत्म-सम्मानपूर्ण नहीं था। खासकर उस स्थिति में जब माओत्से तुंग और स्टालिन दोनों ही उग्र एवं अहंकारी व्यक्तित्व वाले नेता थे।

इन सब कारणों के बावजूद यदि 1945 के बाद सोवियत संघ और चीन के आपसी सम्बन्ध सहयोगियों की तरह रह सके तो उसके लिए द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर काल के अन्तर्राष्ट्रीय दबाव जिम्मेदार थे। जहाँ एक ओर युद्धोत्तर पुनर्निर्माण में

[1] Michael Yahuda, *China's Foreign Policy After Mao* (London, 1983), 20.

सोलहवाँ अध्याय

विश्व राजनीति के अन्य प्रमुख मामले

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ऐसे कई अन्य प्रमुख मसले व सकट उठे, जिन्होंने विश्व शान्ति और सुरक्षा को संकटग्रस्त कर दिया। ये मसले न केवल गम्भीर चर्चा के केन्द्र-बिन्दु रहे, बल्कि उन्होंने सम्पूर्ण मानव समाज के समक्ष नई चुनौतियाँ खड़ी कर दी। समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसे अनेक मसले-सकट आज भी मुँह बाए खड़े हैं, जिनका अपेक्षित विश्लेषण इसी पुस्तक के पिछले अध्यायों में नहीं हो पाया है। यहाँ ऐसे ही अन्य अत्यन्त महत्वपूर्ण मसलों का विवेचन किया जा रहा है। ये मसले हैं—

(1) सोवियत-चीन सम्बन्ध।
(2) कबोडिया विवाद और हिन्द-चीन संकट।
(3) विश्व तेल संकट व भारत।
(4) आतंकवाद की समस्या।
(5) हिन्द महासागर में महाशक्तियों की पैंतरेबाजी।
(6) पाकिस्तान की परमाणु तैयारियाँ।
(7) रंगभेद की समस्या: दक्षिण अफ्रीका व नामीबिया।
(8) नामीबिया को आजादी एव नई चुनौतियाँ।
(9) नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश।
(10) तीसरी दुनिया की एकता का सवाल।
(11) अफगान सकट एवं जेनेवा समझौता।
(12) पूर्वी यूरोप में परिवर्तन व उनके विश्व राजनीति पर प्रभाव।
(13) जर्मनी के एकीकरण का मसला।
(14) सुपर–301 पर भारत व अमरीका में मतभेद।

सोवियत-चीन सम्बन्ध
(Sino-Soviet Relations)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक बेहद महत्वपूर्ण व नाटकीय घटनाक्रम सोवियत संघ और जनवादी चीन के बीच गहरी और खतरनाक दरार का पैदा होना था। इसे रूस-चीन विग्रह, वैमनस्य या टकराव (Sino-Soviet Dispute) के नाम से भी जाना जाता है। यह वास्तव में बड़ी अटपटी बात थी कि एक ही विचारधारा को मानने वाले और एक ही सामरिक परिप्रेक्ष्य के साझीदार दो राष्ट्र आपस में सैनिक मुठभेड़ तक पहुँच जायें। इस परिवर्तन से दोनों महाशक्तियों के आपसी सम्बन्धों पर जो प्रभाव पड़े, उनकी किसी भी चर्चा में उपेक्षा नहीं की जा सकती। साथ ही, अन्य बड़ी शक्तियों और अफ्रो-एशियाई जगत

खतरनाक रूप से उभर कर सामने आये। सोवियत संघ ने ख्रुश्चेव के सत्ता ग्रहण करने के साथ यह स्पष्ट कर दिया कि भविष्य में उसकी नीतियाँ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित होंगी। सोवियत संघ द्वारा अमरीका को 'सहयोगी प्रतिस्पर्धी' (Adversary Partner) के रूप में देखे जाने की यह शुरुआत थी। यह वह दौर था, जब माओवादी चीन 'जीवित गुलामी' से 'क्रान्तिकारी शहादत' को श्रेष्ठ (Better red than dead) बतलाने में लगा हुआ था और अमरीका को 'कागजी शेर' कह रहा था। सोवियत संघ में बीसवीं पार्टी कांग्रेस के साथ 'विस्टालिनीकरण' (Destalinization) की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई, उसके बारे में माओ जैसे वरिष्ठ नेता से सलाह मशविरा नहीं किये जाने पर अनेक चीनी नेता बेहद खिन्न थे। इस प्रकार 'विस्टालिनीकरण' सोवियत संघ और चीन के बीच कटु मतभेद का कारण बना।

2 क्यूबा संकट व भारत-चीन सीमा विवाद—इस बीच अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अनेक ऐसी घटनाएँ घटीं, जिन्होंने सोवियत संघ व चीन के बीच क्लेश को बढ़ाया। क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट (1962) के बाद अमरीका व रूस के आपसी सम्बन्धों और संवाद की विशेषता उजागर हुई तो भारत-चीन सीमा विवाद के वक्त सोवियत संघ द्वारा भाइयों और मित्रों में फर्क न किये जाने से चीनी नेता सोवियत संघ के प्रति बेहद खिन्न हुए।

3. जातीय-नस्लवादी तत्व—इस सरलीकृत निष्कर्ष तक पहुँचना आसान है कि सोवियत संघ और चीन ने जरूरत न रह जाने पर अपने रास्ते अलग-अलग चुन लिये। परन्तु ऐसा समझना तर्कसंगत नहीं होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सोवियत संघ और चीन के बीच की खाई सिर्फ पारस्परिक हित संघर्ष का उभरना थी। वस्तुतः सदियों पुराने पारम्परिक और सम-सामयिक संघर्षजनक तत्वों के सन्निपात से दोनों देशों के बीच यह तनावपूर्ण स्थिति पैदा हुई थी। इस विवाद का एक पक्ष जातीय-नस्लवादी था। स्लाव लोग अर्थात् बहुसंख्यक रूसी मूलतः यूरोपीय संस्कार वाले गोरे लोग हैं और चीनी असंदिग्ध पीले एशियाई। दोनों जातियों में नस्लवादी अहंकार बढ़-चढ़कर है। साम्राज्यवादी मध्ययुगीन दौर में इस जातीय टकराव से सम्पत्ति के स्वामित्व का मसला भी जुड़ गया। रूसियों का सोचना था कि मांचू राजाओं ने उनकी जमीन पर कब्जा कर रखा है तो चीनियों का मानना था कि वे स्वयं जारशाही के शिकार होते रहे हैं।

4 मार्क्सवाद-लेनिनवाद की व्याख्या के बारे में मतभेद—दोनों दलों द्वारा मार्क्सवाद का रास्ता अपनाने के बाद फर्क और विवाद का एक और आयाम उद्घाटित हुआ। सोवियत व चीनी नेताओं के बीच मार्क्स और लेनिन की स्थापनाओं की व्याख्याओं के विषय में एक बुनियादी फर्क रहा। हाँ, दोनों दलों के नेताओं के तर्क अपनी-अपनी जगह पर जरूर 'सगत' थे और उनके अपने राष्ट्रीय अनुभव से अनुशासित-प्रभावित। सोवियत संघ में बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता गुप्त रूप से संगठित और लगभग पेशेवर पार्टी पर निर्भर थी तथा सर्वहारा के पक्ष में पार्टी के अधिनायकत्व की पक्षधर, जबकि चीन का जन मुक्ति संग्राम माओवादी छापामारी पर आधारित था और इसके दौरान अनेक मार्क्सवादी स्थापनाओं-परिकल्पनाओं में महत्वपूर्ण ढंग से संशोधन-परिवर्तन किया गया। मसलन, चीनी साम्यवादी पार्टी 'श्रमिक' नहीं, बल्कि 'कृषक' को 'क्रान्ति की नींव का पत्थर' मानती थी और पार्टी को अधिनायक नहीं,

लगा सोवियत संघ अमरीका द्वारा प्रस्तुत बहुमुखी चुनौतियों (सामरिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक) का सामना करने के लिए कमर कस रहा था, वहीं चीनी साम्यवादी अपने प्रतिद्वन्द्वी 'राष्ट्रवादी' कुमिनताग पर विजयी होने के निर्णायक क्षण तक पहुँचने के बाद भी निरापद नहीं थे। जहाँ एक ओर चीन के साम्यवादियों के सामने यह खतरा था कि कोई बाहरी शक्ति हस्तक्षेप कर उनके तमाम किये धरे पर पानी फेर सकती है वहीं दूसरी ओर आन्तरिक विध्वंसकारियों के प्रति सतर्क रहने की आवश्यकता भी महसूस की जा रही थी। चीनी नेताओं का एक प्रमुख उद्देश्य 'अपनी भूमि' के बचे हिस्सों—ताइवान, क्विमोय, माउत्सु आदि को स्वाधीन कराना था। इसके लिए यह जरूरी था कि शत्रु पक्ष को प्राप्त महाशक्ति अमरीका के समर्थन को सन्तुलित करने के लिए दूसरी तत्कालीन महाशक्ति (अर्थात सोवियत संघ) के साथ सम्बन्ध मधुर किये जायें।

इसके अलावा रूस व चीन के बीच हितों के संयोग का आर्थिक पक्ष भी महत्वपूर्ण साबित हुआ। कुमिनताग के दौर में अमरीकी पूँजीपति-उद्योगपति बड़े पैमाने पर चीन में सक्रिय रहे। रूसी इस संकट को अनदेखा नहीं कर सकते थे कि वह अस्थिर स्थिति का लाभ उठायें। सोवियत संघ स्वयं भले ही अपने आर्थिक विकास के लिए साधनों के अभाव से पीड़ित था, लेकिन चीन के पिछड़ेपन को देखते हुए उसकी तकनीकी एवं आर्थिक सहायता करने लायक सामर्थ्य उसकी थी ही। इसके अलावा दो अन्य कारण थे। पहला तो यह कि चीनी नेताओं ने सोचा कि यदि सोवियत संघ के साथ सन्धिबद्ध मित्र राष्ट्र जैसे सम्बन्ध स्थापित किये जायें तो शायद मचूरिया और सिक्यांग में स्टालिन की विस्तारवादी घुसपैठ को रोका जा सकता है। दूसरा कारण, दोनों देश मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति कटिबद्ध होने के कारण उनके बीच व्यापक, सार्थक और ठोस सहकार की जमीन तैयार थी। निरस्त्रीकरण, रंगभेद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद आदि के विषय में दोनों देशों में मतैक्य था। 1949–50 से लेकर 1960–62 के दौरान इन सब कारणों से चीन और सोवियत संघ की एकता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करती रही।

मैत्रीपूर्ण आत्मीयता के दौर में असन्तोष का बीजारोपण

वैसे दोनों देशों के बीच मैत्रीपूर्ण आत्मीयता के इस दौर में असन्तोष का बीजारोपण भी हो रहा था जो निरन्तर बढ़ता रहा। इसकी परिणति अन्ततः हिंसक अलगाव में हुई। चीन को यह लगता रहा कि सोवियत संघ उसकी भौगोलिक अखण्डता और सम्प्रभुता की रक्षा के लिए परमाणु अस्त्रों का उपयोग करने में या कम से कम इसकी धमकी देने में हिचकिचाता है। चीन को दी जाने वाली आर्थिक व तकनीकी सहायता उसकी जरूरत के मुताबिक नहीं, बल्कि रूसी कृपा और उसकी अपनी सामरिक व राजनयिक तर्क प्रणाली पर निर्भर थी। दूसरी ओर रूसियों को इस बात से बड़ी आपत्ति थी कि चीनी नेता सोवियत संघ को साम्यवादी खेमे का गढ़ या राजधानी मानने के लिए तैयार नहीं थे। चीनी नेता अफ्रो-एशियाई देशों में अपनी अलग हस्ती बनाने के लिए सक्रिय रहते थे—खासकर दक्षिण पूर्व एशिया में।

सोवियत चीन मतभेद के कारण—सोवियत संघ और जनवादी चीन के बीच मतभेद के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

1. **विस्तालिनीकरण**—स्टालिन की मृत्यु के बाद दोनों देशों में मतभेद

सोवियत-चीन सीमा विवाद के प्रमुख बिंदु

के सैनिक काफी संख्या में तैनात रहे और दोनों के परमाणु प्रक्षेपास्त्रों का रुख एक दूसरे की तरफ था। जब तक साम्यवादी-समाजवादी खेमा एकजुट होकर पूंजीवादी साम्राज्यवादी खेमे के खिलाफ खड़ा था, तब सैनिक व सामरिक मामलों में उपलब्ध संसाधनों के समुचित उपयोग और सहकार की बात सोची जा सकती थी। दोनों पक्षों के लिए दोनों पार्श्वों में शत्रु की स्थिति ने सैनिक तैयारी के खर्च को बढ़ाया और अब तक सबसे बड़े शत्रु समझे जाने वाले अमरीका के साथ मुठभेड़ का मार्ग प्रशस्त किया। सोवियत चीन सीमा संघर्ष का प्रभाव पूरे विश्व में शक्ति समीकरणों और इस विवाद के सैद्धान्तिक पक्ष पर भी पड़ा।

7 एक-दूसरे के खिलाफ प्रचार अभियान—चीनी नेताओं के लिए इस बात का प्रचार आसान हुआ कि सोवियत संघ एक समाजवादी शक्ति नहीं, बल्कि एक 'सामाजिक साम्राज्यवादी' शक्ति है। उसूरी के तट पर टकराव को एक लम्बी शृंखला की आखिरी कड़ी बतलाया जा सकता था, जिसकी शुरुआत बर्षों पहले हंगरी व पोलैण्ड में हुई थी और इस तरह की हरकत को चेकोस्लोवाकिया (1968) में

बल्कि 'सर्वहारा का सेवक' समझती थी। इसके अलावा क्रान्ति की रणनीति हड़ताल और गृह युद्ध के जरिये नहीं, बल्कि छापामार जन मुक्ति संग्राम के जरिये लाना चाहती थी। चीनी नेताओं की दृष्टि में क्रान्ति कोई घटना नहीं, बल्कि निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। इसके अभाव में उत्पीड़क नौकरशाही या संशोधनवादी ही अपनी जड़ें जमा सकते हैं। इस तरह माओ का दर्शन त्रोतस्की की विचारधारा से अधिक नजदीक था। चीनी आचरण के बाद अपेक्षाकृत छोटे यूरोपीय राष्ट्रों के लिए अपनी तरह से साम्यवाद का राष्ट्रीय संस्करण तलाशना और तराशना सम्भव हुआ। उधर सोवियत संघ माओवाद को मार्क्सवाद-लेनिनवाद मानने को तैयार नहीं था। सोवियत दृष्टि में माओ दार्शनिक वितण्डावाद और शब्दाडंबर की जड़ें एक ओर कन्फ्यूशियस जैसे धर्म-संस्थापकों के कृतित्व तक पहुँचती थीं और दूसरी ओर स्तालिनशाही व्यक्ति पूजा तथा चाटुकारिता की याद दिलाती थीं। इस प्रकार, माओवाद और छापामार क्रान्ति के निर्यात की चीनी अवधारणाओं का कोई तालमेल सोवियत संघ की शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की योजना के साथ नहीं बिठाया जा सकता था।

5. महाशक्तियों के बीच निशस्त्रीकरण वार्ता में प्रगति—सोवियत-चीन वैमनस्य विस्फोटक नहीं होता, यदि स्थिति में 'कुछ विशेष बिगाड़' व्यक्तिगत और नीति सम्बन्धी घटनाओं से नहीं होता। तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया की प्रगति के साथ अमरीका और रूस के बीच व्यापक सहकार की जमीन तैयार हुई, जिसका स्पष्ट प्रभाव सबसे पहले निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में देखने को मिला। 1963–64 के दौरान आंशिक परमाणु परीक्षण रोक सन्धि ने चीनी नेताओं के मन में सोवियत संघ के प्रति सन्देह को पुष्ट किया। उनका ऐसा सोचना अस्वाभाविक नहीं था, क्योंकि जहाँ तक परमाणु अस्त्रों का प्रसार रोकने का प्रश्न है, दोनों महाशक्तियाँ एक हो जाती थीं और अन्य देशों पर अपना 'आततायी एकाधिपत्य' बरकरार रखना चाहती थीं। चीन की इस अवधारणा को तीसरी दुनिया के अनेक राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त था। बहरहाल, 1960 में सोवियत वैज्ञानिक चीन से वापिस बुला लिये गये और चीन ने इन वैज्ञानिकों के मार्ग दर्शन के बिना परमाणु अस्त्र हासिल कर लिए। इसी दौरान माओत्से तुंग ने चार दुनिया वाली अपनी प्रस्तावना प्रकाशित की, जिसमें दोनों महाशक्तियों को एक ही शोषक-उत्पीड़क श्रेणी में रखा गया था।

6. सीमा-संघर्ष—निशस्त्रीकरण के अलावा सोवियत-चीन सीमा-संघर्ष ने संयोगवश इसी दौर में ख़ूनी रूप लिया। सोवियत-चीन सीमा लगभग सात हज़ार किलोमीटर लम्बी है और इसका विभाजन दुर्गम साइबेरिया में आमूर तथा उसकी सहायक उसूरी नदियाँ करती हैं। मार्च, 1969 में सैद्धान्तिक बहस की गर्मी का लाभ उठाते हुए चीनी सैनिक टुकड़ी ने रूसियों को दिमन्स्की टापू से खदेड़ने की कोशिश की। इस मुठभेड़ में दोनों पक्षों के सैनिक हताहत हुए। इस घटना के बाद यह भ्रम हमेशा के लिए टूट गया कि चीन-रूस सीमा विवाद हिंसक मुठभेड़ और सर्वनाशक युद्ध का रूप नहीं ले सकता। इस बार विश्व शान्ति के लिए संकट भारत-चीन सीमा विवाद से कहीं अधिक था, क्योंकि दोनों पक्षों के पास परमाणु अस्त्र थे। इस मुठभेड़ के बाद रूस और चीन दोनों को अपना 'सबसे बड़ा शत्रु' नए ढंग से परिभाषित करना पड़ा और उसके निदान के लिए अपनी सैनिक तैयारी व तैनाती नाटकीय ढंग से बदलनी पड़ी। अभी हाल तक चीन-रूस सीमा पर दोनों पक्षों

जब चीनी दूतावास पर कब्जा कर लिया और कुल्हाड़े भाँज कर अपने विशेषाधिकार का प्रदर्शन किया तो यह बात स्पष्ट हो गयी कि इन चीनियों के साथ संवाद नहीं साधा जा सकता।

चीन, पश्चिमी देश व रूस (1971 के बाद)

यह समझना गलत होगा कि सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में वास्तव में चीनी राजनय क्रान्तिकारी, मार्क्सवादी और समता पोषक था। ईरान के शहंशाह के साथ मैत्री बनाये रखने का प्रश्न हो या बंगला देश में मानवाधिकारों के हनन के वक्त पाकिस्तानी सैनिक तानाशाही को सहायता देने का मामला, माओवादी चीन अन्तर्विरोधों से मुक्त नहीं था। इन अन्तर्विरोधों का प्रत्यक्ष प्रभाव सोवियत-चीन सम्बन्धों पर पड़ा। कई पश्चिमी पूँजीवादी राष्ट्रों ने इस विवाद का लाभ उठाते हुए चीन के साथ सुलह और दोस्ती का हाथ सिर्फ इसलिए बढ़ाया, ताकि पड़ोस में सामने खड़े अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली और खतरनाक शत्रु सोवियत संघ को कमजोर किया जा सके।

चीन के साथ 'दोस्ती की पहल' करने वालों में फ्रांस सबसे पहला देश था। निक्सन के अमरीका ने भी जल्दी ही अन्तर्राष्ट्रीय जुए में चीनी तुरुप का महत्व समझ लिया। बंगला देश मुक्ति अभियान के समय भारत सोवियत संघ के साथ सन्धिबद्ध होने को विवश हुआ। इस असन्तुलन को दूर करने, पाकिस्तान का विखंडन नकारने और पाकिस्तान के माध्यम से चीन के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने के लिए किसिंजर का 'शटल राजनय' सक्रिय हुआ।

1972–75 के दौरान वियतनाम में युद्ध विराम हुआ और चीन में माओ युग का समापन देखने को मिला। भले ही माओ जीवित रहे, मगर चीनी राजनीति और विदेश नीति पर उनका प्रभाव नाममात्र को ही शेष रहा। चीन में माओ के बाद देंग सियाओ पिंग का वर्चस्व निरन्तर बढ़ा और इस सिद्धान्त को तिलांजलि दे दी गयी कि राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नाल से उपजती है।

1975 में हेलसिंकी समझौते ने तनाव-शैथिल्य के चरमोत्कर्ष को दर्शाया। इसके बाद शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की सीमाएँ देखने को मिलीं। साल्ट-दो समझौते के अनुमोदन की असफलता, मानवाधिकारों को लेकर महाशक्तियों के बीच मनमुटाव, अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप तथा अमरीका द्वारा स्टार वार्स की घोषणा ने शीत युद्ध की कट्टरता और मानसिकता को सोवियत संघ और अमरीका के बीच फिर से लौटा दिया। इन परिस्थितियों में सोवियत-चीन संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सबसे महत्वपूर्ण यथार्थ के रूप में प्रकट हुआ।

देंग सियाओ पिंग और रूस-चीन सम्बन्ध (1976 से आगे)

यह स्थिति लगभग एक दशक तक बनी रही। सोवियत संघ में सत्ता परिवर्तन और चीन में देंग सियाओ पिंग की पकड़ मजबूत होने के साथ इसमें बदलाव नजर आने लगे। देंग सियाओ पिंग ने 21वीं सदी शुरू होने तक चीन को एक शक्तिशाली हस्ती बना लेने के राष्ट्रीय संकल्प की घोषणा की और इसके लिए चार आधुनिकीकरण अनिवार्य बतलाये। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिए पूँजी और परिष्कृत टैक्नोलोजी का आयात जरूरी था। चीन के नये नेतृत्व ने आर्थिक

दोहराया गया था। दुर्भाग्यवश, चेकोस्लोवाकिया प्रकरण के समय सोवियत नेता ब्रेझनेव ने समाजवादी राष्ट्रों की सीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिससे चीनी आक्षेपों की पुष्टि होती जान पड़ती थी।

दूसरी ओर माओ के सहयोगी उग्रवादी ल्यू शाओ ची और लिन पियाओ ने कभी इस बात को छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं किया कि उनके सामने निकट भविष्य में क्रियान्वित की जाने वाली क्रान्ति के निर्यात की सुस्पष्ट रूपरेखा थी। दुनिया भर के विपन्न देशों की कल्पना 'गाँव' के रूप में की गयी थी, जो छापामार हमलों के बाद जानलेवा ढंग से घेरने के लिए उकसाये जा रहे थे। इसको ध्यान में रखते हुए रूसी यह प्रमाणित कर सकते थे कि चीनी आचरण खतरनाक और गैर-जिम्मेदार था।

इसी तरह बर्मा, इण्डोनेशिया आदि में माओवादी साम्यवादियों की बढ़ती गतिविधियों ने सोवियत तर्क को पुष्ट किया। चाऊ एन लाई की 'अफ्रीका सफारी' के बाद तंजानिया आदि देशों में चीनी राजनयिक क्रियाकलाप को घुसपैठिया व षड्यन्त्रकारी समझा जाने लगा। अफ्रो-एशियाई बिरादरी में गुट निरपेक्ष आन्दोलन के मुकाबले अपना जमघट खड़ा करने का चीनी प्रयत्न भी उनके पड़ोसियों को निश्चिंत नहीं बैठे रहने दे सकता था।

1969 में उसूरी नदी पर टकराव के बाद अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम काफी तेजी व नाटकीय ढंग से बदला। अमरीका सबसे पहले वियतनामी दलदल में फँसने के कारण इस बात के प्रति बहुत सतर्क था कि उत्तरी वियतनाम की बमबारी भूले से भी चीनी भूमि या सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचाये। साथ ही भौगोलिक दूरी के कारण सोवियत संघ वियतनाम को चीन की सहायता के बिना यथेष्ट सहायता पहुँचाने में असमर्थ था।

8. सांस्कृतिक क्रान्ति—इसी दौरान चीन की आन्तरिक राजनीति में नाटकीय उथल-पुथल शुरू हुई। यह घटनाक्रम 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के नाम से मशहूर हुआ। इसमें माओ के व्यक्तित्व के प्रति बलिदानी ढंग से समर्पित किशोर लाल रक्षकों ने निर्णायक भूमिका निभायी। लाल रक्षकों की मुख्य माँग थी कि चीनी क्रान्ति को शुद्ध और निरन्तर उफान पर रखा जाये। इसके लिए राजनीतिक हलचल जरूरी है, जिसके अभाव में पार्टी बहुत आसानी से जड़ तथा नौकरशाही और उत्तीड़क-व्यवस्था स्वार्थों में बदल जाती है। इन लाल रक्षकों की कट्टरता, धर्मांधता की सीमा छूती थी, पर अंकुश लगाने का साहस किसी और चीनी नेता में नहीं था। अनेक चीन विशेषज्ञों ने आरम्भ में यह बात सुझायी कि माओ का प्रयोग सिर्फ दिखाने के लिए अनुमोदन की मोहर लगाने भर के लिए किया गया, जबकि सत्ता के सूत्रों पर असली पकड़ माओ की चौथी महत्वाकांक्षी पत्नी चियांग चिंग और शंघाई के मेयर सहित उनके दो और अनुचरों की थी, जो संयुक्त रूप से 'चंडाल चौकड़ी' के नाम से प्रख्यात थे। बहरहाल, सच तो जो भी रहा हो, लेकिन इसमें चाऊ एन लाई जैसे 'व्यावहारिक व मध्यममार्गी नेता का चीनी राजनीति पर प्रभाव कम हुआ। 1969 से 1972 तक के दौरान किसी के लिए चीन में यह सुझाना आत्मघातक था कि सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों का सामान्यीकरण किया जाये। हाँ, इस परिवर्तन का यह प्रभाव जरूर हुआ कि इस विवाद में विश्व के दूसरे देशों की सहानुभूति क्रमशः सोवियत संघ की ओर झुकने लगी। उदाहरणार्थ, लन्दन में लाल रक्षकों ने

अमरीका ने उनकी आशा के अनुकूल 'पूंजी' और 'तकनीक' का हस्तान्तरण नहीं किया, वही अमरीकियो के सामने 'विराट चीनी बाजार की असलियत' अब तक खुल चुकी थी। जिस तरह 1980 के दशक के आरम्भ मे सोवियत-अमरीका सम्बन्धो मे सामान्यीकरण की सीमा स्पष्ट होने लगी थी, उसी तरह 1985-86 तक चीन-अमरीका शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का दायरा जितना फैलना था, उतना फैल चुका था।

जहाँ तक सोवियत सघ का सवाल है, वह अब इस बात को स्वीकार करने को विवश हुआ कि पूंजीवादी अमरीकी खेमे मे फूट डालने या घुसपैठ करने मे वह असफल रहा है। इसी तरह जापान के साथ रूस के आर्थिक व राजनयिक सहकार की आशा धूमिल हुई। इसी बीच राष्ट्रपति रीगन द्वारा प्रस्तावित अन्तरिक्ष युद्ध परियोजना ने सोवियत सघ को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वह कम से कम एक पार्श्व पर अपने को निरापद न रखे।

सोवियत-चीन शिखर सम्मेलन (मई, 1989)—सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव की मई, 1989 मे चीन-यात्रा से इन दो साम्यवादी शक्तियो के सम्बन्धो मे निश्चय ही एक नया दौर आरम्भ हुआ। गोर्बाच्योव ने अपनी यात्रा के दौरान एकतरफा घोषणा के तहत सोवियत सघ के एशियाई भाग से 1990 मे दो लाख सैनिक हटा लेने की घोषणा की। इसमे सुदूरपूर्व मे चीन के साथ लगने वाली सीमा से एक लाख बीस हजार सैनिक हटाना शामिल था। उन्होंने मगोलिया मे भी भारी सैन्य कटौती की घोषणा की। इस सम्मेलन मे चीन और सोवियत सघ वियतनामी सेना की वापसी (सितम्बर, 1989) के बाद प्रतिरोधी कबोडियायी गुटो को सैनिक सहायता मे कटौती करने और धीरे-धीरे सहायता बन्द करने पर सहमत हो गये। दोनो देशो के बीच विवादग्रस्त सीमा दो दशक के अन्तराल मे स्वयमेव सामान्य हो चुकी है।

कम्बोडिया का मसला व हिन्द चीन मे सकट
(Cambodia Issue and the Crisis in Indo-China)

जिस तरह अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप ने शीत युद्ध के नए दौर की कटुता और सकट को बढाया, उसी तरह दक्षिण-पूर्व एशिया मे कम्बोडिया[1] मे वियतनामी हस्तक्षेप (जनवरी, 1970) ने तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया पर प्रतिकूल असर डाला। इस समस्या को समुचित ढग से समझने के लिए इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सक्षिप्त सर्वेक्षण जरूरी है।

हिन्द चीन सकट की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

द्वितीय विश्व युद्ध के पहले पूरा हिन्द चीन क्षेत्र (कम्बोडिया, लाओस व वियतनाम) फ्रासीसी उपनिवेश था। फ्रास ने इन देशो मे सवैधानिक विकास और प्रशासन मे स्थानीय वर्ग के योगदान को प्रोत्साहित नही किया। इन सभी देशो मे साम्राज्यवाद-विरोधियो का मूल स्वर सशस्त्र छापामार सघर्ष वाला रहा। वियत मिन्ह नामक मुख्य स्वाधीनता सैनिक साम्यवादी तो थे, परन्तु राष्ट्रवादी नही। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान इस भू-भाग पर जापान का आधिपत्य स्थापित हो गया।

[1] मई 1989 में कम्पूचिया का नाम बदलकर कम्बोडिया कर दिया गया है।

और वैज्ञानिक क्षेत्र में आत्म-निर्भरता का हठ छोड़ दिया। चीन द्वारा अमरीका के साथ सम्बन्धों का सामान्यीकरण अब सिर्फ राजनयिक जोड़-तोड़ नहीं रहा, बल्कि राष्ट्रीय जरूरत में बदल गया। चीन-रूस विग्रह इस तर्क को अमरीकियों के लिए सहज रूप से ग्राह्य बना चुका था। इस प्रकार दो चीजों का संयोग हुआ। जहाँ एक ओर रूस-अमरीका सम्बन्धों में तनाव-शैथिल्य की गति धीमी पड़ी, वहीं अमरीका-चीन सम्बन्धों में नई सम्भावनाएँ उजागर हुईं।

इस घटनाक्रम के बाद चीन की चार विश्व वाली परिकल्पना, निरन्तर क्रान्ति की सार्थकता, लिन पिआओ वाली छापामार रणनीति की निरर्थकता आदि पर फिर से पुनर्विचार जरूरी हुआ। चीन-रूस दरार को सही परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए यह आवश्यक था कि सुदूर पूर्व में कुछ और महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात किया जाये। जहाँ तक अमरीका के मन में चीन के प्रति आकर्षण का प्रश्न है, जापान की बढ़ती आक्रामक आर्थिक क्षमता और जानलेवा प्रतियोगिता ने इसे महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया। अमरीका जापान को यह प्रदर्शित करना चाहता था कि उसके लिए वह अपरिहार्य नहीं है। सोवियत संघ ने अपनी राह से बदली परिस्थितियों का लाभ उठाने की कोशिश की। इसी दौर में सोवियत संघ ने उन परियोजनाओं को सुझाया, जिनमें जापानी पूँजी और तकनीक की सहायता से साइबेरिया के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की पेशकश की थी। यदि अमरीका सोवियत-चीन विग्रह का लाभ उठाकर सुदूर पूर्व में नया सहयोगी चुनना चाहता था तो सोवियत संघ भी जापानी तुरुप खेलने का प्रयत्न कर सकता था। सोवियत संघ ने अमरीका के पश्चिमी यूरोपीय सन्धि मित्र देशों को गैस पाइप लाइन निर्माण के सुझाव के जरिये अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया था। सरसरी निगाह से देखने पर इन सब बातों का रूस-चीन विग्रह से सीधा सम्बन्ध नहीं दीखता, परन्तु यदि दूरदर्शी विश्लेषण किया जाये तो यह बात छिपी नहीं रह सकती कि इन सब क्रियाकलापों से रूस-चीन उतार-चढ़ाव को सन्तुलित करने का प्रयत्न हो रहा था।

चीनी और रूसी सैनिक शक्ति का दो बार अप्रत्याशित प्रयोग 1978–79 में हुआ, जिसने इस विषय को प्रभावित किया। इनमें पहली घटना अफगानिस्तान में रूसी सैनिक हस्तक्षेप की थी। सोवियत संघ की दृष्टि से उसे ऐसा करने के लिए विवश करने वाले कारणों में एक यह भी था कि सोवियत संघ के दक्षिणवर्ती मुस्लिम-बहुल प्रान्तों में चीनी शह पर अनेक उग्रपंथी (जैसे सोल-ए-जावेद) भड़काने-उकसाने वाली गतिविधियों में लगे थे। इस घटना के बाद दक्षिणपंथी अमरीका के अनेक सन्देह पुष्ट हुए। यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो गयी कि सोवियत संघ अपनी सीमा के बाहर बल प्रयोग के लिए सक्षम है और तत्पर भी। इस तरह चीन ने वियतनाम को 'सबक' सिखाने के लिए दक्षिण-पूर्व एशिया में जो अभियान साधा, उसने सोवियत संघ की शंकाओं को बढ़ाया ही।

कुल मिलाकर, इन सब बातों से न तो सोवियत-चीन सम्बन्धों की कटुता अनावश्यक रूप से बढ़ी और न ही वैकल्पिक शक्ति समीकरण उभर सके। विडम्बना तो यह है कि 1986 में सोवियत विदेश मन्त्री के मंगोलिया के दौरे के समय इस बात के स्पष्ट संकेत मिले कि सोवियत संघ चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए उत्सुक है (उनके बीच गुप्त परामर्श तो लम्बे अर्से से चल रहा था)।

एक ओर चीनी नेताओं के मन में इस बात को लेकर असन्तोष था कि

उसके प्रभाव मे पडकर हाथ से निकल जायेंगे। इसलिए 1954 के जेनेवा सम्मेलन मे जब हिन्द चीन के देशो की स्वाधीनता स्वीकार की गयी तो शीत युद्ध के सामरिक परिप्रेक्ष्य मे इसका विभाजन अनिवार्य समझा गया। उत्तरी वियतनाम मे साम्यवादी सरकार बनी जबकि दक्षिणी वियतनाम मे अमरीका की कठपुतली सरकार ने सत्ता सँभाली। कम्बोडिया गुट निरपेक्ष था तो लाओस मे दक्षिणपंथी, वामपंथी और गुट निरपेक्ष तत्व गृह युद्ध मे संघर्षरत थे।[1]

यह तो इस विवाद का सिर्फ वैचारिक व सैद्धान्तिक पहलू है। प्रारम्भ से ही हिन्द-चीन के देशो विशेषकर कम्बोडिया व वियतनाम का महत्व शीत युद्ध की भू-राजनीतिक अनिवार्यताओ के कारण महाशक्तियो के लिए ऊँची प्राथमिकता वाला रहा।

हिन्द चीन संकट और महाशक्तियाँ

1954 से 1973 तक का लम्बा अन्तराल वह रहा, जब जेनेवा समझौते को लागू न किये जाने के बाद दक्षिणी वियतनाम मे हिंसक तख्तापलट, सर्वनाशक गृह युद्ध और बडे पैमाने पर नृशंस अमरीकी हस्तक्षेप एक साथ चलते रहे। 1965 के बाद इस हस्तक्षेप मे तेजी आयी और वियतनामी छापामारो का मुकाबला करने के लिए अमरीका ने पडोसी कम्बोडिया मे घुसपैठ आरम्भ की। उत्तरी वियतनाम से दक्षिणी वियतनाम तक कुमुक पहुँचने वाली हो ची मिन्ह ट्रेल (Trail) कम्बोडिया हो कर जाती रही। इसी कारण इसे अनदेखा करने वाली सिहनुक सरकार को गिराने के बाद लोन नोल को अपने मोहरे के रूप मे नोम पेन्ह (कम्बोडिया) मे गद्दी पर बैठाया। परन्तु इस समय तक बात अच्छी तरह प्रकट हो चुकी थी कि अमरीका अपने सैनिक बल और आर्थिक सामर्थ्य के बाद भी वियतनामी मुक्ति सैनिक बल का मुकाबला करने मे असमर्थ था। दक्षिणी वियतनामी सरकार की तरह ही कम्बोडिया मे लोन नोल की सरकार भ्रष्ट, अकर्मण्य और परोपजीवी साबित हुई। वियतनाम स अमरीका की वापसी व पलायन के बाद कम्बोडिया के क्रान्तिकारियो ने अनुकूल परिस्थितियो का लाभ उठाते हुए नोम पेन्ह पर कब्जा कर लिया। क्रान्तिकारियो के इस गुट का नेतृत्व खमेर रूज तबके के हाथ मे था, जो माओपंथी साम्यवादी थे और निकट भविष्य म ही निर्मम कठमुल्ले साबित हुए।

कम्बोडिया मे बर्बर नरसहार

पोल पोट ने अपने छोटे से शासन काल (1975-79) मे बर्बर नरसहार द्वारा आतंक के माध्यम से क्रान्तिकारी परिवर्तनो का सूत्रपात किया और वसनाशक नाजियो की याद ताजा की। पोल पोट की गतिविधियाँ चीनी सर्वहारा लाल क्रान्ति की याद दिलाती थी परन्तु इसका क्रियान्वयन कही अधिक अदूरदर्शी और हिंसक ढंग से किया गया। पोल पोट द्वारा कम्बोडिया की सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को पहुँचाये गये नुकसान का अनुमान सिर्फ इन आँकडो स लगाया जा सकता है कि

[1] हिन्द चीन, विशेषकर कम्बोडिया के संदर्भ में भारतीय गुट निरपेक्ष दृष्टिकोण वाले उपयोगी विश्लेषण के लिए देखें—L. P Singh, *Power Politics in South East Asia* (Delhi, 1979), 3–38

1945 के बाद जब फ्रांस ने बलात् अपने उपनिवेश (वियतनाम) पर फिर से कब्जा करना चाहा तो छापामारों ने उसका विरोध किया। राष्ट्रवादी सामन्तवादियों की यह लड़ाई मूलतः उपनिवेश व साम्राज्यवाद विरोधी थी। जनरल हो ची मिन्ह व जनरल ज्ञियाव के नेतृत्व में अपनायी गयी छापामार रणनीति बेहद सफल रही। 1954 तक विशेषकर दिएन बिएन फू के युद्ध तक यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि फ्रांस इस भू-भाग पर पुनः अपना अधिकार नहीं जमा सकेगा। इस समय तक शीत युद्ध का ज्वार उफान पर था और तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री डलेस जैसे लोग डोमिनो सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके थे। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई भी एक नवोदित राष्ट्र साम्यवादियों के प्रभाव में आता है तो क्षेत्र के अन्य देश भी साथ-साथ

हिन्द-चीन के सन्दर्भ में कम्बोडिया संकट

की गतिविधियाँ विदेशी अमरीकी सहायता के बिना संचालित नहीं की जा सकती। थाईलैण्ड में शरणार्थियों के लिए जो शिविर स्थापित किये गये हैं, उनको सामरिक कम्पूचिया वियतनाम विरोधी हस्तक्षेपकारी बाहरी शक्तियों ने लिए बनी हुई है।

कम्बोडिया समस्या के हल के कितने आसार—मई, 1989 में कम्बोडिया के घटनाक्रम ने नया मोड़ लिया। कम्बोडिया की कम्युनिस्ट सरकार के प्रधानमन्त्री हुनसेन और भूतपूर्व राष्ट्राध्यक्ष राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता में मिले। दोनों नेताओं के बीच कई बातों पर सहमति हुई, जिन्हें देखकर निकट भविष्य में कम्बोडिया से वियतनामी सेनाओं के हटने और जनतान्त्रिक तरीके से चुनी गयी सरकार द्वारा सत्ता सँभालने की आशा बलवती हुई। जकार्ता बैठक में तय किया गया कि सिंहानुक राष्ट्राध्यक्ष बनाये जायेंगे और हुनसेन प्रधानमन्त्री पद पर बने रहेंगे। शासन के नये ढाँचे में प्रतिरोधी लोकतान्त्रिक कम्बोडिया सरकार के खमेर गुट के प्रतिनिधि मान सान और खमेर रूज के खीव साम फान संयुक्त रूप से उपराष्ट्रपति होंगे।

वियतनाम पहले ही घोषणा कर चुका था कि वह सितम्बर, 1989 तक कम्बोडिया से अपनी सेनाएँ हटा लेगा। उधर मई, 1989 में सोवियत नेता गोर्बाच्योव की चीन-यात्रा के दौरान रूस व चीन वियतनामी सेना की वापसी के बाद कम्बोडियाई गुटों को सैनिक सहायता में कटौती करने और धीरे-धीरे सहायता बन्द करने पर सहमत हो गये। इस बीच वियतनाम ने अपनी घोषणा के अनुसार निर्धारित तिथि से पूर्व कम्बोडिया से अपनी सेना सैनिक टुकड़िया वापस बुला लीं। इन सभी आशा-जनक घोषणाओं के बावजूद यह निष्कर्ष निकालना जल्दबाजी होगा कि कम्बोडिया समस्या का हल अत्यन्त निकट है। कम्बोडिया के प्रतिरोधी गुटों और कम्युनिस्ट सरकार के बीच अन्तिम सुलह और शान्ति-स्थापना के मार्ग में कई व्यावहारिक अड़चनें खड़ी होंगी, जिन्हें दूर करना आसान काम नहीं होगा। इसके अलावा अमरीका और चीन सुलह-शान्ति प्रक्रिया में अपने अपने हित साधने के लिए कड़मकाजा से बाज आने वाले नहीं।

हाल में कुछ आशाजनक संकेत देखने को मिले हैं। कम्बोडिया के प्रधानमन्त्री हुनसेन की चीन-यात्रा से संकट-समाधान के आसार नजर आने लगे हैं। उधर अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर सोवियत संघ के पस्त हो जाने के कारण अमरीका राजनय पहले से कहीं अधिक प्रभावशाली हुआ है। इस बीच निरन्तर लड़ते रहने के बावजूद रणक्षेत्र में जिच की स्थिति बनी हुई है। आसियान-देशों ने कम्बोडिया और वियतनाम के साथ सम्बन्धों में सुधार को प्राथमिकता बढ़ायी है और तुनुक मिजाज राजकुमार सिंहानुक व्यावहारिक समझौते के लिए राजी हुए हैं। सम्भवतः अब यह गतिरोध दूर हो सकेगा।

कम्बोडिया विवाद व भारत

भारत के लिए कम्बोडिया विवाद और हिन्द चीन में संकट राजनयिक व सामरिक महत्त्व के विषय बन चुके हैं। गुट निरपेक्ष देशों के हवाना शिखर सम्मेलन में लेकर अब तक कम्बोडिया की सीट खाली रखी गयी है। यही स्थिति संयुक्त राष्ट्र संघ में है, जहाँ सिर्फ सोवियत बाटी पोल-पाट को मान्यता दिलाने में रोकता रहा। वियतनामी हस्तक्षेप का विरोध न करने वालों में भारत अकेला गुट निरपेक्ष व

चार-पाँच वर्षों में कम्बोडिया की कुल आबादी का लगभग 1/4 हिस्सा मार डाला गया, नागरिक जीवन ध्वस्त हो गया और बाहरी दुनिया के साथ (चीन को छोड़कर) कम्बोडिया के सम्बन्ध टूट गये।

वियतनाम-कम्बोडिया तनाव के कारण

कम्बोडिया और वियतनाम के बीच कटुता के लिए सिर्फ राजनीतिक व सैद्धान्तिक ही नहीं, बल्कि जातीय पक्ष भी महत्वपूर्ण है। हिन्द-चीन के हजारों वर्ष पुराने इतिहास में वियतनामी और ख़मेर (कम्बोडियाई) एक-दूसरे के जानलेवा दुश्मन रहे हैं। एक के साम्राज्य का विस्तार दूसरे की कीमत पर हुआ है। ख़मेर विस्तारवाद का नुकसान थाईलैण्ड भी उठाता रहा है। अर्थात् वियतनामी, कम्बोडियाई, लाओस और थाई सरकारों का प्रयत्न औपनिवेशिक और युद्धोत्तर काल में यही रहा है कि वे बाहरी अन्तर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप के द्वारा आपसी असन्तुलन को दूर कर सकें। जनवरी, 1979 में वियतनाम की सैनिक मदद से कम्बोडिया की राजधानी नाम पेन्ह में हेंग सामरिन सरकार का कब्जा हो गया।

वियतनाम कम्बोडिया में पोल पोट की सरकार को स्वच्छन्द आचरण के लिए नहीं छोड़ सकता था। लेकिन यह तर्क दिया जा सकता है पोल पोट सरकार का बनना या गिरना कम्बोडिया का आन्तरिक राजनीतिक मामला था, जिसमें वियतनामी हस्तक्षेप की कोई गुंजाइश न थी। परन्तु इस ओर भी आंख नहीं मूंदी जा सकती कि पोल पोट द्वारा सत्ता ग्रहण करने के बाद कम्बोडियाई भूमि से वियतनाम को उकसाने-भड़काने वाली सैनिक गतिविधियाँ जोर पकड़ने लगी थीं। इस बीच वियतनाम व चीन के बीच टकराव सतह पर आ चुका था। वियतनामी सरकार का यह सोचना गलत नहीं था कि घुसपैठ और तोड़फोड़ द्वारा उसकी राष्ट्रीय एकता को कमजोर करने वाला यह षड्यन्त्र एक घातक संकट था। चीन और वियतनाम के बीच सीमा विवाद विस्फोटक रूप ले चुका था, जिसकी परिणति फरवरी, 1979 में सैनिक मुठभेड़ में हुई। चीन का प्रमुख सामरिक उद्देश्य वियतनाम को परोक्ष रूप से नियन्त्रण में रखने का था। पोल पोट की क्रूर नीतियों ने बहुसंख्यक कम्बोडियाई जनता को विद्रोह के कगार पर ला खड़ा किया था। इस प्रकार वियतनाम-कम्बोडिया संघर्ष एवं अफगान समस्या में एक बड़ा साम्य और एक बड़ा फर्क देखने को मिलता है। दोनों बाहरी शक्ति का हस्तक्षेप अकारण नहीं था। परन्तु कम्बोडियाई जनता का राजनीतिक चैतन्य, सैनिक प्रतिरोध का उसका संस्कार, हस्तक्षेपकारियों के सैद्धान्तिक साम्य और इसके साथ ही जातीय वैमनस्य तुलनीय नहीं हैं।

कम्बोडिया में वियतनामी हस्तक्षेप को लेकर जो अटकलें लगायी जाती रही हैं, वे सरलीकरणों से ग्रस्त हैं। कई लोगों का मानना है कि जिस तरह अफगानिस्तान सोवियत संघ का वियतनाम बन सकता है, उसी तरह कम्बोडिया 'वियतनाम का वियतनाम' बन सकता है। हालाँकि वियतनाम को बड़े पैमाने पर कम्बोडिया में अपने सैनिक तैनात रखने की कमरतोड़ कीमत चुकानी पड़ी और उसका अपना आर्थिक विकास गड़बड़ा गया। फिर भी कम्बोडिया सरकार के सामने सिंहानुक, सोनसान या पोल पोट के पक्षधर मुक्ति सैनिकों या उनके संयुक्त मोर्चे का कोई खतरा (सैनिक या राजनीतिक) नहीं है। अफगान मुजाहिदीनों की तरह इन असन्तुष्ट तत्वों

दी है कि कैसे कभी-कभी बिल्कुल अप्रत्याशित ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम नया तेल संकट पैदा कर सकता है। इराक द्वारा कुवैत पर हमले और अमरीका व मित्र राष्ट्रों द्वारा इराक में सैनिक हस्तक्षेप के बाद सभी तेल आयातक देश नये सिरे से संकटग्रस्त हो गये। पश्चिम एशिया की विस्फोटक स्थिति को देखते हुए तेल की तंगी और महँगाई फिर कभी भी सिरदर्द बन सकती है।

तेल संकट की शुरुआत—अन्तर्राष्ट्रीय तेल संकट 1973 के अरब-इजराईल युद्ध से शुरू हुआ। अमरीका, पश्चिम यूरोपीय देश और जापान इस युद्ध में इजराईल का साथ दे रहे थे। ऐसे में सऊदी अरब के तत्कालीन तेल मन्त्री शेख यामनी ने पश्चिमी देशों व जापान पर दबाव डालने की एक योजना पेश की। इसी योजना के तहत ओपेक (Organization of Petroleum Exporting Countries or OPEC) नामक संगठन बनाया गया। इस संगठन में 13 देश हैं—सऊदी अरब, ईरान, इराक, कुवैत, अलजीरिया, लीबिया, संयुक्त अरब अमीरात, नाइजीरिया, वेनेजुएला, इण्डोनेशिया, गेबन और इक्वाडोर।

1973 में ओपेक ने सर्वप्रथम इजराईल के हिमायती देशों (अमरीका, पश्चिम यूरोप व जापान) को होने वाले तेल निर्यात पर पाबन्दी लगा दी। फिर उन पर इजराईल पर लगाम रखने के लिए दबाव डाला। हालांकि उन्होंने 1973 में ही तेल आपूर्ति पर उक्त रोक हटा दी, किन्तु तेल का भाव दो डालर से बढ़ाकर आठ डालर प्रति बैरल कर दिया। दिसम्बर, 1981 में तेल की अधिकृत कीमत 34 डालर प्रति बैरल की ऊँचाई पर पहुँच गयी (परन्तु मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में यह कहीं-कहीं 40 डालर प्रति बैरल तक के आसपास भी बिक रहा था)। इसके पीछे कोई संयोग नहीं, वरन् ओपेक की सुनियोजित कार्यप्रणाली और सदस्य देशों में एकता थी। लेकिन 1982 से तेल के दाम लगातार घटने शुरू हो गये।

तेल के दाम गिरने के कारण—तेल के दामों में भारी कमी के लिए अनेक कारण जिम्मेदार रहे थे। ओपेक ने जब 1973–79 के दौरान भाव में धड़ाधड़ वृद्धि की तो कई तेल आयातक पश्चिमी और विकासशील राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था चरमराने लगी थी। परिणामस्वरूप तेल आयातक देशों ने 'ऊर्जा बचाओ अभियान' शुरू किया, जिसमें वे एक हद तक सफल रहे। फ्रांस, जापान, पश्चिम जर्मनी आदि ने तो अपनी खपत में भारी कमी की। मगर ओपेक को सबसे बड़ा झटका गैर-ओपेक देशों के तेल-उत्पादन में वृद्धि से लगा है। ब्रिटेन, नार्वे, मैक्सिको में तेल के नवीन स्रोतों की खोज हुई और उन्होंने भारी मात्रा में तेल निकालकर विश्व बाजार में पहुँचा दिया। इससे जहाँ ओपेक देशों का तेल के बारे में एकाधिकार टूटा, वहीं माँग की तुलना में सप्लाई ज्यादा होने से इसके दाम गिरने का सिलसिला शुरू हो गया। 1979 में ओपेक देश विश्व का 60 प्रतिशत तेल (3.10 करोड़ बैरल प्रतिदिन) का उत्पादन करते थे, जो अब गिरकर 39 प्रतिशत (1.70 करोड़ बैरल प्रतिदिन) रह गया है। जबकि 1979 में गैर ओपेक देश 2.10 करोड़ बैरल तेल प्रतिदिन उत्पादन करते थे, जो अब बढ़कर 2.64 करोड़ बैरल प्रतिदिन हो गया है। यों तेल के दाम कम करने में सोवियत संघ की भी भूमिका कम नहीं रही। वह पिछले कुछ वर्षों से 'हार्ड' विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में तेल बेचता रहा था। इसी प्रकार रोनाल्ड रीगन के सत्ता में आने के बाद अमरीका ने भी भारी मात्रा में पुनः विश्व बाजार में तेल बेचा, जबकि इसके पूर्व वह अपने तेल-भण्डार खाली न करने की

गैर-समाजवादी देश है। भारत को अफगान सकट की तरह इस सन्दर्भ में भी सोवियत सघ के साथ 'विशेष सम्बन्धों' की एक गैर जरूरी कीमत चुकानी पड़ी है। इस सिलसिले में यह याद रखने की जरूरत है कि भारत और वर्तमान वियतनाम के विश्व-दर्शन में व्यापक सहयोग है, चाहे वह चीन के साथ विग्रह हो या हिन्द महासागर में महाशक्तियों की उपस्थिति-जनित सकट। वियतनाम ने आर्थिक विकास का जो रास्ता चुना है, वह भी भारत के नियोजित विकास व बहुमुखी ग्रामीण विकास वाली रणनीति से मेल खाता है। सिंगापुर, इण्डोनेशिया, मलयेशिया और थाईलैण्ड जैसे देशों के आर्थिक व सामरिक नजरिये में भारत के साथ 'सहकार' की भूमिका कभी भी महत्वपूर्ण नही रही। इन देशों ने पिछले 20–25 वर्षों में अमरीका, यूरोप और जापान के साथ जो रिश्ते जोडे है, उनमें किसी बुनियादी परिवर्तन की आशा नही की जा सकती। इसलिए यह सुझाना उचित होगा कि राष्ट्रीय हितों के व्यापक सयोग के कारण भारत और वियतनाम के बीच राजनयिक समायोजन सहज हुआ है।

विश्व तेल संकट व भारत
(World Oil Crisis and India)

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे खनिज तेल के दाम पिछले कुछ वर्षों के दौरान अप्रत्याशित रूप से चढे हैं। जो कच्चा तेल 1973 मे लगभग दो डालर प्रति बेरल से बिकता था, वह 1981 मे लम्बी छलांगें मारता हुआ 34 डालर प्रति बेरल (17 गुना वृद्धि) तक जा पहुँचा। तत्पश्चात इसके भाव में गिरावट का दौर आरम्भ हुआ। तेल निर्यातक पश्चिम एशियाई देशो द्वारा तेल उत्पादन के कोटे मे कमी और अधिकृत दाम निर्धारित करने के बावजूद मंदी का सिलसिला नही थमा। 1986 मे तो तेल के दाम अप्रत्याशित रूप से गिरे। जनवरी, 1986 मे इसकी कीमत 25 डालर प्रति बेरल थी, जो अप्रैल में 14 डालर तक गिर गयी। हालांकि अब इसका भाव 18 से 21 डालर प्रति बेरल के आसपास है, फिर भी इसे 'भारी मदी' की सज्ञा दी जा सकती है।

भाव में इस भारी गिरावट से जहाँ एक ओर तेल-निर्यातक देशों की आय काफी घटी है और उनके वहाँ अनेक निर्माण व विकास कार्य ठप्प हो गये हैं, वहीं दूसरी तरफ तेल-आयातक राष्ट्रों को इससे फायदा पहुँच रहा है। तेल निर्यातक राष्ट्र तो इस मदी से दु.खी हो है, लेकिन भारत जैसे तेल आयातक विकासशील राष्ट्रों को लाभ पहुँचाने के साथ-साथ उनके सामने नये जटिल ढग की स्थिति भी पैदा हुई है। आयातक राष्ट्रों के समक्ष यह सवाल उठ खड़ा हुआ है कि मदी के मौजूदा दौर में क्या वे भारी मात्रा में हाजिर भाव पर तेल खरीद लें या भाव और घटने का इन्तजार करें? यह प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नही कि तेल क्षेत्रों की खोज, विकास और उत्पादन पर किये जा रहे प्रयासों को क्या वे कम कर दें या छोड दें, क्योंकि सस्ते दाम पर अन्यत्र तेल उपलब्ध है (अतएव ऊँची लागत पर घरेलू उत्पादन करने से क्या फायदा ?)। मगर इस बात की क्या गारन्टी है कि इसके दाम भविष्य मे फिर जोरदार तेजी नहीं पकड़ेंगे ? तब क्या तेल संकट उनके लिए पुन: विस्फोटक स्थिति पैदा नहीं कर देगा ?

कुवैत मसले पर छिडे खाडी युद्ध 1991 ने एक बार फिर यह बात झलका

ग़ैर ओपेक देशों में तेल उत्पादन पर लागत अपेक्षाकृत ज्यादा आती है, जिसमें उन्हें मुनाफा कैसे मिलेगा? अतएव ब्रिटेन, नार्वे आदि दाम को 18–20 डालर प्रति बेरल तक रखने का पूरा प्रयास करेंगे। दाम काफी नीचे गिरने पर उन अमरीकी कम्पनियों और बैंकों का क्या होगा, जिन्होंने ओपेक राष्ट्रों में विशाल पूंजी लगा रखी है? ऐसे में क्या अमरीका दाम एक हद से ज्यादा नीचे गिरने देगा?

भारत व तेल संकट—अब सवाल उठता है कि भारत जैसा तेल-आयातक विकासशील राष्ट्र क्या करे जो पिछली तेजी के दौरान अपना 75 प्रतिशत विदेशी मुद्रा तेल आयात पर खर्च करता रहा था और इस विकट संकट को देखते हुए जिसने नये तेल क्षेत्रों की खोज, विकास और उत्पादन पर भारी मात्रा में साधन लगाना शुरू कर दिया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम दाम से आयातक राष्ट्रों की काफी विदेशी मुद्रा बचेगी, औद्योगिक विकास को बल मिलेगा और भुगतान सन्तुलन की स्थिति सुधरेगी। मगर इस तथ्य को नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए कि कम दाम से जहाँ एक ओर तेल की खपत बढ़ेगी वहीं दूसरी तरफ तेल बचत अभियान और ऊर्जा के अन्य वैकल्पिक स्रोतों के विकास की योजनाओं को धक्का लगेगा। आने वाले वर्षों में खासकर ब्रिटेन, नार्वे आदि देशों में तेल भण्डार कम होने लगेंगे और उत्पादन घट जायेगा। सम्भव है कि यह स्थिति 1990 या 1995 तक पैदा हो जाय और तेल के दाम फिर जोरदार तेजी पकड़ लें। ऐसे में भारत जैसे तेल आयातक राष्ट्रों को कौन-सा मार्ग अपनाना चाहिए? इस सवाल के जवाब के लिए कतिपय बुनियादी बातों का खुलासा करना जरूरी है।

तेल संकट का भारतीय अर्थव्यवस्था पर कुप्रभाव—अरब इजराइल युद्ध (1973) के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में तेल सस्ता था। पर्याप्त घरेलू उत्पादन के अभाव में भारत इसका आयात करता था। लेकिन इस युद्ध के बाद तेल के दाम ज्यों ज्यों बढ़ते गये त्यों-त्यों भारत का आर्थिक संकट भी बढ़ता गया। अरब देशों के पारम्परिक एवं घनिष्ठ दोस्त होने के नाते भारत उनकी कटु आलोचना भी नहीं कर सकता था क्योंकि दाम में इस वृद्धि का निशाना इजराइल समर्थक खासकर पश्चिमी विकसित देश थे। मगर इस वृद्धि का भारत पर इतना प्रतिकूल असर पड़ रहा था कि उसकी 75 प्रतिशत जितनी बड़ी मूल्यवान विदेशी मुद्रा सिर्फ तेल के आयात पर स्वाहा होने लगी उसकी भुगतान सन्तुलन की स्थिति बदतर होती गयी और उच्च प्रौद्योगिकी मशीनें, उपकरण आदि के आयात में उसके सामने अनेक दिक्कतें पैदा हो गई। कई परियोजनाओं को महँगे तेल के कारण बन्द होना पड़ा।

भारत में घरेलू तेल-उत्पादन व विदेश से आयात—ऐसे में भारत के समक्ष एक ही विकल्प था कि वह अपने यहाँ नए तेल क्षेत्रों की खोज करे और घरेलू उत्पादन बढ़ाकर चुनौती का सामना करे। इस रास्ते पर चलते हुए नए तेल क्षेत्रों की गहन खोज शुरू हुई और 1974 में बम्बई हाई में बहुत बड़ा तेल भण्डार हाथ लगा। यों इससे पहले और बाद में भी विभिन्न स्थानों पर छोटे-मोटे तेल क्षेत्र थे। 1950–51 में भारत का घरेलू तेल उत्पादन मात्र 2.5 लाख टन था, जो ठोस प्रयासों के कारण 1981–82 में बढ़कर 1.62 करोड़ टन तक जा पहुँचा। फिर भी 1981–82 में 5000 करोड़ रु० मूल्य का 2.01 करोड़ टन तेल का आयात करना पड़ा। इस प्रकार जहाँ एक ओर घरेलू तेल उत्पादन बढ़ रहा था, वहीं दूसरी तरफ जनवरी 1982 से तेल के दाम घटने शुरू हो गये। भाव में यह कमी ओपेक

नीति अपनाकर दूसरे देशों से तेल खरीदता रहा था।

इसके अतिरिक्त 1973 से ही पश्चिमी देशों ने तेल के अलावा अन्य ऊर्जा स्रोतों की खोज के ठोस प्रयास शुरू कर दिये। उन्होंने कुछ क्षेत्रों में परमाणु ऊर्जा को अंगीकार किया। कुछ मामलों में उन्होंने तेल की जगह कोयले से काम चलाया। इस प्रकार, इन सब कारणों ने तेल के आसमान छूते भावों को थामा ही नहीं, बल्कि उन्हें उतार की ओर मोड़ दिया।

कीमत में स्थायित्व का प्रयास—1982 से जब तेल के भाव घटने लगे तो ओपेक ने उत्पादन घटाकर कीमतों में स्थायित्व लाने की कोशिश की। उसने समय-समय पर सदस्य-देशों को उत्पादन घटाने को कहा और उत्पादन कोटा तथा अधिकृत दाम तय किये। इसका कुछ समय तक तो पालन हुआ, परन्तु बाद में कई राष्ट्र चोरी छिपे निश्चित कोटे से ज्यादा तेल का उत्पादन करने और अधिकृत से भी कम कीमत तथा रियायतों के साथ तेल बेचने लगे। इसी फूट को देखते हुए ओपेक की जेनेवा-बैठकों में सदस्य देशों ने कहा कि उत्पादन-कोटा बाँधकर कीमतों में स्थायित्व नहीं लाया जा सकता। यह मान लिया गया है कि विश्व में ओपेक का तेल निर्यात हिस्सा बढ़ाया जाये, भले ही दामों में भारी कमी और उत्पादन में वृद्धि करनी पड़े।

तेल के कम दाम से किसको लाभ, किसको नुकसान—दाम कम होने से कई तेल आयातक औद्योगिक और विकासशील राष्ट्रों को लाभ पहुँच रहा है, क्योंकि इससे उनके उत्पादन को बल मिलेगा, लागत कम जायेगी और वे व्यापार बढ़ा सकेंगे। परन्तु कीमतों में कमी से ओपेक को भारी हानि उठानी पड़ रही है क्योंकि उनकी आय का प्रमुख स्रोत तेल है। दाम में मौजूदा कमी भी उनकी आय वैसे भी सिकुड़ गयी है। कई देशों में घाटे का बजट चल रहा है और अनेक विकास कार्य धन के अभाव में ठप्प पड़े हैं। उनमें कुछ वर्षों पूर्व करोड़ों-अरबों डालर की लागत वाली शुरू की गयी विकास योजनाओं के लिए भी भारी खतरा पैदा हो गया है। एक अनुमान के अनुसार यदि तेल का भाव एक डालर प्रति बेरल घटा तो ओपेक को सालाना छह अरब डालर की हानि होगी। नाइजीरिया पर 22 अरब डालर का विदेशी ऋण है, उसे वह कैसे चुकायेगा?

यहाँ यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि भाव में कमी से क्या गैर-ओपेक तेल उत्पादक देश नुकसान नहीं उठायेंगे? ब्रिटेन दाम में कमी को बर्दाश्त कर सकता है, क्योंकि उसकी अर्थव्यवस्था तेल के निर्यात से होने वाली आय पर निर्भर नहीं है। तेल से उसे निर्यात आय का मात्र आठ प्रतिशत राजस्व मिलता है। नार्वे और सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था भी तेल की आय पर निर्भर नहीं रही। मगर मैक्सिको तेल की आय पर अत्यधिक निर्भर है और उस पर 96 अरब डालर जितना बड़ा विदेशी कर्ज है, जो उसे अभी चुका रहा है। दाम एक डालर प्रति बेरल कम होने पर मैक्सिको को 55 करोड़ डालर का सालाना घाटा होगा। अर्थात् भाव में कमी मैक्सिको की अर्थव्यवस्था को चौपट कर देगी।

कुछ विश्लेषकों का यह मानना एक हद तक सही है कि कीमत में कमी की मार न सिर्फ ओपेक देशों पर पड़ेगी, बल्कि गैर-ओपेक तेल उत्पादक देश भी इसके कुप्रभाव से बच नहीं सकते। यदि दाम 15 डालर प्रति बेरल से भी नीचे रहते हैं तो ओपेक देश फिर भी लागत से काफी ज्यादा कीमत पर तेल बेचेंगे, परन्तु

भारत की भावी तेल नीति उत्पादन व आयात में संतुलन जरूरी—बहरहाल, ये दूरगामी परिणाम भारत को भुगतने ही पड़ेंगे। लेकिन यहां यह मुख्य प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन पचीदा परिस्थितियों में देश की भावी तेल नीति क्या हो ? इसके लिए दो रास्ते हैं। एक तो यह कि घरेलू तेल उत्पादन काफी कम कर दिया जाये और खुले विश्व बाजार में सस्ते भाव पर मिल रहे तेल को बड़ी मात्रा में खरीद लिया जाय। इससे हम अपने भण्डार सुरक्षित रख सकेंगे और ऊँचे भाव आने पर इस्तेमाल करेंगे। दूसरा रास्ता यह है कि घरेलू तेल उत्पादन और आयात के बीच संतुलन कायम रखा जाय। अर्थात् घरेलू उत्पादन पर जोर जारी रखा जाय और जरूरत के मुताबिक आयात भी होता रहे।

पहला रास्ता अपनाने के कुछ फायदे जरूर हैं मगर उसका दीर्घकालिक तौर पर बुरा असर पड़ेगा। भारत तेल के मामले में पूरी तरह आत्म निर्भर नहीं है जिस कारण तेल क्षेत्रों की खोज, खुदाई, तेल-उत्पादन के बारे में अन्वेषण (Research) आदि चल रहे हैं उनकी गति धीमी पड़ जायेगी। इस क्षेत्र में कार्यरत तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग और आयल इण्डिया लिमिटेड नामक प्रतिष्ठानों का भी विस्तार रुक जायेगा। यही नहीं, तेल के विकल्प के रूप में सौर व परमाणु ऊर्जा के विकास और परमाणु ऊर्जा बचत अभियान जैसे कार्यक्रमों को गहरा धक्का लगने के तथ्य को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। फिर यह कतई जरूरी नहीं कि तेल में मौजूदा मंदी स्थायी तौर पर रहेगी। यदि कुछ वर्षों बाद इसके दामों ने फिर तेजी पकड़ी तो 1973 जैसा ही विकट संकट हमारे सामने पैदा हो सकता है। वर्तमान में सस्ते तेल को देखकर यह खुशफहमी नहीं होनी चाहिए कि हम तेल संकट से उबर चुके हैं। हम पहले जितने संकटग्रस्त नहीं रहे, लेकिन संकट की काली छाया अभी पूरी तरह मिटी नहीं है। अतएव 'घरेलू तेल उत्पादन व आयात में संतुलन' वाला दूसरा मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर होगा।

इस संदर्भ में यह बात गांठ बांधने लायक है कि कुवैती मंत्री पर हुए खाड़ी युद्ध के बाद तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें तय करना ओपेक बिरादरी का विशेषाधिकार नहीं रह गया है। अकेली महाशक्ति अमरीका आज विकासशील देशों तक पहुंचने वाले तेल की मात्रा और उसकी कीमत वस्तुतः में तय करने की स्थिति में है। पिछले वर्षों से यह होता रहा है कि अपने को तेल संकट से मुक्त रखने के लिए भारत कच्चे तेल का आयात सोवियत संघ या इराक जैसे देशों से करता रहा था। आज इस बात की कोई संभावना नहीं रही कि इन मामले में ये दोनों भारत की कुछ सहायता कर सकें। इसके अतिरिक्त स्वयं भारत में तेल के अन्वेषण का काम धीमा पड़ा है। कभी तेल और प्राकृतिक गैस आयोग के शीर्षस्थ अधिकारियों की नियुक्तियों के राजनीतिकरण ने इस काम को प्रभावित किया है तो कभी असम या कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियों ने इस काम में बाधा डाली है। साथ ही भारत का विदेशी मुद्रा भंडार खाली होने से अपनी जरूरत भर का तेल का आयात मुश्किल हो गया है। पिछले डेढ़-दो वर्षों में भारतीय राजनीतिक और आर्थिक जीवन में किसी भी तरह का अनुशासन नहीं रह गया है। इस कारण तेल के घर खर्च में कोई कटौती नहीं की जा सकता। आने वाले दिनों में भारत के लिए तेल संकट एक कठिन चुनौती बन सकता है।

देशों में आपसी फूट, गैर-ओपेक देशो (ब्रिटेन, नार्वे, मैक्सिको, सोवियत संघ) द्वारा तेल उत्पादन में वृद्धि, तेल के अन्य स्रोतों की खोज, पश्चिमी देशों में ऊर्जा बचत अभियान, ईरान-इराक युद्ध आदि कारणों से हो रही थी। 1986 में तो भाव तेजी से गिरे।

मौजूदा तेल खपत व जरूरत—अब जरा भारत की मौजूदा तेल आवश्यकता, घरेलू उत्पादन, आयात पर विदेशी मुद्रा का खर्च और घटते दामों के कारण होने वाली बचत का जायजा लिया जाये। 1985–86 में देश में 4·80 करोड़ टन कच्चे तेल एवं पैट्रोलियम उत्पादों की खपत हुई। घरेलू उत्पादन इसका लगभग 70 प्रतिशत अर्थात् तीन करोड़ टन रहा। अतः शेष 1·80 करोड़ टन तेल आयात किया गया। भारत ने 1984–85 में 1·70 करोड़ टन तेल का आयात किया था। 1984–85 में तेल का औसत आयात भाव 28 डालर प्रति बेरल पड़ा। 1984–85 में भारत के 4500 करोड़ रु० ही खर्च हुए, अर्थात् तेल आयात में 1500 करोड़ रु० जितनी विदेशी मुद्रा की बचत हुई। सरकार ने मंदी के कारण पारम्परिक सप्लायरों से तेल-आयात के बारे में कोई मियादी सौदे (term contracts) नहीं किये। इस बीच सरकार ने फरवरी, 1987 से देश में पैट्रोलियम उत्पादों की कीमतों में जो वृद्धि की थी, उससे उनकी खपत में कोई कमी नहीं आयी। कुवैत के मसले पर छिड़े खाड़ी युद्ध (1991) के बाद भी भारत में पैट्रोल के दाम में 25 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। एक अनुमान के अनुसार तेल की 8 प्रतिशत सालाना खपत बढ़ रही है।

दाम गिरने से भारत को लाभ—बहरहाल, तेल के दाम में गिरावट से भारत को अनेक सीधे आर्थिक फायदे हैं। इससे न केवल विदेशी मुद्रा की बचत होगी और भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में तेज़ी से सुधार होगा, बल्कि उर्वरक और पैट्रो-केमिकल्स के आयात पर भी कम खर्च होगा, पैट्रोलियम उत्पादों के जरिये निर्मित होने वाली अनेक वस्तुओं पर लागत कम आयेगी और कृषि उत्पादन बढ़ेगा। विदेशी मुद्रा में बचत की राशि से विदेशी उच्च प्रौद्योगिकी का आयात किया जा सकेगा और औद्योगिक विकास की ओर घरेलू संसाधनों को लगाया जा सकेगा।

दाम गिरने से भारत पर बुरा असर भी—मगर, तेल के भाव में कमी से होने वाले फायदे एक सीमा तक ही लाभकारी होंगे। लाखों भारतीय ओपेक देशों में नौकरी कर रहे हैं, लेकिन अब तेल से आने वाली अपार राशि कम हो रही है, जिसका प्रतिकूल असर इन भारतीयों की आमदनी पर पड़ेगा। ये भारतीय बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा स्वदेश भेजते रहे हैं। तेल में मदी के कारण कई भारतीय रोजगार से हाथ धोकर स्वदेश लौट रहे हैं। दूसरी बात, भारत को अनेक ओपेक-देशों में पाँच सितारा होटल, पुल, रेलवे-लाइन, हवाई अड्डे, ऊँची इमारतें बनाने का ठेका मिला हुआ था, लेकिन अब धन के अभाव में ऐसी अनेक परियोजनाएँ ठप्प पड़ने की संभावना है। भारत के लिए यह बहुत बड़ी हानि सिद्ध होगी। खाड़ी युद्ध के बाद इराक में तो भारत के बहुत सारे ठेके एकदम ठप्प पड़े हुए हैं। तीसरी बात, ओपेक देश अपार दौलत के बूते पर भारत में आसानी से जो पूँजी निवेश करते थे और दोनों मिलकर अन्य देशों में संयुक्त उद्यम खोलते थे, उस सिलसिले को भी गहरा धक्का लगेगा। यह भी किसी से छिपा हुआ नहीं है कि ओपेक देश भारत को मदद व ऋण देते हैं, जिनमें कमी आये तो कोई आश्चर्य नहीं होगा।

गतिविधियाँ उच्छृंखल, अन्यायपूर्ण तथा मामरिक ही नही, बल्कि मनोवैज्ञानिक दबाव डालने के लिए भी संचालित हो सकती हैं। लगभग इसी समय अमरीका द्वारा उत्तर वियतनाम मे की जा रही बमबारी ने भी लोगो का ध्यान इस समस्या की ओर खीचा।

आतंकवाद की समस्या का एक और पक्ष है। यह जरूरी नही कि इसका लक्ष्य हमेशा शत्रु ही हो। अक्सर मित्रो को भी इसकी चपेट मे आना पडता है। जब अनेक फिलस्तीनियो को यह लगने लगा कि 1973 के बाद बदली परिस्थिति मे अनेक अरब बिरादर उनकी वांछित महार्यता नहीं कर रहे हैं तो उन्होने यथास्थिति के पोषक अरब शासको को अपने आतंक के घेरे मे लाने का प्रयत्न किया। जब पेरिस मे ओपेक के तेल मन्त्रियो का सम्मेलन चल रहा था तब सऊदी प्रतिनिधि शेख अल यमनी समेत उन सभी को बंधक बनाया गया। यह स्वाभाविक था कि अनेक अरब राज्य फिलस्तीनियो को शरण देने के फलस्वरूप इजराईल का कोप भोजन नही बनना चाहते थे और बिना उन्हे आतंकित किये उनसे शरण या सहायता पाना सहज नही था। परन्तु इस तरह का भयादोहन हमेशा ही सफल हो, यह आवश्यक नही। जोर्डन के शासक हुसैन ने व्यापक नरसंहार का जवाबी हमले वाला रास्ता अपनाया और लेबनान मे फिलस्तीनियो की बढती अलोकप्रियता इसी से जन्मी।

अमरीका व पश्चिमी यूरोप मे आतंकवाद—जिस समय पश्चिम एशिया मे आतंकवादी सर उठा रहे थे, उस समय संसार के अन्य भागो मे भी वह प्रवृत्ति तीव्रतर हो रही थी। उदाहरणार्थ, अमरीकी महाद्वीप मे दक्षिणी अमरीका के उरुग्वे देश मे टोपामरो नामक नागरिक छापामार प्रभावशाली ढंग से सक्रिय थे। अमरीका मे भी विलासितापूर्ण उपभोग से ऊबे, कुंठित, असन्तुष्ट युवा वर्ग मे हिंसक अराजकता लोकप्रिय हो रही थी और एक खास तरह की आतंकवादी गतिविधियो को भडका रही थी, जिसे कुल मिलाकर अराजनयिक ही कहा जा सकता है। करोडपति हर्स्ट की पोती का अपहरण करने वाले सिम्बियोनिज मुक्ति सैनिक और पेंदरमेन नामक समूह ऐसे ही असामाजिक तत्वों का जमघट थे।

इस दौर मे दक्षिण अमरीका के अनेक देशो मे राजनयिको के अपहरण की बाढ सी आ गयी। इससे पहली बार यह बात रेखांकित हुई कि आतंकवाद की चुनौती सिर्फ पश्चिम एशिया तक सीमित नही है। इसका एक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी पक्ष भी है, जिसे अनदेखा नही किया जा सकता।

इसी समय यूरोप मे भी बादर मिनहोफ नामक गिरोह आक्रामक तेवर अपनाये हुए था। वह अति-सिद्धक वामपंथी अग्रगामिता को अपनी विचारधारा घोषित कर चुका था। इटली, फ्रांस जर्मनी मे उद्योगपतियों, उच्च-पदस्थ सरकारी अधिकारियों, राजनीतिक नेताओ आदि के अपहरण और उनकी हत्या आम होते जा रहे थे। सबसे नाटकीय प्रसंग इटली के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री अल्डोमारो के अपहरण और हत्या का था। जापानी लाल सैनिको की हिंसक गतिविधियो का विस्फोट भी कई जगह हुआ। अधिकांश लोगों के लिए यह तय करना कठिन हो गया कि कौन-से आतंकवादी राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित थे और कौन-से सिर्फ पेशेवर, दुस्साहसिक व भाडे के हत्यारे सैनिक। राजनीतिक दृष्टि से इस समूह के साथ परामर्श की सम्भावना भी कम होती जा रही थी।

सोवियाई आतंकवाद—मगर आपसी मतभेद, हत्याकाण्ड आदि के कारण

आतंकवाद की समस्या
(Problem of Terrorism)

आतकवाद का इतिहास सदियों पुराना है। जब भी कोई व्यक्ति या समूह *आततायी के उत्पीड़न का सामना करने में असमर्थ सिद्ध हुआ,* उसने शक्ति असंतुलन को समाप्त करने के लिए आतकवाद को अपनाया। फ्रास की पहली क्रान्ति (1789) के दौरान तथा दूसरी क्रान्ति (1848) की पूर्व सध्या मे क्रान्तिकारी आतंकवाद तेजी से बढ़ा। स्वय भारतीय स्वाधीनता संग्राम मे कई ऐसे संगठन थे, जिन्होंने हिंसक क्रान्ति का मार्ग चुना। वे अपने को गर्व से आतंकवादी कहते थे। पिछले दशक से अन्तर्राष्ट्रीय आतकवाद की समस्या इतनी तेजी से उग्र हुई है कि ऐसा लगने लगा कि 'पारम्परिक आतकवाद' से इस 'आधुनिक आतकवाद' का कोई सीधा या स्पष्ट सम्बन्ध नही रह गया है।

आतंकवाद की परिभाषा—आतकवाद की समस्या का विश्लेषण करने से पहले *आतकवाद की परिभाषा स्पष्ट करना उपयोगी होगा।* आतकवाद का अर्थ है—हिंसा का ऐसा प्रयोग, जो सैनिक दृष्टि से नही, बल्कि लक्ष्य (शिकार) को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करे।[1] दूसरे शब्दों मे आतकवाद एक तरह का भयादोहन (blackmail) है। इसकी प्रमुख उपयोगिता राजनीतिक व राजनयिक है। यही बुनियादी फर्क क्रान्तिकारियो और आतकवादियो मे है। अल्जीरिया और वियतनाम के उदाहरण इसकी पुष्टि करते है।

फिलस्तीनी व इजराइली आतंकवाद—वर्तमान दौर मे आतकवाद के प्रति लोगों का ध्यान पश्चिम एशिया मे फिलस्तीनियो की गतिविधियो से मुड़ा। फिलस्तीनी मुक्ति सगठन के एक उग्रपथी धड़े 'अल फतह' के सदस्यों ने इजराइली *विमानो का अपहरण आरम्भ कर दिया तथा बम विस्फोट आदि द्वारा इजराईल के* 'निर्दोष पक्षधरो' को आतंकित करना शुरू कर दिया। चूंकि फिलस्तीनी स्वय नागरिकता-विहिन शरणार्थी थे, इसलिए उनके आचरण के लिए किसी देश को कलकित करना कठिन था। अमरीका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों ने इन्हे असामाजिक अपराधी माना। पश्चिमी राजनय की पूरी चेष्टा यह रही कि फिलस्तीनी आतंकवादी कारंवाई को पूरी मानव जाति के विरुद्ध अपराध के रूप में प्रचारित किया जाये। इस बीच 1973 मे अरब-इजराईल सैनिक संघर्ष के कारण फिलस्तीनी लोग और ज्यादा सख्या मे बेघर हुए और आतकवाद मे वृद्धि हुई। इस सैनिक मुठभेड़ के बाद इजराईल ने अरबो का और तेजी से दमन किया तथा आतकवादी गतिविधियों की क्रिया-प्रतिक्रिया 'प्रतिशोधात्मक' बन गयी। यदि फिलस्तीनी किसी विमान का अपहरण करते तो इजराईल बदले मे फिलस्तीनी शरणार्थी शिविरो पर बर्बर बमबारी कर बदला लेता। इसके जवाब मे फिलस्तीनी आतंकवादियों के हिरावल दस्ते इजराइली स्कूलों के निर्दोष बच्चो का अपहरण कर लेते। इस प्रकार यह दुष्चक्र तोड़ना कठिन होता गया।

इस अनुभव से एक और बात स्पष्ट हुई। इजराइली आचरण ने यह दर्शाया कि व्यक्ति ही नहीं, बल्कि राज्य भी आतकवाद फैला सकता है। राज्य की सैनिक

[1] आतकवाद की तर्क-सगत परिभाषा और समुचित परिप्रेक्ष्य के लिए देखें—Walter Laquer, *The Age of Terrorism* (London. 1987)

के लिए सैनिक या परामर्श वाले समाधान के तालमेल बिठाने की अड़चन भी बची रहती है। बंगलौर में आयोजित सार्क शिखर सम्मेलन (नवम्बर, 1986) में आतंकवाद की सर्वसम्मत परिभाषा तक नहीं हो सकी। इससे यही प्रमाणित होता है कि आतंकवाद की गुत्थी जटिल है और आज यह समस्या विदेशी ही नहीं, बल्कि हमारी अपनी भी है।

उत्तर हो या दक्षिण, पूर्व हो या पश्चिम, भारत के हर सीमान्त पर असंतुष्ट तत्वों ने अपनी मांगों की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए आतंकवादी हिंसा का अवलम्बन किया है। इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि भारत की एकता को नुकसान पहुँचाने और उसकी भौगोलिक एकता के अतिक्रमण के लिए विदेशी शक्तियाँ आतंकवादियों को समर्थन दे रही हैं। एक छोटे से उदाहरण से इस समस्या के व्यापक आयाम और इससे पैदा हुई राजनयिक समस्या स्पष्ट हो जायेगी। खालिस्तानी आतंकवादियों ने ब्रिटेन में एक कार्यकारी सरकार की घोषणा की और भारत-विरोधी विषैले प्रचार अभियान को निरन्तर जारी रखा। हालांकि ब्रिटिश सरकार ने इस कार्यकारी खालिस्तानी सरकार को विधिवत मान्यता नहीं दी है, परन्तु उसने इन अपराधपूर्ण तत्वों की गतिविधियों पर किसी भी प्रकार की रोक भी नहीं लगायी है। इसी तरह जर्मनी, कनाडा आदि देशों ने राजनीतिक विचारधारा के कारण 'उत्पीडित सिख शरणार्थियों' को शरण देने की जो नीति अपनायी, वह भी खालिस्तानी आतंकवाद को प्रोत्साहित करने वाली सिद्ध हुई है। इस मामले में पश्चिमी 'जनतान्त्रिक' देशों की लापरवाही का दुष्परिणाम कनिष्क विमान के विस्फोट के रूप में सामने आया। अमरीका में केम्पर के छापामार सैनिक प्रशिक्षण सस्थान की गतिविधियाँ भी संदिग्ध रही हैं। अतः यह सोचना अकारण नहीं है कि अमरीकी सरकार अपने राजनयिक हितों के अनुरूप ऐसी गतिविधियों पर कोई रोक-टोक नहीं लगाना चाहती। इंग्लैण्ड और कनाडा में खालिस्तानी आतंकवादी अनेक बार सरकारी छूट का फायदा उठाते हुए भारतीय राजनयिकों व अधिकारियों के साथ गाली-गलौज और मारपीट करते रहे हैं। जम्मू-कश्मीर मुक्ति मोर्चे के नाम पर सक्रिय आतंकवादियों ने ब्रिटेन में कार्यरत भारतीय राजनयिक म्हात्रे का अपहरण कर उनकी हत्या कर दी थी। इसी तरह मिजो राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के अध्यक्ष लालडेंगा ब्रिटिश सरकार की कृपा से वहाँ काफी लंबे समय तक रहे और भारत के खिलाफ विष वमन करते रहे। आज भले ही भारत को जम्मू-कश्मीर मुक्ति मोर्चे और मिजो राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के उग्रवादियों की चिन्ता न हो, परन्तु इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि भारत की स्वाधीनता, गुट निरपेक्षता, आत्म-निर्भर आर्थिक विकास को न देख सकने वाली विदेशी शक्तियाँ उसको अपने पथ से विचलित करने व कमजोर बनाने के लिए किसी भी समय इन 'पालतू आतंकवादियों' का भयानक राजनयिक अस्त्र के रूप में उपयोग कर सकती हैं। इक्वेडोर और ब्रुनेई जैसे देश कथित 'खालिस्तानी सरकार' को मान्यता देने को तत्पर हैं। इन दोनों देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई हस्ती नहीं और न ही भारत के साथ इनके राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्ध महत्वपूर्ण हैं। परन्तु इस बात को याद रखना उपयोगी होगा कि वे महत्वपूर्ण देश ऐसे 'कठपुतलों' का प्रयोग अपने मोहरों के रूप में करते रहे हैं, जिनके साथ भारत के सम्बन्ध आर्थिक व सामरिक महत्व के हैं। खालिस्तानी आतंकवादियों की समस्या सिर्फ भारत और पाकिस्तान के बीच का

छुटपुट आतंकवादी गिरोहों का सफाया शनैः शनैः होता गया। अंततः 1979-80 तक राजनीतिक आतंकवादी ही बचे रहे।[1] लेकिन इनके द्वारा प्रस्तुत चुनौती भी कम जटिल और हिंसक नहीं रही है। हाल के दिनों में लीबिया इस सन्दर्भ में बहुत बदनाम रहा है। कर्नल गद्दाफी जिन विचारधारा के पक्षधर हैं और जिनका विश्वव्यापी प्रचार कर रहे हैं, उनमें इस्लामी कट्टरता और 'समाजवादी' क्रान्तिकारिता का संयोग है। अर्थात लीबिया द्वारा प्रोत्साहित व समर्थित आतंकवाद इस्लामी संसार के साथ-साथ बाकी तीसरी दुनिया के लिए भी कम आकर्षक नहीं। अपनी तेल सम्पदा और कम जनसंख्या के कारण गद्दाफी अपने देश के विकास और समृद्धि के लिए दूसरों पर आश्रित नहीं। लीबिया के आतंकवादियों का घेरा फिलीपीन्स से लेकर ब्रिटेन तक फैला हुआ है। यथा-स्थिति चाहने वाले पश्चिमी देशों की असली चिंता यह है कि गद्दाफी चंचल, उच्छृंखल व उद्दण्ड हैं और उन पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। लीबिया के आतंकवादी अन्य देशों, विशेषकर, अमरीका के परमाणु संयन्त्रों को अपने आतंकवाद का निशाना बना सकते हैं, जिससे कभी भी भयंनाशक दुर्घटना घट सकती है। अमरीका ने लीबिया को अनुशासित करने और उसके आतंकवादियों का सफाया करने के लिए जिस तरह उनके घर में घुसकर कदम उठाये, वे भी सरकारी आतंकवाद ही कहे जा सकते हैं।

कमोबेश इसी तरह के आक्षेप सीरिया और ईरान पर लगाये जाते हैं। राष्ट्रपति रीगन ने अनेक बार यह कहा था कि आतंकवाद को समर्थन देने वाले देशों का बहिष्कार किया जाना चाहिये। इसके अभाव में शत्रु और मित्र के बीच अन्तर किया जाना कठिन है और इस तरह के क्रियाकलाप से फैलने वाली भ्रांतियों से सिर्फ शीत युद्ध के दबाव ही बढ़ सकते हैं। यह सच भी है कि सीरियाई राष्ट्रपति असद और ईरानी शासक अयातुल्ला खुमैनी ने कई बार आतंकवादियों को प्रोत्साहित किया है। परन्तु पर्दे के पीछे अमरीकी गतिविधियाँ इन देशों के आचरण से बहुत भिन्न नहीं रही हैं। निकारागुआ में 'कोन्ट्रा' सैनिकों को बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता देना इस मामले में अमरीका के गैर-जिम्मेदाराना रुख को उजागर करता है। जिन ईरानियों ने अमरीकियों को साल भर से ज्यादा बन्धक बनाकर रखा, अमरीका ने बाद में उन्हीं को सैनिक साज सामान बेचना अपने राष्ट्रीय हित में समझा। जब सीरिया की ओर अंगुली उठायी गयी तो असद ने यह कहा कि इजराईल ने उन्हें बदनाम करने के लिए जान-बूझकर अपने ही आदमियों को सीरियाई आतंकवादी के रूप में पकड़वाया।

भारत के समक्ष आतंकवाद की चुनौती—भारतीय उप-महाद्वीप में भी आतंकवाद महत्वपूर्ण राजनयिक चुनौती बन चुका है। खालिस्तानी आतंकवादी हों या श्रीलंका में असन्तुष्ट तमिल, बंगला देश व भारत की सीमा पर चकमा आदिवासी हों या नेपाल में बम विस्फोट करने वाले लोग, भारतीय विदेश नीति के नियोजन और संचालन के लिए सबसे बड़ी समस्या आतंकवाद से मुकाबला ही है। यह प्रश्न सिर्फ आतंकवादियों के उन्मूलन का ही नहीं, बल्कि पड़ोसी देशों के साथ भारत के सम्बन्धों और बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप का भी है। हितों के टकराव को दूर करने

[1] आतंकवाद के तुलनात्मक अध्ययन और प्रमुख उदाहरणों के सबसे अच्छे संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए देखें—Alexander Yonas, *International Terrorism : National, Regional and Global Perspectives* (New York, 1976).

वर्चस्व स्थापित करेगा। यह महासागर सात समुद्रों की कुंजी है। 21वीं शताब्दी में विश्व का भाग्य-निर्धारण इसकी समुद्री सतहों पर होगा।' माहन का यह कथन सिर्फ अमरीका के लिए ही नहीं, बल्कि सभी विश्व शक्तियों के लिए नौसैनिक नीति-निर्धारण करता आ रहा है। अमरीका और सोवियत संघ दोनों हिन्द महासागर में अपना नौसैनिक वर्चस्व कायम करने के लिए आज कटिबद्ध प्रतीत होते हैं।

यों तो हिन्द महासागर 18वीं शताब्दी में भी यूरोप के उपनिवेशवादी देशों की प्रतिस्पर्धा का केन्द्र रहा था, किन्तु 18वीं से 20वीं शताब्दी के अधिकांश काल में यह वस्तुतः 'ब्रिटिश झील' बना रहा।[1] हिन्द महासागर में 'शक्ति-शून्यता' की स्थिति तब पैदा हुई, जब ग्रेट-ब्रिटेन ने स्वेज पूर्व के सैनिक ठिकानों से हट जाने की

हिन्द महासागर में महाशक्तियों की पैंतरेबाजी और
डिएगो गार्सिया की भौगोलिक-सामरिक स्थिति

[1] ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हिन्द महासागर में बड़ी शक्तियों की प्रतिस्पर्धा के विचारोत्तेजक विश्लेषण के लिए देखें—K. M. Panikkar, *India and the Indian Ocean* (Delhi, 1971)

सिरदर्द ही नही, बल्कि इसके साथ अमरीका जैसी महाशक्ति और ब्रिटेन भी जुड़े हुए हैं।

भारत के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह ब्रिटेन जैसी सरकार के सामने स्पष्ट कर दे कि यदि वह ब्रिटेन मे रह रहे भारत-विरोधी आतंकवादियो को दण्डित व अनुशासित करने के लिए तत्पर नही है तो भारत भी उसके साथ सैनिक साज सामान की खरीद-फरोख्त और किसी भी व्यापक आर्थिक सहकार के लिए तैयार नही है। इस नये दौर मे आतंकवाद की समस्या का एक और जटिल पक्ष है। स० रा० सघ और गुट निरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलनो मे आतंकवाद की भर्त्सना (चाहे वह दक्षिणपंथी हो या वामपंथी) सर्व सम्मति से स्पष्ट शब्दो मे की गयी है, परन्तु दक्षिण अफ्रीका, नामीबिया और फिलस्तीन मे साम्राज्यवादी व नस्लवादी अत्याचार के खिलाफ शस्त्र उठाने वाले मुक्ति सैनिकों को आतकवादी अपराधी नहीं समझा जा सकता। भारत के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि खालिस्तानी आतकवादियो का उन्मूलन करने के साथ-साथ श्रीलंका मे तमिलो को सरकारी आतकवाद से कैसे बचाया जाये।

इस प्रकार आतकवाद की समस्या सिर्फ शान्ति और सुव्यवस्था का प्रश्न ही नही है, बल्कि बुनियादी मतभेदों का परामर्श द्वारा राजनयिक हल ढूंढना भी है। आतकवाद की समस्या का हल किसी भी स्थिति मे उभयपक्षीय नही, बल्कि बहु-पक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श द्वारा ही ढूँढा जा सकता है।

विडम्बना यह है कि अपने तात्कालिक 'सकीर्ण' सामरिक हितों के पोषण के लिए विभिन्न राष्ट्र तरह-तरह के आतंकवादियों को बढावा देते हैं। कालान्तर में रक्त बीज राक्षस बन जाते हैं और जातीय असन्तोष, सीमा विवाद और मादक द्रव्यो एवं हथियारो की तस्करी के सन्निपात से नये और बेहद खतरनाक न्यस्त स्वार्थ पनपने लगते है। भस्मासुर की तरह इन पर काबू पाना इनके जनक के लिए भी सम्भव नही रह गया है। दक्षिण अमरीका के कोतरा हों, अफ्रीका मे तैनात तथाकथित भाड़े के सैनिक, अफगान मुजाहिदीन, खालिस्तानी कमांडो या लिट्टेवादी मुक्ति चीते, सभी जगह यह बात देखी जा सकती है कि ऐसी हालत मे दो देशो के बीच राजनीतिक समस्याओं के समाधान के बाद भी इन पर काबू पाना कठिन हो जाता है। भारत और श्रीलका का अनुभव तथा अफगानिस्तान के बारे मे पाकिस्तानी अनुभव यही झलकाता है। पश्चिम एशिया मे फिलस्तीनी आतकवादियों की गति-विधियाँ या कम्बोडिया मे खमेर रूज के क्रियाकलाप, यह बात प्रमाणित करते हैं कि आतकवादियो के आश्रयदाता, समर्थक और सहायक हमेशा उन्हें अपनी इच्छा-नुसार अपने-अपने राष्ट्रीय हितो के अनुकूल अनुशासित और नियोजित नही कर सकते। यहाँ सिर्फ एक बात और जोड़ने की जरूरत है। आने वाले दिनो में आतकवाद का सिरदर्द अमरीका या यूरोप को नही, बल्कि भारत, पाकिस्तान और श्रीलका जैसे देशो को ही झेलना पड़ेगा।

हिन्द महासागर में महाशक्तियों की पैतरेबाजी
(Super Power Rivalry in Indian Ocean)

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे अमरीकी नौसेना विशेषज्ञ अल्फ्रेड माहन ने कहा था—"जो भी देश हिन्द महासागर को नियन्त्रित करता है वह एशिया पर

किया गया कि हिन्द महासागर में सोवियत संघ की गतिविधियाँ आवश्यकता से अधिक बढ़ती जा रही हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 1972 के बाद से ही साम्यवादी चीन अमरीकी खेमे की ओर झुकता जा रहा था। वियतनाम युद्ध के बाद की घटनाओं ने चीन और अमरीका को एक-दूसरे क और अधिक निकट ला दिया तथा इस निकटता ने प्रशान्त महासागर के अमरीकी सैनिक अड्डों का महत्व काफी हद तक कम कर दिया। दूसरी ओर चीन अमरीका पर यह दबाव भी डालने लगा कि वह अन्य देशों *की नौसैनिक शक्ति का प्रशान्त महासागर के बजाय हिन्द महासागर में सन्तुलन करे।*

अमरीका ने 1970 के दशक में अपने नौसैनिक बेड़े में 'पोलरिस' एवं 'पोसीडन' पनडुब्बियों पर विशेष जोर दिया था जिनमें छः हजार मील तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्र (Missiles) लगे होते हैं। इस प्रकार वह न केवल पश्चिम एशिया के तेल-समृद्ध देशों वरन् सोवियत संघ के अधिकांश हिस्सों को अपनी मार में ले सकता है। अफ्रीका में 1973 के बाद होने वाली घटनाओं ने भी अमरीकी नीति-निर्धारकों के सम्मुख हिन्द महासागर में नौसैनिक उपस्थिति को आवश्यक बना दिया था। इस सन्दर्भ में अमरीका के भूतपूर्व नौसेनाध्यक्ष एडमिरल जूमवाल्ट ने कहा था कि किसी देश की राजनीति को प्रभावित करने के लिए उसके नजदीकी समुद्र में एक विमान वाहक युद्धपोत भेज देना पर्याप्त होता है। इस दृष्टि से अमरीका ने विमान-वाहकों के निर्माण पर अधिक बल दिया। उसका नवीनतम विमान वाहक 'नीमिड्स' अपने आप में सम्पूर्ण युद्ध मशीनरी है। इन विमान वाहकों तथा अन्य युद्धपोतों के स्थायी रूप में हिन्द महासागर में रखने का तात्पर्य वहाँ *'स्यूबिक बे' या 'ओकिनावा' जैसी मरम्मत-सुविधाएँ जुटाना आवश्यक था।*

सऊदी अरब, ईरान, अफगानिस्तान और पाकिस्तान हिन्द महासागर को फारस की खाड़ी से जोड़ने की भौगोलिक-प्रक्रिया अदा करते हैं। फारस की खाड़ी पिछली शताब्दी से ही रूसियों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रही है। यद्यपि फारस की खाड़ी स्थित देश परम्परागत रूप से कमोबेश अमरीका परस्त रहे हैं, किन्तु ईरान में शाह रजा पहलवी के अपदस्थ होने (1979) तथा ईरान से उठी इस्लामी पुनर्जागरण की लहर के अन्य देशों के फैल जाने के सिलसिले ने अमरीका के लिए इस क्षेत्र में कई चुनौतियाँ खड़ी कर दीं। इधर अफगानिस्तान पर 'सोवियत कब्जे' ने भारतीय उपमहाद्वीप के साथ ही समस्त हिन्द महासागर की भू-राजनीतिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिये थे। जहाँ एक ओर तेल की आपूर्ति पर ताला लग जाने का *खतरा पैदा हो गया, वहीं हिन्द महासागर में सोवियत प्रभुत्व स्थापित हो जाने के* रास्ते भी प्रशस्त दिखाई पड़ने लग गये। इस स्थिति में अमरीका जहाँ जल्फेड माहन की भविष्यवाणी को याद करके भयावह परिकल्पना से त्रस्त है, वहीं वह अपने हितों की रक्षा के लिए कटिबद्ध भी प्रतीत होता है।

अफगानिस्तान, ईरान या पाकिस्तान में अमरीका सीधे सैनिक हस्तक्षेप की *कार्रवाई अन्तिम विकल्प के रूप में ही स्वीकार करेगा, चूँकि उसका मूल उद्देश्य* फारस की खाड़ी से नाविक-सम्पर्क बनाये रखना एवं वहाँ के देशों को अमरीका की तरफ झुकाव के लिए बाध्य करना भर माना जा सकता है। दोनों ही योजनाएँ डिएगो गार्सिया को पूर्ण सैनिक अड्डा बनाकर तथा वहाँ एक नौसैनिक कमान का

योजनाओं को क्रियान्वित करने का निश्चय कर लिया। 1967 में जब उसने इसकी घोषणा की तो सामरिक विशेषज्ञों ने यह सहज ही अनुमान लगा लिया कि ब्रिटेन स्वयं हिन्द महासागर से हटकर वहाँ अमरीका का नौसैनिक वर्चस्व स्थापित कराने के लिए प्रयत्नशील है। शायद इसीलिए एक वर्ष पूर्व ही उसने डिएगो गार्सिया वाशिंगटन को सौंप दिया।

लन्दन और वाशिंगटन की इन चालों से सोवियत संघ बौखला उठा। उन दिनों मास्को के नौसैनिक हलकों में सर्वाधिक चर्चित व्यक्ति एडमिरल मारशकोव हुआ करता था जो यह मानता था कि कोई भी राष्ट्र समुचित नौसैनिक शक्ति के बिना विश्व शक्ति नहीं बन सकता। उसने सोवियत नौसेना से लिए एक बड़ी योजना तैयार की जिसके अन्तर्गत दस वर्ष में ही सोवियत संघ को नौसैनिक शक्ति के क्षेत्र में अमरीका के समकक्ष हो जाना था। इसके साथ ही सोवियत पनडुब्बियाँ और लड़ाकू जहाज हिन्द महासागर के तल में और सतह पर मचलने लगे। इन गतिविधियों ने अमरीका के लिए हिन्द महासागर की 'रिक्तता' को शीघ्रातिशीघ्र भरना आवश्यक बना दिया और इस प्रकार डिएगो गार्सिया हिन्द महासागर में अमरीकी नौसैनिक शक्ति का एकमात्र 'लंगरगाह' बन गया।

हिन्द महासागर के तटीय देशों का अमरीका के लिए महत्व इन परिस्थितियों में बढ़ता ही गया। आर्थिक दृष्टि से पश्चिमी राष्ट्र आयात और निर्यात दोनों के लिए इन देशों पर निर्भर रहे। अमरीका चूँकि पश्चिमी खेमे की सैनिक शक्ति में रीढ़ की हड्डी की तरह है, अतएव सोवियत संघ की शक्ति को सन्तुलित करने के लिए योजना बनाना और उसे क्रियान्वित करना उसी के कन्धों पर टिका हुआ है। जापान और पश्चिमी यूरोपीय देश जहाँ अपनी खुशहाली के लिए पश्चिम-एशिया के तेल-निर्यातक देशों पर निर्भर है, वहीं सुरक्षा के लिए वे अमरीका पर निर्भर हैं। हिन्द महासागरीय क्षेत्र से अमरीका 8%, फ्रांस 51%, पश्चिमी जर्मनी 62%, ब्रिटेन 66%, आस्ट्रेलिया 69%, इटली 85·5% तथा जापान 90% तेल अपने देश को आयात करते हैं। अमरीका और पश्चिमी राष्ट्रों के लिए 'डिएगो गार्सिया' का महत्व भी इस तेल की राजनीति से जुड़ा हुआ है।

वियतनाम में 1975 में अमरीका की पराजय एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में अमरीकी प्रभाव की डगमगाती स्थिति ने यह आवश्यक बना दिया कि अमरीका प्रशान्त महासागर से आगे बढ़कर हिन्द महासागर में अपना सैनिक जमाव केन्द्रित करे। इसका एक कारण 1973 का अरब-इजराईल संघर्ष और तदनन्तर अरब देशों द्वारा पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध तेल-आपूर्ति की पाबन्दियाँ भी रही थी। तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री हेनरी किसिंजर ने इन पाबन्दियों की छटपटाहट में यहाँ तक कह दिया था कि अरबों को सबक सिखाने के लिए अमरीका को बल-प्रयोग भी करना पड़ सकता है। इस सबक सिखाने की पृष्ठभूमि और बल-प्रयोग की आवश्यकता ने डिएगो गार्सिया के महत्व को और भी बढ़ा दिया।

वियतनाम युद्ध की समाप्ति ने दक्षिण पूर्व एशिया के आसियान देशों (इण्डोनेशिया, थाईलैंड, मलेशिया, सिंगापुर एवं फिलीपीन्स और ब्रुनेई) एवं आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में सुरक्षा को लेकर अनेक भय पैदा कर दिये थे। आस्ट्रेलिया की माल्कोम फ्रेजर की सरकार देश की सुरक्षा के लिए डिएगो गार्सिया में अमरीकी सैनिक शक्ति का जमाव आवश्यक मानती थी। अमरीका द्वारा यह भी प्रचारित

घोषणा 1967 में की। इसके साथ ही हिन्द महासागर में सोवियत नौसैनिक गतिविधियों में वृद्धि होने लगी। अमरीका के नौसेना विभाग ने 'शक्ति-शून्यता' की दुहाई देकर अमरीकी ससद से हिन्द महासागर में सैनिक अड्डे बनाने की इजाजत चाही, किन्तु 1970 में अमरीकी संसद ने इसके लिए इन्कार कर दिया। फिर भी 15 दिसम्बर, 1970 को ब्रिटेन और अमरीका ने डिएगो गार्सिया के सम्बन्ध में एक रहस्यपूर्ण समझौता किया। मार्च, 1971 में वहाँ निर्माण कार्य शुरू हुआ और मार्च, 1973 में डिएगो गार्सिया ने एक संचार केन्द्र के रूप में काम करना शुरू कर दिया। मई, 1973 में 'न्यूयार्क टाइम्स' ने ठीक ही लिखा था कि हिन्द महासागर में विदेशी भूमि पर सैनिक अड्डा बनाने वाला प्रथम देश अमरीका बन गया है।

वस्तुस्थिति यह थी कि अमरीका डिएगो गार्सिया पर एक सैनिक अड्डा बना चुका था और केवल उसे विकसित करने का काम रह गया था। शायद यही कारण था कि 1970 और 1973 के बीच वहाँ निर्माण कार्य में खर्च की गई राशि को गुप्त रखा गया, यद्यपि अधिकारिक तौर पर अमरीका ने स्वीकार कर लिया था कि वहाँ 800 फुट लम्बी हवाई पट्टी और एक रेडियो स्टेशन का निर्माण पूरा कर लिया गया है। इसके लिए 174 नौसैनिक तकनीशियन नियुक्त किये गये।

प्रश्न यह उठता है कि अमरीका ने डिएगो गार्सिया को ही क्यों चुना? उत्तर साफ है—इसकी सामरिक स्थिति को देखते हुए हिन्द महासागर का 'चौधरी' बनने के लिए। यह भारत से केवल 1130 मील की दूरी पर है और सिंगापुर, अदन, आस्ट्रेलिया, इराक, कुवैत तथा कतार से क्रमशः 2560, 2670, 3400, 3800, 3500 तथा 3000 मील की दूरी पर है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसके आस-पास चागास द्वीप समूह के अतिरिक्त और कोई ऐसा बड़ा द्वीप नहीं है, जहाँ अमरीका के विरोधी अपने अड्डे बना सकें। दूसरी बात इस द्वीप पर रह रहे 1200 लोगों को सैनिक अड्डा बनने से पहले ही द्वीप छोड़ देने को बाध्य कर दिया गया था और इसलिए वहाँ अमरीकी गतिविधियों के विरुद्ध जासूसी या तोड़फोड़ की आशंका नहीं रह गयी। तीसरी बात, ब्रिटेन को अपना सहयोगी रखकर अमरीका अकेले बदनाम होने से बच गया।

दूसरा दौर—1974 में अमरीका ने डिएगो गार्सिया के विस्तार का दूसरा दौर आरम्भ किया। वहाँ नौसैनिक अड्डा बनाने के लिए पहले उसने 2.90 करोड़ डालर की राशि खर्च करने की घोषणा की। 1975 में हिन्द-चीन में अमरीका की पराजय और पश्चिम एशिया की बिगड़ती हुई राजनीतिक स्थिति ने अमरीकी प्रशासकों के सम्मुख डिएगो गार्सिया पर एक विशाल सैनिक अड्डे के औचित्य को साबित कर दिया। इसके बाद वहाँ निरन्तर नवीन निर्माण कार्य जारी रहे। ईरान में शाह रजा पहलवी के 1979 में पतन के बाद अमरीका हिन्द महासागर में अपनी सैनिक उपस्थिति को लगातार बढ़ाता रहा। किन्तु उसकी नौसेना के छठे और सातवें बेड़े (जो क्रमशः भूमध्य सागर और प्रशान्त महासागर में हैं) के जहाज ही हिन्द महासागर की गश्त पर भेजे जाते रहे। फारस की खाड़ी में गहराते हुए संकट और ईरान में अमरीकी बन्धकों के प्रश्न ने अमरीका और उसके तेल आयातक मित्र देशों को विचलित कर दिया। अमरीकी संसद हिन्द महासागर में अमरीकी हितों को उसके विश्वव्यापी हितों का यथार्थ मानते हुए तत्कालीन कार्टर प्रशासन द्वारा प्रस्तुत

मुख्यालय स्थापित कर पूरी की जा सकती हैं। डिएगो गार्सिया से अमरीका सोवियत संघ के नौसैनिक रास्ते पर नजर रख सका और प्रशान्त महासागर में सोवियत सैनिक अड्डे व्लादीवोस्तक और उसके काले सागर स्थित नौसैनिक अड्डों के बीच निरन्तर आवागमन पर भी अंकुश रख सका। साथ ही हिन्द महासागर में स्थायी अड्डा बनाकर वह प्रशान्त महासागर की अपनी भूमिका को शायद यहाँ भी दोहराना चाहता रहा।

डिएगो गार्सिया विषयक अमरीकी रणनीति

हिन्द महासागर क्षेत्र में अमरीकी महत्वाकांक्षाओं और मंसूबों को समझने के लिए डिएगो गार्सिया विषयक रणनीति का विश्लेषण बहुत उपयोगी है। डिएगो गार्सिया पिछले 15–20 वर्षों से अमरीका की सामरिक योजनाओं में महत्वपूर्ण बना हुआ है। अमरीका के सैनिक विशेषज्ञों ने बहुत पहले यह अनुमान लगा लिया था कि 1980 के दशक के शुरू में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा हिन्द महासागर पर केन्द्रित हो जाएगी, क्योंकि अटलांटिक और प्रशान्त महासागरों में प्रतिस्पर्धा के दायरे बहुत सीमित हो गये हैं। हिन्द महासागर एशिया और अफ्रीका के विकासशील देशों पर वर्चस्व स्थापित करने या उन पर आर्थिक व राजनीतिक दबाव डालने के लिए कुंजी का काम करेगा। यही कारण था कि ब्रिटेन के पलायनवादी इरादों को भाँपकर अमरीका ने 30 दिसम्बर, 1966 को ब्रिटेन से डिएगो गार्सिया और चागोस द्वीप समूह को सौ वर्षों के लिए प्राप्त कर लिया।

डिएगो गार्सिया को लेकर पिछले डेढ़ दशक से जितने समाचार प्रकाशित हुए हैं, उनसे विश्व के भावी घटनाचक्र में इसके सामरिक महत्व को समझा जा सकता है। यह द्वीप चागोस द्वीप समूह का अंग्रेजी 'वी' आकार का द्वीप है और 15 मील लम्बा तथा चार मील चौड़ा है। इस द्वीप का नामकरण 1532 में इसे खोजने वाले पुर्तगाली नाविक के नाम पर किया गया है। यह द्वीप 1815 तक फ्रांस के अधीन रहा, किन्तु बाद में ब्रिटेन ने हिन्द महासागर स्थित अन्य फ्रांसीसी द्वीपों के साथ-साथ इसे भी अपने अधिकार में ले लिया।

डिएगो गार्सिया यद्यपि मारीशस से 1987 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित है, तथापि 1965 से पहले तक इसका प्रशासन इसे मारीशस का हिस्सा मानकर ही चलाया जाता रहा। 1965 में ब्रिटेन ने मारीशस के अर्ध-स्वतन्त्र शासकों से एक समझौता करके डिएगो गार्सिया समेत सम्पूर्ण चागोस द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया। इधर 1968 में मारीशस को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, किन्तु इसके एक वर्ष पूर्व ही ब्रिटेन ने डिएगो गार्सिया और अन्य द्वीप भारी मुनाफे पर अमरीका को सौंप दिये। बदले में अमरीका ने 115 लाख डालर के शस्त्रास्त्र ब्रिटेन को मुफ्त में सौंपे। अमरीका और ब्रिटेन के बीच हुए समझौते के अनुसार उपरोक्त द्वीपों का स्वामित्व ब्रिटेन के पास रहेगा, किन्तु दोनों देशों की सुरक्षा की दृष्टि से अमरीका वहाँ सैनिक अड्डे बनाने और सैनिक साज-सामान तथा सैनिकों का जमाव करने के लिए स्वतन्त्र होगा।[1]

सैनिक होड़ क्यों—ब्रिटेन ने स्वेज-पूर्व के अपने सैनिक अड्डों को हटाने की

[1] डिएगो गार्सिया विषयक जानकारी के लिए देखें—K. P. Misra, *Quest for an International Order in the Indian Ocean* (Delhi, 1977), 37–46.

टकराव की सम्भावनाओ को बढा दिया है। ब्रिटेन ने मारीशस की माँग ठुकरा दी और हिन्द महासागर म अमरीकी योजनाओ का पूर्ण समर्थन किया।

वास्तविकता यह है कि डिएगो गार्सिया पर अमरीकी अड्डे का निर्माण योजनाबद्ध तरीके से और पश्चिमी देशों की विश्व शक्ति-सन्तुलन म भावी रणनीति को दृष्टिगत रखते हुए किया गया। एसे में उसे मारीशस को लौटाए जाने या सैनिक अड्डे का विस्तार रोक देने की कोई सम्भावना नजर नही आती। किसी भी सम्भावित महायुद्ध में यह छोटा-सा द्वीप एशिया के लिए कितना खतरनाक साबित होगा, इसका अनुमान बहुत भयावह है।

भारतीय नीति—यहाँ सवाल उठता है कि हिन्द महासागर मे बडी शक्तियो की प्रतिस्पर्धा को देखते हुए *भारत क्या नीति अपनाये ?* इस सन्दर्भ में के० एम० पाणिकर की टिप्पणी उसके लिखे जाने के 3 दशक बाद भी सार्थक है। उनका कहना था— हिन्दमहासागर के विषय मे भारत की दीर्घकालिक और अल्पकालिक दोनो तरह की नीति जरूरी है। इस समुद्री क्षेत्र मे अपने हितो की रक्षा के लिए भारत का एक समर्थ नाविक शक्ति के रूप म विकास अनिवार्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब भारत एक प्रमुख औद्योगिक शक्ति के रूप म उभरे और उसकी वैज्ञानिक व तकनीकी उपलब्धियाँ अन्य विकसित देशो की बराबरी करने वाली हों।'

कुछ विद्वानो का मानना है कि आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे हिन्द महासागर की समस्या उतनी ज्वलत नहीं रह गयी है, जितनी एक दशक पहले थी। आज न तो हिन्द चीन म कोई सकट है और न ही अमरीकी बडे की उपस्थिति को लेकर तटवर्ती राज्य शकाकुल हैं। कुछ सामरिक विशेषज्ञ तो यह भी सुझाते हैं कि शक्ति सघर्ष का फलक्रम हिन्द महासागर से हटकर प्रशात क्षेत्र की परिधि तक पहुँच गया है। नारू, सोलोमन द्वीप, फिजी, जैसे 'सूक्ष्म राज्य' सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। कुछ और विश्लेषक यह भी सुझाते हैं कि भारतीय नौसेना आजादी के लगभग साढे चार दशक बाद भी हिन्द महासागर म अपने शक्ति के प्रक्षेपण मे असमर्थ है। फिजी तो बहुत दूर की बात है, मारीशस मे भी राजनीतिक घटनाक्रम को प्रभावित करने म वह असफल ही है। यहाँ इस बात पर जोर दिया जाना आवश्यक है कि हिन्द महासागर म भारत की तर्कसगत भूमिका ब्रिटेन, अमरीका या रूस जैसी नहीं हो सकती। हमारा लक्ष्य किसी शक्ति शून्य को भरने का कभी नही रहा। परन्तु हम इस बात को कतइ अनदेखी नहीं कर सकते कि सागर तल की सम्पदा का दोहन हो या मछली पकडना या तस्करी की चुनौती, भारतीय राष्ट्रीय हित महासागर के सदर्भ म एक खास अलग ढग स परिभाषित होते हैं। यहाँ दो-चार सुनिश्चित उदाहरण ही *देना यथेष्ट होगा।*

कुछ वर्ष पहले जब मालदीव म गय्यूम सरकार के खिलाफ तख्तापलट की साजिश की गयी थी, तब उसे भारत ने ही नाकाम किया था। आज भी भारतीय नौसैनिक यदि मन्नार की खाडी में तैनात नहीं रहते तो लिट्टे उग्रवादियो की गतिविधिया क और भी घातक परिणाम तमिलनाडु और भारत पर पड सकते हैं। अरब सागर म भी दुबई और अन्य खाडी राज्यो स बडे पैमाने पर तस्करी होती है, जो अप्रत्यक्ष परन्तु घातक रूप स देश की आर्थिक क्षमता का क्षय करती है। भारत के साथ मछुआ का साथ रखने वाला कोई देश हजारों मील फैले भारतीय सागर तट

प्रत्येक सैनिक व्यय को पारित करती रही। दिसम्बर, 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने कार्टर प्रशासन को हिन्द महासागर में अमरीकी सैनिक जमाव करने का अच्छा बहाना दे दिया था।

अमरीकी बन्धकों को ईरान से छुड़ाने और तेल-आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए अमरीका ने जो व्यूह रचना तैयार की, उसका एक आवश्यक अंग डिएगो गार्सिया में सात विशाल तैरते हुए शस्त्रागार बनाना था। जून, 1980 के आरम्भ में अमरीका के तत्कालीन रक्षा सचिव हेराल्ड ब्राउन ने डिएगो गार्सिया के सम्बन्ध में कार्टर प्रशासन की योजना ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थैचर के सम्मुख रखी थी। दोनों देशों में यह तय हुआ कि उक्त सैनिक अड्डे को स्वेज के पूर्व में एक प्रमुख 'स्प्रिंग बोर्ड' के रूप में विकसित किया जाये।

इन समाचारों के बाद तत्कालीन भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने ब्रिटिश सरकार के सामने कड़ा विरोध प्रकट किया तथा लंका, सिंगापुर, मलयेशिया और इन्डोनेशिया को ब्रिटिश-अमरीकी योजनाओं के विरोध के लिए तैयार करने की कोशिश शुरू की। इधर मारीशस डिएगो गार्सिया अड्डे की विस्तार योजनाओं से आशंकित हो गया और जून, 1980 के मध्य में मारीशस ने उसे वापस प्राप्त करने के लिए प्रयास आरम्भ कर दिए।

विरोध विफल—मारीशस और तटवर्ती गुट निरपेक्ष देशों का विरोध आंग्ल-अमरीकी योजनाओं को परिपूर्ण होने से रोकने में असफल रहा। 16 जून, 1980 को कोलम्बो के समाचार पत्र 'सन' ने विश्वस्त राजनयिक सूत्रों के आधार पर यह समाचार प्रकाशित किया कि अमरीका डिएगो गार्सिया पर एक विशाल शस्त्रागार का निर्माण और सैनिकों का जमाव कर चुका है। यह भी कहा गया कि 1973 में निर्मित 800 फुट की सामान्य सी हवाई पट्टी को 12 हजार फुट लम्बी अधुनातम हवाई पट्टी के रूप में विकसित कर लिया गया है जिस पर परमाणु शक्ति चालित बमवर्षक बी-52 तथा भारी मालवाहक एवं ईंधनवाहक विमान जैसे सी-5 ए तथा सी-141 आसानी से उतर सकते हैं। डिएगो गार्सिया अड्डे पर 45 फुट गहरे नौसैनिक बन्दरगाह का निर्माण भी पूरा कर लिया गया, जहाँ अमरीका के विशाल विमान-वाहक जहाजों को 'होम पोर्टिंग' की सुविधायें उपलब्ध की जा सकती हैं।

जून, 1980 में वहाँ 1750 अमरीकी व्यक्ति निर्माण-कार्यों में लगे हुए थे। जुलाई, 1980 के आरम्भ में टैंकों, बख्तरबन्द गाड़ियों, गोला-बारूद, भोजन-सामग्री आदि से लदे हुए सात विशाल अमरीकी मालवाहक जहाज वहाँ खाली किये गये। अनुमान है कि यह साज-सामान 12 हजार अमरीकी सैनिकों के लिए महीने भर तक के लिए काफी होगा।

इन चौंका देने वाले तथ्यों की जानकारी मिलने पर मारीशस के तत्कालीन प्रधानमन्त्री सर शिवसागर रामगुलाम ने 7 जुलाई, 1980 को लन्दन में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थैचर से भेंट कर डिएगो गार्सिया पुनः मारीशस को लौटाने की विधिवत माँग की। उन्होंने तर्क दिया कि आंग्ल-मारीशस समझौते के अनुसार डिएगो गार्सिया को महज नौसैनिक और मालवाही जहाजों के लिए ईंधन प्राप्त करने का स्टेशन बनाने की बात तय हुई थी। किन्तु इसके विपरीत अमरीका ने उसे एक विशाल सैनिक अड्डे में बदल कर हिन्द महासागर में महाशक्तियों के

किया गया दस्तावेज।

अप्रैल, 1984 म अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने चीन से किये गये परमाणु सहयोग समझौते की ससद से पुष्टि कराने का फैसला किया था, ताकि वह इस समझौते को 'सबसे बड़ी कूटनीतिक सफलता, बताकर नवम्बर, 1934 मे होने वाले राष्ट्रपति पद के चुनाव को दुबारा जीत सकें। बाद मे रीगन ने यह पुष्टि कराने का विचार छोड दिया क्योकि उन्हे डर था कि यदि अमरीका ने इस समझौते के तहत चीन को परमाणु टैक्नोलोजी दी तो चीन उसे परमाणु बम बनाने के लिए पाकिस्तान को दे देगा। अमरीका को कई स्रोता से जानकारी मिली कि चीन पिछले कुछ वर्षों से पाकिस्तान को बम बनाने मे चोरी-छिप मदद करता रहा है।

दूसरी तरफ सीनटर एलन क्रेन्स्टन ने 21 जून, 1984 को अमरीकी सीनेट म प्रस्तुत किये गये अपने दस्तावेज मैं पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बनाने सम्बन्धी जोरदार तैयारियो और उसमे चीनी मदद का जिक्र किया। उनके अनुसार इससे पाकिस्तान का पडौसी भारत भी बम बनाने की ओर उन्मुख होगा, जो अनत दोनो देशो मे युद्ध का माग प्रशस्त करेगा। इसमे न केवल भारतीय उपमहाद्वीप मे अशान्ति फैलेगी, बल्कि विश्व शान्ति भी भग होगी और अमरीकी हितो को चोट पहुँचेगी। एलन क्रेन्स्टन की माँग थी कि पाकिस्तान को अमरीका द्वारा दी जाने वाली आर्थिक व शस्त्रास्त्र सहायता तत्काल रोक दी जाये और उस पर इस घातक हथियार को न बनाने के लिए दबाव डाला जाय।

वैसे पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बनाने की कहानी 1971 मे बगला देश के स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप म उदित होने और भारत से युद्ध मे हारने से जुडी हुई है। जुल्फिकार अली भुट्टो ने सत्तासीन होने क बाद कहा था कि भारत जैसे पडौसी देश क साथ रहने के लिए पाकिस्तान की सैनिक ताकत लगातार बढती रहनी चाहिए। परमाणु बम का निर्माण इसी सैनिक ताकत का प्रमुख अग था। स्वय भुट्टो ने 1978 म फॉसी की सजा सुनाने पर जेल-कोठरी म लिख अपने अन्तिम टेस्टामेट (वसीयत) 'अगर मेरा कत्ल हो' (If I am Assassinated) म जनरल जिया उल हक की सैनिक सरकार पर आरोप लगाते हुए कहा था कि उन्होने देश को शक्तिशाली बनाने के लिए जो परमाणु कार्यक्रम शुरू किया था, जिया सरकार उसकी उपेक्षा कर देश को कमजोर कर रही है। परमाणु बम के पक्ष मे उनका तर्क था—'ईसाई, यहूदी तथा हिन्दू सभ्यताओं के पास परमाणु बम की क्षमता है। साम्यवादी देशा के पास भी यह क्षमता है। सिर्फ इस्लामी सभ्यता ही ऐसी है, जिनके पास परमाणु बम नही है।'[1] भुट्टो परमाणु बम बनाने के प्रति कितने कृत-सकल्प थे, यह उनके इस बयान से स्पष्ट है। उन्ही के शब्दो मे—'हमे घास-पात ही क्यो न खानी पडे, लेकिन हम परमाणु बम अवश्य बनायेंगे।'[2]

इस परमाणु बम बनाने की योजना का 'कोड' नाम 'प्रोजेक्ट 706' रखा गया। भुट्टो ने इसके लिए पश्चिम एशिया के मुस्लिम देशो का तूफानी दौरा किया और खासकर लीबिया तथा सऊदी अरब मे 'इस्लामी बम' के नाम पर विशाल

[1] 'We know that Israel and South Africa have full nuclear capability The Christian, Jewish and Hindu Civilizations have this capability The Communist powers also possess it. Only the Islamic civilization was without it, but that position was about to change.' —Zulfikar Ali Bhutto, *If I am Assassinated* (Delhi 1979)

का दुरुपयोग, विघटनकारी घुसपैठ या अलगाववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने के लिए कर सकता है।

यह बात भी अनदेखी नही की जा सकती कि भारतीय भू-भाग के सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कुछ हिस्से हिन्द महासागर स्थित द्वीप समूह हैं। इनमे अंडमान निकोबार, लक्षदीव भारतीय भू-भाग से काफी अलग-थलग है। हम उनकी ओर से अपनी आँखें नही मूँद सकते।

यह ठीक है कि हवाई मार्ग से यात्रा सहज, सुगम और तेज होने के कारण हम अक्सर जलमार्ग की उपेक्षा करते है। परन्तु पर्यटक व पत्रकार चाहे कुछ भी करें, उद्यमी व्यापारी ऐसा नही कर सकते। पूर्वी अफ्रीका के देशो की स्थिति में (आर्थिक व राजनीतिक) सुधार होने के बाद एक बार फिर हिन्द महासागर के इस जलमार्ग का महत्व भारत के लिए बढ़ेगा। औरों के लिए हिन्द महासागर का महत्व घटता-बढ़ता रह सकता है, किन्तु भारत के लिए इसका महत्व हिमालय पर्वत श्रृंखला की तरह हमेशा बना रहेगा, क्योकि वह हमारी भू-राजनीतिक नियति का अभिन्न हिस्सा है। सदियों से भारतीय भूगोल की सीमा-रेखा उसके संदर्भ मे निर्धारित होती रही है। ठीक ही कहा गया है—'उत्तरम पद समुद्रस्य हिमाद्रिश्चय दक्षिणम—वर्षम तद् भारत नाम, भारतीय तत्र सतति।'

पाकिस्तान की परमाणु तैयारियां
(Pakistan's Efforts for Nuclear Bomb)

पाकिस्तान अपनी स्थापना के साथ ही अपने को भारत के प्रतिद्वन्द्वी व प्रतिस्पर्धी के रूप के देखता रहा है। आकार, आबादी और क्षमता के मामले में पाकिस्तान भारत की तुलना मे उन्नीस से भी कम ठहरता है। फिर भी, पाकिस्तानी नेता भारत के साथ सैनिक संघर्ष मे लाभ उठाने के उद्देश्य से 'एक कृत्रिम शक्ति-सन्तुलन' स्थापित करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं। शीत युद्ध के वर्षों मे पाकिस्तान द्वारा अमरीकी सैनिक संगठनो की सदस्यता स्वीकार करना, इसी रणनीति का हिस्सा था। लेकिन भारत के साथ 1947–48, 1965 तथा 1971 की सैनिक मुठभेड़ों में पाकिस्तान के इन प्रयत्नों की निरर्थकता उजागर हुई। परिणाम-स्वरूप पाकिस्तान अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए कोई और विकल्प ढूंढने को प्रेरित हुआ। जुल्फिकार अली भुट्टो ने इस संदर्भ मे पाकिस्तान द्वारा परमाणु हथियार बनाने की बात सुझायी। उस वक्त (1972–73 मे) अधिकांश भारतीय विद्वानो को लगता था कि यह पाकिस्तान के लिए मृग मरीचिका है। परन्तु आज यह बात सामने आने लगी है कि यह मरीचिका नही, बल्कि एक भयावह दुःस्वप्न है, जो किसी भी क्षण पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के लिए सर्वनाशक यथार्थ में बदल सकता है।

पाकिस्तान के भूतपूर्व राष्ट्रपति जनरल जिया उल हक समय-समय पर दोहराते थे कि 'उनके देश की न तो परमाणु बम बनाने की मंशा है और न ही उसके पास इसके निर्माण के लिए पर्याप्त साधन हैं। उनका देश परमाणु ऊर्जा का उपयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए करना चाहता है।' मगर उनका यह दावा खोखला साबित हो चुका। इसकी मिसालें हैं—अमरीका द्वारा चीन के साथ किये गये परमाणु सहयोग समझौते को संसद की पुष्टि के लिए पेश न करना और सीनेटर एलन क्रेन्स्टन द्वारा अमरीकी संसद में पाकिस्तान के परमाणु मन्सूबे के बारे में पेश

हाइड्रोजन बम भी बना सकते हैं।'' यदि पाकिस्तानी सरकार ने कहा तो हम उसे परमाणु बम बनाकर दे देंगे।' इस साक्षात्कार पर अमरीका मे काफी हो हल्ला मचा और सीनेट की वैदेशिक सम्बन्ध समिति ने पाकिस्तान को 3·2 अरब डालर की सहायता की एक किस्त देने में अडगा लगा दिया और माग की कि राष्ट्रपति रीगन इस आशय का लिखित प्रमाण पत्र दें कि पाकिस्तान ने न तो परमाणु बम बनाने की क्षमता हासिल की है और न ही वह इसे पाने की कोशिश कर रहा है। रीगन ने ऐसे प्रमाण पत्र देने मे असमर्थता व्यक्त की, लेकिन वह अपनी रिपब्लिकन पार्टी के सदस्यो के जरिये पाकिस्तान के लिए सहायता की उक्त किस्त मजूर कराने में कामयाब रहे।

अप्रैल, 1984 मे अमरीका जिन तीन प्रमुख कारणो से चीन के साथ परमाणु सहयोग समझौता करने को प्रेरित हुआ, वे थे—चीन द्वारा किसी अन्य देश को परमाणु बम बनाने मे मदद न देने का आश्वासन, पाकिस्तान के परमाणु प्रयासो को व्यर्थ का दुस्साहस और बडबोलापन मानना और रीगन द्वारा इस समझौते को राष्ट्रपति चुनाव (नवम्बर, 1984) मे एक सशक्त बैसाखी के रूप में इस्तेमाल करने की मन्शा। परन्तु बाद मे रीगन ने राष्ट्रपति चुनाव में इस बैसाखी को इस्तेमाल करने का विचार त्याग दिया, जिसका यही मतलब लगाया गया कि अमरीका को ऐसे ठोस सबूत मिले हैं, जिनसे साबित होता है कि पाकिस्तान परमाणु बम बनाने में मुस्तैदी से कार्य कर रहा है और चीन इसमें बडे पैमाने पर मदद कर रहा है। अमरीका को यही डर है कि इस समझौते के तहत वह जो परमाणु टैक्नोलोजी चीन को देगा, वह उसे पाकिस्तान को भी दे देगा, जिससे वह भी परमाणु बम बनाने में समर्थ हो जायेगा।

इस बीच सीनेटर एलन क्रेन्स्टन ने इस बारे में सनसनीखेज जानकारियाँ दीं। उन्होने अपने दस्तावेज में कहा है कि पाकिस्तान ने काहुता के यूरेनियम सवर्धन सयन्त्र का विस्तार किया है। इस सयन्त्र के लिए अभी भी टर्की के जरिये खासकर पश्चिम जर्मनी व फ्रास की कम्पनियों से परमाणु उपकरण पहुँच रहे हैं। पाकिस्तान प्लुटोनियम को पुन. सशोधित करने का कार्य गोपनीय रूप से कर रहा है, जिससे वह हर वर्ष एक परमाणु हथियार बना सकता है। उसने परमाणु हथियार डिजाइन दल 'वाह ग्रुप' का विस्तार किया है। पाकिस्तान के पास परमाणु हथियार छोड़ने की क्षमता भी है।

एलन क्रेन्स्टन ने अपने दस्तावेज म चीन-पाक परमाणु साँठ-गाँठ का जिक्र विस्तार से किया। उन्होंने कहा कि ये दोनो देश एक-दूसरे के फायदे के लिए परमाणु सहयोग कर रहे हैं। चीन पाकिस्तान को 'सेन्ट्रीफ्यूज' बनाने में उठ खडी हुई इन्जीनियरिंग समस्याओ को हल करने में मदद दे रहा है तो इसके बदले मे पाकिस्तान ने चीन को यूरेनियम-सवर्धन की वे विधियाँ और बम डिजाइनें उपलब्ध करा दी हैं, जो डा० कादिर खाँ ने हालैण्ड की एक परमाणु भट्टी से चुराई थीं। चीन पाकिस्तान को परमाणु परीक्षण सम्बन्धी आँकडे उपलब्ध करा रहा है। चीन पाकिस्तान को परमाणु बम की 'ट्रिगर टेक्नीक' भी सिखा सकता है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर एलन क्रेन्स्टन ने अन्त में कहा कि चीन की इस मदद से पाकिस्तान बिना परीक्षण किये परमाणु बम बनाने मे समर्थ हो जायेगा।

तब से अब तक यह बात निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि पाकिस्तान

मात्रा मे धन जुटाने में सफल रहे। पाकिस्तान जहाँ एक तरफ फ्रांस व अन्य पश्चिमी देशों से परमाणु उपकरण एकत्र करने लगा, वहीं दूसरी ओर परमाणु विशेषज्ञ तैयार करने का कार्यक्रम चल रहा था। उसने तस्करी व फर्जी कम्पनियों के नाम से बड़े पैमाने पर परमाणु साज-समान हासिल करना भी आरम्भ कर दिया।

इस बीच यह रहस्योद्घाटन हुआ कि पाक वैज्ञानिक डा० अब्दुर कादिर खाँ हालैण्ड की एक परमाणु भट्टी से यूरेनियम संवर्धन (Enrichment) की 'सेन्ट्रीफ्यूज विधि के बारे में चोरी-छिपे जानकारी कर रहे थे। कहते हैं कि उन्होंने अपनी एक डच प्रेमिका की मदद से 'सेन्ट्रीफ्यूज प्रोसेस' की गुप्त कुंजियाँ सीख ली और उन्हें यूरेनियम संवर्धन के अत्यन्त परिष्कृत फार्मूले और बम डिजाइनें चुराने में कामयाबी मिल गयी। दिसम्बर, 1975 में वह पाकिस्तान भाग गये, जहाँ उन्हें काहुता के यूरेनियम-संवर्धन संयन्त्र का कार्यभार सौंपा गया।

इसके बावजूद अमरीका ने पाकिस्तान की परमाणु तैयारियों को गम्भीरता से नहीं लिया। सम्भवतः उसका ख्याल था कि पाकिस्तान अकेले परमाणु बम बनाने मे सफल नहीं होगा। जब दिसम्बर, 1979 मे अफगानिस्तान में सोवियत संघ ने सैनिक हस्तक्षेप किया तो अमरीका ने पाकिस्तान को 'सुरक्षा आवश्यकता' के नाम पर 3·2 अरब डालर मूल्य की आर्थिक व शस्त्रास्त्र की बड़ी सहायता देने की घोषणा कर डाली। मगर अमरीका इस तथ्य को नजरअन्दाज कर गया कि पाकिस्तान ने गोपनीय तरीके से परमाणु बम बनाने सम्बन्धी काफी उपकरण व सामग्री एकत्र कर ली है और चीन भी उसके इस प्रयास में बड़े पैमाने पर मदद दे रहा है।

हालांकि फरवरी, 1983 मे तत्कालीन अमरीकी उप विदेश मन्त्री हारवर्ड स्केफर ने एक ससदीय समिति के समक्ष दिये गये अपने साक्ष्य के दौरान स्वीकार किया था कि पाकिस्तान परमाणु बम बनाने में सक्रिय है। मगर एक तरफ पाकिस्तान सरकार बार-बार परमाणु बम न बनाने की कसमें खाती रही तो दूसरी ओर अमरीकी प्रशासन यह मानता रहा कि पर्याप्त साधनों के अभाव मे पाकिस्तान अततः परमाणु बम बनाने का इरादा छोड़ देगा। उसका यह भी ख्याल था कि पाकिस्तान को दी जा रही 3·2 अरब डालर की आर्थिक व शस्त्रास्त्र मदद उसे परमाणु बम बनाने के मसूबे से विमुख करेगी।

इस बीच जनवरी, 1984 मे चीन अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी का सदस्य बन गया, जिससे अमरीका की चीन द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली परमाणु मदद के बारे में आशकाएं खत्म हो गयी। साथ ही यह आशा की गयी कि चीन अब परमाणु मसले पर सयमित और जिम्मेदारीपूर्ण ढग से आचरण करेगा। जनवरी, 1984 मे ही चीनी प्रधानमन्त्री झाओ जियाग ने अपनी वाशिंगटन यात्रा के दौरान सार्वजनिक रूप से आश्वासन दिया कि उनका देश किसी अन्य राष्ट्र को परमाणु हथियार बनाने मे मदद नहीं करेगा।

मगर फरवरी, 1984 मे डा० अब्दुर कादिर खाँ ने लाहौर के 'नवाये वक्त' नामक अखबार को चौंका देने वाला साक्षात्कार दिया। उन्होंने कहा कि 'पाकिस्तान ने कुछ ही वर्षों मे 'सेन्ट्रीफ्यूज विधि' के जरिये यूरेनियम सवर्धित करने की टैक्नोलोजी पा ली है, जबकि पश्चिम के देशों को इसे पाने मे दो दशक जितना लम्बा समय लगा था।'''इस क्षेत्र में हमने भारत को भी पीछे छोड़ दिया है''' हम

दुगुना हो जायेगा। ऐसी परिस्थिति मे जरूरत इस बात की है कि भारत जहाँ एक ओर चीन-पाक परमाणु मिलीभगत पर कडी नजर रखे, वही दूसरी ओर वह अपने समक्ष मौजूद परमाणु विकल्पो पर पुनर्विचार करे।

रंगभेद की समस्या : दक्षिण अफ्रीका व नामीबिया
(Problem of Apartheid South Africa & Namibia)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं, जो दशको तक उलझी रहती है। उनके स्पर्श भर से अन्य समस्याएँ भी जटिलतर हो जाती हैं। कई वर्ष बीत जाने के बावजूद भी ये समस्याएँ विस्फोटक बनी रहती है और ऐसा जान पडता है कि राजनय या छापामार अथवा पारम्परिक युद्ध के माध्यम से भी इनका समाधान नही ढूंढा जा सकता। दक्षिण अफ्रीकी सरकार की रंगभेद नीति लगभग आठ नौ दशको मे विश्व के सामने ऐसी ही चुनौती पेश करती रही है।

रंगभेद नीति के तीन बुनियादी पहलू—दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न के साथ आरम्भ से ही तीन बुनियादी पहलू आपस मे गुथे रहे है। ये हैं—(1) औपनिवेशिक उत्पीडन और शोषण, (2) रंगभेद की अमानवीय बर्बर 'नीति', तथा (3) साम्राज्यवादी सामरिक षड्यन्त्र। बहुत सक्रिय ढग से दृष्टिपात करने पर यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इन तीनो पहलूओ मे आपस मे सिर्फ अन्तर-द्वन्द्व ही नही है बल्कि ये एक दूसरे को खतरनाक ढग से पुष्ट करते हैं।'[1]

रंगभेद समस्या की जड़ें—रंगभेद की समस्या की जडें 19 वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यूरोप से जर्मन और डच औपनिवेशिकों के उस निष्क्रमण (Exodus) तक ढूंढी जा सकती हैं, जिसने अफ्रीका के दक्षिणी हिस्से को आबाद किया। आरम्भ से ही इस औपनिवेशिकीकरण और अन्यत्र औपनिवेशिकीकरण मे अन्तर था। पूर्वी अफ्रीका हो या रोडेशिया या फिर बल्जियायी कागो या फ्रासीसी सोमालिया, इन उपनिवेशो का अपने स्वामी देश, 'मातृ-पितृ देश' से नाता टूटा नही था। सम्प्रभु देश का नियन्त्रण औपनिवेशिक शासको पर बना रहा और उनका शैक्षणिक, आर्थिक व सास्कृतिक जीवन पर निर्द्वन्द्व वर्चस्व रहा।

दक्षिण अफ्रीका मे स्थिति अपवाद स्वरूप रही। प्रवासी डच और जर्मन, जो आगे चलकर 'बोयर' नाम से प्रसिद्ध हुए, दूरी तथा अन्य ऐतिहासिक कारणो से अपने जन्म स्थान से कट से गये। उन्होने एक नई भाषा और एक विशेष 'अफ्रो-यूरोपीय जीवन शैली' विकसित की, जो आज 'अफ्रीकान सस्कृति' के नाम से जानी जाती है। सयोग से जिस भूमि को उन्होने अपनाया, वह न केवल शस्य श्यामल थी, बल्कि स्वर्ण, हीरो, क्रोमियम और आगे चलकर यूरेनियम जैसे दुर्लभ खनिजो से समृद्ध थी। दक्षिण अफ्रीका की भू-राजनीतिक स्थिति भी ऐसी थी कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार या अपनी सुरक्षा के लिए किसी अन्य देश पर निर्भर रहने की जरूरत नही थी। जब तक अफ्रीकी महाद्वीप मे उपनिवेशवादी उथल-पुथल का ज्वार नहीं उठा था, तब तक अल्प-सख्यक यूरोपीय आव्रजक विशेषाधिकार सम्पन्न व सुविधाभोगी शासको के रूप मे निरापद रह सकते थे। बोयर मूल के अफ्रीकान शासक वर्ग ने अपने स्वार्थ साधने के लिए यह दूरदर्शिता बरती कि उसने भविष्य मे गद्दी के लिए खतरा बन सकने वाले सभी तत्वो का नितात बर्बरता से दमन किया।

[1] देखें—Wilfred Burchett, *Southern Africa Stands Up* (Calcutta, 1980)

ने परमाणु बम बना लिया है। भारतीय रक्षा अध्ययन संस्थान के भूतपूर्व निदेशक के० सुब्रह्मण्यम हमेशा से यह कहते रहे है कि पाकिस्तान को अपने बम के परीक्षण की सामरिक दृष्टि से कोई भी आवश्यकता नही है। सुब्रह्मण्यम यह बात भी रेखांकित करते रहे हैं कि भारत इस विषय मे आश्वस्त नही बैठ सकता, क्योंकि रेडियोधर्मिता आदि के डर से पाकिस्तान परमाणु अस्त्र के प्रयोग से हिचकिचाने वाला नहीं। यह आवश्यक नही कि पाकिस्तान भारत के नागरिक ठिकानों पर ही परमाणु हमला करेगा। इसका सबसे बड़ा लाभ तो मनोवैज्ञानिक दबाव डालने वाला होगा। चूंकि के० सुब्रह्मण्यम उग्र राष्ट्रवादी समझे जाते है, अतः पाकिस्तानी बम-विषयक उनका विश्लेषण अनेक लोगों को अतिरंजनापूर्ण लगता रहा है।[1] फिर भी, हाल में ऐसे रहस्योद्घाटन हुए हैं, जिनके बाद किसी असमंजस की कोई गुंजाइश नही रह गयी है।

प्रसिद्ध भारतीय पत्रकार कुलदीप नैय्यर की पाकिस्तान यात्रा के दौरान पाकिस्तान बम के जनक डा० अब्दुल कादिर खाँ ने उनके साथ एक सनसनीखेज साक्षात्कार के दौरान यह बात 'स्वीकार' की कि पाकिस्तान ने परमाणु बम बना लिया है। बाद मे पाकिस्तानी राजनयिकों ने इस बात को लेकर बड़ा शोर मचाया कि कुलदीप नैय्यर ने डा० कादिर खाँ के साथ सिर्फ अनौपचारिक बातचीत की थी और उन्होंने अपने मेजबान के साथ बेवफाई की आदि। पाकिस्तान के कुछ भारतीय मित्रों ने इस बात को तूल दिये जाने पर नाराजगी जाहिर की और यह मत सामने रखा कि यह रहस्योद्घाटन सिर्फ राजनयिक रस्साकशी का एक हिस्सा था। परन्तु इस बात को अनदेखा नही किया जा सकता कि कुलदीप नैय्यर के वृतान्त और विश्लेषण मे किसी भी बात का 'प्रामाणिक प्रतिवाद' अब तक प्रकाशित नही किया गया है। इन्ही दिनों अमरीकी सीनेट की विशेष समिति की सुनवाइयों मे विभिन्न अमरीकी विशेषज्ञों ने यही राय सप्रमाण प्रस्तुत की कि पाकिस्तान बम बना चुका है।

तदुपरान्त डा० परवेज नामक एक और पाकिस्तानी वैज्ञानिक यूरोप मे परमाणु गुप्तचरी करते हुए पकड़ा गया। इस प्रकार पाकिस्तानी परमाणु परियोजना शृंखला की कोई भी कड़ी अब अदृश्य नही रह गयी है। इन्ही दिनों यह मुद्दा भी चर्चित रहा कि यदि पाकिस्तान अपने परमाणु संयन्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण-नियन्त्रण के लिए तैयार नही होता तो उसे अमरीकी सहायता का हकदार नही समझा जा सकता। परन्तु अफगान संकट के रहते और खाड़ी के क्षेत्र में बढ़ते तनाव के कारण अमरीकी सरकार अपने सामरिक दावों के अनुसार पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम के बारे मे अंधी, गूँगी और बहरी बनी रहने को मजबूर रही।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बनाने की कोशिशों और उसमे चीन द्वारा मदद देने से भारत अप्रभावित नही रह सकता, क्योंकि ये दोनों देश भारत के पड़ोसी है और इनके साथ भारत के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं। चीन 1964 से ही परमाणु हथियार सम्पन्न है और यदि पाकिस्तान भी इस खतरनाक परमाणु खिलौने को बना लेता है तो भारत के समक्ष सुरक्षा का खतरा

[1] पाकिस्तानी बम से उत्पन्न सामरिक चुनौती के विस्तृत अध्ययन के लिए देखें—Major General D. K. Palit and P. K. S. Namboodiri, *Pakistan's Islamic Bomb*, (Delhi, 1979) 138–150.

नेल्सन मडेला इसके एक प्रमुख उदाहरण हैं। जिन लोगो ने सिविल नाफरमानी का नहीं, बल्कि हिंसक बगावत का मार्ग चुना है, उन्हे अधिक सफलता नही मिली। ऐसे लोग कटखने कुत्तो, अश्रुगैस, घुडसवार सैनिको और गोलियो का सामना करते हुए दर्जनो की तादाद मे बलि होते रहे हैं। दक्षिण अफ्रीकी सरकार निहत्थे अश्वेतो की निर्मम हत्या से असन्तुष्टो को सबक सिखाने में कभी नही हिचकिचायी। शार्पविल और सुवेतो के हत्याकाड ऐसे ही उदाहरण है। सयुक्त राष्ट्र सघ, राष्ट्रमडल और गुट निरपेक्ष आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय जनमत तैयार कर दक्षिण अफ्रीका की दुष्ट सरकार को दण्डित या अनुशासित करने मे पूरी तरह से असमर्थ रहे हैं। राष्ट्रमडल से निष्कासन या अन्तर्राष्ट्रीय खेलकूद प्रतियोगिताओ से बहिष्कार का कोई प्रभाव दक्षिण अफ्रीका पर नही पडा। इसी तरह सयुक्त राष्ट्र सघ की आम सभाओ मे उसकी निरन्तर भर्त्सना और वर्जना करने वाले प्रस्तावो का अनुमोदन एक वार्षिक अनुष्ठान भर बनकर रह गये हैं। दक्षिण अफ्रीका के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्धों की चर्चा वर्षो मे होती रही है, पर अमरीका व ब्रिटेन का सहयोग न मिलने के कारण इनका अस्तित्व नामोल्लेख भर के काम का रह गया है।

जब सयुक्त राष्ट्र सघ का पूर्ववर्ती सगठन राष्ट्र सघ सक्रिय था, तब नामीबिया का विस्तृत प्रदेश 'मेडेट' व्यवस्था के तहत निगरानी और हिफाजत के लिए दक्षिण अफ्रीका को सौंपा गया था। मेडेट व्यवस्था की दुर्बलताओ और कमियो के विश्लेषण का यहाँ अवकाश नही, फिर भी इस उत्तरदायित्व के निर्वाह मे दक्षिण अफ्रीका ने जितनी बेईमानी की है, वह उल्लेखनीय है। मेडेट व्यवस्था का अर्थ था अधिकृत प्रदेश को आत्म निर्भरता, आर्थिक विकास और स्वशासन के लिए तैयार करना। दक्षिण अफ्रीका ने निहायत धूर्तता के साथ चुनावो का दिखावा पूरा करते हुए इस भू भाग को एक ऐसे उपनिवेश मे बदल दिया, जिसकी दशा किसी भी पारम्परिक उपनिवेश से बदतर बनी। इसी तरह बाटूस्तान तथा स्वाजीलैंड के उदाहरण लें, जिनकी स्वायत्तता घोषणा पत्रो तक सीमित है। इनका निरूपण ऐसे किया गया है जैसे अजूबे आदिवासियो को अजायबघरो सग्रहालयो म रखा गया हो और इन पर आसानी से नियन्त्रण रखा जा सके।

दक्षिण अफ्रीका की ताकत

एक लम्बे समय से यह अटकल लगायी जाती रही है कि अग्रिम पक्ति के राष्ट्रो की आजादी के बाद दक्षिण अफ्रीका मे मुक्ति सग्राम तेज होगा और इसके दबाव से दक्षिण अफ्रीका में आन्तरिक राजनीतिक दबाव बढेंगे। परन्तु कई कारणो से ऐसा नहीं हुआ। अग्रिम पक्ति के अफ्रीकी राष्ट्र सैनिक सामर्थ्य के मामले म दक्षिण अफ्रीका की तुलना मे बेहद कमजोर हैं और अनेक देश भूमिबद्ध हैं। सात ऐसे भूमिबद्ध देशों क कुल व्यापारिक सामान का 50 प्रतिशत हिस्सा दक्षिण अफ्रीका के माध्यम से गुजरता है। अफ्रीका मे बिछी रेल पटरिया का एक-चौथाई हिस्सा दक्षिण अफ्रीका में हैं और इस रगभेदी देश क छह हजार रेल-डिब्बे अश्वेत देशो का माल ढोते हैं। यदि दक्षिण अफ्रीका जवाबी हमले म अश्वेत मजदूरो को काम पर लेना बन्द कर दे तो लेसोथो जैस देश का 40 प्रतिशत राष्ट्रीय उत्पाद नष्ट हो जायेगा। दक्षिण अफ्रीका की प्रतिक्रियावादी सरकार के पक्षधर गोरे अमरीकी एव अग्रेजो का कहना है कि रगभेद के विरुद्ध सघर्ष तज करने का बुरा परिणाम होगा,

साथ ही ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक गठबन्धन किये जिससे पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों का उसे समर्थन मिलता रहे। दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद की यह नीति, जो 'अपारथाइड' (Apartheid) के नाम से कुख्यात है, अंग्रेजों से लोहा लेने के लिए गांधी जी की प्रेरणा बनी।
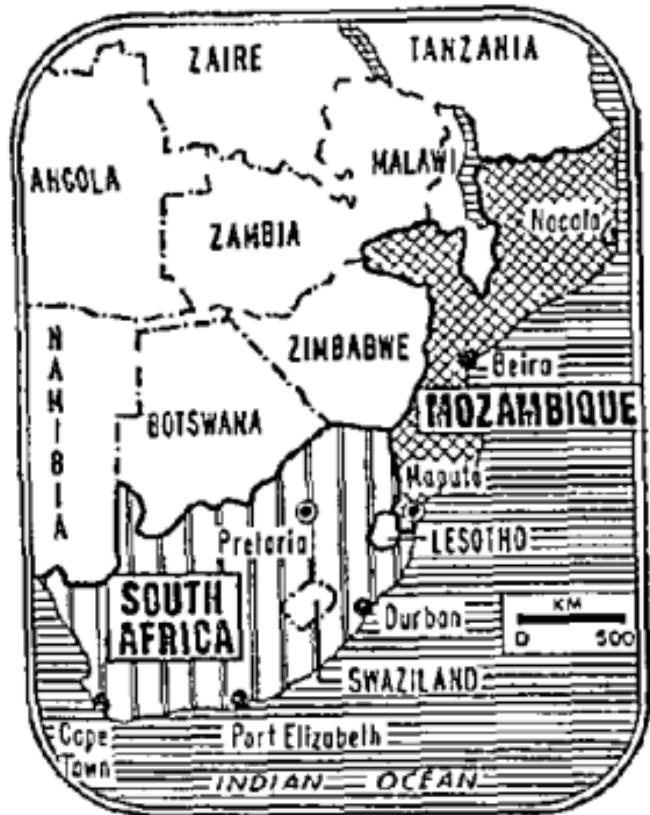
दक्षिणी अफ्रीका : समस्या-स्थल

रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ एशिया और अफ्रीका में सर्वत्र स्वाधीनता संग्राम तेज हुआ और अन्ततः यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियाँ वापस लौटने को विवश हुईं। किन्तु यह बात दक्षिण अफ्रीका पर लागू नहीं की जा सकी क्योंकि अफ्रीकान लोगों का तर्क था कि उनके लिए 'मातृ-पितृ देश' लौटकर जाने कि कोई जगह नहीं बची रही है। इसे कुतर्क ही कहा जा सकता है, क्योंकि यदि इन आप्रवासियों को मूल स्थानीय अफ्रीकियों के समकक्ष मान भी लिया जाये तो उनकी भेदभाव वाली नीतियों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। आज दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले गोरे लोग कुल आबादी के सिर्फ दस प्रतिशत हैं, किन्तु आवास, शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार, भूमि पर स्वामित्व व मतदान सभी क्षेत्रों में उनका दमघोंटू आधिपत्य है। अश्वेत लोग पशुवत जीवन यापन करने को विवश हैं और असहमति का स्वर मुखर करने वाले अफ्रीकी राष्ट्रवादी कांग्रेस के सदस्य दशकों तक जेल में बन्द रखे जाते हैं। 28 साल का कारावास भोग चुके

अधिक संतोष का विषय तो यह है कि दक्षिण अफ्रीका में राष्ट्रपति डि क्लार्क ने काफी जोखिम उठाते हुए रंगभेद को क्रमशः समाप्त करने की दिशा में सार्थक कदम उठाया है। खेल के मैदान में नस्लीय भेदभाव का अंतर दृष्टिगोचर हो रहा है। अफ्रीकी मूल के विश्व विख्यात क्रिकेट खिलाड़ी गैरी सोबर्स का दक्षिण अफ्रीकी-दौरा बहुत सफल रहा। उसके बाद सुनील गावस्कर की दक्षिण अफ्रीका यात्रा पर भी भारत सरकार ने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। भारतीय फिल्म अभिनेताओं, पार्श्व गायक-गायिकाओं को भी अपेक्षाकृत आसानी से दक्षिण अफ्रीका की यात्रा की अनुमति दे दी गई। इसीलिए कि दक्षिण अफ्रीकी सरकार को यह संकेत मिले कि वह रंगभेद की नीति को समाप्त करे तो उसे पुरस्कृत किया जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी उसका बहिष्कार समाप्त करेगी और वह उसे अस्पृश्य नहीं समझेगी। यह स्पष्ट है कि आर्थिक प्रतिबन्ध निषेध और सोच-समझ कर किये गये संयत सम्पर्कों के संतुलन वाला राजनय ही दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति के लिए कारगर सिद्ध हो सकता है।

नामीबिया की आजादी एवं नई चुनौतियाँ
(Independence to Namibia and New Challenges)

अफ्रीकी महाद्वीप में नामीबिया द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति एक ऐसी घटना है जिसका सही ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यांकन किया जाना अभी बाकी है। दशकों तक यह सोचा जाता था कि इस भू-भाग पर दक्षिण अफ्रीका द्वारा इतने जबर्दस्त ढंग से जबरन कब्जा किया गया है कि उसके शिकंजे से यह छूट नहीं सकता। यह अटकल भी लगायी जाती थी कि भूगर्भीय सम्पदा के दोहन के लिए उत्सुक पश्चिमी राष्ट्र इस मामले में दक्षिण अफ्रीका के साथ अपनी मुनाफाखोर साझेदारी जारी रखेंगे। अंगोला या मोजाम्बिक जैसा कोई जुझारू संघर्ष भी नामीबिया में नहीं चल रहा था। बहरहाल, इस सारे घटनाक्रम से यही उजागर होता है कि कभी-कभार ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की क्रमशः प्रगति भी निर्णायक बन जाती है। नामीबिया को काफी लंबे संघर्ष के बाद अन्ततः 21 मार्च, 1990 को आजादी मिली।

नामीबिया का महत्व—हीरो, यूरेनियम, सोना तथा अन्य कीमती धातुओं जैसी प्राकृतिक सम्पदा से ओत-प्रोत इस देश में मात्र 80 हजार श्वेत नागरिक थे, जबकि अश्वेतों की संख्या 13 लाख थी। हालांकि नामीबिया का पुराना नाम दक्षिण पश्चिम अफ्रीका है लेकिन 1968 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने इसका नाम बदल कर नामीबिया रख लिया। प्राकृतिक सम्पदा के अपार भंडार के कारण 17वीं शताब्दी में यूरोपीय देश नामीबिया की ओर आकर्षित हुए, जो विश्व में जगह-जगह उपनिवेश स्थापित करते जा रहे थे। फिर भी, दक्षिण पश्चिम अफ्रीका को शीघ्र ही उपनिवेश नहीं बनाया जा सका। 1884 में जर्मनी ने नामीबिया को अपना संरक्षित राज्य (Protectorate State) घोषित कर दिया। मगर, पहले विश्व-युद्ध के दौरान 1915 में दक्षिण अफ्रीकी सेनाओं ने जर्मनी को परास्त कर नामीबियाई भू-भाग पर कब्जा जमा लिया।

मेंडेट व्यवस्था—1920 में राष्ट्र संघ ने मेंडेट व्यवस्था के तहत प्रशासन चलाने के लिए दक्षिण अफ्रीका को नामीबिया सौंपा। राष्ट्र संघ के विघटन के बाद भी दक्षिण अफ्रीका ने इसे अपने कब्जे से मुक्त नहीं किया। 1946 में सं० रा०

जिसका खमियाजा अश्वेत लोगों को भुगतना पड़ सकता है। ऐसे लोगों का मानना है कि क्रमशः सुझाव व दबाव से सुधार के लिए ही प्रयत्न करना होगा।

दूसरी ओर दक्षिण अफ्रीका सरकार स्वदेश में असन्तोष और असहमति का स्वर दबाने में सफल रही है। अनेक संवेदनशील व समझदार दक्षिण अफ्रीकी गोरे लोग अन्यत्र जा चुके हैं। नेल्सन मंडेला जैसे अश्वेत नेताओं को दशकों तक जेल में बन्द रहने के कारण अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस की लोकप्रियता को भारी नुकसान पहुँचा। हम भारतवासी भले ही कुछ भी सोचें किन्तु दक्षिण अफ्रीका में गांधीवादी शान्तिप्रिय व असहयोग आन्दोलन चलाने की घड़ी कब की बीत चुकी है।

दक्षिण अफ्रीकी नगरों व कस्बों में हुए हिंसक दंगे एवं आगजनी की वारदातों से यह प्रकट होता है कि युवा अश्वेत लोगों का धैर्य चुक गया है। परन्तु दुर्भाग्य का विषय यह है कि उनके गुस्से के शिकार उत्पीड़क गोरे लोग नहीं, बल्कि अपना पेट पालने के लिए गोरों के साथ सहकार करने को मजबूर इनके ही अश्वेत भाई बन्धु हैं। यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि यदि अमरीका, जर्मनी, ब्रिटेन आदि जैसे बड़े देश दक्षिण अफ्रीका से अपनी पूँजी वापस लाना आरम्भ करेंगे तो तेज होते आर्थिक संकट के साथ क्लार्क सरकार घुटने टेकने को विवश होगी। कुछ साल पूर्व कुछ बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों और बैंकों ने अन्तर्राष्ट्रीय जनमत के प्रभाव में दक्षिण अफ्रीका से अपना कारोबार समेटना आरम्भ किया था, परन्तु क्षणिक उत्तेजना शान्त होने के साथ ही इनकी सम्भावना भी चूक गयी। बोथा की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य यह था कि वह संकीर्ण राष्ट्रीय हित के गान पर और शीत युद्ध के तर्क दोहरा कर अपने हिमायतियों का भयादोहन करते रहे। मसलन, मारग्रेट थैचर की सरकार, जो गरीबी और बेरोजगारी से जूझती रही, यह कतई बर्दाश्त नहीं कर सकती थी कि दक्षिण अफ्रीका में लगी लगभग सात अरब पौंड की उसकी पूंजी मानवतावादी नीतियों के कारण खटाई में पड़ जाये। इसी तरह बोथा सरकार अमरीकी राष्ट्रपति रीगन को अंगोला में सोवियत सैनिक सलाहकारों की याद दिलाते रहकर अपने अनुकूल करती रही।[1]

भारतीय भूमिका—दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने गुट निरपेक्ष आन्दोलन की एकता में फूट डालने की कोशिश की। उसने लंका में जातीय-समस्या जनित गृह युद्ध में भाड़े के सिपाही व सलाहकार भेजकर रंगभेद के कट्टर विरोधी भारत को लम्बे समय तक अन्यत्र उलझाये रखने का प्रयत्न किया था। अपनी गद्दी सुरक्षित रखने की बोथा की रणनीति का एक और पक्ष था। यदि उनकी मन्त्रिपरिषद् का एक सदस्य कट्टरपंथी रुख अपनाता था तो दूसरा सदस्य अन्य देशों को भ्रम में डालने के लिए सुधारवादी चेहरा प्रस्तुत करता था। बोथा सरकार दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों का कुटिलतापूर्ण उपयोग काफी लम्बे समय से करती रही।

भारत रंगभेद के विरोध की नीति पर पूर्ववत अटल है और यह संतोष का विषय है कि इसके अच्छे परिणाम धीरे-धीरे सामने आने लगे हैं। नामीबिया आजाद हो चुका है और नेल्सन मंडेला 25 वर्ष जेल में रहने के बाद रिहा हो गए। सबसे

[1] रंगभेद की समस्या के अन्तर्राष्ट्रीय आयाम के बारे में विस्तृत विश्लेषण के लिए देखें—Mai Palmberg (ed.), *The Struggle for Africa* (London, 1983) and E. S. Reddy, *Struggle for Freedom in Southern Africa: Its International Significance* (Delhi, 1987).

अनुमान के अनुसार इसके लिए उसे 35 करोड अमरीकी डालर की सहायता की जरूरत होगी, जिसे जुटाना आसान काम नही है। नामीबिया विभिन्न स्रोतो से यह मदद पाने की जी-तोड कोशिश कर रहा है। भारत ने उसे 1 20 करोड डालर की द्विपक्षीय मदद देने की घोषणा की।

दूसरी समस्या वहाँ रगभेदी शासन से पैदा हुए सामाजिक और आर्थिक असतुलन को दूर करने सम्बन्धी है। जहाँ दक्षिण अफ्रीका ने अपने शासन काल के दौरान नामीबिया मे अश्वेता के कई गुटो को प्रोत्साहित कर उन्हे आपस में लडाया वही जनता की आर्थिक हालत सुधारने के लिए कोई ठोस कदम नही उठाया। वहाँ आज भी तीस प्रतिशत श्रमिक बेरोजगार हैं। अधिकाश अश्वेत अशिक्षित हैं। वहाँ आजादी के बावजूद नामीबिया को स्वय अपनी मुद्रा का प्रचलन शुरू नहीं हुआ है। अभी भी वहाँ दक्षिण अफ्रीकी मुद्रा 'रैंड' का प्रचलन है। अत देश मे सामाजिक व आर्थिक असतुलन का उन्मूलन कोई आसान कार्य नही होगा।

तीसरी समस्या नये नामीबियाई सविधान के निर्माण की है। चुनाव मे सत्ताधारी स्वापो को दो तिहाई बहुमत नही मिला, जो प्रस्तावित सविधान को लागू करने के लिए अनिवार्य है। अत राष्ट्रपति नुयोमा को इसके लिए विपक्षी दलो पर निर्भर रहना पडेगा।

नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश
(Search for New World Economic Order)

भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू जी ने एक बार कहा था कि 'आर्थिक स्वाधीनता के बिना राजनीतिक आजादी कोई अर्थ नही रखती।' वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल विषय राष्ट्र के आर्थिक हितो का सम्पादन ही है। सास्कृतिक और सामरिक राजनय की शतरजी चालें इस राष्ट्रीय हित क सन्दर्भ मे ही समझी जा सकती हैं। हाल के वर्षों मे आर्थिक राजनय का क्रमश बढता महत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे स्वीकार किया जाता रहा है।

नई विश्व अर्थव्यवस्था की पृष्ठभूमि—ऐतिहासिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आर्थिक आयाम द्वितीय युद्ध के बाद तब उद्घाटित हुआ, जब अमरीका ने मार्शल योजना के तहत युद्ध से ध्वस्त यूरोपीय देशो के पुनर्निर्माण के लिए सहायता कार्यक्रम आरम्भ किया। इसके साथ ही जब अमरीका ने बडे पैमाने पर विदेशी सहायता को अपनी विदेश नीति के एक कारगर अस्त्र के रूप म प्रयोग किया तो इस क्रियाकलाप के साथ शीत युद्ध के तमाम कुतर्क जुड गये। द्वितीय विश्व युद्ध की परिणति के साथ पारम्परिक उपनिवेशवाद की समाप्ति भी स्पष्ट हुई। दजनो नवोदित राष्ट्र उपनिवेश से सम्प्रभु देश मे बदल गये। परन्तु इनम से अधिकाश देश अपने पैरो पर खडे होने मे असमथ थे और आत्म निर्भर विकास द्वारा सुदूर भविष्य म भी स्वावलम्बी बनन क लिए इन्हे बडे पैमाने पर विदेशी पूंजी और प्रौद्योगिकी की आवश्यकता थी। 1945 के बाद के 10-15 वर्षों म इन नवोदित देशो का पश्चिमी पूंजीवादी समर्थ-सुसहाम राष्ट्रो के साथ एक ऐसा रिश्ता विकसित हुआ, जिसे नवउपनिवेशवादी ही कहा जा सकता है। सुकार्णो और एन्क्रूमा जैसे अफ्रो एशियाई नेता, समीर अमीन जैसे अर्थशास्त्री और फ्राज फेनोन जैसे समाजशास्त्री

संघ ने बाकायदा मेंडेट समाप्ति की घोषणा कर दक्षिण अफ्रीका से नामीबिया को स्वतंत्र करने को कहा, किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने उसे नामंजूर कर दिया।

सशस्त्र संघर्ष—1960 में सेम नुयोमा के नेतृत्व में 'स्वापो' (South-West Africa Peoples Organization : Swapo) नामक संगठन का गठन हुआ, जिसने देश में तेजी से राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन चलाया। समाजवादी और तीसरी दुनिया के देशों ने इस आन्दोलन को नैतिक और भौतिक समर्थन दिया। इस बीच जहाँ एक ओर वहाँ सशस्त्र संघर्ष और तेज हुआ, वहीं दूसरी ओर स्वतंत्रता सेनानियों पर दक्षिण अफ्रीकी दमन बढ़ता गया। आजादी की माँग करने वाले इन अश्वेतों की गिरफ्तारियों, हत्याओं और उत्पीड़न का सिलसिला दिन-ब-दिन और तेज होता गया। 1971 में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने नामीबिया में दक्षिण अफ्रीकी कब्जे को अवैध करार दिया। साथ ही नामीबियाई आजादी के पक्ष में विश्व जनमत तेजी से तैयार होने लगा। इन दबावों के तहत अंततः 1972 में दक्षिण अफ्रीका नामीबिया की स्वतंत्रता के मसले को सुलझाने के लिए सं० रा० संघ को मदद देने को सहमत हुआ। इसके बावजूद अपनी बहुराष्ट्रीय निगमों के हितों की रक्षा के लिए अमरीका, ब्रिटेन और कई अन्य पश्चिमी देश नामीबिया पर दक्षिण अफ्रीकी कब्जे और वहाँ की बहुमूल्य प्राकृतिक सम्पदा के अवैध दोहन को परोक्ष तथा अपरोक्ष समर्थन देते रहे।

1978 में सं० रा० संघ ने 'स्वापो' को नामीबियाई जनता के एकमात्र प्रतिनिधि संगठन के रूप में मान्यता दी। सुरक्षा परिषद ने अपनी प्रस्ताव संख्या 435 के तहत नामीबिया में युद्ध-विराम की घोषणा की और अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में चुनाव कराने की बात कही किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने चालाकी खेलते हुए स्वयं अपने निरीक्षण में चुनाव कराये और उसमें 'स्वापो' को भाग नहीं लेने दिया। हालांकि अन्य अश्वेत संगठनों ने चुनाव में भाग लिया, किन्तु उसके नतीजों को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता नहीं मिली।

जहाँ एक ओर नामीबिया में दक्षिण अफ्रीकी दमन बढ़ रहा था, वहीं दूसरी ओर स्वापो का मुक्ति संघर्ष भी पूरे जोर पर चल रहा था। इस बीच 1988 के आते-आते अंगोला की सीमा पर एम० पी० एल० ए० और क्यूबाई सैनिकों से लड़ रहे दक्षिण अफ्रीका को भारी हानि उठानी पड़ रही थी। अमरीकी और सोवियत दबाव के कारण भी दक्षिण अफ्रीका रक्षात्मक मुद्रा में आया और अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी के एवज में दक्षिण अफ्रीका भी अंगोला और नामीबिया से चरणबद्ध ढंग से हटने पर सहमत हुआ। नवंबर, 1989 में सं० रा० संघ के तत्वावधान में नामीबिया में चुनाव हुए, जिसमें स्वापो को बहुमत मिला। मगर वह दो-तिहाई बहुमत नहीं प्राप्त कर पाया।

नई चुनौतियाँ—हालांकि चरणबद्ध ढंग से आजादी की घोषणा के तहत राष्ट्रपति सेम नुयोमा के नेतृत्व में सरकार गठित हो गयी और 21 मार्च, 1990 को नामीबिया का स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदय हो गया। वह सं० रा० संघ का 160वाँ और अफ्रीकी एकता संगठन का 51वाँ सदस्य भी बन गया। किन्तु मात्र आजादी से नामीबिया और उसकी जनता की समस्याएँ खत्म नहीं हो गयीं। नामीबिया के लिए सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वह लम्बे समय तक चले सशस्त्र संघर्ष के कारण क्षत-विक्षत हुई अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण करे। एक विश्वसनीय

अनौपचारिक सगठन उभरे, जिन्होने अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक परामर्श मे आर्थिक पक्ष को निरन्तर सामने रखा। अकटाड की बैठको के अतिरिक्त स० रा० सघ की महासभा के विशेष अधिवेशन नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सन्धान पर केन्द्रित रहे हैं।

(2) **गैट का सूत्रपात**—लगभग इसी समय गैट (General Agreement on Trade and Tariffs GATT) का सूत्रपात हुआ। भले ही आज तक इस दिशा में सीमित प्रगति हो सकी है, किन्तु इस बात को अनदेखा नही किया जा सकता कि इस मच के माध्यम से नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश सार्थक ढग से जारी रखी जा सकी है। व्यापार की शर्तों एव प्रशुल्को (Tariffs) के बारे मे कुछ ठोस प्रगति अवश्य हुई है।

(3) **विकासशील देशों की प्रमुख मांगें**—सक्षेप मे विकासशील देशो की प्रमुख मागें इस प्रकार हैं—अपने भू भाग और नियन्त्रणाधीन समुद्र एव समुद्री तल मे उपलब्ध सभी प्राकृतिक ससाधनो पर अपनी सम्प्रभुता की स्थापना, कच्चे माल की न्यायप्रद व लाभप्रद कीमतें तय करवाना विकसित देशों से आयात-उपभोक्ता सामान, सयत्र आदि मे अनावश्यक मुनाफाखोरी को रोकना, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था का सामान्यीकरण, विकासशील देशो पर विदेशी सहायता और अन्तर्राष्ट्रीय ऋण के जानलेवा बोझ को कम करना, समृद्ध-समर्थ देशो के अदृश्य उत्पीडक एजेंटो के रूप मे बहुराष्ट्रीय निगमो की गतिविधियो पर अकुश लगाना, और व्यापार की शर्तों मे सुधार।

(4) **घोषणा पत्र**—स० रा० सघ की महासभा ने 1974 मे अपने एक विशेष अधिवेशन मे नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था हेतु एक घोषणा पत्र जारी किया और एक कार्यक्रम अगीकार किया। समाजवादी देशो ने भी इसका समर्थन किया। इसमे उपर्युक्त सभी मुद्दो-मागो का समावेश किया गया था। स्पष्ट है कि कुल मिलाकर नई विश्व अर्थव्यवस्था की खोज दो-तीन प्रमुख मुद्दों तक सिमटी है जबकि अन्य मागें उन्ही का विस्तार या परिष्कार है—गरीब राष्ट्रो को उनके ससाधनो की वाजिब कीमत मिले उनके द्वारा खरीदी जाने वाली सामग्री सयत्र आदि मे अन्धाधुन्ध मुनाफाखोरी न हो तथा प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण (Transfer of Technology) इस तरह किया जाये कि अन्तत अफ्रो-एशियाई देशो के स्वावलम्बी बनने की सम्भावना पुष्ट हो। इनके माध्यम से दमघोटू नव-उपनिवेशवादी शिकन्जा न जकडा जाये। जाहिर है कि यह सभी लाभ तब तक प्राप्त नही हो सकते, जब तक कि विदेशी सहायता के स्वरूप और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सस्थाओ के क्रियाकलाप बुनियादी तौर पर परिवर्तित नहीं होते। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सुधार भी इससे जुडा हुआ प्रश्न है।

सामूहिक परामर्श पर बल—इन सब बातो को मद्दे नजर रखते हुए अफ्रो-एशियाई राष्ट्रो ने अनौपचारिक ढग से ही सही, यह तय किया है कि विकसित देशो की कृपा पर निर्भर रहने या उनके सामने याचक की मुद्रा मे खडे रहने की अपेक्षा 'एकता मे बल है' की उक्ति के अनुसार स्वय विकासशील देशो मे सामूहिक परामर्श पर बल दिया जाये, क्योंकि वह उनके लिए लाभप्रद हो सकता है। इसीलिए उत्तर-दक्षिण सवाद (अमीर व गरीब देशो के बीच) की जगह हाल के दिनो मे दक्षिण-दक्षिण सवाद (विकासशील देशो के बीच) ने ले ली है। 'आसियान', खाडी सहयोग परिषद और दक्षेस (SAARC) जैसे क्षेत्रीय सहकार के प्रयत्न भी कही न कही और अन्तत

नव-उपनिवेशवाद के इसी घातक सकट के प्रति तीसरी दुनिया को सचेत करते रहे है।

समस्याओं के स्रोत—1960 के दशक के आरम्भ मे यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो चुकी थी कि जहाँ एक ओर गुट निरपेक्ष रणनीति और पचशील वाले समाधान ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को प्रोत्साहित किया, वहीं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था मे विषमता निरन्तर बढती जा रही थी। अधिकतर विकासशील देश जिस प्रमुख समस्या से पीडित हैं, वह है—निर्यात सवर्धन की समस्या—कैसे निर्यात बढाकर आवश्यक उपभोक्ता सामग्री, सयत्रो, सैनिक साज सामान की खरीद के लिए दुर्लभ विदेशी मुद्रा अर्जित की जावे ? अधिकाश नवोदित राष्ट्रो के लिए यही विकट चुनौती है। यदि निर्यात मे वृद्धि के प्रयत्न किये जाते है तो इसका प्रभाव स्वदेश में उपभोग पर पडता है और निर्यात को प्रोत्साहित करने को प्राथमिकता के कारण आर्थिक विकास गड़बडा कर असन्तुलित हो सकता है।

अन्य समस्याएँ भी कही न कही इसी से जुडी हुई है। अधिकतर विकासशील दरिद्र देश विकसित देशो को कच्चे माल का ही निर्यात करते हैं जिसकी वाजिब कीमत उन्हे नही मिलती। गरीब राष्ट्र विकसित देश से जिस सामग्री का आयात करते हैं, वह परिष्कृत औद्योगिक उत्पादन होता है। अतएव समानता व न्याय पर आधारित नई विश्व अर्थव्यवस्था की माँग अनिवार्यत: इस बात से भी जुडी है कि गरीब देशो को अपने उत्पाद या कच्चे माल का वाजिब दाम मिले और उनको बेचे जाने वाली सामग्री के अन्धाधुन्ध दाम सिर्फ मुनाफाखोरी के लिए वसूल न किये जायें।

औपनिवेशिक काल मे अधिकतर यूरोपीय देशो ने बहुत बडे पैमाने पर शेष विश्व के विस्तृत भू-भाग की प्राकृतिक संपदा का निर्मम दोहन किया गया था। इससे उनको ऐसे उपभोग की आदत पड गयी कि आज तक कच्चे माल के आयात से ही उनका व्यापार तीसरी दुनिया के साथ असन्तुलित रहा है। इस असन्तुलन पर काबू पाने के लिए उन्होंने व्यापार की ऐसी शर्तें रखी कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कमजोर देशो पर प्रभुत्व स्थापित करने का एक जरिया भर बनकर रह गया है।

इस सिलसिले में एक और प्रमुख बात उल्लेखनीय है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था जिस प्रकार विकसित हुई है, उसमे 'चक्रिय परिवर्तनो' (cyclical changes) पर बहुत कुछ निर्भर करता है। यूरोपीय साझा बाजार हो या मन्दी-तेजी का दौर, मुद्रा-स्फीति हो या इन सबका सन्निपात, इन चक्रीय परिवर्तनो का प्रभाव विकासशील देशो पर भी अधिक पडता है। साथ ही विकासमान राष्ट्रो की आपसी प्रतिस्पर्धा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रियाकलाप के क्षेत्र मे उन्हे नुकसान पहुँचाती रही है। राष्ट्रमंडल के सम्मेलन हो या गुट निरपेक्ष आन्दोलन की बैठकें, सामूहिक आर्थिक हितो की एकता विकासशील देशो के सामने उजागर होती रही है और अब तक कुछ मार्गे स्पष्ट रूप ले चुकी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान मे नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश

(1) अंकटाड सम्मेलन—1964 मे पहला अंकटाड सम्मेलन (United Nations Conference on Trade and Development : UNCTAD) आयोजित किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य स० रा० सघ के तत्वावधान मे समस्या का समाधान ढूँढना था। इसके साथ जुड़े प्रयासो मे ही 'ग्रुप आफ 77' जैसे

को मिलना है वही अन्तर्राष्ट्रीय यथार्थ में भी प्रतिबिम्बित होता है। धैर्यपूर्ण शांति हो या परानय का कौशल, बिना सहानुभूति और सहकार के कुछ हासिल नहीं हो सकता। इस स्थिति में भारत का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने अन्य विकासशील भाई-बन्दों को इस अभियान में दिशा दे।[1] यह ठीक है कि नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश का एक पहलू विकसित देशों के साथ जुनारू संवाद वाला है परन्तु यह अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इस बारे में तब तक प्रगति असम्भव है जब तक कि विकासशील देश स्वयं पारस्परिक सम्बन्धों में वांछित परिवर्तन (वित्त वितरण व्यापार सन्तुलन, प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण आदि के विषय में) नहीं लाते हैं।

तीसरी दुनिया की एकता का सवाल
(Question of Third World Unity)

अफ्रीका एशिया, लातीनी अमरीका एवं कैरेबिया के विकासशील देशों को तीसरी दुनिया कहा जाता है जिनमें से अधिकांश देश द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशवादी शक्तियों के चंगुल से मुक्त हुए। तीसरी दुनिया के करीब 130 देशों में से 103 राष्ट्र गुट निरपेक्ष हैं एवं उत्तरोत्तर कुछ अन्य राष्ट्रों द्वारा भी गुट निरपेक्ष आन्दोलन में सम्मिलित होने की सम्भावना बनी रही है।

तीसरी दुनिया में मतभेद—विगत कुछ ही वर्षों पूर्व तीसरी दुनिया के देशों में आपसी मतभेद एवं राष्ट्रीय हितों का टकराव गहरे रूप में पाये जाते थे। शीत युद्ध के काल में महाशक्तियों ने इन राष्ट्रों के कन्धों पर बंदूक रखकर उनके आपसी विवादों को उग्र किया जिससे अफ्रीका एवं पश्चिमी एशिया के कुछ राष्ट्रों ने हतोत्साहित होकर अपनी सुरक्षा हेतु बड़ी शक्तियों के साथ गुप्त रूप से कई सैनिक व असैनिक समझौते किये जो केवल बड़ी शक्तियों के राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थों के साधन मात्र थे। शीत युद्ध के उक्त वर्षों में तीसरी दुनिया के देशों में विदेशी गुप्तचर संगठनों की गैर-कानूनी हरकतों में वृद्धि हुई दो देशों को युद्ध में झोंककर शस्त्रों की ब्लैकमेलिंग की गयी चिली में अयाद एवं अन्य कमजोर देशों की सरकारों का अनुचित ढंग से तख्तापलट किया गया एवं क्यूबा तथा अंगोला में भी महाशक्तियों ने यही प्रयत्न करना चाहा। यदि तीसरी दुनिया में ऐसी विध्वंसकारी गतिविधियों को रोका नहीं गया तो समस्त संसार उनके छलपूर्ण आधिपत्य एवं गुटबाजी की नीति से ही संचालित होना रहेगा तथा विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के स्वप्न को कभी साकार नहीं किया जा सकता।

अमीर देशों का शोषक रवैया—अमीर देशों द्वारा पिछड़े देशों का शताब्दियों से पूर्ववत् शोषण करने का स्थान यह इंगित करता है कि उन्होंने राष्ट्रों को अपनी समृद्धि में और वृद्धि करने के उद्देश्य से उनकी आक्रान्त समस्याओं से छुटकारा दिलाने के लिए कभी प्रयत्न किया ही नहीं। इसलिए तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को विकसित राष्ट्रों की शोषणकारी प्रवृत्तियों से मुक्ति पाने के लिए अपने आपको पूर्ण मजबूती से संगठित होना पड़ेगा। वस्तुतः इन विकासशील देशों को एकता के सूत्र में पिरोने वाली कई कड़ियाँ हैं।

[1] नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश में भारतीय योगदान के लिए देखें—K. B. Lal *Struggle for Change International Economic Order* (Delhi 1983) 706-25.

नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश को पुष्ट करते हैं।

नई विश्व अर्थव्यवस्था के मार्ग में अड़चनें—उपरोक्त सर्वेक्षण से इस निष्कर्ष पर पहुँचना नादानी होगा कि नई विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना के मार्ग में कोई बाधा या अड़चन नहीं है। जहाँ एक ओर विकासशील देशों के आपसी संकीर्ण हितों का टकराव-सहकार और सामूहिक परामर्श को जटिल बनाता है वहीं दूसरी ओर अनेक विकासशील राष्ट्र विकसित देशों की पूँजीवादी-साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था का अभिन्न अनुचर अंग बन चुके हैं। इन्हें वापस समतापूर्ण नई विश्व अर्थव्यवस्था के संघर्ष की मुख्य धारा में लाना काफी कठिन काम है। अनेक ऐसे राष्ट्र भी हैं (जैसे ताइवान, सिंगापुर, दक्षिण कोरिया आदि) जिनके लिए आर्थिक स्वावलम्बन या राजनीतिक स्वायत्तता उतनी महत्वपूर्ण नहीं, जितनी कि राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक खुशहाली। इसकी कीमत ये राष्ट्र पर-निर्भरता के रूप में चुकाने को तैयार हैं। इस तरह के देशों के राजनय से नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश दिग्भ्रष्ट होती रही है।

तेल-उत्पादक देशों का उपेक्षापूर्ण रवैया—इसके अतिरिक्त कुछ और अपवाद है, जैसे तेल-उत्पादक अरब राष्ट्र। यह कहना कठिन है कि इनके हित नई विश्व अर्थव्यवस्था के मामले में बाकी तीसरी दुनिया के लोगों से मिलते हैं। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि 'ओपेक' की अदूरदर्शी कारस्तानियों से 1973 से जिस ऊर्जा संकट का विस्फोट हुआ, उसका दण्ड साम्राज्यवादी देशों की अपेक्षा अफ्रो-एशियाई देशों को अधिक भुगतना पड़ा।

अनेक राष्ट्र इन समृद्ध तेल उत्पादक देशों को रिझा कर अपना उल्लू सीधा करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। इस्लामी कट्टरपंथिता का उफान हो या राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अराजकतावादी आतंकवाद का समर्थन, विदेशी सहायता (वित्तीय व तकनीकी) इसके साथ जुड़ जाती है। अर्थात् एक स्तर पर नई विश्व अर्थव्यवस्था का अभियान आन्तरिक राजनीतिक दबावों से जुड़ता है तो दूसरी ओर उसे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का दबाव झेलना पड़ता है।

इन सभी बाधाओं को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इसी तरह विकासशील देशों में क्षेत्रीय आर्थिक सहकार के प्रयत्न राजनीतिक टकराव के सामने परास्त होते रहे हैं। ऐसा नहीं जान पड़ता कि निकट भविष्य में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की तलाश तेज होगी या इस दिशा में अप्रत्याशित नाटकीय प्रगति देखने को मिलेगी।

भारत की महत्वपूर्ण भूमिका—नई विश्व अर्थव्यवस्था की तलाश में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के जनतान्त्रिकीकरण में भारत का सार्थक योगदान रहा है। इसके अतिरिक्त स्वदेश में सुनियोजित विकास एवं बहुमुखी-बहुआयामी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के भारतीय अनुभव से अनेक उपयोगी सबक सीखे जा सकते हैं। संस्थाओं का संगठन हो या प्रक्रियाओं का परिष्कार, भारत इस बारे में सतर्क रहा है कि उस जैसे नवोदित राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर एवं स्वावलम्बी हो बने रहना चाहिए। इसके अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक है। इसी कारण नई विश्व अर्थव्यवस्था की प्रमुख माँगों को भारतीय प्रवक्ताओं ने सबसे अधिक कारगर ढंग से मुखर किया है।

भारत की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परामर्श में लम्बे अर्से से भाग लेने वाले राजनयिक के० बी० लाल ने यह टिप्पणी गलत नहीं की कि भारतीय उपमहाद्वीप में बेशुमार अमीरी और लज्जास्पद दरिद्रता का जो सह-अस्तित्व देखने

कर सकते है एव यह पश्चिमी देशो की टैक्नोलोजी के आयात की अपेक्षा अधिक सस्ती एव दवावमुक्त होगी। असल मे, इन देशो मे ज्यादा से ज्यादा आपसी लेन-देन, सम्पर्क व सहयोग एकता को बढायेगा एव यह सामूहिक अन्तर-निर्भरता तीसरी दुनिया के राष्ट्रो को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रगमच पर प्रभावशाली भूमिका निभाने का मार्ग प्रशस्त करेगी।

सयुक्त राष्ट्र सघ मे तीसरी दुनिया की सख्यात्मक शक्ति—स० रा० सघ मे तीसरी दुनिया के राष्ट्र अपनी विशाल सख्यात्मक शक्ति से विश्व की बडी शक्तियो की गलत नीतियो एव अहितकारी हथकण्डो से भरी चालो को नाकाम कर सकते हैं। यह अलग बात है कि बडी शक्तियो के पास निषेधाधिकार होने से तीसरी दुनिया के देशो को आशातीत सफलता नही मिलेगी। फिर भी, उनकी नैतिक विजय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे उनके लिए कुछ लाभकारी रग ही लायेगी। वस्तुत उपर्युक्त प्रयत्नो की सफलता को अवश्यम्भावी बनाने लिए सगठित नीति के साथ ही नैतिक साहस की भी आवश्यकता है। तीसरी दुनिया के देशो को उनमे ही ज्यादा से ज्यादा आपसी व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने चाहिएँ क्योकि वहाँ अविश्वास एव अनर्गल दबाव की सम्भावना काफी कम रहेगी। उन्हे सामूहिक आत्म-निर्भरता पर जोर देना चाहिए। तभी तीसरी दुनिया की एकता सम्भव है।

अफगान सकट एव जेनेवा समझौता
(Afghan Crisis and Geneva Agreement)

नए शीत युद्ध के तनाव को सतह पर लाकर विश्व शान्ति के सकट को उजागर करने वाली सबसे प्रमुख घटना अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिक हस्तक्षेप थी। यह सकट इतना विकट था कि इसने न केवल महाशक्तियो, बल्कि अन्य देशो के बीच भी आपसी कटुता पैदा हुई। दिसम्बर, 1979 मे अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिक हस्तक्षेप को लेकर दुनिया के कई देश इस हस्तक्षेप का विरोध करने लगे तो अन्य अनेक देश इसका समर्थन। भारत जैसे कुछेक देश एस भी थे, जो इस विरोध व समर्थन के पचडे मे न पडकर समस्या के शीघ्र राजनीतिक हल पर जोर देते रहे। अफगान सकट को लेकर कटु विवाद लम्बे समय तक चलता रहा और इसके न केवल भारतीय उपमहाद्वीप, बल्कि विश्व राजनीति पर भी दूरगामी असर पडे। यो आठ वर्ष तक चलने वाला यह सकट 14 अप्रैल, 1988 को जेनेवा समझौते पर हस्ताक्षर से 'समाप्त' हुआ, किन्तु यह सोचना तर्कसगत है कि समस्या का वास्तविक समाधान अभी बाकी है, क्योकि विभिन्न ममलो पर पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बीच तनाव बना हुआ है। जेनेवा समझौते के बाद आशा की गयी कि अफगानिस्तान मे शान्ति कायम हो जायेगी, मगर वहाँ सरकार और विद्रोहियो के बीच भीषण सघर्ष जारी रहा। इस गृह युद्ध की सज्ञा देना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। अतएव, अफगान सकट भविष्य मे एक महत्वपूर्ण राजनयिक चुनौती बना रहेगा। इस सकट को समझने के लिए सर्वप्रथम अफगानिस्तान का भू-राजनीतिक महत्त्व स्पष्ट करना जरूरी है।

अफगानिस्तान का भू-राजनीतिक महत्व—19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भूमिबद्ध (land locked) अफगानिस्तान की स्थिति दो विस्तारवादी साम्राज्यो के बीच एक 'बफर राज्य' की रही। इसी कारण अफगान शासक अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने मे सफल रहे। अफगान समाज कट्टर व कबाइली है। इसकी भौगोलिक

तीसरी दुनिया की सौदेबाजी की स्थिति—तीसरी दुनिया के देशों के पास अथाह प्राकृतिक सम्पदा होने से विकसित देशों को कच्चे माल की आपूर्ति के सम्बन्ध मे उनकी कई प्रकार की इजारेदारी है जिसके औद्योगिक राष्ट्र जरूरतमन्द हैं। यदि कच्चे माल की आपूर्ति, मूल्य निर्धारण एव वितरण के बारे मे तीसरी दुनिया के देश प्रभावशाली नियन्त्रण की नीति अपनाते हैं तो स्वाभाविक रूप से अमीर देश स्वयमेव उनकी आवश्यकताओं एवं आकाक्षाओं को समझने के लिए विवश होगे जिससे उनकी औद्योगिक राष्ट्रो के साथ सौदा करने की स्थिति भी बढ़ेगी। प्राकृतिक सम्पदा का स्वयं द्वारा उपयोग करने के लिए उन्हें स्वयं अपनी स्वतन्त्र तकनीकी का निर्माण एव सम्पदा-राष्ट्रवाद (Resource Nationalism) की भावना को बल प्रदान करना होगा। तेल-उत्पादक अरब राष्ट्रो ने इन समकालीन वर्षों मे विश्व की बड़ी शक्तियों के सम्मुख अपनी एकता प्रदर्शित कर यह स्पष्ट कर दिया हैं कि कुशल सगठन एवं एकता से क्या-क्या पाया जा सकता है ? इससे तीसरी दुनिया के देशो को प्राकृतिक सम्पदा के भावी सकट के सम्बन्ध मे वैकल्पिक विकास के तरीको को ढूंढ निकालने की दिशा मे अभी से प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिए, जैसा कि पश्चिमी देशो ने ऊर्जा खपत को सीमित करने के सम्बन्ध में कुछ नये विकल्प तलाशने शुरू किये। असल मे तीसरी दुनिया के राष्ट्र पश्चिमी दुनिया के देशो की अपेक्षा इस सम्बन्ध में अभी बेहतर स्थिति मे है क्योंकि इन देशों में प्रति व्यक्ति ऊर्जा खपत दर कम है।

टैक्नोलोजी के क्षेत्र में भारत से समर्थन—पिछले कुछ सालों से भारत एव तीसरी दुनिया के कतिपय अन्य देशो ने कृषि क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धतियाँ अपनाकर अपने खाद्य उत्पादन मे अनवरत वृद्धि की है जिससे उनकी पश्चिमी देशो पर खाद्य सहायता की निर्भरता मे महत्वपूर्ण कमी हुई है। इसी प्रकार टैक्नोलोजी के मामले मे भारत सहित कुछ अन्य तीसरी दुनिया के राष्ट्रो ने उल्लेखनीय प्रगति की है। जिससे ये राष्ट्र अपने साथी पिछड़े राष्ट्रों को तकनीकी मदद देने की स्थिति में हैं। कुछ समय पूर्व जाम्बिया के राष्ट्रपति कैनेथ कौंडा ने अफ्रीकी देशों को सलाह दी थी कि उन्हे नव-उपनिवेशवादी शक्तियो के बजाय भारत से टैक्नोलोजी के मामले मे मदद लेनी चाहिए। भारतीय सहयोग द्वारा कई देशों मे इस्पात, सीमेंट व कपड़ा उद्योग के कारखाने लगाने का कदम विकासशील देशों के प्रति उसके सौहार्दपूर्ण एव सहयोगपूर्ण रुख को उजागर करता है। भारत अपने स्वतन्त्र तकनीकी ज्ञान मे लीबिया मे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का हवाई अड्डा निर्माण कर चुका है। लीबिया की राजधानी त्रिपोली मे भारत ने करोड़ो रुपये की लागत का 'सुपर थर्मल पावर स्टेशन' खड़ा करने का ठेका प्राप्त कर लिया जबकि वहाँ ठेका प्राप्त करने मे कई बहुराष्ट्रीय निगमों से तगड़ी प्रतिस्पर्द्धा थी। इसी प्रकार ईरान मे भारतीय तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग एक पाँच हजार मीटर गहरे तेल के कुएँ की खुदाई एव इराक मे भारतीय तकनीशियन तेल के क्षेत्र ढूंढने मे कार्यरत हैं।

यह सही है कि विकसित राष्ट्रों के पास तीसरी दुनिया के प्रमुख राष्ट्रो की तुलना में कई गुनी अधिक परिष्कृत एव उन्नत टैक्नोलोजी है, किन्तु क्या वर्तमान में इन दरिद्र राष्ट्रों को ऐसी उच्च परिष्कृत टैक्नोलोजी की आवश्यकता है जो अपने साथ प्रदूषण एव अन्य कई प्रकार की गम्भीर समस्याओं को भी उत्पन्न करती है। इन अविकसित देशों को जिस प्रकार की टैक्नोलोजी एवं तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता है वह तीसरी दुनिया के प्रमुख देश, जो इस दिशा में विकसित हैं, आसानी से प्रदान

कबाइली सरदारो को उनके क्षेत्रो मे लगभग सम्पूर्ण स्वाधीनता दे चुकी थी। ग्रामीण अचल मे जनहितकारी कार्यक्रम कागजो तक सीमित थे। निश्चय ही, यह स्थिति अनिश्चित काल तक नही चल सकती थी। बहुत छोटी सख्या मे ही सही, वहाँ एक मध्यम वर्ग का आविर्भाव हो रहा था, जिसमे राजनीतिक चेतना के साथ-साथ असन्तोष भी मुखर होने लगा था।[1] इनमे अधिकाश का रुझान समाजवादी-साम्यवादी था। इनमे से अनेक ने सोवियत सघ मे शरण ली थी। इन असन्तुष्ट प्रवासी अफगानो ने ही अफगान साम्यवादी पार्टी का गठन किया।

बीस माह मे तीन सैनिक क्रान्तियाँ—अफगानिस्तान मे राजतन्त्र का अन्त हुआ—27 अप्रैल, 1987 को, जब नूर मोहम्मद तरक्की के नेतृत्व मे सैनिक क्रान्ति हुई। तरक्की तत्कालीन राष्ट्रपति मोहम्मद दाऊद को सत्ताच्युत कर राष्ट्रपति बने। मगर 6 सितम्बर, 1978 को एक और सैनिक क्रान्ति हो गयी, जिसमे हफीज उल्लाह अमीन ने तरक्की की हत्या कर शासन की बागडोर सँभाली। 27 दिनम्बर, 1979 को तीसरी सैनिक क्रान्ति हुई, जिसमे अमीन की हत्या कर दी गयी और बबरक करमाल राष्ट्रपति बने। इस तीसरी सैनिक क्रान्ति के दौरान सोवियत सेनाओ ने अफगानिस्तान मे प्रवेश किया और करमाल को गद्दीनशीन करने मे मदद की। बीस माह के भीतर अफगानिस्तान मे तीन सैनिक क्रान्तियाँ होना अप्रत्याशित घटना थी, किन्तु सबसे ज्यादा विवादास्पद मुद्दा तीसरी क्रान्ति के वक्त सोवियत सघ का सैनिक हस्तक्षेप बना। विश्व जनमत द्वारा सोवियत सैनिक हस्तक्षेप की जमकर आलोचना हुई। सोवियत सघ ने यह तर्क दिया कि तत्कालीन राष्ट्रपति अमीन के निमन्त्रण पर उसकी सेनाएँ अफगानिस्तान गयी। अमीन ने उससे इस मदद की माग की थी।

अप्रैल, 1978 मे तरक्की के नेतृत्व मे हुई तख्तापलट को 'सौर क्रान्ति' की सज्ञा दी गयी। निश्चय ही यह परिवर्तन नाटकीय था और अप्रत्याशित भी। परन्तु बाद की घटनाओ की तुलना म इसे अपेक्षाकृत सहज रूप मे ही विश्लेषित किया जाता है। इस 'सौर क्रान्ति' क बाद नए शासक तरक्की ने व्यापक सामाजिक व आर्थिक सुधारो की घोषणा की और अन्य बाहरी शक्तियो को यह आश्वासन दिया कि *अफगान विदेश नीति मे कोई परिवर्तन नही होगा।* यह पूर्ववत् गुट निरपेक्ष और महाशक्तियो के बीच सम-सामीप्य रखने वाली बनी रहेगी। स्पष्ट है कि सिर्फ ऐसे आश्वासनो से अमरीका निरापद नही रह सकता था। तत्कालीन अमरीकी रक्षा सचिव ब्राउन एव राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रेजेजिन्स्की ने इस सन्दर्भ मे सगीने तानने वाली मुद्रा मे बडे बयान जारी किये और खैबर दर्रे पर खडे होकर चुनौती देने वाले अन्दाज मे खम ठोकने शुरू किये।

इस बीच एक और अति-नाटकीय परिवर्तन हुआ। सितम्बर, 1979 म तरक्की की हत्या कर उनके एक सहयोगी हफीज उल्लाह अमीन ने सत्ता की बागडोर सम्भाल ली। नए राष्ट्रपति अमीन ने आरोप लगाया कि तरक्की अमरीकी गुप्तचर सस्था सी० आई० ए० के एजेंट थे। अमीन द्वारा सख्ती से समाजवादी क्रान्तिकारी कार्यक्रम लागू किया गया, जिसने अफगानिस्तान की धर्मप्रिय व कबाइली जनता को काफी त्रस्त किया तथा केन्द्र सरकार के प्रति उनका अलगाव बढाया। ऐसा सुझाना

[1] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से उपयोगी एतिहासिक सर्वेक्षण के लिए देखें—Victoria Schofield, *North-West Frontier and Afghanistan*, (Delhi, 1984),

अफगानिस्तान और उसके पड़ोसी देश

स्थिति भू-राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ईरान के बढ़ते महत्व तथा सोवियत संघ के दक्षिणी मुस्लिम-बहुल जनसंख्या वाले प्रदेशों के मार्मिक पक्ष को देखते हुए अफगानिस्तान का महत्व बढ़ गया। सिर्फ महाशक्तियों के लिए ही नहीं बल्कि क्षेत्रीय शक्ति-सन्तुलन में भी अफगानिस्तान महत्वपूर्ण घटक बना रहा। पख्तून व बलूच समस्या को लेकर पाकिस्तान के साथ अफगानों का मन-मुटाव रहा। भारत के साथ अफगानिस्तान के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण रहे। अफगान सीमा का एक हिस्सा साम्यवादी चीन द्वारा अधिकृत तिब्बत से जुड़ता है। इस प्रकार 1950 के बाद अफगानिस्तान कालक्रम में अनचाहे ही रूस-चीन विवाद में भी खिंच गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-संघर्ष और आन्तरिक दबाव के कारण अफगानिस्तान गुट निरपेक्ष देश रहा है, परन्तु राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन में जड़ता की स्थिति पिछले दशक तक बनी रही। अफगान शासक वर्ग राजवंश और कुलीनों तक सीमित था। शिक्षा एवं आधुनिकता का प्रसार इसी अल्प-संख्यक वर्ग तक सीमित था। जब तक बाहरी शक्तियों के राष्ट्रीय हित अक्षत रहे, तब तक उन्होंने इस स्थिति में परिवर्तन जरूरी नहीं समझा। अफगानिस्तान में काबुल को छोड़कर नाम लेने लायक कोई नगर नहीं था। केन्द्रीय अफगान सरकार

उसने बबरक करमाल को लाकर अमीन को विस्थापित किया। यह काम भी बिना सैनिक हस्तक्षेप के हो सकता था, परन्तु बड़े पैमाने पर हस्तक्षेप के बिना मुजाहिदीनों की छापामारी को नहीं रोका जा सकता था।

लेकिन ऐसा सोचना गलत होगा कि अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप सिर्फ 'बचाव की मुद्रा' में किया गया। इसका एक प्रमुख उद्देश्य विश्व को विशेषकर अमरीका को यह जतला देना था कि सोवियत संघ किसी भी तरह दूसरी महाशक्ति से कम नहीं और वह भी अपनी सैनिक-सामरिक शक्ति का प्रक्षेप तत्काल अन्यत्र कर सकता है। यह जतलाना इसलिए भी जरूरी था कि अन्तर्राष्ट्रीय संकट निवारण में अमरीका उसके सहयोग का अवमूल्यन न करे।

वियतनाम जैसा दलदल नहीं—अनेक दक्षिणपंथी अमरीकियों को यह भुलावा था कि अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप कालक्रम में 'वियतनाम' बन जायेगा। एक ऐसा दलदल जिससे रूसी बाहर नहीं निकल पायेंगे—एक ऐसा रिसता हुआ नासूर जो तमाम खर्चीली चिकित्सा के बावजूद ठीक नहीं हो सकता और जान लेकर ही जाता है। शुरू की घटनाओं ने इस धारणा को पुष्ट किया। घात लगाने वाले अफगान 'मुक्ति सैनिकों' ने बड़े पैमाने पर सोवियत सैनिकों को मारा। राजधानी काबुल को निरन्तर कर्फ्यू में रहना पड़ा और प्रगतिशील विकास कार्यक्रमों को अन्यत्र लागू करना असम्भव सा बन गया। इन छापामारों का पीछा करने वाली सोवियत सैनिक टुकड़ियाँ कभी-कभार पाकिस्तानी सीमा का अतिक्रमण कर जातीं और इससे भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ा। एकाध बार सोवियत सैनिक अफसरों को अफगान मुजाहिदीनों ने बन्दी भी बना लिया और उनकी स्वीकारोक्तियों को बहुत प्रचारित किया गया। इस सबका प्रयोजन यही सिद्ध करना था कि अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक बड़े पैमाने पर उनकी अपनी इच्छा के विरुद्ध तैनात किये गये हैं और यदि अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप ज्यादा दिन तक चला तो वह बगावत की प्रवृत्ति को बढ़ावा दे सकता है, अर्थात् सोवियत संघ की आन्तरिक राजनीति में इसके दूरगामी घातक परिणाम सामने आ सकते हैं। यह सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी और सेना के सर्वोच्च अधिकारियों के बीच रस्साकशी को जन्म देकर भारी असन्तोष पैदा कर सकता है। इस विषय में एक संक्षिप्त टिप्पणी आवश्यक है। यदि अफगान समस्या के सैनिक समाधान में सोवियत जनरल असफल रहते तो वे पार्टी नेतृत्व की सम्प्रभुता को चुनौती देने की स्थिति में नहीं रह सकते थे। दूसरी ओर वे यह भी कह सकते थे कि अफगान कीचड़ में उनको फँसाना पार्टी के नेताओं की मूर्खता का प्रमाण है और जन-धन का ऐसा अपव्यय, जो अमरीका का मुकाबला करने की रूसी सामर्थ्य को घटाता था। दोनों ही तरह से अफगान घटनाक्रम अस्थिरता को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ। भले ही अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप नए शीत युद्ध का प्रमुख कारण न रहा हो। परन्तु इसके भड़काने में उसकी सबसे महत्वपूर्ण भूमिका रही।

अफगान संकट और पश्चिमी देशों की नीति—पश्चिमी अटकलें पूर्णतः सही साबित नहीं हुईं, पर पश्चिमी आचरण ने निश्चय ही यह स्पष्ट कर दिया कि उनका अपना राजनय शीत युद्ध की मानसिकता बढ़ाने वाला रहा। उदाहरणार्थ, अमरीका और पश्चिमी यूरोप के देशों में जितनी आसानी और बड़े पैमाने पर बिना किसी जाँच-परख के असन्तुष्ट अफगान तत्वों को शरण दी गयी, वह निश्चय ही इस सन्देह को पुष्ट करती है कि अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के विरुद्ध प्रतिरोध

अनुचित न होगा कि अमीन द्वारा बल प्रयोग के साथ जिस परिवर्तन की रूपरेखा क्रियान्वित की जा रही थी वह कम्पुचिया में पोल पोट के नरसंहार का स्मरण दिलाने लगी थी। बिना इस बात की तफसील में जाये कि तरक्की सी० आई० ए० के एजेंट थे या नहीं, इस बात के प्रमाण जुटाये जा सकते हैं कि इसी दौर में बाहरी (पश्चिमी) शक्तियों ने अमीन सरकार के खिलाफ असन्तुष्ट तत्वों को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। काबुल से दूरस्थ चीन-अफगान सीमान्त पर 'शोल-ए-जावेद' नामक एक ऐसा मुजाहिद सगठन सक्रिय था, जो अफगानी शरण्य (Sanctuary) से दक्षिणी सोवियत सघ मे मुस्लिम जनता मे असन्तोष फैलाने की कोशिश कर रहा था। इसी तरह की घटनाएँ पश्चिमी सीमा पर ईरानी सीमान्त पर प्रारम्भ हो चुकी थी। शहंशाह मोहम्मद रजा पहलवी के पतन के बाद ईरान पश्चिमी सामरिक व्यवस्था के एक सुदृढ़ स्तम्भ के रूप में नही बचा रह गया था। इस प्रकार अफगानिस्तान मे राजवश के उन्मूलन के बाद ये तमाम परिवर्तन समाजवादी सोवियत हितो के पक्ष मे थे। ऐसी स्थिति में सोवियत सघ के लिए सैनिक हस्तक्षेप का जोखिम उठाना 'अनिवार्यता' नही थी। दूसरी ओर इन सब बातो से गुट निरपेक्ष व बफर राज्य के रूप मे अफगान भूमि का निश्चित रूप से अवमूल्यन हुआ। तब यह पूछा जाना उचित है कि सोवियत सघ ने दिसम्बर, 1979 मे अफगानिस्तान मे सेनाएँ भेजना क्यो आवश्यक समझा।[1]

सोवियत सैनिक हस्तक्षेप क्यों ?—कुछ विद्वानों ने यह सुझाया कि तरक्की को अपदस्थ करने वाले अमीन समय बीतने के साथ सोवियत संघ की कठपुतली बनने को तैयार नही थे और 'स्वतन्त्र आचरण' करने लगे थे। परन्तु यह बात तर्क-सगत नही लगती। यदि ऐसा था भी तो अमीन को तख्तापलट द्वारा अपदस्थ करना कहीं अधिक सहज था। इसके अलावा अमीन अपने कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए सोवियत सहायता पर पूरी तरह निर्भर थे और वह सोवियत समर्थन के अभाव में बचे रहने की बात सोच भी नही सकते थे। इन विश्लेषकों का यह भी मानना है कि अमीन ने वस्तुतः सोवियत सेनाओ को आमन्त्रित किया ही नही। अमीन के सफाये के बाद सिर्फ बहाने के रूप मे इस निमन्त्रण की बात कही गयी। इस सिलसिले मे यह दोहराना जरूरी है कि सोवियत सघ अपने राष्ट्रीय सामरिक हितों की हिफाजत के लिए पड़ोसी स्वाधीन राष्ट्रो मे सैनिक टुकड़ियाँ भेजने में कभी हिचकिचाया नहीं है। ऐसी स्थिति मे सोवियत सरकार ने अपनी सफाई देने की कभी कोई जरुरत नही समझी है। हगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड इसके अच्छे उदाहरण पेश करते थे। यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये तीनो देश रूसी खेमे के 'उपग्रह राज्य' थे, जिनकी सम्प्रभुता सीमित समझी जाती थी। परन्तु ऐसा करना बाल की खाल निकालना ही होगा क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्वतन्त्र अफगानिस्तान को भी अन्य शक्तियों ने रूसी प्रभाव क्षेत्र मे ही रखा है। ऐसा सोचना अधिक ठीक होगा कि अफगानिस्तान मे असन्तुष्ट छापामारो की गतिविधियाँ, जिन्हे बड़े पैमाने पर विदेशी प्रोत्साहन प्राप्त था, न केवल काबुल, बल्कि मास्को के विरुद्ध भी केन्द्रित थी। साथ ही सोवियत सघ यह नही चाहता था कि अमीन की कट्टरता का नुकसान समाजवादी-समर्थक व सहायक के रूप मे उसे उठाना पड़े। सोवियत सघ को अफगान मानसिकता समझने, धीरज रखने वाले और अपेक्षाकृत उदार मध्यममार्गी सहयोग-नेतृत्व की जरूरत थी। इसीलिए

[1] सोवियत हस्तक्षेप के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के लिए देखें—John Fullerton, *Soviet Occupation of Afghanistan*, (Hong Kong, 1983).

प्रवक्ताओं का यह भी कहना था कि लगभग 20 लाख अफगान शरणार्थी उनके देश मे रह रहे हैं और इससे उनकी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर असहनीय दबाव पड रहा है। अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप और इसके बाद बदली परिस्थिति को कम से कम पाकिस्तान किसी भी तरह अफगानिस्तान का आन्तरिक मामला नहीं मानता था।

संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका—अफगान संकट के हल मे स० रा० संघ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उसके छह वर्षों के अथक प्रयासो के फलस्वरूप 14 अप्रैल, 1988, को जेनेवा (स्विट्जरलैंड) मे एक समझौता हुआ, जिसे 'अफगान संकट पर जेनेवा समझौते' की संज्ञा दी गयी। अफगान समस्या पर स० रा० संघ की प्रत्यक्ष भूमिका की शुरुआत महासभा के 20 नवम्बर, 1980 के प्रस्ताव से हुई। बाद मे पाकिस्तान के आग्रह पर स० रा० संघ के महासचिव ने इस प्रस्ताव पर सम्बन्धित पक्षो से बातचीत का सिलसिला शुरू किया। फरवरी, 1981 मे तत्कालीन महासचिव कुर्त वाल्दहीम ने काबुल की यात्रा कर बातचीत के लिए चार सूत्री मसौदा तैयार किया। ये चार सूत्र थे—(i) सोवियत फौज की अफगानिस्तान से वापसी, (ii) पाकिस्तान और अफगानिस्तान द्वारा एक-दूसरे के अदरूनी मामलो मे दखल न देने का आश्वासन, (iii) दखल न देने के बारे मे अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टी, और (iv) शरणार्थियो की वापसी। परोक्ष वार्ता का पहला दौर न्यूयार्क मे सितम्बर, 1981 में हुआ। उसका नतीजा नही निकला।

1982 मे पेरेज दि कुयार के महासचिव बनने पर उन्होने अफगान वार्ता में मध्यस्थता की जिम्मेदारी कार्दोवीज को सौंपी। उनकी मध्यस्थता मे जेनेवा मे अफगानिस्तान और पाकिस्तान के बीच अगस्त, 1985 तक परोक्ष वार्ता के पाँच दौर हुए। इन वार्ताओं मे उतार-चढाव आते रहे।

उधर इसी बीच गोर्बाच्योव सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव बने। इसके बाद सोवियत संघ ने अफगानिस्तान से फौज वापसी के बारे मे स्पष्ट संकेत देने शुरू कर दिए। गोर्बाच्योव ने अपनी ऐतिहासिक ब्लादीवोस्तक घोषणा मे अफगानिस्तान को सोवियत संघ का 'रिसता घाव' बताया। 6 फरवरी, 1988 को गोर्बाच्योव ने स्पष्ट तौर पर कहा कि सोवियत फौज 15 मई, 1988 से वापस होना शुरू हो जाएगी और दस महीने के भीतर यह काम पूरा हो जाएगा। यह काम पूरा हो भी गया।

स० रा० संघ के मध्यस्थ कार्दोवीज ने भी इसी बीच समस्या सुलझाने के लिए अथक परिश्रम किया। जनवरी-फरवरी, 1988 मे 20 दिन काबुल और इस्लामाबाद के बीच उनकी राजनयिक भागदौड इस सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण रही। इसी के चलते जेनेवा समझौते पर दस्तखत हुए।

जेनेवा समझौता—स० रा० संघ के अथक प्रयासो के परिणामस्वरूप 14 अप्रैल, 1988 को जेनेवा मे पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बीच अन्तत. एक शान्ति समझौता सम्पन्न हुआ। समझौते पर विश्व की दो महाशक्तियों अमरीका व सोवियत संघ ने भी गारंटीदाता के रूप मे हस्ताक्षर किए। स० रा० संघ के महासचिव कुयार की उपस्थिति मे उक्त चारों देशो के विदेश मन्त्रियों ने हस्ताक्षर किये। समझौते के तहत अफगानिस्तान से सोवियत सेनाएँ 15 मई, 1988 से नौ माह के भीतर हटाने की व्यवस्था की गयी। सोवियत संघ अपने करीब 1·15 लाख

की प्रेरणा 'मौलिक' नहीं। इसी तरह अमरीका ने अब तक पाकिस्तान को अरबों डालर मूल्य की जो सैनिक सहायता दी, उससे पैदा होने वाला सकट सोवियत सैनिक हस्तक्षेप से कम जोखिम भरा नहीं था। इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि पाकिस्तान को सैनिक सहायता और सोवियत हस्तक्षेप में कोई सीधा कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। भले ही यह बात जोर-शोर के साथ प्रचारित की जाती रही कि अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप दक्षिण एशिया में रूसी साम्यवादी व साम्राज्यवाद के प्रसार की पूर्व भूमिका है, मगर इस तर्क में ज्यादा दम नहीं। 19वीं सदी के अन्त से 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक सामरिक विशेषज्ञ यह अटकल लगाया करते थे कि सोवियत विदेश नीति का एक प्रमुख उद्देश्य गरम दक्षिणी जल राशि (Warm Waters in the South) तक पहुँचना है। परन्तु अणु नाभिकी अस्त्रों से सज्जित पनडुब्बियों से लैस सोवियत नौसैनिक बेड़े के बारे में इस तरह की बातों में कोई सार नहीं रह गया था। साथ ही यह बात नहीं भुलाई जा सकती कि खाड़ी क्षेत्र के बारे में सोवियत रुचि अपने आप ही उपजी, जब तेल-सकट के बाद अमरीका ने खाड़ी के तेल कूपों पर अपना 'आधिपत्य' बनाये रखने के लिए तुरत तैनाती दस्ता (Rapid Deployment Force) प्रस्तावित किया। तभी सोवियत संघ की यह प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। यहाँ यह बात उठायी जा सकती है कि किसी भी सम्भावित घटनाक्रम में पाकिस्तान अमरीका से प्राप्त तमाम सैनिक साज सामान के बावजूद किसी भी तरह सोवियत संघ से टक्कर नहीं ले सकता था। वस्तुतः अमरीका के लिए पाकिस्तान की उपयोगिता इलैक्ट्रोनिक खुफियागिरी और भारत को अस्थिर करने के सन्दर्भ में है। अमरीकी राजनयिक रणनीति इसी के अनुसार सचालित होती रही है। कुल मिलाकर, पाकिस्तान को अमरीकी सैनिक सहायता जनरल जिया की तानाशाही मजबूत करने वाली और भारत के विरुद्ध थी। पाकिस्तान को अमरीकी सैनिक सहायता से अफगान समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। पहले नशीली दवाओं की तस्करी को लेकर अमरीका और पाकिस्तान के बीच तनाव चल रहा था, जिसके परिणामस्वरूप एक बार पाकिस्तान में अमरीकी दूतावास में आग भी लगायी गयी थी। अफगान सकट ने इस विवाद से ध्यान हटाने का काम भर किया।

अफगान संकट के हल के प्रयास विफल—शीत युद्ध के पहले चरण में ऐसी अनेक समस्याओं के राजनयिक समाधान ढूँढे जा सके, परन्तु अफगान सकट के सन्दर्भ में सं० रा० संघ, गुट निरपेक्ष आन्दोलन और 'टकराने वाली शक्तियों' की प्रत्यक्ष वार्ताएँ जड़ता तोड़ने में असफल रही। जेनेवा शान्ति वार्ताओं में राजनयिक शिल्प का एक नया रूप देखने को मिला, जिसे 'सामीप्य का परामर्श' (*Proximity Talks*) नाम दिया गया। इसमें अफगान और पाक सरकारों के प्रतिनिधि एक जगह तो बैठे, पर आमने-सामने नहीं। इनके बीच 'सवाद' किसी तीसरे राजनयिक के माध्यम से जारी रखा गया। परन्तु इस तीसरे व्यक्ति ने सिर्फ सदेशवाहक की भूमिका निभायी, मदादायी मध्यस्थ की नहीं। इस तरह का प्रपच इसलिए आवश्यक हुआ कि न तो अफगान सरकार यह मानने को तैयार थी कि उसके आन्तरिक मामलों में पाकिस्तान की कोई भूमिका है एवं उसके साथ सलाह-मशविरे की कोई जरूरत है, न ही पाकिस्तान यह स्वीकार करने को तैयार था कि अफगानिस्तान में राजतन्त्र का उन्मूलन करने वाली किसी सरकार को उसने मान्यता दी। पाकिस्तानी

नामंजूर कर दिया था। इससे अफगानिस्तान में खून खराबे की संभावना बढ़ गई। ईरान में भी करीब 20 लाख अफगान शरणार्थी रह रहे हैं। ईरान पहले ही कह चुका है कि जिस समझौते में विद्रोही शामिल नहीं होंगे, वह उसका समर्थन नहीं करेगा।

जनेवा समझौते में अफगान शरणार्थियों की स्वैच्छिक स्वदेश वापसी की व्यवस्था है लेकिन मौजूदा परिस्थितियों में नहीं लगता कि अफगानिस्तान में उनकी वापसी के लिए स्थिति निकट भविष्य में अनुकूल हो जाएगी।

समझौते के तहत अमरीका और सोवियत संघ क्रमशः अफगानिस्तान छापामारों और अफगान सरकार को हथियार सप्लाई पर रोक लगाने पर भी सहमत नहीं हुए जिससे आगे चलकर कभी भी तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो सकती है।

अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की वापसी के बाद यह आशा जगी थी कि अफगान समस्या का समाधान दस साल की त्रासदी के बाद हो सकेगा। परन्तु मुजाहिद्दीनों ने अवसर का लाभ एक निर्णायक हमले (1989) द्वारा जलालाबाद को हथियाने के लिए उठाना चाहा। अफगानिस्तान में नजीबुल्ला सरकार के सैनिकों ने यह प्रमाणित कर दिया कि रूसी सैनिकों की वापसी के बाद भी वे अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं। जलालाबाद की लड़ाई में मुजाहिद्दीनों को जन धन की भारी हानि उठानी पड़ी। बहरहाल अफगानिस्तान में मौजूदा राजनीतिक स्थिति जटिल बनी हुई है और निकट भविष्य में शांति स्थापना की सम्भावना क्षीण नजर आती है।

सोवियत संघ की साखों युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मान-हानि हुई यह निर्विवाद है। देर-सबेर इसका असर काबुल सरकार पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इस कारण अफगान समस्या का अन्तर्राष्ट्रीय अवमूल्यन हुआ है। रूस हो या अमरीका या भारत, इन सभी के राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में अफगानिस्तान की स्थिति पहले जैसी नहीं रही। हाँ, यह जरूर है कि पाकिस्तान को काफी समय तक अपने सीमावर्ती क्षेत्र में अफगान शरणार्थियों की असामाजिक और आपराधिक गतिविधियों के प्रति सतर्क रहना पड़ेगा। अफगानिस्तान की तुलना कुछ कुछ कम्बोडिया के साथ की जा सकती है। दोनों संकट लगभग एक साथ उपजे थे और कुल मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम को इन्होंने एक ही तरह से प्रभावित किया है। इन दोनों छोटे-छोटे राष्ट्रों की दुर्भाग्यपूर्ण नियति यही जान पड़ती है कि धीरे धीरे दुनिया इन्हें भुला देगी। न तो ये संकट रहेंगे और न ही किसी को इस बात की फिक्र रहेगी कि स्थानीय संदर्भ में शान्ति की पुनर्स्थापना हुई या नहीं? अब अस्थिरता और उपद्रवों को ही स्वाभाविक माना जाने लगेगा।

अफगान संकट व भारतीय विदेश नीति—अफगान संकट के पहले चरण में जब भारत में जनता सरकार थी तब सं० रा० संघ में भारतीय प्रतिनिधि बृजेश मिश्र ने स्वयं पहल कर एक वक्तव्य दे डाला जो बाद में विवादास्पद बना। पर इस 'भूल' को अनावश्यक तूल देने की जरूरत नहीं। तत्कालीन अस्पष्ट राजनयिक तथा भारत की आन्तरिक राजनीतिक स्थिति का ध्यान रखें तो यह प्रतिक्रिया समझी जा सकती है। तब से अब तक भारत की अफगान नीति की आलोचना इस आधार पर की जाती रही है कि भारत ने सोवियत राष्ट्रीय हित की पक्षधरता में अपने हितों की निरन्तर बलि दी है। गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन के दौरान भारत ने अफगानिस्तान के मामले पर सोवियत संघ का जो समर्थन दिया उसकी भी कटु आलोचना की

सैनिको में से अधिकतर को 15 अगस्त, 1988 तक अफगानिस्तान से हटाने पर सहमत हो गया। समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले चारों पक्ष इस बात पर सहमत हो गये कि राजनीतिक समाधान के लक्ष्य को हासिल करने के लिए 15 मई से अफगानिस्तान और पाकिस्तान के मामलो में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही किया जायेगा।

अमरीकी विदेश मन्त्री शुल्ज और सोवियत विदेश मन्त्री शेवर्दनात्जे ने समझौते के एक अलग दस्तावेज पर भी हस्ताक्षर किए। इसमे कहा गया कि अमरीका और सोवियत सघ अफगान और पाकिस्तानी मामलो मे किसी तरह के हस्तक्षेप से दूर रहेगे। महाशक्तियो ने सभी देशो से भी ऐसा ही करने का अनुरोध किया। महाशक्तियो ने दोनो देशो के बीच सम्बन्धो को सामान्य बनाने और अच्छे पड़ोसी बनने के उद्देश्य से राजनीतिक समाधान ढूंढने के पाकिस्तान और अफगानिस्तान के निर्णय का समर्थन किया।

पाकिस्तान और अफगानिस्तान ने जिस समझौते पर हस्ताक्षर किए, उसके तहत दोनो देश एक-दूसरे की सम्प्रभुता, क्षेत्रीय अखण्डता, राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा और गुट निरपेक्षता का सम्मान करेंगे।

दोनो देशो ने धमकी अथवा बल प्रयोग से दूर रहने का वचन दिया, ताकि एक दूसरे की सीमा का उल्लघन नही हो, दूसरे की राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था मे बाधा नही पडे अथवा राजनीतिक व्यवस्था को उखाड नही फेंका जाए।

पाकिस्तान और अफगानिस्तान ने सकल्प किया कि वे अपने क्षेत्र का उपभोग भाड़े के सैनिको को भर्ती करने, प्रशिक्षण, उपकरणो के सुसज्जित करने और उन्हें वित्तीय मदद देने के लिए नही करेंगे। उन्होंने 'भाड़े के सैनिको' का अपनी सीमा मे आवागमन नही होने देने का सकल्प किया।

केवल अफगानिस्तान और पाकिस्तान ने एक अन्य प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किए, जिसके तहत पाकिस्तान मे रह रहे करीब तीस लाख अफगान शरणार्थियो की व्यवस्थित तरीके से स्वदेश वापसी की व्यवस्था की गयी। अफगान सरकार ने शरणार्थियो को स्वतन्त्र वातावरण मे स्वदेश लौटने की दिशा मे कदम उठाने का वचन दिया। उधर पाकिस्तान ने शरणार्थियो की स्वदेश वापसी में 'हर सम्भव सहयोग' देना स्वीकार किया।

शान्ति की सम्भावना क्षीण—इस समझौते के बावजूद अफगानिस्तान में शान्ति की सम्भावना क्षीण ही रही है। सम्बद्ध पक्षो के बीच अविश्वास और सदेह बने रहे। जेनेवा समझौता राजनयिक दृष्टि से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्वपूर्ण घटना है, परन्तु इसे निश्चित तौर पर अफगानिस्तान मे शान्ति की गारटी नही कहा जा सकता। गत लगभग नौ-दस वर्ष से लगातार सघर्ष और तनाव के बीच जी रही अफगान जनता को सोवियत फौज से 'मुक्ति' तो मिल गयी, लेकिन इससे उसकी समस्याएँ खत्म नहीं हो गयी। समझौते में कई पेंच है, जिनसे इस पर हस्ताक्षर करने वाले पक्षो की नीयत के बारे में तरह-तरह के सवाल उठ खडे हुए हैं।

समझौते की सबसे बड़ी कमी तो यह है कि तीन महत्वपूर्ण पक्ष मुजाहिद्दीन, अफगान शरणार्थी और ईरान इसमे शामिल नही थे। मुजाहिद्दीन ने समझौते को

जाती रही है। मगर स्वयं भारत के 'राष्ट्रीय हितों का संयोग' (Coincidence and Community of Interests) सोवियत हितों के साथ थी। पाक-चीनी-अमरीकी गठजोड़ दक्षिण एशिया में हमेशा ही भारत को नुकसान पहुँचाता रहा है। भारत को इस विषय में अनावश्यक रूप से विनम्र होने या 'रक्षात्मक मुद्रा' ग्रहण करने की कोई जरूरत नहीं। भारत यह स्पष्ट कर चुका है कि वह किसी भी देश के आन्तरिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप के विरुद्ध है—विशेषकर सैनिक। परन्तु साथ ही यह जोड़ना जरूरी समझा गया है कि अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप की पूर्व पीठिका और बाद की अस्थिरता-वर्द्धक गतिविधियों को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए।

पूर्वी यूरोप में परिवर्तन व उनके विश्व राजनीति पर प्रभाव
(Changes in East Europe and their Impact on World Politics)

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक का उद्घाटन अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के लिए बहुत त्रासद ढंग से हुआ है। इसके दो-चार वर्ष पहले से ही ऐसे आसार लगने लगे थे कि मार्क्सवाद-साम्यवाद अपनी जुझारू ओजस्विता गँवा चुका है और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर पूँजीवादी खेमे के सामने समाजवादी खेमा कमजोर पड़ने लगा है। यों तो ख्रुश्चेव काल में सोवियत संघ में बीसवीं पार्टी कांग्रेस (1956) से ही संशोधनवादी तेवर दीख रहे थे, परन्तु माओवादी चीन ने उग्र क्रांतिकारिता के दौर को कुछ समय तक गर्म रखा।

सोवियत खेमे में सबसे पहले और सबसे बड़ी दरार पोलैण्ड ने डाली। यों 1968 में दुबचेक का चेकोस्लोवाकिया यह दर्शा चुका था कि पूर्वी यूरोप के देश 20–25 वर्ष बाद भी सोवियत ढाँचे में नहीं ढल सके हैं और इस महाशक्ति का 'उपग्रह' भर बने रहने को तैयार नहीं हैं। इतिहास के पन्ने और पलटने पर 1956 में हंगरी और कभी-कभी पोलैण्ड की बगावत की याद भी ताजा की जा सकती है। तीन दशकों तक सोवियत सैन्य शक्ति का आतंक इन सभी 'पूर्वी यूरोपीय उपग्रहों' को अनुशासित रखने के लिए काफी था।

पोलैण्ड में स्थिति जिस तरह विकसित हुई, वह बड़ी विचित्र थी। सत्तारूढ़ साम्यवादी दल का विरोध असन्तुष्ट दक्षिणपंथी रुझान वाले बौद्धिक या जनजातीय अल्पसंख्यक नहीं कर रहे थे, बल्कि पार्टी को सबसे कठिन चुनौती सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली ट्रेड यूनियन दे रही थी। 'सोलिडेरिटी' नामक इस ट्रेड यूनियन का नेतृत्व गोदी मजदूर लेच वालेसा कर रहे थे। वालेसा तथा उनके समर्थकों पर यह आरोप लगाना बेहद कठिन था कि वे अमरीकी एजेन्ट या वर्ग शत्रु हैं। ट्रेड यूनियन कर्मचारियों की मांगें मुख्यतया आर्थिक थी—रोजमर्रा की जरूरत की चीजें मुहैया कराने और महँगाई घटाने वाली इन मांगों के मुखर होने का अर्थ नर था—पोलैण्ड में केन्द्रीय आर्थिक नियोजन का दिवालियापन। वालेसा की चुनौती का सामना करने में पोलैण्ड की साम्यवादी पार्टी बुरी तरह असफल रही और उसने डंडे का सहारा लिया। इस बीच सेनानायक जनरल जेरुजलस्की ने सत्ता की बागडोर सँभाली। इससे स्थिति नियंत्रण में भले ही आयी हो, किन्तु पार्टी की असफलता फिर भली-भाँति प्रमाणित हो गयी।

पोलैण्ड की घटनाओं ने विशेषज्ञों को यह सोचने को विवश किया कि

इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि अफ्रीका, एशिया और लातीनी अमरीका के देशो को समाजवादी साम्यवादी खेम से महत्वपूण समर्थन और सहायता प्राप्त होती रही। बदल माहौल मे इसकी उम्मीद कतई नही की जा सकती। वैसे यह तक दिया जा सकता है कि आज इसकी जरूरत भी नहीं रही, क्योंकि दुनिया के सभी देश स्वतन्त्र हो चुके हैं। नस्लवादी दक्षिण अफ्रीका तक मे गोरे लोगो का रवैया समझौते वाला नजर आने लगा है। परन्तु नव उपनिवेशवादी चुनौती कम खतरनाक नही है। सभी अफ्रीकी एशियाई देशो और गुट निरपेक्ष आदोलन के कर्णधारो को बदले अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे अपनी स्थिति क बारे में पुर्नविचार करना होगा।

एक और बात कम महत्वपूण नही है। तीसरी दुनिया के अनक राष्ट्रो की आन्तरिक राजनीति म साम्यवादियो-समाजवादियो की महत्वपूण भूमिका रही है। वैदेशिक नीति के क्षेत्र म ये मुखर और प्रभावशाली रहे है। मसलन, भारत म साम्यवादियो की धर्म निरपेक्षता भारत पाक सम्बन्धो को अनुकूलित करती थी और राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को समर्थन देने वाली भारतीय जनता पार्टी का सतुलित करती थी।

दो उल्लेखनीय क्षेत्र—सैनिक हस्तक्षेप व शस्त्रास्त्रो की बिक्री और आर्थिक विकास इस सबस अधिक प्रभावित हुय हैं। अफगानिस्तान में सोवियत सघ हो, कपुचिया म वियतनाम, वियतनाम में चीन हो या अफ्रीका मे क्यूबा, स्थिति पहले जैसी नहीं रह सकी। इसी तरह, तीसरी दुनिया के राष्ट्र शस्त्रो की खरीद के मामलो मे समाजवादी विकल्प के कारण अपने हितो का साधन बेहतर और किफायती ढग से कर लेत थ। समाजवादी देशो के साथ शस्त्र व्यापार, अतर्राष्ट्रीय सामरिक स्थिति के कारण सहज होता था। फिर एसे अनेक ऐसे देश हैं जिन्होंने समाजवादी विकल्प राजनीतिक व आर्थिक पुनरचना के लिए चुना था। पर अब समाजवादी विकल्प बचा ही कहाँ रहा है ?

अतराष्ट्रीय राजनीतिक विश्लेषण क सदभ म साम्यवाद का अत हो गया है। मध्यमार्गी समाजवादी युगास्लाविया म स्लोवानिया और क्रोशिया गणराज्य जिस तरह बगावत क रास्त पर चल पडे, उसस यही पता चलता है कि यूरोप क एकीकरण क कारण वृहत्तर पूर्वी यूरोपीय भू भाग म राजनीतिक उथल-पुथल और विघटनकारी आर्थिक सकट जारी रहग। आज भल ही पोलैंड, हगरी, चेकोस्लाविया और रूमानिया समाचार पत्रो की सुर्खियो म नही छाय हुए हैं, परन्तु इससे यह नहीं समझा जा सकता कि इन देशो म स्थिति निरापद है।

भारतीय दृष्टिकोण—वष 1990 और 1991 का यूरोपीय घटनाक्रम भारतीय विदेश नीति निर्धारको क लिए काफी देर तक एक जटिल गुत्थी बना रहगा। जिन पश्चिम यूरोपीय राष्ट्रो क साथ भारत की अच्छी पहचान थी या उनक साथ घनिष्ठ सबध थ, व यूरोपीय एकीकरण और नवोदय के बाद इस तरह आत्मलिप्त और व्यस्त हो जायेंगे कि उनक पास भारत के लिए बहुत समय या साधन नहीं बचेंगे। दूसरी आर पूर्वी यूरोप क राष्ट्र साम्यवाद क सोवियत दुर्ग के ढहने क बाद तरह-तरह की विपदाओ और शकाओं स घिर गय हैं। उनकी राजनीतिक और आर्थिक स्थिति एसी नही है कि भारत उनकी ओर एक विकल्प के रूप म देख सके। युगास्लाविया हो या रूमानिया हगरी चेकोस्लावाकिया पोलैंड

चाहे देंग सियाओ पिंग यथार्थवाद के नाम पर चार महान् आधुनिकीकरणों की बात करें, हकीकत यह है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह असफल रही है। इन देशों की उत्पादकता की कोई बराबरी पूँजीवादी व्यवस्था से नहीं हो सकती। पोलैण्ड और हंगरी में ही नहीं, सोवियत संघ में भी खाने-कपड़ों की दुकानों पर लम्बी कतारें लगती थीं और उपभोग की वस्तुओं का अभाव लगातार था। रिहायशी मकानों, चिकित्सा सुविधाओं का अभाव बेहद दुखद था। ऐसी स्थिति में कालाबाजारी व मुनाफाखोरी की घटनाएँ बढ़ीं और साम्यवादी दल के प्रति जनसाधारण की आस्था सर्वत्र घटी। क्यूबा हो या वियतनाम, कहीं भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं था। बहुसंख्यक युवा पीढ़ी का साम्यवाद से मोह भंग हो चुका था और अश्लीलता, अपराध, उच्छृंखलता, भ्रष्टाचार और मूल्यों के क्षय ने समाजवाद के गढ़ की नींव खोखली कर दी थी। इसी का परिणाम हुआ कि पूर्वी और पश्चिमी यूरोप को विभाजित करने वाली बर्लिन की दीवार ढहानी पड़ी, और निष्पक्ष चुनाव में हर जगह साम्यवादी दल को मुँह की खानी पड़ी।

एक बात और गौर करने लायक है। साम्यवादियों का दावा भले ही हमेशा यह रहा था कि व्यक्ति नहीं, विचारधारा महत्वपूर्ण है। व्यवहार में व्यवस्था बेहद व्यक्ति-केन्द्रित रहती रही। लेनिन हो या स्टालिन, ख्रुश्चेव हो या ब्रेझनेव, माओ हो या देंग सियाओ पिंग, हो ची मिन्ह हो या फिदेल कास्त्रो या फिर अलबानिया में अनवर होक्सा, व्यक्ति और परिवार की तानाशाही साम्यवाद का यथार्थ बनते रहे। रोमानिया में चाउसेस्कू का जिस तरह रक्तरंजित अंत हुआ, उससे यह पता चलता है कि साम्यवादी तानाशाहों की कुत्सित विलास-लीला किसी मार्कोस को भी लजाने वाली थी।

संक्षेप में, साम्यवाद जिन घातक कमजोरियों से छुटकारा नहीं पा सका, वह आर्थिक असफलता, सेना तथा ट्रेड यूनियन के साथ पार्टी के स्वार्थों के समीकरण बिठाने में असमर्थता और राष्ट्रवाद की समस्या का हल ढूँढने में अक्षमता थे। इन सभी को व्यक्ति-पूजा की प्रवृत्ति, सैद्धान्तिक दकियानूसी तथा पाखंडपूर्ण भ्रष्टाचार ने और भी गंभीर बनाया।

कुछ लोगों ने बचाव पक्ष के वकील की मुद्रा में यह दलील भी दी कि समाजवाद की इस घोर असफलता में दोष दुर्बल, भ्रष्ट, दुष्ट अनुसरणकर्ताओं का है, मूल चिंतक का नहीं। सोवियत संघ में तो यह बात उठायी जा चुकी है कि स्टालिन के उत्थान के लिए लेनिन कहीं न कहीं जिम्मेदार है। इस प्रश्न को उभरने में देर नहीं लगी कि कहीं मार्क्सवाद में बुनियादी खोट है, तभी यह हर जगह हर नये दौर में पथभ्रष्ट हुआ है।

दूरगामी अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव—साम्यवाद के ह्रास के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव दूरगामी थे। भले ही सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका का समकक्ष कभी न रहा हो, किन्तु सैनिक मामलों में ही जोड़ के कारण आतंक का सन्तुलन विश्व शांति के लिए लाभप्रद रहा था। यह एक गंभीर प्रश्न है कि अब बदली परिस्थितियों में आतंक का सन्तुलन या तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया किस सीमा तक पूर्ववत गतिशील रहेंगे?

पूर्वी यूरोपीय देशों को सोवियत साम्राज्यवाद से कितना भी कष्ट पहुँचा हो, या चीन से वियतनाम, कम्पुचिया जैसों को कितना ही खतरा लगता दीखता हो,

परमाणु अस्त्रों के निर्माण व विकास के क्षेत्र में जारी रही और एक बार आतंक का सन्तुलन स्थापित होने के बाद पूर्वी जर्मनी में लाल सेना का दैत्याकार जमघट उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा। परन्तु तब भी यह समझना गलत होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विभाजित जर्मनी की समस्या का समाधान हो गया।

अमरीकी और शेष पश्चिमी राष्ट्र इस बात को भली-भाँति समझते थे कि साम्यवाद अपनी जड़ें आर्थिक अभाव और राजनीतिक अस्थिरता के माहौल में ही जमा सकता है और इन्हीं परिस्थितियों का लाभ उठाकर असंतोष-प्रतिशोध की भावना अराजकता पनपा सकते हैं और नव नाजीवाद के पैदा होने के लिए जमीन तैयार कर सकते हैं। मार्शल योजना की रूपरेखा इसीलिए तैयार की गयी थी कि जर्मनी का युद्धोत्तर पुनर्निर्माण हो सके। हालांकि यह प्रयोग सफल रहा, परन्तु इसने जर्मनी को विभाजित करने वाली खाई को और भी खतरनाक ढंग से गहरा किया। पश्चिमी जर्मनी ने आर्थिक रूप से स्वास्थ्य लाभ किया और चान्सलर आडिनआवर के दूरदर्शी समझदार नेतृत्व में क्षोभ, क्लेश, अपराध-बोध से मुक्ति पाकर राजनीतिक स्थिरता हासिल की। इसके विपरीत पूर्वी जर्मनी को इस तरह का कोई अनुदान-सहायता नहीं मिल सकी। सोवियत संघ ने स्वयं द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बहुत बड़े पैमाने पर नुकसान उठाया था और वह खुद अमरीका से युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिए सहायता की अपेक्षा करता था। विचारधाराओं के टकराव के कारण ऐसा सम्भव नहीं हुआ और स्टालिन युग में पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों की भाँति पूर्वी जर्मनी भी सोवियत समाजवादी साम्राज्य का सीमान्त नर बना रहा।

जर्मनी का विभाजन जर्मनीवासियों की इच्छा के प्रतिकूल बलपूर्वक तथा कृत्रिम साधनों से किया गया था। इसे अपनी नियति मानने को जर्मनवासी तैयार नहीं थे। सिर्फ अभाव से बचने के लिए ही नहीं, अपने पारिवारिक जनों से मिलने और भावात्मक कारणों से भी ज्यादा घुल माहौल में जीने के लिए जर्मन शरणार्थी-घुसपैठिये पूर्व से पश्चिम जर्मनी आते रहे। जहाँ यह प्रवृत्ति सोवियत साम्यवादी व्यवस्था की असफलता को झलकाती थी, वहीं प० जर्मनी में विराजमान अमरीकी सैनिक अधिकारी भी सामरिक दृष्टि से इसे खतरनाक समझते थे। 1961 में क्यूबा में 'बे आफ पिग्स' प्रकरण और चीन-रूस विवाद उभरने के साथ शीत युद्ध-जनित संकट और गम्भीर हो गया। यु-2 विमान काण्ड (मई, 1960) के कारण बर्लिन में ख्रुश्चेव और कैनेडी का शिखर सम्मेलन स्थगित हुआ और कैनेडी ने "मैं भी बर्लिनवासी हूँ" की घोषणा कर आक्रामक तेवर अपनाये। इसके बाद जर्मनी के विभाजन को और भी दुखदायक और अपमानजनक ढंग से स्थायी बनाने का प्रयास किया गया। बर्लिन शहर के बीचों-बीच एक दीवार का निर्माण किया गया, और इस कुरूप बाधा को अनधिकृत रूप से पार करने वालों को बहिष्कृत मौत के घाट उतारा जाने लगा। चेक प्वाइंट चार्ली शीत युद्ध के इतिहास में माई लाई के जैसा ही बदनाम स्थान है और 'फ्यूनरल इन बर्लिन', 'दि स्पाई हु केम इन कोल्ड' जैसी साहित्यिक फिल्मी कृतियाँ इस करुण गाथा का ऐतिहासिक दस्तावेज बन चुकी हैं। परन्तु ये सारे प्रयत्न जर्मनी के एकीकरण के लिए सक्रिय राष्ट्रवाद की भावना पर विजय नहीं पा सके। दीवार के नीचे सुरंग खोदकर या इसके ऊपर गुब्बारे में उड़कर पश्चिम जर्मनी तक पहुँचने वालों की संख्या भले ही बहुत कम हो, किन्तु प्रतीक के रूप में इसका महत्व बड़ा था।

या फिर पारम्परिक रूप से तटस्थ समझे जाने वाले नार्वे, फिनलैंड, स्वीडन आदि किसी के साथ नई पहल या पुराने सम्पर्कों को ही पुष्ट करने की संभावना दृष्टिगोचर नहीं होती। इस समस्या का सबसे क्लेशदायक पक्ष यह है कि आज जब भारत विश्व बैंक के दबाव में अपनी अर्थव्यवस्था को लचीला और उदार बना रहा है और उसे बड़े पैमाने पर विदेशी पूंजी और टैक्नोलोजी की जरूरत है, किन्तु यूरोपीय स्रोत पहले जितना सुलभ नहीं रह गया है।

जर्मनी के एकीकरण का मसला
(Issue of German Unification)

सदियों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी एक महत्वपूर्ण घटक रहा है। यूरोपीय इतिहास में पांच बड़ी शक्तियों में उसकी गिनती निरन्तर की जाती रही है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण के बाद जर्मनी ने यूरोप में व्याप्त शक्ति-सन्तुलन के पारम्परिक सिद्धान्त को बुरी तरह अस्त-व्यस्त कर दिया और प्रथम विश्व युद्ध के विस्फोट तक कैसर विलियम की सैनिक महत्वाकांक्षा और साम्राज्यवादी विस्तारवाद बेमिसाल हो चुके थे। प्रथम विश्व युद्ध में पराजित होने के बाद जर्मनी का अंतर्राष्ट्रीय अवमूल्यन हुआ, परन्तु यह स्थिति सिर्फ एक दशक तक ही चली। राष्ट्र संघ वाला प्रयोग असफल रहा और हिटलर के नेतृत्व में जर्मनीवासी युद्ध-मुआवजे और जर्मनी के बलात निःशस्त्रीकरण की अन्यायपूर्ण शर्तों का विरोध करने के लिए एकजुट हो सके। नाजीवाद के उदय के साथ जर्मनी ने पुनः एक बड़ी शक्ति के रूप में अपना एक अलग स्थान बनाया और उसका विश्लेषण विश्व शान्ति के लिए बड़े खतरे के रूप में किया जाने लगा।

द्वितीय विश्व युद्ध का घटनाक्रम सर्वविदित है और उसे यहां दोहराने की जरूरत नहीं। इतिहास का पहिया पूरा घूमा और 1945 में जर्मनी को फिर एक बार सर्वनाशक पराजय का मुंह देखना पड़ा। इस बार मित्र राष्ट्र यह खतरा उठाने को तैयार नहीं थे कि जर्मनी फिर अपना सिर उठा सके। इसलिए परास्त-ध्वस्त जर्मनी का विभाजन कर दिया गया। जर्मनी के लिए पूर्वी हिस्से (पूर्वी जर्मनी) पर सोवियत लाल सेनाएँ काबिज थीं। वह उन्हीं के प्रभाव क्षेत्र में रहा और समाजवादी खेमे का 'उपग्रह' बन गया। जर्मनी का पश्चिमी भू-भाग (पश्चिमी जर्मनी) जिसे जनरल आइजनहावर की सेनाओं ने 'आजाद' कराया था, पराजित शत्रु होने के बाद भी पश्चिमी पूंजीवाद खेमे में अपेक्षाकृत आसानी से शामिल हो सका। राजधानी बर्लिन को चार टुकड़ों में विभाजित किया गया, जिन्हें चार विजयी राष्ट्रों—अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ ने अपने-अपने कब्जे में कर लिया। शीत युद्ध की कड़वाहट ने जर्मन राजनीतिक जीवन को विषाक्त कर दिया। आरम्भ में सोवियत संघ ने एकाध बार यह प्रयत्न किया कि बर्लिन में शक्ति-सामर्थ्य के प्रदर्शन के द्वारा पश्चिमी खेमे पर वह दबाव डाले। 1948 में बर्लिन की नाकेबन्दी इसी उद्देश्य से की गयी परन्तु जब अमरीका ने अपनी वायुसेना की शक्ति के प्रयोग से इस घेराबन्दी को नाकाम कर दिया तो सोवियत संघ को यथा-स्थिति स्वीकार करने को विवश होना पड़ा। इस बर्लिन संकट के बाद महाशक्तियों की होड़

सुपर-301 पर भारत व अमरीका मे मतभेद
(Indo-U S. Relations : Super 301)

यह एक विचित्र विडबना है कि भारत और सयुक्त राज्य अमरीका के आपसी सम्बन्ध जब कभी सामान्य होने लगते हैं तो कोई न कोई नया अडगा या तनाव इन्हे असन्तुलित कर देता है। इसका सबसे ताजा उदाहरण सुपर-301 विवाद है।

सुपर-301 है क्या ?—विज्ञान-फतासी कथाओ की शब्दावली याद दिलाने वाला सुपर-301 ओम्नीबस ट्रेड एक्ट, 1988 का एक प्रावधान है, जिसके अनुसार अमरीका किसी भी देश को विदेश व्यापार के क्षेत्र मे 'अवरोध' लगाने के कारण दोषी ठहरा सकता है। इसके बावजूद यदि 8 महीने के अन्दर ये अवरोध हटाये नही जाते तो उसे दडित करने के लिए उसके विरुद्ध अमरीका उस देश से आयातो पर शत-प्रतिशत निषेध लगा सकता है तथा अन्य प्रतिबध भी। सुपर-301 का हौव्वा पैदा करने के लिए अमरीकी नीति निर्धारक समय-समय पर अपने दुश्मनो की एक निशाना सूची (Hit List) तैयार करते रहते हैं और खुद ही इन नामो को अखबारो मे 'लीक' करते रहते हैं ताकि उन देशो पर राजनयिक दबाव डाला जा सके।

सूची मे नाम—अमरीका ने मई, 1989 मे उक्त निशाना सूची मे जापान, ब्राजील और भारत का नाम रखा और चेतावनी दी कि यदि इन देशो ने 'अवरोध' नही हटाये तो उनके खिलाफ सख्त कार्रवाई की जायेगी। किन्तु मजेदार बात यह है कि जब अमरीका ने अप्रैल, 1990 मे दूसरी सूची प्रकाशित की तो उसमे 'दो प्रमुख दोषियों'—जापान और ब्राजील का नाम काट देने के बाद भी भारत का नाम बचा रहा। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अहकारी अमरीकी नीति निर्धारक भारत को अनुशासित करने के लिए गैर-आर्थिक कारणो से सुपर-301 की दुहाई देते रहे हैं। विश्व व्यापार मे भारत का हिस्सा निर्यात के मामले मे 0 50% और आयात के मामल मे 0 75% है, जबकि हमारी आबादी को देखते हुए भारत का आयात-निर्यात 17% होना चाहिए। अमरीकी प्रतिनिधि कार्ला हिल्स ने बारम्बार इस बात पर जोर दिया कि अमरीकी व्यावसायिक हितो की रक्षा के लिए सुपर-301 पर सख्ती से अमल करना जरूरी है। परन्तु इस तर्क मे कोई दम नही। आखिर हर सम्प्रभु राष्ट्र को अपनी आर्थिक नीतियो का नियोजन अपने राष्ट्रीय हितो के सन्दर्भ मे करने का अधिकार है।

पूंजी निवेश व बौद्धिक सम्पत्ति से सम्बन्ध—सुपर-301 के सिलसिले मे दो और बातो की तरफ ध्यान देना परमावश्यक है। इसके प्रावधानो का सीधा सम्बन्ध पूंजी निवेश और बौद्धिक सम्पत्ति से जुडा हैं। भारत मे विदेशी पूंजी निवेश को सरकार नियत्रित करती है। कोई भी विदेशी कम्पनी, जब तक वह टेक्नोलॉजी के सीमान्त पर काम न कर रही हो, 51 प्रतिशत से अधिक निवेश नही कर सकती। इसके अलावा भारत म विदेशी कम्पनियो का प्रवेश उन क्षेत्रो म वर्जित है, जिन्ह लघु उद्योगो के लिए आरक्षित रखा गया है या जो सेवा-क्षेत्र (Service Sectors) वाल है। कोका कोला, पेप्सी कोला आदि कम्पनियाँ इसी भारतीय नीति क तहत भारत मे स्वेच्छानुसार अपना कारोबार नही फैला सकी। अपनी 'इक्विटी' को भारतीय निवशकर्ताओ के साथ बाटने (Dilute) मे इन्कार करने के कारण आई० बी० एम० को भी भारत स चला जाना पडा। सिर्फ हिन्दुस्तान लीवर ने अद्भुत

विली ब्रांट के चासलर होते-होते पश्चिम जर्मनी एक बार फिर पश्चिमी राष्ट्रीय बिरादरी का सम्मानित सदस्य बन चुका था—सम्पन्न और विश्वासपात्र। विली ब्रांट ने अपनी 'ओस्त पोलितिक' की नीति अपनायी। उन्होने साम्यवादी खेमे के साथ सवाद आरम्भ किया तथा जर्मनी के एकीकरण की दिशा मे एक और महत्वपूर्ण कदम लिया। इसके बाद से यूरोपीय समुदाय की एकता और बढ़ी और 1990–91 मे पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के पतन ने जर्मनी के एकीकरण के सपने को यथार्थ मे बदल दिया। परन्तु तब भी यह सोचना गलत होगा कि जर्मन-एकीकरण से अमरीका व अन्य पश्चिमी राष्ट्र आश्वस्त हैं।

पिछले कई वर्षों से जर्मनी मे नव नाजीवाद का कुरूप चेहरा दीखता रहा है। इसका नस्लवादी स्वरूप काफी भयावह है। हिटलर के अधीन जर्मन विस्तार की कीमत पोलो, चेकोस्लोवाकियो को चुकानी पड़ी थी। जापानी प्रधानमन्त्री ने 1990 मे दक्षिण कोरिया की यात्रा के दौरान युद्ध-अपराधों के बारे में जैसी क्षमा याचना की थी, वैसी कोई सुलह की मुद्रा जर्मनो ने नही अपनायी है।

अमरीका को चिन्ता इस बात को लेकर है कि एकीकृत जर्मनी उसके लिए और बड़ा आर्थिक सिरदर्द बन जायेगा। उधर यूरोपीय समुदाय के और सदस्यों को अपने सगठन के असन्तुलित होने का खतरा है।

स्वयं जर्मनी वालो के लिए एकीकरण नई परेशानियो को साथ लाया है। आर्थिक स्तर, राजनीतिक प्रणाली और सामाजिक संस्कार के सन्दर्भ में कोई साम्य पिछले लगभग साढ़े चार दशकों से पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के निवासियों के बीच नही रहा। ऐसे में राजनीतिक एकीकरण के बाद भी नए राष्ट्र का सुचारू रूप से कार्य करना कठिन है। क्या एकीकृत जर्मनी अपने भू-भाग पर विदेशी (अमरीकी) सैनिको की मौजूदगी बर्दाश्त करेगा? इनकी उपस्थिति और मंझले मार वाले प्रक्षेपास्त्रो की तैनाती जर्मनी की स्वायत्तता-स्वाधीनता के साथ प्रतीकात्मक रूप से जुड़े हैं। अब तक यूरोपीय समुदाय का नेतृत्व फ्रास के हाथों में था, परन्तु अब एकीकृत जर्मनी के बाद इसे निर्विवाद नही माना जा सकता। और जर्मनी के एकीकरण के बाद अमरीका के सम्बन्ध यूरोप और जापान के साथ कैसे रहेंगे? जर्मनी और फ्रास के परस्पर सम्बन्ध क्या होंगे? क्या पूर्वी जर्मनी के विलय के बाद पश्चिमी जर्मनी समृद्धि और स्थिरता बनाये रखेगा? जर्मनी का रुझान और जोर हमेशा से औद्योगीकरण पर रहा है। इसके विपरीत फ्रास मे महत्वपूर्ण राजनीतिक तबके कृषि क्षेत्र पर जोर देते रहे हैं। कृषि और प्रौद्योगिकी का सन्तुलन और अन्तर्राष्ट्रीय समीकरण जर्मन-एकीकरण से घनिष्ठ रूप से प्रभावित होंगे। किन्तु अभी नहीं कहा जा सकता है कि कैसे?

अब तक भारत के सम्बन्ध दोनो ही जर्मनियो के साथ मधुर रहे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भविष्य मे भी ये अनायास पूर्ववत् रहेंगे। अन्य राष्ट्रों की तरह हमारे लिये भी एकीकृत जर्मनी के बारे में अपने राष्ट्रीय हित के सम्बन्ध में पुनर्विचार करना परमावश्यक है।

चलते ही रहेंगे। भारत में विदेश व्यापार तथा औद्योगिक नीति को उदार बनाने के फैसलों की घोषणा के बाद यह सोचा जा सकता है कि अमरीका को भारत के प्रति ज्यादा शक-संकोच नहीं रहेगा। हाँ, यह बात बिल्कुल फर्क है कि इस तनाव-शैथिल्य से भारतीय विदेश नीति की स्वाधीनता पर कौन से दूरगामी परिणाम-प्रभाव पड़ेंगे।

सोवियत संघ का विघटन और संभावित इस्लामी महासंघ का प्रस्ताव
(Dissolution of USSR and the Proposal of Islamic Federation)

7 नवम्बर, 1917 में सोवियत संघ की स्थापना की गई थी। सन् 1921 में लेनिन ने नई आर्थिक नीति की घोषणा की और 1922 में स्टालिन को कम्युनिस्ट पार्टी का महामन्त्री बना दिया गया। 1924 में लेनिन का स्वर्गवास हो गया। उसके बाद स्टालिन को उसके पद से हटाने की हर कार्यवाही बेकार गई। 1926 में स्टालिन ने 'एक देश में समाजवाद' (Socialism in one country) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। 1953 में स्टालिन की मृत्यु हो गई और ख्रुश्चेव को पार्टी का महामन्त्री चुनवाया गया। 1956 से ख्रुश्चेव ने स्टालिनवाद को अपमानित करना

बेलारूस, मोलडोविया, यूक्रेन, आरमीनिया, अजरबाइजान, तुर्कमानिस्तान, उजबेकिस्तान, ताजाकिस्तान, किरगीजिया, कजाखस्तान और रूस

रूस का नया राष्ट्रकुल (C.I.S.)

दूरदर्शिता का परिचय देते हुए पूंजी निवेश और प्रबन्ध-नियंत्रण के मामलों में रियायतें हासिल की, मगर इस कम्पनी को भी साबुन, तेल, वनस्पति वाले अपने कारोबार को उच्च टैक्नीलॉजी, शोध आदि से अलग करना पड़ा।

विश्व बैंक का भी दबाव—अमरीका का ही नहीं, विश्व बैंक का भी भारत पर इस बात के लिए निरंतर दबाव रहा है कि वह विदेशी कम्पनियों को शत-प्रतिशत तक पूंजी निवेश करने दे और उन पर लगे नियत्रणों को समाप्त करे।

अमरीकी शिकायतें गैर-वाजिब—भारत के बारे में अमरीका की सारी शिकायतें गैर-वाजिब हैं। इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि पिछले दशक में भारत की आर्थिक नीतियां क्रमशः लचीली हुई हैं और विदेश व्यापार के क्षेत्र से तरह-तरह के अवरोध हटाये गये। बल्कि उदारवादी नई उद्योग नीति की कड़ी आलोचना स्वदेश में इस आधार पर हुई कि भारत गांधी-नेहरू के बताये रास्ते से विचलित हुआ है। अब ऐसा तो नहीं हो सकता कि अमरीकी हित साधन के लिए भारत बिल्कुल ही घुटने टेक दे। एक बार आर्थिक स्वावलबन छोड़ देने के बाद वैदेशिक मामलों में राजनीतिक स्वायत्तता-स्वतंत्रता बेमानी हो जाती है।

इसी तरह बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार वाला प्रकरण है। इस मामले में सबसे ज्यादा गैर-जिम्मेदार और अपराधपूर्ण आचरण सिंगापुर का रहा है। उससे शिकायत करने के बदले भारत के साथ अमरीका द्वारा इस तरह का आचरण करना समझ में नहीं आता।

यह बात भी सर्वविदित है कि भारत में बीमा उद्योग का राष्ट्रीयकरण वर्षों पहले कर दिया गया था। विदेशियों को आज इसमें प्रवेश का मौका देने का प्रश्न ही नहीं उठता, जबकि अमरीका अपनी कम्पनियों को भारतीय बीमा उद्योग में कारोबार करने की छूट चाहता है।

एकता नष्ट करने का प्रयास—यदि तर्कसंगत विश्लेषण का प्रयत्न किया जाए तो अमरीकी आचरण का सिर्फ एक ही कारण दृष्टिगोचर होता है। भारत विकासशील राष्ट्रों का मुखर प्रवक्ता है। उसके नेतृत्व में, जैसाकि उरुग्वे-वार्ता के दौरान जाहिर हुआ, अन्य विकासशील राष्ट्र भी सामूहिक रूप से हित साधन की बात उठा सकते हैं। भारत को दंडित किये जाने पर इन सभी देशों का मनोबल कमजोर होगा और उदीयमान एकता को नष्ट किया जा सकता है।

यदि जापान को सुपर-301 के तहत दोषी करार कर दंडित करने का प्रयत्न किया जाता तो जापान ऐसी जवाबी कार्रवाई करने की स्थिति में है, जो अमरीका को नुकसान पहुंचा सके। मगर अमरीका को भारत से ऐसा कोई खतरा नहीं।

सिरदर्द दूर नहीं—भारत और अमरीका के बीच सुपर-301 पर संकट फिल-हाल टल गया है। किन्तु यह सोचना गलत है कि भारत का सिरदर्द सदैव के लिए दूर हो गया है। भविष्य में सुपर-301की प्रेत बाधा भारत-अमरीका सम्बन्धों को कभी भी नुकसान पहुंचा सकती है। इसके अतिरिक्त हाल के दिनों में प्रेसलर संशोधन का हौव्वा भी भारत के ऊपर छाया हुआ है। इस संवैधानिक उपाय का प्रावधान यह है कि परमाणु अस्त्रों के निर्माण में रत किसी भी देश को अमरीकी सहायता नहीं दी जा सकती। इस निषेध से निजात पाने का सिर्फ एक ही रास्ता है कि स्वयं अमरीकी राष्ट्रपति इस मामले में निर्दोष होने का चारित्रिक प्रमाण पत्र उस राष्ट्र को दे दें। ऐसी कृपा अपवाद के रूप में ही की जाती है। बहरहाल, ये सब सिरदर्द तो

हैं। वे अपनी परिस्थितियों और अपने यहाँ की सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों के समीकरणों के अनुरूप नीतियाँ निर्धारित कर रहे हैं। आवश्यक नहीं कि उनके निर्णय सदैव सही ही रहें, किन्तु गलतियाँ भी अब उनकी अपनी होंगी। उनके लिए वहाँ के शासक अपने देशवासियों के प्रति उत्तरदायी होंगे। गोर्वाच्योव की एक और बड़ी उपलब्धि रही कमोबेश शान्तिपूर्ण ढंग से पुरानी सोवियत राजनीतिक प्रणाली का अवसान और उसकी जगह नयी राजनीतिक प्रणाली का उदय।

नए राष्ट्रकुल (CIS) में सभी 11 सदस्य बराबरी के दावे से रहेंगे। लेकिन वास्तविक स्थिति जानने वाले समझ सकते हैं कि रूस का वर्चस्व बराबर बना रहेगा। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में रूस ही सोवियत संघ का स्थान लेगा। रूस के राष्ट्रपति को ही सभी परमाणु अस्त्रों की कुंजी सौंपी गई है और यह तय हुआ है कि सभी गण राज्यों के परमाणु अस्त्र एक ही कमान के तहत रखे जायेंगे। इसका संचालन रूस को सौंपा गया है। शर्त यह है कि रूसी राष्ट्रपति इनका प्रयोग और तीन गणराज्यों—बेलारूस, यूक्रेन और कजाकिस्तान के राष्ट्रपतियों की सहमति से ही कर सकेंगे। इसके लिए चारों गणराज्यों को जोड़ने के लिए एक 'हाट लाइन' बनाई गई है। परमाणु हथियारों को केन्द्रीय नियन्त्रण में रखने की इस सहमति के पीछे अमरीका और यूरोपीय देशों का दबाव है। अमरीका ने स्पष्ट कर दिया था कि परमाणु हथियारों के सुरक्षित प्रबन्ध के बिना अमरीका के लिए राष्ट्रकुल के गण-राज्यों की मदद नहीं की जायेगी। लेकिन पारम्परिक सेनाओं और गैर परमाणु हथियारों के नियन्त्रण पर कोई समझौता नहीं हुआ। हर गणराज्य में राष्ट्रवादी भावनाएँ इतनी तेज हैं कि वे अपनी सेनाओं पर रूस के नियन्त्रण को अपनी प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप मानते हैं। इसलिए बेलारूस, यूक्रेन और कजाकिस्तान ने कह दिया है कि वे अपनी सेनाओं का निर्माण करेंगे।

रूस तथा उसके सहयोगी राष्ट्र कुल के अन्य राष्ट्रों की 1990 में परमाणु अस्त्रों में निम्न स्थिति थी—

राष्ट्र	परमाणु अस्त्रों की संख्या
रूस	19,000
यूक्रेन	4,000
कजाकिस्तान	1,800
बेलारूस	1,250
अजरबाईजान	300
आर्मिनिया	200
तुर्कमानिस्तान	125
उजबेकिस्तान	105
मालदीविया	90
तदाजाकिस्तान	75
किरगीजिया	75
लिथुआनिया	325
जार्जिया	320
एस्टोनिया	270
लैटविया	185

शुरू किया। 1964 में ख्रुश्चेव को हटाकर ब्रेझनेव पार्टी के महामन्त्री बन बैठे और 1982 तक अपने पद पर बने रहे। उनकी मृत्यु के 3 साल बाद 1985 में गोर्बाच्योव कम्युनिस्ट पार्टी के महामन्त्री बने। उन्होंने ग्लास्नोस्ट (खुलापन) और पेरेस्त्रोयका (पुनर्निर्माण) के सिद्धान्त लागू किए। प्रतिफल यह हुआ कि दिसम्बर, 1991 में सोवियत संघ का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। लिथुआनिया, लटविया और एस्टोनिया के तीन राज्य सोवियत संघ से अलग हो गए और शेष 11 राज्यों— बेलारूस, मोलडोविया, यूक्रेन, आरमीनिया, अजरबाइजान, तुर्कमानिस्तान, उजबेकिस्तान, तदाजाकिस्तान, किरगीजिया, कजाखस्तान और रूस ने एक राष्ट्रकुल (Commonwealth of Independent States · CIS) स्थापित किया। इस राष्ट्रकुल की शुरुआत रूस, बेलारूस और यूक्रेन ने मिल कर की थी।

इतने युगान्तकारी परिवर्तन के आसान कारण खोजने के आदी लोग सारा दोष गोर्बाच्योव के मत्थे मढ़ रहे हैं। इनमें वे लोग भी शामिल है, जो इतिहास के नियमन में व्यक्ति की भूमिका को सिद्धान्त रूप से नकारते रहे है और कहते रहे है कि मनुष्य का प्रारब्ध तो कार्ल मार्क्स के फौलादी नियमों का अनुचर मात्र है। हम नहीं जानते कि भविष्य गोर्बाच्योव पर क्या निर्णय देगा, किन्तु स्वातंत्र्य और समता मानव समाज के उच्चतम आदर्श है, तो मानना होगा कि गोर्बाच्योव ने अपदस्थ हो कर भी ऐतिहासिक भूमिका निभायी है। उन्होंने सर्वसत्तावादी व्यवस्था के शिखर पर पहुँच कर अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए उन साधनों का उपयोग नहीं किया, जिनके बल पर अधिनायकवादी शासन चलता है। उन्होंने सोवियत संघ की व्यवस्था के तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण पायों—सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी, सर्वव्यापी गुप्तचर संस्था के० जी० बी० और ईश्वरीय विधान जैसी महिमा से मंडित साम्यवादी विचारधारा को हिला कर अद्भुत साहस का परिचय दिया।

इस कार्य में गोर्बाच्योव से कुछ गलतियाँ जरूर हुई। वे ग्लास्तनोस्त (खुलापन) और पेरेस्त्रोइका (पुनर्निर्माण) के राजनीतिक परिणामों का सही-सही अन्दाज नहीं लगा सके। वे विशालकाय सोवियत संघ में सम्मिलित गणतन्त्रों की दबी हुई राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उत्कटता को भी नहीं समझ पाये। वे और उनके सहयोगी तीन चौथाई सदी से चल रही अतिशय केन्द्रित अर्थव्यवस्था तथा उससे लाभान्वित साम्यवादी नौकरशाही को आमूल रूप से बदलने में अन्तर्निहित जोखिमों का भी वस्तुपरक आकलन नहीं कर सके। यह भी नितान्त स्वाभाविक था कि उनसे परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दोनों ही विक्षुब्ध होते। इस विक्षोभ का एक रूप अगस्त 1991 में कट्टरपंथियों की प्रतिक्रान्ति के रूप में सामने आया था तो दूसरा रूप रूसी फेडरेशन के अध्यक्ष बोरिस येल्तसिन की महत्वकांक्षा के रूप में उभरा। गोर्बाच्योव दो पाटों के बीच में पिसे।

किन्तु अपदस्थ गोर्बाच्योव की भी अपनी उपलब्धियाँ हैं। अपने सात साल के शासन काल में उन्होंने विश्वशान्ति की दिशा में असाधारण प्रयास किये। वे सत्तासीन हुए थे तब पृथ्वी तो क्या अन्तरिक्ष तक में परमाणु-युद्ध का खतरा मंडरा रहा था। यह गोर्बाच्योव-युग की ही सकारात्मक परिणति है कि आज मनुष्यता अपने को तब से कहीं अधिक सुरक्षित महसूस करती है। इसी तरह से एक समय में रूस के जारशाही साम्राज्य के जूए को और बाद में वारसा संधि के नियन्त्रण को स्वीकार करने को विवश पूर्वी यूरोप के देश आज स्वतन्त्र और सर्वप्रभुता सम्पन्न

धन भी प्राप्त हो सकें। इस्लामी महासंघ द्वारा ये सब चीजें उपलब्ध हो सकेंगी और वह भी निःशुल्क। इसलिए ऐसे महासंघ से भारत को वास्तव में गम्भीर खतरा है।

सीनेटर प्रेसलर का यह कहना सही है कि इस्लामी महासंघ की स्थापना रोकी नहीं जा सकती। पर यह भी उतना ही सही है कि यदि भारत चाहे और कोशिश करे तो इस्लामी महासंघ की स्थापना द्वारा उत्पन्न हुए आतंकवाद और सैनिक खतरों का मुकाबला करने के लिए मिल कर रोकथाम के कारगर उपाय खोजे जा सकते हैं। राजनीति की माँग है और कूटनीति का भी तकाजा है कि भारत को अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए कारगर उपाय करने पड़ेंगे भले ही इन उपायों को कार्य रूप देने के लिए भारत को किसी की भी सहायता क्यों न लेनी पड़े। अब प्रश्न वैचारिक प्रतिबद्धता का नहीं है, अब तो सवाल है स्वयं राष्ट्र की रक्षा का।

आर्थिक मामलों में बाजार व्यवस्था और निजीकरण पर तो व्यापक सहमति हो गई है लेकिन राष्ट्रीय मान्यताएँ और सामाजिक जरूरतें आड़े आ रही हैं। मसलन कजाकिस्तान के राष्ट्रपति का मानना है कि आर्थिक सुधारों के स्वरूप और गति में सभी गणराज्यों में एकदम समानता नहीं हो सकती। अपनी आवश्यकता के अनुसार निजीकरण की गति कम या ज्यादा रखी जा सकती है। नजरबायेव का यह तर्क काफी कुछ सही है। कई गणराज्यों की आर्थिक स्थिति रूस की तुलना में काफी खराब है। सांस्कृतिक और जातीय विभिन्नताओं के कारण भी आर्थिक स्तर में फर्क आया है। इसलिए ऐसे गणराज्यों के लिए कमजोर वर्गों के लिए किसी न किसी प्रकार के संरक्षण की आवश्यकता होगी। दरअसल यही स्थिति सभी एशियाई गणराज्यों की है। लेकिन सब से गंभीर विवाद सोवियत संघ की सम्पत्ति का है। हालांकि येल्तसिन ने सारी संघीय सम्पत्ति को कब्जे में ले लिया था लेकिन अब सभी गणराज्य अपना हिस्सा मांग रहे हैं। मुश्किल यह है कि ज्यादातर सम्पत्ति रूस की राजधानी या दूसरे शहरों में ही है। इस विवाद में कटुता काले सागर में सोवियत नौसेना की वजह से पैदा हो गई है। यूक्रेन के राष्ट्रपति का दावा है कि यह नौसेना यूक्रेन को ही मिलनी चाहिए। लेकिन रूस इससे सहमत नहीं है, क्योंकि येल्तसिन के अनुसार रूस ही सोवियत संघ का सही उत्तराधिकारी है।

राष्ट्रकुल के सभी सदस्यों के प्राकृतिक साधन समान नहीं हैं। एशिया की ओर के राष्ट्रों (Asiatic Republics) को इस राष्ट्रकुल में ज्यादा कुछ मिलने की सम्भावना नहीं है। उदाहरण के लिए तदाजाकिस्तान को लें। इसके 93% भूभाग पहाड़ी हैं। उधर किरगीजिया के 75% भू-भाग बारह मास बर्फ से ढके रहते हैं। कजाकिस्तान और तुर्कमेनिया विद्युत उत्पादन करने वाले क्षेत्र है और वह विद्युत रूस को भेजी जाती है। कजाकिस्तान की खनिज सम्पदा भी बहुत बड़ी है। उधर रूस के पास बहुत बड़ा भू-भाग है। 90% तेल खनिज रूस में उत्पादित होता है, 70% प्राकृतिक गैस और 75% खनिज सम्पदा भी रूस के पास है। इस बात से भी रूस राष्ट्रकुल में अन्य राष्ट्रों के बराबर होता हुआ भी उन सभी से ऊपर रहेगा।

इस नए राष्ट्रकुल में अल्पसंख्यकों का प्रश्न भी बहुत महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, कजाकिस्तान की बात लें। यहाँ की कुल आबादी 1 करोड़ 65 लाख है जिसमें 31% कजाक हैं, 41% रूसी है, 6% यूक्रेनी है। यूक्रेन में 21% रूसी और बेलारूस में 12% रूसी हैं, उजबेकिस्तान में 11% रूसी, किरगीजिया में 26% रूसी हैं। तदाजाकिस्तान में 23% उजबेक और 10% रूसी हैं। तुर्कमेनिया में 13% रूसी हैं। इस प्रकार जब तक सुलह सफाई से अल्पसंख्यकों का प्रश्न नहीं सुलझाया जाता, तब तक पारस्परिक सम्बन्धों में चिरस्थायित्व पैदा नहीं हो सकता।

सम्भावित इस्लामी महासंघ और भारत
(Islamic Federation and India)

अमरीकी सीनेटर लैरी प्रेसलर जनवरी 1992 में अपनी भारत यात्रा पर थे। इसी दौरान उन्होंने नई दिल्ली में भारत सरकार से बातचीत की तथा बताया कि उसे इस्लामी संघ के खतरे से आँखें नहीं मूँदनी चाहिएँ। उन्होंने कहा कि यदि भारत के लिए नब्बे के दशक में कोई सबसे बड़ा खतरा है तो यह है इस समय